दूसरा संस्करण १९६

मूल्य

आठ रुपये

मुद्रक

नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स

(दि टाइम्स ऑव इंडिया प्रेस)

१ दरियागंज, दिल्ली।

अहमदनगर क़िला जेल के
९ अगस्त १९४२ से २८ मार्च १९४५ तक के
साथी क़ैदियों और मित्रों को

जब कि मधुर मौन-विचार के अवसरों पर
मैं पुराने विचारों की सुधि जगाता हूं।

# प्रकाशकीय

'हिंदुस्तान की कहानी' पंडित जवाहरलाल नेहरू की सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय कृतियों में से है। उन्होंने इसे अपनी नवीं और सबसे लम्बी क़ैद (९ अगस्त १९४२ से १५ जून १९४५) के दिनों में पाँच महीनों के भीतर लिखा था।

जेल की दीवारों में बंद होने पर भी पंडितजी इस पुस्तक में भारत की खोज की यात्रा पर निकल पड़ते हैं। वह हमें ईसा के कोई दो हज़ार साल पहले के उस ज़माने में ले जाते हैं जब सिंध की घाटी में एक विकसित और संपन्न सभ्यता फल-फूल रही थी जिसके खंडहर आज भी हमें मोहनजोदड़ो हड़प्पा तथा अन्य स्थानों पर मिलते हैं। वहाँ से इतिहास के विभिन्न और विविध दौरों का परिचय कराते हुए वह हमें आधुनिक काल और उसकी बहुमुखी समस्याओं तक ले आते हैं और फिर भविष्य की झाँकी दिखाकर हमें खुद सोचने और समझने के लिए कहते हैं।

वह हमें भारत की शक्ति के उस अक्षय स्रोत से अवगत कराते हैं जिसके कारण हमारा देश सकड़ों और हज़ारों उथल-पुथल और कशमकश साम्राज्य और विस्तार पतन और गुलामी विदेशी हमलों और आंतरिक क्रांतियों आदि के बावजूद ज़िंदा बना रहा है। लेखक का अध्ययन सभी दृष्टिकोणों से है—ऐतिहासिक राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक दार्शनिक वैज्ञानिक, सांस्कृतिक राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय—कोई भी पहलू उनकी पैनी निगाह से नहीं बच पाया है। साथ ही पुस्तक में पाठकों को नेहरूजी की वह व्यक्तिगत छाप भी मिलती है जिसने इस किताब को आत्मकथाओं की रोचकता गति और सहृदयता से विभूषित कर दिया है।

पुस्तक १९४५ में लिखी गई थी। उस समय पंडितजी ने जिसे भविष्य कहा था वह आज वर्तमान हो गया है। पाठकों को पंडितजी के कई निष्कर्ष आज घटित होते हुए साफ़ दिखाई दे रहे हैं।

यह पुस्तक लेखक की विश्वविख्यात 'दि डिस्कवरी ऑव इंडिया' का अनुवाद है। पाठकों को संभवतः पता होगा कि इसका संसार की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और सभी जगह यह बड़ी लोकप्रिय हुई है।

हिंदी में भी इसका बहुत अच्छा स्वागत हुआ है। पहला संस्करण कुछ ही समय में समाप्त हो गया था और यह रचना काफ़ी समय से अप्राप्य थी। हमें हर्ष है कि पाठकों को अब इसका नया संस्करण सुलभ हो रहा है। अंग्रेजी से यह अनुवाद श्री रामचंद्र टंडन ने और कुछ अंश का श्री सुरेश शर्मा ने किया है। हम इन दोनों के आभारी हैं।

इस बार अनुवाद पूर्णतः दुहरा लिया गया है और कई नक्शे तथा चित्र इसमें जोड़ दिये गये हैं।

इस पुस्तक का संक्षिप्त संस्करण भी 'मंडल' से प्रकाशित हुआ है और उसकी कई आवृत्तियां हो चुकी हैं।

हमें आशा है, पिछले संस्करण की भांति यह संस्करण भी पाठकों को पसंद आयेगा और वे इस चाव से पढ़ेंगे।

—मंत्री

# प्रस्तावना

यह किताब मैंने अहमदनगर क़िले के जेलख़ाने में अप्रैल से सितंबर १९४४ के पांच महीनों में लिखी थी। मेरे कुछ जेल के साथियों ने इसका मसविदा पढ़ने की और उसके बारे में कई क़ीमती सुझाव देने की कृपा की थी। जेलख़ाने में, किताब को दुहराते हुए, मैंने इन सुझावों से फ़ायदा उठाया और कुछ बातें और जोड़ दीं। यह बताने की ज़रूरत नहीं कि जो कुछ मैंने लिखा है, उसके लिए कोई दूसरा ज़िम्मेदार नहीं न यही लाज़िमी है कि दूसरा उससे सहमत हो। लेकिन अहमदनगर क़िले के अपने संगी क़ैदियों का मैं उन चर्चाओं और आपस के बहस-मुबाहसों के लिए बड़ा एहसानमंद हूं जो हम लोगों के बीच हुए और जिनसे हिंदुस्तान के इतिहास और संस्कृति के बारे में अपने ख़याल को सुलझाने में मुझे बड़ी मदद मिली। थोड़ी मुद्दत तक भी रहने के लिए जेलख़ाना कोई ख़ुशगवार जगह नहीं है, न तब कि जब लंबे सालों तक वहां रहना पड़े। लेकिन यह मेरी ख़ुशक़िस्मती थी कि आला क़ाबलियत और तहज़ीब के और अस्थायी भावनाओं से ऊपर उठकर इन्सानी मामलों पर व्यापक दृष्टि रखनेवाले लोगों के बहुत नज़दीक रहने का मुझे मौक़ा मिला।

अहमदनगर क़िले के मेरे ग्यारह साथी हिंदुस्तान के विभिन्न भागों का एक दिलचस्प नमूना पेश करते थे; वे न महज़ राजनीति की नुमाइंदगी करते थे बल्कि हिंदुस्तानी इल्म की—पुराने और नये इल्म की—और आजकल के हिंदुस्तान के मुख़्तलिफ़ पहलुओं की भी नुमाइंदगी करते थे। क़रीब क़रीब सभी ख़ास-ख़ास जीती-जागती हिंदुस्तानी बोलियों के बोलनेवाले वहां मौजूद थे और उन पुरानी भाषाओं के जाननेवाले भी थे जिन्होंने हिंदुस्तान पर पुराने या नये ज़माने में असर डाला है और जिनमें क़ाबलियत का दरजा काफ़ी ऊंचा था। पुरानी भाषाओं में संस्कृत और पाली, अरबी और फ़ारसी थीं; मौजूदा ज़बानों में हिंदी, उर्दू, बंगला, गुजराती, मराठी, तेलगू, सिंधी और उड़िया थीं। मेरे सामने इतनी दौलत थी, जिससे मैं फ़ायदा उठा सकता था और अगर कोई रुकावट थी तो यह मेरी ही इन सबसे फ़ायदा [illegible] की कमी थी। अगरचे मैं अपने सभी साथियों का [illegible] हूं, फिर भी मैं ख़ासतौर पर नाम लेना चाहूंगा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का, जिनकी आला क़ाबलियत को देखकर हमेशा ही ख़ुश होता

था और कभी-कभी तो हुज्जत होती थी। इसके अलावा मैं गोविन्दवल्लभ पंत, नरेंद्रदेव और आसफ़अली का, ख़ासतौर पर एहसानमंद हूं।

इस किताब के कुछ हिस्से पुराने पड़ गये हैं और जबसे यह लिखी गई है बहुत-सी बातें गुज़र चुकी हैं। इसमें कुछ जोड़ने की और इसे दुहराने की अक्सर ख्वाहिश हुई है लेकिन मैंने इस ख्वाहिश को रोका है। सच तो यह है कि इसके अलावा कोई दूसरी सूरत न थी, क्योंकि जेलख़ाने से बाहर की ज़िंदगी का ताना-बाना ही कुछ दूसरा होता है और सोच-विचार करने और लिखने की फ़ुरसत ही नहीं होती। शुरू में मैंने इसे पूरा-पूरा अपने हाथ से लिखा; मेरे जेल से छूटने के बाद यह टाइप किया गया। टाइप किया हुआ मसविदा देखने का मुझे वक्त नहीं मिल रहा था और किताब की छपाई में देर हो रही थी। ऐसी हालत में मेरी बेटी इंदिरा ने हाथ बंटाया और मेरे कंधे से यह बोझ अपने ऊपर ले लिया। किताब उसी शक्ल में है जिस शक्ल में यह जेल में तैयार हुई थी कुछ जोड़ा या घटाया नहीं गया है, सिवा इसके कि आख़िर में एक 'पोस्ट स्क्रिप्ट' (ताज़ा क़लम) जोड़ दिया गया है।

मैं नहीं जानता कि दूसरे लेखक अपनी रचनाओं के बारे में कैसा ख़याल करते हैं लेकिन जब मैं अपनी किसी पुरानी चीज़ को पढ़ता हूं, तो हमेशा एक अजीब-सा एहसास मुझे होता है। इस एहसास में और भी अनोखा-पन उस वक्त आ जाता है, जब रचना जेल के बंद हुए और ग़ैर-मामूली वातावरण में हुई हो और पढ़ने का मौक़ा बाहर आने पर मिला हो। मैं उस रचना को पहचान ज़रूर लेता हूं, लेकिन पूरी-पूरी तरह नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि किसी दूसरे की लिखी हुई, लेकिन परिचित रचना पढ़ रहा हूं—ऐसे शख्स की जो मुझसे क़रीब ज़रूर है, लेकिन है दूसरा ही। शायद यह फ़र्क़ उतना होता है, जितना ख़ुद मुझमें इस बीच आ गया होता है।

इसी तरह का ख़याल इस किताब के बारे में भी मुझमें पैदा हुआ है। यह मेरी है लेकिन आज जो मेरी हालत है, उसे देखते हुए बिल्कुल मेरी नहीं है, बल्कि यह मेरे किसी पुराने व्यक्तित्व की नुमाइंदगी करती है जो उन व्यक्तित्वों के लंबे सिलसिले में शामिल हो चुका है, जो कुछ अरसे तक क़ायम रहकर मिट गये हैं और अपनी महज़ एक याद छोड़ गये हैं।

आनंद भवन इलाहाबाद
दिसंबर २९, १९४५

# विषय सूची

हिंदुस्तान
की
कहानी

सांची के अशोक-स्तंभ का शीर्ष

# १

# अहमदनगर का क़िला

## १ बीस महीने

अहमदनगर का क़िला तेरह अप्रैल उन्नीससौ चवालीस

बीस महीने से ज़्यादा हो गये कि हम लोग यहां लाये गये; ये बीस महीने से ज़्यादा मेरी नवीं क़ैद की मुद्दत के हैं। हमारे यहां पहुंचने पर अंधियाले आसमान में झिलमिलाते हुए दूज के नये चांद ने हमारा स्वागत किया। बढ़ती हुई चंद्रकला के साथ उजाला पखवाड़ा शुरू हो गया था। तबसे बराबर नये चांद का दर्शन मुझे इस बात की याद दिलाता रहा है कि मेरी क़ैद का एक महीना और बीता। यही बात मेरी पिछली जेल-यात्रा में हुई थी जो दिवाली के दीपोत्सव से ठीक बादवाले दूज के चांद के साथ शुरू हुई थी। चांद जो जेल में हमेशा से मेरा संगी रहा है नज़दीकी परिचय के कारण मुझसे और भी हिल-मिल गया है। यह मुझे याद दिलाता है दुनिया के सौंदर्य की, ज़िंदगी के ज्वार-भाटे की और इस बात की कि अंधेरे के बाद उजाला आता है; मृत्यु और पुनर्जीवन एक-दूसरे के बाद अनंत क्रम से चलते रहते हैं। सदा बदलते रहते और फिर भी सदा एक-से इस चांद को मैंने अनेक अवस्थाओं में अनेक कलाओं के साथ देखा है—संध्या के समय रात के मौन घंटों में जबकि छाया सघन हो जाती है और उस वक्त जबकि उषा की मंद समीर और चहक आनेवाले दिन की सूचना लाते हैं। दिन और महीनों के गिनने में चांद कितना मददगार होता है क्योंकि चांद का रूप और आकार (जब दिखाई पड़ता हो तब) महीने की तिथि बहुत कुछ ठीक-ठीक बता देते हैं। यह एक *आसान* जंत्री है—अगरचे इसे समय-समय पर सुधारते रहने की ज़रूरत है—और खेत में काम करनेवाले किसान के लिए तो दिनों के जाने और क्रमशः ऋतुओं के बदलने की सूचना देनेवाली सबसे ज़्यादा सुभीते की जंत्री है।

बाहरी दुनिया के सभी समाचारों से अलग हमने यहां तीन हफ्ते बिताये। उससे हमारा किसी तरह का संपर्क नहीं था। मुलाक़ातें बंद थीं खत और अख़बार नहीं मिलते थे न रेडियो का प्रबंध था। यहां पर हमारी मौजूदगी भी एक राजकीय भेद की बात समझी जाती थी जिसकी जानकारी

उन अफ़सरों के सिवा जिनके हवाले हम लोग थे और किसीको न थी। यह एक निकम्मा-सा राज था क्योंकि सारा हिंदुस्तान जानता था कि हम कहां हैं। इसके बाद अखबार मिलने लगे और कुछ हफ़्तों के बाद नज़दीकी रिश्तेदारों के ख़त भी जो घरेलू बातों के बारे में होते थे। लेकिन इन बीस महीनों में कोई मुलाक़ातें न हुईं और न कोई दूसरे संपर्क ही हो पाये।

अख़बारों की ख़बरें बुरी तरह कटी-छंटी होतीं। फिर भी उनसे हमें युद्ध की रफ़्तार का जो दुनिया के ज़्यादा हिस्से को भस्म कर रहा था कुछ अंदाज़ा लग जाता था और इस बात का कि हिंदुस्तान में अपने लोगों पर कैसी बीत रही है। हां अपने लोगों के बारे में हम इससे ज़्यादा न जान पाते थे कि बीसियों हज़ार आदमी बिना जांच या मुक़दमे के क़ैद में या नज़रबंद हैं हज़ारों गोली से मार डाले गये दसियों हज़ार स्कूलों और कालिजों से निकाल दिये गये फ़ौजी क़ानून-जैसी हालत सारे देश में फैल रही है आतंक और डर सब जगह छाया हुआ है। जो बीसियों हज़ार लोग बिना किसी तरह की जांच के क़ैद कर लिये गये थे उनकी हालत हमारी हालत के मुक़ाबले में कहीं बुरी थी क्योंकि न सिर्फ़ उनकी मुलाक़ातें बंद थीं बल्कि उन्हें ख़त या अख़बार भी नहीं मिलते थे और पढ़ने के लिए किताबें भी बहुत कम मिल पाती थीं। बहुतेरे पुष्टिकर खाना न मिलने की वजह से बीमार पड़े कुछ हमारे प्रियजन सही तीमारदारी और इलाज न हो सकने के कारण मर गये।

हिंदुस्तान में इस वक़्त युद्ध के कई हज़ार क़ैदी—ज़्यादातर इटली के—बस रहे थे। हम उनकी हालत का अपने देशवासियों की हालत से मुक़ाबला करते थे। हमें बताया जाता था कि जिनेवा के अहदनामे के अनुसार उनके साथ बर्ताव हो रहा है। लेकिन हिंदुस्तानी क़ैदियों और नज़रबंदों के लिए कोई शर्तें या क़ानून-क़ायदा नहीं था सिवा उन आर्डिनेंसों के जो मनमाने ढंग से हमारे अंग्रेज़ हाकिम समय-समय पर जारी करते रहते थे।

## ९ अकाल

अकाल पड़ा—भीषण दहलानेवाला ऐसा घोर कि बयान से बाहर! मलाबार में बीजापुर में उड़ीसा में और सबसे बढ़कर बंगाल के हरे भरे और उपजाऊ सूबे में आदमी औरतें नन्हें बच्चे हज़ारों की तादाद में रोज़ खाना न मिलने के कारण मरने लगे। कलकत्ते के महलों के सामने लोग मरकर गिर पड़ते। उनकी लाशें बंगाल के अनगिनत गांवों की मिट्टी की झोंपड़ियों में और देहातों में सड़कों पर और खेतों में पड़ी थीं। आदमी

दुनिया में सभी जगह मर रहे थे और जंग में एक-दूसरे को मार रहे थे। आमतौर से ये मौतें आनन-फ़ानन की मौतें होतीं अकसर बहादुरी की मौतें होतीं। किसी मक़सद किसी दावे को लेकर ये मौतें होतीं और ऐसा जान पड़ता था कि इस पागल दुनिया में ये मौतें होनेवाली घटनाओं का निष्ठुर परिणाम हैं इनसे अंत है उस जीवन का जिस पर हमारा बस नहीं जिसे हम थाम नहीं सकते। मौत सब जगह साधारण-सी बात हो रही थी।

लेकिन यहां मौत के पीछे न कोई मक़सद था न कोई हेतु, न उसकी कोई ज़रूरत ही थी। यह आदमी के निकम्मेपन और कठोरता का नतीजा थी। यह इन्सान की पैदा की हुई थी। यह एक धीमी भयानक धूं की चाल से रेंगकर आनेवाली चीज़ थी और इसमें परितोष का कोई पहलू न था। बस ज़िंदगी का मौत में मिलना और उसमें समा जाना था। ऐसा था कि मौत धंसी हुई आंखों से और क्षीण कंकालों से जीवन रहते-रहते झांक रही थी। और इसलिए यह ठीक और उचित न समझा जाता था कि इसकी चर्चा की जाय। अप्रिय प्रसंगों के बारे में बातें करना या लिखना मना नहीं समझा जाता था। ऐसा करना एक अभागी परिस्थिति को 'नाटकीय ढंग से दिखाना' हो जाता। हिंदुस्तान और इंगलिस्तान के हाकिमों की तरफ़ से झूठी खबरें निकलतीं। लेकिन लाशों की भार से आंखें नहीं मूंदी जा सकती थीं वे असली हालत उजागर कर रही थीं।

जब नरक की ज्वाला बंगाल के और दूसरी जगहों के लोगों को भस्म कर रही थी उस वक़्त बड़े अधिकारियों ने हमें यह बताया कि जंग की वजह से हिंदुस्तान का किसान खुश हाल है और उसके यहां खाने की कमी नहीं है। बाद में यह कहा गया कि जो हालत पैदा हुई, उसमें प्रांतीय स्वराज का क़सूर है और हिंदुस्तान की सरकार, या लंदन का इंडिया आफ़िस संविधान के अनुसार सूबों के मामलों में दख़ल नहीं दे सकते। दरअसल यह संविधान मौक़ूफ़ था टट चुका था ठुकराया जा चुका था या यों कहिये कि वाइसराय के बिना अंकुश के अधिकार से जारी किये गये नित नये आर्डिनेंसों के ज़रिये बदलता रहता था। यह संविधान आख़िरकार, एक अकेले शख़्स की बेलगाम हुकूमत बन गया था—ऐसे शख़्स की जिसे दुनिया के किसी भी तानाशाह से ज्यादा अधिकार हासिल थे। इस संविधान को स्थायी सर्विस के कर्मचारी ख़ासतौर पर सिविल सर्विस और पुलिस के लोग चला रहे थे और वे लोग उत्तरदायी थे गवर्नर के प्रति जो वाइसराय का मुख़्तार था और वह मंत्रियों को—जहां कहीं भी वे थे—नज़र-अंदाज़ कर सकता था। मंत्री लोग भले हों या बुरे, मौन अनुमति के कारण अपने पदों

पर बने हुए थे। ऊपर से आये हुए हुक्मों को टालने की उनमें ताब न थी और वे सचिव के लोगों तक की नाराजगी में—जो बरअक्स उनके मातहत होते थे—दखल देने का साहस न कर सकते थे।

आखिरकार कुछ करना ही पड़ा। थोड़ी-बहुत मदद पहुंचाई गई। लेकिन इस बीच दस लाख या बीस लाख या तीस लाख आदमी मर चुके थे। कोई नहीं जानता कि उन भयानक महीनों में भूख के मारे या रोग से कितने लोग मरे। कोई नहीं जानता कि कितने लाख लड़के और लड़कियां और नन्हें बच्चे मौत से तो बच गये लेकिन जिनकी बाढ़ मारी गई और तन से और आत्मा से जो टूट गये। और अब भी व्यापक अकाल और रोग का भय देश पर मंडरा रहा है।

प्रेसिडेंट रूजवेल्ट की चार आजादियां। अभाव से आजादी। फिर भी खुशहाल इंगलिस्तान और उससे भी ज्यादा खुशहाल अमरीका ने शरीर की उस भूख की तरफ ध्यान न दिया जो हिंदुस्तान में करोड़ों आदमियों को मारे डाल रही थी—उसी तरह जिस तरह कि उन्होंने आत्मा की उस प्यास का तिरस्कार किया जो हिंदुस्तान के निवासियों को सता रही थी। बताया गया कि धन की जरूरत नहीं है और खाना पहुंचानेवाले जहाज लड़ाई की जरूरतों के कारण मिल नहीं रहे हैं। लेकिन बावजूद सरकारी रोक के और बंगाल की भयानक घटनाओं को कम करके दिखाने की इच्छा के इंगलिस्तान और अमरीका और दूसरी जगहों के दिल रखनेवाले और हमदर्द लोगों ने—मर्दों और औरतों ने—हमारी मदद की। सबसे ज्यादा मदद की चीन और आयरलैंड की सरकारों ने जिनके साधन थोड़े थे जिनके सामने अपनी बड़ी कठिनाइयां थीं लेकिन जो खुद अकाल और युद्ध का तीखा अनुभव रखते थे और जिन्होंने पहचाना कि हिंदुस्तान के तन और आत्मा को क्या बात पीड़ित कर रही है। हिंदुस्तान की याददाश्त लंबी है लेकिन और चाहे वह जो कुछ भूले या याद रखे दोस्ती और हमदर्दी के इन सलूकों को वह कभी न भूलेगा।

## ३ लोकतंत्र के लिए लड़ाई

एशिया और यूरोप और अफरीका में और पैसिफ़िक अटलांटिक और हिंद महासागरों के बड़े हिस्सों पर जंग अपनी पूरी भीषणता से जारी है। चीन में करीब सात साल से लड़ाई हो रही है और साढ़े चार साल से ज्यादा हो गये यूरोप और अफरीका में और इस संसार-व्यापी युद्ध के भी दो वर्ष चार महीने बीत चुके। फ़ासिस्ट और नात्सी-मत के खिलाफ़ और दुनिया पर अधिकार हासिल करने की कोशिश के खिलाफ़ लड़ाई लड़ी जा

रही है। लड़ाई के इन सालों में से कोई तीन साल मैंने यहां पर और हिंदुस्तान में दूसरी जगहों पर क़ैद में गुज़ारे हैं।

मुझे याद है कि फ़ासिस्त और नात्सी-मतों का उनके शुरू के दिनों में मैंने क्या असर लिया था और मैंने ही नहीं बल्कि हिंदुस्तान में बहुतों ने। चीन में होनेवाली जापान की ज़्यादतियों ने हिंदुस्तान पर कितना गहरा प्रभाव डाला था और चीन के प्रति युगों पुरानी दोस्ती के भाव जगा दिये थे किस तरह इटली के अबीसीनिया पर किये गये बलात्कार ने हमें बेज़ार कर दिया था चेकोस्लोवाकिया के साथ जो दग़ा की गई, किस तरह उसने हमें तकलीफ़ पहुंचाई थी किस तरह प्रजातांत्रिक स्पेन जब अपने अस्तित्व की हिफ़ाज़त के लिए साहस के साथ लड़ाई लड़ते हुए गिर गया था तब मैंने और दूसरों ने उस बात का एक निजी दुख की घटना के तौर पर अनुभव किया था।

यह नहीं कि हम पर सिर्फ़ उन बाहरी हमलों का असर पड़ा हो जो फ़ासिस्तों और नात्सियों ने किये थे या उन बेहूदगियों और हैवानी हरकतों का जो इन हमलों के साथ-साथ हुई थी। जिन उसूलों पर ये खड़े थे और जिन का ये बड़े ज़ोर-शोर से ऐलान करते थे और ज़िंदगी के वे सिद्धांत जिनकी नींव पर वे अपनी इमारत खड़ी करने की कोशिश में थे इन सभी बातों ने हमें सजग कर दिया था क्योंकि ये उन सब यक़ीनों के ख़िलाफ़ पड़ती थीं जिन पर हम इस वक़्त क़ायम थे और जिन्हें हमने मुद्दतों से अपनाया था और अगर अपनी जातीय स्मृति ने हमारा साथ छोड़ भी दिया होता और हम अपना लंगर खो बैठते तो भी हमारे अपने तजुरबे (अगरचे वे दूसरी ही शक्ल में हमारे सामने आये थे और असलियत के लिहाज़ से कुछ बदले हुए भेस में थे) काफ़ी थे कि हमें बता दें कि ये नात्सी सिद्धांत और ज़िंदगी के उसूल क्या हैं और किस तरह के राज्य की ओर हमें आख़िरकार ले जायंगे क्योंकि हमारे देशवासी बहुत दिनों से उन्हीं उसूलों के और वैसे ही सरकारी तरीक़ों के शिकार रह चुके हैं। इस लिए हमारी प्रतिक्रिया फ़ौरन और ज़ोर के साथ फ़ासिस्त और नात्सी उसूलों के ख़िलाफ़ हुई।

मुझे याद है कि किस तरह मैंने मार्च १६३६ के शुरू के दिनों में सिन्योर मुसोलिनी का इसरार के साथ भेजा गया निमंत्रण अस्वीकार कर दिया था। इंगलिस्तान के बहुतेरे राजनीतिज्ञ जिन्होंने बाद में जब इटली लड़ाई में शरीक हुआ इस फ़ासिस्त नेता के ख़िलाफ़ बहुत कड़ी बातें कहीं उन दिनों उसकी चर्चा तारीफ़ के साथ और मीठेपन से किया करते थे और उसकी हुकूमत और तरीक़ों के प्रशंसक थे।

दो बरस बाद, म्यूनिख के समझौते से पहले गरमी के दिनों में नात्सी

सरकार ने मुझे जर्मनी में आने की दावत दी थी। दावतनामे के साथ यह लिखा था कि वह नात्सी-मत के खिलाफ़ मेरे विचारों को जानती है। फिर भी वह चाहती है कि मैं जर्मनी की हालत ख़ुद आकर देखूं। मैं सरकार का मेहमान बनकर या निजीतौर पर जाने के लिए आज़ाद था और गुमनाम तौर पर या दूसरा नाम रखकर जहां मैं चाहूंगा वहां बग़ैर रुकावट के जा सकता था इस बात का यकीन दिलाया गया था। लेकिन मैंने धन्यवाद के साथ इस न्यौते को नामंज़ूर कर दिया। उसके मैं चेकोस्लोवाकिया गया—उस 'दूर-देश' में जिसके बारे में उस वक़्त के इंग्लिस्तान के प्रधान मंत्री बहुत थोड़ी ही जानकारी रखते थे।

म्यूनिख के समझौते के पहले मैं ब्रिटिश मन्त्रि-मंडल के कुछ लोगों और इंग्लिस्तान के दूसरे ख़ास-ख़ास राजनीतिज्ञों से मिला था और मैंने उनके सामने फ़ासिस्त और नात्सी-मत के ख़िलाफ़ अपने विचारों को रखने का साहस किया था। मैंने देखा कि मेरी राय का स्वागत नहीं किया गया और मुझसे कहा गया कि बहुत-सी बातों का लिहाज़ रखना ज़रूरी है।

चेकोस्लोवाकिया के संकट के मौक़े पर प्राग और सुडेटनलैंड में लंदन पेरिस और जिनेवा में जहां लीग-असेंबली की उन दिनों बैठक हो रही थी फ़्रान्सीसी और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का जो रुख़ मैंने देखा उसे देखकर मैं अचंभे में रह गया और मुझे नफ़रत हुई। अगर यह कहा जाय कि दूसरे फ़रीक़ को राज़ी रखने की कोशिश की गई तो वह असलियत को ठीक-ठीक अदा करने के लिए नाकाफ़ी होगे। जो हुआ, उसके पीछे सिर्फ़ हिटलर का डर न था बल्कि उसकी बाबत ख़ुफ़िया तारीफ़ का भाव था।

और अब भाग्यचक्र का एक अजीब पलटा है कि मैं और मुझ-जैसे लोग जबकि फ़ासिस्तों और नात्सियों के ख़िलाफ़ जंग जारी हो अपने दिन क़ैद में काटें और उनमें से बहुत-से लोग जो हिटलर और मुसोलिनी के यहां सलामियां बजाते थे और जो चीन में होनेवाली जापान की ज़्यादतियों को पसंद करते थे आज़ादी और लोकतंत्र और फ़ासिस्त-विरोध का झंडा उठाये हुए दिखाई पड़ें।

हिंदुस्तान के भीतर भी एक हैरत-अंगेज़ तब्दीली आ गई है। और मुल्कों की तरह यहां भी ऐसे लोग हैं, जिन्हें सरकार का 'पिट्ठू' कहना चाहिए, जो सरकार के बाजरे के इर्द-गिर्द चक्कर लगाया करते हैं और उन विचारों को दुहराया करते हैं, जो उनकी समझ में उन्हें अपने मालिकों का कृपा-पात्र बना दें। बहुत दिन नहीं हुए, एक ऐसा ज़माना था जब वे हिटलर और मुसोलिनी की तारीफ़ के पुल बांधा करते थे और उन्हें मिसाल की तरह पेश किया करते थे और साथ ही रूसी सरकार को हर तरह की गालियां सुनाया

करते थे। अब वह बात नहीं रही क्योंकि मौसम बदल गया है। सरकार के और राज के वे ऊंचे हाकिम हैं और फ़ासिस्ट तथा नात्सी-विरोधी अपनी वाणी को ऊंचे स्वर में अलापते हैं और लोकतंत्रवाद तक की चर्चा करते हैं। लेकिन दबी सांस से मानो यह कोई ज़रूरी चीज़ तो है, पर दूर-दराज़ की है। मुझे कभी-कभी यह कौतूहल होता है कि घटनाओं ने कोई दूसरा ही रुख लिया होता तो उस हालत में ये लोग क्या करते। लेकिन सच यह है कि क़यास की गुंजाइश नहीं क्योंकि जो भी बलवती हुकूमत हो उसीकी ये माला फेरते और उसीके आगे ये स्वागत-पत्र लेकर हाज़िर होते।

जंग के बरसों पहले से मेरे दिमाग़ में आनेवाली कश-मकश की बातें घूम रही थीं। मैं उनके बारे में विचार करता। तक़रीरें करता और लिखता था और मैंने अपने को ज़हनी तौर से इसके लिए तैयार कर लिया था। मैं चाहता था कि जोश के साथ हिंदुस्तान इस बड़े संघर्ष में असली हिस्सा ले। मैं अनुभव करता था कि इसमें ऊंचे उसूलों की बाज़ी लगेगी और इस कश-मकश का नतीजा यह होगा कि हिंदुस्तान में और दुनिया में बड़ी और इन्क़लाबी तब्दीलियां होंगी। उस वक़्त मैं नहीं समझता था कि हिंदुस्तान को फ़ौरन कोई ख़तरा है या उस पर हमले का इमकान है। फिर भी मैं चाहता था कि हिंदुस्तान उसमें पूरा-पूरा हिस्सा ले। लेकिन मुझे यक़ीन था कि सिर्फ़ एक आज़ाद मुल्क ही बराबरी की हैसियत से इस तरह शिरकत कर सकता है।

यही नज़रिया नेशनल कांग्रेस का भी था जो हिंदुस्तान का अकेला ऐसा संगठन रहा है जिसने फ़ासिस्ट और नात्सी-मत का उसी तरह विरोध किया है जिस तरह कि साम्राज्यवाद का। इसने गणतांत्रिक स्पेन चेकोस्लोवेकिया और चीन का बराबर समर्थन किया था।

और अब क़रीब दो साल से कांग्रेस ग़ैर-क़ानूनी क़रार दे दी गई है। क़ानूनी हिमायत की वह हक़दार नहीं रही और किसी सूरत में भी वह अपना काम नहीं कर पा रही है। कांग्रेस जेलख़ाने में है। सूबों की विधान-सभाओं के सदस्य इन सभाओं के अध्यक्ष इनके पुराने वज़ीर, कांग्रेसी मेयर, इसकी म्युनिसिपैल्टियों के सभापति—सब जेल में हैं।

इस बीच जंग जारी है—लोकतंत्र और अटलांटिक चार्टर और चार आज़ादियों के नाम पर।

## ४ जेल के दिन काम के लिए उमंग

जान पड़ता है कि जेलख़ाने में वक़्त अपना स्वभाव बदल देता है। मौजूदा वक़्त का वजूद मुश्किल से कहा जा सकता है क्योंकि ऐसी भावना या एहसास रहता नहीं जो उसे गुज़रे वक़्त से जुदा कर सके। जेल से बाहर

की सरगरम बीती और मरती हुई दुनिया की खबरें ऐसी जान पड़ती हैं मानो कुछ सपने-जैसी असार हों उनमें अतीत की-सी जड़ता और बेर-तबदीली होती है। बाहरी स्वाभाविक वक्त रह नहीं जाता भीतरी निजी चेतना बनी रहती है लेकिन वह भी मंद पड़ जाती है सिवाय इसके कि जब उसे जमाना मौजूदा वक्त से हटाकर बीते हुए या आनेवाले वक्त की किसी हकीकत का अनुभव कराने लगता है। जैसाकि आगस्ट कामटे ने कहा है हम अपने गुजरे हुए जमाने में लिपटे हुए मरे हुए लोगों की-सी जिंदगी बिताते हैं। लेकिन यह बात खासतौर पर जेल में लागू होती है जहां हम बीते वक्त की याद या आनेवाले वक्त की कल्पना से अपने बेदम और कैद जज्बों के लिए कुछ खुराक हासिल करते हैं।

गुजरे हुए वक्त में एक शांति और सदा कायम रहनेवाली वस्तु की भावना है। वह बदलता नहीं पायदार है जैसेकि रंगी हुई तस्वीर या संग मर्मर या कांसे की मूर्ति हो। मौजूदा वक्त के तूफानों और उलट-फेर से असर न लेते हुए वह अपनी शान और इतमीनान को बनाये रखता है, और दुखी आत्मा और सताये हुए मन को अपनी समाधि-गुफा की तरफ पनाह लेने के लिए खींचता रहता है। वहां शांति और इतमीनान है और वहां आदमी को एक रूहानी कैफियत का भी आभास मिल जायगा।

लेकिन जबतक हम उसमें और मौजूदा वक्त में जहां इतनी कम मकसद है और हल करने के लिए इतने मसले हैं एक जीती-जागती कड़ी न कायम कर सकें तबतक इस जिंदगी को हम जिंदगी नहीं कह सकते। यह कला-कला-के-लिए जैसी एक चीज बन जाती है जिसमें कोई उत्साह नहीं काम करने की उमंग नहीं जो जिंदगी का सार है। इस उत्साह और उमंग के बगैर, उम्मीद और ताकत रफ्ता-रफ्ता जाती रहती है हम जिंदगी की एक नीची सतह पर आकर ठहर जाते हैं यहांतक कि चुपके-चुपके मिट जाते हैं। हम गुजरे हुए जमाने के हाथों कैदी बन जाते हैं और उसकी बे-हिसी का कुछ हिस्सा हममें चिमटकर रह जाता है। तबीयत की यह हालत जेलखाने में आसानी से पैदा हो जाती है, क्योंकि वहां हमें काम करने की आजादी नहीं रहती और हम जेल के क़ायदों और वहां की दिन-चर्या के गुलाम बन जाते हैं।

फिर भी गुजरा हुआ जमाना तो हमारे साथ ही रहता है—हम जो कुछ हैं हमारे पास जो कुछ है, वह गुजरे हुए जमाने से ही हासिल हुआ है। हम उसके बनाये हुए हैं और उसीमें ग़र्क़ होकर जीते हैं। इस बात को न समझना और यह ख्याल करना कि यह कोई ऐसी चीज है जो हमारे भीतर

रहती है मौजूदा ज़माने को न समझना है। उसे मौजूदा ज़माने से जोड़ना और आनेवाले ज़माने तक बीच से जाना जहां वह इस तरह छूट न सके वहां से अपने को ख़तम कर लेना और इस सबको विचार और अमली दुनिया की बदलती हुई, थरथराती हुई सामग्री बना लेना—यही ज़िन्दगी है।

हरएक ज़ोरदार काम ज़िन्दगी की गहराइयों से पैदा होता है। इस काम का मुहर्रिक व्यक्ति के सारे लंबे पिछले ज़माने ने बल्कि नस्ल के गुज़रे हुए ज़माने ने पेश किया है। नस्ल की यादगारें पूर्वजों और इर्द-गिर्द के प्रभाव और शिक्षा और दबी हुई चेतना के उकसाव विचार और सपने और लड़कपन से आगे के काम—सब एक अजीब ढंग से मिल-जुलकर हमें इस काम की तरफ़ मजबूर करके ढकेलते हैं, और यह काम खुद आनेवाले ज़माने को निश्चित करने में अपना असर डालता है। भविष्य के ऊपर असर डालना उसे कुछ हदतक या मुमकिन है बहुत हदतक निश्चित करना सही है—फिर भी यह तय है कि इसे हम निश्चयवाद नहीं कह सकते।

बर्नार्ड शॉ ने मौजूदा वक़्त के बारे में कहीं पर लिखा है कि यह 'विशुद्ध और अक्षत क्षण' है समय और वजूद की वह पैनी छुरे की धार है जो गुज़रे हुए ज़माने को आनेवाले ज़माने से जुदा करता है और यह है और फ़ौरन नहीं भी है। यह बयान दिलचस्प है लेकिन इसके मानी क्या हुए? आनेवाले ज़माने के परदे से इस अक्षत क्षण का अपनी पूरी विशुद्धता के साथ प्रकट होना हमसे उसका लगाव होना और फ़ौरन बासी होकर उसका बासी और गुज़रा हुआ ज़माना बन जाना। क्या यह हम हैं जो उस पर दाग़ लगाते हैं और उसका अछूतापन बिगाड़ते हैं? या वह क्षण सचमुच उतना अछूता नहीं है क्योंकि उसके साथ सारे बीते हुए ज़माने का कलंक लगा हुआ है?

फ़िलसफ़े की नज़र से इन्सानी आज़ादी-जैसी कोई चीज़ है या नहीं या जो कुछ है वह क्रूर चलनेवाला और पहले से निश्चित है—मैं नहीं जानता। जान पड़ता है कि बहुत-कुछ यक़ीनी तौर पर ऐसी पिछली घटनाओं के मेल-जोल से तय पाया है जो शख़्स पर बीतती हैं और अक्सर उसे बेबस कर देती हैं। मुमकिन है कि जिस अंदरूनी उकसाव का वह अनुभव करता है जो ज़ाहिर में उसकी अपनी इच्छा या ख़्वाहिश होती है वह भी और बातों का नतीजा है। जैसाकि शोपेनहार कहता है—"आदमी इच्छा के मुताबिक़ काम कर सकता है लेकिन इच्छा के मुताबिक़ इच्छा नहीं कर सकता। इस निश्चयवाद में क़तई तौर पर यक़ीन रखना हमें ला-मुहाला बेकार कर देता है और ज़िन्दगी के मुताल्लिक़ मेरा सारा यक़ीन इस ख़याल से बग़ावत करता

है—अगरचे हो सकता है कि यह बग़ावत भी दूर पिछली घटनाओं का नतीजा हो।

मैं अपने दिमाग़ पर, आमतौर से ऐसे फ़िलसफ़ियाना और आधिभौतिक मसलों का बोझ नहीं डालता जिनका कि हल न हो। कभी-कभी ये आप ही अनजाने में क़ैद के लंबे और मौन क्षणों में मेरे सामने आ जाते हैं और कभी-कभी तो उन सरगरम समयों में भी जब मैं काम में लगा होता हूं। इनके आने के साथ ही मैं एक अलहदगी महसूस करने लगता हूं या अगर ये विचार ऐसे समयों में आये जब मैं दुखी हुआ तो इनसे मुझे शांति मिलती है। लेकिन आमतौर से काम या काम के विचार ही मेरे दिमाग़ में जगह पाते हैं और उस वक़्त जबकि मुझे काम करने की आज़ादी नहीं रहती तब मैं ख़याल करने लगता हूं कि काम की तैयारी कर रहा हूं।

बहुत दिनों से मैंने काम के लिए बुलाहट का अनुभव किया है ऐसे काम के लिए नहीं जो विचार से अलग-अलग हो बल्कि ऐसे काम के लिए, जो एक सिलसिले के साथ विचार से पैदा होता हो। और जब दोनों में यानी काम और विचार में सामंजस्य पैदा हो गया है—विचार ने काम करने की प्रेरणा दी है और काम में आकर वह पूरा उतरा है या काम ने विचार पैदा किया है और बातों को ज़्यादा अच्छी तरह समझने का मौक़ा दिया है—तब मैंने ज़िंदगी को भरी-पूरी पाया है और ज़िंदगी के उस क्षण में मैंने एक खुलती हुई गहराई पाई है। लेकिन ऐसे क्षण विरले बहुत विरले रहे हैं। होता यह है कि आमतौर से काम और विचार, इनमें से एक दूसरे से आगे बढ़ जाता है इस तरह दोनों में सामंजस्य नहीं हो पाता और दोनों को मिलाने में फ़िज़ूल कोशिश सर्फ़ होती है। सालों पहले की बात है—एक ज़माना था कि मैं काफ़ी अरसों तक किसी-न-किसी भाव के आवेश में रहा करता था जिस काम में लगा होता उसीमें ग़र्क़ रहता। ऐसा जान पड़ता है कि मेरी जवानी के वे दिन बहुत पीछे छूट गये। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि एक ज़माना गुज़र गया बहुत-कुछ इसलिए कि उनके और आज के दरमियान तजुरबे और पुरदर्द ख़यालों का एक समुंदर आ गया है। पुराना जोश अब बहुत धीमा पड़ गया है, वे आवेग जो मुझे बे-क़ाबू कर देते थे अब नरम पड़ गये हैं। अपने जज़्बों और भावों पर मुझे अब ज़्यादा क़ाबू हो गया है। हां विचारों का बोझ अब अक्सर काम में रुकावट डालता है और दिमाग़ में जहां यक़ीन रहा करता था अब दबे-पांव संदेह आकर खड़ा हो जाता है। शायद यह उम्र का तक़ाज़ा है या हो सकता है कि वक़्त का आम मिज़ाज ही ऐसा हो।

और फिर भी अबतक काम में लगने की बुलाहट मेरे अंदर अजीब

गहराइयों को कुरेदती है और विचारों के साथ दो हाथ मिलकर मैं फिर 'उस आनंद के सुंदर उल्लास' का तजुरबा करना चाहता हूं जो जोखिम और खतरे की तरफ़ मुस्कराता है और जो मौत का ललकारकर सामना करता है। मौत के लिए मुझे कोई रुचि नहीं अगरचे मैं समझता हूं कि उससे मुझे डर भी नहीं लगता। जिन्दगी से मुंह मोड़ने या उससे बाज़ आने में मुझे यक़ीन नहीं। ज़िंदगी से मुझे मुहब्बत है और वह बराबर मुझे अपनी तरफ़ खींचती है। अपने ढंग से मैं उसका रस लेना चाहता हूं अगरचे मैं न जाने कितनी अनदेखी रुकावटों से घिरा हुआ हूं। लेकिन यही ख्वाहिश मुझे जिंदगी के साथ खेलने को उसकी झलक लेने का उकसाती है—उसका गुलाम बनने के लिए नहीं बल्कि इसलिए कि हम एक-दूसरे की और भी क़द्र कर सकें। शायद मुझे एक उड़ाका होना चाहिए था—इसलिए कि जब जिंदगी का धीमापन और उदासी मुझपर छाने लगती तो मैं उड़कर बादलों के कोलाहल में समा जाता और अपने से कहता

मैंने सब कुछ तौलकर देख लिया सब बातों पर विचार कर लिया,
जो आनेवाले साल हैं वे सांस की बरबादी से लगे;
जो साल पीछे छूट गये उनमें भी सांस की बरबादी रही है—
इस जिंदगी इस मौत, के मुकाबले में उन्हें अगर तौला जाय।

## ५ गुज़रे हुए ज़माने का मौजूदा ज़माने से संबंध

काम करने के लिए यह उमंग काम के ज़रिये तजुरबा हासिल करने की यह इच्छा मेरे सभी ख़यालों और धंधों पर असर डालती रही है। किसी चीज़ के बारे में बराबर विचार करना—खुद तो यह एक काम है ही—आनेवाले काम का एक अंग बन जाता है। यह कोई हवाई और बग़ैर आधार की चीज़ नहीं जिसका जिंदगी और काम से कुछ ताल्लुक़ न हो। इसके ज़रिये गुज़रा हुआ ज़माना मौजूदा ज़माने तक काम करने के लिए तक रास्ता बनाता है और आनेवाला ज़माना यहीं से शुरू होता है।

मेरी जेल की ज़िंदगी का जिसमें ज़ाहिरा तौर पर काम करने की गुंजा इश नहीं रहती—ख़यालों और धरनों का कुछ ऐसा ढंग है कि आने-वाले या ख़याली धंधे से एक रिश्ता क़ायम हो जाता है और इस तरह इस ज़िंदगी में मुझे कुछ ऐसा सार मिल जाता है जिसके बिना वह सूनी होती और उसमें जीना दूभर हो जाता। जब दरअसल मुझे किसी काम में लगने की आज़ादी नहीं रह गई है तब मैंने गुज़रे हुए ज़माने और इतिहास को कुछ इस तरह से समझने की कोशिश की है। चूंकि मेरे अपने तजुरबे अक्सर तारीख़ी घटनाओं को छूकर निकले हैं और मैंने अपने मैदान में ऐसी घट

है—अगरचे हो सकता है कि यह बग़ावत भी ख़ुद पिछली घटनाओं का नतीजा हो।

मैं अपने दिमाग़ पर, आमतौर से ऐसे फ़िलसफ़ियाना और आधिभौतिक मसलों का बोझ नहीं डालता जिनका कि हल न हो। कभी-कभी ये आप ही अनजाने में क़ैद के लंबे और मौन क्षणों में मेरे सामने आ जाते हैं और कभी-कभी तो उन सरगरम लमहों में भी जब मैं काम में लगा होता हूं। इनके आने के साथ ही मैं एक अलहदगी महसूस करने लगता हूं या अगर ये विचार ऐसे लमहों में आये जब मैं दुखी हुआ तो इनसे मुझे शांति मिलती है। लेकिन आमतौर से काम या काम के विचार ही मेरे दिमाग़ में जगह पाते हैं और उस वक़्त जबकि मुझे काम करने की आज़ादी नहीं रहती तब मैं ख़याल करने लगता हूं कि काम की तैयारी कर रहा हूं।

बहुत दिनों से मैंने काम के लिए अकुलाहट का अनुभव किया है ऐसे काम के लिए नहीं जो विचार से अलग-अलग हो बल्कि ऐसे काम के लिए, जो एक सिलसिले के साथ विचार से पैदा होता हो। और जब दोनों में यानी काम और विचार में सामंजस्य पैदा हो गया है—विचार ने काम करने की प्रेरणा दी है और काम में आकर वह पूरा उतरा है या काम ने विचार पैदा किया है और बातों को ज़्यादा अच्छी तरह समझने का मौक़ा दिया है—तब मैंने ज़िंदगी को भरी-पूरी पाया है और ज़िंदगी के उस क्षण में मैंने एक खुलती हुई गहराई पाई है। लेकिन ऐसे क्षण विरले बहुत विरले रहे हैं। होता यह है कि आमतौर से काम और विचार, इनमें से एक दूसरे से आगे बढ़ जाता है इस तरह दोनों में सामंजस्य नहीं हो पाता और दोनों को मिलाने में फ़िज़ूल कोशिश सर्फ़ होती है। सालों पहले की बात है—एक ज़माना था कि मैं काफ़ी अरसों तक किसी-न-किसी भाव के आवेश में रहा करता था जिस काम में लगा होता उसीमें ग़र्क़ रहता। ऐसा जान पड़ता है कि मेरी जवानी के वे दिन बहुत पीछे छूट गये। सिर्फ़ इसलिए नहीं कि एक ज़माना गुज़र गया बहुत-कुछ इसलिए कि उनके और आज के दरमियान तजुरबे और पुरदर्द ख़यालों का एक समुन्दर आ गया है। पुराना जोश अब बहुत धीमा पड़ गया है, वे आवेग जो मुझे बे-क़ाबू कर देते थे अब नरम पड़ गये हैं। अपने जज़्बों और भावों पर मुझे अब ज़्यादा क़ाबू हो गया है। हां विचारों का बोझ अब अक्सर काम में रुकावट डालता है और दिमाग़ में जहां यक़ीन रहा करता था अब दबे-पांव संदेह आकर खड़ा हो जाता है। शायद यह उम्र का तक़ाज़ा है या हो सकता है कि वक़्त का आम मिज़ाज ही ऐसा हो।

और फिर भी अबतक काम में लगने की पुकार मेरे अंदर अजीब

गहराइयों को कुरेदती है और विचारों के साथ दो हाथ भिड़कर मैं फिर 'उस आवेग के सुंदर उल्लास' का तजुरबा करना चाहता हूँ जो जोखिम और ख़तरे की तरफ़ झुकता है और जो मौत का ललकारकर सामना करता है। मौत के लिए मुझे कामना नहीं, अगरचे मैं समझता हूँ कि उससे मुझे डर भी नहीं लगता। ज़िंदगी से मुँह मोड़ने या उससे बाज़ आने में मुझे यक़ीन नहीं। ज़िंदगी से मुझे मुहब्बत है और वह बराबर मुझे अपनी तरफ़ खींचती है। अपने ढंग से मैं उसका रस लेना चाहता हूँ, अगरचे मैं न जाने कितनी अनदेखी रुकावटों से घिरा हुआ हूँ। लेकिन यही रुचि मुझे ज़िंदगी के साथ खेलने को, उसकी झलक लेने को उकसाती है—उसका ग़ुलाम बनने के लिए नहीं बल्कि इसलिए कि हम एक-दूसरे की ओर भी क़द्र कर सकें। शायद मुझे एक उड़ाका होना चाहिए था—इसलिए कि जब ज़िंदगी का धीमापन और उदासी मुझपर छाने लगती तो मैं उड़कर बादलों के कोलाहल में समा जाता और अपने से कहता

मैंने सब कुछ तौलकर देख लिया; सब बातों पर विचार कर लिया,
जो आनेवाले साल हैं वे साँस की बरबादी से लगे
जो साल पीछे छूट गये उनमें भी साँस की बरबादी रही है—
इस ज़िंदगी इस मौत के मुक़ाबले में उन्हें अगर तौला जाय।

## ५ गुज़रे हुए ज़माने का मौजूदा ज़माने से संबंध

काम करने के लिए यह उमंग, काम के ज़रिये तजुरबा हासिल करने की यह इच्छा मेरे सभी ख़यालों और कामों पर असर डालती रही है। किसी चीज़ के बारे में बराबर विचार करना—ख़ुद तो यह एक काम है ही—आनेवाले काम का एक जुज़ बन जाता है। यह कोई हवाई और बग़ैर आधार की चीज़ नहीं, जिसका ज़िंदगी और काम से कुछ ताल्लुक़ न हो। इसके ज़रिये गुज़रा हुआ ज़माना मौजूदा ज़माने तक, काम करने के क्षण तक, रास्ता बनाता है और आनेवाला ज़माना यहीं से शुरू होता है।

मेरी जेल की ज़िंदगी का, जिसमें ज़ाहिरा तौर पर काम करने की गुंजाइश नहीं रहती—ख़यालों और सपनों का कुछ ऐसा ढंग है कि आने-वाले या ख़याली अमल से एक रिश्ता क़ायम हो जाता है और इस तरह इस ज़िंदगी में मुझे कुछ ऐसा सार मिल जाता है, जिसके बिना वह सूनी होती और उसमें जीना दूभर हो जाता। जब दरअसल मुझे किसी काम में लगने की आज़ादी नहीं रह गई है, तब मैंने गुज़रे हुए ज़माने और इतिहास को कुछ इस तरह से समझने की कोशिश की है। चूँकि मेरे अपने तजुरबे अक्सर तारीख़ी घटनाओं को छूकर निकले हैं और मैंने अपने मैदान में ऐसी घट

नाओं पर असर भी डाला है, इसलिए इतिहास को एक जीते-जागते सिलसिले की शक्ल में ख़याल करने में मुझे दिक़्क़त नहीं हुई है, और मैं अपने को उससे कुछ हदतक एक कर सका हूं।

इतिहास से मेरा परिचय देर में हो पाया और वह भी उस सीधे रास्ते से नहीं जिसमें बहुत-सी घटनाओं और तारीख़ों की जानकारी हासिल कर उनमें ऐसे नतीजे निकाले जाते हैं, जिनका अपनी ज़िंदगी से ताल्लुक़ न हो। जबतक मैं यह करता रहा हूं तबतक इतिहास का मेरे लिए कोई महत्त्व नहीं रहा। दैवी घटनाओं और आनेवाली ज़िंदगी के मसलों में मेरी दिलचस्पी और भी कम रही है। विज्ञान और मौजूदा ज़माने के मसलों और अपनी आजकल की ज़िंदगी में मेरी कहीं अधिक दिलचस्पी रही है।

विचारों, भावनाओं और प्रेरणाओं के किसी मेल-जोल के कारण जिसका मुझे एक धुंधला एहसास भर रहा है, मुझमें काम करने के लिए उमंग पैदा हुई है, और काम करने ने मुझे विचार की तरफ़ ढकेला है और मुझमें मौजूदा ज़माने की जड़ें बीते हुए ज़माने में थीं इसलिए मैंने बीते ज़माने की कोई खोज की और उसमें जहां कहीं भी मुमकिन हुआ मौजूदा ज़माने को समझने का पता ढूंढ़ता रहा हूं। और पुरानी घटनाओं पर और क़दीम लोगों के बारे में ग़ौर करते हुए चाहे मैं अपने को कितना भी भूल गया हूं फिर भी मैं मौजूदा ज़माने की गिरफ़्त से बाहर नहीं गया हूं। अगर मैंने कभी यह अनुभव किया है कि मैं एक गुज़रे ज़माने का आदमी हूं, तो मैंने यह भी अनुभव किया है कि मेरा सारा गुज़रा हुआ ज़माना सिमटकर मौजूदा वक़्त में आ गया है। पुराने ज़माने का इतिहास इस ज़माने में समा गया और एक ज़िंदा हक़ीक़त बन गया है जिसके साथ सुख और दुख के एहसास गुंथे हुए हैं।

अगर गुज़रे हुए ज़माने में मौजूदा ज़माना बन जाने की प्रवृत्ति है तो मौजूदा ज़माना भी कभी-कभी बीते हुए ज़माने में समा जाता है, उसीकी तरह बे-हिस और स्थिर जान पड़ता है। काम की सरगरमी के बीच कभी-कभी ऐसी भावना पैदा हो जाती है कि जिस काम में लगे हैं, वह बीते हुए ज़माने की कोई घटना है और हम उसे इस तरह देख रहे हैं जैसे कोई किसी बीते हुए ज़माने की चीज़ को देखता है। गुज़रे हुए ज़माने को और उसके मौजूदा ज़माने के साथ के संबंध को खोजने की इसी कोशिश ने आज से १२ बरस पहले अपनी लड़की के नाम लिखे गये ख़तों की शक्ल में मुझे 'विश्व-इतिहास की झलक'[1] लिखने पर आमादा किया था। मैंने कुछ सतही ढंग की चीज़

[1] यह पुस्तक हिंदी में सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित हुई है।
—संपादक

लिखी और जहाँतक बन पड़ा सादे ढंग से लिखा क्योंकि वह एक लड़की के पढ़ने के लिए लिखी गई थी जिसकी उम्र १२-१६ बरस की थी। लेकिन इस लिखने के पीछे वही तलाश और खोज थी। मैं अपने को एक साहसी यात्रा पर निकला हुआ समझता था और मैंने एक-एक करके कई युगों में और वक़्तों में उन मर्दों और औरतों को साथी समझकर ज़िंदगी बिताई, जो बहुत दिन हुए गुज़र चुके थे। जेल में मुझे फ़ुरसत थी किसी तरह की जल्दी नहीं थी न एक निश्चित वक़्त में काम पूरा करने का ख़याल था। इसलिए मैं अपने दिमाग़ को सैर करने देता था या अगर जी चाहा तो कुछ वक़्त के लिए एक जगह ठहर लेने देता था अपने ऊपर गहराई से असर पड़ने देता था जिसमें कि गुज़रे ज़माने की सूखी हड्डियों पर गोश्त और ख़ून चढ़ जाय।

इसी तरह की एक तलाश ने अगरचे वह ज़्यादा नज़दीकी वक़्त और लोगों तक महदूद थी मुझे अपनी कहानी लिखने के लिए उकसाया था।

मैं ख़याल करता हूँ कि इन बारह सालों में मैं बहुत बदल गया हूँ। मैं ज़्यादा विचारशील हो गया हूँ। शायद मुझमें ज़्यादा संतुलन और अलहदगी की भावना और मिज़ाज की शांति आ गई है। अब मैं विपत्ति से या जिसे मैं विपत्ति समझता रहा हूँ उससे उतना नहीं घबराता। मन की उथल-पुथल और परेशानी अब कम हो गई है या ऐसी है कि ज़्यादा वक़्त तक ठहरती नहीं हालाँकि कहीं बड़े पैमाने पर मुझपर विपत्तियाँ गुज़री हैं। मुझे ताज्जुब हुआ है कि ऐसा क्यों हुआ। क्या यह त्याग की भावना बढ़ जाने के सबब से है या एहसास मोटा पड़ गया है? या क्या यह महज़ उम्र का तक़ाज़ा है या ताक़त घट रही है और ज़िंदगी के लिए उत्साह कम हो रहा है? या ऐसा है कि मुद्दतों तक जेल में रहने की वजह से ज़िंदगी रफ़्ता-रफ़्ता क्षीण हो गई है और जो ख़याल मन में भरे हुए थे वे चले गये हैं और महज़ कुछ अपनी लहरियाँ छोड़ गये हैं? तकलीफ़ का मारा हुआ दिमाग़ अपनी बचत की कोई सूरत ढूँढ़ता है, इंद्रियाँ बार-बार की चोट से कुंठित हो जाती हैं और आदमी सोचता है कि इस दुनिया पर इतनी बुराई और बदक़िस्मती छाई हुई है कि उनमें कुछ कमी-बेशी हो जाने से ज़्यादा फ़र्क़ नहीं आता। हमारे लिए सिर्फ़ एक बात रह जाती है जिसे हमसे छीना नहीं जा सकता और वह है हिम्मत और शान के साथ अपने उन आदर्शों पर क़ायम रहना जिनसे कि ज़िंदगी सार्थक होती है। लेकिन यह राजनैतिक का ढंग नहीं है।

किसीने उस दिन कहा था— 'मौत दुनिया में पैदा हुए हर आदमी का जन्मसिद्ध अधिकार है।' एक ज़ाहिर-सी और सच्ची बात कहने का

का यह एक अजीब ढंग है। यह ऐसा परम-सिद्ध अधिकार है, जिससे किसीने इन्कार नहीं किया न कोई कर सकता है लेकिन जिसे हम भूले रहने और अबतक हो सके दूर रखने की कोशिश करते हैं। फिर भी इस ख़याल में एक नयापन और कशिश है। जो लोग ज़िंदगी की इतने कड़ुएपन से शिकायत करते रहते हैं, वे अगर चाहें तो उनके पास बच निकलने का उपाय है। अगर हम ज़िंदगी पर क़ाबू नहीं पा सकते तो कम-से-कम मौत पर अधिकार कर सकते हैं। यह एक सुख करनेवाला विचार है, जो बेबसी के एहसास को कम करता है।

## ६ ज़िंदगी का फ़िलसफ़ा

छः या सात साल हुए, अमरीका के एक प्रकाशक ने एक संग्रह के लिए, जिसे वह प्रकाशित करने जा रहे थे मुझसे अपनी ज़िंदगी के फ़िलसफ़े पर एक मज़मून लिखने के लिए कहा था। यह ख़याल मुझे अच्छा लगा लेकिन मुझे पसोपेश हुआ और जितना ही मैंने इस बारे में ग़ौर किया मेरा पसोपेश बढ़ता गया। आख़िरकार मैंने वह मज़मून नहीं लिखा।

मेरी ज़िंदगी का फ़िलसफ़ा क्या है ? मुझे मालूम नहीं। कुछ साल पहले मुझे इतनी दुविधा न होती। उस वक्त मेरे विचारों और मक़सदों दोनों में एक निश्चय था जो अब रफ़्ता-रफ़्ता जाता रहा है। हिंदुस्तान चीन यूरोप और सारी दुनिया में होनेवाली पिछले सालों की घटनाएं उलझन और परेशानी और फ़ेरफ़ार पैदा करनेवाली रही हैं और भविष्य अस्पष्ट और धुंधियाला हो गया है और उसके बारे में जो स्पष्टता मेरे दिमाग़ में पहले थी अब नहीं रही है।

बुनियादी मामलों के मुताल्लिक़ शक व शुबहे ने सामने के काम में मेरे लिए अड़चन नहीं पैदा की—सिवाय इसके कि मेरी सरगरमी की तेज़ धार कुछ कुंद पड़ गई हो। अपनी जवानी के दिनों में मेरी यह कैफ़ियत थी कि खुद-ब-खुद तीर की तरह अपने चुने हुए निशाने पर पहुंचता था और निशाने को छोड़कर और सब चीज़ों को नज़र-अंदाज़ कर देता था। शायद मैं अब न कर पाता था। फिर भी काम में तो लगा ही रहा क्योंकि काम के लिए भी मैं उमंग थी और अपने काम और उद्देश्य में मैंने असली या ख़याली मेल भी पाया था। लेकिन राजनीति का जो रूप मेरे सामने था उसके ख़िलाफ़ मुझमें अरुचि बढ़ती गई और रफ़्ता रफ़्ता ज़िंदगी की जानिब मेरा सारा रुख़ बदल गया।

जो आदर्श और मक़सद कल थे वही आज भी हैं लेकिन उन पर से मानो एक आब जाता रहा है और उनकी तरफ़ बढ़ते दिखाई देते हुए भी ऐसा

जान पड़ता है कि वे अपनी चमकीली सुंदरता खो बैठे हैं, जिससे दिल में गरमी और जिस्म में ताक़त पैदा होती थी। बदी भी बहुत अक्सर जीत रही है लेकिन इससे भी अफ़सोस की बात यह है कि जो चीज़ें पहले इतनी ठीक जान पड़ती थीं उनमें एक भद्दापन और कुरूपता आ गई है। क्या आदमी की प्रकृति इतनी बुरी है कि उसे युगों की तालीम की इसलिए ज़रूरत होगी कि वह लालच और हिंसा और धोखेबाज़ी की सतह से जिसपर वह इस वक़्त है, उठ सके? और क्या इस बीच में मौजूदा ज़माने में या निकट भविष्य में उसे मूल से बदल देने की सभी कोशिश बेकार होंगी?

उद्देश्य और साधन—क्या दोनों एक साथ लाज़िमी तौर पर बंधे हुए हैं और एक-दूसरे पर असर डाल रहे हैं और ग़लत साधन उद्देश्य को बिगड़ा हुआ रूप देते हैं और कभी-कभी उसे ख़त्म कर देते हैं? लेकिन सही साधन निर्बल और स्वार्थी मनुष्य-प्रकृति के बूते से बाहर की चीज़ भी हो सकते हैं। ऐसी हालत में आदमी का क्या फ़र्ज़ है? काम करने से मुंह मोड़ना तो पूरी-पूरी हार मान लेना और बुराई के सामने झुक जाना होगा और काम करने में भी अक्सर बुराई की किसी शक्ल के साथ समझौता करना होता है और इस तरह के समझौतों के जो ग़ैर-पसंद नतीजे हो सकते हैं, वे सामने आते हैं।

शुरू में ज़िंदगी के मसलों की तरफ़ मेरा रुख़ कमोबेश वैज्ञानिक था और उसमें उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के शुरू के विज्ञान के आशावाद की चाशनी भी थी। एक सुरक्षित और आराम के रहन-सहन ने और उस शक्ति और आत्म-विश्वास ने जो उस समय मुझमें था आशावाद के इस भाव को और बढ़ा दिया था। एक अस्पष्ट सदीनी इन्सानी दर्दमंदी की तरफ़ मेरा झुकाव था।

मज़हब में—जिस रूप में मैं विचारशील लोगों को भी उसे बरतते और मानते हुए देखता था चाहे वह हिंदू-धर्म चाहे इस्लाम या बौद्ध-मत या ईसाई-मत—मेरे लिए कोई कशिश न थी। अंध-विश्वास और कट्टरपन से उसका गहरा ताल्लुक़ था और ज़िंदगी के मसलों पर ग़ौर करने का उसका तरीक़ा यक़ीनी तौर पर विज्ञान का तरीक़ा न था। उसमें एक अंश जादू टोने का था और बिना समझे-बूझे यक़ीन कर लेने और चमत्कारों पर भरोसा करने की प्रवृत्ति थी।

फिर भी यह एक ज़ाहिर-सी बात है कि मज़हब ने आदमी की प्रकृति की कुछ गहराई के साथ महसूस की हुई ज़रूरतों को पूरा किया है और सारी दुनिया में बहुत ज़्यादा कसरत में लोग बिना मज़हबी अक़ीदे के रह

है। यह एक अस्पष्ट ढीली और गिलगिली चीज़ जान पड़ती है। इसके पीछे मन का कठोर संयम नहीं बल्कि मानसिक क्रियाओं का त्याग है और यह भावात्मक अनुभव के समुद्र में रहना है। यह अनुभव कभी-कभी ऐसी क्रियाओं के बारे में जो भीतरी हैं और कम ज़ाहिर हैं कुछ ज्ञान दे सकता है लेकिन इसके ज़रिये आदमी अपने को भुलावे में भी डाल सकता है।

आधिभौतिकता और फ़िलसफ़ा या आधिभौतिक फ़िलसफ़ा—ये चीज़ें दिमाग़ को ज़्यादा रुचिकर होती हैं। उनके लिए कठिन विचार और तर्क और दलील आवश्यक हैं, अब वे ये लाज़िमी तौर पर कुछ ऐसी धारणाओं के सहारे पर टिकी होती हैं जिन्हें स्वतः सिद्ध मान लिया जाता है, लेकिन जो ठीक भी हो सकती हैं और नहीं भी। सभी विचारवान लोग कमोबेश आधिभौतिक-वाद और फ़िलसफ़े के चक्कर में पड़ते हैं क्योंकि ऐसा न करना अपने इस विश्व के बहुत-से पहलुओं से आंख मूंदना है। कुछ लोग औरों की बनिस्बत इस तरफ़ ज़्यादा खिंचते हैं और इन विषयों पर जो ज़ोर दिया जाता है, उसमें अलग-अलग युगों में फ़र्क़ हो सकता है। पुरानी दुनिया में यूरोप और एशिया दोनों जगह बाहरी चीज़ों के मुक़ाबले में अंदरूनी ज़िंदगी पर ज़्यादा ज़ोर दिया था और यह लाज़िमी तौर पर उन्हें आधिभौतिकवाद और फ़िलसफ़े की ओर ले जाता था। आज का आदमी भी इन बाहरी चीज़ों में ज़्यादा मग्न है, लेकिन वह भी नाज़ुक वक़्तों में और मानसिक तकलीफ़ के मौक़े पर अक्सर आधिभौतिकवाद और फ़िलसफ़े की तरफ़ झुकता है।

ज़िंदगी के मुताल्लिक़ हम सभी का कुछ-न-कुछ फ़िलसफ़ा होता है, वह महज़ धुंधला हो या किसी हद तक स्पष्ट, अगरचे हममें से ज़्यादातर बिना खुद सोचे-विचारे अपनी पीढ़ी या आस-पास के विचारों को ग्रहण कर लेते हैं। हममें से बहुतेरे जिस विश्वास में भी पले हों उसके कुछ आधिभौतिक ख़यालों को मान लेते हैं। आधिभौतिकवाद मेरे लिए कोई कशिश नहीं रखता बल्कि पूछिये तो अस्पष्ट कल्पना के लिए मुझमें अरुचि रही है, फिर भी पुरानी और नई आधिभौतिक और फ़िलसफ़ियाना विचार-धारा को समझने की कोशिश में कभी-कभी कुछ दिमाग़ी मज़ा आया है। लेकिन यह काम मेरी पसंद का नहीं है और मुझे उसके चक्कर से बच निकलने में ही चैन मिला है।

असल में मेरी दिलचस्पी इस दुनिया में और इस ज़िंदगी में है किसी दूसरी दुनिया या आनेवाली ज़िंदगी में नहीं। आत्मा-जैसी कोई चीज़ है भी या नहीं मैं नहीं जानता। और अगरचे ये सवाल महत्व के हैं फिर भी इनकी मुझे कुछ भी चिंता नहीं। जिस वातावरण में मैं बचपन से पला हूं उसमें

नहीं सकते। इसने बहुत-से ऊँचे किस्म के मर्दों और औरतों को पैदा किया है, और साथ ही तंग-नज़र और ज़ालिम लोगों को भी। इसने इन्सानी ज़िन्दगी को कुछ निश्चित आँकें दी हैं और अगरचे इन आँकों में से कुछ आज के ज़माने पर लागू नहीं हैं बल्कि उसके लिए नुकसानदेह भी हैं, दूसरी ऐसी भी हैं, जो अख़लाक़ और अच्छे व्यवहार के लिए बुनियादी हैं।

'धर्म' शब्द का व्यापक अर्थ लेते हुए हम देखेंगे कि इसका संबंध मनुष्य के अनुभव के उन प्रदेशों से है जिनकी ठीक-ठीक माप नहीं हुई है, यानी जो विज्ञान की निश्चित जानकारी की हद में नहीं आये हैं। एक मानी में इसे हम जाने हुए और पैमाइश किये हुए प्रदेश का विस्तार भी कह सकते हैं, अगरचे विज्ञान और मज़हब या धर्म के तरीक़े बिलकुल जुदा हैं और बहुत हद तक दोनों के माध्यम अलग-अलग हैं। यह ज़ाहिर है कि हमारे गिर्द एक विस्तृत अनजाना प्रदेश है, और विज्ञान के जो भी कारनामे हों वह इसके बारे में कुछ नहीं जानता। हाँ, जानने की कोशिश में ज़रूर है। शायद विज्ञान के साधारण तरीक़े और यह बात कि उसका संबंध दृश्य जगत और उसकी क्रियाओं से है, उसे उन बातों में पूरी तरह कारगर न होने दें जो आत्मिक, कलात्मक, आध्यात्मिक और अदृश्य जगत से संबंध रखनेवाली हैं। जो हम देखते, सुनते और अनुभव करते हैं, यानी दिखाई पड़नेवाली और, समय और अंतरिक्ष के भीतर परिवर्तनशील दुनिया तक ही ज़िन्दगी महदूद नहीं है। यह बराबर स्पर्श कर रही है एक अनदेखी दुनिया को जिसमें दूसरे, संभवतः ज़्यादा टिकनेवाले या उतने ही परिवर्तनशील तत्त्व हैं, और कोई विचारवान आदमी इस अनदेखी दुनिया की अवहेलना नहीं कर सकता।

विज्ञान हमें ज़िन्दगी के मक़सद के बारे में ज़्यादा नहीं बताता, सच पूछिये तो कुछ भी नहीं बताता। यह अब अपनी सीमा को फैला रहा है और मुमकिन है कि बहुत जल्द उस संसार पर धावा बोले जिसे हम अदृश्य संसार कहते रहे हैं, और इस तरह यह विस्तृत अर्थ में ज़िन्दगी के मक़सद को समझने में हमारी मदद करे, या कम-से-कम कुछ ऐसी झलक दे जिससे इन्सान के अस्तित्व या वजूद के मसले पर रोशनी पड़े। धर्म और विज्ञान के बीच का पुराना झगड़ा एक नया रूप धारण करता है—यानी विज्ञान के तरीक़ों को धार्मिक और भावात्मक अनुभवों पर लागू करता है।

धर्म का रहस्यवाद, आधिभौतिकवाद और फ़िलसफ़े से मेल है। बड़े-बड़े सूफ़ी ज़रूर हो गये हैं जिनकी शख़्सियतों में कशिश रही है, जिन्हें हम यह कहकर नहीं टाल सकते कि वे अपने को भुलावे में डाले हुए बेवकूफ़ थे। फिर भी रहस्यवाद को संकुचित अर्थ में लीजिये तो उससे मुझे खीझ होती

है। यह एक अस्पष्ट ढीली और पिलपिली चीज़ जान पड़ती है। इसके पीछे मन का कठोर संयम नहीं, बल्कि मानसिक शक्तियों का त्याग है और यह भावात्मक अनुभव के समुंदर में रहना है। यह अनुभव कभी-कभी ऐसी क्रियाओं के बारे में, जो भीतरी हैं और कम ज़ाहिर हैं, कुछ ज्ञान दे सकता है, लेकिन इसके ज़रिये आदमी अपने को भुलावे में भी डाल सकता है।

आधिभौतिकवाद और फ़िलसफ़ा या आधिभौतिक फ़िलसफ़ा—ये चीज़ें दिमाग़ को ज़्यादा रुचिकर होती हैं। उनके लिए कठिन विचार और तर्क और दलील आवश्यक हैं, अगचें ये लाज़िमी तौर पर कुछ ऐसी धारणाओं के सहारे पर टिकी होती हैं, जिन्हें स्वतः सिद्ध मान लिया जाता है, लेकिन जो ठीक भी हो सकती हैं और नहीं भी। सभी विचारवान लोग कमोबेश आधिभौतिकवाद और फ़िलसफ़े के चक्कर में पड़ते हैं, क्योंकि ऐसा न करना अपने इस विश्व के बहुत-से पहलुओं से आंख मूंदना है। कुछ लोग औरों की बनिस्बत इस तरफ़ ज़्यादा खिंचते हैं और इन विषयों पर जो ज़ोर दिया जाता है, उसमें अलग-अलग युगों में फ़र्क़ हो सकता है। पुरानी दुनिया में, यूरोप और एशिया दोनों जगह बाहरी चीज़ों के मुक़ाबले में अंदरूनी ज़िंदगी पर ज़्यादा ज़ोर दिया था और यह लाज़िमी तौर पर उन्हें आधिभौतिकवाद और फ़िलसफ़े की ओर ले जाता था। आज का आदमी भी इन बाहरी चीज़ों में ज़्यादा ग़र्क़ है, लेकिन वह भी नाज़ुक वक़्तों में और मानसिक तकलीफ़ के मौक़े पर अक्सर आधिभौतिकवाद और फ़िलसफ़े की तरफ़ झुकता है।

ज़िंदगी के मुताल्लिक़ हम सभी का कुछ-न-कुछ फ़िलसफ़ा होता है, वह महज़ धुंधला हो या किसी हद तक स्पष्ट, अगचें हममें से ज़्यादातर बिना कुछ सोचे-विचारे अपनी पीढ़ी या आस-पास के विचारों को ग्रहण कर लेते हैं। हममें से बहुतेरे जिस विश्वास में भी पले हों उसके कुछ आधिभौतिक ख़यालों को मान लेते हैं। आधिभौतिकवाद मेरे लिए कोई कशिश नहीं रखता, सच पूछिये तो अस्पष्ट कल्पना के लिए मुझमें अरुचि रही है, फिर भी पुरानी और नई आधिभौतिक और फ़िलसफ़ियाना विचार-धारा को समझने की कोशिश में कभी-कभी कुछ दिमाग़ी मज़ा आया है। लेकिन यह काम मेरी पसंद का नहीं है, और मुझे उसके चक्कर से बच निकलने में ही चैन मिला है।

असल में मेरी दिलचस्पी इस दुनिया में और इस ज़िंदगी में है, किसी दूसरी दुनिया या आनेवाली ज़िंदगी में नहीं। आत्मा-जैसी कोई चीज़ है भी या नहीं, मैं नहीं जानता। और अगचें ये सवाल महत्व के हैं, फिर भी इनकी मुझे कुछ भी चिंता नहीं। जिस वातावरण में मैं बचपन से पला हूं, उसमें

आत्मा और भविष्य की ज़िंदगी, कार्य-कारण का कर्म-सिद्धांत और पुनर्जन्म ये मान ली गई चीज़ें हैं। मुझ पर इसका असर पड़ा है, इसलिए एक मानी में इन सिद्धांतों की तरफ मेरे भाव अनुकूलता के हैं। शरीर के भौतिक विनाश के बाद हो सकता है कि आत्मा बनी रहती है, और ज़िंदगी के कामों में कार्य-कारण का सिद्धांत लागू होता है, यह बात तर्कपूर्ण जान पड़ती है, अगरचे हम मूल कारण पर ध्यान दें तो यह सिद्धांत ज़ाहिरा तौर पर कठिनाइयां भी पैदा करता है। यह मान लिया जाय कि आत्मा है, तो पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी कुछ दलील जान पड़ती है।

लेकिन इन सिद्धांतों और मानी हुई बातों में मेरा यकीन कोई मज़हबी तौर पर नहीं है। ये तो एक अनजाने प्रदेश के बारे में दिमाग़ी अटकल की बातें हैं, जो मेरी ज़िंदगी पर असर नहीं डालतीं, और चाहे चलकर ये सच्ची साबित होती हैं या रद्द कर दी जाती हैं मेरे लिए यकसां हैं।

प्रेत-विद्या जिसके ज़रिये रूहों के बुलाने का दिखावा होता है और इस किस्म के और धंधे मुझे कुछ बेतुके-से जान पड़ते हैं। आध्यात्मिक बातों और ज़िंदगी के बाद के रहस्यों के जानने का यह एक गुस्ताख ढंग है। आम तौर पर यह इससे भी बुरी चीज़ होती है और कुछ ऐसे सीधे-सादे लोगों की—जो दिमाग़ पर ज़ोर नहीं डालना चाहते या यों शांति पाना चाहते हैं—भावुकता से फ़ायदा उठाने की कोशिश होती है। मुमकिन है कि इन आध्यात्मिक व्यापारों में कुछ सचाई का अंश हो। मैं इससे इन्कार नहीं करता। लेकिन जो रास्ता अख्तियार किया जाता है, वह मुझे क़तई ग़लत मालूम पड़ता है और इधर-उधर के टुकड़ों को सबूत के तौर पर जोड़कर जो नतीजा निकाला जाता है, वह वाजिब नहीं होता है।

अकसर जब मैं इस दुनिया को देखता हूं, तो मुझे रहस्यों का, अन-जानी गहराइयों का आभास मिलता है। जहांतक हो सके, इन्हें समझने की प्रेरणा मुझमें पैदा होती है और यही नहीं, यह प्रेरणा भी होती है कि इनसे तन्मय होकर इनकी पूर्णता का अनुभव करूं। लेकिन इन्हें जान सकने का तरीक़ा मेरी समझ में विज्ञान का ही तरीक़ा हो सकता है, यानी वह जिसमें चीज़ों की जांच तटस्थ होकर की जाती है। मैं मानता हूं कि पूरी तटस्थता मुमकिन नहीं, लेकिन अगर आत्मगत अंश बचाया नहीं जा सकता, तो जहां तक हो सके, उसका वैज्ञानिक ढंग से लाना ठीक है।

रहस्यमय क्या है, यह मुझे नहीं मालूम। मैं इसे ईश्वर नहीं कहता क्योंकि ईश्वर का अर्थ बहुत-कुछ इस तरह का लगाया जाता है, जिसमें मुझे विश्वास नहीं। मैं अपने को इस बात के लिए नाक़ाबिल पाता हूं कि किसी देवता

या अनजानी महान शक्ति की कल्पना साकार रूप में करूं और जब बहुत-से लोग बराबर ऐसा करते हुए दिखाई देते हैं, तो मुझे बड़ी हैरत होती है। एक शख्सी सूरत में ईश्वर का खयाल मुझे बड़ा अटपटा जान पड़ता है। अक़ली तौर पर मैं कुछ हद तक एकेश्वरवाद के विचार को समझ सकता हूं और अमरचे मुझे इस बात का दावा नहीं कि मैं वेदांत के अद्वैत मत की सभी बारीकियों और गहराइयों को जानता हूं, फिर भी मेरा उसकी तरफ़ खिचाव रहा है। मैं मानता हूं कि बौद्धिक जानकारी इस तरह की बातों में हमें दूरतक नहीं ले जाती। साथ ही वेदांत और इसके-जैसे और रास्ते अनंत की अनिश्चित और गोल बातों से मुझे डरा देते हैं। प्रकृति की विविधता और भरा-पूरापन मुझमें उत्साह पैदा करते हैं और उनसे मुझे आत्मिक शांति भी मिलती है और मैं खयाल करता हूं कि पुराने हिंदुस्तान के लोगों या यूनानियों में मैं घुल-मिल सकता था—सिवाय इसके कि देवताओं की कल्पना जो उनके साथ जुड़ी हुई है वह मेरे माफ़िक़ न होती।

यह बात मुझे बहुत ही पसंद आती है कि ज़िंदगी की ओर हमारे रुख का किसी-न-किसी तरह का नैतिक या इखलाक़ी आधार होना चाहिए। हां दलील से इसका समर्थन करना मेरे लिए मुश्किल होगा। गांधीजी सही साधनों पर जो ज़ोर देते हैं, उनकी तरफ़ मेरा खिचाव रहा है और मेरा खयाल है कि हमारे सार्वजनिक जीवन के लिए गांधीजी की यह सबसे बड़ी देन है। यह खयाल नया तो नहीं है लेकिन एक नैतिक सिद्धांत का सार्वजनिक कामों के लिए इतने बड़े पैमाने पर बरता जाना यक़ीनी तौर पर एक अनूठी बात है। इस रास्ते में बड़ी दिक़्क़तें हैं और शायद उद्देश्य और साधन एक-दूसरे से जुदा नहीं किये जा सकते बल्कि दोनों मिलकर एक समूची वस्तु बनते हैं। एक ऐसी दुनिया में जहां अक्सर सिर्फ़ उद्देश्यों का खयाल किया जाता है और साधनों को नज़र-अंदाज़ किया जाता है साधनों पर इतना ज़ोर देना अनोखी और साथ ही ध्यान देनेवाली बात है। हिंदुस्तान में इसका प्रयोग कहांतक कामयाब रहा है मैं नहीं कह सकता। लेकिन इसमें शक नहीं कि इसने बहुत बड़ी शुमार में लोगों पर गहरा और क़ायम रहनेवाला असर डाला है।

मार्क्स और लेनिन की रचनाओं के अध्ययन का मुझ पर गहरा असर पड़ा और इसने इतिहास और मौजूदा ज़माने के मामलों को एक नई रोशनी में देखने में बड़ी मदद पहुंचाई। इतिहास और समाज के विकास के लंबे सिलसिले में एक मतलब और आपस का रिश्ता जान पड़ा और भविष्य का धुंधलापन कुछ कम हो गया। सोवियत यूनियन के अमली कारनामे कुछ कम

बढ़े न थे। कुछ बातें वहां ज़रूर ऐसी दिखाई दीं जिन्हें मैं नहीं पसंद कर पाता था या नहीं समझ पाता था और मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वक़्ती बातों से फ़ायदा उठाने की या महज़ ताक़त के बल पर मक़सद हासिल करने की कोशिश से इसका ताल्लुक़ है। लेकिन ऐसी सूरत पैदा होने के बावजूद और बावजूद इस बात के कि इख़्तियाई इन्सानी चलने के तोड़-मरोड़ की संभावना थी इसमें मुझे शक नहीं रहा है कि सोवियत इन्क़लाब ने हमारे समाज को बस्तियों आगे बढ़ाया है और एक ऐसी चमकीली ज्योति पैदा की है, जिसे दबाकर बुझाया नहीं जा सकता और यह कि इसने एक 'नई तहज़ीब' की जिसकी तरफ़ दुनिया का तरक़्क़ी करना लाज़िमी है, बुनियाद डाली है। मैं इस तरह की व्यक्तिवादी और शख़्सी आज़ादी में यक़ीन करने-वाला आदमी हूं और बहुत ज़्यादा बंदिशें पसंद नहीं कर सकता। फिर भी मुझे यह ज़ाहिर-सी बात जान पड़ी कि एक पेचीदा सामाजिक संगठन में शख़्सी आज़ादी को महदूद करना पड़ता है और शायद सच्ची शख़्सी आज़ादी के हक़ में यह लाज़िमी है कि समाज के दायरे में कुछ इस तरह की हदें बनाई जायं। एक बड़ी आज़ादी की ख़ातिर छोटी आज़ादियों पर अक्सर रोक लगाने की ज़रूरत पड़ती है।

मार्क्सवाद के दार्शनिक दृष्टिकोण में बहुत-कुछ ऐसा है जिसे मैं बग़ैर दिक़्क़त के मान सकता हूं—उसमें बताई गई जड़ और चेतन की एकता या अद्वैत को जड़ की गतिशीलता को विकास-क्रम से या सहसा उपस्थित होनेवाले निरंतर परिवर्तन के द्वंद्व को और क्रिया और प्रतिक्रिया कारण और उत्पत्ति प्रतिपत्ति विरोध और समन्वय के ज़रिये होनेवाले द्वंद्व को। फिर भी इससे मेरा पूरी तरह इत्मीनान न हुआ। न इसने उन सब बातों का हल पेश किया जो मेरे दिमाग़ में थीं। और मेरे दिमाग़ में एक अस्पष्ट आदर्शवादी रास्ता मानो अनजान में दिखाई पड़ने लगा। यह रास्ता कुछ वेदांत के मार्ग-जैसा था। जड़ और चेतन के भेद का ही यह मसला न था बल्कि कुछ ऐसी चीज़ भी जो दिमाग़ से परे थी। फिर एक नैतिक पृष्ठभूमि का भी सवाल था। मैंने यह भी समझा कि इख़्लाक़ यानी नीति का रास्ता एक बदलता हुआ रास्ता है और यह विकास पाते हुए दिमाग़ और तरक़्क़ी करती हुई सभ्यता पर निर्भर करता है। यह युग की मानसिक अवस्था का नतीजा है। लेकिन इसमें कुछ और बातें भी थीं यानी कुछ बुनियादी प्रेरणाएं, जो दोनों के मुक़ाबले में ज़्यादा पायदार थीं। मैं कम्युनिस्टों और औरों के व्यवहार में उनके कामों और इन बुनियादी प्रेरणाओं या सिद्धांतों के बीच जो अलगाव देखता था उसे पसंद नहीं करता था। इसलिए

मेरे दिमाग़ में कुछ ऐसा गड़बड़-सड़बड़ हो गया कि मैं उसे बुद्धि द्वारा स्पष्ट या हल नहीं कर पाता था। एक आम प्रवृत्ति यह थी कि इन बुनियादी सवालों पर, जो अपनी पहुँच के बाहर के जान पड़ते हैं, सोचा-विचारा न जाय बल्कि ज़िंदगी के उन प्रश्नों पर ध्यान दिया जाय जो हमारे सामने आते हैं और उनके बारे में क्या और किस तरह करना चाहिए, यह सोचा जाय। आख़िर असलियत जो भी हो और उसे पूरी तौर पर या कुछ अंशों में हम हासिल कर सकें या नहीं यह बात तय है कि मनुष्य के ज्ञान को चाहे वह अल्पमत ही क्यों न हो बढ़ाने की और इन्सानी रहन-सहन और सामाजिक संगठन के सुधारने और उसे आगे बढ़ाने की बड़ी संभावना फिर भी रह जाती है।

पुराने ज़माने के लोगों में और किसी हद तक इस ज़माने के लोगों में भी विश्व की पहेली का उत्तर ढूंढ निकालने में लगे रहने की प्रवृत्ति रही है। यह उन्हें आजकल के जाती और सामाजिक मसलों से अलग ले जाती है। और जब वे इस पहेली का हल नहीं पाते तब वे मायूस हो जाते हैं और या तो हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहते हैं, या बहुत छोटी-छोटी बातों में अपना वक़्त ज़ाया करते हैं, या फिर किसी हठवादी मत में शरीक होकर अपनी तसकीन करते हैं। सामाजिक बुराइयों को जो ज़्यादातर निश्चय ही दूर की जा सकती हैं पुराने पाप का नतीजा बताया जाता है या इस तरह कहा जाता है कि इन्सान की प्रकृति या समाज का संगठन ही ऐसे हैं कि उन्हें बदला नहीं जा सकता या (हिंदुस्तान में) इन्हें पूर्व-जन्म के कर्मों पर मढ़ दिया जाता है। इस तरह आदमी अक़्ल और वैज्ञानिक ढंग से विचार करने से दूर रहा वह अविवेक अंधविश्वास बेजा हठ और सामाजिक व्यवहार की शरण लेता है। यह सही है कि अक़्ल और वैज्ञानिक विचार भी हमेशा वहांतक नहीं पहुंचाते जहांतक हम जाना चाहेंगे। घटनाओं के मूल में न जाने कितने कारण और संबंध हुआ करते हैं और उन सबको समझ पाना मुमकिन नहीं फिर भी उनके पीछे जो ख़ास-ख़ास ताक़तें काम करती हैं उन्हें हम चुन सकते हैं और बाहिरी भौतिक तथ्य पर गौर करके और प्रयोग और व्यवहार के ज़रिये तजुर्बे करते हुए और ग़लती करते हुए, टटोल-टटोलकर ज्ञान और सचाई का रास्ता पा सकते हैं।

इस काम के लिए और इन हदों के भीतर साधारण मार्क्सवादी रास्ता चूंकि वह आज के विज्ञान की जानकारी के अनुकूल पड़ता था मुझे बहुत सहायक जान पड़ा। लेकिन इस रास्ते को क़बूल करते हुए भी उससे जो नतीजे निकलते हैं वे और पुराने ज़माने की और हाल की घटनाओं की

उसकी व्याख्या हमेशा साफ़ न हो पाती। मार्क्स का समाज का साधारण विश्लेषण अद्भुत रूप से सही जान पड़ता है लेकिन बाद के विकास में जो सूरतें उसने अख्तियार की वे वैसी नहीं हैं, जैसाकि निकट भविष्य के लिए उसने अनुमान किया था। लेनिन ने मार्क्स की प्रतिपत्ति को इस बाद के विकासों पर कामयाबी से लागू किया लेकिन तबसे और भी परिवर्तन हुए हैं—जैसे फ़ासिस्त और नात्सी-मतों का और उनके साथ लगी हुई सभी बातों का सामने आना। तकनीक या यंत्र-विज्ञान की तेज़ी से होनेवाली तरक्क़ी और विस्तार के साथ विज्ञान की नई जानकारी के प्रयोग दुनिया का नक़्शा ही बड़ी तेज़ी से बदल रहे हैं और इसके साथ नये मसले खड़े हो रहे हैं।

इसलिए अगरचे मैंने समाजवादी सिद्धांत की बुनियादी बातों को क़बूल कर लिया फिर भी मैं उसके अनगिनत भीतरी मुबाहसों के फेर में नहीं पड़ा। हिंदुस्तान के चरम दलों से जो अपनी शक्ति का बहुत हिस्सा आपस के झगड़ों में या बारीकियों को लेकर आपस के बुरा-भला कहने में सर्फ़ करते हैं मेरी बिलकुल न पट सकी। इन बातों में मेरी ज़रा भी दिलचस्पी नहीं है। ज़िंदगी इतनी जटिल है और जहांतक हम अपने मौजूदा ज्ञान के आधार पर समझ सकते हैं, इतनी तर्क-हीन है कि हम उसे किसी बंधे हुए सिद्धांत की क़ैद में नहीं ला सकते।

मेरे सामने जो असली मसले रहे हैं वे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के हैं—किस तरह शांति के साथ रहा जाय व्यक्ति की बाहरी और भीतरी ज़िंदगी में कैसे संतुलन हो व्यक्तियों और दलों के बीच के संबंध किस तरह स्थिर किये जाय किस तरह निरंतर अच्छी और ऊंची स्थिति हासिल की जाय किस तरह समाज का विकास किया जाय और इन्सान के अनथक जीवट और साहस का मसला। इन मसलों के हल के लिए निरीक्षण ठीक-ठीक ज्ञान और विज्ञान के तरीक़ों के मुताबिक़ पूरी-पूरी दलील का सहारा लेना चाहिए। सत्य की खोज में ये तरीक़े मुमकिन है कि हमेशा कारगर न हों क्योंकि कविता और कला और कुछ आत्मिक अनुभव ये ऐसे विषय हैं, जो एक दूसरे ही वर्ग के हैं और विज्ञान के तरीक़े से जो पदार्थों की जांच पर अवलंबित हैं ग्रहण नहीं किये जा सकते। इसलिए सहज ज्ञान और सचाई और असलियत को खोजने के दूसरी तरीक़ों को अलग नहीं किया जा सकता। विज्ञान के मैदान में भी इनकी ज़रूरत पड़ती है फिर भी हमें हमेशा वस्तुगत ज्ञान के लंगर को पकड़े रहना चाहिए, ऐसे ज्ञान के लंगर को जिसकी जांच बुद्धि द्वारा और उससे भी बढ़कर अनुभव और व्यवहार के द्वारा हो चुकी

है और हमें होशियार इस बात से रहना चाहिए कि हम ऐसी बातों के भरम के समुंदर में न खो जायें जिनका ताल्लुक़ हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी और उसके मसलों और इन्सान की ज़रूरतों से नहीं है। एक ज़िंदा फ़िलसफ़े को ऐसा होना चाहिए कि यह आज के मसलों का हल पेश कर सके।

यह हो सकता है कि हम लोग जो इस ज़माने के हैं और जो अपने ज़माने के कारनामों पर इतना नाज़ करते हैं अपने युग के उसी तरह से गुलाम हों, जिस तरह कि पुराने और मध्य-युग के मर्द और औरत अपने युगों के गुलाम थे। हम अपने-आपको इस बात का धोखा दे सकते हैं जिस तरह हमसे पहले के लोगों ने अपने को धोखा दे रखा था कि दुनिया की बातों पर हमारा ही नज़रिया सही और सचाई तक पहुंचानेवाला नज़रिया है। हम इस क़ैद से बच नहीं सकते न इस माया-जाल से—अगर इस माया-जाल कहें—छुटकारा पा सकते हैं।

फिर भी मुझे यक़ीन है कि इतिहास के सारे दौर में और सब चीज़ों के मुक़ाबले में विज्ञान के तरीक़ों और रास्ते ने इन्सानी ज़िंदगी में सबसे ज़्यादा इन्क़लाब पैदा किया है और आदमी की तरक़्क़ी के और भी बड़े-बड़े इन्क़लाब के रास्ते खोल दिये हैं यहांतक कि जिसे अज्ञात समझा जाता रहा है उसके दरवाज़े तक हम पहुंच गये हैं। शिल्प और व्यवसाय के क्षेत्र में विज्ञान के कारनामे काफ़ी तौर पर ज़ाहिर हो चुके हैं जहां क़हत की हुकूमत थी वहां इसने उसे बहुतायत और खुशहाली में तब्दील कर दिया है और अब तो बहुत-से उन मसलों पर विज्ञान ने हमला करना शुरू कर दिया है जो फ़िलसफ़े के मैदान के समझे जाते थे। देश-काल और 'क्वांटम' सिद्धांत ने भौतिक जगत का नक़्शा ही पूरे तौर पर बदल दिया है। एटम या परमाणु की बनावट, तत्त्वों के परिवर्तन बिजली और प्रकाश के एक-दूसरे में बदले जाने आदि विषयों पर हाल की खोजों ने हमारी जानकारी को बहुत आगे बढ़ाया है। मनुष्य अब प्रकृति को अपने से जुदा और भिन्न रूप में नहीं देखता। मनुष्य की नियति प्रकृति की लय-मयी शक्ति का एक अंग बन गई है।

विज्ञान की तरक़्क़ी के कारण विचार-संबंधी इस उथल-पुथल ने वैज्ञानिकों को एक ऐसे प्रदेश तक पहुंचा दिया है जिसकी सीमाएं आधिभौतिक प्रदेश से मिली हुई हैं। वे मुख्तलिफ़ और अक्सर विरोधी परिणामों पर पहुंचते हैं। कुछ को इस परिस्थिति में एक नई एकता दिखाई देती है, जो द्वंद्व सिद्धांत के बिलकुल बरखिलाफ़ पड़ती है। कुछ और लोग हैं, जैसे बर्ट्रेंड रसल जो कहते हैं—"पार्मनीडिस के समय से एकेडेमिक वर्ग के फ़िलसूफ़

बराबर इस बात में यकीन रखते आये हैं कि दुनिया एकता के सिद्धांत पर बनी है मेरे विश्वासों में से सबसे बुनियादी विश्वास यह है कि इस तरह ख्याल करना महज बेवकूफी है।" या फिर लीजिये—"आदमी उन कारणों की उपज है जिन्हें इस बात का कोई पूर्व-ज्ञान नहीं कि वे किस अंत की ओर जा रहे हैं उसकी उत्पत्ति और वृद्धि उसकी आशाएं और उसके भय उसके प्रेम और विश्वास परमाणुओं के आकस्मिक मेल का नतीजा है।" लेकिन भौतिक-शास्त्र की नई-से-नई खोजों ने बहुत हद तक प्रकृति की बुनियादी एकता साबित कर दी है। "यह यकीन कि सभी वस्तुएं, एक ही पदार्थ से बनी हैं बहुत पुराना है और तब का है जब से आदमी ने विचार करना शुरू किया है। लेकिन हमारी ही पीढ़ी एक ऐसी पीढ़ी है जिसने इतिहास में सबसे पहले प्रकृति की एकता को देखा है—एक बे-बुनियाद अटकल या नामुमकिन-सी आरज़ू की सूरत में नहीं बल्कि विज्ञान के एक सिद्धांत के रूप में जिसके सबूत इतने साफ और ज़ाहिर हैं जितने कि किसी जानी हुई चीज़ के हो सकते हैं।[१]

इस तरह का विश्वास अगरचे एशिया और यूरोप में बहुत पुराना है फिर भी विज्ञान के कुछ नये-से-नये नतीजों का उन बुनियादी विचारों से मुकाबला जो अद्वैत वेदांत की तह में हैं दिलचस्प होगा। यह विचार यह है कि विश्व एक ही द्रव्य से बना है जिसका रूप निरंतर बदलता रहता है और यह कि शक्तियों का कुल-जोड़ सदा एक समान बना रहता है। यह भी कि 'वस्तुओं की व्याख्या उन्हींकी प्रकृति में निहित है' और इस विश्व में क्या हो रहा है इसे समझाने के लिए बाहरी अस्तित्वों का सहारा लेना जरूरी नहीं और इन विचारों का हासिल यह है कि विश्व स्वतः विकासशील है।

य अस्पष्ट मनन आदमी को किस नतीजे पर पहुंचाते हैं इसकी विज्ञान परवाह नहीं करता। इस बीच में अपने खास प्रयोगात्मक ढंग से काम करते हुए, ज्ञान के भारी भी हदों को बढ़ाते हुए और इस तरह इन्सानी ज़िंदगी की रविश को बदलते हुए, वह आगे बढ़ रहा है। हो सकता है कि वह मूल रहस्यों का हल निकालने के नज़दीक पहुंच गया हो और यह भी हो सकता है कि इन रहस्यों को वह न भी जान पाये। फिर भी वह अपने निश्चित रास्ते पर आगे बढ़ता जायगा क्योंकि इसकी यात्रा का अंत नहीं है। किनमकै का प्रश्न है क्या? इसे वह मजर-अंदाज करके चलेंगे?' यह प्र—

बर्नो के डैले 'दि टिमेओस और क्रि—

१ ३ ११

और ज्यों-ज्यों उस पर रहस्य का भेद खुलता रहेगा उसके ज़रिये ज़िन्दगी ज्यादा मुकम्मिल और पुर-मानी बनती जायगी और शायद 'क्यों ? —इस सवाल का जवाब देने में भी कुछ हद तक वह मददगार हो ।

या शायद हम इस दीवार को पार न कर सकें और रहस्यमय रहस्यमय बना रह जाय और ज़िन्दगी अपनी तमाम तब्दीलियों के साथ अच्छाई और बुराई का एक बंडल संघर्षों का एक तांता और बेमेल और परस्पर-विरोधी प्रेरणाओं का एक अजीब-ओ-ग़रीब मजमुआ बनी रहे ।

या फिर मुमकिन है कि विज्ञान की तरक्की ही नैतिक संयमों का तोड़ कर शक्ति और विनाश के उन भयानक साधनों को जिन्हें उसने तैयार किया है, बुरे और स्वार्थी लोगों के हाथों में केन्द्रित कर दे—ऐसे लोगों के हाथों में जो दूसरों पर अधिकार करने की कोशिश में रहते हैं—और इस तरह अपने बड़े कारनामों का खुद ख़ातमा कर दे। इस तरह की कुछ बातें हम आजकल घटित होती हुई देखते हैं और इस युद्ध के पीछे है मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष ।

मनुष्य की आत्मा भी कैसी अद्भुत है ! अनगिनत कमज़ोरियों के बावजूद आदमी ने सभी युगों में अपने जीवन की और अपनी सभी प्रिय वस्तुओं की एक आदर्श के लिए, सत्य और विश्वासों के लिए, देश और इज्ज़त के लिए कुरबानी की है । यह आदर्श बदल सकता है लेकिन कुरबानी की यह भावना बनी हुई है और इसीकी वजह से हम इन्सान की बहुत-सी कमज़ोरियों को माफ़ कर सकते हैं और उसकी तरफ़ से मायूस नहीं होते । आफ़तों का सामना करते हुए भी उसने अपनी शान निभाई है जिन चीज़ों की वह क़ीमत करता रहा है उनमें अपना विश्वास क़ायम रखा है । प्रकृति की महान शक्तियों के बरक्स जिसकी हस्ती इस बड़े विश्व में धूल के एक कन से ज्यादा नहीं मनुष्य ने भौतिक शक्तियों को ललकारा है और अपनी अक्ल के ज़रिये का इन्क़लाब का पालना रहा है, उन्हें अपने वश में करने की कोशिश की है । देवता लोग जैसे भी हों मनुष्य में कोई बात देवता-जैसी ज़रूर है उसी तरह, जिस तरह कि उसमें कुछ शैतान-जैसी भी बात है ।

भविष्य अंधेरा है अनिश्चित है । लेकिन उस तक पहुंचनेवाले रास्ते का हम एक हिस्सा देख सकते हैं और यह याद रखते हुए कि चाहे जो बीते मनुष्य की आत्मा जिसने इतने संकटों को पार किया है हराई नहीं जा सकती हम उस पर साबित-क़दमी से चल सकते हैं । हमें यह भी याद रखना है कि ज़िन्दगी में चाहे कितनी बुराइयां हों आनंद और सौंदर्य भी है और हम सदा प्रकृति की जादूभरी वन-भूमि में सैर कर सकते हैं ।

*काम इसके सिवा क्या है ? क्या है मनुष्य का प्रयास*
*या ईश्वर की अनुकंपा जो इतनी सुंदर और विशाल है ?*
*भय से मुक्त होकर खड़े रहना साँस लेना और प्रतीक्षा करना*
*घृणा के विरुद्ध हाथ उठाये रहना*
*फिर क्या सौंदर्य सदा प्यार करने की वस्तु नहीं है ?*[१]

## ७ अतीत का भार

मेरी कैद का इक्कीसवां महीना चल रहा है चाँद बढ़ता और घटता रहता है और जल्द दो साल पूरे हो चुकेंगे । और यह याद दिलाने के लिए कि मेरी उम्र बढ़ रही है एक नई सालगिरह आ जायगी । अपनी पिछली चार सालगिरहें मैंने जेल में बिताई हैं—यहां और देहरादून जेल में—और कई और इससे पहले की जेल की मुद्दतों में । उनका शुमार भूल गया हूं ।

इन सभी महीनों में मैं बराबर कुछ लिखने का खयाल करता रहा हूं । इसके लिए तबीयत का तकाजा भी रहा है और एक हिचक भी रही है । मेरे दोस्तों ने समझ लिया था कि जैसा मैं पिछली कैद की मुद्दतों में करता रहा हूं इस बार भी कोई नई किताब लिखूंगा । गोया यह बात मेरी आदत में शामिल हो गई है ।

फिर भी मैंने कुछ लिखा नहीं । यह बात मुझे एक हद तक नागवार थी कि कोई किताब बिना किसी खास मकसद के तैयार कर दी जाय । लिखना खुद कुछ दुश्वार न था लेकिन एक ऐसी चीज पेश करना जिसका कुछ महत्त्व हो और जो मेरे जेल में रहते हुए भी बासी न पड़ जाय जबकि दुनिया आगे बढ़ जाय एक दूसरी ही बात थी । मैं आज के या कल के लिए न लिखूंगा बल्कि एक अनजाने भविष्य के लिए और संभवतः दूर भविष्य के लिए लिखूंगा । और कब के लिए ? शायद जो मैं लिखूं वह कभी प्रकाशित न हो क्योंकि जो साल मैं कैद में बिताऊं, वे ऐसे हो सकते हैं कि उनमें दुनिया में और भी खलबली और संघर्ष हो बनिस्बत लड़ाई के उन सालों के जो अब बीत चुके हैं । मुमकिन है हिंदुस्तान खुद जंग का मैदान बने या यहां खाना-जंगी छिड़ जाय ।

*और अगर हम इन सभी हमलों से बच भी जायें*
*किसी लिपि के लिए लिखना एक जोखिम का काम और*
*मसले मुमकिन है उस वक्त तक खत्म हो चुके हों*

[१] यूरिपिडीज के 'बाक्की' के कोरस से ।
आधार पर ।

और ज्यों-ज्यों उस पर रहस्य का भेद खुलता रहेगा उसके ज़रिये ज़िंदगी ज्यादा मुकम्मिल और पुर-मानी बनती जायगी और शायद क्यों? —इस सवाल का जवाब देने में भी कुछ हद तक वह मददगार हो।

या शायद हम इस दीवार को पार न कर सकें और रहस्यमय रहस्यमय बना रह जाय और ज़िन्दगी अपनी तमाम तबदीलियों के साथ अच्छाई और बुराई का एक बंडल सवर्षों का एक तांता और बेमेल और परस्पर-विरोधी प्रेरणाओं का एक अजीब-ओ-ग़रीब मजमुआ बनी रहे।

या फिर मुमकिन है कि विज्ञान की तरक्की ही नैतिक धर्मों को तोड़ कर शक्ति और विनाश के उन भयानक साधनों को जिन्हें उसने तैयार किया है बुरे और स्वार्थी लोगों के हाथों में केंद्रित कर दे—ऐसे लोगों के हाथों में जो दूसरों पर अधिकार करने की कोशिश में रहते हैं—और इस तरह अपने बड़े कारनामों का खुद खात्मा कर दे। इस तरह की कुछ बातें हम आजकल घटित होती हुई देखते हैं और इस युद्ध के पीछे है मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष।

मनुष्य की आत्मा भी कैसी अद्भुत है! अनगिनत कमज़ोरियों के बावजूद आदमी ने सभी युगों में अपने जीवन की और अपनी सभी प्रिय वस्तुओं की एक आदर्श के लिए सत्य और विश्वासों के लिए, देश और इज्ज़त के लिए क़ुरबानी की है। यह आदर्श बदल सकता है लेकिन क़ुरबानी की यह भावना बनी हुई है और इसीकी वजह से हम इन्सान की बहुत-सी कमज़ोरियों को माफ़ कर सकते हैं और उसकी तरफ़ से मायूस नहीं होते। मुसीबतों का सामना करते हुए भी उसने अपनी शान निभाई है, जिन चीज़ों को वह क़ीमती करता रहा है, उनमें अपना विश्वास क़ायम रखा है। प्रकृति की महान शक्तियों के कठपुतले जिसकी हस्ती इस बड़े विश्व में धूल के एक कण से ज्यादा नहीं मनुष्य ने भौतिक शक्तियों को ललकारा है और अपनी अक़्ल के ज़रिये जो इन्क़लाब का पालना रहा है उन्हें अपने बस में करने की कोशिश की है। देवता लोग जैसे भी हों मनुष्य में कोई बात देवता-जैसी ज़रूर है उसी तरह जिस तरह कि उसमें कुछ शैतान-जैसी भी बात है।

भविष्य अंधेरा है अनिश्चित है। लेकिन उस तक पहुंचनेवाले रास्ते का हम एक हिस्सा देख सकते हैं और यह याद रखते हुए कि चाहे जो बीते मनुष्य की आत्मा जिसने इतने संकटों को पार किया है दबाई नहीं जा सकती हम उस पर साबित-क़दमी से चल सकते हैं। हमें यह भी याद रखना है कि ज़िंदगी में चाहे जितनी बुराइयां हों आनन्द और सौंदर्य भी है और हम सदा प्रकृति की मोहिनी वन-भूमि में सैर कर सकते हैं।

बराबर इस बात में यकीन रखते आये हैं कि दुनिया एकता के सिद्धांत पर बनी है मेरे विश्वासों में से सबसे बुनियादी विश्वास यह है कि इस तरह खयाल करना महज बेवकूफी है। या फिर लीजिये—"आदमी उन कारणों की उपज है जिन्हें इस बात का कोई पूर्व-ज्ञान नहीं कि वे किस अंत की ओर जा रहे हैं उसकी उत्पत्ति और वृद्धि उसकी आशाएं और उसके भय उसके प्रेम और विश्वास परमाणुओं के आकस्मिक मेल का नतीजा है। लेकिन भौतिक-शास्त्र की नई-से-नई खोजों ने बहुत हद तक प्रकृति की बुनियादी एकता साबित कर दी है। "यह यकीन कि सभी वस्तुएं, एक ही पदार्थ से बनी हैं बहुत पुराना है और तब का है जब से आदमी ने विचार करना शुरू किया है। लेकिन हमारी ही पीढ़ी एक ऐसी पीढ़ी है, जिसने इतिहास में सबसे पहले प्रकृति की एकता को देखा है—एक बे-बुनियाद अकीदे या नामुमकिन-सी आरज़ू की सूरत में नहीं बल्कि विज्ञान के एक सिद्धांत के रूप में जिसके सबूत इतने साफ़ और ज़ाहिर हैं जितने कि किसी जानी हुई चीज़ के हो सकते हैं।"[1]

इस तरह का विश्वास अगरचे एशिया और यूरोप में बहुत पुराना है फिर भी विज्ञान के कुछ नये-से-नये नतीजों का उन बुनियादी विचारों से मुकाबला जो अद्वैत वेदांत की तह में हैं दिलचस्प होगा। वह विचार यह है कि विश्व एक ही द्रव्य से बना है जिसका रूप निरंतर बदलता रहता है और यह कि शक्तियों का कुल-जोड़ सदा एक समान बना रहता है। यह भी कि 'वस्तुओं की व्याख्या उन्हींकी प्रकृति में निहित है' और इस विश्व में क्या हो रहा है इसे समझाने के लिए बाहरी अस्तित्वों का सहारा लेना ज़रूरी नहीं और इन विचारों का हासिल यह है कि विश्व स्वतः विकासशील है।

ये अस्पष्ट मनन आदमी को किस नतीजे पर पहुंचाते हैं इसकी विज्ञान परवाह नहीं करता। इस बीच में अपने खास प्रयोगात्मक ढंग से जांच करते हुए, ज्ञान के नक्शे की हदों को बढ़ाते हुए और इस तरह इन्सानी ज़िंदगी की रचना को बदलते हुए, वह आगे बढ़ रहा है। हो सकता है कि वह मूल रहस्यों को ढूंढ निकालने के नज़दीक पहुंच गया हो और यह भी हो सकता है कि इन रहस्यों को वह न भी खोल पाये। फिर भी वह अपने निश्चित रास्ते पर आगे बढ़ता जायगा क्योंकि इसकी यात्रा का अंत नहीं है। फ़िलसफ़े का प्रश्न है 'क्यों?' इसे वह नज़र-अंदाज़ करके 'कैसे?' यह पूछता रहेगा

[1] कार्ल के डैरो 'दि रिनेसां ऑव फ़िज़िक्स' (न्यूयार्क, १९३६) पृ ३ १।

और क्या-क्यों उस पर रहस्य का भेद खुलता रहेगा उसके जरिये ज़िन्दगी ज़्यादा मुकम्मिल और पुर-माली बनती जायगी और शायद क्यों ? —इस सवाल का जवाब देने में भी कुछ हद तक वह मददगार हो ।

या शायद हम इस दीवार को पार न कर सकें और रहस्यमय रहस्यमय बना रह जाय और ज़िन्दगी अपनी तमाम तब्दीलियों के साथ अच्छाई और बुराई का एक बंडल संघर्षों का एक तांता और बेमेल और परस्पर-विरोधी प्रेरणाओं का एक अजीब-ओ-ग़रीब मजमूआ बनी रहे ।

या फिर मुमकिन है कि विज्ञान की तरक्की ही नैतिक संयमों को तोड़ कर शक्ति और विनाश के उन भयानक साधनों को जिन्हें उसने तैयार किया है बुरे और स्वार्थी लोगों के हाथों में केंद्रित कर दे—ऐसे लोगों के हाथों में जो दूसरों पर अधिकार करने की कोशिश में रहते हैं—और इस तरह अपने बड़े कारनामों का खुद खात्मा कर दे । इस तरह की कुछ बातें हम आजकल घटित होती हुई देखते हैं, और इस युद्ध के पीछे है मनुष्य की आत्मा का भीतरी संघर्ष ।

मनुष्य की आत्मा भी कैसी अद्भुत है ! अनगिनत कमज़ोरियों के बावजूद आदमी ने सभी युगों में अपने जीवन की और अपनी सभी प्रिय वस्तुओं की एक आदर्श के लिए, सत्य और विश्वासों के लिए, देश और इज्ज़त के लिए कुरबानी की है । यह आदर्श बदल सकता है, लेकिन कुरबानी की यह भावना बनी हुई है और इसीकी वजह से हम इन्सान की बहुत-सी कम-ज़ोरियों को माफ़ कर सकते हैं और उसकी तरफ़ से मायूस नहीं होते । आफ़तों का सामना करते हुए भी उसने अपनी शान निभाई है जिन चीज़ों की वह क़ीमत करता रहा है उनमें अपना विश्वास क़ायम रखा है । प्रकृति की महान शक्तियों के क्ठपुतले जिसकी हस्ती इस बड़े विश्व में धूल के एक कण से ज़्यादा नहीं मनुष्य ने भौतिक शक्तियों को ललकारा है और अपनी अक़्ल के ज़रिये जो इन्क़लाब का पालना रहा है, उन्हें अपने वश में करने की कोशिश की है । देवता लोग जैसे भी हों मनुष्य में कोई बात देवता-जैसी ज़रूर है उसी तरह, जिस तरह कि उसमें कुछ शैतान-जैसी भी बात है ।

भविष्य अंधेरा है अनिश्चित है । लेकिन उस तक पहुंचनेवाले रास्ते का हम एक हिस्सा देख सकते हैं और यह याद रखते हुए कि चाहे जो बीते मनुष्य की आत्मा जिसने इतने संकटों को पार किया है, दबाई नहीं जा सकती हम उस पर साबित-क़दमी से चल सकते हैं । हमें यह भी याद रखना है कि ज़िन्दगी में चाहे जितनी बुराइयां हों आनंद और सौंदर्य भी है और हम सदा प्रकृति की मोहिनी वन-भूमि में सैर कर सकते हैं ।

ज्ञान इसके सिवा क्या है? क्या है मनुष्य का प्रयास
या ईश्वर की अनुकंपा जो इतनी सुंदर और विशाल है?
भय से मुक्त होकर खड़े रहना, शांत सेवा और प्रतीक्षा करना
घृणा के विरुद्ध हाथ उठाये रहना
फिर क्या सौंदर्य सदा प्यार करने की वस्तु नहीं है?[1]

## ७ अतीत का भार

मेरी क़ैद का इक्कीसवाँ महीना चल रहा है; चाँद बढ़ता और घटता रहता है और जल्द दो साल पूरे हो चुकेंगे। और यह याद दिलाने के लिए कि मेरी उम्र ढल रही है, एक नई सालगिरह आ जायगी। अपनी पिछली चार सालगिरहें मैंने जेल में बिताई हैं—यहाँ और देहरादून जेल में—और कई और इससे पहले की जेल की मुद्दतों में। उनका शुमार भूल गया हूँ।

इन सभी महीनों में मैं बराबर कुछ लिखने का ख़याल करता रहा हूँ। इसके लिए तबीयत का तक़ाज़ा भी रहा है और एक झिझक भी रही है। मेरे दोस्तों ने समझ लिया था कि जैसा मैं पिछली क़ैद की मुद्दतों में करता रहा हूँ, इस बार भी कोई नई किताब लिखूँगा। गोया यह बात मेरी आदत में दाख़िल हो गई है।

फिर भी मैंने कुछ लिखा नहीं। यह बात मुझे एक हद तक नापसंद थी कि कोई किताब बिना किसी ख़ास मक़सद के तैयार कर दी जाय। लिखना ख़ुद कुछ दुश्वार न था, लेकिन एक ऐसी चीज़ पेश करना, जिसका कुछ महत्त्व हो और जो मेरे जेल में रहते हुए भी बासी न पड़ जाय, जबकि दुनिया आगे बढ़ जाय, एक दूसरी ही बात थी। मैं आज के या कल के लिए न लिखूँगा बल्कि एक अनजाने भविष्य के लिए और संभवतः दूर भविष्य के लिए लिखूँगा। और कब के लिए? शायद जो मैं लिखूँ वह कभी प्रकाशित न हो, क्योंकि जो साल मैं क़ैद में बिताऊँ वे ऐसे हो सकते हैं कि उनमें दुनिया में और भी कशमकश और संघर्ष हो, बनिस्बत लड़ाई के उन सालों के, जो अब बीत चुके हैं। मुमकिन है हिंदुस्तान ख़ुद जंग का मैदान बने या यहाँ ख़ाना-जंगी छिड़ जाय।

और अगर हम इन सभी इमकानों से बच भी जायँ, तो भी भविष्य की किसी तिथि के लिए लिखना एक जोखिम का काम होगा, क्योंकि आज के मसले मुमकिन है उस वक़्त तक ख़त्म हो चुके हों और उनकी जगह नये ही

[1] यूरिपिडीज़ के 'बाक्की' के कोरस से। गिल्बर्ट मरे के अनुवाद के आधार पर।

मसले खड़े हो गये हों। सारी दुनिया में फैली हुई इस लड़ाई को मैं सिर्फ़ इस नज़र से नहीं देख सकता था कि यह एक लड़ाई है, जो औरों से बड़ी और ज़्यादा दूर तक फैली हुई है। जिस दिन से यह शुरू हुई, बल्कि उसके पहले से मुझे जान पड़ने लगा था कि बहुत बड़ी उथल-पुथल मचा देनेवाली तबदीली आनेवाली है और उस वक़्त मेरी नाचीज़ रचनाएं पुरानी पड़ चुकी होंगी। और फिर व किस काम आयेंगी?

ये सब विचार मुझे परेशान करते रहे और लिखने से रोकते रहे और इनके पीछे मेरे दिमाग़ के छुपे हुए कोने में और गहरे सवाल भी समाये हुए थे जिनका मुझे कोई सहज उत्तर नहीं मिल रहा था।

इसी तरह के ख़याल और ऐसी ही दिक़्क़तें मेरे सामने पिछली यानी अक्तूबर १९४ से दिसंबर १९४१ तक की क़ैद की मुद्दत में भी आई थीं जिसे मैंने देहरादून जेल की अपनी पुरानी कोठरी में जहां छः साल पहले 'मेरी कहानी' लिखना शुरू किया था काटा था। यहां पर १ महीने तक कुछ भी लिखने का मेरा जी न चाहा और अपना वक़्त मैंने पढ़ने या ज़मीन खोदकर मिट्टी और फूलों के साथ खिलवाड़ करने में बिताया। आख़िरकार कुछ लिखा भी। जो कुछ लिखा वह 'मेरी कहानी' का सिलसिला ही था। कुछ हफ़्तों तक मैं तेज़ी से लगातार लिखता रहा। लेकिन मेरा काम पूरा न हुआ था कि अपनी चार साल की क़ैद की मुद्दत के ख़त्म होने से बहुत पहले मैं रिहा कर दिया गया।

यह अच्छी ही बात थी कि जो काम मैंने शुरू किया था उसे ख़त्म नहीं कर पाया था क्योंकि अगर मैं उसे ख़त्म कर चुका होता तो उसे किसी प्रकाशक को दे देने की इच्छा हुई होती। उसे अब देखता हूं तो अनुभव करता हूं कि यह चीज़ कितने कम मूल्य की है उसका बहुत-सा हिस्सा अब कितना बासी और नीरस जान पड़ता है। जिन घटनाओं का इसमें बयान है उनका सारा महत्त्व जाता रहा है और अब वह एक अध-भूले अतीत के मलबे की तरह है जिस पर बाद के ज्वालामुखी के उफानों का लावा फैला हुआ है। उनमें मेरी दिलचस्पी जाती रही है। जो चीज़ें मेरे दिमाग़ में बच रही हैं वे हैं निजी तजुरबे जिनकी छाप मुझ पर पड़ी है, यानी हिंदुस्तान की जनता से—जो इतनी विविध है, फिर भी जिसमें इतनी अद्भुत एकता है—बड़ी संख्या में संपर्क में आना दिमाग़ की कुछ उड़ानें दुख की कुछ लहरें और उन पर क़ाबू पाने पर संतोष और ख़ुशी काम में सर्फ़ किये गये वक़्त का आनंद। इनमें से ज़्यादातर बातें ऐसी हैं कि उनके बारे में कुछ लिखा नहीं जा सकता। आदमी की भीतरी ज़िंदगी भावों और विचारों के बारे

में कुछ अपनापन है कि दूसरों तक उसका पहुंचाया जाना न वाजिब है और न मुमकिन। फिर भी इन निजी और ग़ैर-निजी संपर्कों की बड़ी क़ीमत है। वे व्यक्ति पर असर डालते हैं बल्कि उसे ढालते हैं और ज़िंदगी और मुल्क और दूसरी क़ौमों के बारे में उसके ख़यालों में तबदीली पैदा करते हैं।

जैसे मैं और जेलों में किया करता था वैसे ही अहमदनगर के क़िले में भी बाग़बानी शुरू की और रोज़ कई घंटे यहांतक कि कड़ी धूप में भी ज़मीन खोदकर क्यारियां तैयार किया करता था। ज़मीन बड़ी ख़राब और पथरीली थी और पिछली इमारतों के ईंट-रोड़ों से भरी हुई थी। यहां पुरानी इमारतों के अवशेष भी थे क्योंकि यह एक तारीख़ी मुक़ाम है जहां गुज़िश्ता ज़माने में बहुतेरी लड़ाइयां हुई हैं और महलों के षड्यंत्र चलते रहे हैं। अगर हिंदुस्तान के इतिहास का ख़याल किया जाय तो इस जगह का यह इतिहास बहुत पुराना नहीं है और व्यापक दृष्टि डाली जाय तो इतना महत्त्वपूर्ण भी नहीं है। लेकिन इससे संबंध रखनेवाली एक घटना है जो मार्के की है और जिसकी अब भी याद की जाती है। वह है एक ख़ूबसूरत औरत चांदबीबी की बहादुरी जिसने इस क़िले की रक्षा की थी और जिसने हाथ में तलवार लेकर अपने सिपाहियों के साथ अकबर की शाही फ़ौज का सामना किया था। अपने ही आदमियों में से एक के हाथों उसकी मौत हुई थी।

इस अभागी धरती को खोदते हुए हमें पुरानी दीवारों के हिस्से मिले हैं और ज़मीन की सतह से बहुत नीचे दबी हुई इमारतों के गुंबदों के ऊपरी हिस्से भी। हम इस काम में ज़्यादा आगे नहीं बढ़ सके क्योंकि अधिकारियों ने यह पसंद नहीं किया कि गहरी खुदाई की जाय या पुरातत्त्व के बारे में खोज की जाय और न हमारे पास इस काम के लिए ठीक साधन ही थे। एक बार हमें पत्थर में खुदा हुआ एक कमल मिला जो किसी दीवार के किनारे पर, शायद किसी दरवाज़े के ऊपर था।

मुझे याद आई एक दूसरी और कम खुशगवार खोज जो मैंने देहरादून जेल में की थी। तीन साल हुए अपने छोटे-से अहाते में ज़मीन खोदते हुए मुझे बीते हुए ज़माने का एक अजीब निशान मिला। ज़मीन की सतह से काफ़ी गहराई पर दो पुराने खंभों के बचे हुए हिस्से मिले और हमने इन्हें किसी क़दर उत्सुकता के साथ देखा। वे पुरानी सूलियों के टुकड़े थे जो कोई तीस चालीस साल पहले काम में लाई जाती थीं। यह जेल अब बहुत दिनों से सूली चढ़ाने के काम में नहीं लाया जाता था और पुरानी सूलियों के सब ज़ाहिरा निशान हटा दिये गये थे। हमने उनकी जड़ का पा लिया था और उखाड़ डाला था और जेल के मेरे सभी साथी जिन्होंने इस

काम में हाथ बंटाया था इस बात से खुश थे कि हम लोगों ने आखिरकार इस मनहूस चीज़ को निकाल फेंका था।

अब मैंने अपनी कुदाल अलग रख दी है और क़लम उठा लिया है। इस वक्त जो कुछ लिखूं उसका शायद वही हश्र हो जो मेरी देहरादून जेल की अधूरी पांडुलिपि का हुआ था। मौजूदा वक्त के बारे में जबतक कि काम में लगकर उसका तजुरबा हासिल करने के लिए आज़ाद नहीं हूं, मैं कुछ नहीं लिख सकता। यह तो मौजूदा वक्त में काम करने की ज़रूरत है जो उसे सजीव ढंग से हमारे सामने लाती है। तब फिर उसके बारे में मैं सहज में और सुगमता के साथ लिख सकता हूं। जेल में रहते हुए यह वक्त कुछ धुंधला-सा परछाईं-जैसा जान पड़ता है, उसे मजबूती से पकड़ नहीं सकता उसका ठीक अनुभव नहीं कर पाता। सही मानों में वह मेरे लिए मौजूदा वक्त रह नहीं जाता और न उसे हम गुज़रे हुए ज़माने-जैसा समझ सकते हैं क्योंकि उसमें गुज़रे हुए ज़माने की गतिहीनता और मूर्तिमत्ता नहीं।

न मेरे लिए यही मुमकिन है कि मैं पैग़ंबर का जामा पहनूं और भविष्य के बारे में लिखूं। मेरा दिमाग़ कभी-कभी भविष्य के बारे में सोचता है और उसका परदा फाड़ने की और उसे अपनी पसंद के कपड़े पहनाने की कोशिश करता है। लेकिन ये सब व्यर्थ की कल्पनाएं हैं और भविष्य अनिश्चित और अनजाना बना रहता है और कोई नहीं कह सकता कि वह फिर हमारी उम्मीदों पर पानी न फेर देगा और इन्सान के सपनों को झुठला न देगा।

अब अतीत या बीता हुआ ज़माना रह जाता है। लेकिन गुज़री हुई घटनाओं के बारे में मैं शास्त्रीय ढंग से इतिहासकार या विद्वान की तरह नहीं लिख सकता। न मुझमें इसकी लियाक़त है न मेरे पास इसके लिए साधन हैं और न ऐसी तालीम मिली है और न इस तरह के धंधे में लगने को इस वक्त जी चाहता है। गुज़रा हुआ ज़माना मुझ पर भारी गुज़रता है या जब कभी उसका मौजूदा वक्त से लगाव हुआ तो मुझमें सरगरमी पैदा करता है और इस तरह वक्त का एक पहलू बन जाता है। अगर ऐसा न हो तो फिर वह एक ठंडी बंजर, बेजान और ग़ैर-दिलचस्प चीज़ है। उसके बारे में मैं महज़ उस हालत में लिख सकता हूं—जैसा मैंने पहले भी किया है—जबकि उसका अपने मौजूदा कामों और ख़यालों से ताल्लुक पैदा कर सकूं और उस वक्त इतिहास लिखने का यानी गुज़रे हुए ज़माने के बोझ से कुछ पनाह दिलाता है। मैं समझता हूं कि मनोविश्लेषण का यह भी एक तरीक़ा है फ़र्क़ इतना है कि यह व्यक्ति पर लागू न किया जाकर किसी जाति या मनुष्य-मात्र पर लागू किया जाता है।

गुजरे हुए जमाने का—उसकी अच्छाई और बुराई दोनों का ही—बोझ एक दबा देनेवाला और कभी-कभी दम घुटानेवाला बोझ है, खासकर हम लोगों में से उनके लिए, जो ऐसी पुरानी सभ्यता में पले हैं जैसी चीन या हिंदुस्तान की है। जैसाकि नीत्शे ने कहा है—"न केवल सदियों का ज्ञान बल्कि सदियों का पागलपन भी हममें फूट निकलता है। वारिस होना खतरनाक है।"

मेरी विरासत क्या है? मैं किस चीज का वारिस हूं? उस सबका जिसे इन्सान ने दसियों हजार साल में हासिल किया है, उस सबका जिस पर इसने विचार किया है, जिसका इसने अनुभव किया है या जिसे इसने सहा है या जिसमें इसने सुख पाया है, उसके विजय की जोषणाओं का और उसकी हारों की तीखी वेदना का, आदमी की उस अचरज-भरी जिंदगी का जो इतने पहले शुरू हुई और अब भी चल रही है और जो हमें अपनी तरफ इशारा करके बुला रही है। इन सबके, बल्कि इनसे भी ज्यादा के सभी इन्सानों की शिरकत में हम वारिस हैं। लेकिन हम हिंदुस्तानियों की एक खास विरासत या दाय है। वह ऐसी नहीं कि दूसरे उससे वंचित हों, क्योंकि सभी विरासतें किसी एक जाति की न होकर सारी मनुष्य जाति की होती हैं। फिर भी वह ऐसी है, जो हम पर खास तौर पर लागू है, जो हमारे मांस और रक्त में और हड्डियों में समाई हुई है और जो कुछ हम हैं या हो सकेंगे उसमें उसका हाथ है।

यह खास दाय क्या है और इसका मौजूदा वक्त से क्या लगाव है, इसके बारे में मैं बहुत दिनों से गौर करता रहा हूं और इसीके बारे में मैं लिखना चाहूंगा, मगरचे विषय इतना जटिल और कठिन है कि मैं उससे डर जाता हूं। इसके अलावा मैं महज उसकी सतह को छू सकता हूं, उसके साथ न्याय नहीं कर सकता। लेकिन इसके प्रयत्न में शायद मैं शायद अपने साथ न्याय कर सकूं और वह इस तरह कि अपने विचारों को सुलझा सकूं और उन्हें विचार और काम की आनेवाली मंजिलों के लिए तैयार कर सकूं।

इस विषय को देखने का मेरा ढंग लाजिमी तौर पर ज्यादातर एक निजी ढंग होगा, यानी किस तरह ख्याल मेरे दिमाग में उपजा, क्या शक्लें उसने अख्तियार कीं, किस तरह उसने मुझ पर असर डाला और किस तरह उसने मेरे काम को प्रभावित किया। कुछ ऐसे अनुभवों का बयान जरूरी होगा, जो बिलकुल निजी हैं और जिनका ताल्लुक इस मजमून के विस्तृत पहलुओं से न होगा बल्कि जो ऐसे हैं कि जिनका मुझ पर रंग पड़ा है और जिन्होंने इस सारे प्रश्न पर जो मेरा रुख है, उस पर असर डाला है। मुल्कों और लोगों के बारे में हमारी रायें कई बातों पर निर्भर करती हैं और अगर हमारे निजी संपर्क रहे हैं, तो वे उन बातों में से ही हैं। अगर हम किसी मुल्क के लोगों

को निजी तौर पर नहीं जानते तो हम अक्सर उनके बारे में और भी ग़लत रायें क़ायम कर लेते हैं और उन्हें अपने से बिलकुल जुदा और अजनबी समझने लगते हैं।

जहांतक अपने देश का संबंध है, हमारे निजी संपर्क अनगिनत हैं और ऐसे संपर्कों के ज़रिये हमारे सामने अपने देशवासियों की बहुत-सी अलग-अलग तस्वीरें आती हैं या एक मिली-जुली तस्वीर हमारे दिमाग़ में बनती है। इस तरह अपने दिमाग़ की चित्रशाला को हमने तस्वीरों से भरा है। उनमें से कुछ सूरतें साफ़ जीती-जागती और ऐसी हैं जो मानो ऊपर से मेरी तरफ़ झांक रही हों और ज़िन्दगी के ऊंचे उद्देश्यों की याद दिलाती हों। फिर भी ये बहुत पुरानी-सी चीज़ें किसी पढ़े हुए क़िस्से-जैसी जान पड़ती हैं। और बहुत-सी दूसरी तस्वीरें भी हैं जिनके गिर्द पुराने दिनों के साथ की और दोस्ती की ऐसी याद लगी हुई है जो ज़िन्दगी में मिठास पैदा करती है। और फिर जनता की अन-गिनत तस्वीरें हैं—हिंदुस्तान के मर्दों औरतों और बच्चों की जिनकी एक भीड़ लगी हुई है और जो सभी मेरी तरफ़ देख रहे हैं और इस बात के समझने की कोशिश में हूं कि उन हज़ारों आंखों के पीछे क्या है।

मैं इस कहानी का आरंभ एक ऐसे अध्याय से करूंगा जो बिलकुल निजी है क्योंकि यह मेरी उस वक़्त की मानसिक कैफ़ियत का पता देता है, जो मेरे आत्म-चरित्र—'मेरी कहानी'—के आख़िर में दिये गये वक़्त से बाद की है। लेकिन मैं एक दूसरी आत्म-कथा लिखने नहीं बैठा हूं, अगरचे अंदेशा मुझे इस बात का है कि इस बयान में ज़ाती टुकड़े अक्सर मौजूद रहेंगे।

संसार-व्यापी युद्ध चल रहा है। यहां अहमदनगर के क़िले में बैठा हुआ क़ैद की मजबूरी के कारण मैं ऐसे वक़्त में बेकार हूं जबकि एक भयानक सर-गरमी सारी दुनिया को खा रही है। मैं कभी-कभी इस बेकारी से ऊब जाता हूं और उन बड़ी बातों और बहादुरी के बारे में सोचता हूं जो मेरे दिमाग़ में बहुत दिनों से भर रही हैं। मैं इस लड़ाई को एक अलहदगी के साथ देखने की कोशिश करता हूं इस तरह, जैसे कोई क़ुदरती आफ़त को किसी दैवी दुर्घटना को बड़े भूकंप या बाढ़ को देखता है। ज़ाहिर है कि मैं अपने को बहुत ज़्यादा चोट या ग़ुस्से या बेक़रारी से बचाना चाहूं तो इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं। और बर्बर और विनाश करनेवाली प्रकृति की इस विभीषिका में मेरी अपनी तकलीफ़ें नाचीज़ बन जाती हैं।

मुझे गांधीजी के वे लफ़्ज़ याद हैं जो उन्होंने ८ अगस्त १९४२ की भविष्य-सूचक शाम को कहे थे—"दुनिया की आंखें अगरचे आज ख़ून से लाल हैं फिर भी हमें दुनिया का सामना शांत और साफ़ नज़रों से करना चाहिए।

गुज़रे हुए ज़माने का—उसकी अच्छाई और बुराई दोनों का ही—बोझ एक दबा देनेवाला और कभी-कभी दम घुटानेवाला बोझ है, खासकर हम लोगों में से उनके लिए, जो ऐसी पुरानी सभ्यता में पले हैं, जैसी चीन या हिंदुस्तान की है। जैसाकि नीत्शे ने कहा है—'न केवल सदियों का ज्ञान बल्कि सदियों का पागलपन भी हममें फूट निकलता है। वारिस होना खतरनाक है।'

मेरी विरासत क्या है? मैं किस चीज़ का वारिस हूँ? उस सबका जिसे इन्सान ने दसियों हज़ार साल में हासिल किया है, उस सबका जिस पर इसने विचार किया है, जिसका इसने अनुभव किया है या जिसे इसने सहा है या जिसमें इसने सुख पाया है, उसके विजय की घोषणाओं का और उसकी हारों की तीखी वेदना का, आदमी की उस अचरज-भरी ज़िंदगी का जो इतने पहले शुरू हुई और अब भी चल रही है और जो हमें अपनी तरफ़ इशारा करके बुला रही है। इन सबके, बल्कि इससे भी ज़्यादा के सभी इन्सानों की शिरकत में हम वारिस हैं। लेकिन हम हिंदुस्तानियों की एक खास विरासत या दाय है। यह ऐसी नहीं कि दूसरे उससे वंचित हों, क्योंकि सभी विरासतें किसी एक जाति की न होकर सारी मनुष्य जाति की होती हैं। फिर भी यह ऐसी है, जो हम पर खास तौर पर लागू है, जो हमारे मांस और रक्त में और हड्डियों में समाई हुई है और जो कुछ हम हैं या हो सकेंगे उसमें उसका हाथ है।

यह खास दाय क्या है और इसका मौजूदा वक्त से क्या लगाव है? इसके बारे में मैं बहुत दिनों से गौर करता रहा हूँ और इसीके बारे में मैं लिखना चाहूँगा, अगरचे विषय इतना जटिल और कठिन है कि मैं उससे डर जाता हूँ। इसके अलावा मैं महज़ उसकी सतह को छू सकता हूँ, उसके साथ न्याय नहीं कर सकता। लेकिन इसके प्रयत्न में लगकर मैं शायद अपने साथ न्याय कर सकूँ और वह इस तरह कि अपने विचारों को सुलझा सकूँ और उसे विचार और काम की आनेवाली मंज़िलों के लिए तैयार कर सकूँ।

इस विषय को देखने का मेरा ढंग लाज़िमी तौर पर अक्सर एक निजी ढंग होगा, यानी किस तरह ख़याल मेरे दिमाग़ में उपजा, क्या शक्ल उसने अख्तियार की, किस तरह उसने मुझ पर असर डाला और किस तरह उसने मेरे काम को प्रभावित किया। कुछ ऐसे अनुभवों का बयान ज़रूरी होगा, जो बिलकुल निजी हैं और जिनका ताल्लुक इस मज़मून के विस्तृत पहलुओं से न होगा, बल्कि जो ऐसे हैं कि जिनका मुझ पर रंग पड़ा है और जिन्होंने इस सारे प्रश्न पर जो मेरा रुख है, उस पर असर डाला है। मुल्कों और लोगों के बारे में हमारी रायें कई बातों पर निर्भर करती हैं और अगर हमारे निजी संपर्क रहे हैं, तो वे इन बातों में से ही हैं। अगर हम किसी मुल्क के लोगों

को निजी तौर पर नहीं जानते तो हम अक्सर उनके बारे में और भी ग़लत रायें क़ायम कर लेते हैं और उन्हें अपने से बिलकुल जुदा और अजनबी समझने लगते हैं।

जहाँतक अपने देश का संबंध है, हमारे निजी संपर्क अनगिनत हैं और ऐसे संपर्कों के ज़रिये हमारे सामने अपने देशवासियों की बहुत-सी अलग-अलग तस्वीरें आती हैं या एक मिली-जुली तस्वीर हमारे दिमाग़ में बनती है। इस तरह अपने दिमाग़ की चित्रशाला को हमने तस्वीरों से भरा है। उनमें से कुछ सूरतें साफ़ जीती-जागती और ऐसी हैं, जो मानो ऊपर से मेरी तरफ़ झांक रही हों और ज़िन्दगी के ऊंचे उद्देश्यों की याद दिलाती हों। फिर भी ये बहुत पुरानी-सी चीज़ें किसी पढ़े हुए क़िस्से-जैसी जान पड़ती हैं। और बहुत-सी दूसरी तस्वीरें भी हैं जिनके गिर्द पुराने दिनों के साथ की और दोस्ती की ऐसी याद लगी हुई है जो ज़िन्दगी में मिठास पैदा करती है। और फिर जनता की अनगिनत तस्वीरें हैं—हिंदुस्तान के मर्दों औरतों और बच्चों की जिनकी एक भीड़ लगी हुई है और जो सभी मेरी तरफ़ देख रहे हैं और इस बात के समझने की कोशिश में हूं कि उन हज़ारों आंखों के पीछे क्या है।

मैं इस कहानी का आरंभ एक ऐसे अध्याय से करूंगा जो बिलकुल निजी है क्योंकि यह मेरी उस वक़्त की मानसिक कैफ़ियत का पता देता है, जो मेरे आत्म चरित्र—'मेरी कहानी'—के आख़िर में दिये गये वक़्त से बाद की है। लेकिन मैं एक दूसरी आत्म-कथा लिखने नहीं बैठा हूं अगरचे अंदेशा मुझे इस बात का है कि इस बयान में ज़ाती टुकड़े अकसर मौजूद रहेंगे।

संसार-व्यापी युद्ध चल रहा है। यहां अहमदनगर के क़िले में बैठा हुआ क़ैद की मजबूरी के कारण मैं ऐसे वक़्त में बेकार हूं जबकि एक भयानक सरगरमी सारी दुनिया को जला रही है। मैं कभी-कभी इस बेकारी से ऊब जाता हूं और उन बड़ी बातों और बहादुरी के बारे में सोचता हूं जो मेरे दिमाग़ में बहुत दिनों से भर रही हैं। मैं इस लड़ाई को एक अलहदगी के साथ देखने की कोशिश करता हूं इस तरह जैसे कोई क़ुदरती आफ़त को किसी दैवी दुर्घटना को बड़े भूकंप या बाढ़ को देखता है। ज़ाहिर है कि मैं अपने को बहुत ज़्यादा चोट या गुस्से या बेक़रारी से बचाना चाहूं तो इसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं। और बर्बर और विनाश करनेवाली प्रकृति की इस विभीषिका में मेरी अपनी तकलीफ़ें नाचीज़ बन जाती हैं।

मुझे गांधीजी के वे शब्द याद हैं जो उन्होंने ८ अगस्त १९४२ की भविष्य-सूचक शाम को कहे थे—"दुनिया की आंखें अगरचे आज ख़ून से लाल हैं फिर भी हमें दुनिया का सामना शांत और साफ़ नज़रों से करना चाहिए।

# २
# बेडेनवाइलर लोज़ान

## १ कमला

४ सितंबर, १९३५ को मैं अलमोड़ा के पहाड़ी जेल से एकाएक रिहा कर दिया गया क्योंकि समाचार आया था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक है। वह बहुत दूर—जर्मनी के ब्लैक फ़ॉरेस्ट में—बेडेनवाइलर के एक स्वास्थ्य-गृह में थी। मोटर और रेल के ज़रिये मैं फ़ौरन इलाहाबाद के लिए रवाना हुआ और वहां मैं दूसरे दिन पहुंच गया। उसी दिन तीसरे पहर हवाई जहाज़ से यूरोप के लिए चल पड़ा। हवाई जहाज़ ने मुझे कराची बग़दाद और क़ाहिरा पहुंचाया और सिकंदरिया से एक सी-प्लेन मुझे ब्रिंडिसी ले गया। ब्रिंडिसी से मैं रेलगाड़ी से बेसल पहुंचा जो स्विट्ज़रलैंड में है। ९ सितम्बर की शाम को यानी इलाहाबाद से चलने के ४ दिन और अलमोड़ा से छूटने के ५ दिन बाद मैं बेडेनवाइलर पहुंच गया।

कमला के चेहरे पर मैंने वही पुरानी साहस-भरी मुस्कराहट देखी। लेकिन वह बहुत कमज़ोर हो गई थी और दर्द से उसे इतनी तकलीफ़ थी कि ज़्यादा बात नहीं कर पाती थी। शायद मेरे पहुंच जाने से कुछ असर हुआ क्योंकि दूसरे दिन वह कुछ अच्छी रही और यह सुधार कुछ दिनों तक जारी रहा। लेकिन संकट की हालत बनी रही और रफ़्ता-रफ़्ता उसकी ताक़त घट रही थी। उसकी मौत का ख़याल भी मैं बैठ न पाता था और मैं ख़याल करने लगा कि उसकी हालत सुधर रही है और अगर सामने आया हुआ संकट टल जाय तो वह अच्छी हो जायगी। डाक्टर लोग जैसाकि उनका क़ायदा है मुझे उम्मीद दिलाते रहे। उस वक़्त संकट टलता दिखाई भी दिया और वह सम्भली रही। पर इतनी अच्छी तो कभी न जान पड़ी कि देर तक बातें कर सके। हम लोग थोड़ी-थोड़ी बातें करते और जब मैं देखता कि उसे थकान मालूम पड़ रही है तब मैं चुप हो जाया करता। कभी-कभी मैं उसे कोई किताब पढ़कर सुनाता। उन किताबों में से जो मैंने उसे पढ़कर सुनाई, एक की याद है और वह थी पर्ल बक की 'दि गुड अर्थ' (धरती माता)। उसे मेरा इस तरह किताब पढ़ना अच्छा लगता लेकिन हमारी रफ़्तार बहुत धीमी होती।

इस छोटे से क़सबे में अपने पेन्शन या ठहरने की जगह से मैं सवेरे और तीसरे पहर पैदल ही स्वास्थ्य-गृह जाया करता था और कमला के साथ चंद घंटे

बिताया करता था। जी में न जाने कितनी बातें भरी हुई थीं जिन्हें मैं उससे कहना चाहता था। लेकिन मुझे अपने को रोकना पड़ता। कभी-कभी हम पुराने दिनों की बातें करते—पुरानी स्मृतियों की और हिन्दुस्तान के आपस के लोगों की। कभी-कभी बड़ा लालसा से आनेवाले दिनों की,और उस वक्त हम लोग क्या करेंगे यह सोचते। उसकी हालत नाजुक थी लेकिन उसे जीने की आशा बनी रही। उसकी आंखों में चमक और ताक़त क़ायम थी और उसका चेहरा आमतौर पर खुश रहता। इक्के-दुक्के मित्र जो उससे मिलने आते उन्हें कुछ ताज्जुब होता क्योंकि जैसा उन्होंने समझ रखा था उससे वह अच्छी दिखती। वे लोग उन चमकीली आंखों और मुस्कराते हुए चेहरे से धोखे में आ जाते।

शरद ऋतु की लंबी शामें मैं अपने पेन्शन के कमरे में अकेले बैठकर बिताता या कभी-कभी खेतों से होता हुआ मैं जंगल की तरफ़ टहलने निकल जाता। एक-एक करके, कमला के सैकड़ों चित्र और उसके गहरे और अनमोल व्यक्तित्व के सैकड़ों पहलू मेरे दिमाग में फिरते रहते। हमारे ब्याह के लगभग २०-बरस बीत चुके थे फिर भी न जाने कितनी बार मैं उसके मन और आत्मा के नये रूपों को देखकर अचम्भे में आया था। मैंने उसे कितनी ही तरह से जाना था और बाद के दिनों में तो मैंने उसे समझ पाने की पूरी कोशिश भी की थी। यह बात नहीं कि मैं उसे बिलकुल पहचान न सका हूं। हां मुझे अक्सर संदेह होता था कि मैंने उसे पहचाना भी या नहीं। उसमें परियों-जैसी कुछ भेद-भरी बात थी जो सच्ची होते हुए भी ऐसी थी कि उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता था।

कुछ थोड़ी-सी स्कूली तालीम के अलावा उसे क़ायदे से शिक्षा नहीं मिली थी। उसका दिमाग शिक्षा की पगडंडियों में से होकर नहीं गुज़रा था। हमारे यहां वह एक भोली लड़की की तरह आई और ज़ाहिरा उसमें कोई ऐसी जटिलताएं नहीं थीं जो आजकल आमतौर से मिलती हैं। चेहरा तो उसका लड़कियों-जैसा बराबर बना रहा लेकिन जब वह सयानी होकर औरत हुई, तब उसकी आंखों में एक गहराई, एक ज्योति आ गई और यह इस बात की सूचक थी कि इन शांत सरोवरों के पीछे तूफ़ान चल रहा है। वह नई रोशनी की लड़कियों-जैसी न थी न तो उसमें वे आदतें थीं न वह चंचलता थी। फिर भी नये तरीक़ों में वह काफ़ी आसानी से घुल-मिल जाती थी। दर असल वह एक हिन्दुस्तानी और ख़ासतौर पर काश्मीरी लड़की थी—चैतन्य और गर्वीली बच्चों जैसी और बड़ों जैसी, बेवकूफ़ और चतुर। अजनबी लोगों से और उनसे जिन्हें वह पसंद नहीं करती थी वह संकोच करती लेकिन जिन्हें वह जानती

# २
# बेडेनवाइलर, लोज़ान

## १ : कमला

४ सितंबर, १९३५ को मैं अलमोड़ा के पहाड़ी जेल से यकायक रिहा कर दिया गया, क्योंकि समाचार आया था कि मेरी पत्नी की हालत नाजुक है। वह बहुत दूर—जर्मनी के ब्लैक फ़ॉरेस्ट में—बेडेनवाइलर के एक स्वास्थ्य-गृह में थी। मोटर और रेल के जरिये मैं फ़ौरन इलाहाबाद के लिए रवाना हुआ और वहां मैं दूसरे दिन पहुंच गया। उसी दिन तीसरे पहर, हवाई जहाज से यूरोप के लिए चल पड़ा। हवाई जहाज ने मुझे करांची, बग़दाद और क़ाहिरा पहुंचाया और सिकन्दरिया से एक सी-प्लेन मुझे ब्रिंडिसी ले गया। ब्रिंडिसी से मैं रेलगाड़ी से बैसले पहुंचा, जो स्विटज़रलैंड में है। ९ सितंबर की शाम को यानी इलाहाबाद से चलने के ४ दिन और अलमोड़ा से छूटने के ५ दिन बाद मैं बेडेनवाइलर पहुंच गया।

कमला के चेहरे पर मैंने वही पुरानी साहस-भरी मुस्कराहट देखी। लेकिन वह बहुत कमज़ोर हो गई थी और दर्द से उसे इतनी तकलीफ़ थी कि ज्यादा बात नहीं कर पाती थी। शायद मेरे पहुंच जाने से कुछ अंतर हुआ, क्योंकि दूसरे दिन वह कुछ अच्छी रही और यह सुधार कुछ दिनों तक जारी रहा। लेकिन संकट की हालत बनी रही और रफ्ता-रफ्ता उसकी ताक़त घट रही थी। उसकी मौत का ख़याल जी में बैठ न पाता था और मैं ख़याल करने लगा कि उसकी हालत सुधर रही है और अगर सामने आया हुआ संकट टल जाय, तो वह अच्छी हो जायगी। डाक्टर लोग, जैसाकि उनका क़ायदा है, मुझे उम्मीद दिलाते रहे। उस वक़्त संकट टलता दिखाई भी दिया और वह संभली रही। पर इतनी अच्छी तो कभी न जान पड़ी कि देर तक बातें कर सके। हम लोग थोड़ी-थोड़ी बातें करते और जब मैं देखता कि उसे थकान मालूम पड़ रही है, तब मैं चुप हो जाया करता। कभी-कभी मैं उसे कोई किताब पढ़कर सुनाता। उन किताबों में से, जो मैंने उसे पढ़कर सुनाईं, एक की याद है, और वह थी पर्ल बक की 'दि मुद्र अर्थ' (धरती माता)। उसे मेरा इस तरह किताब पढ़ना अच्छा लगता, लेकिन हमारी रफ़्तार बहुत धीमी होती।

इस छोटे से क़स्बे में अपने पेन्शन या ठहरने की जगह से मैं सवेरे और तीसरे पहर पैदल ही स्वास्थ्य-गृह जाया करता था और कमला के साथ चंद घंटे

दिखाया करता था। जी में न जाने कितनी बातें भरी हुई थीं जिन्हें मैं उससे कहना चाहता था। लेकिन मुझे अपने को रोकना पड़ता। कभी-कभी हम पुराने दिनों की बातें करते—पुरानी स्मृतियों की और हिंदुस्तान के आपस के लोगों की। कभी-कभी जरा लालसा से आनेवाले दिनों की और उस वक्त हम साथ क्या करेंगे यह सोचते। उसकी हालत नाज़ुक थी लेकिन उसे जीने की आशा बनी रही। उसकी आंखों में चमक और ताज़गी क़ायम थी और उसका चेहरा आमतौर पर खुश रहता। इक्के-दुक्के मित्र जो उससे मिलने आते उन्हें कुछ ताज्जुब होता क्योंकि जैसा उन्होंने समझ रखा था उससे वह अच्छी दिखती। वे लोग उन चमकीली आंखों और मुस्कराते हुए चेहरे से धोखे में आ जाते।

शरद ऋतु की लंबी शामें मैं अपने सेनेटोरियम के कमरे में अकेले बैठकर बिताता या कभी-कभी खेतों से होता हुआ मैं जंगल की तरफ़ टहलने निकल जाता। एक-एक करके कमला के सैकड़ों चित्र और उसके गहरे और अनमोल व्यक्तित्व के सैकड़ों पहलू मेरे दिमाग़ में फिरते रहते। हमारे ब्याह के लगभग २० वर्ष बीत चुके थे फिर भी न जाने कितनी बार मैं उसके मन और आत्मा के नये रूपों को देखकर अचंभे में आया था। मैंने उसे कितनी ही तरह से जाना था और बाद के दिनों में तो मैंने उसे समझ पाने की पूरी कोशिश भी की थी। यह बात नहीं कि मैं उसे बिलकुल पहचान न सका हूं। हां मुझे अक्सर संदेह होता था कि मैंने उसे पहचाना भी या नहीं। उसमें परियों-जैसी कुछ भेद-भरी बात थी जो सच्ची होते हुए भी ऐसी थी कि उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता था।

कुछ थोड़ी-सी स्कूली तालीम के अलावा उसे क़ायदे से शिक्षा नहीं मिली थी। उसका दिमाग़ शिक्षा की पगडंडियों में से होकर नहीं गुजरा था। हमारे यहां वह एक भोली लड़की की तरह आई और ज़ाहिरा उसमें कोई ऐसी पेचीदगियां नहीं थीं जो आजकल आमतौर से मिलती हैं। चेहरा तो उसका लड़कियों-जैसा बराबर बना रहा लेकिन जब वह सयानी होकर औरत हुई, तब उसकी आंखों में एक गहराई, एक ज्योति आ गई और यह इस बात की सूचक थी कि इन शांत सरोवरों के पीछे तूफ़ान चल रहा है। वह नई रोशनी की लड़कियों-जैसी न थी न तो उसमें वे आदतें थीं न वह चंचलता थी। फिर भी नये तरीकों में वह काफ़ी आसानी से घुल-मिल जाती थी। दर असल वह एक हिंदुस्तानी और ख़ासतौर पर काश्मीरी लड़की थी—चैतन्य और गर्वीली बच्चों जैसी और बड़ों जैसी बेवकूफ़ और चतुर। अजनबी लोगों से और उनसे जिन्हें वह पसंद नहीं करती थी वह संकोच करती लेकिन जिन्हें वह जानती

और पसंद करती थी उनसे वह भी खोलकर मिलती और उनके सामने उसकी चुप्पी फूटी पड़ती थी। चाहे जो शख्स हो उसके बारे में वह झट अपनी राय कायम कर लेती। यह राय उसकी हमेशा सही न होती और न हमेशा वह इन्साफ़ की नींव पर बनी होती लेकिन अपनी इस सहज पसंद या विरोध पर वह दृढ़ रहती। उसमें कपट नाम को न था। अगर वह किसी व्यक्ति को नापसंद करती और यह बात जाहिर हो जाती तो वह उसे छिपाने की कोशिश न करती। कोशिश भी करती तो शायद वह इसमें कामयाब न होती। मुझे ऐसे इन्सान कम मिले हैं जिन्होंने मुझ पर अपनी साफ़-दिली का वैसा प्रभाव डाला हो जैसाकि उसने डाला था।

## २ : हमारा ब्याह और उसके बाद

मैंने अपने ब्याह के शुरू के सालों का ख़याल किया जबकि बावजूद इस बात के कि मैं उसे हद से ज्यादा चाहता था मैं क़रीब-क़रीब उसे भूल गया था और बहुत तरह से उसे उस संग से वंचित रखता था जिसका उसे हक था क्योंकि उस वक़्त मेरी हालत एक ऐसे शख़्स की-सी थी, जिस पर कि भूत सवार हो। मैं अपना सारा वक़्त उस मक़सद को पूरा करने में लगा रहा था जिसे मैंने अपनाया था। अपनी एक अलग सपने की दुनिया में रहा करता था और अपने गिर्द के चलते-फिरते लोगों को असार छाया की तरह समझा करता था अपनी शक्ति-भर मैं काम में लगा रहता था मेरा दिमाग उन बातों से भरपूर रहता जिनमें मैं लगा हुआ था। मैंने उस मक़सद में अपनी सारी ताक़त लगा दी थी और उसके अलावा किसी और काम के लिए ताक़त बाक़ी न थी।

लेकिन उसे भूलना बहुत दूर रहा जब-जब और धंधों से निपटकर उसके पास आता तो मुझे ऐसा अनुभव होता कि किसी सुरक्षित बंदरगाह में पहुंच गया हूं। अगर घर से कई दिनों के लिए बाहर रहता तो उसका ध्यान करके मेरे मन को शांति मिलती और मैं बेचैनी के साथ घर लौटने की राह देखता। अगर वह मुझे ढाढस और शक्ति देने के लिए न होती और मेरे थके मन और शरीर को नया जीवन न देती रहती तो भला मैं कर ही क्या पाता ?

वह जो कुछ मुझे दे सकती थी, उसे मैंने उससे ले लिया था। इसके बदले में इन शुरू के दिनों में मैंने उसे क्या दिया ? ज़ाहिरा तौर पर मैं ना कामयाब रहा और मुमकिन है कि उन दिनों की गहरी छाप उस पर हमेशा बनी रही हो। वह इतनी गर्वीली और संवेदनशील थी कि मुझसे मदद मांगना नहीं चाहती थी अगरचे जो मदद मैं उसे दे सकता था वह दूसरा नहीं दे सकता

था। वह राष्ट्रीय लड़ाई में अपना उचित हिस्सा लेना चाहती थी महज दूसरे के आसरे रहकर या अपने पति की परछाईं बनकर वह नहीं रहना चाहती थी। वह चाहती थी कि दुनिया की निगाहों में ही नहीं बल्कि अपनी निगाहों में वह खरी उतरे। मुझे इससे ज्यादा किसी दूसरी बात से खुशी नहीं हो सकती थी लेकिन मैं और कामों में इतना फंसा हुआ था कि सतह से नीचे देख ही नहीं पाता था और वह क्या खोजती थी या इतना उत्कंठा से क्या चाहती थी उस ओर से मेरी आंखें बंद थीं। और फिर मुझे इतनी बार जेल जाना पड़ा कि मैं उससे अलग भी रहा या वह बीमार रही। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक की चित्रा की तरह वह मुझसे यह कहती जान पड़ती थी— 'मैं चित्रा हूं देवी नहीं हूं कि मेरी पूजा की जाय। अगर तुम खतरे और साहस के रास्ते में मुझे अपने साथ रखना मंजूर करते हो, अगर तुम अपनी जिंदगी के बड़े कामों में मुझे हिस्सा लेने की इजाजत देते हो तो तुम मेरी असली आत्मा को पहचानोगे ।" लेकिन उसने यह बात मुझसे शब्दों में नहीं कही। धीरे-धीरे यह संदेश मैं उसकी आंखों में पढ़ पाया।

सन १९३ के शुरू के महीनों में मुझे उसकी इस इच्छा की झलक मिली। फिर हम लोग साथ-साथ काम करते रहे और इस अनुभव में मुझे एक नया आनंद मिला। कुछ वक्त तक हम लोग मानो जिंदगी की तेज धार पर साथ साथ बहते रहे। लेकिन बादल मंडरा रहे थे और एक क़ौमी हंगामा सामने था। हमारे लिए ये सुख के महीने थे लेकिन वे बहुत जल्द खत्म हो गये और अप्रैल के शुरू में मुल्क असहयोग और फिर सरकारी दमन के चंगुल में पड़ गया और मैं फिर जेल भेजा गया।

हम सब मर्द लोग ज्यादातर जेल में थे। उस वक्त एक हैरत-अंगेज घटना घटी। हमारी औरतें मैदान में आईं और उन्होंने लड़ाई को संभाला। यह सही है कि कुछ औरतें सदा से इस काम में लगी रही हैं, लेकिन अब तो उनके दल-के-दल उमड़ पड़े जिसकी वजह से न सिर्फ अंग्रेजी सरकार को बल्कि खुद उनके मर्दों को अचरज हुआ। और हमारे सामने जो नज्जारा था वह यह था कि ऊंचे और बीच के वर्ग की औरतें जो अपने घरों में महफूज जिंदगियां बिता रही थीं किसान औरतें मजदूर औरतें अमीर औरतें गरीब औरतें बच्चियां हजार की तादाद में सरकारी हुक्म को तोड़ने और पुलिस की लाठियों का सामना करने के लिए तैयार थीं। साहस और बहादुरी का यह ही दिखावा नहीं था। इससे भी बड़ी जो बात थी वह यह थी कि उन्होंने संगठन की शक्ति दिखाई।

जब ये खबरें हम तक नैनी जेल में पहुंचीं उस वक्त हममें जो पुलक पैदा हुई, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता। हमारे दिल हिन्दुस्तान की औरतों का

खयाल करके गर्व से भर गये। हम लोग इस घटना के बारे में आपस में मुश्किल से बातें कर पाते थे क्योंकि हमारे दिल भरे हुए थे और हमारी आंखें आंसुओं से धुंधली हो रही थीं।

मेरे पिताजी बाद में आकर नैनी जेल में हम लोगों में शरीक हुए। उन्होंने बहुत-सी बातें बताईं, जिन्हें हम पहले से नहीं जानते थे। जेल से बाहर रहते हुए वह असहयोग आंदोलन के अगुआ थे लेकिन सारे हिंदुस्तान में औरतों में जो आग भड़क उठी थी उसे उन्होंने नहीं उकसाया था। बल्कि सच बात तो यह है कि पुराने ढंग के बड़ों की तरह वह इस बात को पसंद नहीं करते थे कि नौजवान और बूढ़ी औरतें गरमी की धूप में सड़कों पर घूमती फिरें और पुलिस से मोर्चा लें। लेकिन उन्होंने जनता का रुख देख लिया था और किसीके यहांतक कि अपनी स्त्री बेटियों और बहू के उत्साह को रोका नहीं। उनसे मालूम हुआ कि सारे मुल्क में हमारी औरतों ने जो उत्साह हिम्मत और क़ाबलियत दिखाई, उससे उन्हें कितनी खुशी और हैरत हुई है। अपने घर की लड़कियों के बारे में वह मुहब्बत-भरे गर्व के साथ बातें करते थे।

मेरे पिताजी के कहने से २६ जनवरी १९३१ को सारे हिंदुस्तान में आज़ादी के दिन की सालगिरह मनाई गई और हज़ारों आम जलसों में 'यादगार' के प्रस्ताव पास हुए। इन जलसों पर पुलिस की रोक लगी हुई थी और इनमें से बहुतों को बल-पूर्वक तितर-बितर किया गया। पिताजी ने इन जलसों का संगठन अपनी बीमारी में बिस्तर पर से किया था और यह सचमुच संगठन की विजय थी क्योंकि हम अखबारों या डाक या तार या टेलीफ़ोन का इस्तेमाल नहीं कर सकते थे और न किसी क़ानूनी तौर पर क़ायम किये हुए छापेखाने का ही। फिर भी एक मुक़र्रर किये गये दिन और वक्त पर इस बड़े मुल्क में सब जगह दूर-दूर के गांवों तक में यह प्रस्ताव हर एक सूबे की भाषा में पढ़ा गया और मंज़ूर किया गया। इस प्रस्ताव के मंज़ूर होने के १० दिन बाद मेरे पिताजी की मृत्यु हुई।

यह प्रस्ताव लंबा था लेकिन उसका एक हिस्सा हिंदुस्तान की औरतों के बारे में था—"हम हिंदुस्तान की औरतों के प्रति अपनी श्रद्धा और तारीफ़ के गहरे भावों को ज़ाहिर करते हैं जिन्होंने मातृभूमि के इस संकट के मौक़े पर अपने घरों की हिफ़ाज़त को छोड़कर अचूक हिम्मत और बरदाश्त की ताक़त दिखाई है और जो अपने मर्दों के साथ कंधे-से-कंधा लगाकर हिंदुस्तान की राष्ट्रीय सेना के सामने की क़तार में शामिल रही हैं और जिन्होंने जग की क़ुरबानियों और विजयों में उनके साथ हिस्सा बंटाया है"

इस उथल-पुथल में कमला ने भी हिम्मत के साथ एक खास हिस्सा

लिया और उसके ना-तजुरबेकार कंधों पर, इलाहाबाद में हमारे काम के संगठन की ज़िम्मेदारी उस वक़्त आई, जबकि हरएक जाना हुआ काम करने वाला जेल में था। तजुरबे की कमी को उसने अपने जोश और उत्साह से पूरा किया और कुछ ही महीनों के भीतर वह इलाहाबाद के गर्व की चीज़ बन गई।

मेरे पिताजी की आख़िरी बीमारी और मौत की छाया में हम फिर मिले। यह मुलाक़ात दोस्ती और आपस की समझदारी के एक नये ही आधार पर थी। कुछ महीनों बाद अपनी बेटी के साथ जब हम लोग कुछ दिनों के लिए लंका अपनी पहली सैर के लिए—और यह आख़िरी भी थी—गये तो ऐसा जान पड़ता था कि हमने एक-दूसरे को एक नये रूप में देखा है। ऐसा जान पड़ता था कि हमने जितने पिछले साल साथ में बिताये थे वे इस नये और गहरे संबंध की तैयारी में बिताये थे।

हम लोग जल्द ही लौट आये और मैं काम में लग गया और बाद में फिर जेल चला गया। साथ-साथ छुट्टी मनाने का और मिलकर काम करने का यहां तक कि मिलकर रहने का भी मौक़ा न हासिल हुआ सिवाय इसके कि दो लंबी क़ैदों की मुद्दत के बीच के वक़्त में मुलाक़ात हो गई। दूसरी क़ैद की मुद्दत ख़त्म न होने पाई थी कि कमला मौत की बीमारी से बिस्तर पर लग गई थी।

जब मैं फ़रवरी सन १९३४ में कलकत्ते के एक वारंट पर गिरफ़्तार किया गया उस वक़्त कमला घर में मेरे कुछ कपड़े लाने के लिए गई। मैं भी उससे रुख़सत होने के ख़याल से उसके पीछे हो लिया। यकायक वह मुझसे लिपट गई और ग़श खाकर गिर पड़ी। उसके लिए यह ग़ैर-मामूली बात थी क्योंकि हम लोगों ने अपने को इस तरह से तालीम दे रखी थी कि जेल ख़ुशी-ख़ुशी और हलके दिल से जाना चाहिए और इसके बारे में जहांतक मुमकिन हो कोई गुल न होने देना चाहिए। क्या उसके दिल ने उसे पहले से बता दिया था कि हमारी साधारण मुलाक़ात का यह आख़िरी मौक़ा है?

दो-दो साल की दो लंबी जेलों की मुद्दतों ने हम लोगों को एक-दूसरे से उस वक़्त जुदा रखा था जबकि हमें एक-दूसरे की सबसे ज़्यादा ज़रूरत थी। मैं जेल के लंबे दिनों में इस पर ग़ौर करता रहा लेकिन मैं उम्मीद करता रहा कि वह वक़्त ज़रूर आयेगा जबकि हम दोनों एक साथ होंगे। इन सालों में उस पर क्या गुज़री होगी? मैं इसका अनुमान कर सकता हूं अगरचे मैं भी इसे ठीक-ठीक नहीं जानता क्योंकि जेल की और जेल से बाहर थोड़े वक़्त की मुलाक़ातों में ऐसी परिस्थिति नहीं थी कि इसका सहज में अंदाज़ हो सके। हम लोगों को हमेशा अपने को संभाले रखना पड़ता था जिसमें अपनी तकलीफ़ को

ज़ाहिर करके हम एक-दूसरे को तकलीफ़ न पहुंचायें। लेकिन यह साफ़ था कि बहुतेरी बातों की वजह से वह बहुत परेशान और दुखी थी और उसका मन शांत न था। मैं चाहता कि मैं उसकी कुछ मदद कर सकता लेकिन जेल में रहते हुए यह मुमकिन न था।

### ३ इन्सानी रिश्तों का सवाल

ये सब और बहुत से और ख़याल मेरे दिमाग़ में बेडेनवाइलर के तनहाई के लंबे घंटों में आते। मैं जेल का वातावरण सहज में दूर न कर पाता था। बहुत दिनों से मैं इसका आदी हो गया था और इस नई क्रिया ने कुछ ज़्यादा तबदीली न पैदा की। नात्सी इलाक़े में उसकी तमाम अनोखी घटनाओं के बीच जिसे मैं बेहद नापसंद करता था मैं पड़ रहा था। लेकिन नात्सियों ने मुझसे छेड़ न की। ब्लैक फ़ॉरेस्ट के एक कोने के इस छोटे-से गांव में नात्सी-पन के कोई चिह्न नहीं मिलते थे।

पर शायद ऐसा हो कि मेरे दिमाग़ में और ही बातें भर रही थीं। मेरे सामने अपनी बीती हुई ज़िंदगी की तस्वीरें फिर रही थीं और उनमें हमेशा कमला साथ दिखाई देती थी। मेरे लिए वह हिंदुस्तान की महिलाओं बल्कि स्त्री-मात्र की प्रतीक बन गई। कभी-कभी हिंदुस्तान के बारे में मेरी कल्पना में वह एक अजीब तरह से मिल-जुल जाती उस हिंदुस्तान की कल्पना में जो अपनी सब कमज़ोरियों के बावजूद हमारा प्यारा देश है और जो इतना रहस्यमय और भेद-भरा है। कमला क्या थी? क्या मैं उसे जान सका था उसकी असली आत्मा को पहचान सका था? क्या उसने मुझे पहचाना और समझा था? क्योंकि मैं भी एक अनोखा आदमी रहा हूं और मुझमें भी ऐसा रहस्य रहा है ऐसी गहराइयां रही हैं जिनकी थाह मैं खुद नहीं लगा सका हूं। कभी-कभी मैंने ख़याल किया है कि वह मुझसे इसी वजह से ज़रा सहमी रहती थी। शादी के मामले में मैं ख़ातिर-ख़्वाह आदमी न रहा हूं न उस वक़्त था। कमला और मैं एक-दूसरे से कुछ बातों में बिलकुल जुदा थे और फिर भी कुछ बातों में हम एक-जैसे थे। हम एक-दूसरे की कमियों को पूरा नहीं करते थे। हमारी जुदा-जुदा ताक़त ही आपस के व्यवहार में कमज़ोरी बन गई। या तो आपस में पूरा समझौता हो विचारों का पूरा मेल हो नहीं तो कठिनाइयां होंगी ही। हममें कोई भी साधारण गृहस्थी की ज़िंदगी जैसे भी गुज़रे, उसे क़बूल करते हुए, नहीं बिता सकते थे।

हिंदुस्तान के बाज़ारों में जो बहुत-सी तस्वीरें देखने में आतीं उनमें एक ऐसी थी जिसमें कमला की और मेरी तस्वीरें साथ-साथ बनाई गई थीं और जिसके ऊपर लिखा हुआ था—'आदर्श जोड़ी'। बहुत-से लोग इसी

रूप में हमारी कल्पना करते रहे हैं, लेकिन आदर्श को पा लेना और उसे पकड़े रहना बड़ा कठिन है। फिर भी मुझे याद है कि अपने संकट के सफ़र में मैं कमला से यह कहा करता था कि बहुत दिक्कतों और आपस के भेदों के रहते हुए और ज़िंदगी ने हमारे साथ जो चालें चली हैं उनके बावजूद हम कितने खुशकिस्मत हैं। ब्याह एक अनोखी घटना होती है और अब जब ब्याह का हमें बीसों साल का तजुर्बा हासिल है यह बात आज भी उतनी ही सच है। हमने अपने गिर्द बहुत-सी शादियों की बरबादी देखी या जिसे हम इससे बेहतर न कहेंगे यह देखा कि जो चीज़ सुनहली और आबदार थी वह मंद और फीकी पड़ गई है। मैं उससे कहा करता कि हम लोग कितने खुशकिस्मत हैं, और इसे वह क़बूल करती क्योंकि आपस में हम लड़े भले ही हों एक-दूसरे से नाराज़ भले ही हुए हों फिर भी हमने उस दिव्य ज्योति को बुझने न दिया, और ज़िंदगी हम दोनों को नये-नये करिश्मे दिखाती रही और एक-दूसरे की नई झलक देती रही।

इन्सानी रिश्तों का मसला कितना बुनियादी है फिर भी राजनीति और अर्थ-शास्त्र की बहसों में पड़कर हम उसे कितना नज़र-अंदाज़ कर देते हैं। चीन और हिंदुस्तान की पुरानी और अक्लमंद तहज़ीबों में इसे नज़र-अंदाज़ नहीं किया गया था। वहां सामाजिक व्यवहार के आदर्शों का विकास हुआ था जिसमें और जो भी ख़ामियां रही हों, यह ख़ूबी थी कि व्यक्ति को एक संतुलन एक हम-वज़नीपन हासिल होता था। यह संतुलन आज हिंदुस्तान में नहीं दिखाई पड़ रहा है लेकिन पश्चिम के देशों में ही जहां और दिशाओं में इतनी तरक्की हुई है यह कहां दिखाई पड़ता है? या यह संतुलन ही दरअसल गतिहीनता है और उन्नतिशील तबदीली का विरोधी है? क्या एक का दूसरे के लिए बलिदान करना ज़रूरी है? यक़ीनी तौर पर इसे मुमकिन होना चाहिए कि भीतरी संतुलन का बाहरी तरक्की से पुराने ज़माने के ज्ञान का नये ज़माने की शक्ति और विज्ञान से मेल क़ायम हो। सच देखा जाय तो हम लोग दुनिया के इतिहास की एक ऐसी मंज़िल पर पहुंच गये हैं कि अगर यह मेल न क़ायम हो सका तो दोनों ही का अंत और नाश रखा हुआ है।

## ४ १९३५ का बड़ा दिन

कमला की हालत कुछ सुधरी। सुधार कुछ बहुत ज़ाहिर तो नहीं था, लेकिन पिछले हफ़्तों की चिंता के बाद हम लोगों ने कुछ आराम महसूस किया। वह अपना नाज़ुक वक़्त पारकर ले गई थी और उसकी हालत थमसी हुई थी और यह एक सुधार था। उसकी यह हालत एक महीने तक जारी रही और इससे लाभ उठाकर अपनी बेटी इंदिरा के साथ मैं कुछ दिनों के लिए

इंग्लिस्तान हो आया। वहां मैं आठ साल से नहीं गया था और कई दोस्तों का इसरार था कि मैं उनसे मिलूं।

मैं बेडेनवाइलर वापस आया और पुरानी दिनचर्या फिर से शुरू हुई। जाड़ा आ गया था। जमीन बर्फ़ से ढंककर सफ़ेद हो रही थी। ज्योंही बड़ा दिन क़रीब आया, कमला की हालत साफ़ तौर पर गिरने लगी। ऐसा जान पड़ता था कि नाज़ुक वक्त लौट आया है और उसकी जिंदगी एक धागे से लटक रही है। १९३५ के उन अंतिम दिनों में मैं बर्फ़ और बर्फ़ानी कीचड़ के बीच रास्ता काटता रहा और यह नहीं जानता था कि वह कितने दिन या घंटों की मेहमान है। जाड़े का सारा दृश्य जिस पर बर्फ़ की सफ़ेद चादर पड़ी हुई थी मुझे ठंडी मौत की भांति जैसा लगा और मैं अपना पिछला आशावाद खो बैठा।

लेकिन कमला इस संकट-काल से भी लड़ी और अचरज-भरी शक्ति से उसे पार कर गई। वह अच्छी होने लगी और ज्यादा खुश दिखाई देती। उसने चाहा कि हम लोग उसे बेडेनवाइलर से हटाकर दूसरी जगह ले चलें। वह उस जगह से ऊब गई थी। एक दूसरी वजह जिससे उसे अब यह जगह अच्छी नहीं लगती थी यह थी कि स्वास्थ्य-गृह का एक दूसरा मरीज जाता रहा। वह कमला के पास कभी-कभी फूल भेज दिया करता था और उससे मिलने भी आया करता था। यह मरीज जो एक आयरिश लड़का था कमला के मुक़ाबले में कहीं अच्छी हालत में था यहांतक कि उसे टहलने की इजाज़त मिल गई थी। उसकी अचानक मौत की ख़बर मैंने कमला तक पहुंचने से रोकनी चाही लेकिन इसमें हम कामयाब न रहे। मरीज़ों को ख़ासकर उन्हें जिन्हें स्वास्थ्य-गृहों में ठहरने का दुर्भाग्य होता है जान पड़ता है एक दैवी जानकारी हासिल हो जाती है और यह उन्हें बहुत-कुछ वे बातें बता देती है, जो उनसे छिपाई जाती हैं।

जनवरी में मैं कुछ दिनों के लिए पेरिस गया और थोड़े वक्त के लिए लंदन भी हो आया। जिंदगी मुझे अपनी तरफ़ फिर खींच रही थी और लंदन में मुझे ख़बर मिली कि मैं हमारी कांग्रेस का दूसरी बार सभापति चुना गया हूं और यह कांग्रेस अप्रैल में होनेवाली है। दोस्तों ने मुझे पहले से आगाह कर दिया था इसलिए यह फ़ैसला एक तरह से जाना हुआ था और इसके बारे में मैंने कमला से बातचीत की थी। मेरे सामने एक दुविधा आकर खड़ी हो गई—उसे इस हालत में छोड़कर जाऊं या सभापति के पद से इस्तीफ़ा दे दूं। वह नहीं चाहती थी कि मैं इस्तीफ़ा दूं। उसकी हालत जरा सुधरी हुई थी और हम लोगों ने सोचा कि मैं बाद में फिर उसके पास आ सकता हूं।

१९३६ की जनवरी के अंत में कमला ने बेडेनवाइलर छोड़ा और स्विटजरलैंड में लोजान के स्वास्थ्य-गृह में वह पहुंचाई गई।

## ५ मृत्यु

हम दोनों ने ही स्विटजरलैंड में आने से जो तबदीली हुई, उसे पसंद किया। कमला अब ज्यादा खुश रहती और स्विटजरलैंड के इस हिस्से से पहले से अच्छी तरह परिचित होने के कारण मैंने यहां अपने को उतना अजनबी महसूस न किया। उसकी हालत में कोई जाहिरा तबदीली न पैदा हुई थी और ऐसा मालूम देता था कि कोई संकट सामने नहीं है। बुखार की रफ्तार शायद धीमी रहती लेकिन जान पड़ता था कि काफी वक्त तक उसकी ऐसी ही हालत रहेगी।

इस बीच में हिंदुस्तान का बुलावा बराबर आ रहा था और वहां मित्र लोग मुझे लौटने के लिए जोर दे रहे थे। मेरा जी बेचैन रहने लगा और हिंदुस्तान के मसलों में उलझा रहने लगा। कुछ सालों से जेल में रहने की वजह से या और वजहों से सार्वजनिक कामों में मैं सरगरमी से हिस्सा न ले सका था और अब मैं बागडोर तुड़ा रहा था। लंदन और पेरिस के मेरे सफ़र ने और हिंदुस्तान से आनेवाली खबरों ने मुझे जगाया और अब चुपचाप रहना मुमकिन न था।

मैंने कमला के साथ इसके बारे में विचार किया और डाक्टर से भी सलाह ली। दोनों इस बात पर राजी हुए कि मुझे हिंदुस्तान लौटना चाहिए और मैंने रूम के एल एम कंपनी के हवाई जहाज से लौटने के लिए जगह पक्की कर ली। २८ फ़रवरी को मैं लोजान छोड़नेवाला था। यह सब तय हो चुकने के बाद मैंने देखा कि कमला को मेरा उसे छोड़ने का विचार पसंद न आया। फिर भी वह मुझसे अपना कार्यक्रम बदलने के लिए कहना न चाहती थी। मैंने तो उससे कहा कि हिंदुस्तान में ज्यादा दिन न ठहरूंगा। दो-तीन महीनों में ही लौट आने की उम्मीद करता हूं। वह चाहे तो मैं पहले भी आ सकता हूं तार से खबर मिलने के एक हफ़्ते के भीतर मैं वापस आ सकूंगा।

चलने की तारीख के चार-पांच दिन रह गये थे। इंदिरा जो पास ही एक जगह बेक्स के स्कूल में भरती हो गई थी वह आखिरी दिन हम लोगों के साथ बिताने के लिए आनेवाली थी। डाक्टर मेरे पास आये और उन्होंने सलाह दी कि मैं अपना जाना हफ़्ता-दस दिन के लिए मुल्तवी कर दूं। इससे ज्यादा वह कहना नहीं चाहते थे। मैं फौरन राजी हो गया और बाद में चलनेवाले दूसरे के एल एम हवाई जहाज में जगह ठीक कर ली।

ज्यों-ज्यों ये आखिरी दिन बीतने लगे कमला में अचानक तबदीली आती जान पड़ी। उसके जिस्म की हालत जहांतक हम देख सकते थे वैसी ही

थी लेकिन उसका दिमाग अपने इर्द-गिर्द की चीजों पर कम ठहरता। वह मुझसे कहती कि कोई उसे बुला रहा है या यह कि उसने किसी शक्स या आदमी को कमरे में आते देखा जबकि मैं कुछ न देख पाता था।

२८ फ़रवरी को बहुत सवेरे उसने अपनी आख़िरी साँस ली। इंदिरा वहाँ मौजूद थी और हमारे सच्चे दोस्त और इन महीनों के निरंतर साथी डाक्टर श्टस भी मौजूद थे।

कुछ और मित्र स्विटज़रलैंड के पास के शहरों से आ पहुँचे और हम उसे लोज़ान के दाहघर में ले गये। चंद मिनटों में वह सुंदर शरीर और प्यारा मुखड़ा जिस पर अकसर मुस्कराहट छाई रहती थी जलकर खाक हो गया। और अब हमारे पास सिर्फ़ एक बरतन रहा जिसमें उस सतेज आत्मा और जीवन से लहलहाते प्राणी की अस्थियाँ हमने भर ली थीं।

## ६ मुसोलिनी वापसी

जिस समाज ने मुझे लोज़ान और यूरोप में रोक रखा था वह टूट गया और अब वहाँ ज़्यादा ठहरने की ज़रूरत न थी। दरअसल मेरे भीतर की कोई और चीज़ भी टूट गई थी जिसका ज्ञान मुझे धीरे-धीरे हुआ क्योंकि वे मेरे अंधियाले दिन थे और मेरी बुद्धि ठीक-ठीक काम नहीं कर रही थी। कुछ समय एकांत में बिताने के लिए मैं इंदिरा के साथ मांट्रे चला गया।

जिन दिनों मैं मांट्रे में ठहरा हुआ था लोज़ान में रहनेवाला इटली का राजदूत मुझसे आकर मिला। वह सिन्योर मुसोलिनी की तरफ़ से ख़ासतौर पर मेरे दुख में सहानुभूति प्रकट करने आया था। मुझे ज़रा ताज्जुब हुआ क्योंकि मैं सिन्योर मुसोलिनी से कभी मिला न था और न मुझसे उनका किसी और ही तरह से संपर्क था। मैंने राजदूत से कहा कि वह मुसोलिनी को बता दें कि इस सहानुभूति के लिए मैं उनका एहसानमंद हूँ।

कुछ हफ़्ते पहले रोम से एक मित्र ने मुझे लिखा था कि सिन्योर मुसोलिनी मुझसे मिलना चाहेंगे। उस वक़्त मेरे रोम जाने का कोई सवाल न था और मैंने उन्हें यह लिख दिया था। बाद में हवाई रास्ते से हिंदुस्तान लौटने की जब मैं सोच रहा था उस वक़्त संदेसा दुहराया गया और इसमें ख़ासतौर पर इसरार और उत्सुकता थी। मैं इस मुलाक़ात से बचना चाहता था साथ ही रुखाई दिखाने की भी मेरी कोई इच्छा न थी। आमतौर पर मैं मुलाक़ात से बचने की इस ख़्वाहिश पर क़ाबू पा जाता क्योंकि मुझे भी यह जानने का कुतूहल था कि मुसोलिनी किस तरह का आदमी है। लेकिन उस वक़्त अबीसीनिया की लड़ाई चल रही थी और मेरे उनसे मिलने पर, हो-न

हो, तरह-तरह के नतीजे निकाले जाते और इस मुलाकात का इस्तेमाल फ़ासिस्टों के प्रचार के लिए किया जाता। मेरी इन्कारी का ज़्यादा असर न पड़ता। हाल की कई मिसालें मेरे सामने थीं। हिन्दुस्तानी विद्यार्थी और दूसरे लोग जो इटली सैर के लिए गये थे उनसे उनकी इच्छा के खिलाफ़ और कभी-कभी बिना उनकी जानकारी के इस प्रचार के काम में फ़ायदा उठाया गया और फिर १९३१ में 'जर्नल दि इटाली' में गांधीजी से 'मुलाकात' का जो गढ़ा हुआ हाल छपा था उसका भी सबक भूला न था।

मैंने अपने दोस्त से अफ़सोस ज़ाहिर किया और इस ख़याल से कि किसी तरह की ग़लत-फ़हमी बाकी न रहे मैंने दुबारा ख़त डाला और टेलीफ़ोन से भी सूचना दे दी। ये सब बातें कमला की मृत्यु से पहले की हैं। उसकी मृत्यु के बाद मैंने दूसरा संदेशा भेजा और दूसरी वजहों के साथ यह वजह भी दी कि इस वक्त किसीसे भी मुलाकात करने के लिए जी नहीं रह गया है।

मेरी तरफ़ से इतने आग्रह की यों ज़रूरत हुई कि मैं जिस के० एल० एम० हवाई जहाज़ से सफ़र करनेवाला था वह रोम से होकर जाता था और मुझे एक शाम और रात वहीं बितानी थी। इस सफ़र और थोड़े वक्त के ख़याल से मैं बच नहीं सकता था।

कुछ दिन मांट्रे में रहकर मैं जिनेवा और मार्सेई गया और वहाँ मैंने पूरब जानेवाले के० एल० एम० हवाई जहाज़ को पकड़ा। तीसरे पहर के ख़त्म होते-होते मैं रोम पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर मुझसे एक बड़ा अफ़सर आकर मिला और उसने मुझे सिन्योर मुसोलिनी के 'चीफ़ ऑफ़ कैबिनेट' का एक ख़त दिया। इसमें लिखा था कि "ड्यूचे मुझसे मिलकर ख़ुश होंगे और उन्होंने छः बजे का वक्त मुलाकात के लिए मुकर्रर किया है।" मुझे ताज्जुब हुआ और मैंने उसे अपने पहले के संदेशों का हवाला दिया। लेकिन उसने ज़ोर दिया कि सब कुछ तय हो चुका है और यह इंतज़ाम बदला नहीं जा सकता। उसने बताया कि सच तो यह है कि अगर मुलाकात न हो पाई, तो इसका पूरा अंदेशा है कि वह अपने पद से बरख़ास्त कर दिया जाय। मुझे इस बात का इत्मीनान दिलाया गया कि अख़बारों में इसके बारे में कुछ न निकलेगा और ड्यूचे से कुछ मिनटों के लिए मिल लेना काफ़ी होगा—वह महज़ मुझसे हाथ मिलाना और मेरी पत्नी की मृत्यु पर अफ़सोस ज़ाहिर करना चाहते थे। इस तरह हममें आपस में एक घंटे तक बहस चलती रही। दोनों तरफ़ से विनय का पूरा दिखावा था लेकिन साथ ही बढ़ता हुआ खिंचाव भी था। वह घंटा मेरे लिए हद दर्जे का थकानेवाला घंटा था और शायद दूसरे फ़रीक़ के हक़ में यह और भी भारी गुज़रा हो। मुलाकात के लिए मुकर्रर किया हुआ वक्त आख़िरकार आ पहुँचा और मैं

अपनी बाकी करके रहा। ड्यूचे के महल में टेलीफ़ोन से इत्तिला भेज दी गई कि मैं न आ सकूंगा।

उसी दिन शाम को मैंने सिन्यार मुसोलिनी के पास खत भेजा जिसमें मैंने इस बात का अफ़सोस जाहिर किया कि मैं उनके न्योते का फ़ायदा न उठा सका और मैंने उनके सहानुभूति के संदेसे के लिए धन्यवाद दिया।

अपना सफ़र मैंने जारी रखा। काहिरा में कुछ पुराने मित्र मुझसे मिलने आये और इसके बाद और पूरब आने पर पच्छिमी एशिया का रेगिस्तान मिला। बहुतेरी घटनाओं के कारण और सफ़र के इंतजाम में लगे रहने की वजह से अभीतक मेरा दिमाग़ किसी-न-किसी काम में लगा हुआ था। लेकिन काहिरा छोड़ने के बाद इस सुनसान रेगिस्तानी प्रदेश के ऊपर से उड़ते हुए मुझ पर एक भयानक अकेलापन छा गया। मैंने ऐसा महसूस किया कि मुझमें कुछ रह नहीं गया है और मैं बिना किसी मकसद का हो गया हूं। मैं अपने घर की तरफ़ अकेला लौट रहा था उस घर की तरफ़ जो अब घर नहीं रह गया था और मेरे साथ एक टोकरी थी जिसमें राख का एक बरतन था। कमला का जो कुछ बच रहा था यही था। और हमारे सब सुख के सपने मर चुके थे और राख हो चुके थे। वह अब नहीं रही कमला अब नहीं रही—मेरा दिमाग़ यही दुहराता रहा।

मैंने अपने आत्म-चरित्र[1]—अपनी जिंदगी की कहानी का विचार किया जिसके बारे में मैंने उससे भुवाली के स्वास्थ्य-गृह में सलाह की थी। जब मैं उसे लिख रहा था तब कभी एक-दो अध्याय उसे पढ़कर सुनाता भी था। उसने इसका सिर्फ़ एक हिस्सा देखा या सुना था। वह अब बाकी हिस्सा न देख पायेगी और न अब हम लोग मिलकर जिंदगी की किताब में कुछ और अध्याय लिख पायेंगे।

बगदाद पहुंचकर मैंने अपने प्रकाशकों के पास जो लंदन से मेरा आत्म-चरित निकालने जा रहे थे एक तार भेजा और उसमें मैंने किताब का 'समर्पण' देने का निर्देश दिया—'कमला को जो अब नहीं रही।'

करांची आया और परिचित चेहरों के झुंड-के-झुंड दिखाई दिये। इसके बाद इलाहाबाद आया और हम लोगों ने राख के उस बरतनको बेगसे बहनेवाली गंगा तक पहुंचाया और फिर इस पवित्र नदी की गोद में उसे प्रवाहित कर दिया। हमारे कितने पुरखों को उसने इसतरह समुंदर तक पहुंचाया है हमारे बाद आनेवाले कितने अपनी अंतिम यात्रा इसके जल के आलिंगन के साथ करेंगे!

[1] 'मेरी कहानी' के नाम से यह सस्ता साहित्य मंडल से प्रकाशित है।—सं

# ३

# तलाश

## १ हिंदुस्तान के अतीत का विशाल दृश्य

इन बरसों में, जबकि मैं विचार और काम में लगा था, मेरे दिमाग़ में हिंदुस्तान समाया हुआ था, और मैं बराबर उसे समझ पाने की कोशिश में लगा था, साथ ही उसकी तरफ़ अपनी निजी प्रतिक्रिया की जाँच भी कर रहा था। मैंने अपने बचपन के दिनों का ध्यान किया और यह याद करने की कोशिश की कि उस वक़्त मेरे क्या भाव थे, इसके ख़याल ने उस वक़्त मेरे दिमाग़ में कैसी अस्पष्ट शक्लें पैदा की थीं और नये अनुभवों ने उनमें क्या तब्दीलियाँ की थीं। इसका ख़याल कभी-कभी दिमाग़ के पिछले हिस्से में चला जाता, लेकिन यह मौजूद हमेशा रहता। यह धीरे-धीरे बदलता रहा और पुराने क़िस्से-कहानियों ने और मौजूदा ज़माने की असलियत ने मिलकर इसे एक अजीब मेल बना दिया था। इसने मुझमें गर्व भी पैदा किया और लज्जा भी, क्योंकि अपने गिर्द जो कुछ देखता था—यानी अंधविश्वास, दक़ियानूसी विचार और सबसे बढ़कर अपनी ग़ुलामी और ग़रीबी की हालत—उससे मुझे शर्म आती थी।

ज्यों-ज्यों मैं बड़ा हुआ और उन कामों में लगा, जिनसे हिंदुस्तान की आज़ादी की उम्मीद की जा सकती थी, मैं हिंदुस्तान के ख़याल में खोया रहने लगा। यह हिंदुस्तान क्या है, जो मुझ पर छाया हुआ है और मुझे बराबर अपनी तरफ़ बुला रहा है और अपने दिल की किसी अस्पष्ट और गहराई के साथ अनुभव की हुई इच्छा को हासिल करने के लिए काम करने का उत्साह दिला रहा है? मैं ख़याल करता हूँ कि शुरू में यह प्रेरणा ज़ाती और क़ौमी गर्व के कारण पैदा हुई, और ऐसी ख़्वाहिश का नतीजा थी, जो सब लोगों में होती है कि दूसरों की हुकूमत का सामना किया जाय और अपनी पसंद के अनुसार ज़िंदगी बिताने की आज़ादी हासिल की जाय। यह बात मुझे बड़ी भीषण जान पड़ी कि हिंदुस्तान-जैसा बड़ा मुल्क, जिसका इतना पुराना और शानदार इतिहास है, हाथ-पैर जकड़ा हुआ एक दूर-देश टापू के बस में हो और वह उस पर अपनी मनमानी कर रहा हो। इससे भी ज़्यादा भीषण यह बात थी कि इस ज़बरदस्ती के मेल का नतीजा हमारी ग़रीबी और गिरी हुई हालत हो। यह काफ़ी वजह थी कि मैं और दूसरे लोग काम में लगें।

ऐतिहासिक नगर तथा स्मारक

लेकिन जो सवाल मेरे मन में उठ रहे थे उनकी तसकीन के लिए इतना काफ़ी न था। अगर हम उसके भौतिक और भौगोलिक पहलुओं को छोड़ दें, तो आखिर यह हिंदुस्तान है क्या? गुज़रे हुए ज़माने में इसके सामने क्या मक़सद थे कौनसी ऐसी चीज़ थी जिससे इसे ताक़त हासिल होती थी? किस तरह यह अपनी पुरानी ताक़त खो बैठा? और क्या उसने यह ताक़त पूरी तौर पर खो दी है? और अलावा इसके कि बहुत बड़ी शुमार में लोग यहाँ बसते हैं, क्या कोई ऐसी ज़िंदा चीज़ है, जिसकी यह नुमाइंदगी करता है? आज की दुनिया में उसकी ठीक जगह क्या है?

ज्यों-ज्यों मैंने इस बात का अनुभव किया कि हिंदुस्तान का और मुल्कों से अलग-अलग होकर रहना ना-मुनासिब है और ग़ैर-मुमकिन भी मेरा ध्यान इस मामले के अंतर्राष्ट्रीय पहलू की ओर बराबर जाता रहा। आनेवाले ज़माने की जो शक्ल मेरे सामने बनती वह ऐसी होती, जिसमें हिंदुस्तान और दूसरे मुल्कों के बीच राजनीति व्यवसाय और संस्कृति का गहरा मेल और रिश्ता होता। लेकिन आनेवाले ज़माने की बात तो बाद में उठती थी पहले तो हमारे सामने मौजूदा ज़माना था और इस मौजूदा ज़माने के पीछे एक लंबा और उलझा हुआ अतीत था जिसने कि मौजूदा ज़माने की रूपरेखा बनाई थी इसलिए, बातों का समझ पाने की ग़रज़ से मैंने अतीत का सहारा लिया।

हिंदुस्तान मेरे ख़ून में समाया हुआ था और उसमें बहुत-कुछ ऐसी बात थी जो स्वभाव से मुझे उकसाती थी। फिर भी मौजूदा ज़माने की और पुराने ज़माने की बहुत-सी बची हुई चीज़ों को नफ़रत की निगाह से देखता हुआ मैं जैसे एक विदेशी आलोचक की हैसियत से उस तक पहुँचा। अगर कहा जाय कि पच्छिम के रास्ते मैं उस तक पहुँचा और मैंने इस तरह देखा जिस तरह कि कोई पच्छिमवाला दोस्त देखता है तो बेजा न होगा। मैं इस बात के लिए उत्सुक और फ़िक्रमंद था कि उसके नज़रिये को और उसकी रूपरेखा को बदल दूँ और उसे हाल के ज़माने का जामा पहनाऊँ। फिर भी जी में संदेह उठते थे। मैं जो उसके अतीत की देन को मिटाने का साहस करने जा रहा था क्या मैं हिंदुस्तान को ठीक-ठीक समझ सका था? यह सही है कि हमारे सामने बहुत-कुछ ऐसा था जिसे मिटा देना ही मुनासिब था लेकिन अगर हिंदुस्तान में कोई ऐसी चीज़ न होती जो क़ायम रहने के क़ाबिल और ज़िंदा थी और जिसकी सचमुच क़ीमत थी तो यह यक़ीनी है कि हज़ारों साल तक वह अपनी तहज़ीब और वजूद को क़ायम न रख सकता था। वह चीज़ क्या थी?

उत्तर पच्छिमी हिंदुस्तान की सिंध-घाटी में मोहनजोदड़ो के एक टीले पर मैं खड़ा हुआ। मेरे गिर्द इस क़दीम शहर के मकान थे और गलियाँ

थी। कहा जाता है कि यह शहर पाँच हज़ार साल पहले मौजूद था और उस वक़्त भी यहाँ एक पुरानी और विकसित सभ्यता क़ायम थी। प्रोफ़ेसर चाइल्ड लिखते हैं—"सिंध-सभ्यता एक ख़ास वातावरण में आदमी की ज़िंदगी का पूरा संगठन ज़ाहिर करती है और यह सालहा-साल की कोशिशों का ही नतीजा हो सकती है। यह एक टिकाऊ सभ्यता थी उस वक़्त भी उस पर हिंदुस्तान की अपनी छाप पड़ चुकी थी और यह आज की हिंदुस्तानी संस्कृति का आधार है।" यह एक बड़े अचरज की बात है कि किसी भी तहज़ीब का इस तरह पाँच या छः हज़ार बरसों का अटूट सिलसिला बना हो और वह भी इस रूप में नहीं कि वह स्थिर और गतिहीन हो क्योंकि हिंदुस्तान बराबर बदलता और तरक़्क़ी करता रहा है। ईरानियों, मिस्रियों, यूनानियों, चीनियों, अरबों, मध्य-एशियावासियों और भूमध्यसागर के लोगों से इसका गहरा ताल्लुक़ रहा है। लेकिन बावजूद इस बात के कि उसने इन पर असर डाला और इनसे असर लिया उसकी तहज़ीबी बुनियाद इतनी मज़बूत थी कि क़ायम रह सकी। इस मज़बूती का रहस्य क्या है ? यह आई कहाँ से ?

मैंने हिंदुस्तान का इतिहास पढ़ा और उसके विशाल प्राचीन साहित्य का एक अंश भी देखा। उस विचार-शक्ति का, साफ़-सुथरी भाषा का, और ऊँचे दिमाग़ का, जो इस साहित्य के पीछे था, मुझ पर बड़ा गहरा असर हुआ। चीन के और पच्छिमी और मध्य-एशिया के उन महान यात्रियों के साथ, जो बहुत पुराने ज़माने में यहाँ आये और जिन्होंने अपने सफ़रनामे लिखे हैं, मैंने हिंदुस्तान की सैर की। पूरबी एशिया, अंगकोर, बोरोबुदुर और बहुत-सी जगहों में हिंदुस्तान ने जो कर दिखाया था उस पर मैंने ग़ौर किया। मैं हिमालय में भी घूमा, जिसका हमारी उन पुरानी कथाओं और उपाख्यानों से संबंध रहा है जिन्होंने हमारे विचार और साहित्य पर इतना प्रभाव डाला है। पहाड़ों की मुहब्बत और काश्मीर से अपने संबंध ने मुझे ख़ासतौर पर पहाड़ों की तरफ़ खींचा और वहाँ मैंने न महज़ आज की ज़िंदगी और उसकी शक्ति और सौंदर्य को देखा, बल्कि गुज़रे हुए युगों की यादगारें भी देखीं। उन पुर-ज़ोर नदियों ने, जो इस पहाड़ी सिलसिले से निकलकर हिंदुस्तान के मैदानों में बहती हैं, मुझे अपनी तरफ़ खींचा और अपने इतिहास के अनगिनत पहलुओं की याद दिलाई। सिंधु, जिससे हमारे देश का नाम हिंदुस्तान पड़ा और जिसे पार करके हज़ारों बरसों से न जाने कितनी जातियाँ, फ़िरक़े, क़ाफ़िले और फ़ौजें आती रही हैं; ब्रह्मपुत्र, जो इतिहास की धारा से अलग रही है, लेकिन जो पुरानी कथाओं में जीवित है, और पूर्वोत्तर पहाड़ों के गहरे दर्रों के बीच से रास्ता बनाकर हिंदुस्तान में आती है और

फिर शांतिपूर्वक और मनोहारी प्रवाह के साथ पहाड़ों और जंगलों के बीच के भाग से बहती है जमुना जिसके नाम के साथ कृष्ण के रास-नृत्य और क्रीड़ा की अनेक दंत-कथाएं जुड़ी हुई हैं और गंगा जिससे बढ़कर हिंदुस्तान की कोई दूसरी नदी नहीं जिसने हिंदुस्तान के हृदय को मोह लिया है और जो इतिहास के आरंभ से न जाने कितने करोड़ लोगों को अपने तट पर बुला चुकी है। गंगा की उसके उद्गम से लेकर सागर में मिलने तक की कहानी पुराने जमाने से लेकर आजतक की हिंदुस्तान की संस्कृति और सभ्यता की साम्राज्यों के उठने की और नष्ट होने की विशाल और शानदार नगरों की आदमी के साहस और साधना की जिंदगी की पूर्णता की और साथ-ही-साथ त्याग और वैराग्य की अच्छे और बुरे दिनों की विकास और ह्रास की जीवन और मृत्यु की कहानी है।

मैंने अजंता एलोरा एलीफेंटा और दूसरी जगहों के स्मारकों खंडहरों पुरानी मूर्तियों और दीवारों पर बनी चित्रकारी को देखा और आगरा और दिल्ली की बाद के जमाने की इमारतें भी देखीं जिनके एक-एक पत्थर हिंदुस्तान के गुजरे हुए वक्त की कहानी कहते हैं।

अपने ही शहर, इलाहाबाद में या हरिद्वार के स्नानों में या कुंभ मेले में मैं जाता और देखता कि वहां लाखों आदमी गंगा में नहाने के लिए आते हैं उसी तरह, जिस तरह कि उनके पुरखे सारे हिंदुस्तान से हजारों बरस पहले से आते रहे हैं। चीनी यात्रियों के और औरों के तेरह सौ साल पहले के इन मेलों के बयानों की याद करता। उस समय भी ये मेले बड़े प्राचीन माने जाते थे और कब से इनका आरंभ हुआ यह कहा नहीं जा सकता। मैंने सोचा यह भी कितना गहरा विश्वास है जो हमारे देश के लोगों को अनगिनत पीढ़ियों से इस मशहूर नदी की ओर खींचता रहा है।

मेरी इन यात्राओं ने और उनके साथ वे सभी बातें थीं जिन्हें मैंने पढ़ रखा था मुझे बीते हुए युग की झांकी दिखाई। अबतक जो एक कोरी दिमागी जानकारी थी उसमें दिली कद्रदानी शामिल हुई और रफ्ता-रफ्ता हिंदुस्तान की मेरी दिमागी तस्वीर में असलियत की जान पड़ने लगी और मुझे अपने पुरखों की भूमि जीते-जागते लोगों से बसी हुई दिखाई पड़ी—ऐसे लोगों से बसी हुई, जो हंसते भी थे और रोते भी थे जो मुहब्बत करना जानते थे और दुख सहना भी और उनमें ऐसे थे जो जिंदगी का अनुभव रखनेवाले और उसे समझनेवाले थे और उन्होंने अपनी बुद्धि के जरिये एक ऐसी इमारत तैयार की थी जिसने हिंदुस्तान को एक तहजीबी पायदारी दी और वह हजारों साल तक कायम रही। इस गुजरे हुए जमाने की

सैकड़ों बीती-जागती तस्वीरें हमारे दिमाग में फिर रही थीं और जब मैं किसी खास जगह जाता जिससे उनका ताल्लुक होता तो वे मेरे सामने आ जातीं। बनारस के पास सारनाथ में मैं बुद्ध को अपना पहला उपदेश देते हुए क़रीब-क़रीब देख सका और उनके वे शब्द जो लिखे जा चुके हैं, ढाई हज़ार साल बाद एक दूर की प्रतिध्वनि की तरह सुनाई दिये। अशोक की लाटें जिन पर लेख खुदे हुए हैं अपनी शानदार भाषा में एक ऐसे आदमी का हाल बताती हैं, जो अगरचे वह बादशाह था फिर भी किसी भी राजा या बादशाह से ऊंची हैसियत रखता था। फ़तहपुर-सीकरी में अकबर, अपनी सल्तनत की शान को भूलकर, सभी मज़हबों के आलिमों से कुछ नई बात सीखने और इन्सान की हमेशा-हमेशा की पहेली का हल पाने की ग़रज़ से बहस करने बैठता।

इस तरह रफ़्ता-रफ़्ता हिंदुस्तान के इतिहास का शानदार मन्ज़र सामने आता था और इसमें अच्छे दिन और बुरे दिन जीत और हार, दोनों ही दिखाई देते थे। पांच हज़ार साल के इतिहास हमलों और उथल-पुथल के बीच क़ायम रहनेवाली इस संस्कृति की परंपरा में मुझे कुछ अनोखापन जान पड़ा—उस परंपरा में जो आम लोगों में फैली हुई थी और उन पर गहरा असर डाल रही थी। सिर्फ़ चीन ऐसा मुल्क है जहां ऐसी अटूट परंपरा और तहज़ीबी ज़िन्दगी दिखाई देती है। फिर गुज़रे हुए ज़माने की यह विशाल तस्वीर धीरे-धीरे मौजूदा ज़माने की बदक़िस्मती में बदल जाती है जबकि हिंदुस्तान अपने बीते दिनों के बड़प्पन के बावजूद एक गुलाम मुल्क है और इंग्लिस्तान का पुछल्ला बना हुआ है और सारी दुनिया एक भयानक और विध्वंसकारी लड़ाई के शिकंजे में है और इन्सान को वहशी बनाये हुए है। लेकिन पांच हज़ार बरसों की इस कल्पना ने मुझे एक नई निगाह दी और हाल के ज़माने का बोझ कुछ हलका जान पड़ने लगा। अंग्रेज़ी सरकार की एक सौ बरसों साल की हुकूमत हिंदुस्तान की लंबी कहानी की महज़ एक दुखदाई घटना जान पड़ी। वह फिर संभलने लगा है और इस अध्याय के आख़िरी सफ़े का लिखा जाना शुरू हो गया है। दुनिया भी इस वहशतनाक हालत को पार करेगी और एक नई नींव पर अपना निर्माण करेगी।

## ९ राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता

इस तरह हिंदुस्तान के प्रति मेरी प्रतिक्रिया अक्सर एक भावुक प्रतिक्रिया थी और इसके साथ भी बहुत-सी शर्तें और सीमाएं थीं। यह एक ऐसी प्रतिक्रिया थी जो राष्ट्रीयता की शक्ल अख़्तियार करती है, अगरचे बहुतेरे और लोगों का वास्ता था वे पाबंद करनेवाली शर्तें और सीमाएं मैं र

हासिल थी। मेरे जमाने में हिंदुस्तान में राष्ट्रीयता की भावना का होना एक अनिवार्य चीज थी और है क्योंकि हरएक गुलाम मुल्क के लिए आजादी की ख्वाहिश पहली और सबसे बड़ी ख्वाहिश होती है और हिंदुस्तान में जहां अपनी विशेषता और गुजरे हुए बड़प्पन पर लोगों को इतना नाज है, यह बात दुगनी सही है।

सारी दुनिया में होनेवाली हाल की घटनाओं ने इसे साबित कर दिया है कि यह खयाल गलत है कि अंतर्राष्ट्रीयता और जनता के आंदोलनों के आगे राष्ट्रीयता खत्म हो रही है। सच यह है कि राष्ट्रीयता की भावना लोगों में अब भी एक जोरदार भावना है और इसके साथ परंपरा मिल-जुलकर रहने और सामान्य मकसद की भावनाएं जुड़ी हुई हैं। जबकि बीच के वर्ग के विचारशील लोग रफ्ता-रफ्ता राष्ट्रीयता की भावना से अलग छूट रहे हैं या कम-से-कम समझते हैं कि छूट रहे हैं मजदूर पेशा लोगों के और जनता के आंदोलन जो जानबूझकर अंतर्राष्ट्रीयता की नींव पर क़ायम हुए थे अब राष्ट्रीयता की तरफ झुकते आ रहे हैं। और इस युद्ध के जारी होने ने तो सब जगह और सभी को राष्ट्रीयता के जाल में ढकेल दिया है। राष्ट्रीयता की इस मचरज-भरी उठान ने या यों कहिये कि एक नई ही शक्ल में उसे देखने और उसकी अहमियत को जान लेने के कारण से नये-नये मसले खड़े कर दिये हैं या पुराने मसलों की शक्ल बदल दी है। पुरानी और जमी हुई परंपराएं आसानी से हटाई या मिटाई नहीं जा सकतीं नाजुक वक्तों में वे उठ खड़ी होती हैं और लोगों के दिमाग़ों पर छा जाती हैं। और अक्सर, जैसाकि हमने देखा है जानबूझकर इस बात की कोशिश होती है कि उनके जरिये लोगों को काम में लगने के लिए या कुरबानियों के लिए उकसाया जाय। पुरानी परंपराओं को बहुत हद तक कबूल करना पड़ता है और उन्हें नये विचारों और नई हालतों के मुताबिक़ लाने के लिए उनमें हेर-फेर करना पड़ता है। साथ ही नई परंपराओं का क़ायम करना भी जरूरी है। राष्ट्रीयता का आदर्श एक गहरा और मजबूत आदर्श है और यह बात नहीं कि इसका जमाना बीत चुका हो और आगे के लिए इसका महत्त्व न रह गया हो लेकिन और भी आदर्श जैसे अंतर्राष्ट्रीयता और श्रमजीवी वर्ग के आदर्श जो मौजूदा जमाने की असलियतों की बुनियाद पर ज्यादा क़ायम हैं उठ खड़े हुए हैं, और अगर हम दुनिया की कशमकश को बंद कर अमन क़ायम करना चाहते हैं तो हमें इन जुदा-जुदा आदर्शों के बीच एक समझौता क़ायम करना होगा आदमी की आत्मा के लिए राष्ट्रीयता का जो आकर्षण है इसका लिहाज करना पड़ेगा चाहे उसके दायरे को कुछ सीमित ही करना पड़े।

अगर उन देशों में भी जहां नये विचारों और अंतर्राष्ट्रीय ताकतों का जोरदार असर पड़ा है राष्ट्रीयता की भावना इतनी आम है, तो हिंदुस्तान के लोगों के दिमागों पर उनका कितना ज्यादा असर होना लाजिमी है। कभी-कभी हमसे कहा जाता है कि हमारी राष्ट्रीयता इस बात की निशानी है कि हम लोग पिछड़े हुए लोग हैं और हमारे दिल संकुचित हैं। जो लोग हमसे इस तरह की बातें करते हैं शायद उनका ख्याल है कि अगर हम अंग्रेजी सल्तनत या कामनवेल्थ के भीतर एक छोटे हिस्सेदार की हैसियत कबूल कर लें तो सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता की भावना की जीत होगी। वे यह समझते नहीं दिखाई पड़ते कि इस खास किस्म की और महज नाम की अंतर्राष्ट्रीयता एक संकुचित अंग्रेजी राष्ट्रीयता का फैलाव-भर है, और अगर हममें हिंदुस्तान में अंग्रेजी राज्य के बे नतीजे न भी देखे होते जो हमने देख लिये हैं तो भी यह हमें पसंद नहीं आ सकती थी। फिर भी राष्ट्रीयता की भावना चाहे कितनी ही गहरी हो सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता को कबूल करने में और संसार-व्यापी संगठन और राष्ट्रीय संगठन के बीच मेल कराने बल्कि राष्ट्रीय संगठन को संसार-व्यापी संगठन के मातहत रखने के मामले में हिंदुस्तान बहुत-सी और क़ौमों के मुकाबले में आगे बढ़ गया है।

## ३ *हिंदुस्तान की ताक़त और कमज़ोरी*

हिंदुस्तान की ताक़त और उसके ह्रास या उतार के कारणों की खोज एक लंबी और टेढ़ी खोज है। फिर भी इस उतार के कारण काफ़ी ज़ाहिर हैं। तकनीक की दौड़ में वह पीछे पड़ गया और यूरोप जो बहुत ज़माने से कई बातों में पिछड़ा हुआ था तकनीकी तरक्की में नेता बन बैठा। तकनीक की इस तरक्की के पीछे विज्ञान की भावना थी और थी एक बुदबुदाती हुई ज़िंदगी जिसने अपने को बहुत-से क्षेत्रों में और खोज की साहसी यात्राओं में ज़ाहिर किया था। नई तकनीक की जानकारी ने यूरोप के देशों की फ़ौजी ताक़त को बहुत बढ़ाया और उनके लिए यह मुमकिन हो गया कि पूरब में फैल कर वे वहां के मुल्कों पर कब्ज़ा कर सकें। यह सिर्फ़ हिंदुस्तान की नहीं बल्कि सारे एशिया की कहानी है।

ऐसा हुआ कैसे यह बता सकना ज़रा मुश्किल है क्योंकि दिमाग़ी फुर्ती में और यंत्रों के हुनर में पुराने ज़माने में हिंदुस्तानी पिछड़े न थे। ज्यों-ज्यों सदियां गुज़रती हैं हम इस हुनर का रफ़्ता-रफ़्ता उतार देखते हैं। ज़िंदगी और बड़े-बड़े कारनामों के लिए उमंग घट जाती है रचनात्मक शक्ति का लोप होता है और उसकी जगह पर नक़्क़ाली आ जाती है। जहां विजयी और इन्क़लाबी विचारों ने क़ुदरत और दुनिया के राज़ों को भेदने की कोशिशें

की थी जहां अब तफ़्सीर लिखनेवाले ... ; टीकाकार अपनी टीकाओं और शरहों को लेकर आते हैं। शानदार कला और मूर्तियों की जगह पर अब हमें मिलते हैं पेचीदा खुदाई के काम जिनमें विस्तार तो बहुत है, लेकिन कल्पना या दस्तकारी की शान नहीं दिखाई देती है। भाषा की शक्ति संपन्नता और पुर-ज़ोर सादगी जाती रहती है और उनकी जगह बहुत संवारी हुई और जटिल साहित्यिक रचनाएं ले लेती हैं। वह जोशीली ज़िंदगी और साहस के लिए उमंग जिसके बूते पर लोग दूर-दराज़ के मुल्कों में हिंदुस्तानी संस्कृति के क़ायम करने की योजना किया करते थे एक संकीर्ण कट्टरता बनकर रह जाती है जो समुंदर की यात्रा तक की मनाही कर देती है। जिज्ञासा की तर्कपूर्ण भावना जिसे हम पुराने ज़माने में बराबर पाते हैं और जिसकी वजह से विज्ञान की और भी तरक़्क़ी हो सकती थी तर्कहीनता और अंधविश्वास में बदल जाती है। हिंदुस्तानी ज़िंदगी की धार मंद पड़ जाती है मुर्दा सदियों के बोझ को जैसे-तैसे ढोते हुए लोग मानो गुज़रे हुए ज़माने में ही रहते हैं। गुज़रे हुए ज़माने का भारी बोझ उसे कुचल देता है और उस पर एक तरह की बेहोशी छा जाती है। मानसिक मूढ़ता और शारीरिक थकान की ऐसी हालत में हिंदुस्तान का ह्रास हुआ यह कोई अचरज की बात नहीं। और इस तरह *वह जहां-का-तहां रह गया जबकि दुनिया के और हिस्से आगे बढ़ गये।*

फिर भी यह मुकम्मिल या ठीक-ठीक आने सच्चा नक़्शा नहीं है। अगर बीच में कोई ऐसा लंबा ज़माना आया होता जब ज़ोर जड़ता या गतिहीनता छा गई होती तो बहुत मुमकिन है कि इसका नतीजा यह होता कि गुज़रे हुए ज़माने से हमारा ताल्लुक़ बिलकुल टूट गया होता एक युग का अंत हो जाता और उसके खंडहरों पर कोई नई चीज़ तामीर हो गई होती। इस तरह का विलगाव कभी नहीं हुआ और यक़ीनी तौर पर एक सिलसिला जारी है। साथ ही समय-समय पर पुनर्जागृति की लहरें उठी हैं और इनमें से कुछ बड़ी चमत्कार और देर तक बनी रहनेवाली रही हैं। सदा इस बात की कोशिश दिखाई दी है कि नये का समन्वय पुराने से किया जाय कम-से-कम पुराने के उन हिस्सों से जो इस लायक़ हैं कि उनकी हिफ़ाज़त की जाय। अक्सर यह जो पुराना दिखता है महज़ बाहरी रूपरेखा में पुराना है, एक तरह का प्रतीक है और भीतरी वस्तु बदल गई है। कोई प्रेरणा ऐसी बनी रही है जो लोगों को ऐसी वस्तु के पीछे ले जाती रही है जिसे हासिल करना बाक़ी है और जो हमेशा नये और पुराने के बीच समन्वय क़ायम करने की कोशिश में रही है। यही प्रेरणा और ख़्वाहिश थी जो उन्हें आगे बढ़ाती रही और उन्हें इस क़ाबिल बनाती रही कि पुराने विचारों को न छोड़ते हुए भी नये विचारों

को अपना सकें। जीते-जागते और ज़िंदगी से भरे-पूरे, या कभी-कभी परेशान नींद की बड़बड़ाहट-जैसे इन युगों में क्या कोई ऐसी चीज़ रही है जिसे हिंदुस्तान का स्वप्न कहा जा सके मैं नहीं जानता। हर एक जाति और हर एक क़ौम के लोगों का अपने होनहार के मुताल्लिक़ कोई विश्वास या कल्पना रही है और शायद हर एक में यह विश्वास कुछ हद तक उसके हक़ में सच्चा भी है। हिंदुस्तानी होने के नाते खुद मुझ पर इस कल्पना या असलियत का प्रभाव रहा है कि हिंदुस्तान को किसी एक मक़सद को पूरा करना है। मैं समझता हूं कि जिस वस्तु में सैकड़ों पीढ़ियों को निरंतर ढालने की शक्ति रही है, उसने अपनी यह क़ायम रहनेवाली शक्ति शक्ति के किसी गहरे कुएं से हासिल की होगी और उसमें यह सामर्थ्य होगी कि इसे हर युग में नई कर ले।

क्या शक्ति का ऐसा कोई कुआं है? और अगर है तो क्या वह सूख चुका है या उसमें ऐसे छिपे हुए सोते हैं, जिनसे वह अपने को बराबर भरता रहता है? आज का क्या हाल है? क्या कोई सोते अब भी जारी हैं जिनसे अपने को तरो-ताज़ा किया जा सके और नई ताक़त हासिल की जा सके? हमारी क़ौम एक पुरानी क़ौम है या यों कहिये कि बहुत-सी क़ौमों का एक अजीब मजमुआ है और हमारी क़ौमी यादें हमें उस ज़माने तक पहुंचाती हैं जबकि इतिहास का आरंभ हुआ था। क्या हमारा वक़्त पूरा हो चुका और हम अपने वजूद की शाम तक पहुंच गये हैं और किसी तरह चैन और नींद हासिल हो इस ख्वाहिश में बूढ़ों अपाहिजों और रचना-शक्ति-हीन लोगों की तरह वक़्त टेरते जा रहे हैं?

कोई क़ौम कोई जाति ऐसी नहीं जो तब्दील न होती रहती हो। बराबर वह औरों में घुलती-मिलती और बदलती रहती है। ऐसा हो सकता है कि वह क़रीब-क़रीब मुर्दा दिखाई दे और फिर इस तरह उठ खड़ी हो जैसे कोई नई जाति या पुरानी का नया रूप हो। पुराने और नये लोगों में बिलकुल ताल्लुक़ टूट सकता है या यह भी हो सकता है कि विचार और आदर्शों की नई और मज़बूत कड़ियां उन्हें जोड़ती रहें।

इतिहास में न जाने कितनी ऐसी मिसालें हैं कि पुरानी और अच्छी तरह से क़ायम तहज़ीबें रफ़्ता-रफ़्ता या यकायक मिट गई हैं और उनकी जगह नई और शक्तिशाली तहज़ीबों ने ले ली है। या यह कोई जीवनी-शक्ति है ताक़त का कोई भीतरी सोता है जो किसी तहज़ीब या क़ौम को ज़िंदगी देता रहता है और जिसके बग़ैर सारी कोशिशें बेकार हैं और ऐसी हैं, जैसे कोई बूढ़ा आदमी किसी युवक का अभिनय कर रहा हो?

आज की दुनिया के लोगों में मैंने तीन में इस जीवनी-शक्ति का अनुमान किया है—अमरीकी रूसी और चीनी लोगों में और इनका एक अजीब मेल है। अमरीका के लोग बावजूद इसके कि उनकी जड़ें पुरानी दुनिया में मिलती हैं नये लोग हैं और उनकी नई क़ौम है और इसमें शक नहीं कि वे पुरानी क़ौमों के बोझों और जटिल विचारों से बचे हुए हैं और उनका इस दर्जे का उत्साह आसानी से समझ में आ जाता है। कनाडा आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के लोगों की भी यही दशा है। वे सभी बहुत-कुछ पुरानी दुनिया से अलग-थलग हैं और एक नई ज़िंदगी उनके सामने है।

रूसी नये लोग नहीं हैं फिर भी उन्होंने बीते हुए युग से पूरी तरह से अपना नाता तोड़ लिया है, उसी तरह जैसे मौत नाता तोड़ देती है। उनका नया जन्म हुआ है—इस रूप में कि उसकी इतिहास में कोई मिसाल नहीं। रूसी फिर जवान हो गये हैं और उनमें एक अद्भुत शक्ति और स्फूर्ति आ गई है। वे अपनी कुछ पुरानी जड़ों को खोजने लगे हैं, लेकिन व्यवहार की दृष्टि से वे नये लोग हैं और उनकी एक नई क़ौम और एक नई तहज़ीब है।

रूस की मिसाल यह दिखाती है कि अगर कोई क़ौम पूरी-पूरी क़ीमत चुकाने के लिए और जनता की दबी हुई ताक़त को उकसाने के लिए तैयार हो तो वह किस तरह फिर से अपने में नई शक्ति पैदा कर सकती है। शायद उसकी भयानकता और डरावनेपन के बावजूद इस युद्ध का यह नतीजा हो कि जो जातियाँ विनाश से बच सकें वे नई ज़िंदगी हासिल कर लें।

चीनी लोग इन सबसे अलग हैं। उनकी कोई नई क़ौम नहीं न उन्हें ऊपर से लेकर नीचे तक परिवर्तन का धक्का सहना पड़ा है। यह सही है कि सात साल की खूँख्वार लड़ाई ने उन्हें बदल दिया है। कहाँतक यह इस युद्ध का नतीजा है या दूसरे स्थायी कारणों का या दोनों का मिला-जुला हुआ मैं नहीं जानता। लेकिन चीनी लोगों की जीवनी-शक्ति मुझे हैरत में डाल देती है। मैं इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि कोई क़ौम जिसकी नींव इतनी मज़बूत हो मर सकती है।

जो जीवनी-शक्ति मैंने चीन में देखी वैसी ही कुछ मैंने कभी-कभी हिंदुस्तान के लोगों में महसूस की है। ऐसा हमेशा नहीं हुआ है और इन हालत में मेरे लिए तटस्थ होकर विचार करना मुश्किल है। शायद मेरी ख्वाहिशें मेरे विचारों को टेढ़ी-मेढ़ी शक्ल दे देती हैं लेकिन हिंदुस्तान के लोगों के बीच घूमते-फिरते हुए मैं बराबर इस चीज़ की तलाश में रहा हूँ। अगर हिंदुस्तानियों में यह जीवनी-शक्ति है, तो उनका कुछ नहीं बिगड़ा है वे अपना काम पूरा करके रहेंगे। अगर उनमें इसकी कमी है तो हमारी

सारी राजनैतिक कोशिशें और हमारे महज अपने को भुलाने में डालने वाली चीजें हैं और ये हमें बहुत दूर न ले जा सकेंगी। मेरी दिलचस्पी इस बात में नहीं है कि हम कोई ऐसी राजनैतिक व्यवस्था पैदा करें, जिससे हम लोग अपना काम कमो-बेश पहले-जैसा महज कुछ ज्यादा अच्छी तरह चला सकें। मैंने अनुभव किया है कि हमारे लोगों में एक दबी हुई शक्ति और योग्यता का बड़ा भंडार है और मैं चाहता हूं कि यह खुल जाये और हिंदुस्तानी अपने में नये जोश और नई फुर्ती का अनुभव करें। हिंदुस्तान ऐसा मुल्क है कि वह दुनिया में दूसरे दर्जे का काम नहीं कर सकता। या तो वह बहुत बड़ा काम करेगा या उसकी कोई पूछ न होगी। बीच की कोई हालत मेरे लिए कशिश नहीं रखती। न मैं यही समझता हूं कि बीच की कोई हालत असली सूरत रख सकती है।

हिंदुस्तान की आजादी के लिए पिछली चौथाई सदी की लड़ाई और अंग्रेजी सरकार से मोर्चा लेने में मेरे मन में और बहुत-से और लोगों के मन में जो ख्वाहिश रही है, वह इसकी जीवनी-शक्ति को फिर से जगाने की ख्वाहिश रही है। हमने समझा कि कोशिशों और खुशी-खुशी उठाई गई तकलीफों और कुरबानियों के जरिये, खतरे और जोखिम का सामना करते हुए, जिस बात को हम बुरी और बेजा समझते हैं उसे बरदाश्त करने से इन्कार करके हम हिंदुस्तान में उत्साह पैदा करेंगे और उस लंबी नींद से जगायेंगे। अगरचे हम हिंदुस्तान की अंग्रेजी हुकूमत से बराबर मोर्चा लेते रहे, हमारी आंखें हमेशा अपने लोगों की तरफ रही हैं। राजनैतिक लड़ने की कीमत इससे ज्यादा न थी कि वह हमारे इस खास मकसद को पूरा कर सके। चूंकि यह मकसद हमारे सामने रहा, हम अक्सर सियासी मैदान में इस तरह पेश आते रहे जिस तरह कोई भी कूटनीति तक अपने को महदूद रखनेवाला राजनीतिज्ञ पेश नहीं आ सकता। और विदेशी और हिंदुस्तानी आलोचक हमारी जिद और हमारी बेवकूफी के तरीके पर ताज्जुब करते रहे। हम लोगों ने बेवकूफी की या नहीं, यह तो आगे का इतिहास ही बता सकेगा। हमने अपने मकसद का ऊंचा रखा और हमारी निगाह दूर की चीजों पर लगी रही। अगर गौर से फायदा उठानेवाली कूटनीति की नजर से देखा जाय तो शायद हमने अक्सर बेवकूफियां की, लेकिन हमने अपनी आबरू न जाने दी, अपने खास मकसद का नुकसान न होने दिया और हमारा यह मकसद सारे हिंदुस्तान के लोगों का, उसकी चेतना और आत्मा को जगाना था और जाहिरी तौर पर उसे अपनी गुलामी और गरीबी की हालत से आगाह करना था। दरअसल हमारा मकसद उसमें एक अंदरूनी ताकत पैदा करना था—

यह जानते हुए कि और बातें खुद-ब-खुद आ जायेंगी। हमें पीढ़ियों की गुलामी और एक जबरदस्त विदेशी ताक़त की अधीनता को मिटा देना था।

## ४ हिंदुस्तान की खोज

अगरचे किताबों और पुराने स्मारकों और गुज़रे हुए ज़माने के सांस्कृतिक कारनामों ने हिंदुस्तान की कुछ जानकारी मुझमें पैदा की, फिर भी उनसे मेरा संतोष न हुआ और जिस बात की मुझे तलाश थी, उसका पता न चला। और वह उनसे मिल भी कैसे सकता था, क्योंकि उनका ताल्लुक गुज़रे हुए ज़माने से था और मैं यह जानने की कोशिश में था कि आया उस गुज़रे हुए ज़माने का हाल के ज़माने से कोई सच्चा ताल्लुक है भी या नहीं? मेरे लिए और मेरे जैसे बहुतों के लिए ज़माना हाल कुछ ऐसा था, जिसमें मध्य-युग की बातों की हद दर्जे की ग़रीबी और दुख की और बीच के वर्गों की कुछ हद तक सतही आधुनिकता की एक अजीब खिचड़ी थी। मैं अपने-जैसे या अपने वर्ग के लोगों को सराहनेवाला नहीं था, लेकिन मुझे उम्मीद थी कि हो-न-हो यही हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त की लड़ाई में आगे आयेंगे। बीच का वर्ग अपने को कैद और जकड़ा हुआ पाता था और खुद बढ़ना और तरक्क़ी करना चाहता था। और चूंकि अंग्रेज़ी हुकूमत के चौखटे में गिरफ्तार रहते हुए उसके लिए ऐसा करना मुमकिन न था, इस हुकूमत के खिलाफ़ उसमें बगावत का एक जज़्बा पैदा हो गया, फिर भी यह जज़्बा उस ढांचे के खिलाफ़ नहीं था, जो हमें पीछे दाब रहा था। दरअसल यह महज़ अंग्रेज़ी बागडोर को बदलकर, उसे क़ायम रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढांचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यह मुमकिन न था कि उसे ललकारे और उखाड़कर फेंक दे।

नई शक्तियों ने सिर उठाया और इन्होंने हमें गांवों की जनता की तरफ़ ढकेला और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखों के सामने एक नये और दूसरे ही हिंदुस्तान की तस्वीर आई, जिसकी मौजूदगी को वे क़रीब-क़रीब भुला चुके थे या जिसे वह ज़्यादा अहमियत नहीं देते थे। यह एक परेशान कर देनेवाला नज़ारा था, न महज़ इस ख़याल से कि हमें हद दर्जे की ग़रीबी और उसके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था, बल्कि इसलिए भी उसने हमारे मूल्यांकन को और उन नतीजों को, जिन पर हम अबतक पहुंचे थे, बिलकुल पलट दिया था। इस तरह हमारे लिए असली हिंदुस्तान की खोज शुरू हुई, और इसने जहां एक तरफ़ हमें बहुत-सी जानकारी हासिल कराई, दूसरी तरफ़ हमारे अंदर एक कश-मकश भी पैदा कर दी। अपनी पुरानी रहन-सहन और तजुरबों के मुताबिक़ हमारी प्रतिक्रियाएं जुदा-जुदा थीं। कुछ लोग तो गांवों की इस बड़ी जनता से पहले से काफ़ी परिचित थे, इसलिए उनमें कोई

सारी राजनैतिक कोशिशों और हगामे महज अपने को भुलावे में डालने-वाली चीजें हैं और ये हमें बहुत दूर न ले जा सकेंगी । मेरी दिलचस्पी इस बात में नहीं है कि हम कोई ऐसी राजनैतिक व्यवस्था पैदा करें, जिससे हम लोग अपना काम कमो-बेश पहले-जैसा महज कुछ ज्यादा अच्छी तरह चला सकें । मैंने अनुभव किया है कि हमारे लोगों में एक दबी हुई शक्ति और मान्यता का बड़ा भंडार है और मैं चाहता हूं कि यह खुल जाये और हिंदुस्तानी अपने में नये जोश और नई फुर्ती का अनुभव करें । हिंदुस्तान ऐसा मुल्क है कि वह दुनिया में दूसरे दर्जे का काम नहीं कर सकता । या तो वह बहुत बड़ा काम करेगा या उसकी कोई पूछ न होगी । बीच की कोई हालत मेरे लिए कशिश नहीं रखती । न मैं यही समझता हूं कि बीच की कोई हालत अमली सूरत रख सकती है ।

हिंदुस्तान की आजादी के लिए पिछली चौथाई सदी की लड़ाई और अंग्रेजी सरकार से मोर्चा लेने में मेरे मन में और बहुत-से और लोगों के मन में जो ख्वाहिश रही है वह इसकी जीवनी-शक्ति को फिर से जगाने की ख्वाहिश रही है । हमने समझा कि कोशिशों और खुशी-खुशी उठाई गई तक-लीफों और कुरबानियों के जरिये खतरे और जोखिम का सामना करते हुए, जिस बात को हम बुरी और बेजा समझते हैं उसे बरदाश्त करने से इन्कार करके हम हिंदुस्तान में उत्साह पैदा करेंगे और उसे लंबी नींद से जगायेंगे । अगरचे हम हिंदुस्तान की अंग्रेजी हुकूमत से बराबर मोर्चा लेते रहे, हमारी आंखें हमेशा अपने लोगों की तरफ रही हैं । राजनैतिक नफ़े की कीमत इससे ज्यादा न थी कि वह हमारे इस खास मकसद को पूरा कर सके । चूंकि यह मकसद हमारे सामने रहा हम अक्सर सियासी मैदान में इस तरह पेश आते रहे जिस तरह कोई भी कूटनीति तक अपने को महदूद रखनेवाला राजनीतिज्ञ पेश नहीं आ सकता । और विदेशी और हिंदुस्तानी आलोचक हमारी जिद और हमारी बेवकूफी के तरीकों पर ताज्जुब करते रहे । हम लोगों ने बेवकूफी की या नहीं यह तो आगे का इतिहास ही बता सकेगा । हमने अपने मकसदों को ऊंचा रखा और हमारी निगाह दूर की चीजों पर लगी रही । अक्सर मौके से फायदा उठानेवाली कूटनीति की नजर से बेजा काम तो शायद हमने अक्सर बेवकूफियां की, लेकिन हमने अपनी आंखों के आगे से अपने खास मकसद को ओझल न होने दिया और हमारा यह मकसद सारे हिंदुस्तान के लोगों का उनकी चेतना और आत्मा को जगाना था और यकीनी तौर पर, उन्हें अपनी गुलामी और गरीबी की हालत से आगाह करना था । दरअसल हमारा मकसद उनमें एक अंदरूनी ताकत पैदा करना था—

यह जानते हुए कि और बातें खुद-ब-खुद आ जायेंगी। हमें पीढ़ियों की गुलामी और एक मग़रूर विदेशी ताक़त की अधीनता को मिटा देना था।

## ४ हिंदुस्तान की खोज

अगरचे किताबों और पुराने स्मारकों और गुज़रे हुए ज़माने के सांस्कृतिक कारनामों ने हिंदुस्तान की कुछ जानकारी मुझमें पैदा की फिर भी उनसे मेरा संतोष न हुआ और जिस बात की मुझे तलाश थी उसका पता न चला। और वह उनसे मिल भी कैसे सकता था क्योंकि उनका ताल्लुक़ गुज़रे हुए ज़माने से था और मैं यह जानने की कोशिश में था कि आया उस गुज़रे हुए ज़माने का हाल के ज़माने से कोई सच्चा ताल्लुक़ है भी या नहीं? मेरे लिए और मेरे जैसे बहुतों के लिए ज़माना हाल कुछ ऐसा था जिसमें मध्य-युग की बातों की हद दर्जे की ग़रीबी और दुख की और बीच के वर्गों की कुछ हद तक सतही आधुनिकता की एक अजीब खिचड़ी थी। मैं अपने-जैसे या अपने वर्ग के लोगों का सराहनेवाला नहीं था लेकिन मुझे उम्मीद थी कि हो-न-हो यही हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त की लड़ाई में आगे आयेंगे। बीच का वर्ग अपने को क़ैद और जकड़ा हुआ पाता था और खुद बढ़ना और तरक़्क़ी करना चाहता था। और चूंकि अंग्रेज़ी हुकूमत के चौखटे में गिरफ़्तार रहते हुए उसके लिए ऐसा करना मुमकिन न था इस हुकूमत के खिलाफ़ उसमें बग़ावत का एक जज़्बा पैदा हो गया फिर भी यह जज़्बा उस ढांचे के खिलाफ़ नहीं था जो हमें पीस डाल रहा था। दरअसल यह महज़ अंग्रेज़ी बागडोर को बदलकर, उसे क़ायम रखना चाहता था। यह बीच का वर्ग खुद इस ढांचे की पैदावार था और इस वर्ग के लिए यह मुमकिन न था कि उसे ललकारे और उखाड़कर फेंक दे।

नई शक्तियों ने सिर उठाया और इन्होंने हमें गांवों की जनता की तरफ़ ढकेला और पहली बार हमारे नौजवान पढ़े-लिखों के सामने एक नये और दूसरे ही हिंदुस्तान की तस्वीर आई, जिसकी मौजूदगी को वे क़रीब-क़रीब भूला चुके थे या जिसे वह ज़्यादा अहमियत नहीं देते थे। वह एक परेशान कर देनेवाला नज़्ज़ारा था न महज़ इस ख़याल से कि हमें हद दर्जे की ग़रीबी और उसके मसलों का बहुत बड़े पैमाने पर सामना करना था बल्कि इसलिए भी उसने हमारे मूल्यांकन को और उन नतीजों को जिन पर हम अबतक पहुंचे थे बिलकुल पलट दिया था। इस तरह हमारे लिए असली हिंदुस्तान की खोज शुरू हुई, और इसने जहां एक तरफ़ हमें बहुत-सी जानकारी हासिल कराई, दूसरी तरफ़ हमारे अंदर एक कश-मकश भी पैदा कर दी। अपनी पुरानी रहन सहन और तजुरबों के मुताबिक़ हमारी प्रतिक्रियाएं जुदा-जुदा थीं। कुछ लोग तो गांवों की इस बड़ी जनता से पहले से काफ़ी परिचित थे इसलिए उनमें कोई

गई सनसनी नहीं पैदा हुई, उन्होंने जैसी भी हालत थी पहले से ही मान रखी थी। लेकिन मेरे लिए यह सचमुच एक खोज की यात्रा साबित हुई, और जहां मैं अपने लोगों की कमियों और कमजोरियों को दुख के साथ समझता था वहीं मुझे हिंदुस्तान के गांवों में रहनेवालों में कुछ ऐसी विशेषता मिली जिसका लफ्जों में बताना कठिन था और जिसने मुझे अपनी तरफ खींचा। यह विशेषता ऐसी थी जिसका मैंने अपने यहां के बीच के वर्ग में बिलकुल अभाव पाया था।

आम जनता की मैं आदर्शवादी कल्पना नहीं करता हूं और जहांतक हो सकता है अमूर्त रूप से उसका खयाल करने से बचता हूं। हिंदुस्तान की जनता इतनी विविध और विशाल होते हुए भी मेरे लिए बड़ी वास्तविक है। मैं उसका खयाल अस्पष्ट गुटों की शकल में नहीं बल्कि व्यक्तियों के रूप में करना चाहता हूं। यह हो सकता है कि चूंकि उनसे मैं बड़ी उम्मीदें नहीं रखता था इसलिए मुझे कोई मायूसी नहीं हुई। जितनी मैंने आशा कर रखी थी उससे मैंने उन्हें बढ़कर ही पाया। मुझे ऐसा जान पड़ा कि उनमें जो मजबूती और अंदरूनी ताकतें हैं उसकी वजह यह है कि वे अपनी पुरानी परंपरा अब भी अपनाये हुए हैं। पिछले दो सौ वर्षों में उन्होंने जो चोटें खाई हैं उसमें इस परंपरा का बहुत-कुछ तो जा चुका है फिर भी कुछ बच रहा है, जिसकी कीमत है साथ ही बहुत-कुछ ऐसा है जो बुरा और निकम्मा है।

उन्नीससौ बीस के बाद के कुछ सालों में मेरा काम ज्यादातर अपने ही सूबे तक महदूद रहा और मैंने संयुक्त प्रांत (यू. पी.) के ४८ जिलों में—गांवों और शहरों में—लंबी यात्राएं कीं और मैं काफी घूमा। यह सूबा बहुत जमाने से हिंदुस्तान का दिल समझा जाता रहा है और कदीम और बीच के दोनों ही जमानों की तहजीबों का मरकज रहा है। यहां कितनी ही संस्कृतियां और कौमें आपस में मिली-जुली हैं यह वह प्रदेश है जहां १८५७ में बगावत की आग भड़की थी और जिसका बाद में बड़ी बेरहमी से दमन हुआ था। रफ्ता-रफ्ता मेरा परिचय उत्तरी और पच्छिमी जिलों के जाटों से हुआ जो धरती के सच्चे बेटे हैं, जो बहादुर और आजाद दिखाई देते हैं और औरों के मुकाबले में खुशहाल हैं। राजपूत किसानों और छोटे जमींदारों से मेरी जान-पहचान हुई और मैंने जाना कि उन्हें अब भी अपनी जाति का और पुरखों का गुमान है—उन्हें भी जिन्होंने इस्लाम मजहब अख्तियार कर लिया है। मैंने गुनी कारीगरों और घरेलू धंधों में लगे हुए लोगों—हिंदुओं और मुसलमानों से परिचय किया और बड़ी तादाद में जान कारी हासिल की उन गरीब रिआया और किसानों से खासकर अवध में और पूरबी जिलों में जो पीढ़ियों के जुल्म और गरीबी से पिस रहे थे और

जिन्हें यह उम्मीद करने की हिम्मत नहीं होती थी कि उनके दिन फिरेंगे लेकिन फिर भी जो आशा लगाये बैठे थे और जिनके मन में विश्वास था।

उन्नीससौ तीस के बाद कई सालों में जब-जब मैं जेल से बाहर रहा और खास तौर से १९३६-३७ के चुनाव के दौरे में मैं हिंदुस्तान में और भी दूर-दूर के हिस्सों में शहरों कस्बों और गांवों में घूमा। बंगाल के देहातों को छोड़कर, जहां बदकिस्मती से मुझे जाने का बहुत कम मौका मिला मैंने हर एक सूबे का दौरा किया और मैं गांवों में पैठा। राजनैतिक और आर्थिक मामलों के मुताल्लिक मैं बोलता और मेरी तकरीरों से यही मालूम होता कि मेरे अंदर मे सब समस्याएं और चुनाव की चर्चा ही भरी हुई है। लेकिन मेरे दिमाग के किसी कोने में कुछ दूसरी ही गहरी और अहम बातें थीं और उनका चुनाव और दूसरी बक्ती सरगर्मियों से क़तई ताल्लुक़ न था। वहां एक दूसरी ही और इससे बड़ी बेकरारी मुझमें पैदा हो गई थी और हिंदुस्तान की ज़मीन और उसके लोग मेरे सामने फैले हुए थे और मैं एक बड़ी खोज की यात्रा पर था। हिंदुस्तान जिसमें इतनी विचित्रता और मोहिनी शक्ति है मुझ पर एक धुन की तरह सवार था और यह धुन बढ़ती ही गई। जितना ही मैं उसे देखता था उतना ही मुझे इस बात का अनुभव होता था कि मेरे लिए या किसीके लिए भी जिन विचारों का वह प्रतीक था उसे समझ पाना कितना कठिन है। उसके बड़े विस्तार से या उसकी विचित्रता से मैं घबड़ाता नहीं था लेकिन उसकी आत्मा की गहराई ऐसी थी जिसकी थाह मैं न पा सकता था।—अगरचे कभी-कभी उसकी झलक मुझे मिल जाती थी। वह किसी क़दीम ताल-पत्र-जैसा था जिस पर विचार और चिंतन की तहें एक-पर-एक जमी हुई थीं और फिर भी किसी बाद की तह ने पहले से आंके हुए लेख को पूरी तरह से मिटाया न था। उनका हमें भान हो चाहे न हो ये सब एक साथ हमारे चेतन और अचेतन दिमाग में मौजूद हैं और ये सब मिलकर हिंदुस्तान के पेचीदा और भेद-भरे व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। वह स्फिंक्स-जैसा चेहरा अपनी भेद-भरी और कभी कभी व्यंग्य-भरी मुसकराहट के साथ सारे हिंदुस्तान में दिखाई देता था। अगरचे ऊपरी ढंग से हमारे देश के लोगों में विविधता और विभिन्नता दिखाई देती थी लेकिन सभी जगह वह समानता और एकरूपता भी मिलती थी जिसने हमारे दिन चाहे जैसे बीते हों हमें एक साथ रखा। हिंदुस्तान की एकता मेरे लिए अब एक ख़याली बात न रह गई। यह एक अंदरूनी एहसास था और मैं इसके बस में आ गया। यह एकता ऐसी मज़बूत थी कि किसी राजनैतिक बिलगाव ने किसी संकट या आफ़त ने इसमें फ़र्क़ न आने दिया।

हिंदुस्तान या किसी भी मुल्क का खयाल आदमी के रूप में करना एक फिजूल-सी बात थी। मैंने ऐसा नहीं किया। मैं यह भी जानता था कि हिंदुस्तान की जिंदगी में कितनी विविधता है और उसमें कितने वर्ग, क़ौमें, धर्म और पंथ हैं और सांस्कृतिक विकास की कितनी अलग-अलग सीढ़ियाँ हैं। फिर भी मैं समझता हूं, किसी देश में, जिसके पीछे इतना लंबा इतिहास हो और जिंदगी की बाबत वहां एक आम नजरिया हो, वहां एक ऐसी भावना पैदा हो जाती है, जो और भेदों के रहते हुए भी समान रूप से वहां रहनेवालों पर अपनी छाप लगा देती है। इस तरह की बात क्या चीन में किसीसे छिप सकती है, वह चाहे किसी दकियानूसी अधिकारी से मिले, चाहे किसी कम्युनिस्ट से, जिसने गुजरे जमाने से अपना ताल्लुक तोड़ रखा है? हिंदुस्तान की इस आत्मा की खोज में मैं लगा रहा—कुतूहलवश नहीं—अगरचे कुतूहल यकीनी तौर पर मौजूद था—बल्कि इसलिए कि मैं समझता था कि इसके जरिये मुझे अपने मुल्क और मुल्क के लोगों को समझने की कोई कुंजी मिल जायेगी और विचार और काम के लिए कोई धागा हाथ लग जायेगा। राजनीति और चुनाव की रोजमर्रा की बातें ऐसी हैं, जिनमें हम जरा-जरा से मामलों पर उत्तेजित हो जाते हैं। लेकिन अगर हम हिंदुस्तान के भविष्य की इमारत तैयार करना चाहते हैं, जो मजबूत और खूबसूरत हो, तो हमें गहरी नींव खोदनी पड़ेगी।

## ५ भारत माता

अक्सर, जब मैं एक जलसे से दूसरे जलसे में जाता हुआ और इस तरह चक्कर काटता रहता होता था, तो इन जलसों में मैं अपने सुननेवालों से अपने इस हिंदुस्तान या भारत की चर्चा करता। भारत एक संस्कृत शब्द है और इस जाति के परंपरागत संस्थापक के नाम से निकला हुआ है। मैं शहरों में ऐसा बहुत कम करता, क्योंकि वहां के सुननेवाले कुछ ज्यादा सयाने थे और उन्हें दूसरे ही किस्म की गिजा की जरूरत थी। लेकिन किसानों से, जिनका नजरिया महदूद था, मैं इस बड़े देश की चर्चा करता, जिसकी आजादी के लिए हम लोग कोशिश कर रहे थे और बताता कि किस तरह देश का एक हिस्सा दूसरे से जुदा होते हुए भी हिंदुस्तान एक था। मैं उन मसलों का जिक्र करता, जो उत्तर से लेकर दक्खिन तक और पूरब से लेकर पच्छिम तक किसानों के लिए यकसां थे, और स्वराज्य का भी जिक्र करता, जो थोड़े लोगों के लिए नहीं, बल्कि सभी के फ़ायदे के लिए हो सकता था। मैं उत्तर-पच्छिम में खैबर के दर्रे से लेकर धुर दक्खिन में कन्याकुमारी तक की अपनी यात्रा का हाल बताता और यह कहता कि सभी जगह किसान मुझसे एक-से सवाल

करते क्योंकि उनकी तकलीफ़ें एक-सी थीं—यानी ग़रीबी कर्ज़ पूंजीपतियों के शिकंजे ज़मींदार, महाजन कड़े लगान और सूद, पुलिस के ज़ुल्म और ये सभी बातें गुंथी हुई थीं उस ढांचे के साथ जिसे एक विदेशी सरकार ने हम पर लाद रखा था और इनसे छुटकारा भी सभी को हासिल करना था। मैंने इस बात की कोशिश की कि लोग सारे हिंदुस्तान के बारे में सोचें और कुछ हद तक इस बड़ी दुनिया के बारे में भी जिसके हम एक जुज़ हैं। मैं अपनी बातचीत में चीन स्पेन अबीसीनिया मध्य-यूरोप मिस्र और पच्छिमी एशिया में होनेवाली कश-मकशों का ज़िक्र भी ले आता। मैं उन्हें सोवियत यूनियन में होनेवाली अचरज-भरी तब्दीलियों का हाल भी बताता और कहता कि अमरीका ने कैसी तरक्की की है। यह काम आसान न था लेकिन जैसा मैंने समझ रखा था वैसा मुश्किल भी न था। इसकी वजह यह थी कि हमारे पुराने महाकाव्यों ने और पुराणों की कथा-कहानियों ने जिन्हें वे खूब जानते थे उन्हें इस देश की कल्पना करा दी थी और हमेशा कुछ लोग ऐसे मिल जाते थे जिन्होंने हमारे बड़े-बड़े तीर्थों की यात्रा कर रखी थी जो हिंदुस्तान के चारों कोनों पर हैं। या हमें पुराने सिपाही मिल जाते जिन्होंने पिछली बड़ी जंग में या और धावों के सिलसिले में विदेशों में नौकरियां की थीं। सन तीस के बाद जो आर्थिक मंदी पैदा हुई थी उसकी वजह से दूसरे मुल्कों के बारे में मेरे हवाले उनकी समझ में आ जाते थे।

कभी ऐसा भी होता कि जब मैं किसी जलसे में पहुंचता,तो मेरा स्वागत "भारत माता की जय!" इस नारे से ज़ोर के साथ किया जाता। मैं लोगों से अचानक पूछ बैठता कि इस नारे से उनका क्या मतलब है? यह भारत माता कौन है जिसकी वे जय चाहते हैं। मेरे सवाल से उन्हें कुतूहल और ताज्जुब होता और फिर कुछ जवाब न बन पड़ने पर वे एक-दूसरे की तरफ़ या मेरी तरफ़ देखने लग जाते। मैं सवाल करता ही रहता। आख़िर एक हट्टे-कट्टे जाट ने जो अनगिनत पीढ़ियों से किसानी करता आया था जवाब दिया कि भारत माता से उनका मतलब धरती से है। कौनसी धरती? ख़ास उनके गांव की धरती या ज़िले की या सूबे की या सारे हिंदुस्तान की धरती से उनका मतलब है? इस तरह सवाल-जवाब चलते रहते यहांतक कि वे ऊबकर मुझसे कहने लगते कि मैं ही बताऊं। मैं इसकी कोशिश करता और बताता कि हिंदुस्तान वह सब कुछ है जिसे उन्होंने समझ रखा है, लेकिन वह इससे भी बहुत ज़्यादा है। हिंदुस्तान के नदी और पहाड़ जंगल और खेत जो हमें अन्न देते हैं ये सभी हमें अज़ीज़ हैं। लेकिन आख़िरकार जिनकी गिनती है वे हैं हिंदुस्तान के लोग उनके और मेरे-जैसे लोग जो इस सारे देश में

फैले हुए हैं। भारत माता दरअसल यही करोड़ों लोग हैं, और "भारत माता की जय!" से मतलब हुआ इन लोगों की जय का। मैं उनसे कहता कि तुम इस भारत माता के अंश हो, एक तरह से तुम ही भारत माता हो और जैसे-जैसे ये विचार उनके मन में बैठते उनकी आंखों में चमक आ जाती, इस तरह, मानो उन्होंने कोई बड़ी खोज कर ली हो।

## ६ हिंदुस्तान की विविधता और एकता

हिंदुस्तान में अपार विविधता है; यह ज़ाहिर-सी चीज़ है; यह इस तरह सतह पर है कि कोई भी इसे देख सकता है। इसका ताल्लुक़ उन भौतिक चीज़ों से भी है जिन्हें हम ऊपर-ऊपर देखते हैं और कुछ दिमाग़ी आदतों और स्वभाव से भी है। बाहरी ढंग से देखें तो उत्तर-पच्छिम के पठान में और दूर दक्खिन के तमिळ में बहुत कम ऐसी बातें हैं, जो आपस में समान कही जायेंगी। नस्ल के लिहाज़ से ये जुदा-जुदा हैं, अगरचे हो सकता है कि दोनों के दरम्यान कुछ ऐसे धागे हों, जो एक-दूसरे को जोड़ रहे हों। सूरत-शक्ल में, खाने-पीने और पोशाक में ये जुदा-जुदा हैं और भाषा में तो हैं ही। उत्तर-पच्छिम के सरहदी सूबे में मध्य-एशिया की हवा पहुंची हुई है, और यहां के रीति-रिवाज हमें हिमालय के परली तरफ़ के मुल्कों की याद दिलाते हैं। पठानों के देहाती नाचों में और रूस के कस्साकों के नाचों में अद्‌भुत समानता है। लेकिन इन भेदों के रहते हुए भी इस बात में शक नहीं हो सकता कि पठान पर हिंदुस्तान की छाप है, उसी तरह जिस तरह कि हम तमिळ पर यह छाप साफ़ तौर पर देखते हैं। इसमें अचरज की कोई बात नहीं, क्योंकि यह सरहदी देश और सच पूछिये तो अफ़्ग़ानिस्तान भी, हज़ारों बरस तक हिंदुस्तान से मिले रहे हैं। अफ़्ग़ानिस्तान में बसनेवाली पुरानी तुर्की क़ौमें, इस्लाम के आने से पहले ज़्यादातर बौद्ध थीं और उससे पहले भी रामायण और महाभारत के ज़माने में हिंदू थीं। सरहदी प्रदेश पुरानी हिंदुस्तानी तहज़ीब का एक केंद्र था और आज भी न जाने कितने मठों और इमारतों के खंडहर हमें वहां दिखाई देते हैं, ख़ास तौर से तक्षशिला के विश्वविद्यालय के, जो दो हज़ार बरस पहले मशहूर हो चुका था और जहां हिंदुस्तान-भर से और मध्य-एशिया से भी विद्यार्थी पढ़ने आते थे। धर्म की तबदीली ने फ़र्क़ ज़रूर पैदा किया था, लेकिन उस हिस्से के लोगों की जो मानसिक पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी, उसे बदलने में वह नाकामयाब रही।

पठान और तमिळ दो अलग-अलग सिरों की मिसालें हैं। और लोग इनके बीच में आते हैं। सभी के रूप जुदा हैं, लेकिन जो बात सबसे बढ़कर है, वह यह है कि सभी पर हिंदुस्तान की अपनी छाप है। यह एक दिलचस्प बात

है कि बंगाली मराठे गुजराती तमिळ आंध्र उड़िया असमी कनड़ मलयाली सिंधी पंजाबी पठान काश्मीरी राजपूत और बीच के लोगों का एक बड़ा टुकड़ा जो हिंदुस्तानी भाषा बोलता है—इन सबने सैकड़ों बरसों से अपनी खासियतें क़ायम रखी हैं, और अब भी इनमें वही गुण या दोष मिलते हैं, जिनका पता परंपरा और पुराने लेखों से मिलता है। फिर भी इन युगों में ये बराबर हिंदुस्तानी बने रहे हैं क़ौमी बपौती के रूप में उन्हें जो कुछ हासिल है और उनके आचार-विचार के आदर्श एक-से हैं। इस बपौती में कुछ ऐसी जीती-जागती बात है, जिसका पता हमें ज़िंदगी के मसलों की तरफ़ उनके फ़िलसफ़े से लगता है। पुराने चीन की तरह पुराना हिंदुस्तान एक अलग दुनिया थी। यहां की संस्कृति और तहज़ीब हर चीज़ को एक खास शक्ल दे देती थी। विदेशी प्रभाव आते और अकसर इस तहज़ीब पर अपना असर डालते थे और बाद में उसीमें समा जाते थे। जहां फूट की प्रवृत्तियां दिखाई दीं वहां समन्वय की कोशिश होने लगती थी। सभ्यता के उषा-काल से लेकर आजतक हिंदुस्तान के दिमाग़ में एकता का एक स्वप्न बराबर रहा है। इस एकता की कल्पना इस तरह से नहीं की गई कि मानो वह बाहर से लागू की गई चीज़ हो या बाहरी बातों या विश्वासों तक में एक-रूपता आ जाय। यह कुछ और ही गहरी चीज़ थी इसके दायरे के भीतर रीति-रिवाजों और विश्वासों की तरफ़ ज्यादा-से-ज्यादा सहिष्णुता बरती गई है और उनके सभी अलग-अलग रूपों को क़बूल किया गया है और उन्हें बढ़ावा दिया गया है।

एक क़ौम के लोगों के अंदर भी वे आपस में चाहे जितने नज़दीक क्यों न हों छोटे या बड़े भेद हमेशा देखने को मिल सकते हैं। किसी गिरोह की एकता का अंदाज़ तब होता है जब हम उसका मुक़ाबला दूसरे क़ौमी गिरोह से करते हैं। अगर दो गिरोह पास-पास के देशों के हुए, तो सरहदी हिस्सों में उनके भेद-भाव कम और नहीं के बराबर मालूम देते हैं। यों भी इस ज़माने में क़ौमियत का यह ख़याल जिससे हम परिचित हैं, मौजूद न था। जागीरदारी धर्म जाति और संस्कृति के रिश्तों को ज्यादा महत्त्व दिया जाता था। फिर भी मैं समझता हूं कि हिंदुस्तान के किसी भी ज़माने में जिसका इतिहास क्रमबद्ध हो चुका है एक हिंदुस्तानी अपने को हिंदुस्तान के किसी भी हिस्से में अजनबी न समझता और वही हिंदुस्तानी किसी भी दूसरे मुल्क में अपने को अजनबी और विदेशी महसूस करता हो यक़ीनी तौर पर वह अपने को उन मुल्कों में कम अजनबी पाता जिन्होंने उसकी तहज़ीब और धर्म को अपना लिया था। हिंदुस्तान से बाहर के मुल्कों में शुरू होनेवाले मज़हबों के

अनुयायी हिंदुस्तान में आने और यहां पर बसने के कुछ ही पीढ़ियों के भीतर साफ़ तौर पर हिंदुस्तानी बन जाते थे जैसे ईसाई, यहूदी पारसी और मुसलमान। ऐसे हिंदुस्तानी जिन्होंने इनमें से किसी एक मज़हब को क़बूल कर लिया एक क्षण के लिए भी इस धर्म-परिवर्तन के कारण ग़ैर-हिंदुस्तानी नहीं हुए। दूसरे मुल्कों में इन्हें हिंदुस्तानी और विदेशी समझा जाता रहा, चाहे इनका धर्म वही रहा हो जो इन दूसरे मुल्कवालों का था।

आज भी जबकि क़ौमियत का ख़याल बहुत बदल गया और तरक़्क़ी कर गया है विदेशों में हिंदुस्तानियों का गिरोह एक अलग गिरोह समझा जाता है और अपने भीतरी भेदों के बावजूद उन्हें एक गिना जाता है। हिंदुस्तानी ईसाई चाहे जहां जाय हिंदुस्तानी ही समझा जाता है और हिंदुस्तानी मुसलमान चाहे तुर्की में हो चाहे ईरान और अरब में सभी मुसलमानी मुल्कों में वह हिंदुस्तानी ही समझा जाता है।

मैं समझता हूं कि हममें से सभी ने अपनी जन्मभूमि की अलग-अलग तस्वीर बना रखी होगी और कोई दो आदमी एक-सा विचार न रखते होंगे। जब मैं हिंदुस्तान के बारे में सोचता हूं तो कई बातों का ध्यान आता है— दूर तक फैले हुए मैदानों का जिन पर अनगिनत छोटे-छोटे गांव बसे हुए हैं, उन शहरों और क़सबों का जहां मैं हो आया हूं बरसात के मौसम के जादू का जो सूखे और जले हुए मैदानों में जिंदगी बिखेरता है और उन्हें अचानक हरियाली और सौंदर्य का और बड़ी और जोर-शोर से बहनेवाली नदियों का प्रदेश बना देता है खैबर के सुनसान दर्रे का हिंदुस्तान के दक्खिनी छोर का और सबसे बढ़कर, बर्फ़ से ढके हुए हिमालय का या काश्मीर में वसंत ऋतु में किसी पहाड़ी घाटी का जिसमें नये-नये फूल फूल रहे हैं और जिसमें पानी के सोते फूटकर गुनगुना रहे हैं। हम लोग अपने पसंद की तस्वीरें बनाते हैं और उनकी हिफ़ाज़त करते हैं। इसलिए बजाय गरम मैदानी हिस्सों के जो ज़्यादा आम हैं मैंने पहाड़ी मंज़र पसंद किया है। दोनों तस्वीरें ठीक हैं क्योंकि हिंदुस्तान उष्ण कटिबंध से लेकर समशीतोष्ण कटिबंध तक और भूमध्य-रेखा से लेकर एशिया के ठंडे प्रदेश तक फैला है।

## ७ हिंदुस्तान की यात्रा

सन १९३६ के आख़िर और १९३७ के शुरू के महीनों में मेरी यात्रा की गति बढ़ी ही नहीं बल्कि प्रचंड हो गई। इस बड़े मुल्क में रात-दिन सफ़र करते हुए, मैंने तूफ़ान की तरह चक्कर लगाया। बराबर चलता ही रहता था मुश्किल से कहीं ठहरता मुश्किल से दम मारता। सभी तरफ़ से ज़रूरी बुलावे थे और वक़्त थोड़ा था क्योंकि आम चुनाव के दिन सिर पर थे और

में दूसरों के चुनावों को जिता देनेवाला ख़याल किया जाता था। मैंने ज़्यादातर मोटर से और कभी-कभी हवाई जहाज और रेल से सफ़र किया। कभी-कभी थोड़ा रास्ता तय करने के लिए मैंने हाथी ऊंट या घोड़े की भी सवारी की या स्टीमबोट, नाव या डोंगी की मदद ली या बाइसिकिल पर सवार हुआ या पैदल भी चल पड़ा। यात्रा के ये जुदा-जुदा और अनोखे साधन बड़े घाटा-मार्गों से हटकर देहात में पैठने के लिए अक्सर ज़रूरी हो जाते हैं। मैं माइक्रोफ़ोन और लाउड-स्पीकर, इन यंत्रों के दोहरे सेट साथ में रखता था। इनके बिना बड़े-बड़े मजमों में बोलना या अपनी आवाज़ की हिफ़ाज़त कर सकना ग़ैर-मुमकिन हो जाता। ये माइक्रोफ़ोन मेरे साथ-साथ न जाने कितनी अनोखी जगहों में घूमे हैं—तिब्बत की सीमा से लेकर बलूचिस्तान की सीमा तक—जहां इस तरह की कोई चीज़ इससे पहले देखी या सुनी नहीं गई थी।

सवेरे से लेकर रात में देर तक एक जगह से दूसरी जगह तक मेरी यात्रा का सिलसिला चलता रहता और बड़े-बड़े मजमे मेरे इंतज़ार में इकट्ठा होते और इन मजमों के बीच में भी मुझे रुकना पड़ता क्योंकि मेरा स्वागत करने के लिए किसान लोग देर से रास्ता सजाये खड़े होते थे। चूंकि मुझे इनकी पहले से ख़बर न होती इसलिए मेरा सारा प्रोग्राम अस्त-व्यस्त हो जाता और बाद को जहां सभाओं का निश्चय हुआ होता वहां मैं देर से पहुंच पाता। फिर भी यह मेरे लिए कैसे मुमकिन था कि इन ग़रीबों की परवाह न करके मैं आगे बढ़ जाऊं? इस तरह देर-पर-देर होती रहती। खुले मदानों में जो सभाएं होतीं उनमें बीच तक पहुंचने में कई मिनट लग जाया करते। एक-एक मिनट की गिनती करना ज़रूरी था और ये मिनट इकट्ठा होकर घंटों के लेते। इस तरह जब शाम होने को आती तो मैं घंटों पिछड़ा हुआ होता। लेकिन भीड़ सब्र के साथ इंतज़ार करती होती, जोकि जाड़े के दिन थे और बिना काफ़ी कपड़ों के लोग खुले मैदानों में इंतज़ार करते हुए कांप जाते थे। इस तरह से हमारा दिन का प्रोग्राम कभी-कभी १८ घंटों का हो जाता और दिन का सफ़र अक्सर आधी रात या इसके बाद ख़त्म होता। एक बार कर्नाटिक में बीच फ़रवरी में यह हालत अपनी हद को पार कर गई। हमने अपना रेकार्ड तोड़ दिया। दिन का प्रोग्राम भारी था और हमें एक बड़े रमणीक पहाड़ी जंगल से होकर गुज़रना था। वहां की सड़कें बहुत अच्छी न थीं और उन पर तेज़ी से सफ़र कर सकना मुमकिन न था। आधी दर्जन तो बड़ी-बड़ी सभाओं में जाना था और बहुतेरी छोटी-छोटी सभाएं थीं। आठ बजे सवेरे से हमारा कार्यक्रम शुरू हुआ। हमारी

आखिरी सभा चार बजे सवेरे हो पाई। इसे सात घंटे पहले खत्म हो जाना चाहिए था और इसके बाद हमें ७० मील की यात्रा करके उस जगह पहुंचना था जहां हमारे आराम करने का इंतज़ाम था। हम ७ बजे वहां पहुंच पाये। रात-दिन में न जाने कितनी सभाएं करने के अलावा हमने ४१५ मील तय किये थे। दिन के काम में २१ घंटे लग गये। एक घंटे के बाद दूसरे दिन का कार्यक्रम शुरू कर देना था।

किसीने यह अंदाज़ लगाने की तकलीफ़ की थी कि इन महीनों में कोई एक करोड़ आदमी उन जलसों में आये जिनमें मैंने व्याख्यान दिये और सड़कों से गुज़रते हुए और कई लाख आदमी मुझसे किसी-न-किसी रूप में संपर्क में आये। सबसे बड़े मजमों में एक लाख आदमी तक मौजूद होते। बीस-बीस हज़ार के जलसे तो काफ़ी आम थे। कभी-कभी छोटे क़स्बों से होकर गुज़रते हुए देखता और यह देखकर ताज्जुब होता कि सारी दूकानें बंद हैं और कसबा करीब-करीब सुनसान है। इसका भेद तब खुलता जब मैं खुली सभा में पहुंचता जहां क़सबे की सारी आबादी मर्द औरतें बच्चे तक सभी मौजूद होते और मेरे पहुंचने का इंतज़ार करते होते।

अपने जिस्म को कायम रखते हुए मैं यह सब कैसे कर पाया यह अब समझ में नहीं आता। जिस्म की बरदाश्त करने की ताक़त की यह गैर-मामूली मिसाल थी। मैं समझता हूं कि रफ़्ता-रफ़्ता जिस्म इस तूफ़ानी ज़िंदगी का आदी हो गया था। दो सभाओं के बीच के वक्त में मैं चलती मोटर में ऐसी गहरी नींद में सो जाता कि जगाना मुश्किल होता लेकिन मुझे उठना ही पड़ता और एक बड़े स्वागत करते हुए मजमे का सामना करना पड़ता। मैंने अपना खाना घटाकर कम-से-कम जितना हो सकता था कर दिया था। कभी-कभी एक वक्त का खाना टाल ही जाता था—खासकर शाम का और इसकी वजह से तबीयत हलकी रहती थी। लेकिन जिस बात ने मुझे क़ायम रखा और शक्ति दी वह थी वह मुहब्बत और उमंग जिसे मैंने सब जगह पाया। मैं इसका आदी हो गया था फिर भी पूरी तरह आदी न हो पाता क्योंकि रोज़ किसी-न-किसी नई अचरज की बात का अनुभव होता ही था।

## ८ आम चुनाव

मेरी यात्रा खास तौर पर उस आम चुनाव के सिलसिले में थी जो सारे हिंदुस्तान में होनेवाला था और जिसका वक्त नज़दीक आ रहा था। लेकिन चुनावों के साथ-साथ आमतौर पर चलनेवाले तरीकों और हथकंडों को मैं नहीं पसंद करता था। जन-सत्तावादी या जमहूरी हुकूमत के लिए चुनाव ज़रूरी और लाज़िमी होता है इसलिए इससे बचत नहीं हो

सकती। फिर भी चुनाव बहुत अक्सर इन्सान के बुरे पहलू को सामने लाते हैं और यह बात नहीं कि हमेशा ज्यादा अच्छे उम्मीदवार की ही जीत होती हो। संवेदनशील लोग और वे लोग जो अपने को आगे बढ़ाने के लिए बहुत-से चालू हथकंडे अख्तियार नहीं कर सकते बाटे में रहते हैं इसलिए वे इस झगड़े से बचना चाहते हैं। तो क्या प्रजा-सत्ता या जमहूरियत उन्हीं का मैदान है जिनकी जिल्दें मोटी और आवाजें ऊंची होती हैं और जिनका ईमान लचीला होता है?

चुनाव की ये बुराइयां खासतौर पर वहां ज्यादा फैली होती हैं, जहां निर्वाचकों का समूह छोटा होता है। अगर निर्वाचक-समूह बड़ा हुआ तो इसमें से बहुत-सी बुराइयां दूर हो जाती हैं या कम-से-कम उतनी जाहिर नहीं होतीं। किसी गलत बात को उठाकर या धर्म के नाम पर (जैसा हमने बाद में देखा) बड़े-से-बड़े निर्वाचक-समूह के बहक जाने की संभावना होती है लेकिन बड़े निर्वाचक-समूह में बहुत-सी सन्तुलन करनेवाली बातें होती हैं जिनकी वजह से भद्दे ढंग की बुराइयां कम हो जाती हैं। मेरे तजुरबे ने मेरे इस यकीन को मजबूत कर दिया है कि मताधिकार व्यापक-से-व्यापक होना अच्छा होता है। इस बड़े निर्वाचक-समूह में मेरा उस महदूद निर्वाचक-समूह के मुकाबले में ज्यादा यकीन है जो हैसियत या शिक्षा की बुनियाद पर तैयार किया जाता है। हैसियत का आधार हर हालत में बुरा है। जहां तक तालीम का आधार है यह जाहिर है कि तालीम अच्छी और जरूरी चीज है। लेकिन हल्के दर्जे के पढ़े-लिखे या थोड़े पढ़े आदमी में मैंने कोई ऐसी बात नहीं पाई है जिससे उसकी राय को एक अनपढ़ मगर आम समझ रखनेवाले किसान की राय पर तरजीह दी जाय। हर हालत में जबकि खास सवाल किसानों से ताल्लुक रखते हैं तब उनकी राय ज्यादा महत्व की होगी। मेरा यकीन है कि सभी बालिगों को वे मर्द हों या औरत चुनने के अख्तियार होने चाहिएं, और अगरचे मैं समझता हूं कि इस रास्ते में दिक्कतें हैं फिर भी मुझे यकीन है कि इसके खिलाफ हिंदुस्तान में जो आवाज बुलंद की जाती है उसमें ज्यादा दम नहीं और इसके पीछे उन लोगों का खौफ है जिन्हें खास हक हासिल है।

१९३७ का सूबे की असेंबलियों के लिए चुनाव इस सीमित मताधिकार की बिनाह पर हुआ था और आम जनता के कुल १२ फी सदी लोगों को चुनाव का अधिकार मिला था। लेकिन इसे भी पिछले चुनावों के मुकाबले में बड़ी तरक्की समझना चाहिए और रियासतों को अलग कर दिया जाय तो तीन करोड़ लोगों को मत देने का हक हासिल था। इन चुनावों का क्षेत्र

बहुत बड़ा था और रियासतों को छोड़कर सारे हिंदुस्तान में फैला था। हर एक सूबे को अपनी असेंबली या विधान-सभा के लिए चुनाव करना था और ज्यादातर सूबों में दो सदन थे इसलिए दोहरे चुनाव होते थे। उम्मीदवारों की तादाद कई हजार तक पहुंच गई थी।

इन चुनावों की तरफ मेरा और कुछ हद तक ज्यादातर कांग्रेसवालों का नजरिया आम नजरिये से जुदा था। मैं खासी तौर पर उम्मीदवारों की फ़िक्र नहीं करता था बल्कि सारे मुल्क में ऐसी फ़िज़ा पैदा करना चाहता था कि जो हमारे आजादी के इस राष्ट्रीय आंदोलन के मुआफ़िक हो जिसकी कांग्रेस प्रतिनिधि थी और उस कार्यक्रम की तरफ़दारी में हो, जिसको हमारे चुनाव के ऐलानों में बताया गया था। मैंने अनुभव किया कि अगर हम इस काम में कामयाब हुए, तो सभी बातें खुद-ब-खुद ठीक होकर रहेंगी और अगर नाकामयाब हुए तो इससे कुछ खास फ़र्क नहीं पड़ता कि कोई खास उम्मीदवार हारा या जीता।

मेरा मकसद लोगों में एक खास तरह के विचार पैदा करना था। उम्मीदवारों की मैं शायद ही चर्चा करता सिवाय इस रूप में कि वे हमारे उद्देश्यों के अलमबरदार हैं। उनमें से मैं बहुतों को जानता था लेकिन बहुतों को मैं जाती तौर पर बिल्कुल नहीं जानता था और इसकी जरूरत नहीं समझता था कि अपने दिमाग पर हजारों नामों का बोझ लादा जाय। मैं कांग्रेस के नाम पर, हिंदुस्तान की आजादी के नाम पर और आजादी की लड़ाई के नाम पर वोट मांगता था। मैं कोई वादे नहीं करता था सिवाय इसके कि जबतक आजादी न हासिल हो जायगी तबतक लड़ाई बराबर जारी रहेगी। मैं लोगों से कहता था कि हमारे लिए उसी हालत में वोट दो, जब तुम हमारे मकसद और प्रोग्राम को समझ लो और उसके मुताबिक अमल करने को तैयार हो नहीं तो हमें वोट न दो। हमें झूठे वोटों की जरूरत नहीं थी और न महज इस वजह से किसीके लिए वोट चाहते थे कि जनता उन्हें पसंद करती है। वोट और चुनाव के बल पर हम बहुत आगे न बढ़ सकेंगे। एक लंबी यात्रा के ये केवल छोटे-छोटे कदम थे और हमने बताया कि बिना समझे-बूझे और वोट का महत्त्व जाने और बाद को भी काम के लिए तैयार हुए, वोट देना हमें धोखा देना होगा और मुल्क के प्रति एक झूठा अमल करना होगा। अगरचे हम चाहते थे कि अच्छे और सच्चे लोग हमारे नुमाइंदे बनें फिर भी व्यक्तियों का खास महत्त्व न था महत्त्व था हमारे मकसद का उस संगठन का जिसने इस मकसद को अपनाया था और उस कौम का जिसकी आजादी का हमने बीड़ा उठाया

था। मैं इस आज़ादी की व्याख्या करता और बताता कि मुल्क के करोड़ों लोगों पर इसका क्या असर होगा। हम गोरे रंग के मालिकों की जगह पर भूरे रंग के मालिकों को लाकर नहीं बिठाना चाहते थे। हम जनता की सच्ची हुकूमत चाहते थे ऐसी जो जनता द्वारा और जनता के हक़ में हो और जिससे हमारी ग़रीबी और मुसीबतें दूर हो जायें।

मेरे व्याख्यानों की यही टेक होती थी। इसी ग़ैर-ज़ाती तरीक़े पर मैं अपने को चुनाव के दौरे में ठीक-ठीक बिठा पाता था। ख़ास उम्मीदवारों की हार-जीत की मुझे ज़्यादा फ़िक्र न थी। मुझे तो इससे बड़े मामलों की फ़िक्र थी। सच बात तो यह है कि यह तरीक़ा ख़ास उम्मीदवारों की काम याबी के महदूद ज़रिये से भी ज़्यादा कारगर था क्योंकि इस तरह उनके चुनाव का मसला मुल्क की आज़ादी की लड़ाई की ऊंची सतह तक उठकर आ जाता था—उस लड़ाई की सतह पर, जिसमें करोड़ों ग़रीबी के मारे हुए लोग अपनी युग-युग की ग़रीबी का शाप मिटाने की कोशिश में लगे थे। ये विचार बीसियों कांग्रेसवालों ने प्रकट किये और ये आम लोगों तक इस तरह पहुंचे जैसे समुंदर की ज़ोरदार हवा आकर हममें ताज़गी पैदा करती है। इन विचारों ने न जाने कितने चुनाव के गोरखधंधों को उखाड़कर फेंक दिया। मैंने अपने देशवासियों को पहचाना मुझे वे भले मालूम दिये और लाखों निगाहों ने मिलकर मुझे जनता की मनोवृत्ति बताई।

मैं रोज़ ही चुनाव के बारे में तक़रीर करता था लेकिन दरअसल चुनाव की बातें मेरे दिमाग़ में शायद ही जगह पाती रही हों। वे ऊपर ऊपर सतह पर तैरती रहती थीं। और न मेरा ख़याल सिर्फ़ वोट देनेवालों तक ही सीमित था। मैं तो उससे कहीं बड़ी चीज़ के मानी करोड़ों की तादाद में हिंदुस्तान के लोगों के संपर्क में आ रहा था। मेरे पास देने के लिए जो संदेसा था वह क्या मर्द क्या औरत क्या बच्चा—सभी के लिए था—चाहे वे मतदाता हों चाहे न हों। बहुत बड़ी संख्या में जनता से जो शारीरिक और भावों का संपर्क हो रहा था उस अनुभव का जोश मुझ पर ग़ालिब था। यह भावना नहीं होती थी कि हम मानो भीड़ में आ पड़े हैं, बहुत लोगों के बीच में अकेले हैं या भीड़ के जज़्बों के बस में हैं। मेरी आंखें इन हज़ारों आंखों से मिलती थीं। हम एक-दूसरे को इस तरह नहीं देखते थे कि कोई अजनबी हों और पहली ही बार मिल रहे हों। हम एक-दूसरे को पहचान रहे थे अगरचे मैं कह नहीं सकता कि यह पहचान किस बात की थी। जब मैं नमस्कार करता था और मेरे सामने मेरी दो हथेलियां जुड़तीं तो हाथों का एक जंगल-सा

नमस्कार की क्रिया में उठ जाता होता था और निजी मित्रता की मुस्कराहट उनके चेहरों पर खेल जाती थी और एकत्रित जनता के कंठ से अभिवादन का एक स्वर उठकर मानो मुझे भावुकता से अपने गले लगा लेता था। मैं उनसे बातें करता था। मेरी आवाज उन तक वह संदेसा पहुंचाती थी जो मैं उनके लिए लाया था। मुझे यह जानने का कुतूहल होता था कि मेरे शब्दों और उनके पीछे जो खयाल हैं उन्हें वे कहांतक समझ सके हैं। मैं नहीं कह सकता कि जो कुछ मैं कहता था उसे वे समझते थे कि नहीं लेकिन उनकी आंखों में एक गहरी समझदारी का प्रकाश होता था जो मुंह से कहे गये शब्दों से कहीं बढ़कर था।

## ९ जनता की संस्कृति

इस तरह मैं आज की हिंदुस्तान की जनता का मार्मिक नाटक देखता था और अक्सर मैं उन धागों का पता लगा पाता था जो उनकी जिंदगी का गुजरे हुए जमाने से जोड़ रहे थे जबकि उनकी निगाहें आने वाले जमाने की तरफ लगी हुई थीं। मैं पाता था कि तहजीब की एक पृष्ठ-भूमि है जो उनकी जिंदगी पर गहरा असर डाल रही है। यह पृष्ठभूमि साधारण फिलसफे, परंपरा इतिहास पुराण और कल्पित कथाओं के मेल-जोल से तैयार हुई थी और इन विविध अंशों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता था। जो लोग बिलकुल अनपढ़ और अशिक्षित थे उनकी भी यही पृष्ठभूमि थी। अपने पुराने महाकाव्यों रामायण और महाभारत से और दूसरी किताबों से सुगम अनुवादों या संक्षेपों के जरिये जनता अच्छी तरह परिचित थी। एक-एक घटना और उपदेश उनके मन में टंके हुए थे और इस तरह उनके दिमाग भरे-पूरे थे। अनपढ़ देहातियों को भी सैकड़ों पद जबानी याद थे और उनकी बातचीत में इनके या किसी प्राचीन कथा या उपदेश के हवाले आते रहते थे। मुझे इस बात पर अचरज होता था कि गांव के लोग आजकल की साधारण बातों को साहित्यिक लिबास दे देते थे। अगर मेरे दिमाग में लिखे हुए इतिहास और कमोबेश जाने हुए वाक्यों के चित्र भरे हुए थे तो मैंने अनुभव किया कि अनपढ़ किसान के दिमाग में भी एक चित्र-माला थी हां इसका आधार परंपरा पुराण की कथाएं और महाकाव्य के नायकों और नायिकाओं के चरित्र थे। इसमें इतिहास कम था फिर भी चित्र काफी सजीव थे।

मैं उनके जिस्मों और उनकी सूरतों की तरफ देखता और उनके रहने-सहने के ढंग पर गौर करता। उनमें बहुत-सी सूरतें ऐसी थीं जो बातों का असर अम्मर लेनेवाली थीं उनमें हट्टे-कट्टे सीधे और साफ अंगवाले

लोग मिलते और औरतों में अदा और लोच तथा शान और सम्‍तौल होती और बहुत अकसर उनके चेहरों पर उदासी दिखाई पड़ती। आमतौर पर ऊंची जात के लोगों में जिनकी माली हालत दूसरों के मुकाबले में कुछ अच्छी होती अच्छे शरीरवाले मिलते। कभी-कभी जब मैं किसी देहाती सड़क या गांव से होकर गुजरता तो मुझे किसी अच्छे बदन के आदमी को देखकर या रूपवाली स्त्री को देखकर अचरज होता और मुझे पुराने जमाने के दीवालों पर बने चित्रों की याद हो आती। युगों की मुसीबत और मुसीबत के बाद भी हिंदुस्तान में आज ऐसे नमूने किस तरह मिल जाते हैं, इस बात पर मुझे हैरत होती। अच्छी हालत में और अच्छे अवसर मिलने पर ये लोग क्या नहीं कर सकते थे?

गरीबी और गरीबी से उपजी हुई अनगिनत बातें सभी जगह दिखाई पड़ती थीं और इसके हैवानी पंजे के निशान हर एक माथे पर लगे हुए थे। जिंदगी इस तरह कुचल और मरोड़ दी गई थी कि एक पाप बन गई थी और दमन और असुरता की हालत ने बहुतेरी बुराइयां पैदा कर दी थीं। ये बातें देखने में खुशगवार नहीं हो सकती थी फिर भी हिंदुस्तान में दुनियावी हकीकत नहीं थी। लोग जरूरत से ज्यादा भाग्य पर भरोसा करते थे और जैसी भी बीतती उसे कबूल करते थे। साथ ही उनमें एक नरमी और भलमनसी थी जो हजारों साल की तहजीब का नतीजा थी और जिसे सख्त-से-सख्त बदकिस्मती भी नहीं मिटा पाई थी।

## १० दो जीवन

इस तरह और दूसरे तरीकों से भी मैंने प्राचीन और आज के हिंदुस्तान की तलाश की कोशिश की। जिंदा और गुजरी हुई हस्तियां मुझमें खयाल और जज्बे की लहरें पैदा करतीं। उनसे मैं अपने को असर लेने देता। इस न खत्म होनेवाले जुलूस में मिलकर उससे एक हो जाने की मने कोशिश की गोया कुछ वक्त के लिए मैं भी इस जुलूस के बिलकुल पीछे हो लिया और उसके साथ-साथ चलता रहा। इसके बाद मैं अपने को अलग कर लेता और जिस तरह कोई पहाड़ की चोटी पर खड़ा होकर तलहटी की तरफ झांकता है, उस तरह अलग-अलग होकर मैं इसे देखता।

इस लंबी यात्रा का मकसद क्या है? यह न खत्म होनेवाला जुलूस आखिर हमें कहांतक पहुंचायेगा? कभी-कभी मुझ पर थकान का जादू और मोह का जादू दूर-सा हो जाता। तब मैं अपने में एक अलहदगी पैदा करके अपनी बचत करता। रफ्ता-रफ्ता मैंने अपने को इसके लिए तैयार कर लिया था और जो भी अपने ऊपर बीते उसे अहमियत देना छोड़ दिया था। या कम-

से-कम मैंने ऐसी कोशिश की और कुछ हद तक उसमें कामयाब भी रहा—गोकि मुझे ज्यादा कामयाबी मिली नहीं क्योंकि मेरे अंदर जो एक ज्वाला सुलगी है वह सचमुच मुझे अलहदा रहने नहीं दे सकती। अचानक मेरे सब रोक-थाम टूट जाते और मेरी अलहदगी खत्म हो जाती।

लेकिन जो अधूरी-सी कामयाबी मुझे मिली वह बड़ी मददगार साबित हुई। काम में लगे रहते हुए, बीच-बीच में मैं अपने को उससे अलग करके उस पर गौर करता। कभी-कभी मैं घंटा-दो-घंटा वक्त चुराकर और अपने कामों को भूलकर दिमागी चुप्पी हासिल करता और एक क्षण के लिए दूसरी ही जिंदगी बिताने लगता। और इस तरह एक ढंग से ये दो जिंदगियां साथ-साथ चलतीं एक-दूसरे से जुड़ी हुई और अलग भी।

# ४

# हिंदुस्तान की खोज

## १ सिंध-घाटी की सभ्यता

हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने की सबसे पहली तस्वीर हमें सिंध-घाटी की सभ्यता में मिलती है, जिसके पुर-असर खंडहर सिंध में मोहनजोदड़ो में और पश्चिमी पंजाब में हड़प्पा में मिले हैं। यहां पर जो खुदाइयां हुई हैं उन्होंने प्राचीन इतिहास के बारे में हमारे ख़यालों में इन्क़लाब पैदा कर दिया है। बदकिस्मती से इन जगहों में खुदाई का काम शुरू होने के चंद साल बाद ही यह बंद कर दिया गया और पिछले १३-१४ सालों से यहां कोई मार्के का काम नहीं हुआ। काम बंद किये जाने की वजह शुरू में तो यह थी कि सन् १ के बाद के कुछ सालों में बड़ी आर्थिक मंदी फैल गई थी। बताया गया कि पैसे की कमी है अगरचे सल्तनत की शान-शौकत और दिखावे में कभी इस कमी ने रुकावट न डाली। दूसरे लोक-व्यापी युद्ध ने सारा काम ही बंद कर दिया यहांतक कि जो खुदाई हो चुकी थी उसकी ठीक-ठीक हिफ़ाज़त का भी ध्यान न रखा गया। मैं मोहनजोदड़ो दो बार गया हूं—१९३१ में और १९३६ में। अपनी दूसरी यात्रा में मैंने देखा कि बरसात ने और खुश्क रेगिस्तानी हवा ने बहुत-सी इमारतों को जिनकी खुदाई हो चुकी है अभी ही नुकसान पहुंचा दिया है। बालू और मिट्टी के अंदर पांच हज़ार बरसों तक हिफ़ाज़त से पड़े रहने के बाद खुली हवा के असर से वे बड़ी तेज़ी से नष्ट हो रही थीं और क़दीम ज़माने के इन मूल्यवान खंडहरों के बचाने की कोई कोशिश नहीं हो रही थी। पुरातत्त्व विभाग के अफ़सर ने जिसके सिपुर्द यहां की देखरेख थी शिकायत की कि खुदाई में निकली इमारतों की हिफ़ाज़त के लिए उसे न मदद या सामान दिया जाता है न पैसे दिये जाते हैं। इन पिछले आठ बरसों में क्या हुआ है इसकी मुझे जानकारी नहीं लेकिन मेरा ख़याल है कि बरबादी जारी रही है और कुछ और सालों में मोहनजोदड़ो को अपना रंग-रूप देखने को न मिलेगा।

यह एक ऐसी दुर्घटना है जिसके लिए कोई बहाना नहीं सुना जा सकता और कुछ ऐसी चीज़ें जो फिर कभी देखने में आ नहीं सकतीं मिट गई होंगी और सिर्फ़ तस्वीरों या बयानों के आधार पर हम जान सकेंगे कि वे क्या थीं।

सिंध घाटी की सभ्यता

सन १९२१ में हड़प्पा की खुदाई के साथ कदीम तहज़ीब का एक नया नक्शा दुनिया के सामने आया। इस नक्शे में वह इलाका दिखाया गया है जहाँ मोहनजोदड़ो-हड़प्पा-तहज़ीब के निशान मिले हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा एक-दूसरे से काफ़ी दूरी पर हैं। इन दो जगहों के खंडहरों की खोज एक इत्तिफ़ाक़ की बात थी। इसमें शक नहीं कि बहुत-से ऐसे मिट्टी में दबे हुए शहर और पुराने ज़माने के आदमियों के कारनामे इन दो जगहों के बीच पड़े होंगे और यह तहज़ीब हिंदुस्तान के बड़े हिस्सों में और यक़ीनी तौर पर उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थी। ऐसा वक्त आ सकता है जबकि हिंदुस्तान के क़दीम ज़माने के ऊपर से परदा उठाने का काम फिर हाथ में लिया जाय और मार्के की खोजें हों। अभी ही इस सभ्यता के निशान हमें इतनी दूर फैली हुई जगहों में मिले हैं, जैसे पच्छिम में काठियावाड़ और पंजाब में अंबाला ज़िले में और ऐसा यक़ीन करने की वजहें हैं कि यह सभ्यता गंगा की घाटी तक फैली हुई थी। इस तरह यह सभ्यता महज़ सिंध-घाटी की सभ्यता के अलावा कुछ और भी थी। मोहनजोदड़ो में मिले हुए लेख अभीतक ठीक-ठीक पढ़े नहीं जा सके हैं।

लेकिन जो भी हम अबतक जान सके हैं वे बड़े महत्त्व की बातें हैं। सिंध-घाटी की सभ्यता जैसा भी हम उसे जान सके हैं एक बड़ी तरक्क़ी यापता सभ्यता थी और उसे इस दर्जे तक पहुंचने में हज़ारों साल लगे होंगे। यह काफ़ी अचरज की बात है कि यह सभ्यता लौकिक और दुनियावी सभ्यता है और अगरचे इसमें मज़हबी अंश भी मौजूद थे वे इस पर हावी न थे। यह भी ज़ाहिर है कि यह सभ्यता हिंदुस्तान के और तहज़ीबी ज़मानों की पूर्व-सूचक थी।

सर जान मार्शल हमें बताते हैं—"मोहनजोदड़ो और हड़प्पा इन दोनों जगहों में एक चीज़ जो साफ़ तौर पर ज़ाहिर होती है और जिसके बारे में कोई धोखा नहीं हो सकता वह यह है कि इन दोनों जगहों में जो सभ्यता हमारे सामने आई है वह कोई इब्तदाई सभ्यता नहीं है बल्कि ऐसी है जो उस समय ही युगों पुरानी पड़ चुकी थी हिंदुस्तान की ज़मीन पर मज़बूत हो चुकी थी और उसके पीछे आदमी का कई हज़ार बरस पुराना कारनामा था। इस तरह अब से मानना पड़ेगा कि ईरान मेसोपोटामिया और मिस्र की तरह हिंदुस्तान उन सबसे प्रमुख प्रदेशों में एक है जहां सभ्यता का आरंभ और विकास हुआ था।" और फिर वह कहते हैं कि 'पंजाब और सिंध में अगर हम हिंदुस्तान के और दूसरे हिस्सों में न भी मानें एक बहुत तरक्क़ीयापता और अद्भुत रूप से आपस में मिलती-जुलती हुई सभ्यता का प्रचार था जो उसी ज़माने की मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यताओं से जुदा होते हुए भी कुछ बातों में उनसे ज़्यादा तरक्क़ी पर थी।

सिंध-घाटी के इन लोगों के उस ज़माने की सुमेर-सभ्यता से बहुत-से संपर्क थे और इस बात का भी सबूत मिलता है कि अक्काद में हिंदुस्तानियों की, संभवतः व्यापारियों की एक बस्ती थी। 'सिंध-घाटी के शहरों की बनी हुई चीज़ें दजला और फ़रात के बाज़ारों में बिकती थीं और उधर सुमेर की कला के कुछ नमूनों, मेसोपोटामिया के सिंगार के सामान और एक बेलन के आकार की मुहर की नक़ल सिंधवालों ने कर ली थी। व्यापार कच्चे माल और विलास की चीज़ों तक महदूद न था। अरब सागर के किनारों से लाई गई मछलियाँ मोहनजोदड़ो की खाने की चीज़ों में शामिल थीं।'[1]

इतने पुराने ज़माने में भी हिंदुस्तान में रुई कपड़ा बनाने के काम में लाई जाती थी। मार्शल सिंध-घाटी की सभ्यता का समकालीन मेसोपोटामिया और मिस्र की सभ्यता से मिलान और मुक़ाबला करते हैं — "इस तरह कुछ ख़ास-ख़ास बातें ये हैं कि इस ज़माने में रुई का कपड़ा बनाने के काम में इस्तेमाल सिर्फ़ हिंदुस्तान में होता था और पच्छिमी दुनिया में २ या ३ साल बाद तक यह नहीं फैला। इसके अलावा मिस्र या मेसोपोटामिया या पच्छिमी एशिया में कहीं भी हमें वैसे अच्छे बने हुए हम्माम या कुशादा घर नहीं मिलते जैसे कि मोहनजोदड़ो के शहरी अपने इस्तेमाल में लाते थे। उन मुल्कों में देवताओं के शानदार मंदिरों और राजाओं के लिए महलों और मक़बरों के बनाने पर ज़्यादा ध्यान दिया जाता था और धन ख़र्च किया जाता था। लेकिन जान पड़ता है कि जनता को मिट्टी की छोटी झोंपड़ियों से संतोष करना पड़ता था। सिंध-घाटी में इससे उलटी ही तस्वीर दिखाई देती है और अच्छी-से-अच्छी इमारतें वे मिलती हैं जिनमें नागरिक रहा करते थे। निजी या आम लोगों के लिए खुले हम्मामों का और नालियों के ज़रिये गंदगी निकालने का जो इंतज़ाम हम मोहनजोदड़ो में पाते हैं, वह अपने ढंग का पहला है जो कहीं भी मिलता है। हमें रहने के दो मंज़िले घर भी मिलते हैं जो पकी हुई मिट्टी के बने होते थे और जिनमें हम्माम, चौकीदार के घर, और अलग-अलग बरतनों के रहने के लिए हिस्से होते थे।

मार्शल से जो सिंध-घाटी की सभ्यता के माने हुए विशेषज्ञ हैं और जिन्होंने खुद खुदाई कराई थी, एक और उद्धरण दूँगा। वह कहते हैं— "सिंध-घाटी की कला और धर्म भी उतने ही विचित्र हैं और उन पर एक अपनी ख़ास छाप है। उस ज़माने के दूसरे मुल्कों की हम कोई ऐसी चीज़ नहीं

[1] गॉर्डन चाइल्ड 'ह्वाट हैपेन्ड इन हिस्टरी' (पेलिकन बुक्स) पृ ११२।

जानते जो बैसी के ख़याल से यहां की चीनी मिट्टी की बनी भेड़ों कुत्तों और जानवरों की मूर्तियों से मिलती हो या उन खुदी हुई मुहरों से खास तौर से जिन पर छोटी सींगों के कूबड़वाले बैलों की नक्काशी है और जो बनाने के कौशल और सुडौलपन की दृष्टि से बेमिसाल हैं। न यही मुम किन होगा कि हड़प्पा में पाई गई दो छोटी मूर्तियां का मुकाबला बनावट की सुथराई के ख़याल से किन्हीं और मूर्तियों से कर सकें सिवाय इसके कि जब यूनान की सभ्यता के प्रौढ़ काल के कारनामे देखें। सिंध-घाटी के लोगों के धर्म में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे मिलती हुई बातें हमें और मुल्कों में मिल सकती हैं, और यह बात सभी पूर्व-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के बारे में सच ठहरेगी। लेकिन सब-कुछ लेकर, उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ हिंदुस्तानी है कि आजकल के प्रचलित हिंदू-धर्म से उसका भेद मुश्किल से किया जा सकता है।"

इस तरह से हम देखते हैं कि सिंध-घाटी की सभ्यता ईरान मेसोपोटामिया और मिस्र की उस जमाने की सभ्यताओं के संपर्क में रही है इसके और उनके लोगों में आपस में व्यापार होता रहा है और कुछ बातों में यह उनसे बढ़कर रही है। यह एक शहरी सभ्यता थी जहां के व्यापारी मालदार और असर रखनेवाले लोग थे। सड़कों पर दूकानों की कतारें होतीं और ऐसी इमारतें जो शायद छोटी-छोटी दूकानें थीं और आजकल के हिंदुस्तानी बाजार-जैसी लगती हैं। प्रोफ़ेसर चाइल्ड कहते हैं— 'इससे जाहिरा तौर पर यह नतीजा निकलता है कि सिंध के शहरों के कारीगर बिक्री के लिए सामान तैयार करते थे। इस सामान के विनिमय की सुविधा के लिए समाज ने कोई सिक्कों का चलन और कीमतों की माप स्वीकार की थी या नहीं और अगर की थी तो वह क्या थी इसका ठीक पता नहीं। बहुत-से बड़े और कुशादा मकानों के साथ लगे हुए सुरक्षित गोदामों से पता लगता है कि इन घरों के मालिक लोग सौदागर थे। इन घरों की गिनती और आकार यह बताते हैं कि यहां पर मजबूत और खुशहाल व्यापारियों की बिरादरी थी। 'इन खंडहरों में सोने चांदी कीमती पत्थरों और चीनी मिट्टी के जेवर पिटे हुए तांबे के बरतन धातु के बने औजार और हथियार इतनी बहुतायत से मिले हैं कि अचरज होता है। चाइल्डसाहब यह भी कहते हैं कि "गलियों की सुंदर तरतीब और नालियों की बहुत बढ़िया व्यवस्था और उनकी बराबर सफ़ाई इस बात का संकेत देते हैं कि यहां कोई नियमित शहरी हुकूमत थी और वह अपना काम मुस्तैदी से करती थी। इसकी अमलदारी इतनी काफ़ी मजबूत थी कि बाढ़ों की वजह से बार

बार बनी इमारतों की तैयारी के वक्त भी नगर-निर्माण के और सड़कों की इमारतों के क़ायम रखने के नियमों का पालन होता था। १

सिंध-घाटी की सभ्यता और आज के हिंदुस्तान के बीच की बहुत-सी कड़ियां ग़ायब हैं और ऐसे ज़माने गुज़रे हैं कि जिनके बारे में हमारी जानकारी नहीं के बराबर है। एक ज़माने को दूसरे ज़माने से जोड़नेवाली कड़ियां अकसर ज़ाहिर भी नहीं हैं और इस बावत जाने कितनी घटनाएं घटी हैं और कितनी तब्दीलियां हुई हैं। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि एक सिलसिला क़ायम रहा है और एक सावित जंजीर है जो आज के हिंदुस्तान को उस छः-सात हज़ार साल पुराने ज़माने से जबकि सिंध-घाटी की सभ्यता शायद शुरू हुई थी बांध रही है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की कितनी चीज़ें बसी आती हुई परंपरा की रहन-सहन की लोगों के पूजा-पाठ, कारीगरी यहांतक कि पोशाक के ढंगों की हमें याद दिलाती रहती हैं। इनमें से बहुत-सी बातों ने पश्चिमी एशिया पर प्रभाव डाला था। यह बड़े अचरज की बात है।

यह एक दिलचस्प बात है कि हिंदुस्तान की कहानी के इस उषा-काल में हम उसे एक नन्हें बच्चे के रूप में नहीं देखते हैं बल्कि इस वक्त भी वह अनेक प्रकार से सयाना हो चुका था। वह ज़िंदगी के तरीक़ों से अनजान नहीं है, वह किसी धुंधली और हासिल न होनेवाली दूसरी दुनिया के सपनों में खोया हुआ नहीं है बल्कि उसने ज़िंदगी की कला में रहन-सहन के साधनों में काफ़ी तरक्क़ी कर ली है और न महज़ सुंदर चीज़ों की रचना की है बल्कि आज की सभ्यता के उपयोगी और ख़ास निशानों—अच्छे हम्मामों और नालियों—को भी तैयार किया है।

## २ आर्यों का आना

सिंध-घाटी की सभ्यतावाले ये लोग कौन थे और कहां से आये थे इसका हमें अबतक पता नहीं है। यह बहुत मुमकिन बल्कि संभावित है कि इनकी संस्कृति इसी देश की संस्कृति थी और उसकी जड़ें और शाखाएं दक्खिन हिंदुस्तान तक में मिलती हैं। कुछ विद्वान इन लोगों में और दक्खिन हिंदुस्तान के द्रविड़ों में कौम और संस्कृति की ख़ासतौर पर समानता पाते हैं। और अगर बहुत क़दीम वक्त में हिंदुस्तान में बाहरी लोग आये थे तो इसकी तारीख़ मोहनजोदड़ो से हज़ारों बरस पुरानी है। व्यवहार के विचार से हम उन्हें हिंदुस्तान के ही निवासी मान सकते हैं।

---

१ मार्टेन व्हीलर 'अर्ली इंडिया एंड पाकिस्तान' पृ ११३–११४।

सिंध-घाटी की सभ्यता का क्या हुआ और यह कैसे खत्म हो गई? कुछ लोगों का कहना है (और इनमें गार्डन चाइल्ड भी है) कि इसका अंत अचानक और किसी ऐसी दुर्घटना के कारण हुआ जिसका बताया नहीं जा सकता। सिंध नदी अपनी बहुत बड़ी बाढ़ों के लिए मशहूर है, जो शहरों और गांवों को बहा ले जाती रही है। या बदलती हुई आब-ओ-हवा के कारण धीरे-धीरे ज़मीन खुश्क हो गई हो और खेतों के ऊपर बालू छा गया हो। मोहनजोदड़ो के खंडहर खुद इस बात का सबूत हैं कि शहर पर तह-की-तह बालू जमता रहा है जिसकी वजह से शहरियों को मजबूर होकर पुरानी नीवों पर और ऊंची सतहों पर इमारतें बनवानी पड़ी हैं। जिन मकानों की खुदाइयां हुई हैं उनमें से कुछ ऐसे हैं कि दुमंजिले या तिमंजिले जान पड़ते हैं; असलियत यह है कि ज़मीन की सतह ज्यों-ज्यों ऊपर उठती गई, त्यों-त्यों वे अपनी दीवारें उठाते गये। हम जानते हैं कि क़दीम ज़माने में सिंध का सूबा बड़ा उपजाऊ और हरा-भरा था लेकिन मध्य-काल के बाद से यह ज्यादातर रेगिस्तान ही रहा है।

इसलिए यह बहुत मुमकिन है कि मौसमी तब्दीलियों का उस प्रदेश के लोगों और उनके रहन-सहन पर गहरा असर पड़ा हो। लेकिन यह असर रफ्ता-रफ्ता ही पड़ा होगा अचानक दुर्घटना के रूप में नहीं। और हर हालत में इस दूर तक फैली हुई शहरी सभ्यता के एक टुकड़े पर ही मौसम का यह असर पड़ा होगा क्योंकि हमारे पास इस बात के विश्वास करने के कारण हैं कि यह सभ्यता बराबर गंगा की घाटी तक और संभवतः उससे भी आगे तक फैली हुई थी। सच बात तो यह है कि ठीक-ठीक फैसला करने के लिए हमारे पास काफ़ी सबूत नहीं है। इन क़दीम शहरों में से कुछ तो शायद बालू से घिरकर उसीमें दब गये और बालू ने उनको मिटने से बचाया और दूसरे शहर और सभ्यता के चिह्न धीरे-धीरे नष्ट होते रहे और ज़माने के साथ जाते रहे। शायद आगे की पुरातत्त्व की खोजों से ऐसी कड़ियों का पता चले जो इस युग को बाद के युगों से जोड़ती हों।

जहां एक तरफ इस बात का आभास होता है कि सिंध की सभ्यता का अटूट सिलसिला बाद के वक्तों से बना रहा वहां दूसरी तरफ इस सिलसिले के टूटने के बीच में खाई पड़ जाने का अनुमान होता है और यह खाई न केवल समय का अंतर बताती है बल्कि यह भी कि जो सभ्यता बाद में आई, वह एक दूसरे प्रकार की थी। पहली बात तो यह है कि अगरचे शहर तब भी थे और किसी-न-किसी प्रकार का शहरी जीवन भी था, फिर भी यह बाद की सभ्यता पहले के मुकाबले में ज्यादा खेतिहर—देहातों की—सभ्यता

थी। हो सकता है कि खेती पर खासतौर पर जोर डाला हो उन लोगों ने जो बाद में आये यानी आर्यों ने जो कई गिरोहों में पश्चिमोत्तर से हिंदुस्तान में उतरे।

यह क़यास किया जाता है कि आर्यों का यहां आना सिंध-घाटी की सभ्यता के एक हजार साल बाद हुआ लेकिन यह भी मुमकिन है कि वक्त की इतनी बड़ी खाई दोनों के बीच न रही हो और जातियां और क़बीले पश्चिमोत्तर से बराबर थोड़े-थोड़े समय बाद आकर रहे हों, जैसाकि वे बाद में आये और आने पर हिंदुस्तान में घुल-मिल जाते रहे हों। हम कह सकते हैं कि संस्कृतियों का पहला बड़ा समन्वय और मेल-जोल आनेवाले आर्यों और द्रविड़ों में जो संभवतः सिंध-घाटी की सभ्यता के प्रतिनिधि थे हुआ। इस समन्वय और मेल-जोल से हिंदुस्तान की जातियां बनीं और एक बुनियादी हिंदुस्तानी संस्कृति तैयार हुई, जिसमें दोनों के अंश थे। बाद के युगों में और बहुत-सी जातियां आती रहीं जैसे ईरानी यूनानी पार्थियन बैक्ट्रियन सिदियन हूण तुर्क (इस्लाम से पहले के) क़दीम ईसाई, यहूदी और पारसी वगैरह। ये सभी लोग आये इन्होंने अपना प्रभाव डाला और बाद में यहां के लोगों में घुल-मिल गये। डाडवेल के कहने के अनुसार, हिंदुस्तान में "समुद्र की तरह सोखने की असीम शक्ति थी।" यह कुछ अजब-सी बात जान पड़ती है कि हिंदुस्तान में जहां ऐसी वर्ण-व्यवस्था है और अलग बने रहने की भावना है विदेशी जातियों और संस्कृतियों को जज्ब कर लेने की इतनी समाई रही हो। शायद यही वजह है कि उसने अपनी जीवनी-शक्ति कायम रखी है और समय-समय पर वह अपना काया-कल्प करता रहा है। जब मुसलमान यहां आये तो उन पर भी उसका असर पड़ा। विन्सेंट स्मिथ का कहना है कि "विदेशी (मुसलमान तुर्क) अपने पूर्वजों—शकों और यूई ची—की तरह हिंदू-धर्म की पचा लेने की अद्भुत शक्ति के वश में हुए और तेजी के साथ उनमें 'हिंदूपन' आ गया।

## ३ हिंदू-धर्म क्या है ?

इस उद्धरण में विन्सेंट स्मिथ ने 'हिंदू धर्म' और 'हिंदूपन' शब्दों का प्रयोग किया है। मेरी समझ में इन शब्दों का इस तरह इस्तेमाल करना ठीक नहीं। अगर इनका इस्तेमाल हिंदुस्तानी तहजीब के विस्तृत मानी में किया जाय तो दूसरी बात है। आज इन शब्दों का इस्तेमाल जबकि वे बहुत संकुचित अर्थ में लिये जाते हैं और इनसे एक खास मजहब का खयाल होता है गलतफ़हमी पैदा कर सकता है। हमारे पुराने साहित्य में तो 'हिंदू' शब्द कहीं आता ही नहीं। मुझे बताया गया है कि इस शब्द का हवाला हमें

जो किसी हिंदुस्तानी पुस्तक में मिलता है वह है आठवीं सदी ईसवी के एक तांत्रिक ग्रंथ में और वहां हिंदु का मतलब किसी खास धर्म से नहीं बल्कि खास लोगों से है। लेकिन यह जाहिर है कि यह लफ़्ज़ बहुत पुराना है और 'अवेस्ता' में और पुरानी फ़ारसी में आता है। उस समय और उस समय से हजार साल बाद तक पच्छिमी और मध्य-एशिया के लोग इस लफ़्ज़ का इस्तेमाल हिंदुस्तान के लिए, बल्कि सिंधु नदी के इस पार बसनेवाले लोगों के लिए करते थे। यह लफ़्ज़ साफ़-साफ़ 'सिंधु' से निकला है और यह 'इंडस' का पुराना और नया नाम है। इस 'सिंधु' शब्द से हिंदू और हिंदुस्तान बने हैं और 'इंडोस' और 'इंडिया' भी। मशहूर चीनी यात्री इत्-सिंग ने जो हिंदुस्तान में सातवीं सदी ईसवी में आया था अपनी यात्रा के बयान में लिखा है कि उत्तर की जातियां यानी मध्य-एशिया के लोग हिंदुस्तान को हिंदु (सीन्-तू) कहते हैं, लेकिन उसने यह भी लिखा है कि "यह आम नाम नहीं है हिंदुस्तान का सबसे मुनासिब नाम आर्य-देश है। एक खास मज़हब के माने में 'हिंदू' शब्द का इस्तैमाल बहुत बाद का है।

हिंदुस्तान में मज़हब के लिए पुराना व्यापक शब्द आर्य-धर्म' था। दरअसल धर्म का अर्थ मज़हब या 'रिलिजन' से ज्यादा विस्तृत है। इसकी व्युत्पत्ति जिस धातु-शब्द से हुई है, उसके मानी हैं 'एक साथ पकड़ना'। यह किसी वस्तु की भीतरी आकृति उसके आंतरिक जीवन के विधान के अर्थ में आता है। इसके अंदर नैतिक विधान सदाचार और आदमी की सारी जिम्मेदारियां और कर्तव्य आ जाते हैं। आर्य-धर्म के भ तर वे सभी मत आ जाते हैं जिनका प्रारंभ हिंदुस्तान में हुआ है, वे मत चाहे वैदिक हों चाहे अ-वैदिक। इसका व्यवहार बौद्धों और जैनों ने भी किया है और उन लोगों ने भी जो वेदों को मानते हैं। बुद्ध अपने बताये मोक्ष के मार्ग को हमेशा 'आर्य-मार्ग' कहते थे।

पुराने जमाने में 'वैदिक-धर्म' शब्दों का इस्तैमाल खासतौर पर उन दर्शनों, नैतिक शिक्षाओं कर्म-कांड और व्यवहारों के लिए होता था जिनके बारे में समझा जाता था कि वे वेद पर अवलंबित हैं। इस तरह से वे सभी लोग जो वेदों को आमतौर पर प्रमाण मानते थे वैदिक धर्मवाले कह लाये।

सभी क़दीम हिंदुस्तानी मतों के लिए—और इनमें बुद्ध-मत और जैन-मत भी शामिल हैं—'सनातन-धर्म' यानी प्राचीन धर्म का प्रयोग हो सकता है, लेकिन इस पर आजकल हिंदुओं के कुछ कट्टर दलों ने एकाधिकार कर रखा है, जिनका दावा है कि वे इस प्राचीन मत के अनुयायी हैं।

बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म यक़ीनी तौर पर हिंदू-धर्म नहीं है और न वैदिक धर्म ही है। फिर भी उनकी उत्पत्ति हिंदुस्तान में ही हुई और वे हिंदुस्तानी ज़िंदगी तहज़ीब और फ़िलसफ़े के अंग हैं। हिंदुस्तान में बौद्ध और जैनी हिंदुस्तानी विचार-धारा और संस्कृति की सौ फ़ी-सदी उपज हैं फिर भी इनमें से कोई भी मत के ख़याल से हिंदू नहीं है। इसलिए हिंदुस्तानी संस्कृति को हिंदू संस्कृति कहना एक सरासर ग़लतफ़हमी फैलानेवाली बात है। बाद के वक़्तों में इस संस्कृति पर इस्लाम के संपर्क का बड़ा असर पड़ा लेकिन यह फिर भी बुनियादी तौर पर और साफ़-साफ़ हिंदुस्तानी ही बनी रही। आज यह सैकड़ों तरीक़ों पर पच्छिम की व्यावसायिक सभ्यता के ज़ोरदार असर का अनुभव कर रही है और यह ठीक ठीक बता सकना मुश्किल है कि इसका नतीजा क्या होकर रहेगा।

हिंदू-धर्म यह तक कि वह एक मत है अस्पष्ट है इसकी कोई निश्चित रूपरेखा नहीं इसके कई पहलू हैं और ऐसा है कि जो चाहे इसे जिस तरह का मान ले। इसकी परिभाषा दे सकना या निश्चित रूप में कह सकना कि साधारण अर्थ में यह एक मत है कठिन है। अपनी मौजूदा शक्ल में बल्कि बीते हुए ज़माने में भी इसके भीतर बहुत-से विश्वास और कर्म-कांड आ मिले हैं ऊंचे-से ऊंचे और गिरे-से-गिरे, और अक्सर इनमें आपस का विरोध भी मिलता है। इसकी मुख्य भावना यह जान पड़ती है कि अपने को जियो रखो और दूसरों को भी जीने दो। महात्मा गांधी ने इसकी परिभाषा देने की कोशिश की है— 'अगर मुझसे हिंदू-मत की परिभाषा देने को कहा जाय तो मैं सिर्फ़ यह कहूंगा कि यह अहिंसात्मक साधनों से सत्य की खोज है। आदमी चाहे ईश्वर में विश्वास न रखे फिर भी वह अपने को हिंदू कह सकता है। हिंदू-धर्म सत्य की अनथक खोज है हिंदू-धर्म सत्य को माननेवाला धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। हम इस बात से परिचित हैं कि ईश्वर से इनकार किया गया है। हमने सत्य से कभी इन्कार नहीं किया है।' गांधीजी इसे सत्य और अहिंसा बताते हैं लेकिन बहुत-से प्रमुख लोग जिनके हिंदू होने में कोई संदेह नहीं यह कह देते हैं कि अहिंसा जैसा उसे गांधीजी समझते हैं हिंदू-मत का आवश्यक अंग नहीं है। तो फिर हिंदू-मत का अकेला सूचक चिह्न सत्य रह जाता है। ज़ाहिर है यह कोई परिभाषा नहीं हुई।

इसलिए 'हिंदू' और हिंदू-धर्म शब्दों का हिंदुस्तानी संस्कृति के लिए इस्तेमाल किया जाना न तो ठीक है और न मुनासिब ही है चाहे हम बहुत पुराने ज़माने के हवाले में ही क्यों न इस्तेमाल कर रहे हों अगरचे बहुत-से विचार, जो प्राचीन ग्रंथों में सुरक्षित हैं इस संस्कृति के

उपयुक्त हैं। और आज तो इन शब्दों का इस अर्थ में इस्तेमाल किया जाना और भी ग़लत है। जबतक पुराने विश्वास और सिद्धांत सिर्फ़ जिंदगी के एक मार्ग और संसार को देखने के एक ढंग के रूप में थे तबतक तो अधिकतर हिंदुस्तानी संस्कृति का पर्याय हो सकते थे। लेकिन जब एक ज्यादा पाबंदीवाले मजहब का विकास हुआ, जिसके साथ न जाने कितने विधि-विधान और कर्म-कांड लगे हुए थे, तब यह उससे कुछ ज्यादा बड़ी हुई चीज़ थी और साथ ही उस मिली-जुली संस्कृति के मुकाबले में घटकर भी थी। एक ईसाई या मुसलमान अपने को हिंदुस्तानी जिंदगी और संस्कृति के मुताबिक ढाल सकता था और अक्सर ढाल लेता था, और साथ ही जहां तक मजहब का ताल्लुक है, वह कट्टर ईसाई या मुसलमान बना रहता था। उसने अपने को हिंदुस्तानी बना लिया था और बिना अपना मजहब बदले हुए हिंदुस्तानी बन गया था।

'हिंदुस्तानी' के लिए ठीक शब्द 'हिंदी' होगा, चाहे हम उसे मुल्क के लिए, चाहे संस्कृति के लिए और चाहे अपनी भिन्न परंपराओं के तारीख़ी सिलसिले के लिए इस्तेमाल करें। यह लफ़्ज़ 'हिंद' से बना है, जो हिंदुस्तान का छोटा रूप है। अब भी हिंदुस्तान के लिए 'हिंद' शब्द का आमतौर पर प्रयोग होता है। पच्छिमी एशिया के मुल्कों में, ईरान और टर्की में, इराक़, अफ़ग़ानिस्तान, मिस्र और दूसरी जगहों में हिंदुस्तान के लिए बराबर 'हिंद' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है और इन सभी जगहों में हिंदुस्तानी को 'हिंदी' कहते हैं। 'हिंदी' का मजहब से कोई संबंध नहीं और हिंदुस्तानी मुसलमान और ईसाई उसी तरह से 'हिंदी' हैं, जिस तरह कि एक हिंदू मत का माननेवाला। अमरीका के लोग, जो सभी हिंदुस्तानियों को हिंदू कहते हैं, बहुत गलती नहीं करते। अगर वे 'हिंदी' शब्द का प्रयोग करें, तो उनका प्रयोग बिल्कुल ठीक होगा। दुर्भाग्य से 'हिंदी' शब्द हिंदुस्तान में एक ख़ास लिपि के लिए इस्तेमाल होने लगा है—यह भी संस्कृत की देवनागरी लिपि के लिए—इसलिए इसका व्यापक और स्वाभाविक अर्थ में इस्तेमाल करना कठिन हो गया है। शायद जब आजकल के मुबाहसे ख़त्म हो लें, तो हम फिर इस शब्द का इस्तेमाल उसके मौलिक अर्थ में कर सकें और वह ज्यादा संतोषजनक होगा। आज हिंदुस्तान के रहनेवाले के लिए 'हिंदुस्तानी' शब्द का इस्तेमाल होता है और ज़ाहिर है कि यह हिंदुस्तान से बनाया गया है, लेकिन बोलने में यह बड़ा है और इसके साथ वे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक ख़यालात नहीं जुड़े हुए हैं, जो 'हिंदी' के साथ जुड़े हैं। निश्चय ही प्राचीन काल की हिंदुस्तान की संस्कृति के लिए 'हिंदु

स्तानी' शब्द का इस्तेमाल अटपटा जान पड़ेगा।

अपनी सांस्कृतिक परंपरा के लिए हम हिंदी या हिंदुस्तानी को भी इस्तेमाल करें, हम यह देखेंगे कि पुराने जमाने में समन्वय के लिए यहां एक भीतरी प्रेरणा रही है और हमारी तहजीब और क़ौम के विकास का आधार, खासकर हिंदुस्तान का क्रियाशक्रियात्मक रुख रहा है। विदेशी तत्वों का हर हमला इस संस्कृति के लिए एक चुनौती था और उनका सामना इसने हर बार एक नये समन्वय के जरिये उन्हें अपने में जज़्ब करके किया है। इस तरीके से उसका कायाकल्प भी होता रहा है और अगरचे पृष्ठभूमि वही रही है और बुनियादी बातों में कोई खास तबदीली नहीं हुई है इस समन्वय के कारण संस्कृति के नये-नये फूल खिले हैं। सी ई एम जोड ने इसके बारे में लिखा है—"इसकी वजह जो कुछ भी हो बाक़्या यह है कि हिंदुस्तान की दुनिया को खास देन यह रही है कि उसने विचारों और क़ौमों के जुदा-जुदा तत्वों के समन्वय की और विभिन्नता से एकता पैदा करने की योग्यता और तत्परता दिखाई है।"

## ४ सबसे पुराने लेख धर्म-ग्रंथ और पुराण

सिंध-घाटी की सभ्यता की खोज से पहले यह ख़याल किया जाता था कि हिंदुस्तानी संस्कृति के सबसे पुराने प्रमाण-लेख जो हमें मिले हैं, वे वेद हैं। वेदों के काल-निर्णय के बारे में बड़ा मतभेद रहा है यूरोपीय विद्वान इसे इधर खींचते रहे हैं और हिंदुस्तानी विद्वान और पीछे ले जाते रहे हैं। यह एक विचित्र बात है कि अपनी पुरानी संस्कृति को महत्व देने के लिए हिंदुस्तानी उसे ज्यादा-से-ज्यादा पुरानी साबित करने की कोशिश में रहे हैं। प्रोफ़ेसर विंटरनीज़ का खयाल है कि वैदिक-साहित्य का आरंभ ईसा से २ बल्कि २५ वर्ष पहले होता है। यह हमें मोहनजोदड़ो के जमाने के बहुत नज़दीक पहुंचा देता है।

आज के ज्यादातर विद्वानों ने ऋग्वेद की ऋचाओं के संबंध में जो प्रमाण माने हैं वे उसे ईसा से १५ वर्ष पुराना बताते हैं लेकिन मोहनजोदड़ो की खुदाई के बाद इन धर्म-ग्रंथों को और पुराना साबित करने की तरफ़ रुझान रहा है। इस साहित्य की ठीक तिथि जो भी हो यह संभावित है कि यह यूनान या इसराइल के इतिहास से पुराना है और सच बात तो यह है कि मनुष्य-मात्र के दिमाग़ की सबसे पुरानी कृतियों में है। मैक्समूलर ने कहा है कि "आर्य-जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया यह पहला शब्द है।"

वेद आर्यों के उस समय के भावोद्गार हैं जबकि वे हिंदुस्तान की हरी-भरी भूमि पर आये। वे अपने कुल के विचारों को अपने साथ लाये

उस कुल के जिसने ईरान में 'अवेस्ता' की रचना की और हिंदुस्तान की ज़मीन पर उन्होंने अपने विचारों को विस्तार दिया। वेदों की भाषा भी 'अवेस्ता' की भाषा से अद्भुत रूप में मिलती-जुलती है और यह बताया जाता है कि वेद 'अवेस्ता' के जितने नज़दीक हैं उतने खुद इस देश के महाकाव्यों की संस्कृत के नज़दीक नहीं हैं।

हम मुख़्तलिफ़ मज़हबों की मज़हबी किताबों को किस नज़र से देखें जबकि इन मज़हबवालों का यह ख़याल है कि इनका ज़्यादातर हिस्सा दैवी प्रेरणा से प्राप्त हुआ है या नाज़िल हुआ है? अगर हम उनकी जांच-पड़ताल या नुक्ताचीनी करते हैं और उन्हें आदमियों की रची हुई चीज़ें बताते हैं तो कट्टर मज़हबी लोग अक्सर इससे बुरा मानते हैं। फिर भी उन पर विचार करने का कोई दूसरा तरीक़ा नहीं है।

मैंने मज़हबी किताबों के पढ़ने में हमेशा संकोच किया है। उनके बारे में जो इस तरह के दावे किये जाते हैं कि इनमें आख़िरी बातें लिख दी गई हैं मुझे पसंद नहीं आते। इन मज़हबों को लोग जैसा बरतते हैं, इसके बारे में जो ऊपरी शहादतें मेरे सामने आई हैं, उन्होंने मुझे उनके मूल आधारों तक पहुंचने का उत्साह नहीं दिलाया है। ताहम मुझे इन किताबों तक भटककर पहुंचना पड़ा है, इसलिए कि ग़ैर-जानकारी ख़ुद कोई गुण नहीं है और अक्सर एक ख़ामी साबित होती है। मैं जानता रहा हूं कि इनमें से कुछ ने इन्सान पर गहरा असर डाला है और जिस चीज़ का ऐसा असर पड़ सकता है उसमें कोई भीतरी गुण और शक्ति—ताक़त—का कोई ज़िंदा सर-चश्मा ज़रूर है। उनके बहुत-से अंशों को पढ़ने में मुझे बड़ी कठिनाई हुई है, क्योंकि बारहा कोशिश करने पर भी मैं अपने में काफ़ी दिलचस्पी पैदा नहीं कर सका हूं साथ ही ऐसे टुकड़े भी मिले हैं, जिनकी निपट सुंदरता ने मुझे मोह लिया है। और उस वक़्त ऐसा हुआ है किसी जुमले ने या जुमले के एक टुकड़े ने अचानक मुझमें बिजली पैदा कर दी है और मुझे यह अनुभव हुआ है कि मेरे सामने सचमुच ही बहुत बड़ी चीज़ है। बुद्ध और मसीह के कुछ शब्द अपने गहरे अर्थ के साथ मुझ पर रोशन हो गये हैं और मुझे ऐसा जान पड़ा है कि आज भी वे उसी तरह लागू हैं, जिस तरह वे २ या उससे ज़्यादा साल पहले लागू थे। उनमें एक बेबस कर देनेवाली सचाई है, एक ऐसी टिकाऊ बात है, जिसे देश और काल छू नहीं सकते। ऐसा ही ख़याल मुझे सुकरात का हाल या चीनी फ़िलसूफ़ों की रचनाओं को पढ़कर हुआ है और उपनिषदों और भगवद्गीता को पढ़कर भी। मुझे अध्यात्म और कर्म-कांड की व्याख्या और बहुत-सी और बातों में जिनका उन मसलों से कोई ताल्लुक़ नहीं

जो मेरे सामने हैं दिलचस्पी नहीं रही है। मैंने जो कुछ पढ़ा शायद उसके बहुत ज्यादा हिस्सों का भीतरी अभिप्राय मैं समझ नहीं सका और कभी-कभी दोबारा पढ़ने पर ज्यादा प्रकाश मिला है। गूढ़ अंशों को समझने की दरअसल मैंने खास कोशिश नहीं की और जिन हिस्सों की मैं अपने लिए कोई अहमियत नहीं समझता था उन्हें छोड़ जाता रहा हूं। न मुझे लंबी टीकाओं और शरहों में दिलचस्पी रही है। मैं इन किताबों को या किन्हीं किताबों को ईश्वर-वाक्य की तरह नहीं मान सका हूं ऐसा कि बिना चूं-चरा के उनके एक-एक शब्द को कबूल कर लिया जाय। दरअसल उनके मुतालिक ईश्वर-वाक्य होने के दावे का आमतौर पर यह नतीजा हुआ कि उसमें लिखी बातों के खिलाफ मेरे दिमाग में जिद पकड़ सी है। उनकी तरफ मेरा ज्यादा खिंचाव तब होता है और उनसे मैं ज्यादा फ़ायदा तब हासिल कर सकता हूं जब मैं उन्हें आदमियों की रचनाएं समझूं ऐसे आदमियों की जो बड़े ज्ञानी और दूरदर्शी हो गये हैं लेकिन जो हैं साधारण नश्वर मनुष्य न कि अवतार या ईश्वर की तरफ़ से बोलनेवाले लोग क्योंकि ईश्वर की कोई जानकारी या उसके बारे में निश्चय मुझे नहीं है।

मुझे इस बात में हमेशा ज्यादा शान और भव्यता जान पड़ी है कि एक इंसान दिमागी और रूहानी हैसियत से बलंदी पर पहुंचे और दूसरों को भी उठाने की कोशिश करे, न कि इसमें कि वह किसी दैवी शक्ति या ईश्वर की तरफ़ से बोलनेवाला बने। धर्मों के कुछ संस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गये हैं—लेकिन अगर उनका ख़याल आदमियों की शक्ल में न करूं तो उनकी सारी शान मेरी नज़र में जाती रहती है। जिस बात का मुझ पर असर होता है और जिससे मेरे दिल में उम्मीद बंधती है वह यह है कि आदमी के दिमाग और उसकी रूह ने तरक्की हासिल कर ली है न कि यह कि वह एक पैग़ाम ले जानेवाला एजेंट बन गया है।

पुराण की गाथाओं का भी मुझ पर कुछ ऐसा ही असर पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं तो यह बिलकुल बेतुकी और हंसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो वे एक नई ही रोशनी में दिखाई पड़ने लगती हैं उनमें एक नया सौंदर्य जान पड़ता है, ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊंची कल्पना मैं अचरज-भरे फूल खिलाय हैं और इनमें आदमी के लिए शिक्षा लेने की बहुत-सी बातें हैं। यूनान के देवी-देवताओं की कहानियों में अब कोई विश्वास नहीं करता इसलिए बिना किसी कठिनाई के हम उनकी तारीफ़ कर सकते हैं वे हमारी मानसिक थाती का अंग बन गई हैं। लेकिन अगर हमें उनमें यकीन

करना पड़े तो हम पर कितना बोझ आ पड़ेगा और विश्वास के इस बोझ से दबकर हम अक्सर उनका सौंदर्य खो देंगे। हिंदुस्तान की पुराण-गाथाएं कहीं ज्यादा और मज़े-भरी हैं और बड़ी ही सुन्दर और अर्थ-भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बात पर अचरज किया है कि व आदमी और औरतें जिन्होंने ऐसे सजीव सपनों और सुन्दर कल्पनाओं को रूप दिया है, कैसे रहे होंगे और विचार और कल्पना की किस सोने की खान में से उन्होंने खोदकर ऐसी चीजें निकाली होंगी।

धर्म-ग्रंथों को आदमी के दिमाग की उपज मानते हुए हमें याद रखना चाहिए कि किस युग में वे रचे गये हैं, किस क्रिया और मानसिक वातावरण ने उन्हें जन्म दिया है और समय और विचार और अनुभव का कितना अंतर उनमें और हममें है। हमें कर्म-काण्ड और धर्म-संबंधी रस्मों की भूल को भुला देना चाहिए और उस सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें उनका विकास हुआ है। इन्सानी जिंदगी के बहुत-से मसले एक दायमी हैसियत रखते हैं। उनमें नित्यता की एक पुट है और यही कारण है कि इन प्राचीन पुस्तकों में हमारी दिलचस्पी बनी हुई है। लेकिन और भी मसले रहे हैं जो किसी खास युग तक ही सीमित रहे हैं और उनमें हमारे लिए जिंदा दिलचस्पी की कोई बात नहीं रही है।

## ५ वेद

बहुत-से हिंदू वेदों को श्रुति-ग्रंथ मानते हैं। यह मुझे खास तौर पर एक दुर्भाग्य की बात मालूम पड़ती है क्योंकि इस तरह हम उनके सच्चे महत्त्व को खो बैठते हैं। वह यह कि विचार की शुरू की अवस्था में आदमी के दिमाग ने अपने को किस रूप में प्रकट किया था और वह कैसा अद्भुत दिमाग था। 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से हुई है जिसका अर्थ जानना है और वेदों का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उनमें बहुत-सी चीजें मिली-जुली हैं—स्तुतियां हैं, प्रार्थनाएं हैं, यज्ञ की विधि है, जादू-टोना है और बड़ी ऊंची प्रकृति-संबंधी कविता है। उनमें मूर्ति पूजा नहीं है, देवताओं के मन्दिरों की चर्चा नहीं है। जो जीवनी-शक्ति और जिंदगी के लिए इकरार उनमें समाया हुआ है वह गैर-मामूली है। शुरू के वैदिक-आर्य लोगों में जिंदगी के लिए इतनी उमंग थी कि वे आत्मा के सवाल पर ज्यादा ध्यान नहीं देते थे। एक अस्पष्ट तरीके से उन्हें इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।

रफ्ता-रफ्ता ईश्वर की कल्पना पैदा होती है। उस तरह के देवता लोग मिलते हैं जैसे ओलम्पिया (यूनान) में होते थे। उसके अनंतर एकेश्वर

जो मेरे सामने हैं दिलचस्पी नहीं रही है। मैंने जो कुछ पढ़ा शायद उसके बहुत ज्यादा हिस्सों का भीतरी अभिप्राय मैं समझ नहीं सका और कभी-कभी दोबारा पढ़ने पर ज्यादा प्रकाश मिला है। कुछ अंशों को समझने की दरअसल मैंने खास कोशिश नहीं की और जिन हिस्सों को मैं अपने लिए कोई अहमियत नहीं समझता था उन्हें छोड़ जाता रहा हूं। न मुझे लंबी टीकाओं और शरहों में दिलचस्पी रही है। मैं इन किताबों को, या किन्हीं किताबों को ईश्वर-वाक्य की तरह नहीं मान सकता हूं ऐसा कि बिना चूं चरा के उनके एक-एक शब्द को कबूल कर लिया जाय। दरअसल उनके तथाकथित ईश्वर-वाक्य होने के नाम पर आमतौर पर यह नतीजा हुआ कि उनमें लिखी बातों के खिलाफ मेरे दिमाग में जिद पकड़ती है। उनकी तरफ मेरा ज्यादा लगाव तब होता है और उनसे मैं ज्यादा फायदा तब हासिल कर सकता हूं, जब मैं उन्हें आदमियों की रचनाएं समझूं, ऐसे आदमियों की जो बड़े ज्ञानी और दूरन्देश हो गये हैं लेकिन जो हैं साधारण नश्वर मनुष्य, न कि अवतार या ईश्वर की तरफ से बोलनेवाले लोग, क्योंकि ईश्वर की कोई जानकारी या उसके बारे में निश्चय मुझे नहीं है।

मुझे इस बात में हमेशा ज्यादा शान और सभ्यता जान पड़ी है कि एक इन्सान दिमागी और रूहानी हैसियत से बलंदी पर पहुंचे और दूसरों को भी उठाने की कोशिश करे, न कि इसमें कि वह किसी बड़ी शक्ति या ईश्वर की तरफ से बोलनेवाला बने। धर्मों के कुछ संस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गये हैं—लेकिन अगर उनका खयाल आदमियों की शक्ल में न करूं तो उनकी सारी शान मेरी नजर में जाती रहती है। जिस बात का मुझ पर असर होता है और जिससे मेरे दिल में उम्मीद बंधती है, वह यह है कि आदमी के दिमाग और उसकी रूह ने तरक्की हासिल कर ली है, न कि यह कि वह एक पैगाम लेनेवाला एलची बन गया है।

पुराण की गाथाओं का भी मुझ पर कुछ ऐसा ही असर पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं तो यह बिलकुल बेतुकी और हंसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो वे एक नई ही रोशनी में दिखाई पड़ने लगती हैं, उनमें एक नया सौंदर्य जान पड़ता है, ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊंची कल्पना ने अचरज-भरे फूल खिलाए हैं और इनमें आदमी के शिक्षा लेने की बहुत-सी बातें हैं। यूनान के देवी-देवताओं की कहानियों में अब कोई विश्वास नहीं करता, इसलिए बिना किसी कठिनाई के हम उनकी तारीफ कर सकते हैं, वे हमारी मानसिक दाय का अंग बन गई हैं। लेकिन अगर हमें उनमें यकीन

करना पड़े तो हम पर कितना बोझ आ पड़ेगा और विश्वास के इस बोझ से दबकर हम अक्सर उसका सौंदर्य खो देंगे। हिंदुस्तान की पुराण-गाथाएं कहीं ज्यादा और भरी-पूरी हैं और बड़ी ही सुंदर और अर्थ-भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बात पर अचरज किया है कि वे आदमी और औरतें जिन्होंने ऐसे सजीव सपनों और सुंदर कल्पनाओं को रूप दिया है कैसे रहे होंगे और विचार और कल्पना की किस सोने की खान में से उन्होंने खोदकर ऐसी चीज़ें निकाली होंगी।

धर्म-ग्रंथों को आदमी के दिमाग की उपज मानते हुए हमें याद रखना चाहिए कि किस युग में वे रचे गए हैं किस फिज़ा और मानसिक वातावरण ने उन्हें जन्म दिया है और समय और विचार और अनुभव का कितना अंतर उनमें और हममें है। हमें कर्म-कांड और धर्म-संबंधी रस्मों की भूल को भुला देना चाहिए और उस सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें उनका विकास हुआ है। इन्सानी ज़िंदगी के बहुत-से मसले एक दायमी हैसियत रखते हैं। उनमें नित्यता की एक पुट है और यही कारण है कि इन प्राचीन पुस्तकों में हमारी दिलचस्पी बनी हुई है। लेकिन और भी मसले रहे हैं जो किसी खास या तंग मियाद तक रहे हैं और उनमें हमारे लिए ज़िंदा दिलचस्पी की कोई बात नहीं रही है।

## ५ वेद

बहुत-से हिंदू वेदों को श्रुति-ग्रंथ मानते हैं। यह मुझे खास तौर पर एक दुर्भाग्य की बात मालूम पड़ती है क्योंकि इस तरह हम उनके सच्चे महत्त्व को खो बैठते हैं। यह यह कि विचार की शुरू की अवस्था में आदमी के दिमाग ने अपने को किस रूप में प्रकट किया था और वह कैसा अद्भुत दिमाग था। 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से हुई है जिसका अर्थ जानना है और वेदों का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उनमें बहुत-सी चीज़ें मिली-जुली हैं—स्तुतियां हैं, प्रार्थनाएं हैं, यज्ञ की विधि है, जादू-टोना है और बड़ी ऊंची प्रकृति-संबंधी कविता है। उनमें मूर्ति-पूजा नहीं है देवताओं के मंदिरों की चर्चा नहीं है। जो जीवनी-शक्ति और ज़िंदगी के लिए इकरार उनमें समाया हुआ है, वह गैर-मामूली है। शुरू के वैदिक-आर्य लोगों में ज़िंदगी के लिए इतनी उमंग थी कि वे आत्मा के सवाल पर ज़्यादा ध्यान नहीं देते थे। एक अस्पष्ट तरीके से उन्हें इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।

रफ़्ता-रफ़्ता ईश्वर की कल्पना पैदा होती है उस तरह के देवता लोग मिलते हैं जैसे ओलंपिया (यूनान) में होते थे। उसके अनंतर एकेश्वर

जो मेरे सामने हैं दिलचस्पी नहीं रही है। मैंने जो कुछ पढ़ा शायद उसके बहुत ज्यादा हिस्सों का भीतरी अभिप्राय मैं समझ नहीं सका और कभी-कभी दोबारा पढ़ने पर ज्यादा प्रकाश मिला है। कुछ अंशों को समझने की दरअसल मैंने खास कोशिश नहीं की और जिन हिस्सों को मैं अपने लिए कोई अहमियत नहीं समझता था उन्हें छोड़ जाता रहा हूं। न मुझे लंबी टीकाओं और शरहों में दिलचस्पी रही है। मैं इन किताबों को या किन्हीं किताबों को ईश्वर-वाक्य की तरह नहीं मान सका हूं ऐसा कि बिना च चरा के उनके एक-एक लफ्ज़ को कबूल कर लिया जाय। दरअसल उनके मुताल्लिक ईश्वर-वाक्य होने के दावे का आमतौर पर यह नतीजा हुआ कि उनमें लिखी बातों के खिलाफ मेरे दिमाग ने ज़िद पकड़ ली है। उनकी तरफ मेरा ज्यादा खिंचाव तब होता है और उनसे मैं ज्यादा फ़ायदा तब हासिल कर सकता हूं जब मैं उन्हें आदमियों की रचनाएं समझूं ऐसे आदमियों की जो बड़े ज्ञानी और दूरदर्शी हो गये हैं लेकिन जो हैं साधारण नश्वर मनुष्य न कि अवतार या ईश्वर की तरफ से बोलनेवाले लोग क्योंकि ईश्वर की कोई जानकारी या उसके बारे में निश्चय मुझे नहीं है।

मुझे इस बात में हमेशा ज्यादा शान और भव्यता जान पड़ी है कि एक इंसान दिमागी और रूहानी हैसियत से बलंदी पर पहुंचे और दूसरों को भी उठाने की कोशिश करे, न कि इसमें कि वह किसी बड़ी शक्ति या ईश्वर की तरफ से बोलनेवाला बने। धर्मों के कुछ संस्थापक अद्भुत व्यक्ति हो गये हैं—लेकिन अगर उनका ख़याल आदमियों की शक्ल में न करूं तो उनकी सारी शान मेरी नज़र में जाती रहती है। जिस बात का मुझ पर असर होता है और जिससे मेरे दिल में उम्मीद बंधती है वह यह है कि आदमी के दिमाग और उसकी रूह ने तरक्की हासिल कर ली है न कि यह कि वह एक पैग़ाम ले आनेवाला एलची बन गया है।

पुराण की गाथाओं का भी मुझ पर कुछ ऐसा ही असर पड़ा। अगर लोग इन कहानियों को घटना के रूप में सही मानते हैं तो यह बिलकुल बेतुकी और हंसी की बात है। लेकिन इस तरह उनमें विश्वास करना छोड़ दिया जाय तो वे एक नई ही रोशनी में दिखाई पड़ने लगती हैं उनमें एक नया सौंदर्य जान पड़ता है ऐसा जान पड़ता है कि एक ऊंची कल्पना ने अचरज-भरे फूल खिलाए हैं और इनमें आदमी के सिखा लेने की बहुत-सी बातें हैं। यूनान के देवी-देव ताओं की कहानियों में अब कोई विश्वास नहीं करता इसलिए बिना किसी कठिनाई के हम उनकी तारीफ़ कर सकते हैं वे हमारी मानसिक दाय का अंग बन गई हैं। लेकिन अगर हमें उनमें यक़ीन

करना पड़े तो हम पर कितना बोझ आ पड़ेगा और विश्वास के इस बोझ से दबकर हम अक्सर उनका सौंदर्य खो बैठें। हिंदुस्तान की पुराण-गाथाएं कहीं ज्यादा और भरी-पूरी हैं और बड़ी ही सुंदर और अर्थ-भरी हैं। मैंने कभी-कभी इस बात पर अचरज किया है कि वे आदमी और औरतें जिन्होंने ऐसे सजीव सपनों और सुंदर कल्पनाओं को रूप दिया है कैसे रहे होंगे और विचार और कल्पना की किस सोने की खान में से उन्होंने खोदकर ऐसी चीजें निकाली होंगी।

धर्म-ग्रंथों को आदमी के दिमाग की उपज मानते हुए हमें याद रखना चाहिए कि किस युग में वे रचे गये हैं किस फिजा और मानसिक वातावरण ने उन्हें जन्म दिया है और समय और विचार और अनुभव का कितना अंतर उनमें और हममें है। हमें कर्म-कांड और धर्म-संबंधी रस्मों की भूल को भुला देना चाहिए और उस सामाजिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें उनका विकास हुआ है। इन्सानी जिंदगी के बहुत-से मसले एक दायमी हैसियत रखते हैं। उनमें नित्यता की एक पुट है और यही कारण है कि इन प्राचीन पुस्तकों में हमारी दिलचस्पी बनी हुई है। लेकिन और भी मसले रहे हैं, जो सिर्फ खास समय तक सीमित रहे हैं और उनमें हमारे लिए जिंदा दिलचस्पी की कोई बात नहीं रही है।

## ५ वेद

बहुत-से हिंदू वेदों को श्रुति-ग्रंथ मानते हैं। यह मुझे खास तौर पर एक दुर्भाग्य की बात मालूम पड़ती है क्योंकि इस तरह हम उनके सच्चे महत्त्व को खो बैठते हैं। वह यह कि विचार की शुरू की अवस्था में आदमी के दिमाग ने अपने को किस रूप में प्रकट किया था और वह कैसा अद्भुत दिमाग था। 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति 'विद्' धातु से हुई है जिसका अर्थ जानना है और वेदों का उद्देश्य उस समय की जानकारी को इकट्ठा कर देना था। उनमें बहुत-सी चीजें मिली-जुली हैं—स्तुतियां हैं प्रार्थनाएं हैं यज्ञ की विधि है जादू-टोना है और बड़ी ऊंची प्रकृति-संबंधी कविता है। उनमें मूर्ति पूजा नहीं है देवताओं के मंदिरों की चर्चा नहीं है। जो जीवनी-शक्ति और जिंदगी के लिए इकरार उनमें समाया हुआ है वह गैरमामूली है। शुरू के वैदिक-आर्य लोगों में जिंदगी के लिए इतनी उमंग थी कि वे आत्मा के सवाल पर ज्यादा ध्यान नहीं देते थे। एक अस्पष्ट तरीके से उन्हें इस बात का विश्वास था कि मौत के बाद भी कोई जीवन है।

रफ्ता-रफ्ता ईश्वर की कल्पना पैदा होती है उस तरह के देवता लोग मिलते हैं जैसे ओलंपिया (यूनान) में होते थे। उसके अनंतर एकेश्वर

पार जाता है और फिर इसीसे मिला-जुला हुआ अद्वैतवाद। विचार उन्हें अद्भुत प्रदेशों में पहुंचाता है और प्रकृति के रहस्यों पर गौर किया जाता है और इस तरह जांच करने की भावना उठती है। इस तरह के विकास में सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं और जब हम वेद के अंत वेदांत तक पहुंचते हैं तो हमें उपनिषदों का दर्शन या फ़िलसफ़ा मिलता है।

पहला वेद ऋग्वेद शायद मनुष्य की पहली पुस्तक है। इसमें हमें इन्सानी दिमाग़ के सबसे पहले उद्गार मिलते हैं, काव्य की छटा मिलती है और मिलती है प्रकृति की सुंदरता और रहस्य पर आनंद की भावना। इन प्राचीन ऋचाओं में जैसाकि डाक्टर मैकनिकोल कहते हैं, हमें शुरुआत मिलती है उन लोगों के साहसी कारनामों की जिन्होंने हमारी दुनिया के और उसमें रहनेवाले मनुष्य के जीवन के महत्त्व की खोज करने की कोशिशें कीं और जो इतने दिन हुए की गईं और यहां अंकित हैं—यहां से हिंदुस्तान एक खोज पर निकला है और उसकी यह खोज अबतक जारी है।"

लेकिन खुद ऋग्वेद के पीछे विचार और सभ्यता के जीवन के कई युग रहे हैं जिनमें सिंध-घाटी की मेसोपोटामिया की और दूसरी तहज़ीबें पनपी थीं। इसलिए यह मुनासिब ही है कि ऋग्वेद में "अपने पूर्वजों ऋषियों और प्रथम मार्ग-प्रदर्शकों" के नाम पर किया गया समर्पण मिलता है।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने इन ऋचाओं के बारे में कहा है—"ज़िंदगी के अचरज और भय की तरफ़ एक जन-समाज की मिली-जुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरंभ में ही एक ज़ोरदार और अछूती कल्पनावाले लोग जीवन के अपार रहस्य को भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास द्वारा उन्होंने हरएक तत्त्व में प्रकृति की हर एक शक्ति में देवत्व देखा। उसका जीवन आनंदमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनकी ज़िंदगी में एक जादू पैदा कर दिया था। मन में एक जाति-गत विश्वास था जिस पर विश्व की उलझनभरी विविधता के चिंतन का बोझ नहीं पड़ा था यद्यपि उस पर जब-तब सहज अनुभव का प्रकाश इस रूप में पड़ा था कि 'सत्य एक है, (यद्यपि) विप्र उसे अनेक नामों से पुकारते हैं'।

लेकिन चिंतन की यह भावना धीरे-धीरे आती गई यहां तक कि वेद का रचयिता यही पुकार उठा कि "हे धर्म हमें विश्वास प्रदान करो" और उसने 'सृष्टि का गीत'[1] नामक ऋचा में जिसे मैक्समूलर ने 'अज्ञात ईश्वर के प्रति' शीर्षक दिया है गहरे सवाल उठाये हैं

---

[1] एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
ऋग्वेद का नासदीय सूक्त।

१ तब न सत् था न असत्, न अंतरिक्ष था और न उसके परे आकाश था।
क्या और कहां व्याप्त था ? और किसने आश्रय दिया ? क्या वहां जल था, अथाह जल ?

२ तब न मृत्यु थी, न कोई अमर था, न दिन और रात को विभाजित करने का कोई निशान था।
वही एक श्वास-रहित अपनी प्रकृति द्वारा सांस लेता था, उसको छोड़ कर और कुछ नहीं था।

३ वहां अंधकार था, पहले अंधकार में छिपी हुई घोर अस्त-व्यस्तता थी।
उस समय जो कुछ था, वह शून्य और निराकार था, तेज की शक्ति से उस इकाई का जन्म हुआ।

४ उसके बाद आरंभ में इच्छा उत्पन्न हुई, इच्छा जो आत्मा का बीज है।
ऋषियों ने अपने हृदय में विचारा तो पाया कि सत् का संबंध असत् से है।

५ अलग करनेवाली रेखा आर-पार फैली, उसके ऊपर क्या था और क्या उसके नीचे था ?
जन्म देनेवाले थे, महान शक्तियां थीं, स्वतंत्र कर्म था यहां और उधर क्रिया-शक्ति थी।

६ कौन वास्तव में जानता है और कौन कह सकता है कि इसका जन्म कहां हुआ और यह सृष्टि कहां से आई ?
इस पृथ्वी की उत्पत्ति के बाद देवता हुए, इसलिए कौन कह सकता है, कि कब इसकी सृष्टि हुई ?

७ वह इस सृष्टि का आदि पुरुष है, चाहे उसने इस सबको बनाया हो चाहे नहीं।
जिसकी दृष्टि इस पृथ्वी पर सबसे ऊंचे आकाश से शासन करती है वही वास्तव में जानता है या शायद वह भी न जानता हो।[1]

## ६ जिंदगी से इक़रार और इन्कार

इन धुंधली शुरुआतों से हिंदुस्तानी विचार और फ़िलसफ़े, हिंदुस्तानी जीवन और संस्कृति और साहित्य की नदियां निकलती हैं और फैलती और गहरी होती हुई कभी-कभी सैलाबों से धरती पर उपजाऊ मिट्टी बिखेरती हुई आगे बढ़ती हैं। इन शताब्दियों-साल में उन्होंने कभी अपने रास्ते पलटे हैं कभी सिकुड़कर पतली भी पड़ गई हैं, लेकिन उन्होंने अपने खास निशान क़ायम

[1] एवरीमैन्स लाइब्रेरी में प्रकाशित 'हिंदू स्क्रिप्चर्स' में प्रकाशित अनुवाद के आधार पर।

रहा है। अगर उनमें जिंदगी की एक मजबूत तहरीक न रही होती तो वे ऐसा न कर पातीं। इस कायम रहने की शक्ति को हमेशा एक बरकत न समझना चाहिए, इसके यह भी मानी हो सकते हैं, जैसाकि हिंदुस्तान में मेरी समझ में बहुत दिनों से होता रहा है, कि उनमें गतिहीनता आ गई है और सड़ाव पैदा हो गई है। लेकिन यह एक बड़ा मामला है, जिसे हम नजर अंदाज नहीं कर सकते, खासकर इन दिनों में जबकि हम निरंतर लड़ाइयों और संकटों के कारण एक खूंखार और तरक्कीयाफ्ता तहजीब को अब लुटती हुई देखते हैं। हम उम्मीद करते हैं कि लड़ाई की इस कुर्बानी से, जिसमें न जाने कितनी चीजें मिट रही हैं, क्या पश्चिम में और क्या पूरब में, कुछ उम्दा नस्ल तैयार होकर निकलेगी, जो बड़ी इन्सानी हासिलातों को कायम रखते हुए उनमें उन तत्त्वों को भी जोड़ेगी, जिनकी कमी रही है। लेकिन न महज माली पूंजी और इन्सानी जिंदगी बल्कि उन खास मूल्यों का, जो इस जिंदगी को सार्थक करती हैं, बार-बार और इतने बड़े पैमाने पर नाश होना ऐसी बात है, जो ध्यान देने की है। बावजूद उस तरक्की के, जो मुख्तलिफ दिशाओं में हुई है और उसकी वजह से जो ऊंचे मान कायम हुए हैं, जिसकी पिछले युगों में कल्पना भी नहीं हुई थी, क्या हमारी मौजूदा तिजारती तहजीब में कोई सार-भूत तत्त्व नहीं रह है, और उसके अपने विनाश के बीज उसके भीतर मौजूद रहे हैं?

जब कोई मुल्क विदेशी हुकूमत में रहता है, तो वह अपनी मौजूदा हालत के खयाल से बचने के लिए गुजरे हुए जमाने के सपनों से अपने को बहलाता है और उसे अपनी पुरानी बड़ाई की कल्पना से शांति मिलती है। यह एक बेवकूफी का और खतरनाक दिल-बहलाव है, जिसमें हममें से ज्यादातर लोग लगे रहते हैं। इतनी ही कम दिल-दरा अ बाबत हम लोगों की हिंदुस्तान में यह है कि हम खयाल करते हैं कि भले ही दुनियावी बातों में हम पस्ती पर पहुंच चुके हैं, रूहानी तौर पर हम अब भी बड़े हैं। आजादी और तरक्की के मौकों को खोकर और फाकाकशी और दुख की नाव पर हम रूहानी या किसी तरह की इमारत नहीं खड़ी कर सकते। बहुत-से पश्चिमी मुल्कों के लिखनेवालों ने इस खयाल को बढ़ावा दिया है कि हिंदुस्तान के लोग गैर-दुनियावी हैं। मैं समझता हूं कि सभी मुल्कों में गरीब और बदकिस्मत लोग गैर-दुनियावी होते हैं—यह दूसरी बात है कि वे बगावती बन बैठें—क्योंकि यह दुनिया उनके लिए नहीं है। यही हालत गुलाम मुल्क के लोगों की होती है।

ज्यों-ज्यों आदमी बड़ा होकर सयाना होता है, त्यों-त्यों माद्दी दुनिया या वस्तु-जगत से उसका संतोष हटता जाता है और वह उसमें पूरी तरह

उलझने से बचता है। वह दिमागी और रूहानी तस्कीन चाहता है, उसे भीतरी अर्थ की तलाश होती है। यही बात सभ्यताओं और जातियों पर भी लागू होती है। ज्यों-ज्यों वे बढ़कर सयाने होते हैं, हर एक सभ्यता में और हर एक जाति में अंदरूनी जिंदगी और बाहरी जिंदगी की ये साथ-साथ चलनेवाली धाराएं मिलेंगी। जब ये धाराएं एक-दूसरे से मिल जाती हैं या नजदीक रहती हैं, तब सम-तौल और पायदारी रहती है, जब ये एक-दूसरे से दूर हो जाती हैं, तब कश-मकश पैदा होती है और ऐसे संकट सामने आते हैं, जो दिमाग और रूह को तकलीफ़ पहुंचाते हैं।

ऋग्वेद की ऋचाओं के जमाने से हम जिंदगी और विचार की दोनों धाराओं का विकास बराबर देखते हैं। शुरू की ऋचाओं में बाहरी दुनिया की बातें भरी पड़ी हैं, प्रकृति की सुंदरता और रहस्य और जीवन के आनंद का वर्णन है और जीवन-दम भरपूर देखने को मिलता है। देवी-देवता ओलिंपस[1] (यूनान) के देवी-देवताओं की तरह मनुष्यों-जैसे हैं। ऐसा खयाल किया जाता है कि वे अपनी जगह से उतरकर आदमियों और औरतों के बीच हिलते-मिलते हैं और दोनों के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं है। इसके बाद विचार आता है और खोज की भावना उपजती है और इस लोक से परे जो लोक है, उसका रहस्य गहराई पकड़ता है। जिंदगी अब भी भरी-पूरी बनी रहती है, लेकिन बाहरी रूपों की तरफ से मुड़ने की प्रवृत्ति भी आ जाती है और ज्यों-ज्यों आंखें अदृश्य चीजों की तरफ फिरती हैं—उन चीजों की तरफ जिन्हें साधारण तरीके से देखा या सुना या अनुभव नहीं किया जा सकता, त्यों-त्यों इन सबसे अलहदगी का भाव बढ़ता जाता है। इन सबका मकसद क्या है? क्या इस विश्व का कोई उद्देश्य है? और अगर है, तो आदमी का जीवन इससे समरस कैसे हो सकता है? क्या हम देखी और अनदेखी दुनिया के बीच एक मधुर संबंध पैदा कर सकते हैं और इस तरह जिंदगी में आचार का सही मार्ग ढूंढ़ निकाल सकते हैं?

इसलिए हम पाते हैं कि हिंदुस्तान में इसी तरह, जिस तरह कि और जगहों में विचार और काम की ये दो धाराएं—एक जो जिंदगी से इकरार करती है, और दूसरी जो उससे बच निकलना चाहती है—साथ ही-साथ विकसित होती हैं। हां, मुख्तलिफ़ जमानों में कभी एक और कभी दूसरे पर ज्यादा जोर दिया गया है। फिर भी इस संस्कृति की बुनियाद—पृष्ठभूमि—गैर-दुनियावी या इस दुनिया को हेच समझनेवाली नहीं थी।

---

[1] यूनान का एक पर्वत, जो प्राचीन काल में देवताओं का निवास-स्थान माना जाता था।

उस वक्त भी जबकि फ़िलसफ़े की भाषा में यह इस विषय पर बहस करती थी कि दुनिया माया है, यह ख़याल कोई ख़ास ख़याल न होता था बल्कि आख़िरी असलियत के रिश्ते में इसे ऐसा समझा जाता था (यह अफ़लातून की बताई हुई असलियत की परछाईं-जैसी चीज़ थी) और यह संस्कृति दुनिया को उसकी मौजूदा सूरत से ग्रहण करती थी और ज़िंदगी और उसकी बहुतेरी सुंदरताओं का लुत्फ़ लेना चाहती थी। शायद सेमेटिक संस्कृति—अगर हम उससे निकलनेवाले मज़हबों की मिसालें लें (और ख़ासतौर पर पुराने ईसाई मत की)—कहीं ज़्यादा ग़ैर-दुनियावी रही है। टी॰ ई॰ लारेंस का कहना है कि सेमेटिक मज़हबों की आम बुनियाद में (इन मज़हबों की चाहे हार हुई हो चाहे जीत) हमेशा इस बात का ख़याल रहा है कि दुनिया हेच है। और इसका नतीजा यह हुआ है कि कभी तो लोग मौज उड़ाने की तरफ़ झुके हैं और कभी आत्म-त्याग की तरफ़।

हम पाते हैं कि हिंदुस्तान में हर ज़माने में जब उसकी संस्कृति में फूल खिलाये हैं, लोगों ने ज़िंदगी और प्रकृति में गहरा रस लिया है, जीने की क्रिया में ही उन्होंने आनंद का अनुभव किया है, साहित्य संगीत और कला का विकास हुआ है, गाने नाचने, चित्रकला और नाटकों में उनकी दिलचस्पी रही है, यहांतक कि यौन-संबंधों के बारे में बड़ी पेचीदा क़िस्म की बातें हुई हैं। इस बात का ख़याल नहीं किया जा सकता कि एक ऐसी तहज़ीब या ज़िंदगी का ऐसा नज़रिया, जिसकी बुनियाद में ग़ैर-दुनियादारी हो या जो ज़िंदगी को हेच समझता हो, इस तरह के विविध और ज़ोरदार विकास का बानी होगा। दरअसल इससे ज़ाहिर होना चाहिए कि कोई भी तहज़ीब, जो बुनियादी तौर पर ग़ैर-दुनियावी हो, हज़ारों साल तक अपने को क़ायम नहीं रख सकती।

फिर भी कुछ लोगों का ख़याल है कि हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति ज़िंदगी से इन्कार करने के सिद्धांत के सूचक हैं, ज़िंदगी से इक़रार के सिद्धांत के नहीं। मेरा ख़याल है कि दोनों ही सिद्धांत कमोबेश सभी पुरानी संस्कृतियों और पुराने धर्मों में मौजूद हैं। लेकिन मैं तो इस नतीजे पर पहुंचूंगा कि सब कुछ देखते हुए हिंदुस्तानी संस्कृति ने ज़िंदगी से इन्कार करने पर कभी ज़ोर नहीं दिया है, अगरचे यहां के कुछ फ़िलसूफ़ों ने ऐसा ज़रूर किया है। बल्कि ईसाई मज़हब के मुक़ाबले में इसने ज़िंदगी से जो इन्कार किया है, वह बहुत कम है। बौद्ध धर्म और जैन-धर्म ने अलबत्ता ज़िंदगी से अलग रहने पर कुछ ज़ोर दिया है, और हिंदुस्तान के इतिहास के कुछ ज़मानों में एक बड़े पैमाने पर ज़िंदगी से दूर रहने की प्रवृत्ति रही है, मिसाल के लिए उस

वक्त जबकि बहुत ज्यादा शुमार में लोग बौद्ध-विहारों या मठों में शामिल हुए हैं। इसकी क्या वजह थी मैं नहीं जानता। इसी तरह की बल्कि इससे भी बड़ी हुई मिसालें हमें यूरोप के मध्य-युग में मिल सकती हैं जबकि इस तरह का विश्वास फैला हुआ था कि दुनिया का खात्मा होनेवाला है। शायद त्याग के और जिंदगी से इन्कार करने के ख़याल लोगों में उस वक्त पैदा होते हैं, जब राजनैतिक या आर्थिक मायूसी का उन्हें सामना करना पड़ता है।

बौद्ध-धर्म बावजूद अपने उसूली नज़रिये के—बल्कि नज़रियों के क्योंकि कई नज़रिये हैं—दरअसल आखिरी सीमाओं से अपने को बचाता है यह तो बीच के रास्ते के सिद्धांत का माननेवाला है। यहांतक कि 'निर्वाण' के बारे में जो ख़याल है वह भी ऐसा नहीं कि उसे एक तरह की शून्यता समझें जैसाकि कभी-कभी समझा जाता है। यह एक निश्चित स्थिति है लेकिन चूंकि यह इन्सान के विचारों से परे की वस्तु है इसलिए इसके वर्णन में नकारात्मक शब्द इस्तेमाल किये गये हैं। अगर बौद्ध-धर्म जो हिंदुस्तानी विचार और संस्कृति की उपज का एक नमूना है एक नकारात्मक या जिंदगी से इन्कार करनेवाला सिद्धांत होता तो ज़रूर ही उसका इस तरह का असर उन करोड़ों लोगों पर पड़ा होता जो उसके माननेवाले हैं। लेकिन दरअसल बौद्ध मजहबवाले मुल्कों में हमें इसके खिलाफ़ सबूत मिलते हैं, और चीनी लोग इस बात की जीती-जागती मिसाल हैं कि जिंदगी से इक़रार करना किसे कहते हैं।

जान पड़ता है कि यह ग़लतफ़हमी भी इस वजह से पैदा हुई है कि हिंदुस्तानी विचारधारा हमेशा जिंदगी के आखिरी मक़सद पर जोर देती रही है। इसकी बनावट में जो आधिभौतिक बस रहा है उसे यह कभी नहीं भुला सकी है और इसलिए, जिंदगी से दूसरी तौर पर इक़रार करते हुए भी इसने जिंदगी का शिकार या गुलाम बनने से इन्कार किया है। इसने कहा है कि सही कामों में अपनी पूरी ताक़त और शक्ति के साथ बढ़कर लगिये लेकिन अपने को उससे ऊपर रखिये और अपने कामों में नतीजे के बारे में ज्यादा चिंता न कीजिये। इस तरह इसने जिंदगी और काम में लगे रहते हुए भी एक अलहदगी अख्तियार करना सिखाया है। इसने काम से मुंह मोड़ना नहीं सिखाया। अलहदगी या विरक्त रहने का ख़याल हिंदुस्तानी विचार और फ़िलसफ़े में समाया हुआ है, उसी तरह जैसे कि और बहुत-से दूसरे फ़िलसफ़ों में यह मिलता है। यह इस बात के कहने का सिर्फ़ एक दूसरा तरीक़ा है कि दृश्य और अदृश्य-जगत के बीच एक सम-तौल और तवाज़ुन क़ायम रखना चाहिए, क्योंकि दृश्य-जगत के कामों में अगर बहुत मोह पैदा

थी। शुरू में आर्यों में सिर्फ़ एक वर्ग था और धंधों का शायद ही बंटवारा रहा हो। 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी धातु से है जिसका अर्थ 'धरती का जोतना' है और सभी आर्य खेतिहर थे और खेती एक क़ाबिल-क़द्र पेशा समझा जाता था। धरती के जोतनेवाले पुरोहित सिपाही व्यापारी सभी होते और पुरोहितों को कोई विशेष हक़ हासिल नहीं थे। वर्ण-भेद जिसका मक़सद आर्यों का अनार्यों से जुदा करना था अब खुद आर्यों पर अपना यह असर लाया कि ज्यों-ज्यों धंधे बढ़े और इनका आपस में बंटवारा हुआ त्यों-त्यों नये वर्गों ने वर्ण या जात की शक्ल ले ली।

इस तरह ऐसे ज़माने में जब फ़तह करनेवालों का यह क़ायदा था कि हारे हुए लोगों को या तो गुलाम बना लेते थे या उन्हें बिल्कुल मिटा देते थे वर्ण-व्यवस्था ने एक शांतिवाला हल पेश किया और बढ़ते हुए धंधों के बंटवारे की ज़रूरत ने इसमें मदद पहुंचाई। समाज में वर्ग क़ायम हो गये किसान जनता में से वैश्य बने जिनमें किसान कारीगर और व्यापारी लोग थे क्षत्रिय हुए जो हुकूमत करते थे या युद्ध करते थे ब्राह्मण बने जो पुरोहिती करते थे विचारक थे जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्गों से नीचे शूद्र थे जो मज़दूरी करते थे और ऐसे धंधे करते थे जिनमें खास जानकारी की ज़रूरत नहीं होती और जो किसानों से अलग थे। स्थानीय बाशिन्दों में से भी बहुत-से इस समाज में मिला लिये गये और उन्हें शूद्रों के साथ इस समाजी व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया। यह मिला लेने का काम बराबर जारी रहा। इस वर्ण-विभाजन में जकड़-बन्दी आती रही और सख्ती के साथ दो भेद बाद में क़ायम हुए। शायद हुकूमत करनेवाले वर्ग को हमेशा बड़ी आज़ादी रही और कोई भी शख्स या सरदार या दूसरी तरह ताक़त अपने हाथ में कर लेता था वह अगर चाहे तो क्षत्रियों में शरीक हो सकता था और पुरोहितों के ज़रिये अपनी वंशावली तैयार करा सकता था जिसमें उसका ताल्लुक किसी प्राचीन आर्य शूर वीर से मिला दिया जाता।

आर्य शब्द का रफ़्ता-रफ़्ता कोई जातीय अभिप्राय न रह गया और इसके मानी 'कुलीन' के हो गये। इसी तरह अनार्य के मानी यह हुए कि जो कुलीन न हो और यह शब्द आमतौर पर जंगल में रहनेवाले और खाना-बदोश क़बीलों के लिए इस्तेमाल में आता।

हिंदुस्तानियों में विश्लेषण करने की एक अद्भुत बुद्धि रही है और इसने न केवल विचारों बल्कि ज़िन्दगी के कामों को अलग-अलग टुकड़ों में

बांटने के लिए उत्साह दिखाया है। आर्यों ने समाज को तो चार खास हिस्सों में बांटा ही शख्सी जिंदगी का भी इसने चार टुकड़ों या अवस्थाओं में बंटवारा किया है—पहली अवस्था ब्रह्मचर्य की है, जबकि आदमी बढ़कर युवा होता है, विद्या सीखता है, ज्ञान हासिल करता है और आत्म-संयम का अभ्यास करता है दूसरी अवस्था गृहस्थ की है, जबकि वह दुनियादारी में लगता है तीसरी अवस्था बड़े-बूढ़े व्यवहार-कुशल वानप्रस्थ की है जिसमें उसने तटस्थता और सम-तौल हासिल कर लिया है और अपने को समाज सेवा के कामों में बिना निजी लाभ की इच्छा के लगा सकता है आखिरी अवस्था सन्यास की है जिसमें वह दुनिया से बिलकुल अलग-थलग हो जाता है और दुनिया के बंधों को छोड़ देता है। इस तरह से आर्यों ने आदमी में साथ-साथ रहनेवाली दो विरोधी प्रवृत्तियों में भी समझौता कायम किया—यानी उस प्रवृत्ति में जो जिंदगी से इकरार करती है और उसमें जो जिंदगी से इन्कार करती है।

जिस तरह चीन में हुआ है उसी तरह हिंदुस्तान में विद्या और काबलियत की हमेशा लोगों ने बड़ी क़द्र की है और विद्या का अभिप्राय ऊंचे क़िस्म के ज्ञान के साथ-साथ सदाचार से रहा है। विद्वानों के सामने हुकूमत करने वालों और योद्धाओं ने सदा सिर झुकाया है। पुराना हिंदुस्तानी सिद्धांत यह रहा है कि जिनके हाथ में ताक़त है वे पूरे-पूरे ढंग से कभी तटस्थ नहीं हो सकते। उनकी निजी दिलचस्पियों और प्रवृत्तियों का आम लोगों की वाजिब जो उनके फ़र्ज़ हैं, उनसे संघर्ष पैदा होगा। इससे मूल्यों के ठीक-ठीक आंकने के लिए और नीति के आदर्शों की रक्षा के लिए विचारकों के एक वर्ग को जो आर्थिक चिंताओं और यहांतक हो सके तरफ़दारी से दूर रहें और जिंदगी के मसलों पर अलहदगी से गौर कर सकें चुना गया। इस प्रकार विचारकों और फ़िलसूफ़ों के वर्ग ने समाज के संगठन में सबसे ऊंचा दर्जा पाया और सब लोग इनका आदर और मान करते थे। इसके बाद क्रम के मैदान के लोग थे यानी हुकूमत करनेवाले और लड़ाइयों में हिस्सा लेने वाले लेकिन इनकी चाहे जैसी ताक़त रही हो इन्हें वह इज्ज़त नहीं हासिल थी जो पहले वर्ग के लोगों को थी। इससे भी कम क़द्र थी दौलतमंदों की। युद्ध करनेवाले वर्ग को बहुत ऊंचा दर्जा मिला था अगरचे यह सबसे ऊपर का वर्ग नहीं था। इस बात में हमारी स्थिति चीन से जुदा थी जहां इस वर्ग को हिक़ारत से देखा जाता था।

यह एक उलूसी बात थी और कुछ हद तक यह और जगहों में भी मिलती है। मिसाल के लिए मध्य-युग के यूरोप की ईसाई रियासतों को ले

हो जाता है, तो दूसरी दुनिया भुला दी जाती है या ओझल हो जाती है और तब खुद कामों के पीछे कोई आखिरी मकसद नहीं रह जाता।

हिंदुस्तानी दिमाग की इन शुरू की उड़ानों में सचाई पर जोर दिया गया है, उस पर भरोसा और उसके लिए उत्साह दिखाया गया है। इल्हाम या इलहाम को उन लोगों के लिए छोड़ दिया गया है, जो मुकाबले में छोटा दिमाग रखनेवाले हैं और जो इससे ऊपर उठ नहीं सकते। वे प्रयोग के जरिये, जिसकी नींव निजी अनुभव पर होती, सत्य की खोज करना चाहते थे। यह अनुभव, जब इसका ताल्लुक अदृश्य-जगत से होता, तो सभी भावुक या आत्मिक अनुभवों की तरह दृश्य-जगत के अनुभवों से मुख्तलिफ होता। तीन परिमाणों की इस दुनिया से परे, किसी दूसरी ही और बड़ी दुनिया में यह जा पहुंचता और उसे तीन परिमाणवाले शब्दों में बता सकना कठिन होता। यह अनुभव क्या था, कोई दिव्य-दर्शन था या सत्य और असलियत के किसी पहलू को पहचान लेना था या महज ख्वाब या खयाल था, मैं कह नहीं सकता। संभव है कि अक्सर यह आत्म-मोह रहा हो। जिस बात में मुझे दिलचस्पी है, वह यह है कि इस खोज का तरीका कैसा था। यह इल्हामी या कही हुई बात को मान लेने का ढंग नहीं था, बल्कि जिंदगी के बाहरी दिखावों के पीछे जो असलियत है, उसे खोज निकालने की बाती कोशिश थी।

इसे याद रखना चाहिए कि हिंदुस्तान में फ़िलसफ़ा कुछ इने-गिने फ़िल सूफ़ों या विचारकों का मैदान नहीं था। आम लोगों के मजहब का यह एक लाजिमी अंग था और चाहे जितने घुले हुए रूप में क्यों न हो, यह मिलकर जन तक पहुंचता था और इसने उनमें एक फ़िलसफ़ियाना नज़रिया पैदा कर दिया था, जो हिंदुस्तान में क़रीब-क़रीब उतना ही आम था, जितना कि चीन में यह है। कुछ लोगों के लिए तो इस फ़िलसफ़े ने एक गहरी और पेचीदा कोशिश की शक्ल अख्तियार कर ली थी, जो यह जानना चाहती थी कि सभी दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं के पीछे कौनसे कारण और नियम काम कर रहे हैं। जिंदगी का आखिरी मकसद क्या है, जिंदगी में जो बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें दिखाई पड़ती हैं, उनमें कोई भीतरी एकता है या नहीं। लेकिन आम लोगों के लिए यह एक ज्यादा सादा मामला था। फिर भी इसने उन्हें जिंदगी के मकसद का, कार्य-कारण का कुछ ज्ञान दिया और उनमें ऐसी हिम्मत पैदा की कि वे कठिनाइयों और बदनसीबियों का सामना कर सकें और अपनी शांति और खुशी का न खो बैठें। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने डाक्टर ताई ची-ताओ को लिखा था कि चीन और हिंदुस्तान का पुराना नाम 'ताओ' यानी सच्चा रास्ता पूर्णता की खोज है और जिंदगी के अनेक कामों

का जीवन के आनंद से मेल है। इस ज्ञान के कुछ हिस्से ने अनपढ़ और मूर्ख जनता पर भी अपनी छाप डाली है और हमने देखा है कि सात साल के भयानक युद्ध के बाद भी चीनी लोगों ने अपने दिल दिमाग के संयम को खोया नहीं है और न अपने दिमाग की खुशी में फ़र्क आने दिया है। हिंदुस्तान में हमारी मुसीबतें और भी सख्त रही हैं और ग़रीबी और हद दर्जे की विपत्ति हमारे यहां के लोगों की अमिट साथी रही है। फिर भी वे हंस लेते हैं और गाते हैं और नाचते हैं और उम्मीद नहीं छोड़ बैठे हैं।

## ७ समन्वय और समझौता वर्ण-व्यवस्था का आरंभ

आर्यों के हिंदुस्तान में आने ने नये मसले खड़े किये जो क़ौमी और राजनैतिक दोनों ही थे। हारी हुई जाति यानी द्रविड़ों के पीछे सभ्यता की एक लंबी पृष्ठभूमि थी लेकिन इसमें ज़रा भी शक नहीं कि आर्य लोग अपने को उनसे बहुत ही ऊंचा समझते थे और दोनों के बीच एक चौड़ी खाई थी। फिर कुछ पिछड़ी हुई क़दीम जातियां भी थीं जो या तो जंगलों में रहा करती थीं या खानाबदोश थीं। जातियों के इस कशमकश और आपस की प्रतिक्रिया से ही वर्ण-व्यवस्था की शुरुआत हुई और बाद की सदियों में इसने हिंदुस्तानियों की ज़िंदगी पर बड़ा गहरा असर डाला। शायद यह न आर्यों की चीज़ थी न द्रविड़ों की। यह जुदा-जुदा जातियों को एक सामाजिक संगठन के अंदर से आने की कोशिश थी उस वक्त के जो भी हालात थे उन्हें एक संगत रूप देने का प्रयास था। बाद में इसकी वजह से बड़ी पस्ती आई और आज भी यह एक बोझ और शाप के रूप में मौजूद है। लेकिन बाद की कसौटियों और विकास के आधार पर इसके बारे में फ़ैसला करना मुनासिब न होगा। यह व्यवस्था उस ज़माने के विचारों के अनुरूप थी और कुछ इस तरह के वर्ग सभी क़दीम तहज़ीबों में हम पाते हैं सिवाय चीन के जो ज़ाहिरा तौर पर इससे बचा हुआ था। आर्यों की दूसरी शाख में यानी ईरानियों के यहां सासानी ज़माने में चार वर्ग किये गये थे लेकिन इन्होंने बिगड़ कर जातों की शक्ल नहीं ली। बहुत-सी पुरानी तहज़ीबें—जिनमें यूनानी भी एक है—आम लोगों की गुलामी के बल पर बनी थीं। हिंदुस्तान में मज़दूर की गुलामी इतने बड़े पैमाने पर नहीं थी अलबत्ता थोड़े तादाद में घरेलू गुलाम यहां पर भी थे। अफ़लातून ने अपनी 'रिपब्लिक' पुस्तक में चार ख़ास दर्जों के ढंग के वर्गों का चर्चा की है। मध्य-युग के सामंतिक देशों में भी इस तरह का भेद मौजूद था।

जात या वर्ण का आरंभ आर्यों और अनार्यों के भेद से हुआ। अनार्यों में भी दो भेद थे एक तो द्रविड़ जातियां थीं दूसरे यहां की क़दीम जातियां

थी। शुरू में आर्यों में सिर्फ़ एक वर्ग था और धंधों का शायद ही बंटवारा रहा हो। 'आर्य' शब्द की व्युत्पत्ति ऐसी धातु से है, जिसका अर्थ 'धरती का जोतना' है और सभी आर्य खेतिहर थे खेती एक क़ाबिल-क़द्र पेशा समझा जाता था। धरती के जोतनेवाले पुरोहित सिपाही व्यापारी सभी होते और पुरोहितों को कोई विशेष हक़ हासिल नहीं थे। वर्ण-भेद, जिसका मक़सद आर्यों को अनार्यों से जुदा करना था अब खुद आर्यों पर अपना यह असर लाया कि ज्यों-ज्यों धंधे बढ़े और इनका आपस में बंटवारा हुआ त्यों-त्यों नये वर्गों ने वर्ण या जात की शक्ल ले ली।

इस तरह, ऐसे ज़माने में जब फ़तह करनेवालों का यह क़ायदा था कि हारे हुए लोगों को या तो ग़ुलाम बना लेते थे या उन्हें बिलकुल मिटा देते थे वर्ण-व्यवस्था ने एक शांतिवाला हल पेश किया और बढ़ते हुए धंधों के बंटवारे की ज़रूरत ने इसमें मदद पहुंचाई। समाज में वर्ग क़ायम हो गये किसान जनता में से वैश्य बने जिनमें किसान कारीगर और व्यापारी लोग थे क्षत्रिय हुए जो हुकूमत करते थे या युद्ध करते थे ब्राह्मण बने जो पुरोहिती करते थे विचारक थे जिनके हाथ में नीति की बागडोर थी और जिनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे जाति के आदर्शों की रक्षा करेंगे। इन तीनों वर्णों से नीचे शूद्र थे जो मज़दूरी करते थे और ऐसे धंधे करते थे जिनमें ख़ास जानकारी की ज़रूरत नहीं होती और जो किसानों से अलग थे। क़दीम बाशिंदों में से भी बहुत-से इस समाज में मिला लिये गये और उन्हें शूद्रों के साथ इस समाजी व्यवस्था में सबसे नीचे का दर्जा दिया गया। यह मिला लेने का काम बराबर जारी रहा। इस वर्ण-विभाजन में अदला बदली होती रही और सख़्ती के साथ तो भेद बाद में क़ायम हुए। शायद हुकूमत करनेवाले वर्ग को हमेशा बड़ी आज़ादी रही और कोई भी शख़्स जो लड़कर या दूसरी तरह ताक़त अपने हाथ में कर लेता था वह अगर चाहे, तो क्षत्रियों में शरीक हो सकता था और पुरोहितों के ज़रिये अपनी वंशावली तैयार करा सकता था जिसमें उसका ताल्लुक़ किसी प्राचीन आर्य शूर वीर से मिला दिया जाता।

आर्य शब्द का रफ़्ता-रफ़्ता कोई जातीय अभिप्राय न रह गया और इसके मानी 'कुलीन' के हो गये। इसी तरह अनार्य के मानी यह हुए कि जो कुलीन न हो और यह शब्द आमतौर पर जंगल में रहनेवालों और खाना-बदोश जातियों के लिए इस्तेमाल में आता।

हिंदुस्तानियों में विश्लेषण करने की एक अद्भुत वृत्ति रही है और इसने न केवल विचारों, बल्कि ज़िंदगी के कामों को अलग-अलग टुकड़ों में

बांटने के लिए उत्साह दिखाया है। आर्यों ने समाज को तो चार खास हिस्सों में बांटा ही उसकी जिंदगी का भी इसने चार टुकड़ों या अवस्थाओं में बंटवारा किया है—पहली अवस्था ब्रह्मचर्य की है, जबकि आदमी बढ़कर युवा होता है विद्या सीखता है ज्ञान हासिल करता है और आत्म-संयम का अभ्यास करता है दूसरी अवस्था गृहस्थ की है जबकि वह दुनियादारी में लगता है तीसरी अवस्था बड़े-बूढ़े व्यवहार-कुशल वानप्रस्थ की है जिसमें उसने तटस्थता और सम-तौल हासिल कर लिया है और अपने को समाज-सेवा के कामों में बिना निजी लाभ की इच्छा के लगा सकता है आखिरी अवस्था संन्यास की है जिसमें वह दुनिया से बिलकुल अलग-थलग हो जाता है और दुनिया के धंधों को छोड़ देता है। इस तरह से आर्यों ने आदमी में साथ-साथ रहनेवाली दो विरोधी प्रवृत्तियों में भी समझौता कायम किया—यानी उस प्रवृत्ति में जो जिंदगी से इकरार करती है और उसमें जो जिंदगी से इन्कार करती है।

जिस तरह चीन में हुआ है उसी तरह हिंदुस्तान में विद्या और ज्ञान सिफत की हमेशा लोगों ने बड़ी कद्र की है और विद्या का अभिप्राय ऊंचे किस्म के ज्ञान के साथ-साथ सदाचार से रहा है। विद्वानों के सामने हुकूमत करने-वालों और योद्धाओं ने सदा सिर झुकाया है। पुराना हिंदुस्तानी सिद्धांत यह रहा है कि जिनके हाथ में ताकत है, वे पूरे-पूरे ढंग से कभी तटस्थ नहीं हो सकते। उनकी निजी दिलचस्पियों और प्रवृत्तियों का काम लोगों की वाजिब जो उनके फर्ज हैं उनसे संघर्ष पैदा होगा। इससे मूल्यों के ठीक-ठीक आंकने के लिए और नीति के आदर्शों की रक्षा के लिए विचारकों के एक वर्ग को जो आर्थिक दिक्कतों और जहांतक हो सके, सरकारी से दूर रहें और जिंदगी के मसलों पर अलहदगी से और कर सकें, चुना गया। इस प्रकार विचारकों और फिलसूफों के वर्ग ने समाज के संगठन में सबसे ऊंचा दर्जा पाया और सब लोग इनका आदर और मान करते थे। इसके बाद काम के मैदान के लोग थे यानी हुकूमत करनेवाले और लड़ाइयों में हिस्सा लेने-वाले लेकिन इनकी चाहे जैसी ताकत रही हो, इन्हें वह इज्जत नहीं हासिल थी जो पहले वर्ग के लोगों को थी। इससे भी कम कद्र थी दौलतमंदों की। युद्ध करनेवाले वर्ग को बहुत ऊंचा दर्जा मिला था अगरचे यह सबसे ऊपर का वर्ग नहीं था। इस बात में हमारी स्थिति चीन से जुदा थी जहां इस वर्ग को हिकारत से देखा जाता था।

यह एक उमूमी बात थी और कुछ हद तक यह और जगहों में भी मिलती है। मिसाल के लिए मध्य-युग के यूरोप की ईसाई रियासतों को ले

किया। चीन को छोड़कर कोई ऐसा मुल्क नहीं जो अपनी भाषा और साहित्य अपने धार्मिक विश्वास और कर्म-कांड और अपने सामाजिक रीति-रिवाजों का तीन हजार वर्षों से ज्यादा का अटूट विकास का सिलसिला पेश कर सके।"

लेकिन इतिहास के इस बड़े जमाने में हिंदुस्तान बिलकुल अलग-थलग नहीं रहा है और उसका निरंतर और जीता-जागता संपर्क ईरानियों यूनानियों चीनियों मध्य-एशियायियों और औरों से रहा है। अगर उसकी बुनियादी संस्कृति इन संपर्कों के बाद भी क़ायम रही तो जरूर खुद इस संस्कृति में कोई बात—कोई भीतरी ताक़त और जिंदगी की समझ-बूझ—रही है जिसने इसे इस तरीक़े पर जिंदा रखा है क्योंकि यह तीन-चार हजार बरसों का संस्कृति का विकास और अटूट सिलसिला एक अद्भुत बात है। मशहूर विद्वान और प्राच्यविद् मैक्समूलर ने इस पर जोर दिया है और लिखा है—"दरअसल हिंदू विचार के सबसे हाल के और सबसे पुराने रूपों में एक अटूट क्रम मिलता है और यह तीन हजार साल से ज्यादा तक बना रहा है। बहुत जोश के साथ उन्होंने (इंग्लिस्तान की कैंब्रिज युनिवर्सिटी में दिये गये व्याख्यानों में सन १८८२ में) कहा है— अगर हम सारी दुनिया की खोज करें ऐसे मुल्क का पता लगाने के लिए कि जिसे प्रकृति ने सबसे संपन्न शक्तिवाला और सुंदर बनाया है—जो कुछ हिस्सों में धरती पर स्वर्ग की तरह है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूंगा। अगर मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले इन्सान के दिमाग़ ने अपने कुछ सबसे चुने हुए गुणों का विकास किया है जिंदगी के सबसे अहम मसलों पर सबसे ज्यादा गहराई के साथ सोच-विचार किया है और उनमें से कुछ के ऐसे हल हासिल किये हैं जिनपर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए, जिन्होंने कि अफ़लातून और कांट को पढ़ा है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूंगा। और अगर मैं अपने से पूछूं कि कौनसा ऐसा साहित्य है, जिससे हम यूरोपवाले जो बहुत कुछ महज यूनानियों और रोमनों और एक सेमेटिक जाति के यानी यहूदियों के विचारों के साथ-साथ पले हैं यह इसलाह हासिल कर सकते हैं जिसकी हमें अपनी जिंदगी को ज्यादा मुकम्मिल ज्यादा विस्तृत और ज्यादा व्यापक बनाने के लिए जरूरत है न महज इस जिंदगी के लिहाज से बल्कि एक एकदम बदली हुई और सदा क़ायम रहनेवाली जिंदगी के लिहाज से तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूंगा।

क़रीब-क़रीब यानी यही बात रोम्यां रोलां ने उन्हीं मानों में कही है—"अगर दुनिया की सतह पर कोई एक मुल्क है जहां कि जिंदा

लीजिये जबकि रोम के पादरियों के हाथ में सभी रूहानी, इख़लाक़ी और नैतिक मामलों की नकेल थी, यहांतक कि रियासत के बार-बार के बुनियादी आम उसूलों की भी। असली तौर पर रोम के पादरियों की गहरी दिलचस्पी दुनियावी ताक़त में पैदा हो गई थी और मज़हब के ख़ास पुरोहित लोग ख़ुद हाकिम बने हुए थे। हिंदुस्तान में ब्राह्मण-वर्ग ने विचारकों और फ़िलसूफ़ों को पैदा करने के अलावा ख़ुद ताक़त हासिल कर ली थी इस तरह अपने को सुरक्षित करके पुरोहितों ने अपनी जायदादों की हिफ़ाज़त की ठान ली थी। लेकिन यह सिद्धांत मुख्तलिफ़ हद तक हिंदुस्तानी ज़िंदगी पर गहरा असर डालता रहा और आदर्श हमेशा यह रहा कि विद्वान और ज्ञानवान नम्र और संयमी और दूसरों के लिए आत्म-त्याग करनेवालों की इज़्ज़त की जाय। ब्राह्मण-वर्ग में गुज़रे ज़माने में अधिकारी जमात की सभी बुराइयां रही हैं और इसमें से बहुतेरे न क़ाबिल हुए हैं, न नेक। फिर भी आम लोगों में उनकी इज़्ज़त बनी रही है इसलिए नहीं कि उनके पास दौलत इकट्ठा हो गई थी बल्कि इसलिए कि उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहुत-से क़ाबिल लोगों को पैदा किया था जिन्होंने अपने त्याग द्वारा आम लोगों की और समाज की भलाई की थी। अपने ख़ास-ख़ास लोगों के कारनामों से पूरे वर्ग ने हर युग में फ़ायदा उठाया है, लेकिन आम लोगों ने इज़्ज़त की है गुणों की न कि पदों की। परंपरा यह रही है कि भलाई और विद्या की इज़्ज़त हो वह चाहे जिस शख़्स में हो। बहुत-सी मिसालें हैं इस बात की कि ग़ैर ब्राह्मणों की यहांतक कि दलित-वर्ग के लोगों की इतनी इज़्ज़त की गई है कि उन्हें संतों का रुतबा तक दिया गया है। सरकारी पद और फ़ौजी शक्ति की इतनी इज़्ज़त नहीं की गई है—इनका भय चाहे लोगों ने माना हो।

आज भी इस पैसे के युग में इस परंपरा का असर साफ़ तौर पर दिखाई देता है और इसीकी वजह से गांधीजी (जो ब्राह्मण नहीं हैं) आज हिंदुस्तान के सबसे बड़े नेता बन गये हैं और बिना किसी सरकारी पद के या धन के ज़ोर के आज करोड़ों दिलों पर उनका सिक्का जमा हुआ है। शायद एक क़ौम की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और चेतन या अचेतन उद्देश्य की यह एक अच्छी कसौटी है यानी किस तरह के नेता को वह क़बूल करती है।

पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता या भारतीय आर्य-संस्कृति में धर्म का विचार एक व्यापक विचार था और धर्म के मानी मत या मज़हब से कुछ ज़्यादा थे। इसमें दूसरों के प्रति अपने फ़र्ज़ की अदायगी का भी विचार रहा है। यह धर्म ख़ुद 'ऋत' का अंग था यानी उस बुनियादी नैतिक विधान का अंग था जो इस सारे विश्व को और जो कुछ इस विश्व में है उस

सबका नियमन करता है। यदि ऐसी कोई व्यवस्था है तो मनुष्य को उसके अनुकूल बनना तथा रहना-सहना चाहिए कि इससे उसकी संगति या समरसता क़ायम रहे। अगर आदमी अपने फ़र्जों को अदा करता है और सदाचार की दृष्टि से उसके काम ठीक हैं, तो लाज़िमी तौर पर नतीजे उनके ठीक होंगे। हक़ों पर ज़ोर नहीं दिया जाता था। यह कुछ हद तक सभी जगह पुराना नज़रिया रहा है। इस ज़माने में जो व्यक्ती गिरोहों और क़ौमों के हक़ों पर ज़ोर दिया जाता है वह इससे ज़ाहिरा तौर पर बहुत ख़िलाफ़ जान पड़ता है।

## ८ हिंदुस्तानी संस्कृति का अटूट सिलसिला

इस तरह शुरू-शुरू के दिनों में हम एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का आरंभ देखते हैं जो बाद के युगों में बहुत फली-फूली और पनपी और जो बावजूद बहुत-सी तबदीलियों के बराबर क़ायम रही। बुनियादी आदर्श और मुख्य विचार अपना रूप ग्रहण करते हैं और साहित्य और फ़िलसफ़ा कला और नाटक और ज़िंदगी के और कामों इन आदर्शों से और लोकमत से प्रभावित होते हैं जो बाद में उगकर बढ़ते ही रहे और आजकल की वर्ण-व्यवस्था के रूप में उन्होंने सारे समाज और सभी चीज़ों को जकड़ लिया। यह व्यवस्था एक ख़ास युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें समतौल पैदा करना था लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और इनसानी दिमाग़ के लिए क़ैदखाना बन गई। आख़िरकार तरक़्क़ी के बाना हिफ़ाज़त ख़रीदी गई।

फिर भी बहुत दिनों तक यह व्यवस्था क़ायम रही और सभी दिशाओं में तरक़्क़ी करने की प्रेरणा इतनी ज़ोरदार थी कि उस व्यवस्था के चौखटे के भीतर भी यह सारे हिंदुस्तान में और पूरबी समुद्रों तक फैली और इसकी पायदारी ऐसी थी कि यह हमलों के धक्के बार-बार सहकर भी ज़िंदा रही। प्रोफ़ेसर मैकडानेल अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में हमें बताते हैं कि "हिंदुस्तानी साहित्य का महत्त्व समग्र रूप से उसकी मौलिकता में है। जिस वक़्त कि यूनानियों ने ईसा से पहले की चौथी सदी के अंत में पश्चिमोत्तर में हमला किया उस वक़्त हिंदुस्तानी अपनी क़ौमी संस्कृति क़ायम कर चुके थे और इस पर विदेशी प्रभाव नहीं पड़े थे। और बावजूद इसके कि ईरानियों यूनानियों सिदियनों और मुसलमानों के हमलों की लहरें एक के बाद एक आती रहीं और ये लोग विजय पाते रहे भारतीय आर्य जाति की ज़िंदगी और साहित्य का क़ौमी विकास अंग्रेज़ों के अधिकार के वक़्त तक बिना रुकावट और अटूट क्रम से चलता रहा। इंडो-यूरोपियन जाति की किसी शाखा ने अलग रहते हुए, ऐसे विकास का अनुभव नहीं

लीजिये जबकि रोम के पादरियों के हाथ में सभी रूहानी इखलाकी और नैतिक मामलों की नकेल थी यहांतक कि रियासत के कार-बार के बुनियादी आम उसूलों की भी। अमली तौर पर रोम के पादरियों की गहरी दिलचस्पी दुनियावी ताकत में पैदा हो गई थी और मजहब के साथ पुरोहित लोग खुद हाकिम बने हुए थे। हिंदुस्तान में ब्राह्मण-वर्ग ने विचारकों और फ़िलसूफ़ों को पेश करने के अलावा खुद ताकत हासिल कर ली थी इस तरह अपने को सुरक्षित करके पुरोहितों ने अपनी पायदारों की हिफ़ाजत की ठान ली थी। लेकिन यह सिद्धांत मुस्तलिफ़ हद तक हिंदुस्तानी जिंदगी पर गहरा असर डालता रहा और आदर्श हमेशा यह रहा कि विद्वान और दयावान जने और संयमी और दूसरों के लिए आत्म-त्याग करनेवालों की इज्जत की जाय। ब्राह्मण-वर्ग में गुजरे जमाने में अधिकारी जमात की सभी बुराइयां रही हैं और इसमें से बहुतेरे न काबिल हुए हैं न नेक। फिर भी आम लोगों में उनकी इज्जत बनी रही है इसलिए नहीं कि उनके पास दौलत इकट्ठा हो गई थी बल्कि इसलिए कि उन्होंने पीढ़ी-दर-पीढ़ी बहुत-से काबिल लोगों को पैदा किया था जिन्होंने अपने त्याग द्वारा आम लोगों की और समाज की सेवाएं की थीं। अपने खास-खास लोगों के कारनामों से पूरे वर्ग ने हर युग में फ़ायदा उठाया है लेकिन आम लोगों ने इज्जत की है गुणों की न कि पदों की। परंपरा यह रही है कि भलाई और विद्या की इज्जत हो वह चाहे जिस शख्स में हो। बहुत-सी मिसालें हैं इस बात की कि गैर ब्राह्मणों की यहांतक कि दलित-वर्ग के लोगों की इतनी इज्जत की गई है कि उन्हें संतों का दरजा तक दिया गया है। सरकारी पद और फौजी शक्ति की उतनी इज्जत नहीं की गई है—इनका भय चाहे लोगों ने माना हो।

आज भी इस पैसे के युग में इस परंपरा का असर साफ़ तौर पर दिखाई देता है और इसीकी वजह से गांधीजी (जो ब्राह्मण नहीं हैं) आज हिंदुस्तान के सबसे बड़े नेता बन गये हैं और बिना किसी सरकारी पद के या धन के जोर के आज करोड़ों दिलों पर उनका सिक्का जमा हुआ है। शायद एक कौम की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और चेतन या अचेतन उद्देश्य की यह एक अच्छी कसौटी है यानी किस तरह के नेता को वह कबूल करती है।

पुरानी हिंदुस्तानी सभ्यता या भारतीय आर्य-संस्कृति में धर्म का विचार एक केंद्रीय विचार था और धर्म के मानी मत या मजहब से कुछ ज्यादा थे। इसमें दूसरा के प्रति अपने फ़र्ज की अदायगी का भी विचार रहा है। यह धर्म ऋत का अंग था यानी उस बुनियादी नैतिक विधान का अंग था जो इस सारे विश्व को और जो कुछ इस विश्व में है उस

सबका नियमन करता है। यदि ऐसी कोई व्यवस्था है तो मनुष्य को उसके अनुकूल बनना तथा रहना-सहना चाहिए कि इससे उसकी संगति या समरसता कायम रहे। अगर आदमी अपने फ़र्जों को अदा करता है और सदाचार की दृष्टि से उसके काम ठीक हैं, तो लाजिमी तौर पर नतीजे उसके ठीक होंगे। हक़ों पर जोर नहीं दिया जाता था। यह कुछ हद तक सभी जगह पुराना नजरिया रहा है। इस जमाने में जो खासी गिरोहों और क़ौमों के हक़ों पर जोर दिया जाता है वह इससे जाहिरा तौर पर बहुत खिलाफ़ जान पड़ता है।

## ८ हिंदुस्तानी संस्कृति का अटूट सिलसिला

इस तरह शुरू-शुरू के दिनों में हम एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का आरंभ देखते हैं जो बाद के युगों में बहुत फली-फूली और पनपी और जो बावजूद बहुत-सी तबदीलियों के बराबर क़ायम रही। बुनियादी आदर्श और मुख्य विचार अपना रूप ग्रहण करते हैं और साहित्य और फ़िलसफ़ा कला और नाटक और जिंदगी के और धंधे इन आदर्शों से और लोकमत से प्रभावित होते हैं जो बाद में उगकर बढ़ते ही रहे और आजकल की वर्ण-व्यवस्था के रूप में उन्होंने सारे समाज और सभी चीजों को जकड़ लिया। यह व्यवस्था एक खास युग की परिस्थितियों में बनी थी और इसका उद्देश्य समाज का संगठन और उसमें समतोल पैदा करना था लेकिन इसका विकास कुछ ऐसा हुआ कि यह उसी समाज के लिए और इन्सानी दिमाग के लिए क़ैदखाना बन गई। आखिरकार तरक्की के रास्तों हिफ़ाजत खारीदी गई।

फिर भी बहुत दिनों तक यह व्यवस्था क़ायम रही और सभी दिशाओं में तरक्की करने की प्रेरणा इतनी जोरदार थी कि उस व्यवस्था के चौखटे के भीतर भी यह सारे हिंदुस्तान में और पूरबी समुद्रों तक फैली और इसकी पायदारी ऐसी थी कि यह हमलों के धक्के बार-बार सहकर भी जिंदा रही। प्रोफ़ेसर मैकडानेल अपने 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में हमें बताते हैं कि हिंदुस्तानी साहित्य का महत्त्व समग्र रूप से उसकी मौलिकता में है। जिस वक्त कि यूनानियों ने ईसा से पहले की चौथी सदी के अंत में पश्चिमोत्तर में हमला किया उस वक्त हिंदुस्तानी अपनी क़ौमी संस्कृति क़ायम कर चुके थे और इस पर विदेशी प्रभाव नहीं पड़े थे। और बावजूद इसके कि ईरानियों यूनानियों सिथियनों और मुसलमानों के हमलों की लहरें एक के बाद एक आती रहीं और वे लोग विजय पाते रहे, भारतीय आर्य जाति की जिंदगी और साहित्य का क़ौमी विकास अंग्रेजों के अधिकार के वक्त तक बिना रुकावट और अटूट क्रम से चलता रहा। इंडो-यूरोपियन जाति की किसी शाख ने अलग रहते हुए, ऐसे विकास का अनुभव नहीं

किया। चीन को छोड़कर कोई ऐसा मुल्क नहीं जो अपनी भाषा और साहित्य अपने धार्मिक विश्वास और कर्म-कांड और अपने सामाजिक रीति-रिवाजों का तीन हजार वर्षों से ज्यादा का अटूट विकास का सिल सिला पेश कर सके।

लेकिन इतिहास के इस लंबे जमाने में हिंदुस्तान बिल्कुल अलग-थलग नहीं रहा है और उसका निरंतर और जीता-जागता संपर्क ईरानियों यूनानियों चीनियों मध्य-एशियाइयों और औरों से रहा है। मगर उसकी बुनियादी संस्कृति इन संपर्कों के बाद भी क़ायम रही तो जरूर खुद इस संस्कृति में कोई बात—कोई भीतरी ताक़त और जिंदगी की समझ-बूझ—रही है जिसने इसे इस तरीके पर जिंदा रखा है क्योंकि यह तीन-चार हजार बरसों का संस्कृति का विकास और अटूट सिलसिला एक अद्भुत बात है। मशहूर विद्वान और प्राच्यविद् मैक्समूलर ने इस पर जोर दिया है और लिखा है—"दरअसल हिंदू विचार के सबसे दूरस्थ के और सबसे पुराने वर्षों में एक अटूट क्रम मिलता है और यह तीन हजार साल से ज्यादा तक बना रहा है। बहुत जोश के साथ उन्होंने (इंग्लिस्तान की कैंब्रिज यूनिवर्सिटी में दिये गये व्याख्यानों में सन १८८२ में) कहा है—'अगर हम सारी दुनिया की खोज करें ऐसे मुल्क का पता लगाने के लिए कि जिसे प्रकृति ने सबसे संपन्न शक्तिवाला और सुंदर बनाया है—जो कुछ हिस्सों में धरती पर स्वर्ग की तरह है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूंगा। अगर मुझसे कोई पूछे कि किस आकाश के तले इन्सान के दिमाग ने अपने कुछ सबसे चुने हुए गुणों का विकास किया है जिंदगी के सबसे अहम मसलों पर सबसे ज्यादा गहराई के साथ सोच-विचार किया है और उनमें से कुछ के ऐसे हल हासिल किये हैं जिनपर उन्हें भी ध्यान देना चाहिए, जिन्होंने कि अफ़लातून और कांट को पढ़ा है—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ इशारा करूंगा। और अगर मैं अपने से पूछूं कि कौनसा ऐसा साहित्य है, जिससे हम यूरोपवाले जो बहुत कुछ महज यूनानियों और रोमनों और एक सेमेटिक जाति के यानी यहूदियों के विचारों के साथ-साथ पले हैं, वह इसलाह हासिल कर सकते हैं जिसकी हमें अपनी जिंदगी को ज्यादा मुकम्मिल ज्यादा विस्तृत और ज्यादा व्यापक बनाने के लिए जरूरत है, न महज इस जिंदगी के लिहाज से बल्कि एक एकदम बदली हुई और सदा क़ायम रहनेवाली जिंदगी के लिहाज से—तो मैं हिंदुस्तान की तरफ़ इशारा करूंगा।"

क़रीब-क़रीब यही बात रोम्यां रोलां ने उसी लहजे में लिखा है—"अगर दुनिया की सतह पर कोई एक मुल्क है जहां कि जिंदा लोगों

के सभी सपनों को उस क़दीम वक्त से जगह मिली है, जबसे इन्सान ने अस्तित्व का सपना शुरू किया तो वह हिंदुस्तान है।"

## ९ उपनिषद्

उपनिषद् जिनका समय ईसा से ८०० वर्ष पहले से लेकर है हमें भारतीय-आर्यों के विचार के विकास में एक क़दम आगे ले जाते हैं और यह बड़ा लंबा क़दम है। आर्य लोगों को बसे हुए अब काफ़ी समय बीत चुका है और एक पायदार और खुशहाल सभ्यता जिसमें पुराने और नये का मेल हो चुका है बन गई है। इसमें आर्यों के विचार और आदर्श प्रभाव रखते हैं लेकिन इनकी पृष्ठभूमि में पूजा के जो रूप हैं, वे और भी पहले के और आदिम हैं।

वेदों का नाम आदर से लेकिन एक मीठे व्यंग के भाव से लिया जाता है। वैदिक देवताओं से अब संतोष नहीं रह जाता और पुरोहितों के कर्म-कांड का मज़ाक़ उड़ाया जाता है। लेकिन अतीत से नाता तोड़ लेने की कोशिश नहीं होती उसे वह मुकाम समझा जाता है, जहां से तरक़्क़ी की मंज़िल शुरू होती है।

उपनिषद् छान-बीन की मानसिक साहस की और सत्य की खोज के उत्साह की भावना से भर-पूर हैं। यह सही है कि यह सत्य की खोज मौजूदा ज़माने के विज्ञान के प्रयोग के तरीक़ों से नहीं हुई है फिर भी जो तरीक़ा अख़्तियार किया गया है, उसमें वैज्ञानिक तरीक़े का एक अंश है। हठवाद को दूर कर दिया गया है। उनमें बहुत-कुछ ऐसा है, जो साधारण है और जिसका आजकल हम लोगों के लिए कोई अर्थ या प्रसंग नहीं। खास ज़ोर आत्म-बोध या आत्मा-परमात्मा के ज्ञान पर दिया गया है और इन दोनों को मूल में एक ही बताया गया है। बाहरी दुनिया या वस्तु-जगत को असत् नहीं बताया गया है बल्कि निस्बती तौर पर सत् और भीतरी सत्य का एक पहलू बताया गया है।

उपनिषदों में बहुत-सी अस्पष्ट बातें हैं और उनकी मुख़्तलिफ़ शरहें हुई हैं। लेकिन ये फ़िलसूफ़ों और विद्वानों के जांच करने की चीज़ें हैं। आम झुकाव अद्वैतवाद की तरफ़ है और इस सारे नज़रिये का ज़ाहिरा मक़सद यह मालूम पड़ता है कि उस ज़माने की जो आपस की कड़ी बहसें रही हैं और भेद-भाव रहे हैं, उन्हें कम किया जाय। यह समन्वय का रास्ता रहा है। जादू टोने में दिलचस्पी को और इसी तरह दैवी बातों के ज्ञान को बढ़ावा देने से रोका गया है और बिना सच्चे ज्ञान के पूजा-पाठ और कर्म-कांड को फ़िज़ूल बताया गया है। कहा गया है— 'इनमें लगे हुए लोग अपने को समझदार

और विज्ञान मानते हुए इस तरह भटकते रहते हैं जैसे अंधे को अंधा रास्ता दिखा रहा हो और वे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते ।" वेदों तक को नीचे दर्जे का ज्ञान बताया गया है भीतरी मन के प्रकाश को ऊंचा ज्ञान कहा है। बिना संयम के फ़िलसफ़े के ज्ञान की तरफ़ से होशियार *किया गया है* और समाज के फ़र्जों और रूहानी बातों में सामंजस्य पैदा करने की बराबर कोशिश की गई है । जिन्दगी ने जो कर्तव्य और फ़र्ज़ ऊपर डाले हैं, उनका पालन होना ही चाहिए, लेकिन असहृदगी का भाव रखते हुए, ऐसा कहा गया है।

व्यक्तिगत पूर्णता की नीति पर शायद इतना ज़्यादा ज़ोर दिया गया कि सामाजिक दृष्टिकोण को नुकसान पहुंचा । उपनिषदों में कहा गया है कि 'आत्मा से बढ़कर कोई चीज़ नहीं'। यह समझा गया होगा कि समाज में पायदारी आ गई है इसलिए आदमी का दिमाग व्यक्तिगत पूर्णता का बराबर ध्यान किया करता था और इसकी खोज में उसने आसमान और दिल के सबसे अंदरूनी कोनों को छान डाला । यह पुराना हिंदुस्तानी नज़रिया कोई संकुचित क़ौमी नज़रिया न था अगरचे इस बात का ज़रूर ख़याल रहा होगा कि हिंदुस्तान सारी दुनिया का केंद्र है उसी तरह जिस तरह कि चीन यूनान और रोम ने अपने बारे में मुख्तलिफ़ वक्तों में ख़याल किया है । महाभारत में कहा गया है—"यह सारा मर्त्यलोक एक परस्पर आश्रित संगठन है ।"

जिन सवालों पर उपनिषदों में विचार किया गया है उनके आधि भौतिक पहलुओं को समझना मेरे लिए कठिन है, लेकिन इन सवालों पर गौर करने का जो ढंग है, उसने मुझ पर असर डाला है क्योंकि यह हठवाद या अंध-विश्वास का ढंग नहीं है। यह ढंग मज़हबी न होकर फ़िलसफ़ियाना है। ख़यालों के रूख-रूख को खोज की भावना को और दलील की पृष्ठ-भूमि को मैं पसंद करता हूं। बयान के ढंग में कसाव है। यह अक्सर गुरु और शिष्य के बीच सवाल-जवाब के रूप में मिलता है और यह अनुमान किया गया है कि उपनिषद् व्याख्यानों के एक तरह की याददाश्त हैं जिन्हें गुरु ने तैयार किया है या शिष्यों ने टांक लिया है। प्रोफ़ेसर एफ़० डब्ल्यू० टामस अपनी किताब 'दि लीगेसी ऑव इंडिया' ('हिंदुस्तान की देन')में कहते हैं—"उपनिषदों का जो ख़ास गुण है और जिसकी वजह से उनमें इन्सानी दिलचस्पी है वह यह है कि उनके लहजे में बड़ा निष्कपटपन है वह इस तरह का है मानो दोस्त आपस मे किसी गहरे मसले पर सोच-विचार कर रहे हैं। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य उनके बारे में इस तरह जोश के साथ कहते हैं—"प्रशस्त कल्पना विचारों की शानदार उड़ान खोज-पड़ताल

की बेधड़क भावना जिसके पीछे सचाई तक पहुँचने की गहरी प्यास है— इनसे प्रेरित होकर उपनिषदों में गुरु और शिष्य विश्व के 'छुपे हुए रहस्य' में पैठते हैं और यह बात दुनिया की इन सबसे पुरानी पवित्र पुस्तकों को सबसे आधुनिक और संतोष देनेवाली बना देती है।"

उपनिषदों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें सचाई पर बड़ा ज़ोर दिया गया है। "सचाई की सदा जीत होती है, झूठ की नहीं। सचाई के रास्ते से ही हम परमात्मा तक पहुँच सकते हैं।" और उपनिषदों में आई हुई यह प्रार्थना मशहूर है 'असत् से मुझे सत् की तरफ़ ले चल। अंधकार से मुझे प्रकाश की तरफ़ ले चल। मृत्यु से मुझे अमरत्व की तरफ़ ले चल।"

हमें बार-बार एक बेचैन दिमाग़ की झाँकी मिलती है ऐसे दिमाग़ की जो जिज्ञासा और खोज-बीन में लगा हुआ है— 'किसकी आज्ञा से मन अपने विषय पर उतरता है? किसकी आज्ञा से जीवन जो सबसे पहली चीज़ है, आगे बढ़ता है? किसकी आज्ञा से मनुष्य ये वचन कहते हैं? किस देवता ने आँख और कान दिये हैं? और फिर—"वायु शांत क्यों नहीं रहती? आदमी के मन को चैन क्यों नहीं मिलता? क्यों और किसकी खोज में जल बहता रहता है और एक क्षण नहीं ठहरता? आदमी बराबर एक साहसपूर्ण यात्रा में लगा हुआ है उसके लिए न कहीं दम लेना है और न उसकी यात्रा का अंत है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में हमारी इस अनंत यात्रा के बारे में एक मंत्र है और इसके हर श्लोक के आख़िर में है— 'चरैवेति चरैवेति"—"इसलिए, हे यात्री चलते रहो चलते रहो।

इस खोज के बारे में कोई विनय की भावना नहीं है वैसा विनय जैसा धर्मों में एक सर्व-शक्तिमान परमात्मा के प्रति दिखाया जाता है। यहाँ हमें मन की परिस्थिति के ऊपर विजय मिलती है। 'मेरा शरीर राख हो जायगा और मेरी साँस इस चंचल और अमर वायु में मिल जायगी लेकिन मैं और मेरे कर्मों का यह अंत नहीं। हे मन इस बात का सदा ध्यान रख! सवेरे की एक प्रार्थना में सूर्य को इस तरह संबोधन किया गया है—"हे दैदीप्यमान सूर्य मैं वही पुरुष हूँ जो तुझे ऐसा बनाता हूँ!" कितना ऊँचा आत्म-विश्वास है!

आत्मा क्या है? इसका बयान या इसकी परिभाषा सिर्फ़ नकारात्मक ढंग से हो सकती है—"वह यह नहीं है, यह नहीं है। या एक प्रकार से स्वीकारात्मक ढंग से—"तू वह है! व्यक्तिगत आत्मा परमात्मा के महत् ख़याल की एक चिनगारी है, जो उससे निकल उसीमें समा जाती है। "जिस तरह से अग्नि अखंड होते हुए भी दुनिया में आकर जिन चीज़ों को

जलाती है उन्हींके अनुसार अलग-अलग रूप ले लेती है इसी तरह से अंतरात्मा जिस चीज में प्रवेश करती है उसीके अनुसार अलग रूप ग्रहण कर लेती है लेकिन वह खुद बिना किसी रूप के है। यह अनुभूति कि सब चीजों के भीतर एक ही तत्त्व है हमारे और उनके बीच के भेद ही हटा देती है और हममें यह भावना पैदा करती है कि इन्सान और प्रकृति के बीच एकता है और यह एकता बाहरी दुनिया की विविधता और अनेकरूपता की तह में है। 'जो जानता है कि सभी चीजें आत्मरूप हैं उसके लिए क्या शोक क्या भ्रम रह जाते हैं जबकि वह इस एकता को देखता है? 'हां जो सभी वस्तुएं उस आत्मा में देखता है और सभी चीजों में आत्मा को देखता है उससे (आत्मा) वह फिर न छिपेगा।

भारतीय आर्यों के इस गहरे व्यक्तिवाद और अलहदगी की भावना का इस व्यापक नजरिये के साथ जो जाति धर्म और दूसरे बाहरी और भीतरी भेदों की रुकावटें लांघ जाती है, मिलान और मुकाबला करना दिलचस्प है। यह दूसरी चीज तो एक तरह की आधिभौतिक जनसत्ता है। "वह जो आत्मा को सब चीजों में और सब चीजों में आत्मा को देखता है, फिर किसी चीज को हिकारत से देख ही नहीं सकता।" अगरचे यह महज सिद्धांत की बात थी फिर भी इसमें शक नहीं कि इसने जिंदगी पर असर डाला होगा और उस रवादारी और माफ़कपसंदी मजहबी मामलों में उस आजाद ख्याली जीने और जीने देने की उस भावना का वातावरण पैदा किया होगा जो हिंदुस्तानी और चीनी संस्कृति के खास लक्षण हैं। मजहब और संस्कृति के बारे में कोई दबाव नहीं था और इससे एक ऐसी पुरानी और अक्लमंद तहजीब का पता चलता है जिसके पास दिमाग़ी शक्ति का अक्षय खजाना है।

उपनिषदों में एक सवाल है, जिसका बहुत अनोखा लेकिन मार्के का जवाब दिया गया है। सवाल यह है कि "यह विश्व क्या है? यह कहां से उत्पन्न होता है और कहां जाता है? और उत्तर है—"स्वतंत्रता से इसका जन्म है, स्वतंत्रता में ही यह टिका है और स्वतंत्रता में ही यह लय हो जाता है। इसका ठीक-ठीक अर्थ क्या है मैं नहीं समझ सकता सिवाय इसके कि उपनिषदों की रचना करनेवालों में स्वतंत्रता के ख्याल के लिए बड़ा जोश था और वे सब कुछ उसी रूप में देखना चाहते थे। स्वामी विवेकानंद इस पहलू पर हमेशा जोर दिया करते थे।

हमारे लिए यह सहज नहीं कि कल्पना में भी हम अपने को इतने पुराने जमाने में जा बिठायें और उस जमाने के दिमाग़ी वातावरण में दाखिल हो

सकें। सिखने का ढंग ही कुछ ऐसा है कि हम उसके आदी नहीं। यह देखने में अटपटा और तरजुमे के ख़याल से मुश्किल है और इसकी पृष्ठभूमि में जो ज़िंदगी है, वह अब से बिलकुल जुदा है। आज बहुत-सी चीजें हैं, जिनके हम आदी हो गये हैं इसलिए उन्हें मानकर चलते हैं अगरचे वे विचित्र हैं और काफ़ी ग़ैर-माक़ूल हैं। लेकिन जिन चीज़ों के हम आदी नहीं हैं उनका समझना और पसंद करना कहीं ज़्यादा कठिन है। लेकिन इन सब मुश्किलों और क़रीब-क़रीब दूर हो सकनेवाली रुकावटों के उपनिषदों के संदेशों को चाव और उत्सुकता से सुननेवाले हिंदुस्तान के इतिहास में बराबर मिलते हैं और इन संदेशों ने क़ौमी दिमाग़ और चरित्र पर ज़ोरदार असर डाला है। ब्लूमफ़ील्ड का कहना है कि "विरोधी बौद्ध-मत के मिले-जुले हिंदू-विचार का कोई ऐसा ख़ास रूप नहीं है जिसकी जड़ उपनिषदों में न हो।

क़दीम हिंदुस्तानी ख़याल ईरान के रास्ते यूनान तक पहुंचा था और इसने वहां के कुछ विचारकों और फ़िलसूफ़ों पर असर डाला था। बहुत बाद में प्लोटिनस ईरानी और हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े को पढ़ने के लिए पूरब में आया और उस पर ख़ासतौर पर उपनिषदों के रहस्यवाद का प्रभाव पड़ा। कहा जाता है कि इन विचारों में से बहुत-से प्लोटिनस से संत अगस्टाइन तक पहुंचे थे और उसकी मारफ़त इन्होंने आज के ईसाई धर्म पर असर डाला है।[1]

पिछली डेढ़ सदी में हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े को जो यूरोप ने फिर से खोज निकाला उसका नतीजा यह हुआ कि यूरोप के फ़िलसूफ़ों और विचारकों पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। इस सिलसिले में निराशावादी शोपेनहार का कहना अकसर उद्धृत किया जाता है— (उपनिषदों के) हर एक शब्द से गहरे, मौलिक और ऊंचे विचार उठते हैं और इन सब पर एक ऊंची पवित्र और उत्सुक भावना छाई हुई है सारे संसार में कोई ऐसी रचना नहीं जिसका पढ़ना इतना उपयोगी इतना ऊंचा उठानेवाला हो जितना उपनिषदों का (ये) सबसे ऊंचे ज्ञान की उपज हैं एक-न-एक दिन सारी दुनिया का इन पर विश्वास होकर रहेगा। और फिर वह लिखते हैं—"उपनिषदों के पढ़ने से मेरी ज़िंदगी को शांति मिली है यही मेरी मौत के समय की तसक़ीन

[1] रोम्यां रोलां ने विवेकानंद-संबंधी अपनी किताब के परिशिष्ट में 'शुरू की सदियों में यूनानी-ईसाई रहस्यवाद और उसका हिंदू रहस्यवाद से संबंध' पर एक लंबा नोट दिया है। वह बताते हैं कि सैकड़ों बातों से इसका सबूत मिलता है कि हमारे युग की दूसरी सदी में यूनानी विचारधारा में पूरबी असर मिल-जुल गया था।

खास मानी का बहुत-कुछ खो बैठता था। समाज में जो दर्जे क़ायम हो चुके थे उन्हें नहीं छेड़ा जाता था बल्कि उनकी हिफ़ाज़त की जाती थी। अद्वैतवाद ने मज़हबी मामलों में एकेश्वरवाद की शक्ल ले ली थी और इससे भी नीची सतह के अक़ीदों और पूजा के तरीक़ों को न सिर्फ़ गवारा किया जाता था बल्कि यह समझा जाता था कि विकास की एक खास सीढ़ी के लिए यह मुनासिब भी है।

इस तरह उपनिषदों की विचारधारा आम लोगों में बहुत ज़्यादा फैली नहीं और अब विचारकों और आम लोगों के बीच मानसिक भेद और भी ज़ाहिर हो गया। वक़्त पाकर इसने नई तहरीकें पैदा कीं। जड़वादी फ़िलसफ़े की बुद्धिवाद की और अनीश्वरवाद की ज़बरदस्त लहरें उठीं। और फिर इसके भीतर से बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म पैदा हुए, रामायण और महाभारत-जैसे प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य रचे गये और इनमें एक बार फिर इस बात की कोशिश की गई कि विरोधी मतों और विचार के तरीक़ों में समन्वय किया जाय। लोगों की सृजन-शक्ति बल्कि सृजन-बुद्धिवाले थोड़े-से लोगों की सृजन-शक्ति इन ज़मानों में बहुत साफ़ ढंग से सामने आती है और फिर इन थोड़े-से लोगों में और बड़ी जनता के बीच एक लगाव क़ायम हो गया जान पड़ता है। कुल मिलाकर दोनों मिल-जुलकर आगे बढ़ते हैं।

इस तरह से एक-एक करके कई ज़माने आते हैं जबकि विचारों और काम के मैदान में साहित्य में नाटक में मूर्तिकला में इमारतों के तैयार करने में और हिंदुस्तान की सीमा से दूर संस्कृति धर्म और उपनिवेशों के फैलाने के साहसी कामों में रचनात्मक कोशिशें फूट पड़ती हैं। इन ज़मानों में झगड़े फ़िसाद के वक़्त आते हैं और इसकी वजह कुछ भीतरी बातें होती हैं और कुछ बाहर से होनेवाली छेड़-छाड़ भी। लेकिन आख़िर में यह हालत क़ाबू में आती है और रचनात्मक स्फूर्ति का ज़माना फिर लौटता है। ऐसा आख़िरी ज़माना जिसमें बहुत तरह के काम हुए, वह शानदार ज़माना था जो ईसा से बाद की चौथी सदी में शुरू हुआ। ईसा के १ वर्ष बाद तक या पहले ही हिंदुस्तान में भीतरी गिरावट के निशान ज़ाहिर हो जाते हैं अगरचे पुरानी कलात्मक लहर जारी रहती है और बहुत सुंदर चीज़ें तैयार होती रहती हैं। नई जातियाँ आती हैं जिनकी भूमिका दूसरी ही होती है और ये हिंदुस्तान के थके हुए दिल और दिमाग़ के लिए एक नया जोश ले आती हैं और इस टक्कर का नतीजा यह भी होता है कि नये मसले उठते हैं और उनके हल की तदबीरें की जाती हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय-आर्यों के गहरे व्यक्तिवाद में आख़िर

कार, अच्छे और बुरे दोनों ही नतीजे दिखायें जो उनकी संस्कृति से उपजे। इसने बहुत ऊंचे टप्पे के लोग पैदा किये और यह बात इतिहास के किसी एक खास जमाने तक महदूद न रही बल्कि हर एक युग में और बार-बार ऐसा होता रहा। इसने पूरी संस्कृति को एक आदर्शवादी और इखलाकी पृष्ठभूमि दी जो क़ायम रही और अभी क़ायम है चाहे हमारे व्यवहार पर ज्यादा असर न डाल रही हो। इस पृष्ठभूमि की मदद से और ऊंचे लोगों की मिसालों के ज़ोर पर उन्होंने समाज की बनावट को क़ायम रखा और जब जब उसके टूटने का अंदेशा हुआ तब-तब उसे सम्भाला। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के अक्सर पैदा करनेवाले फूल खिलाये और अगरचे ये ऊंचे दायरों तक महदूद थे फिर भी हो-न-हो ये कुछ हदतक जनता में भी फैले। दूसरे मतों और रास्तों के लिए हद दर्जे की रवादारी दिखाकर ये उन झगड़ों को बचाते रहे जिन्होंने अक्सर समाज को टूक-टूक कर डाला है और इस तरह उन्होंने बराबर किसी-न-किसी तरह का समतोल बनाये रखा है। एक बड़े संगठन के भीतर, लोगों को अपने पसंद की जिन्दगी बसर करने की आज़ादी देकर, उन्होंने एक प्राचीन और तजुर्बेकार जाति के लोगों की बुद्धिमानी दिखाई है। ये सभी कारनामे बड़े मार्के के रहे हैं।

लेकिन इसी व्यक्तिवाद का यह नतीजा हुआ कि इन्सान के समाजी पहलू पर और समाज के प्रति इन्सान के फ़र्ज़ पर, कम ध्यान दिया जाने लगा। हर शख्स की जिंदगी बट और बंध गई थी और दर्जों में बंटे हुए समाज में अपने तंग दायरे के अंदर वह फ़र्ज़ों और जिम्मेदारियों की एक गठड़ी बनकर रह गया था। पूरे समाज की न उसे कल्पना थी न इस समाज के प्रति उसका कोई फ़र्ज़ बाक़ी रहा था और न इस बात की कोई कोशिश की गई कि वह समाज से अपनी मज़बूती समझे। इस खयाल का शायद मौजूदा ज़माने में विकास हुआ है और यह किसी क़दीम समाज में नहीं मिलता। इसलिए क़दीम हिंदुस्तान में इसकी उम्मीद करना मुनासिब नहीं। फिर भी व्यक्तिवाद अलहदगी और दर्जेवार बातें हिंदुस्तान में बहुत ज्यादा नुमायां रही हैं। बाद के ज़मानों में तो ये हमारे लोगों के दिमाग के लिए एक पूरा क़ैदखाना बन गई हैं—न सिर्फ़ नीची जात के लोगों के लिए, जिन्हें इससे सबसे ज्यादा तकलीफ़ पहुंची बल्कि ऊंची जात के लोगों के लिए भी। हमारे इतिहास के पूरे दौर में यह हमें एक कमज़ोर करनेवाली बात रही है, और शायद यह भी कहना बेजा न होगा कि ज्यों-ज्यों जात-पांत की सख्ती बढ़ी है त्यों-त्यों हमारे दिमाग भी जड़ होते गये हैं और हमारी जाति की रचनात्मक शक्ति मिटती गई है।

बनेगा। इस पर लिखते हुए मैक्समूलर कहते हैं— 'शोपेनहार हरगिज ऐसे आदमी न थे कि बहकी हुई बातें लिखें या तथा-कथित रहस्यवादी या अधकचरे विचारों पर वाह-वाह करने लगें। और यह कहते हुए न मुझे शर्म या डर मालूम पड़ता है कि वेदांत के बारे में उनका जो उत्साह था उसमें मैं शरीक हूं और अपनी जिंदगी में बहुत-कुछ मुझे इससे मदद मिली है और मैं इसका ऋणी हूं।"

एक दूसरी जगह मैक्समूलर लिखते हैं— 'उपनिषद् वेदांत के फ़िलसफ़े का सोता है जिसमें इन्सानी सोच-विचार अपनी चोटी पर पहुंच गया जान पड़ता है। मेरी सबसे खुशी की घड़ियां वेदांत की किताबों के पढ़ने में बीतती हैं। मेरे लिए ये सवेरे की रोशनी और पहाड़ों की साफ़ हवा-जैसी हैं—एक बार समझ में आ जाने पर उनमें कितनी सादगी कितनी सचाई मिलती है।

लेकिन शायद उपनिषदों की और उसके बाद की पुस्तक भगवद्गीता की मुक्तकंठ से जैसी तारीफ़ आयरिश कवि ए ई (जी डब्ल्यू रसेल) ने की है वैसी दूसरे ने नहीं— 'इस जमाने के लोगों में गेटे वर्ड्सवर्थ,इमर्सन और थोरो में यह ज्ञान और जीवनी-शक्ति कुछ अंशों में मिलेगी लेकिन जो कुछ भी इन्होंने कहा है और उससे बहुत ज्यादा हमें पूरब के महान और पवित्र ग्रंथों में मिलेगा। भगवद्गीता और उपनिषदों में सभी बातों के बारे में ज्ञान की ऐसी दिव्य पूर्णता मिलती है कि मुझे खयाल होता है कि उनके रचनेवालों ने हजारों बार मरे पुराने जन्मों में पैठकर ही उन जन्मों में जिनमें छाया के लिए और छाया के साथ संघर्ष होता रहा है—इतने अधिकार के साथ उन बातों को लिखा है, जिन्हें आत्मा निश्चित समझती है।

## १० व्यक्तिवादी फ़िलसफ़े के फ़ायदे और नुक़सान

कारगर तरक्की हासिल करने के लिए उपनिषदों में तन की चुस्ती और मन की पवित्रता और तन-मन दोनों के संयम पर बराबर जोर दिया गया है।

---

[1] छांदोग्य उपनिषद् में एक विचित्र और दिलचस्प टुकड़ा है— "सूर्य कभी डूबता नहीं न उदय होता है। जब लोग समझते हैं कि सूर्य डूब रहा है, तब होता यह है कि वह दिन के अंत तक पहुंचकर महज़ पलट जाता है और यहां नीचे रात कर देता है और जो कुछ दूसरी तरफ़ है उसके लिए दिन कर देता है। जब लोग समझते हैं कि वह सवेरे उगता है तब वह रात के छोर तक पहुंचकर पलट जाता है और यहां नीचे दिन कर देता है और जो कुछ दूसरी तरफ़ है उसके लिए रात कर देता है। सच बात तो यह है कि वह कभी डूबता नहीं।"

चाहे ज्ञान सीखना हो, चाहे दूसरी ही कामयाबी हासिल करना हो, संयम, तप और क़ुरबानी ज़रूरी होती है। किसी-न-किसी तरह की तपस्या का ख़याल हिंदुस्तानी विचारधारा का एक अंग है, और ऐसा ख़याल न सिर्फ़ चोटी के विचारकों के यहां है, बल्कि साधारण अनपढ़ जनता में फैला हुआ है। हज़ार बरस पहले यह बात रही है और आज भी यह बात है, और अगर गांधीजी की रहनुमाई में हिंदुस्तान को हिला देनेवाले जनता के आंदोलनों के पीछे जो मनोवृत्ति काम करती है उसे हम समझना चाहते हैं, तो ज़रूरी है कि हम इस ख़याल को समझ लें।

यह ज़ाहिर है कि उपनिषदों की रचना करनेवालों के विचार, और यह ऊंचे दर्जे का मानसिक वातावरण, जिसमें वे रहते थे, एक छोटे, चुने हुए लोगों के दायरे तक महदूद थे। आम जनता की समझ से ये बिलकुल बाहर थे। ऐसे लोगों की तादाद, जो रचनात्मक काम करते हैं, हमेशा थोड़ी ही होती है। लेकिन अगर बड़ी संख्या के लोगों से उनके विचार मिलते रहें और यह छोटा दल बड़े दल को ऊपर उठाने और उसे बढ़ाने की कोशिश में लगा रहा, इस तरह कि दोनों के बीच की खाई कम हो जाय, तो एक पायदार और तरक़्क़ी करनेवाली संस्कृति पैदा होती है। बिना इस रचनात्मक छोटे दल के सभ्यता का ह्रास होने लगता है। लेकिन इसका ह्रास उस वक़्त भी हो सकता है जबकि एक रचनात्मक छोटे दल का बड़े दल से संबंध टूट जाय और कुल मिलाकर समाज की एकता बाक़ी न रह जाय। ऐसी हालत में छोटा दल अपनी रचना-शक्ति खो बैठता है और बांझ हो जाता है। नहीं तो इसकी जगह पर कोई दूसरी रचनात्मक या जीवनी-शक्ति, जिसे समाज पैदा करे, आ जाती है।

मेरे लिए और ज़्यादातर औरों के लिए भी उपनिषदों के ज़माने की तस्वीर सामने लाना और उस वक़्त क्या-क्या ताक़तें काम कर रही थीं इनकी जांच-पड़ताल करना मुश्किल है। फिर भी मैं ख़याल करता हूं कि मुट्ठी-भर विचारकों और आंख मूंदकर चलनेवाली बहुत बड़ी जनता के बीच गहरे मानसिक भेद के बावजूद उन दोनों के बीच एक लगाव था, कम-से-कम कोई खलनेवाली खाई नहीं थी। जिस तरह से उस वक़्त के समाज में अलग-अलग दर्जे थे, उसी तरह मानसिक दर्जे भी थे और इन्हें स्वीकार कर लिया गया था और उसका इंतज़ाम भी कर लिया गया था। इससे समाज में कुछ मेल पैदा हो गया था और झगड़े-फ़िसाद से बचत हो गई थी। उपनिषदों के नये विचार को भी आम लोगों के लिए इस तरह से समझाया जाता था कि वह उनके ख़यालों से और अंध-विश्वासों से मिल-जुल जाता था और इस तरह वह अपने

खास मानी को बहुत-कुछ खो बैठता था। समाज में जो वर्ग क़ायम हो चुके थे उन्हें नहीं छेड़ा जाता था बल्कि उनकी हिफ़ाज़त की जाती थी। अद्वैतवाद ने मज़हबी मामलों में एकेश्वरवाद की शक्ल ले ली थी और इससे भी नीची सतह के अक़ीदों और पूजा के तरीक़ों को न सिर्फ़ गवारा किया जाता था बल्कि यह समझा जाता था कि विकास की एक खास सीढ़ी के लिए यह मुनासिब भी है।

इस तरह उपनिषदों की विचारधारा आम लोगों में बहुत ज्यादा फैली नहीं और यब विचारकोंऔरआम लोगोंके बीच मानसिक भेद और भी जाहिर हो गया। वक्त पाकर इसने नई लहरोंके पैदा कीं। बढ़वाली फ़िलसफ़े की बुद्धिवाद की और अनीश्वरवाद की जबरदस्त लहरें उठीं। और फिर इसके भीतर से बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म पैदा हुए, रामायण और महाभारत जैसे प्रसिद्ध संस्कृत महाकाव्य रचे गये और इनमें एक बार फिर इस बात की कोशिश की गई कि विरोधी मतों और विचार के तरीक़ों में समन्वय किया जाय। लोगों की सृजन-शक्ति बल्कि सृजन-बुद्धिवाले थोड़े-से लोगों की सृजन-शक्ति इन ज़मानों में बहुत साफ़ ढंग से सामने आती है और फिर इन थोड़े-से लोगों में और बड़ी जनता के बीच एक लगाव क़ायम हो गया जान पड़ता है। कुल मिलाकर दोनों मिल-जुलकर आगे बढ़ते है।

इस तरह से एक-एक करके कई ज़माने आते हैं जबकि विचारों और काम के मैदान में साहित्य में नाटक में मूर्तिकला में इमारतों के तैयार करने में और हिंदुस्तान की सीमा से दूर संस्कृति धर्म और उपनिवेशों के फैलाने के साहसी कामों में रचनात्मक कोशिशें फूट पड़ती है। इन ज़मानों में झगड़े फ़िसाद के वक्त आते है और इसकी वजह कुछ भीतरी बातें होती है और कुछ बाहर से होनेवाली छेड़-छाड़ भी। लेकिन आखिर में यह हालत क़ाबू में आती है और रचनात्मक स्फूर्ति का ज़माना फिर लौटता है। ऐसा आखिरी ज़माना जिसमें बहुत तरह के काम हुए, वह शानदार ज़माना था जो ईसा से बाद की चौथी सदी में शुरू हुआ। ईसा के १ वर्ष बाद तक, या पहले ही हिंदुस्तान में भीतरी गिरावट के निशान जाहिर हो जाते हैं अक्सर पुरानी कलात्मक लहर जारी रहती है और बहुत सुंदर चीज़ें तैयार होती रहती है। नई जातियां आती हैं जिनकी भूमिका दूसरी ही होती है और ये हिंदुस्तान के थके हुए दिल और दिमाग़ के लिए एक नया झोंक ले आती है और इस टक्कर का नतीजा यह भी होता है कि नये मसले उठते हैं और उनके हल की तदबीरें की जाती हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि भारतीय-आर्यों के गहरे व्यक्तिवाद ने आखिर

कार, अच्छे और बुरे दोनों ही नतीजे दिखायें जो उनकी संस्कृति से उपजे। इसमें बहुत ऊंचे दर्जे के लोग पैदा किये और यह बात इतिहास के किसी एक खास ज़माने तक महदूद न रही बल्कि हर एक युग में और बार-बार ऐसा होता रहा। इसने पूरी संस्कृति को एक आदर्शवादी और इंसाफी पृष्ठभूमि दी जो क़ायम रही और अभी क़ायम है चाहे हमारे व्यवहार पर ज्यादा असर न डाल रही हो। इस पृष्ठभूमि की मदद से और ऊंचे लोगों की मिसालों के ज़ोर पर उन्होंने समाज की बनावट को क़ायम रखा और जब-जब उसके टूटने का अंदेशा हुआ तब-तब उसे संभाला। उन्होंने सभ्यता और संस्कृति के बावजूद पैदा करनेवाले फूल खिलाये और आगरचे वे ऊंचे दायरों तक महदूद थे फिर भी होते-न-होते वे कुछ हदतक जनता में भी फैले। दूसरे मतों और रास्तों के लिए हर दर्जे की रवादारी दिखाकर वे उन झगड़ों को बचाते रहे जिन्होंने अक्सर समाज को टूक-टूक कर डाला है और इस तरह उन्होंने बराबर किसी-न-किसी तरह का समतौल बनाये रखा है। एक बड़े संगठन के भीतर, लोगों को अपने पसंद की जिंदगी बसर करने की आज़ादी देकर, उन्होंने एक प्राचीन और तजुरबेकार जाति के लोगों की बुद्धिमानी दिखाई है। ये सभी कारनामे बड़े मार्के के रहे हैं।

लेकिन इसी व्यक्तिवाद का यह नतीजा हुआ कि इन्सान के समाजी पहलू पर और समाज के प्रति इन्सान के फ़र्ज़ पर, कम ध्यान दिया जाने लगा। हर शख्स की जिंदगी बट और बंध गई थी और दर्जों में बंटे हुए समाज में अपने तंग दायरे के अंदर वह फ़र्ज़ों और जिम्मेदारियों की एक गठरी बनकर रह गया था। पूरे समाज की न उसे कल्पना थी न इस समाज के प्रति उसका कोई फ़र्ज़ बाक़ी रहा था और न इस बात की कोई कोशिश की गई कि वह समाज से अपनी मज़बूती समझे। इस ख़याल का शायद मौजूदा ज़माने में विकास हुआ है और यह किसी क़दीम समाज में नहीं मिलता। इसलिए क़दीम हिंदुस्तान में इसकी उम्मीद करना मुनासिब नहीं। फिर भी व्यक्तिवाद अलहदगी और दर्जेवार बातें हिंदुस्तान में बहुत ज्यादा नुमाया रही हैं। बाद के ज़मानों में तो ये हमारे लोगों के दिमाग़ के लिए एक पूरा क़ैदखाना बन गई हैं—न सिर्फ़ नीची जात के लोगों के लिए, जिन्हें इससे सबसे ज्यादा तकलीफ़ पहुंची बल्कि ऊंची जात के लोगों के लिए भी। हमारे इतिहास के पूरे दौर में यह हमें एक कमज़ोर करनेवाली बात रही है और शायद यह भी कहना बेजा न होगा कि ज्यों-ज्यों जात-पांत की सख्ती बढ़ी है त्यों-त्यों हमारे दिमाग़ भी जड़ होते गये हैं और हमारी जाति की रचनात्मक शक्ति मिटती गई है।

एक और अजीब बात सामने आती है। सभी तरह के अक़ीदों और व्यवहारों अंध-विश्वासों और बेवकूफ़ियों के प्रति जो रवादारी दिखाई गई थी उसके नुकसानदेह पहलू भी थे क्योंकि इसने बहुत-सी बुरी रस्मों को जड़ पकड़ लेने दी और परंपरा के उस बोझ को उतारकर फेंकने से रोका जो हमारी बाढ़ को रोक रहा था। पुरोहितों के बढ़ते हुए दल ने इस हालत से अपना अलग ही फ़ायदा उठाया और आम लोगों के अंधविश्वास की नींव पर अपने स्वार्थों के गढ़ बना लिये। इस पुरोहित-वर्ग की शायद उतनी ताक़त कभी नहीं रही जितनी ईसाई मज़हब की कुछ शाखाओं के पुरोहित-वर्ग की रही क्योंकि यहां हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसे विचारवान नेता रहे हैं जिन्होंने इन व्यवहारों की निंदा की है। इसके अलावा इतने अलग-अलग मत रहे हैं कि लोग अपना मत बदल सकते थे। फिर भी यह पुरोहित-वर्ग इतना मज़बूत था कि जनता को अपने बस में रख सके और उसके अंधविश्वासों से लाभ उठाता रह सके।

इस तरह से बराबर अमल और कट्टरपन में साथ-साथ बने रहे और उनमें से नुक्ताचीनी करनेवाले मज़हबी फ़िरक़े और आचार-विचार वाले कर्म-कांड पैदा हुए। पुराने धर्म-ग्रंथों के प्रमाण की दुहाई बराबर दी जाती थी लेकिन उनकी सचाइयों को बदलते हुए ज़माने के लिहाज़ से पेश करने की कोई कोशिश नहीं की जाती थी। रचनात्मक और बढ़ानेवाली शक्तियां कमज़ोर पड़ने लगीं और उस चीज़ का जिसमें इतनी जान थी इतना अर्थ था केवल छिलका बाक़ी रह गया। अरविंद घोष ने लिखा है—'अगर उपनिषदों या बुद्ध के ज़माने का या बाद के संस्कृत-युग का कोई पुराना हिंदुस्तानी आज के हिंदुस्तान में ला बिठाया जाय तो वह देखेगा कि उसकी जाति पुराने वक़्त के बाहरी रूपों छिलकों और चीथड़ों से चिपटी हुई है और उसके ऊंचे मतलब के दस हिस्सों में से नौ को खो बैठी है उसे अचरज होगा कि यहां इतना दिमाग़ी लचरपन इतनी जड़ता है बातों का इस तरह दोहराते रहना है जो हम आगे नहीं बढ़ाता विज्ञान का ख़ात्मा हो गया है कला बहुत दिनों से बांझ हो रही है और रचनात्मक बुद्धि कितनी कमज़ोर हो गई है।

## ११ जड़वाद

हमारी बड़ी बदक़िस्मतियों में एक यह है कि हम यूनान में हिंदुस्तान में और सभी जगह दुनिया के पुराने साहित्य का एक बड़ा हिस्सा खो बैठे हैं। शायद इससे बचाव न था क्योंकि शुरू में किताबें ताड़-पत्रों पर या भोज-पत्र पर, जो भूर्ज वृक्ष की छाल होता है—लिखी जाती थीं और इनके छिलके

बहुत आसानी से उखड़ जाते थे और कागज पर लिखने का रिवाज बाद में हुआ। किसी भी किताब की चंद प्रतियों से ज्यादा न होतीं और अगर वे नष्ट हो जातीं तो वह रचना ही गुम हो जाती और उसका पता हमें महज उन हवालों या उद्धरणों से मिलता जो उसके बारे में और पुस्तकों में होते। फिर भी पचास-साठ हजार संस्कृत की हाथ की लिखी पुस्तकों या उनके रूपांतरों का पता लग चुका है और उनकी सूची बन चुकी है और नये-नये ग्रंथ बराबर मिलते जा रहे हैं। हिंदुस्तान की बहुत-सी पुरानी पुस्तकें अबतक हिंदुस्तान में मिली ही नहीं हैं लेकिन उनके अनुवाद चीनी या तिब्बती भाषा में मिले हैं। हाथ की लिखी पुरानी पुस्तकों की धार्मिक संस्थाओं के भंडारों में मठों में और निजी संग्रहों में अगर संगठित रूप में खोज की जाय तो शायद बहुत अच्छा नतीजा निकले। यह काम और हाथ की लिखी इन किताबों की छान-बीन करने का काम और अगर जरूरी समझा जाय तो इनके छपाने और अनुवाद का काम ऐसी बातें हैं जिन्हें और बातों के साथ साथ उस वक्त हाथ में लेना है जब हम अपनी मौजूदा बेड़ियों को तोड़ने में कामयाब हो जायें। इस तरह का अध्ययन यक़ीनी तौर पर हिंदुस्तान के इतिहास के बहुतेरे पहलुओं पर रोशनी डालेगा खासकर तारीखी घटनाओं और बदलते रहनेवाले विचारों की सामाजिक पृष्ठभूमि पर। बार-बार के नुकसान और बरबादी के बावजूद और बगैर किसी खास-संगठित कोशिश के पचास हजार से ज्यादा हाथ की लिखी पुस्तकों का पता लग जाना इस बात को बताता है कि साहित्य नाटक फ़िलसफ़े और और विषयों में पुराने जमाने में कितनी अद्भुत बहुतायत से रचनाएं हुई थीं। बहुत-सी पांडुलिपियों की जिनका पता लगा है अभी ठीक तरह से जांच तक नहीं हुई है।

उन किताबों में जो बिलकुल खो गई हैं जड़वाद का पूरा साहित्य है जो शुरू के उपनिषदों के जमाने से ठीक बाद रचा गया था। इस साहित्य के जो हवाले अब मिलते हैं वे सिर्फ उन किताबों में हैं, जिनमें उन पर टीका-टिप्पणी की गई है और जिनमें जड़वादी सिद्धांतों के खंडन की लंबी कोशिश की गई है। इसमें तो कोई शक ही नहीं है कि जड़वादी फ़िलसफ़े का हिंदुस्तान में सदियों तक चलन रहा है और अपने जमाने में इसका लोगों पर गहरा असर रहा है। ईसा से पहले की चौथी सदी में राजनैतिक और आर्थिक संगठन के बारे में कौटिल्य की जो मशहूर पुस्तक 'अर्थशास्त्र' है उसमें इसका जिक्र हिंदुस्तान के खास फ़िलसफ़ों में किया गया है।

इसलिए इस फ़िलसफ़े के बारे में जानने के लिए हमें उन आलोचकों और व्यक्तियों पर भरोसा करना पड़ता है, जिनकी दिलचस्पी इसे गिराने में

रही है और उन्होंने इसकी हँसी उड़ाई है और बताया है कि यह कैसी बेतुकी चीज़ है। यह फ़िलसफ़ा या क्या इसे जानने का यह बड़ा ग़ैर-वाजिब तरीक़ा है। फिर भी इसके खंडन में जो उत्साह और जोश इन नुक्ताचीनों ने दिखाया है उसीसे पता चलता है कि उन लोगों की नज़रों में इसकी कितनी अहमियत थी। संभव जान पड़ता है कि जड़वाद के साहित्य का ज़्यादा हिस्सा बाद के ज़मानों में पुरोहितों ने या कट्टर मज़हब के माननेवालों ने नष्ट कर दिया हो।

जड़वादियों ने विचार, मज़हब और अध्यात्म में प्रमाण का और सभी निहित स्वार्थ का विरोध किया। उन्होंने वेदों की पुरोहिताई की परंपरा से आये हुए यक़ीनों की निंदा की और यह ऐलान किया कि यक़ीन को आज़ाद होना चाहिए और उसे पहले से मान ली गई बातों या सिर्फ़ पुराने ज़माने के प्रमाण का भरोसा न कर लेना चाहिए। सभी तरह के मंत्र-तंत्र और अंध विश्वास की उन्होंने बुराई की। उनका आम रवैया बहुत-कुछ आज के जड़वादियों जैसा था—वे अपने को गुज़रे हुए ज़माने की ज़ंजीरों और बोझ से जो चीज़ें नहीं दिखाई देतीं उनकी कल्पना से और ख़याली देवताओं की पूजा से आज़ाद करना चाहते थे। सिर्फ़ उसका वजूद तो माना जा सकता था जिसे कि सीधे-सीधे देखा जा सके। इसके अलावा और सभी अनुमानों या क़यासों के सच होने की उतनी ही संभावना थी जितनी कि झूठ होने की। इसलिए अपने मुख़्तलिफ़ रूपों में पदार्थ के और दुनिया के ही वजूद को माना जा सकता था। मन और बुद्धि और और सभी चीज़ें इन्हीं बुनियादी तत्वों से बनी हैं। प्रकृति के व्यापार आदमी के ज़रिये क़ायम की गई क़ीमतों की परवाह नहीं करते और अच्छे या बुरे से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता। नैतिक मान आदमियों के क़ायम किये गये रिवाज हैं।

इन सब विचारों को हम समझते हैं ये दो हज़ार बरस पुराने नहीं बल्कि कुछ अजीब तौर पर हमारे ज़माने के विचार जान पड़ते हैं। इस तरह के शक-व-शुबहे के विचार, ऐसी कश-म-कश इन्सानी दिमाग़ की परंपरा के ख़िलाफ़ यह बग़ावत आख़िर आई कहाँ से? हम उस ज़माने के सामाजिक और राजनैतिक हालात ठीक तौर पर नहीं जानते लेकिन यह बात काफ़ी ज़ाहिर है कि यह ज़माना राजनैतिक संघर्ष और समाजी उथल-पुथल का रहा है जिसका नतीजा यह हुआ है कि मज़हब से यक़ीन उठ गया है और लोग दिमाग़ी खोज-पड़ताल में लगे हैं और खोज किसी ऐसे रास्ते से की हुई है, जिससे मन को संतोष मिले। इसी दिमाग़ी उथल-पुथल और समाजी अबतरी से नये रास्ते निकले हैं और नये फ़िलसफ़ों ने शक्ल अख़्तियार की है। उपनिषदों के

सहज-ज्ञान से जुदा बाक़ायदा फ़िलसफ़ों का दिखाई पड़ना शुरू होता है, और ये अनेक रूपों में जैन बौद्ध और जिसे हम दूसरे शब्द के अभाव से हिंदू कहेंगे—सामने आते हैं। इसी ज़माने के महाकाव्य हैं और भगवद्गीता भी इसी ज़माने की चीज़ है। इस ज़माने का काल क्रम ठीक-ठीक मुक़र्रिर कर सकना मुश्किल है चूंकि विचार और सिद्धांत एक-दूसरे पर छाये हुए थे और आपस में उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती थी। बुद्ध ईसा से पहले की छठी सदी में हुए हैं। इनमें कुछ का विकास उनसे पहले हुआ कुछ का बाद में या अक्सर इन दोनों के विकास साथ-साथ चलते रहे।

बौद्ध-धर्म के उदय के लगभग फ़ारसी-साम्राज्य सिंध नदी तक फैला हुआ था। एक बड़ी ताक़त के हिंदुस्तान की ठीक सीमा तक आ जाने से लोगों के विचारों पर असर डाला होगा। ईसा से पहले की चौथी सदी में सिकंदर का उत्तर-पश्चिम हिंदुस्तान पर थोड़े वक़्त का धावा हुआ। यह वाक़या खुद तो कुछ ऐसी अहमियत नहीं रखता लेकिन यह बड़े मार्के की तब्दीलियों का पेश-रौ—अग्रदूत—था। सिकंदर की मौत के क़रीब-क़रीब ठीक बाद चंद्रगुप्त ने आलीशान मौर्य सल्तनत बनाकर खड़ी की। इतिहास की नज़र से हिंदुस्तान में यह पहला दूर-दूर तक फैला हुआ केंद्रीय राज्य था। परंपरा इस तरह के बहुत से हाकिमों और अधिपतियों की चर्चा करती है और एक महाकाव्य में हिंदुस्तान के आधिपत्य के लिए युद्ध होने का हाल दिया है। यहां मक़सद शायद उत्तरी हिंदुस्तान से है। लेकिन ज़्यादा संभव यह है कि क़दीम हिंदुस्तान क़दीम यूनान की तरह छोटी रियासतों का एक गिरोह था। बहुत-से गणराज्य थे और इनमें से कुछ का बड़ा विस्तार था छोटी-छोटी रियासतें भी थीं इसके अलावा यूनान की तरह यहां शहरी रियासतें भी थीं और इनमें सौदागरों के ज़बरदस्त संघ थे। बुद्ध के ज़माने में बहुत-से गणराज्य थे और मध्य और उत्तरी हिंदुस्तान में (जिसमें अफ़ग़ानिस्तान का एक भाग गंधार भी था) चार बड़े राज्य थे। संगठन जैसा भी रहा हो शहरी या गांव की खुद-अख़्तियारी की परंपरा बड़ी मज़बूत थी और उस हालत में भी जब किसी का आधिपत्य मान लिया जाता था रियासत के अंदरूनी इंतज़ाम में कोई बाहरी दख़ल न देता था। यहां एक क़िस्म का आदिम लोकतंत्र था अगरचे यूनान की तरह यहां भी यह ऊंचे वर्ग के लोगों तक महदूद थी।

क़दीम हिंदुस्तान और क़दीम यूनान बहुत-सी बातों में एक-दूसरे से बहुत मुख़्तलिफ़ रहे हैं फिर भी इनमें इतनी ज़्यादा बातें ऐसी हैं, जो आपस में एक-सी हैं कि मेरा ख़याल होता है कि इनकी ज़िंदगी की पृष्ठभूमि बहुत मिलती-जुलती रही होगी। पेलोपोनीसियन युद्ध का जिसने एथेन्स के लोक-

देश का खात्मा किया कुछ बातों में क़दीम हिंदुस्तान के बड़े युद्ध, महाभारत से मुक़ाबला हो सकता है। यूनानी सभ्यता और आज़ाद शहरी रियासतों की नाकामयाबी ने संदेह और निराशा के भाव पैदा किये और इससे लोग रहस्यों और करिश्मों के पीछे पड़े और जाति के आदर्श गिरने लगे। बाद में फ़िलसफ़े में नये मतों—स्टोइक[1] और एपिक्यूरियन[2]—का विकास हुआ।

थोड़ी-सी और कभी-कभी परस्पर-विरोधी सामग्री की बिनाह पर ऐतिहासिक तुलनाएं करना ख़तरनाक और भुलावे में डालनेवाली बात हो सकती है। लेकिन हिंदुस्तान में महाभारत की लड़ाई के बाद का ज़माना जबकि मानसिक वातावरण बड़ा अस्त-व्यस्त हो गया था हमें यूनान के उस ज़माने की याद दिलाता है जब यूनानी संस्कृति का अंत हो गया था। भारतों में पस्ती आ गई थी और नये फ़िलसफ़ों की तलाश थी राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से भीतरी तबदीलियां होती रही होंगी जैसे गणराज्यों और शहरी रियासतों का कमज़ोर हो जाना और केंद्रीय राज्यों की तरफ़ झुकाव होना।

लेकिन यह मुक़ाबला हमें बहुत दूर नहीं ले जाता। दरअसल यूनान इन धक्कों से कभी संभला नहीं अगरचे यूनानी सभ्यता कुछ और सदियों तक भूमध्यसागरीय प्रदेश में बनी रही और उसने रोम और यूरोप पर अपना असर डाला। हिंदुस्तान अद्भुत रूप से संभला और महाकाव्यों और बुद्ध के ज़माने से बाद के एक हज़ार सालों में रचनात्मक शक्ति की हम बहुतायत पाते हैं। फ़िलसफ़ा साहित्य नाटक गणित और कलाओं में हमें अनगिनत बड़े-बड़े नाम मिलते हैं। ईसवी सन की शुरू की सदियों में मानो स्फूर्ति फूटी पड़ती है और इसका नतीजा यह होता है कि उपनिवेशों के साहसी संगठन होते हैं और ये हिंदुस्तान के लोगों और उनकी संस्कृति को पूर्वी समुद्र के दूर-दूर देशों तक पहुंचाते हैं।

## १२　महाकाव्य, इतिहास, परंपरा और कहानी-क़िस्से

क़दीम हिंदुस्तान के दो बड़े महाकाव्य—रामायण और महाभारत—शायद कई सदियों में तैयार हुए और बाद में भी उनमें नये टुकड़े जोड़े जाते रहे। उनमें भारतीय-आर्यों के शुरू के दिनों का हाल है—उनकी विजयों का उनकी आपस की उस वक़्त की लड़ाइयों का जब वे फैल रहे थे और

---

[1] इस मत का क़ायम करनेवाला ज़ेनो नाम का फ़िलसूफ़ था। इस मत के लोग अपने आवेगों को क़ाबू में रखने पर ज़ोर देते थे।

[2] इस मत का संस्थापक एपीक्यूरस नाम का फ़िलसूफ़ था। दुनिया की चीज़ों का आनंद लेने के पक्ष में इसकी शिक्षा थी।

अपनी ताक़त को मज़बूत कर रहे थे—लेकिन इन महाकाव्यों की रचना और संग्रह बाद की बातें हैं। मैं कहीं की किसी ऐसी पुस्तक को नहीं जानता हूं जिसने आम जनता के दिमाग़ पर इतना लगातार और व्यापक असर डाला हो जितना कि इन दो पुस्तकों ने डाला है। इतने क़दीम वक़्त में तैयार की गई होने पर भी ये हिंदुस्तानियों की ज़िंदगी में आज भी अपना जीता-जागता असर रखती हैं। मूल संस्कृत में तो थोड़े-बहुत क़ाबिल लोगों तक ये पहुंचती हैं लेकिन तरजुमों और बहुत-से और तरीक़ों से जिनसे परंपरा और क़िस्से-कहानियां फैलती हैं और आम लोगों की ज़िंदगी का ताना-बाना बन जाती हैं ये जनता तक पहुंची हुई हैं।

इनमें हमें वह ख़ास हिंदुस्तानी ढंग मिलता है, जिसमें जुदा-जुदा सांस्कृतिक विकास के लोगों के लिए एक साथ सामग्री पेश की जाती है, यानी ऊंचे-से-ऊंचे दर्जे के विद्वानों से लेकर अनपढ़ और अशिक्षित देहाती तक के लिए। इनके ज़रिये हमें क़दीम हिंदुस्तानियों का वह गुर कुछ-कुछ समझ में आ जाता है जिससे वे एक पंचमेल और जात-पांत में बंटे हुए समाज को इकट्ठा बनाये रखने में, उनके झगड़ों को सुलझाते रहने में उन्हें और परंपरा और नैतिक रहन-सहन की समान भूमिका देने में कामयाब हुए हैं। उन्होंने कोशिश करके लोगों में एक आम नज़रिया क़ायम किया और यह सब भेद भावों से ऊपर था और बना रहा।

मेरे बचपन की सबसे पहली यादों में इन महाकाव्यों की उन कहानियों की यादें हैं, जिन्हें मैंने अपनी मां से और घर की बड़ी-बूढ़ी औरतों से उसी तरह सुना था जिस तरह कि यूरोप या अमरीका में बच्चे परियों की या दूसरी साहस की कहानियां सुनते हैं। इन कहानियों में मेरे लिए परियों की कहानियों और साहस की कहानियों दोनों के ही तत्त्व मौजूद थे और फिर हर साल खुले मैदान में होनेवाले उन लोकप्रिय नाटकों में ले जाया जाता था जहां रामायण की कथा का अभिनय होता था और बहुत बड़े मजमे उसे देखने के लिए इकट्ठा होते थे। ये सब बातें बड़े भद्दे ढंग से हुआ करती थीं लेकिन इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता था क्योंकि कहानी तो सभी लोगों की जानी हुई थी और त्यौहार के दिन आनंद के दिन होते थे।

इस तरीक़े पर हिंदुस्तान के क़िस्से-कहानियां और पुरानी परंपरा मेरे दिमाग़ में घर करती रहीं और ये बहुत-सी और दूसरी ख़याली बातों से मिलती-जुलती रहीं। मुझे ऐसा ख़याल नहीं कि मैंने इन कहानियों को हूबहू सच समझकर उन पर कभी ज़्यादा अहमियत दी हो बल्कि उनमें जादू-टोने या अलौकिकता के जो अंश होते उनकी मैंने आलोचना भी की है। लेकिन

कल्पना में मेरे लिए वे काफ़ी सच्ची रही हैं उसी तरह जिस तरह कि अलिफ़लैला या पंचतंत्र की कहानियां जो जानवरों के क़िस्सों का भंडार हैं और जिनसे पच्छिमी एशिया और यूरोप ने बहुत-कुछ हासिल किया है।[1] जब मैं बड़ा हुआ तो और तस्वीरें मेरे दिमाग़ में इकट्ठा हुईं—हिंदुस्तान और यूरोप की परियों की कहानियां यूनानी दंत कथाएं, जोन ऑव आर्क की कहानी 'ऐलिस इन वंडरलैंड' की कहानी अकबर और बीरबल की बहुत-सी कहानियां शरलाक होम्स के क़िस्से राजा आर्थर और उसके सरदारों की कथाएं, हिंदुस्तानी ग़दर की नायिका झांसी की रानी की कथा और राजपूती बहादुरी और जौहर की कहानियां। ये और बहुत-सी और कहानियां कुछ अजीब तरह के उलझाव के साथ मेरे दिमाग़ में भरी हुई थीं लेकिन हमेशा इनके पीछे, एक भूमिका की तरह वे हिंदुस्तानी दंत-कथाएं थीं जिन्हें मैंने अपने शुरू—बचपन—के दिनों में सीखा था।

अगर मेरा यह हाल था जिसके दिमाग़ पर तरह-तरह के असर पड़े थे तो मैंने अनुभव किया कि इन पुरानी दंत-कथाओं और परंपरा का औरों के दिमाग़ पर, ख़ासतौर पर हमारी अनपढ़ जनता के दिमाग़ पर कितना ज़्यादा पड़ा होगा। यह असर संस्कृति और नीति दोनों ही के लिहाज़ से अच्छा असर रहा है और इन कहानियों या रूपकों की सुंदरता और ख़याली संकेत को बरबाद करना या फेंक देना मैं हरगिज़ पसंद न करूंगा।

हिंदुस्तान की दंत-कथाएं महाकाव्यों तक महदूद नहीं हैं वे वैदिक काल

---

[1] पंचतंत्र के एशियाई और यूरोपीय भाषाओं में अनगिनत अनुवादों और नक़ल की कहानी लंबी पेचीदा और दिलचस्प है। पहला तरजुमा, जिसका कि पता चलता है, संस्कृत से पहलवी में ईसा की छठी सदी के मध्य में ईरान के बादशाह ख़ुसरो नौशेरवां के कहने से हुआ था। उसके बहुत जल्द बाद (लगभग ५७ ई में) सीरियन भाषा में एक तरजुमा निकला और उसके बाद एक तरजुमा अरबी में हुआ। ग्यारहवीं सदी में सीरियन अरबी और फ़ारसी में नये तरजुमे हुए, इनमें से आख़िरी 'कलीला दमन' की कहानी के नाम से मशहूर हुआ। इन तरजुमों के ज़रिये से 'पंचतंत्र' यूरोप में पहुंचा। ग्यारहवीं सदी के अंत में सीरियक से यूनानी भाषा में तरजुमा हुआ और कुछ बाद में इबरानी भाषा में। पंद्रहवीं और सोलहवीं सदियों में इसके कई तरजुमे या नक़लें लातीनी इटालियन, स्पेनिश, जर्मन स्वीडिश, डेनिश डच आइसलैंडिक, फ़्रांसीसी, अंग्रेज़ी, हंगेरियन और कई स्लाव भाषाओं में हुईं। इस तरह से 'पंचतंत्र' की कहानियां एशियाई और यूरोपीय साहित्यों में घुल-मिल गईं।

तक पहुंचती है और अनेक रूपों और पोशाकों में संस्कृत साहित्य में आती है। कवि और नाटककार इनसे पूरा फ़ायदा उठाते हैं और अपनी कथाएं और सुंदर कल्पनाएं इनके आधार पर बनाते हैं। कहा जाता है कि अशोक का वृक्ष सुंदरी स्त्री के पैरों से छुआ जाकर फूल उठता है। हम कामदेव की और उसकी स्त्री रति की कथाएं पढ़ते हैं और उसके मित्र वसंत की। काम दुस्साहस करके अपना पुष्पबाण स्वयं शिव पर चलाता है और शिव के तीसरे नेत्र से निकली हुई ज्वाला में भस्म हो जाता है। लेकिन वह अनंग यानी बिना शरीर का होकर ज़िंदा रहता है।

इन पुराणों की कथाओं और वीरगाथाओं में सचाई पर अड़े रहने और चाहे जैसा जोखिम होने पर अपने वचन का पालन करने मृत्यु तक और उसके बाद भी वफ़ादारी न छोड़ने साहसी और अच्छे काम करने और लोकहित के लिए त्याग करने की शिक्षाएं दी गई हैं। कभी-कभी तो ये कहानियां बिलकुल ख़याली होती हैं कभी उनमें घटनाओं और कल्पनाओं का मेल-जोल रहता है, किसी ऐसी घटना का जिसे परंपरा ने महफ़ूज़ रखा है, बढ़ा-चढ़ा बयान होता है। सच्ची घटनाएं और गढ़े हुए क़िस्से इस तरह एक में मिल गये हैं कि दोनों अंशों को अलग करना ग़ैर-मुमकिन है और इस तरह का गड़बड़ ख़याली इतिहास की जगह ले लेता है जो चाहे हमें यह न बता सके कि दरअसल हुआ क्या लेकिन जो हमें उतनी ही महत्त्व की दूसरी सूचना देता है यानी लोग क्या हुआ समझते रहे हैं। उनकी समझ में उनके वीर पूर्वज कैसे-कैसे काम कर सकते थे और उनके क्या आदर्श थे? इस तरह ये चाहे सच्ची घटनाएं हों चाहे गढ़े हुए क़िस्से यहां के रहनेवालों की ज़िंदगी के ये जीते-जागते जुज़ बन जाते हैं और उन्हें अपनी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की नीरसता और कुरूपता से बचाकर ऊंची दुनिया की तरफ़ खींचते रहे हैं और आदर्श तक पहुंचना चाहे जितना भी कठिन रहा हो, हमेशा कर्तव्य और सही जीवन का रास्ता दिखाते रहे हैं।

कहा जाता है कि गेटे ने उन लोगों की मलामत की है, जिन्होंने नूमिलिया को और दूसरी पुरानी रोमन वीरगाथाओं को गढ़ंत और झूठी बताया है। उसने कहा है कि जो चीज़ दरअसल जाली और झूठी होगी वह भद्दी और निकम्मी भी होगी कभी सुंदर और रस फूंकनेवाली नहीं हो सकती और अगर रोमन लोग इतने क़ाबिल थे कि इस तरह की चीज़ें गढ़ सकें तो हमें कम-से-कम इतना बड़ा होना चाहिए कि उनमें यक़ीन कर सकें।

इसलिए यह कल्पित इतिहास जो घटनाओं और गढ़ंत का मेल है,

या जो कभी-कभी बिलकुल गढ़ंत है, एक प्रतीक के रूप में सत्य बन जाता है और हमें उस खास जमाने के लोगों के दिल और दिमाग़ और मकसदों के बारे में बताता है। एक और मानी में यह सच है कि यह विचार और कर्म की बुनियाद में पहुँचाता है—जहाँतक आनेवाले इतिहास का ताल्लुक है। क़दीम हिंदुस्तान में इतिहास की समूची धारणा पर फ़िलसफ़े और मज़हब के लोग विचार का और इसलामी ज़माने का असर पड़ा है। तारीख़वार इतिहास लिखने की या घटनाओं का कोरा हाल इकट्ठा कर लेने की कोई खास अहमियत नहीं रही है। जिस बात की उन्हें ज्यादा फ़िक्र रही है वह यह है कि इन्सानी घटनाओं का इन्सानी आचरण पर क्या प्रभाव और असर रहा है। यूनानियों की तरह ये लोग बड़े कल्पनाशील और कला-विषय में गुणी थे और गुज़री हुई घटनाओं के बारे में भी उन्होंने कल्पना और कला से काम लिया है, क्योंकि उनका ध्यान इस बात पर रहा है कि आगे के आचरण के लिए कुछ सबक लिया जाय।

यूनानियों चीनियों और अरबवालों की तरह क़दीम हिंदुस्तानी इतिहासकार नहीं थे। यह एक दुर्भाग्य की बात है और इसके कारण आज हमारे लिए तिथियां या काल-क्रम निश्चित करना मुश्किल हो गया है। घटनाएं एक-दूसरी से गुंथ जाती हैं और बड़ा उलझाव पैदा हो जाता है। बहुत धीरज के साथ मेहनत करके ही विद्वानों ने हिंदुस्तानी इतिहास की भूल-भुलैयां के बीच से कुछ अता-पता लगाया है। सच पूछा जाय तो सिर्फ़ एक किताब है, यानी कल्हण की 'राजतरंगिणी' जो ईसा की बारहवीं सदी में लिखा हुआ काश्मीर का इतिहास है जिसे हम इतिहास कह सकते हैं। बाक़ी इतिहास के लिए हमें महाकाव्यों के कल्पित इतिहास की या पुस्तकों की मदद लेनी पड़ती है, या शिलालेखों, कला के भग्नावशेषों या इमारतों के खंडहरों, सिक्कों, या विस्तृत संस्कृत साहित्य से जहां-तहां इशारे मिल जाते हैं। हां, विदेशी यात्रियों के सफ़रनामों से भी मदद मिलती है, खासकर यूनानियों, चीनियों और बाद के ज़माने के लिए अरबों के सफ़रनामों से।

ऐतिहासिक बुद्धि की इस कमी से जनता का कोई नुक़सान नहीं हुआ था, क्योंकि जैसा और जगह होता है, बल्कि और जगह से ज्यादा यहां जनता ने अतीत के बारे में अपना विचार परंपरागत बयानों, पुराण की कहानियों और गाथाओं की नींव पर, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती हैं, बनाये थे। यह क़यासी तारीख़ या वाक़यों और कहानियों की मिलावट ऐसी थी, जिससे लोग ख़ूब परिचित हो गये थे और इस तरह जनता की एक पक्की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी। लेकिन इतिहास की तरफ़ से लापरवाही के बुरे नतीजे

भी हुए और ये अबतक हमारा पीछा कर रहे हैं। इसने हमारा नजरिया धुंधला कर दिया जिंदगी से एक तरह का बिलगाव पैदा किया हमें झट विश्वास कर लेनेवाला बना दिया और जहांतक वाक़ये का ताल्लुक था हमारे दिमाग में उलझाव डाल दिया। फ़िलसफ़े के मैदान में जो बड़ी मुश्किल अमरचे लाजिमी तौर पर अस्पष्ट और अनिश्चित होता है, हमें यह दिमाग़ी उलझाव नहीं मिलता हम इस मैदान में हिंदुस्तानी दिमाग में विश्लेषण और समन्वय दोनों की क़ाबलियत पाते हैं अक्सर इसे हम बहुत नुक्ताचीन और सफ़ व सूझ के करनेवाला देखते हैं। लेकिन जहांतक वाक़्ये का ताल्लुक है, यह ग़ैर-नुक्ताचीन रहा है शायद इसलिए कि यह जुग वाक़्ये पर ज्यादा अहमियत नहीं देता रहा है।

विज्ञान और आजकल की दुनिया से वास्ता पड़ने की वजह से अब वाक़्यों की समझ-बूझ पैदा हुई है जांच-पड़ताल की और प्रमाणों के तौलने की बुद्धि उपजी है और परंपरा को ज्यों-का-त्यों क़बूल करने से इंकार भी हुआ है। बहुत से क़ाबिल तारीख-दां आजकल काम में लगे हुए हैं लेकिन वे अक्सर उलटी ही ग़लती करते हैं यानी घटनाओं के काल-क्रम की तो बहुत छान-बीन करते हैं, लेकिन जिंदा इतिहास को छोड़ देते हैं। लेकिन आजकल भी हम पर परंपरा का कितना असर होता है यह एक ताज्जुब की बात है और बुद्धिमान आदमी की विवेचना-बुद्धि भी जाती रहती है। मुमकिन है, यह इस वजह से हो कि हम अपनी मौजूदा हालत में जातीयता के ख़याल में ग़र्क़ हैं। जब हमें राजनैतिक और आर्थिक आज़ादी हासिल हो जायगी तभी हमारा दिमाग़ बाक़ायदा और सही अंदाज़ में काम करेगा।

जांच-पड़ताल के नजरिये कौमी परंपरा के बीच टक्कर की एक बहुत हाल की अहमियत रखनेवाली और भेद प्रकट करनेवाली मिसाल है। हिंदुस्तान के बहुत बड़े हिस्से में विक्रम संवत चलता है। इसका आधार सौर गिनती पर है लेकिन महीने चांद के अनुसार गिने जाते हैं। पिछले महीने में यानी अप्रैल १९४४ में इस संवत के हिसाब से दो हज़ार साल पूरे हुए, और एक नई सहस्राब्दी शुरू हुई। इस मौक़े पर सारे हिंदुस्तान में उत्सव मनाये गये और यह उत्सव मनाया जाना वाजिब था क्योंकि एक तो काल गणना के ख़याल से यह बहुत बड़ा मौक़ा था दूसरे विक्रम या विक्रमादित्य जिसके नाम से यह संवत चलता है बहुत पुराने वक़्त से लोक-परंपरा का एक प्रधान पुरुष रहा है। उसके नाम के साथ अनगिनत कहानियां गुंथी हुई हैं और उनमें से बहुत-सी मध्य-युग में जुदा-जुदा पोशाकों में एशिया के जुदा-जुदा हिस्सों में पहुंची हैं और बाद में यूरोप में भी।

विक्रम बहुत जमाने से एक कौमी सूरमा और आदर्श राजा समझा जाता रहा है। उसकी याद एक ऐसे शासक के रूप में की जाती है, जिसने विदेशी हमला करनेवालों को मार भगाया। लेकिन उसकी कीर्ति की खास वजह उसके दरबार की साहित्यिक और सांस्कृतिक चमक-दमक है, जहां उसने कुछ बहुत मशहूर कवियों कलावंतों और गवैयों को इकट्ठा किया था और ये उसके दरबार के 'नवरत्न' कहलाते थे। उसके बारे में जो कथाएं हैं ज्यादातर ऐसी हैं, जिनसे उसकी अपनी प्रजा की भलाई करने की ख्वाहिश जाहिर होती है और यह कि वह जरा-सी जरूरत पड़ने पर दूसरे को लाभ पहुंचाने के लिए अपने स्वार्थ का त्याग करता था। वह अपनी उदारता दूसरों की सेवा साहस और निरभिमान के लिए मशहूर है। वह खासकर इस वजह से लोकप्रिय है कि वह एक अच्छा आदमी, कलाकारों का हामी और सरपरस्त समझा जाता था। वह सफल योद्धा या विजेता था, यह बात कहानियों में नहीं प्रकट की गई है। भलाई और आत्म-त्याग पर यह जोर हिंदुस्तानी दिमाग और भावनों की विशेषता है। सीजर की तरह विक्रमादित्य का नाम एक तरह की पदवी और प्रतीक बन गया और बाद के बहुत-से शासकों ने इसे अपने नामों के साथ जोड़ लिया। इस वजह से गड़बड़ी पैदा हो गई, क्योंकि बहुत-से विक्रमादित्यों का बयान इतिहास में आता है।

लेकिन यह विक्रम था कौन? और वह कब हुआ? इतिहास की दृष्टि से यह बात बिलकुल अस्पष्ट है। ईसा से ५७ वर्ष पहले जब इस संवत का आरंभ होता है, इस तरह के किसी शासक का पता नहीं है। हां, उत्तर हिंदुस्तान में चौथी सदी ईसवी में एक विक्रमादित्य था, जो हूणों के साथ लड़ा था और जिसने उन्हें मार भगाया था। यही वह व्यक्ति है जिसके दरबार में नवरत्नों का होना समझा जाता है और जिसके आस-पास ये कहानियां बनी हैं। अब सवाल यह होता है कि चौथी सदी ईसवी के इस विक्रमादित्य का ताल्लुक उस संवत से कैसे हो सकता है, जिसका आरंभ इससे ५७ वर्ष पहले होता है? शायद इसकी व्याख्या इस तरह है कि मध्य-भारत की मालवा रियासत में ५७ ई० पू० से शुरू होनेवाला एक संवत चला आ रहा था, विक्रम के बहुत बाद यह संवत उसके नाम के साथ किसी तरह जुड़ गया और उसका नया नामकरण हुआ। लेकिन ये सभी बातें अस्पष्ट और अनिश्चित हैं।

जो सबसे अचरज की बात है, वह यह है कि करोड़ों समझ-बूझ के हिंदुस्तानियों ने परंपरा के इस वीर पुरुष विक्रम के नाम के साथ कैसे भी हो,

२ वर्ष पुराने इस संवत को जोड़ने के लिए इतिहास के साथ किस तरीके पर खिलवाड़ किया है। यह बात भी दिलचस्प है कि विदेशी के खिलाफ लड़ाई करने पर और एक क़ौमी राज्य के अन्तर्गत हिंदुस्तान की एकता क़ायम करने की इच्छा पर ज़ोर दिया गया है। दरअसल विक्रम का राज्य उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान तक महदूद था।

हिंदुस्तानी ही अकेले नहीं हैं जिन पर इतिहास के लिखने या उस पर विचार करने में क़ौमी भावनाओं और क़ौमी समझी गई दिलचस्पियों का असर पड़ता हो। हर क़ौम और सभी लोगों में गुज़रे हुए ज़माने को ज़माना अच्छा करके दिखलाने और चमकाने तथा अपने पक्ष में तोड़ने-मरोड़ने की ख्वाहिश रहती है। हिंदुस्तान के जिन इतिहासों को हममें से बहुतों को पढ़ना पड़ा है वे ज़्यादातर अंग्रेज़ों के लिखे हुए हैं और जो आम तौर पर ब्रिटिश हुकूमत की तरफ़दारी में या तो सफ़ाइयां पेश करते हैं या उसके गुण गाते हैं और उसके साथ-साथ यहां की हज़ारों बरस पहले होनेवाली घटनाओं का मुश्किल से छिपाई हुई हिकारत के साथ बयान है। दरअसल उनके लिए मतलब का इतिहास तो हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के आने के बाद शुरू होता है उससे पहले जो कुछ हुआ वह किसी भेद भरे ढंग से इस दैवी उत्कर्ष की तैयारी में हुआ है। ब्रिटिश ज़माने के इतिहास का भी अंग्रेज़ों के गुणों और अंग्रेज़ी हुकूमत का बड़प्पन ज़ाहिर करने के लिए, तोड़-मरोड़ किया गया है। बहुत धीरे-धीरे एक ज़्यादा सही नज़रिया बन रहा है। लेकिन इतिहास में अपने मतलब के मुताबिक़ उलट-फेर करने की मिसाल के लिए गुज़रे ज़माने के इतिहास में पैठने की ज़रूरत नहीं। आज का ज़माना ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है, और अगर मौजूदा ज़माने की जिसे हम देख रहे हैं और जिसका अनुभव कर रहे हैं इस तरह तोड़ मरोड़ हो सकती है तो गुज़रे हुए ज़माने के बारे में क्या कहा जाय?

फिर भी यह सच है कि हिंदुस्तान के लोगों में परंपरा और चली आई बात को बग़ैर पूरी-पूरी जांच-परख के इतिहास के रूप में मान लेने की आदत है। उन्हें इस तरह के ढिलमिल विचारों से और नतीजों पर पहुंचने के सहज तरीक़ों से अपने को छुड़ाना पड़ेगा।

लेकिन मैं देवताओं और देवियों की और उन दिनों की चर्चा कर रहा था जब पुराण के क़िस्सों और कथाओं का आरंभ हुआ था और इस चर्चा से बहुत दूर हट आया। वे ऐसे दिन थे जब ज़िंदगी भरी-पूरी थी और प्रकृति के साथ उसका तार-तार मिला हुआ था जब आदमी का दिमाग़ विश्व के रहस्यों पर अचरज और आनंद से निगाह डालता था

जब स्वर्ग और धरती एक-दूसरे के बहुत क़रीब जान पड़ते थे और देवता लोग तथा देवियां कैलाश से या हिमालय में स्थित अपने धामों से ओलिंपस के देवताओं की तरह आदमियों और औरतों के बीच खेल करने या कभी-कभी उन्हें दंड देने के लिए उतर आते थे। इस भरी-पूरी जिंदगी और शान दार कल्पना से कथा-कहानियों का और बली तथा सुंदर देवताओं एवं देवियों का जन्म हुआ क्योंकि यूनानियों की तरह हिंदुस्तानी भी जिंदगी और सौंदर्य के प्रेमी थे। प्रोफेसर गिल्बर्ट मरे हमें ओलिंपयन देवी-देवताओं की अपार सुंदरता बताते हैं। उनका बयान हिंदुस्तानी दिमाग़ की शुरू की सृष्टियों के बारे में भी ठीक उतरता है। ये कलावंतों के सपने आदर्श और रूपक हैं ये किसी ऐसी वस्तु के प्रतीक हैं जो हमसे बाहर की है ये देवता हैं ऐसी परंपरा के जो आधी तर्क की जा चुकी है अनजान में जिनकी कल्पना कर ली गई है जिन तक हमारी आकांक्षाएं पहुंचती हैं। ये ऐसे देवता हैं जिनकी उचित सावधानी के साथ अधकचरे फ़िलसूफ़ अनेक उज्ज्वल और दिल को मथनेवाले अनुमानों के प्रसंग में प्रार्थना कर सकते हैं। ये ऐसे देवता नहीं हैं जिनमें कोई वाक़्ये के तौर पर यक़ीन करता हो। इसके बाद जो प्रोफ़ेसर मरे कहते हैं वह भी हिंदुस्तान पर उतना ही लागू है—"जिस तरह आदमी की गढ़ी हुई सुंदर-से-सुंदर मूर्ति देवता नहीं होती बल्कि एक प्रतीक होती है जिसके जरिये देवता की कल्पना हो सके उसी तरह से खुद देवता जब उनकी कल्पना की जाती है तो यथार्थ नहीं बन जाते बल्कि यथार्थ की कल्पना में मदद करनेवाले केवल प्रतीक होते हैं इस बीच उन्होंने कोई ऐसा मत नहीं चलाया जो ज्ञान के ख़िलाफ़ पड़ता हो कोई ऐसे हुक्म नहीं जारी किये जिनके कारण कि इन्सान अपनी अंदरूनी रोशनी के ख़िलाफ़ पाप करता।"

रफ़्ता-रफ़्ता वैदिक और दूसरे देवी-देवताओं के दिन हटकर पीछे पहुंच गये और उनकी जगह कठिन फ़िलसफ़े ने ले ली। लेकिन लोगों के दिमाग़ों में सुख के संगियों और दुख के साथियों की तरह उभरी अपनी आकांक्षाओं और अस्पष्ट रूप से अनुभव किये गये आदर्शों के रूप में वे मूरतें फिर भी तिरती रहीं और उनके गिर्द कवियों ने अपनी कल्पनाएं लपेटीं और अपने सपनों के घर बनाये और उन्हें अच्छी तरह सजाया। इनमें से बहुत-सी कथाओं और कवियों की कल्पनाओं को एक रम्य

---

यह और इसके बाद का उद्धरण दोनों गिल्बर्ट मरे की पुस्तक 'फ़ाइव स्टेजेज ऑव ग्रीक रिलिजन' (थिंकर्स लाइब्रेरी) पृ. ७६ और बाद के पृष्ठ से लिये गये हैं।

बेन ने सुंदर ढंग से हिंदुस्तानी कथाओं-संबंधी अपनी किताबों में उतारा है। इनमें से एक 'डिजिट ऑव दि मून' में हमें यह बताया गया है कि औरत की सृष्टि कैसे हुई—"शुरू में जब त्वष्टा (विश्वकर्मा) स्त्री की रचना पर आया तो उसने पाया कि वह अपनी सारी सामग्री आदमी की बनावट में खर्च कर चुका है और ठोस वस्तु तत्त्व बच नहीं रहा है। इस पसोपेश में उसने गहरा सोच-विचार किया और जो किया वह यह था—उसने चांद की गोलाई लताओं का खम लता-तंतुओं का चिपटना दूब का कंपना नरकुल की नजाकत फूलों का खिलाव पत्तियों का हलकापन हाथी की सूंड का सुडौल पन हिरनों की नजर, मक्खियों का एकत्र होना सूरज की किरनों की खुशी बादलों का रोना हवा की चंचलता खरगोश का डर, और मोरों का घमंड लिया फिर सुग्गे की छाती से कोमलता और वज्र से कठोरता शहद की मिठास चीते की निर्दयता आग की चमक और बर्फ की ठंड चिटचिटे की चहचहान और कोयल की कूक सारस का छल और चकवा—चकवे—की वफादारी ली और इन सबको मिलाकर स्त्री को रचा और फिर उसे मनुष्य को दे दिया।

## ११ महाभारत

महाकाव्यों का समय बताना कठिन है। इनमें उस क़दीम ज़माने का हाल है जब कि आर्य हिंदुस्तान में बस रहे थे और अपनी जड़ जमा रहे थे। ज़ाहिरा तौर पर इन्हें बहुत-से लेखकों ने लिखा है या इनमें मुख्तलिफ़ वक्तों में इज़ाफ़ा किया है। रामायण ऐसा महाकाव्य है जिसमें बयान में थोड़ी बहुत एकता है महाभारत प्राचीन ज्ञान का एक बड़ा और फुटकर संग्रह है। दोनों ही बौद्ध-काल से पहले बन गये होंगे अगरचे इसमें शक नहीं कि इनमें बाद में भी हिस्से जोड़े गये हैं।

फ्रांसीसी इतिहासकार मिशले १८६४ में खासतौर पर रामायण के हवाले में लिखते हुए कहते हैं—"जिस किसीने भी बड़े काम किये हैं या बड़ी आकांक्षाएं की हैं उसे इस गहरे प्याले से ज़िंदगी और जवानी की एक लंबी घूंट पीनी चाहिए पश्चिम में सभी चीज़ें संकरी और तंग हैं—यूनान एक छोटी जगह है और उसका विचार करके मेरा दम घुटता है जूडिया सूखा जगह है और मैं हांफ जाता हूं। मुझे विशाल एशिया और महान पूर्व की तरफ ज़रा देर को देखने दो। वहां मिलता है मेरे मन का महाकाव्य—हिंद-महासागर-जैसा विस्तृत जगमगाता सूर्य के प्रकाश से चमकता हुआ जिसमें दैवी संगीत है और जहां कोई बेसुरापन नहीं। वहां एक गहरी शांति का राज्य है और द्वन्द्व-संघर्ष के बीच भी वहां बेहद मिठास और हमदर्दी

का माई चारा है जो सभी जिंदा चीजों पर छाया हुआ है—मुहब्बत रहम, क्षमा का अपार और अथाह समुंदर है।"

महाकाव्य की हैसियत से रामायण एक बहुत बड़ा ग्रंथ जरूर है और उससे लोगों को बहुत चाव है लेकिन यह महाभारत है जो दरअसल दुनिया की सबसे खास पुस्तकों में से एक है। यह एक विराट कृति है परंपरा और कथाओं का और हिंदुस्तान की क़दीम राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं का यह एक विश्व-कोष है। दस साल से ज्यादा से बहुत-से अधिकारी हिंदुस्तानी विद्वान मिलकर उन पाठों की जांच-पड़ताल में लगे हुए हैं जो अबतक हासिल हुए हैं जिसमें कि एक प्रामाणिक संस्करण छापा जा सके। कुछ हिस्से उन्होंने छापकर प्रकाशित भी कर दिये हैं लेकिन काम अब भी अधूरा है और चल रहा है। यह एक दिलचस्प बात है कि इस भयानक और व्यापक युद्ध के दिनों में भी रूस के पूर्वी विद्याओं के जाननेवाले विद्वानों ने महाभारत का रूसी तरजुमा पेश किया है।

शायद यह वह जमाना था जबकि विदेशी लोग हिंदुस्तान में आ रहे थे और अपने साथ अपने रीति-रिवाजों को ला रहे थे। इनमें से बहुत-से रीति-रिवाज आर्यों के रीति-रिवाजों से मुख्तलिफ़ थे और इस तरह विरोधी विचारों और रीति-रिवाजों की एक अजीब खिचड़ी हमें देखने में आती है। आर्यों में एक स्त्री के कई पति होने का चलन नहीं था फिर भी हम पाते हैं कि महाभारत की एक खास पात्री के पांच पति हैं जो आपस में भाई-भाई हैं। रफ्ता-रफ्ता पहले के आदिम निवासी और नये आनेवाले लोग दोनों ही आर्यों में घुल-मिलकर एक हो रहे थे और वैदिक-धर्म में भी इसीके मुताबिक तबदीली आ रही थी। यह वह व्यापक रूप अख्तियार कर रहा था जिससे मौजूदा हिंदू-धर्म निकला है। यह मुमकिन इसलिए हो सका कि बुनियादी नजरिया यह जान पड़ता है कि सचाई पर किसी एक का इजारा नहीं हो सकता और उसे देखने और उस तक पहुंचने के बहुत-से रास्ते हैं। इस तरह सभी तरह के यहांतक कि विरोधी विश्वासों को गवारा किया जाता था।

महाभारत में हिंदुस्तान (या जिसे गाथाओं के अनुसार जाति के आदि पुरुष भरत के नाम पर भारतवर्ष कहा जाता था) की बुनियादी एकता पर जोर देने की बहुत निश्चित कोशिश की गई है। इसका एक और पहले का नाम आर्यावर्त्त या आर्यों का देश था। लेकिन यह मध्य-हिंदुस्तान के विन्ध्य पहाड़ तक फैले हुए उत्तरी हिंदुस्तान तक महदूद था। शायद उस जमाने तक आर्य इस पहाड़ के सिलसिले के पार नहीं पहुंचे थे। रामायण

की कथा भाइयों के दक्खिन में पैठने का इतिहास है। यह बड़ी लड़ाई-भिड़ंत जो बाद में हुई और जिसका महाभारत में बयान है एक गोल-मोल तरीके से अन्दाज़ किया जाता है कि ईसा से पहले चौदहवीं सदी में हुई। यह लड़ाई हिंदुस्तान (या शायद उत्तरी हिंदुस्तान) पर सबसे ऊंचा अधिकार हासिल करने के लिए हुई थी और इससे सारे हिंदुस्तान के भारतवर्ष के रूप में कल्पना किये जाने की शुरूआत होती है। भारतवर्ष की जो यह कल्पना थी उसमें आजकल के अफ़ग़ानिस्तान का ज़्यादा हिस्सा जिसे उस वक्त गंधार कहते थे (और जिससे कन्धार शहर का नाम पड़ा है) शामिल था और इस देश का अपना अंग समझा जाता था। सच तो यह है कि मुख्य शासक की स्त्री का नाम गांधारी या गंधार की लड़की था। दिल्ली इसी वक्त हिंदुस्तान की राजधानी बनती है—मौजूदा शहर नहीं बल्कि इसके पास के इससे मिले हुए पुराने शहर जो हस्तिनापुर और इंद्रप्रस्थ कहलाते थे।

बहन निवेदिता (मार्गरेट नोबुल) ने महाभारत के बारे में लिखते हुए बताया है—"विदेशी पाठक पर      दो खास बातों का असर पड़ता है। पहली बात तो यह है कि विविधता में यहां एकता मिलती है दूसरी यह कि सुननेवालों पर एक ऐसे मरकज़ी हिंदुस्तान के खयाल को बिठाने की लगातार कोशिश है जिसकी अपनी वीरता की परंपरा है जो एकता के भाव को बनानेवाली है।"[1]

महाभारत में कृष्ण की कथाएं हैं और भगवद्गीता नाम का मशहूर काव्य भी है। गीता के फ़िलसफ़े के अलावा भी इस ग्रंथ में आमतौर पर ज़िंदगी में और रियासती मामलों में नीति और इख़लाक़ के उसूलों पर ज़ोर दिया गया है। धर्म की इस बुनियाद के बगैर सच्चा सुख नहीं मिल सकता और न समाज ही क़ायम रह सकता है। समाज की बहबूदी इसका मकसद है किसी एक गिरोह की बहबूदी नहीं बल्कि सारी दुनिया की बहबूदी क्योंकि "मर्त्यों की यह दुनिया एक परस्पर-आश्रित संगठन है। लेकिन धर्म खुद सापेक्ष है और सचाई, अहिंसा वगैरह बुनियादी उसूलों के अलावा यह वक्त और परिस्थिति पर निर्भर करता है। ये उसूल हमेशा-हमेशा क़ायम रहते हैं और इनमें तब्दीली नहीं आती मगर इनके अलावा धर्म जो कर्तव्यों और जिम्मेदारियों का मजमूआ है बदलते हुए ज़माने

[1] यह उद्धरण मैंने सर एस० राधाकृष्णन् की पुस्तक 'इंडियन फ़िलासफ़ी' से लिया है। मैं राधाकृष्णन् का और उद्धरणों के लिए और इस अध्याय और दूसरे अध्यायों की बहुत-सी बातों के लिए, एहसानमंद हूं।

के साथ बदलता रहता है। यहां और-और जगहों पर अहिंसा पर जो ज़ोर दिया गया है वह दिलचस्प है क्योंकि इसमें और किसी अच्छे मक़सद के लिए लड़ाई करने में कोई ज़ाहिरा विरोध नहीं माना गया है। सारा महा-काव्य एक बड़े युद्ध की घटनाओं को लेकर रचा गया है। जान पड़ता है कि अहिंसा की कल्पना का संबंध ज़्यादातर मक़सद से था यानी मन में हिंसा का भाव न रखना चाहिए, आत्म-संयम करना चाहिए और गुस्से और नफ़रत पर क़ाबू पाना चाहिए इसका मतलब यह नहीं था कि अगर ज़रूरी हो और किसी तरह बचत न हो सके तो भी शरीर से कोई हिंसा का काम न बन पड़ना चाहिए।

महाभारत एक ऐसा बेशक़ीमती भंडार है कि हमें इसमें बहुत तरह की अनमोल चीज़ें मिल सकती हैं। यह रंग-बिरंगी घनी और सुलझती हुई ज़िंदगी से भरपूर है और इस बात में यह हिंदुस्तानी विचारधारा के दूसरे पहलू से बहुत हटकर है जिसमें तपस्या और ज़िंदगी से इन्कार पर ज़ोर दिया गया है। यह महज़ नीति की शिक्षा देनेवाली किताब नहीं है, हालांकि नीति और इख़लाक़ की तालीम इसमें काफ़ी मिलेगी। महाभारत की शिक्षा का सार एक जुमले में रख दिया गया है—"दूसरे के लिए तू ऐसी बात न कर, जो तुझे खुद अपने लिए नापसंद हो। ज़ोर समाज की भलाई पर दिया गया है और यह बात मार्के की है क्योंकि ख़याल यह किया जाता है कि हिंदुस्तानी दिमाग़ का ध्यान अपनी कमाल हासिल करने की ओर रहा है न कि समाज की भलाई की तरफ़। इसमें कहा है—"जिससे समाज की भलाई नहीं होती या जिसे करते हुए तुम्हें शर्म आती है, उसे न करो।

फिर कहा है— 'सचाई—अपने को बस में रखना तपस्या उदारता अहिंसा धर्म पर डटे रहना—इनसे कामयाबी हासिल होती है जात और ख़ानदान से नहीं। 'ज़िंदगी और अमर होने से धर्म बढ़कर है। "सच्चे आनंद के लिए तकलीफ़ उठाना ज़रूरी है।" धन कमाने के पीछे पड़े रहने वाले पर एक व्यंग्य है—"रेशम का कीड़ा अपने धन के कारण मरता है। और, अंत में एक जीती-जागती और तरक्क़ी करती हुई जाति के लोगों के उपयुक्त यह आदेश है—"असंतोष तरक्क़ी के लिए उकसानेवाला है।

महाभारत में वेदों का बहुदेववाद है उपनिषदों का अद्वैतवाद है और देववाद द्वैतवाद और एकेश्वरवाद भी है। फिर भी नज़रिया रचनात्मक कमोबेश बुद्धिवादी है। अलहदगी की भावना अभी तक नदारद है। जात-पात के मामलों में कट्टरपन नहीं है। अभी भी लोगों में अपने में भरोसा है

लेकिन ज्यों-ज्यों बाहरी ताक़तों के हमले होते हैं और पुरानी व्यवस्था पर वार होता है त्यों-त्यों यह भरोसा कुछ कम होता जाता है और संबन्धी एकता और शक्ति पैदा करने के लिए ज्यादा समानता की मांग होती है। नये-नये निषेध लागू होते हैं। गो-मांस का खाना जिसे पहले बुरा न समझा जाता था बाद में बिलकुल मना कर दिया जाता है। महाभारत में मान्य अतिथियों को गो-मांस और बछड़े का मांस पेश करने के हवाले हैं।

## १४ भगवद्गीता

भगवद्गीता महाभारत का अंश है एक बहुत बड़े नाटक की एक घटना है। लेकिन उसकी अपनी अलग जगह है और वह अपने में संपूर्ण है। यों यह ७ श्लोकों का छोटा-सा काव्य है लेकिन विलियम वॉन हंबोल्ट ने इसके बारे में लिखा है कि 'यह सबसे सुंदर, शायद अकेला सच्चा दार्शनिक काव्य है जो किसी भी जानी हुई भाषा में मिलता है।" बौद्ध-काल से पहले जब इसकी रचना हुई, तब से आजतक इसकी लोकप्रियता और प्रभाव घटे नहीं हैं, और आज भी इसके लिए हिंदुस्तान में पहले-जैसा आकर्षण बना हुआ है। विचार और फ़िलसफ़े का हर एक संप्रदाय इसे श्रद्धा से देखता है और अपने-अपने ढंग से इसकी व्याख्या करता है। संकट के वक्त जब आदमी का दिमाग़ संदेह से सताया हुआ होता है और अपने फ़र्ज़ के बारे में उसे दुविधा दो तरफ़ खींचती होती है वह रोशनी और रहनुमाई के लिए गीता की तरफ़ और भी झुकता है क्योंकि यह संकट काल के लिए लिखी गई कविता है—राजनैतिक और सामाजिक संकटों के अवसर के लिए और उससे भी ज्यादा इन्सान की आत्मा के संकट-काल के लिए। गीता की अनगिनत व्याख्याएं निकल चुकी हैं और अब भी बराबर निकलती रहती हैं। विचार और काम के मैदान के आजकल के नेताओं—तिलक अरविंद घोष गांधी—ने भी इसके संबंध में लिखा है और अपनी-अपनी व्याख्याएं दी हैं। गांधीजी ने इसे अहिंसा में अपने दृढ़ विश्वास का आधार बनाया है और लोगों ने इसे हिंसा और धर्म-कार्य के लिए युद्ध का।

यह काव्य घोर युद्ध शुरू होने से पहले ठीक लड़ाई के मैदान में अर्जुन और कृष्ण की बातचीत के रूप में आरंभ होता है। अर्जुन विचलित है उसकी अंतरात्मा लड़ाई और उससे होनेवाले बड़े संहार का मित्रों और बंधुओं के संहार का खयाल करके सहम उठती है। आख़िर यह सब किस लिए ? कौनसे ऐसे फ़ायदे की कल्पना हो सकती है जो इस नुकसान का इस पाप का परिहार कर सके ? उसकी सभी पुरानी कसौटियां जवाब दे

देती है ये सभी मूल्य जिन्हें उसने आंक रखा था बेकार हो जाते हैं। अर्जुन इन्सान की पीड़ित आत्मा का प्रतीक बन जाता है ऐसी आत्मा का जो सभी जमानों में फ़र्ज़ और इखलाक के तक़ाज़ों की वजह से दुविधा में पड़ी रही है। इस शख्सी बातचीत से होते-होते हम आदमी के फ़र्ज़ और सामाजिक आचरण इन्सानी जिंदगी और सदाचार, और हमारा रूहानी नज़रिया कैसा होना चाहिए, इन ग़ैर-शख्सी ख्यालों तक पहुंच जाते हैं। इसमें बहुत-कुछ ऐसा है जो आध्यात्मिक है और इस बात की कोशिश की गई है कि इन्सानी तरक्की के तीन रास्तों—ज्ञान मार्ग कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग—का इसके जरिये समन्वय हो। शायद भक्ति पर औरों की बनिस्बत ज्यादा ज़ोर दिया गया है और एक व्यक्तिगत ईश्वर का रूप भी इसमें दिखता है हालांकि यह कहा गया है कि वह पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर का ही एक अवतार है। गीता में खासतौर पर इन्सानी ज़िंदगी की रूहानी ज़मीन दिखाई गई है और इसी भूमिका में रोज़मर्रा की ज़िंदगी के व्यावहारिक मसले हमारे सामने आते हैं। यह हमें ज़िंदगी के फ़र्ज़ों और कर्तव्यों का सामना करने के लिए पुकारती है लेकिन हमेशा इस तरह कि इस रूहानी ज़मीन और विश्व के बड़े मकसद को नज़र-अंदाज़ न किया जाय। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ रहने की बुराई की गई है और यह बताया गया है कि काम और ज़िंदगी को युग के सबसे ऊंचे आदर्शों के अनुसार होना चाहिए, क्योंकि हर एक युग में युग आदर्श बदलते रहते हैं। एक खास ज़माने के आदर्श—युग-धर्म—का सदा ध्यान रखना चाहिए।

चूंकि आज के हिंदुस्तान पर मायूसी छायी हुई है और उसके चुप चाप रहने की भी एक हद हो गई है इसलिए काम में लगने की यह पुकार खासतौर पर अच्छी मालूम पड़ती है। यह भी मुमकिन है कि ज़माने-हाल के लफ़्ज़ों में इस पुकार को समाज के सुधार की और समाज-सेवा की और अमली वेदान्त देशभक्ति के और इन्सानी हमदर्दी के काम की पुकार समझा जाय। गीता के अनुसार ऐसा काम अच्छा होता है लेकिन इसके पीछे रूहानी मकसद का होना लाज़िमी है। यह काम त्याग की भावना से किया जाना चाहिए और इसके नतीजों की फ़िक्र न करनी चाहिए। अगर काम सही है तो नतीजे भी इसके सही होंगे चाहे वे फ़ौरन न ज़ाहिर हों क्योंकि कार्य कारण का नियम हर हालत में अपना काम करेगा ही।

गीता का संदेशा सांप्रदायिक या किसी एक खास विचार के लोगों के लिए नहीं है। क्या ब्राह्मण और क्या अछूत वह सभी के लिए है। यह कहा गया है कि सभी रास्ते मुझ तक पहुंचाते हैं। इसी व्यापकता की वजह

से सभी वर्ग और संप्रदाय के लोगों को मीठा मान्य हुई है। इसमें कोई बात ऐसी है कि हमेशा नयापन पैदा किया जा सकता है और जमाना बदलने के साथ पुरानी पड़ने से इसे रोकता है—यह जिज्ञासा और जांच-पड़ताल का विचार और कर्म का और बावजूद संघर्ष और विरोध के सम तौल कायम रखने का कोई खास गुण है। विषमता के बीच में भी हम उसमें एकता और संतुलन पाते हैं और बदलती हुई परिस्थिति पर विजय पाने का ढंग और यह इस तरह नहीं कि जो-कुछ सामने है उससे मुंह मोड़ा जाय बल्कि इस तरह कि उसमें अपने काम के लिए जगह बनाई जाय। ढाई हजार बरसों में जो इसके लिखे जाने के बाद गुजरे हैं हिंदुस्तान के लोगों ने न जाने कितनी तब्दीलियां देखी हैं और चढ़ाव-उतार भी देखा है तजुरबे-पर तजुरबे हुए हैं खयाल-पर-खयाल उठे हैं लेकिन उन्हें हमेशा गीता में कोई जिंदा चीज मिली है जो उनके तरक्की करते हुए विचार से मेल खा गई है जिसमें ताजगी रही है और दिमाग के खेलनेवाले रूहानी मसलों पर जो लागू रही है।

## १५ क़दीम हिंदुस्तान में जिंदगी और कारबार

विद्वानों और फ़िलसूफ़ों ने क़दीम हिंदुस्तान के फ़िलसफ़े और अध्यात्म के विकास को जांचने के लिए बहुत-कुछ किया है तारीखी घटनाओं का कालक्रम निश्चित करने के लिए भी बहुत-कुछ किया गया है। लेकिन उन वक्तों के सामाजिक और आर्थिक हालात को मालूम करने के लिए अभी ज्यादा काम नहीं हुआ है—यह कि किस तरह लोग रहते-सहते थे और अपना धंधा करते थे क्या चीजें और किस तरह पैदा करते थे और व्यापार किस ढंग से होता था। इन बहुत अहम मसलों पर अब ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है और हिंदुस्तानी विद्वानों के लिखे हुए कुछ ग्रंथ निकले हैं और एक अमरीकी की लिखी हुई एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। महाभारत खुद समाज-शास्त्र संबंधी और और सूचनाओं का भंडार है और मक़ामी तौर पर दूसरी बहुत-सी पुस्तकों से हमें जानकारी हासिल हो सकती है। लेकिन उनकी इस नुक्ते-नजर से ग़ौर के साथ जांच-पड़ताल करना जरूरी है। एक किताब जिसकी इस खयाल से बहुत ज्यादा क़ीमत है कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' है जो ईसा से पहले चौथी सदी में लिखा गया था और जिसमें राजनैतिक सामाजिक आर्थिक बातों और लोगों के फ़ौजी संगठन के बारे में बहुत-सी तफ़सीली जानकारी मिलती है।

इससे भी पहले का एक जमाना जो हमें बुद्ध से भी पहले के जमाने तक पहुंचाता है, हमें जातक कथाओं में मिलता है। इन जातक कथाओं का

मौजूदा रूप बुद्ध के समय से बाद का है। इनमें बुद्ध के पहले के जन्मों का हाल लिखा हुआ खयाल किया जाता है और ये बौद्ध-साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग बन गई हैं। लेकिन जाहिरा तौर पर ये कहानियां और भी पुरानी हैं और इनमें बौद्ध-काल से पहले का जिक्र है। इनसे हमें उस जमाने के हिंदुस्तान की जिंदगी के बारे में बहुत-सी सूचना मिलती है। प्रोफ़ेसर रीज़ डेविड्स ने इन्हें लोक-कथाओं का सबसे पुराना सब से मुकम्मिल और सबसे महत्त्व का संग्रह बताया है। बाद के अनेक संग्रह जिनमें जानवरों की और और कहानियां इकट्ठा की गई हैं जो हिंदुस्तान में लिखे गये और बाद में पश्चिमी एशिया और यूरोप में फैले इन्हीं जातकों से निकले सिद्ध किये जा सकते हैं।

जातकों में उस जमाने का जिक्र है जबकि हिंदुस्तान की दो खास जातियों का यानी द्रविड़ों और आर्यों का आखिरी मेल-मिलाप हो रहा था। उनसे एक "विविध और अस्त-व्यस्त समाज का पता लगता है जिसके वर्गीकरण की सभी कोशिशें बेसूद होंगी और जिसके बारे में उस जमाने की वर्ण-व्यवस्था के अनुसार संगठन की कोई बात ही नहीं हो सकती।"[1] यह कहा जा सकता है कि जातकों में हमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों की परंपरा के विरोध में जन-साधारण की परंपरा मिलती है।

जुदा-जुदा राज्यों और शासकों के क्रम-क्रम और वंशावलियां हमें मिलती हैं। शुरू में राजा चुना जाता था बाद में राजा वंशगत होने लगे और सबसे जेठा लड़का राज्य का अधिकारी होता। औरतें उत्तराधिकार से अलग रखी गई हैं लेकिन इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। जैसाकि चीन में रहा है शासक सभी दुर्भाग्यों के जिम्मेदार ठहराये जाते थे।

अगर कोई बात बिगड़ती है तो इलजाम राजा पर आता है। मंत्रियों की समितियां हुआ करती थी और एक तरह की राज्य-परिषद के भी हवाले मिलते हैं। फिर भी राजा खुदमुख्तार हुआ करता था हालांकि उसे कुछ कायमशुदा मुआहदों के बमूजिब चलना पड़ता था। दरबार में पुरोहित का पद बड़ा ऊंचा माना जाता था वह सलाहकार भी होता था और धार्मिक

---

[1] रिचर्ड फ़िक : 'दि सोशल आर्गनाइज़ेशन इन नार्थ-ईस्ट इंडिया इन बुद्धाज़ टाइम' ('बुद्ध के ज़माने में पूर्वोत्तर हिंदुस्तान का सामाजिक संगठन') (कलकत्ता १९२ ) पृष्ठ २८६। एक और हाल की पुस्तक, जो ज़्यादातर जातक-कथाओं के आधार पर लिखी गई है, रतिलाल मेहता की 'प्रि-बुद्धिस्ट इंडिया' (पूर्व-बौद्धकालीन भारत) (बंबई १९३९) है। अपनी ज़्यादातर सामग्री के लिए मैं इस दूसरी पुस्तक का आभारी हूं।

रस्मों को अदा करनेवाला भी। जालिम और अन्यायी राजाओं के खिलाफ जनता के विद्रोह के भी हवाले मिलते हैं और ऐसे राजाओं को उनके अपराधों के लिए जानें तक गंवानी पड़ी हैं।

गांव की पंचायतों को एक हद तक खुदमुख्तारी हासिल थी। जमीन के लगान से खास आमदनी थी। यह खयाल किया जाता था कि जमीन पर लगाया गया कर राजा के हिस्से का है आमतौर पर यह रुपये या उपज की शक्ल में अदा किया जाता था लेकिन हमेशा ऐसा न होता था। यह खासकर किसानों की तहजीब थी और इसकी बुनियादी इकाई यही खुदमुख्तार गांव हुआ करते थे। इन्हीं गांवों की जनता के आधार पर राजनीतिक और आर्थिक संगठन होता था दस-दस और सौ-सौ गांवों के गिरोह बना दिये जाते थे। बागबानी पशु-पालन और ग्वालों का धंधा बहुत बड़े पैमाने पर होता था। बाग और उद्यान बहुतायत से थे और फूलों और फलों की कद्र की जाती थी। जिन फूलों का जिक्र है उनकी एक लंबी फेहरिस्त तैयार होगी जो फल पसंद किये जाते थे वे आम अंजीर, अंगूर, केला और खजूर हैं। जाहिरा तौर पर तरकारी और फल बेचनेवालों की और मालियों की शहरों में बहुत-सी दूकानें हुआ करती थी। आज की तरह उस जमाने में भी फूल मालाओं की बड़ी कद्र थी।

शिकार एक आमफहम धंधा था खासतौर से इसलिए कि उसके जरिये खाना हासिल होता था। मांसाहार साधारण-सी बात थी और इसमें मुर्गे और मछलियां शामिल थीं हिरन के गोश्त की बड़ी कद्र होती थी। मछुओं का अलग धंधा था और कसाई-खाने भी थे। लेकिन खाने की खास चीजें चावल गेहूं बाजरा और मक्का थीं। ईख से शक्कर बनाई जाती थी आज की तरह उस जमाने में भी दूध और उससे बनी दूसरी चीजों की बड़ी कद्र थी। शराब की दूकानें भी थीं और शराब जान पड़ता है चावल फल और ईख से तैयार की जाती थी।

धातुओं और कीमती पत्थरों की खानें थीं। जिन धातुओं का जिक्र आया है वे हैं सोना चांदी तांबा लोहा सीसा टिन पीतल। कीमती पत्थरों में हीरा लाल मूंगा हैं मोतियों का भी जिक्र है। सोने चांदी और तांबे के सिक्कों के हवाले मिलते हैं। व्यापार के लिए साझे हुआ करते थे और सूद पर कर्ज दिया जाता था।

तैयार किये गये माल में रेशम ऊन और रुई के कपड़े लोइयां कंबल और कालीन थे। कताई, बुनाई, रंगाई के धंधे खूब फैले हुए और भट्ठे के धंधे थे। धातु-उद्योग लड़ाई के हथियार तैयार करता था। इमारत के

बांध में पत्थर, लकड़ी और ईंट काम में आती थीं। बढ़ई लोग तरह-तरह के सामान तैयार करते थे जैसे गाड़ियां, रथ, पलंग, कुरसियां, बेंचें, पेटियां, खिलौने वगैरह। बेंत का काम करनेवाले चटाई, टोकरियां, पंखे और छाते तैयार करते थे। कुम्हार हर एक गांव में होते थे। फूलों और चंदन की लकड़ी से कई तरह की सुगंधियां, तेल और सिंगार की चीज़ें तैयार की जाती थीं, इसमें चंदन की बुकनी भी होती थी। कई तरह की दवाइयां और आसव तैयार होते थे और कभी-कभी मरे हुए आदमी के शरीर को मसाला लगाकर सुरक्षित भी रखा जाता था।

बहुत तरह के कारीगरों और दस्तकारों के अलावा, जिनकी चर्चा हुई है, कई और पेशेवरों के हवाले मिलते हैं। ये हैं—अध्यापक, वैद्य वगैरह, व्यापारी, दूकानदार, गवैये, ज्योतिषी, जुआरी, भांड़, बाजीगर, नट, कठपुतली का तमाशा करनेवाले और फेरी करनेवाले।

घरों में गुलामों का होना काफ़ी मामूली बात थी, लेकिन खेती के काम और दूसरे कामों के लिए मजदूर लगाये जाते थे। उस वक्त भी कोई-कोई अछूत थे—ये चांडाल कहलाते थे और इनका खास काम था मुर्दों को फेंकना या जलाना।

व्यापारियों की जमातों और कारीगरों के वर्गों का महत्त्व माना जा चुका था। फ़िक का कहना है—"व्यापारी सभाएं, जो कुछ तो आर्थिक वजहों से बनी थीं, कुछ पूंजी के अच्छे ढंग से इस्तेमाल और मिलने-जुलने की सहूलियतों की वजह से, और कुछ अपने वर्ग के क़ानूनी हितों की हिफ़ाज़त के लिए, हिंदुस्तानी संस्कृति के शुरू के ज़माने में बन चुकी थीं। जातकों में लिखा है कि कारीगरों के १८ संघ थे, लेकिन उनमें सिर्फ़ चार नाम से बताये गये हैं, यानी बढ़इयों और मेमारों के, सुनारों के, चमड़े का काम करनेवालों के और रंगसाजों के।

महाकाव्यों में भी व्यापारी और कारीगरों के संगठनों के हवाले हैं। महाभारत में लिखा है—"संघों की रक्षा एकता से है।" कहा जाता है कि व्यापारियों के संघों का ऐसा जोर था कि राजा भी इनके खिलाफ़ कोई कानून नहीं बना सकता था। पुरोहितों के बाद इन संघों के मुखियों को बताया गया है जिनका राजा को खास ध्यान रखना चाहिए।[1] व्यापारियों का मुखिया श्रेष्ठी (आजकल का सेठ) बहुत काफ़ी महत्त्व रखता था।

---

[1] 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' जिल्द १, पृष्ठ २६९। श्री वाशबर्न हॉपकिन्स का लेख।

जातकों के बयान से एक कुछ ग़ैर-मामूली विकास का पता लगता है। वह है खास-खास धंधा करनेवालों के अलग गांव या बस्तियां। जैसे एक बढ़इयों का गांव था जिसमें कहा जाता है कि एक हजार घर थे। एक सुनारों का गांव था और उसी तरह और भी थे। इस तरह के खास पेशेवरों के गांव आमतौर पर शहरों के क़रीब होते थे जहां उनकी बनाई चीज़ों की खपत होती थी और जहां उन्हें अपनी ज़रूरत की और चीज़ें हासिल हो जाती थीं। जान पड़ता है कि सारा गांव सहकारिता के उसूलों पर काम करता था और बड़े-बड़े ठेके लिया करता था। शायद इस अलहदा संगठन और रहने की वजह से जातों का विकास हुआ और वे फैलीं। ब्राह्मणों और कुलीनों की मिसालें रफ़्ता-रफ़्ता व्यापारियों के संघों और कारीगरों की समाजों ने अपनाईं।

बड़ी-बड़ी सड़कें जिनके किनारे यात्रियों के आराम के लिए घर बने थे और कहीं-कहीं अस्पताल भी सारे उत्तरी हिंदुस्तान में फैली हुई थीं और दूर-दूर जगहों को मिलाती थीं। ईसा से पहले की पांचवीं सदी में मिस्र में मैंफ़ीस नाम की जगह पर हिंदुस्तानी व्यापारियों की एक बस्ती थी जैसाकि वहां पाई गई हिंदुस्तानियों के सिरों की मूर्तियों से पता चलता है। शायद हिंदुस्तान और दक्खिन-पूरबी एशिया के टापुओं के बीच भी व्यापार हुआ करता था। समुद्र-पार के व्यापार के लिए जहाजों की ज़रूरत थी,और यह जाहिर है कि हिंदुस्तान में देश के भीतर नदियों पर चलने के लिए, बल्कि समुंदर पर भी चलनेवाले जहाज बनते थे। महाकाव्यों में दूर से आने वाले सौदागरों से जहाज की चुंगी लिये जाने के हवाले हैं।

जातकों में सौदागरों की समुद्र-यात्राओं के हवाले भरे पड़े हैं। खुश्की के रास्ते से रेगिस्तानों को पार करके भड़ोंच के पच्छिमी बंदरगाह तक और उत्तर में गंधार और मध्य-एशिया तक कारवां जाया करते थे। भड़ोंच से जहाज बेबिलन (बावेरू) के लिए फ़ारस की खाड़ी को जाया करते थे। नदियों के रास्ते बड़ी आमद-रफ़्त हुआ करती थी और जातकों के अनुसार बेड़े बनारस पटना चंपा (भागलपुर) और दूसरी जगहों से समुंदर को जाया करते थे और वहां से दक्खिनी बंदरगाहों और लंका और मलय टापू तक। पुराने तमिळ काव्यों में कावेरीपट्टिनम् नाम के बंदरगाह का हाल मिलता है, जो दक्खिन में कावेरी नदी के किनारे पर था और जो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का केंद्र था। ये जहाज काफ़ी बड़े होते होंगे क्योंकि जातकों में बताया गया है कि एक जहाज पर सैकड़ों व्यापारी और यात्री सवार हुए।

'मिलिंद' में (यह ईसा से बाद की पहली सदी की रचना है। मिलिंद उत्तरी हिंदुस्तान का यूनानी-बाख्त्री राजा था जो कट्टर बौद्ध बन गया था) यह लिखा है—"जिस तरह एक जहाज का मालिक जिसने किसी समुद्री बन्दरगाह के शहर में माल के भाड़े से खूब धन कमा लिया है, समुद्र यात्रा करके बंग (बंगाल) या तक्कोल या चीन या सोविर, या इस्कंदरिया या कारोमंडल तट पर, या हिंदुस्तान से पूर्व या किसी ऐसी जगह जहां जहाज इकट्ठा होते हैं जा सकता है।"[1]

हिंदुस्तान से बाहर जानेवाले माल में रेशम के कपड़े, मलमल और महीन कपड़े, छूरियां, जिरह-बख्तर, कमख्वाब, जरदोजी के काम, लोबान, इत्र-फुलेल, दवाइयां, हाथी-दांत और हाथी-दांत की बनी चीजें, जेवर और सोना (चांदी बहुत कम)—ये खास चीजें होती थीं जिन्हें व्यापारी भेजा करते थे।

हिंदुस्तान बल्कि उत्तरी हिंदुस्तान अपने लड़ाई के हथियारों के लिए मशहूर था, खासतौर पर अपने लोहे की उम्दगी के लिए और तलवारों और कटारों के लिए। ईसा से पहले की पांचवीं सदी में हिंदुस्तानी सिपाहियों की एक बड़ी टुकड़ी पैदल और घुड़सवार दोनों की ईरानी फ़ौज के साथ यूनान गई थी। जब सिकंदर ने ईरान पर हमला किया तो (यह फ़िरदौसी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'शाहनामा' में लिखा है) हिंदुस्तान से ईरानियों ने जल्दी-जल्दी से तलवारें और और हथियार मंगाये। तलवार के लिए पुराना (इस्लाम से पहले का) अरबी लफ्ज है 'मुहन्नद' जिसके मानी हैं 'हिंद से आया हुआ' या हिंदुस्तानी। यह लफ्ज आजकल भी आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है।

क़दीम हिंदुस्तान में जान पड़ता है कि लोहे के तैयार करने में बड़ी तरक्की हो गई थी। दिल्ली के पास एक बहुत बड़ा लोहे का खंभा है जिसने आजकल के वैज्ञानिकों को दंग कर दिया है और वे नहीं पता लगा सके हैं कि यह किस तरह बना होगा क्योंकि इस पर न जंग लग सका है और न दूसरी मौसमी तब्दीलियों का असर पहुंचा है। इस पर जो लेख खुदा हुआ है वह गुप्त जमाने की लिपि में है जो ईसा से बाद की चौथी सदी में प्रचलित थी। लेकिन कुछ विद्वानों का यह कहना है कि यह खंभा खुद इस लेख से पहले का है और यह लेख बाद में जोड़ा गया है।

---

[1] मिलिंद सी. ए. एफ. रीज डेविड्स ने 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' (जिल्द १) पृष्ठ २१२ में उद्धृत किया है।
रीज डेविड्स 'बुद्धिस्ट इंडिया' पृष्ठ ९८।

दिल्ली में कुतुब मीनार के पास गुप्त-काल
का लोहे का मशहूर खंभा
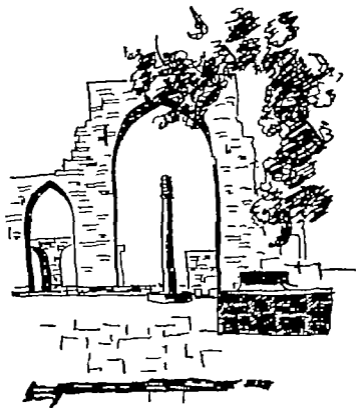
ईसा से पहले की चौथी सदी में सिकंदर का हिंदुस्तान पर हमला फ़ौजी नुक्ते-नज़र से एक छोटी-सी बात थी। यह एक सरहदी धावे के किस्म का हमला था और वह भी बहुत कामयाब हमला नहीं था। एक सरहदी सरदार ने उससे ऐसा कड़ा मोर्चा लिया कि ख़ास हिंदुस्तान पर बढ़कर आने के अपने विचार को उसे पलटना पड़ा। अगर सरहदी इलाक़े का एक छोटा-सा हाकिम इस तरह लड़ सकता था तो और दक्खिन के ज़्यादा ताक़तवर राज्यों के बारे में क्या कहा जा सकता है? शायद यही वजह है कि उसकी फ़ौज ने और आगे बढ़ने से इन्कार किया और वापस लौटने का आग्रह किया।

हिंदुस्तान की फ़ौजी ताक़त का अंदाज़ सिकंदर के वापस लौट जाने और उसकी मौत के थोड़े ही दिनों बाद मिला, जब सेल्यूकस ने दूसरा हमला करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे हराकर पीछे भगा दिया। उस ज़माने में हिंदुस्तानी फ़ौजों को एक ऐसी सुविधा थी जो दूसरों को नहीं हासिल थी, यह सिखाये हुए हाथियों की सुविधा थी, जिनकी आजकल के टैंकों से तुलना की जा सकती है। सेल्यूकस निकाटोर ने हिंदुस्तान से ऐसे ५ लड़ाई के हाथी हासिल किये और १ २ ई पू में एशिया माइनर में ऐंटिगोनस के ख़िलाफ़ लड़ाई में इन्हें लगाया। फ़ौजी मामलों के जानकार इतिहासकारों का कहना है कि ऐंटिगोनस मारा गया और उसका बेटा डिमिट्रियस भाग गया। इसकी ख़ास वजह ये हाथी ही थे।

हाथियों को सिखाने, घोड़ों की नस्ल तैयार करने आदि विषयों पर किताबें लिखी गई हैं, इनमें हर एक को शास्त्र कहा गया है। अब इस शब्द का अर्थ धर्म-ग्रंथों के लिए लिया जाने लगा है, लेकिन इसका इस्तेमाल गणित से लेकर नृत्य तक किसी भी तरह की विद्या के लिए बिना किसी भेद-भाव के किया जाता था। दरअसल धर्म और दुनियावी ज्ञान के बीच कोई विभाजक लकीर नहीं खींची गई थी। ये आपस में इस तरह सटे हुए थे कि एक-दूसरे के ऊपर आ जाते थे और हर एक बात, जिसकी ज़िंदगी के लिए उपयोगिता होती, जाँच का विषय बन जाती।

हिंदुस्तान में लिखने का रिवाज बहुत ही पुराना है। बाद के पाषाण युग के मिट्टी के बर्तनों पर ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अक्षर मिले हैं। *मोहनजोदड़ो में ऐसे लेख मिले हैं जिन्हें अभी तक पूरी तरह नहीं पढ़ा जा सका है।* ब्राह्मी लेख, जो हिंदुस्तान में सभी जगह मिले हैं, ऐसे हैं जिनकी लिपि पूरी तरह देवनागरी लिपि की बुनियाद में है, इसमें कोई शुबहा नहीं हो सकता। अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी में हैं, पश्चिमोत्तर के और लेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

ईसा से पहले छठी या सातवीं सदी में पाणिनि ने अपना संस्कृत-व्याकरण तैयार किया।[1] उसने और भी व्याकरणों का ज़िक्र किया है और उस ज़माने में भी संस्कृत का रूप स्थिर हो चुका था और यह एक बराबर बढ़ते हुए साहित्य की भाषा बन चुकी थी।

पाणिनि की पुस्तक को केवल व्याकरण न समझना चाहिए। लेनिनग्राद के सोवियत प्रोफ़ेसर टी॰ शेरबात्सकी ने उसका बयान करते हुए उसे 'इन्सानी दिमाग़ की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक" बताया है। आज भी पाणिनि संस्कृत व्याकरण पर प्रमाण माना जाता है, हालांकि बाद के वैयाकरणों ने उसमें और बातें जोड़ी हैं और उसकी अपनी ढंग से व्याख्याएं की हैं। यह एक दिलचस्प बात है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि की चर्चा की है। इससे पता चलता है कि हिंदुस्तान और यूनान के बीच सिकंदर के पूरब आने से पहले ही किसी-न-किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

ज्योतिष का खासतौर पर अध्ययन होता था और अकसर यह अध्ययन फलित ज्योतिष की तरफ़ झुकता था। औषध-शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकें बनी थीं और अस्पताल भी थे। हिंदुस्तानी औषध-शास्त्र का संस्थापक धन्वंतरि था, ऐसी परंपरा है। लेकिन सबसे मशहूर पुरानी पाठ्य-पुस्तकें ईसवी सन की शुरू की सदियों में रची गईं। इनमें औषधि पर चरक की और शल्य या जर्राही—आपरेशन पर सुश्रुत की पुस्तकें हैं। यह खयाल किया जाता है कि कनिष्क (जिसकी राजधानी पश्चिमोत्तर में थी) के दरबार का राजवैद्य चरक था। इन पुस्तकों में बहुत-से रोगों का बयान है और उनके निदान और इलाज बताये गये हैं। इनमें जर्राही, हाज़्मों का काम, स्नान, खान-पान, सफ़ाई, बच्चों को खिलाने के ढंग और चिकित्सा-संबंधी शिक्षा आदि बातें बताई गई हैं। हम प्रयोग की तरफ़ रुझान देखते हैं और मुर्दों के ऊपर चीर-फाड़, जर्राही की शिक्षा के साथ-साथ कराई जाती थी। सुश्रुत ने बहुत-से जर्राही के औज़ारों का ज़िक्र किया है और चीर-फाड़ का भी, जिसमें अंगों को काटने, पेट चीरने, पेट चीरकर बच्चा निकालने, मोतियाबिंद की जर्राही वगैरह है। घावों के कीड़ों को धुआं देकर मारा जाता था। ईसा से पहले की तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। ये शायद जैनियों और बौद्धों के मज़हबों के असर से बने थे, जिनमें अहिंसा पर ज़ोर दिया गया है।

---

[1] कीथ और कुछ दूसरे लेखक पाणिनि का समय १ ई॰ पू॰ के लगभग बताते हैं। लेकिन सब प्रमाणों के तौलने से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि उसकी रचना बौद्ध-काल से पहले की है।

'मिलिंद' में (यह ईसा से बाद की पहली सदी की रचना है। मिलिंद उत्तरी हिंदुस्तान का यूनानी-बाख्त्री राजा था जो कट्टर बौद्ध बन गया था) यह लिखा है— 'जिस तरह एक जहाज का मालिक जिसने किसी समुद्री बंदरगाह के शहर में माल के भाड़े से खूब धन कमा लिया है, समुद्र यात्रा करके बंग (बंगाल) या तक्कोल या चीन या सोविर, या सिकंदरिया या कारोमंडल तट पर, या हिंदुस्तान से पूर्व या किसी ऐसी जगह जहां जहाज इकट्ठा होते हैं जा सकता है।'[1]

हिंदुस्तान से बाहर जानेवाले माल में रेशम के कपड़े मलमल और महीन कपड़े छुरियां जिरह-बख्तर, कमख्वाब जरदोजी के काम लोबान इत्र-फुलेल दवाइयां हाथी-दांत और हाथी-दांत की बनी चीजें जेवर और सोना (चांदी बहुत कम)—ये खास चीजें होती थीं जिन्हें व्यापारी भेजा करते थे।

हिंदुस्तान बल्कि उत्तरी हिंदुस्तान अपने लड़ाई के हथियारों के लिए मशहूर था खासतौर पर अपने लोहे की उम्दगी के लिए और तलवारों और कटारों के लिए। ईसा से पहले की पांचवीं सदी में हिंदुस्तानी सिपाहियों की एक बड़ी टुकड़ी पैदल और घुड़सवार दोनों की ईरानी फ़ौज के साथ यूनान गई थी। जब सिकंदर ने ईरान पर हमला किया तो (यह फ़िरदौसी के प्रसिद्ध महाकाव्य 'शाहनामा' में लिखा है) हिंदुस्तान से ईरानियों ने जल्दी-जल्दी से तलवारें और और हथियार मंगाये। तलवार के लिए पुराना (इस्लाम से पहले का) अरबी शब्द है 'मुहन्नद' जिसके मानी हैं 'हिंद से आया हुआ' या हिंदुस्तानी। यह शब्द आजकल भी आमतौर पर इस्तेमाल किया जाता है।

कदीम हिंदुस्तान में जान पड़ता है कि लोहे के तैयार करने में बड़ी तरक्की हो गई थी। दिल्ली के पास एक बहुत बड़ा लोहे का खंभा है जिसने आजकल के वैज्ञानिकों को दंग कर दिया है और वे नहीं पता लगा सके हैं कि यह किस तरह बना होगा क्योंकि इस पर न जंग लग सका है और न दूसरी मौसमी तब्दीलियों का असर पहुंचा है। इस पर जो लेख खुदा हुआ है, वह गुप्त जमाने की लिपि में है जो ईसा से बाद की चौथी सदी में प्रचलित थी। लेकिन कुछ विद्वानों का यह कहना है कि यह खंभा खुद इस लेख से पहले का है और यह लेख बाद में जोड़ा गया है।

---

[1] मिसेज सी ए एफ रीज डेविड्स ने 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया' (जिल्द १) पृष्ठ २१२ में उद्धृत किया है।
रीज डेविड्स : 'बुद्धिस्ट इंडिया' पृष्ठ ९८।

दिल्ली में कुतुब मीनार के पास गुप्त-काल
का लोहे का मशहूर खंभा

ईसा से पहले की चौथी सदी में सिकंदर का हिंदुस्तान पर हमला फ़ौजी नुक्ते-नज़र से एक छोटी-सी बात थी। यह एक सरहदी धावे के किस्म का हमला था और यह भी बहुत कामयाब हमला नहीं था। एक सरहदी सरदार ने उससे ऐसा कड़ा मोर्चा लिया कि खास हिंदुस्तान पर बढ़कर आने के अपने विचार को उसे पलटना पड़ा। अगर सरहदी इलाक़े का एक छोटा-सा हाकिम इस तरह लड़ सकता था तो और दक्खिन के ज्यादा ताक़तवर राज्यों के बारे में क्या कहा जा सकता है? शायद यही वजह है कि उसकी फ़ौज ने और आगे बढ़ने से इन्कार किया और वापस लौटने का आग्रह किया।

हिंदुस्तान की फ़ौजी ताक़त का अंदाज़ सिकंदर के वापस लौट जाने और उसकी मौत के थोड़े ही दिनों बाद मिला, जब सेल्यूकस ने दूसरा हमला करना चाहा। चंद्रगुप्त ने उसे हराकर पीछे भगा दिया। उस ज़माने में हिंदुस्तानी फ़ौजों को एक ऐसी सुविधा थी जो दूसरों को नहीं हासिल थी, यह सिखाये हुए हाथियों की सुविधा थी, जिनकी आजकल के टैंकों से तुलना की जा सकती है। सेल्यूकस निकाटोर ने हिंदुस्तान से ऐसे ५०० लड़ाई के हाथी हासिल किये और ३०२ ई० पू० में एशिया माइनर में ऐंटिगोनस के खिलाफ़ लड़ाई में इन्हें लगाया। फ़ौजी मामलों के जानकार इतिहासकारों *का कहना है कि ऐंटिगोनस मारा गया और उसका बेटा डिमिट्रियस भाग* गया। इसकी खास वजह ये हाथी ही थे।

हाथियों को सिखाने, घोड़ों की नस्ल तैयार करने आदि विषयों पर किताबें लिखी गई हैं। इनमें हर एक को शास्त्र कहा गया है। अब इस शब्द का अर्थ धर्म-ग्रंथों के लिए लिया जाने लगा है, लेकिन इसका इस्तेमाल गणित से लेकर नृत्य तक किसी भी तरह की विद्या के लिए बिना किसी भेद-भाव के किया जाता था। दरअसल धर्म और दुनियावी ज्ञान के बीच कोई विभाजक लकीर नहीं खींची गई थी। वे आपस में इस तरह सटे हुए थे कि एक-दूसरे के ऊपर आ जाते थे और हर एक बात, जिसकी ज़िंदगी के लिए उपयोगिता होती, जांच का विषय बन जाती।

हिंदुस्तान में लिखने का रिवाज बहुत ही पुराना है। बाद के पाषाण युग के मिट्टी के बर्तनों पर ब्राह्मी लिपि में लिखे हुए अक्षर मिले हैं। मोहन-जोदड़ो में ऐसे लेख मिले हैं जिन्हें अभी तक पूरी तरह नहीं पढ़ा जा सका है। ब्राह्मी लेख जो हिंदुस्तान में सभी जगह मिले हैं ऐसे हैं जिनकी लिपि पूरी *तरह देवनागरी लिपि की बुनियाद में है, इसमें कोई शुबहा नहीं हो सकता।* अशोक के कुछ लेख ब्राह्मी में हैं, पश्चिमोत्तर के और लेख खरोष्ठी लिपि में हैं।

ईसा से पहले छठी या सातवीं सदी में पाणिनि ने अपना संस्कृत-व्याकरण तैयार किया।[1] उसने और भी व्याकरणों का ज़िक्र किया है और उस ज़माने में भी संस्कृत का रूप स्थिर हो चुका था और यह एक बराबर बढ़ते हुए साहित्य की भाषा बन चुकी थी।

पाणिनि की पुस्तक को केवल व्याकरण न समझना चाहिए। लेनिनग्राद के सोवियत प्रोफ़ेसर टी० शेरबात्सकी ने उसका बयान करते हुए उसे 'इन्सानी दिमाग़ की सबसे बड़ी रचनाओं में से एक' बताया है। आज भी पाणिनि संस्कृत व्याकरण पर प्रमाण माना जाता है, हालांकि बाद के वैयाकरणों ने इसमें और बातें जोड़ी हैं और उसकी अपनी ढंग से व्याख्याएं की हैं। यह एक दिलचस्प बात है कि पाणिनि ने यूनानी लिपि की चर्चा की है। इससे पता चलता है कि हिंदुस्तान और यूनान के बीच सिकंदर के पूरब आने से पहले ही किसी-न-किसी तरह का संपर्क हो चुका था।

ज्योतिष का खासतौर पर अध्ययन होता था और अक्सर यह अध्ययन फलित ज्योतिष की तरफ़ झुकता था। औषध-शास्त्र की पाठ्य-पुस्तकें बनी थीं और अस्पताल भी थे। हिंदुस्तानी औषध-शास्त्र का संस्थापक धन्वंतरि था ऐसी परंपरा है। लेकिन सबसे मशहूर पुरानी पाठ्य-पुस्तकें ईसवी सन की शुरू की सदियों में रची गईं। इनमें औषधि पर चरक की और शल्य या जर्राही—आपरेशन पर सुश्रुत की पुस्तकें हैं। यह खयाल किया जाता है कि कनिष्क (जिसकी राजधानी पच्छिमोत्तर में थी) के दरबार का राजवैद्य चरक था। इन पुस्तकों में बहुत-से रोगों का बयान है और उनके निदान और इलाज बताये गये हैं। इनमें जर्राही शस्त्रों का काम स्नान खान-पान सफ़ाई, बच्चों को खिलाने के ढंग और चिकित्सा-संबंधी शिक्षा आदि बातें बताई गई हैं। हम प्रयोग की तरफ़ रुझान देखते हैं और मुर्दों के ऊपर चीर-फाड़ जर्राही की शिक्षा के साथ-साथ कराई जाती थी। सुश्रुत ने बहुत-से जर्राही के औज़ारों का ज़िक्र किया है और चीर-फाड़ का भी जिसमें अंगों को काटने पेट चीरने पेट चीरकर बच्चा निकालने मोतियाबिंद की जर्राही वगैरह है। घावों के कीड़ों को धुआं देकर मारा जाता था। ईसा से पहले की तीसरी या चौथी सदी में जानवरों के अस्पताल भी थे। ये शायद जैनियों और बौद्धों के मज़हबों के असर से बने थे जिनमें अहिंसा पर ज़ोर दिया गया है।

---

[1] कीथ और कुछ दूसरे लेखक पाणिनि का समय ३ ई० पू० के लगभग बताते हैं। लेकिन सब प्रमाणों के तौलने से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि उसकी रचना बौद्ध-काल से पहले की है।

गणित में क़दीम हिंदुस्तानियों ने कुछ इन्क़लाबी आविष्कार किये थे—खासतौर पर शून्य के चिह्न दशमलव प्रणाली ऋण के चिह्न और बीजगणित में अज्ञात राशियों के लिए अक्षरों के इस्तेमाल के ज़रिये। इन आविष्कारों का वक़्त बताना मुश्किल है क्योंकि उसूल की खोज और उसके व्यवहार के बीच बड़े लंबे ज़माने का फ़र्क़ आ जाता था। लेकिन यह ज़ाहिर है कि अंकगणित बीजगणित और रेखागणित की बुनियादें सबसे क़दीम ज़माने में हो चुकी थीं। ऋग्वेद के ज़माने में भी गिनती के लिए दहाई का इस्तेमाल किया जाता था। इन क़दीम हिंदुस्तानियों में गिनती और समय का गैर मामूली एहसास था। बहुत बड़ी राशियों के नामों की एक लंबी सूची उन्होंने बना रखी थी। यूनानियों रोमनों ईरानियों और अरबों के यहां शायद हज़ार या ज़्यादा-से-ज़्यादा दस हज़ार (१ —१ •) की संख्या से आगे के नाम न थे। हिंदुस्तान में १८ निश्चित नामकरण (१ ^१ ) तो थे ही और इससे भी लंबी सूचियां बन गई थीं। बुद्ध की शुरू की तालीम के बयान से हमें मालूम होता है कि १ ^ तक की संख्याओं के अलग-अलग नाम वह ले सकते थे।

दूसरी तरफ़ वक़्त का बड़ा सूक्ष्म विभाजन हो गया था और इसकी सबसे छोटी इकाई लगभग एक सेकंड का सतरहवां हिस्सा थी। लंबाई की सबसे छोटी माप क़रीब-क़रीब १ ३ × ७ ^१ इंच थी। ये सब बड़ी और छोटी राशियां महज़ फ़र्ज़ी थीं और इनका इस्तेमाल फ़िलसफ़े के विचारों में हुआ करता था। फिर भी क़दीम हिंदुस्तानियों की देश-काल की कल्पना और क़दीम क़ौमों के मुक़ाबले बड़ी-बड़ी थी। उनका चिंतन बहुत बड़े पैमाने पर होता था। उनकी पुराण की कथाओं में अरबों-खरबों साल के युगों का बयान है। आजकल के भूगर्भ शास्त्र की विशद युगों की गिनतियां और नक्षत्रों की दूरी की बहुत बड़ी मापें उनके लिए अचरज की चीज़ें न होतीं। हिंदुस्तान की इस पृष्ठभूमि की वजह से ही डार्विन के और इसी तरह के दूसरे सिद्धांतों से यहां वह उथल-पुथल और अंदरूनी संघर्ष पैदा नहीं किया जो उन्नीसवीं सदी के बीच के ज़माने में यूरोप में उठा था। यूरोप की साधारण जनता के दिमाग़ में जो वक़्त का पैमाना आमतौर पर आता था वह कुछ हज़ार बरसों से आगे का नहीं था।

'अर्थशास्त्र' में उत्तरी हिंदुस्तान में ईसा से पहले की चौथी सदी में बरती जानेवाली मापें और तौलें मिलती हैं। बाज़ार में तौल के बटखरों की कड़ी जांच हुआ करती थी।

पुराणों के ज़माने में अकसर वन के आश्रमों का ज़िक्र है, जो एक

तरह के विश्वविद्यालय होते थे। ये शहरों से बहुत दूर पर नहीं होते थे और वहां मशहूर विद्वानों के पास शिक्षा-दीक्षा के लिए विद्यार्थी इकट्ठा हुआ करते थे। यह शिक्षा कई विषयों की होती थी इसमें फ़ौजी शिक्षा शामिल थी। इन आश्रमों को इसलिए पसंद किया जाता था कि विद्यार्थी लोग यहां शहर के शोर-गुल और आकर्षणों से दूर रहते हुए संयम और ब्रह्मचर्य की जिंदगी बिता सकते थे। यहां कुछ साल तालीम हासिल करके वे वापस जाकर गृहस्थी की और शहरी ज़िंदगी बिताते थे। शायद इन आश्रमों या गुरुकुलों में छोटे-छोटे गुट्ट इकट्ठा हुआ करते थे अगरचे इस बात के संकेत मिलते हैं कि लोकप्रिय गुरुओं के यहां बड़ी संख्या में विद्यार्थी खिंचकर पहुंचा करते थे।

बनारस हमेशा से विद्या का एक केंद्र रहा है और बुद्ध के ज़माने में भी यह मशहूर था और प्राचीन माना जाता था। बनारस के पास मृगदाव में बुद्ध ने सबसे पहला उपदेश दिया था लेकिन बनारस किसी ज़माने में ऐसे विश्वविद्यालय का केंद्र था जैसे उस वक्त और बाद में और जगहों में थे यह नहीं जान पड़ता। वहां पर गुरुओं और शिष्यों के बहुत-से अलग-अलग समुदाय थे और अक्सर विरोधी समुदायों में तीखे बहस मुबाहसे या शास्त्रार्थ हुआ करते थे।

लेकिन पश्चिमोत्तर में मौजूदा पेशावर के पास एक क़दीम और मशहूर विश्वविद्यालय तक्षशिला में था। यह ख़ासतौर पर विज्ञान चिकित्सा और कलाओं के लिए मशहूर था और हिंदुस्तान के दूर-दूर के हिस्सों से यहां लोग आया करते थे। जातक कथाओं में ऐसी बहुत-सी मिसालें हैं उन कुलीनों और ब्राह्मणों के बेटों की जो तक्षशिला में शिक्षा हासिल करने के लिए अकेले और बिना किसी रक्षा के अस्त्र के जाया करते थे। इसकी स्थिति ऐसी थी कि बहुत करके यहां मध्य एशिया और अफ़ग़ानिस्तान से भी विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए आया करते थे। तक्षशिला का स्नातक होना एक इज़्ज़त की बात समझी जाती थी। जो वैद्य यहां से चिकित्सा-शास्त्र सीखकर निकलते थे उनकी बड़ी कद्र होती थी और इसका वर्णन मिलता है कि जब कभी बुद्ध बीमार पड़ते थे तब उनके भक्त ऐसे मशहूर वैद्य को बुलाते थे जो तक्षशिला का स्नातक होता था। ईसा से पहले की छठी-सातवीं सदी के वैयाकरण पाणिनि ने यहीं शिक्षा पाई थी।

इस तरह तक्षशिला बौद्ध ज़माने से पहले का ब्राह्मणों का विश्वविद्यालय था। बौद्ध ज़माने में यहां बौद्ध विद्यार्थी भी सारे हिंदुस्तान से और सीमा-पार से खिंचकर आते थे इसलिए यह बौद्ध-ज्ञान का भी केंद्र

बन गया था। यह मौर्य सल्तनत के पश्चिमोत्तरी सूबे का सदर मुकाम भी था।

क़ानून के लिहाज से औरतों का दर्जा सबसे पहले स्मृतिकार मनु के अनुसार, निश्चित तौर पर गिरा हुआ था। वे हमेशा किसी-न-किसी के सहारे पर रहती थीं चाहे बाप का हो चाहे पति का चाहे बेटे का। क़ानून की नज़र में उन्हें चल-संपत्ति-जैसा समझा जाता था। फिर भी महाकाव्यों की बहुत-सी कथाओं से पता चलता है कि इस क़ानून का कड़ा अमल नहीं होता था और उन्हें समाज में और घरों में इज्जत का ओहदा मिलता था। पुराने स्मृतिकार मनु खुद लिखते हैं—"जहां औरतों की इज्जत होती है वहां देवता लोग आकर बसते हैं। तक्षशिला या किसी पुराने विश्वविद्यालय के सिलसिले में विद्यार्थिनियों का ज़िक्र नहीं मिलता। लेकिन उनमें से कुछ कहीं-न-कहीं शिक्षा ज़रूर पाती रही हैं क्योंकि विदुषी और पढ़ी-लिखी स्त्रियों की बार-बार चर्चा हुई है। बाद के ज़मानों में भी मशहूर विदुषी स्त्रियां हुई हैं। औरतों का कानूनी दर्जा क़दीम हिंदुस्तान में गिरा हुआ ज़रूर था लेकिन आज की कसौटी से जांचा जाय तो क़दीम यूनान रोम शुरू के ईसाई मतवाले मुल्कों और मध्य-युग के अरिक और ख़ास के यानी उन्नीसवीं सदी के शुरू के यूरोप में उनका जैसा दर्जा था उससे यहां कहीं अच्छा था।

मनु और उनके बाद के स्मृतिकार व्यापार में साझे के चलन का हाल बताते हैं। मनु ने ख़ासतौर पर ब्राह्मणों की बातें कही हैं, याज्ञवल्क्य ने व्यापारी वर्ग और किसानों के बारे में भी लिखा है। एक बाद के लिखनेवाले नारद, ने कहा है—"हर एक हिस्सेदार का घाटा खर्च और नफ़ा उसकी लगाई पूंजी के अनुसार कम या ज्यादा होता है। गोदाम खाने का चुंगी का नुकसान का किराये-भाड़े का और हिफ़ाज़त का ख़र्चा हर हिस्सेदार को मुआहदे के मुताबिक देना चाहिए।

राज्य की जो कल्पना मनु ने की है, वह ज़ाहिरा तौर पर एक छोटे राज्य की है। लेकिन इस कल्पना में विकास और तब्दीलियां हो रही थीं यहां तक कि इसके अंदर ईसा से पहले की चौथी सदी के विशाल मौर्य-साम्राज्य और यूनानियों से अंतराष्ट्रीय संपर्क तक आ गये।

ईसा से पहले की चौथी सदी में हिंदुस्तान में रहनेवाले यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने हिंदुस्तान में किसी तरह की भी गुलामी के रिवाज के होने से इन्कार किया है। लेकिन ऐसा करने में उसने ग़लती की है क्योंकि इसी ज़माने की हिंदुस्तानी किताबों में दासों की हालत सुधारने के हवाले

मिलते हैं। फिर भी यह बात जाहिर है कि यहां बड़े-पैमाने पर गुलामी नहीं थी और जैसाकि बहुत-से दूसरे मुल्कों में इस जमाने में एक आम बात थी यहां मजदूरी करनेवाले गुलामों के गिरोह नहीं थे। शायद इसीसे मेगस्थनीज ने समझा हो कि गुलामी यहां बिलकुल थी ही नहीं। यह लिखा गया था कि 'आर्य कभी दास नहीं बनाया जा सकता।" ठीकतौर पर कौन 'आर्य' था और कौन नहीं था यह बताना मुश्किल है लेकिन आर्यों के दायरे में उस वक्त बहुत-कुछ सारा ही खास वर्ग जिसमें शूद्र भी थे आ जाते थे सिर्फ अछूत नहीं आते थे।

चीन में भी शुरू के हान वंश के जमाने में गुलाम खासकर घरेलू सेवा के लिए हुआ करते थे। खेती या बड़े पैमाने पर मजदूरी में उनका ज्यादा काम न होता था। चीन और हिंदुस्तान दोनों ही जगह इस तरह के घरेलू गुलाम आबादी के लिहाज से गिनती में बहुत थोड़े थे और इस खास मामले में हिंदुस्तानी और चीनी समाज और समकालीन यूनानी और रोमन समाज में बड़ा फ़र्क था।

उस जमाने के हिंदुस्तानी कैसे थे ? हमारे लिए इतने पुराने और इस जमाने से इतने मुख्तलिफ़ जमाने के बारे में क़्यास करना मुश्किल है फिर भी जो विविध जानकारी हमें है उससे एक धुंधली तस्वीर हमारे सामने आती ही है। वे खुले दिल के अपने में भरोसा रखनेवाले अपनी परंपरा पर फ़ख्र करनेवाले खोज में रहस्य की खोज में हाथ पैर-फेंकनेवाले प्रकृति और इन्सानी जिंदगी के बारे में बहुत-से सवाल करनेवाले अपनी बनाई मर्यादा और क़ायम किये गये मूल्यों के बारे में सावधान रहनेवाले थे लेकिन जिंदगी में आनंद के साथ हिस्सा लेनेवाले और मौत का लापरवाही से सामना करने वाले थे। सिकंदर के उत्तरी हिंदुस्तान के हमले के यूनानी इतिहासकार एरियन पर आर्य जाति की इस जिंदादिली का असर हुआ था। वह लिखता है— 'कोई क़ौम गाने और नाचने की इतनी शौक़ीन नहीं जितने हिंदुस्तानी हैं।

## १६ महावीर और बुद्ध वर्ण-व्यवस्था

महाकाव्यों के जमाने से लेकर शुरू बौद्ध-काल तक उत्तरी हिंदुस्तान की कुछ इस तरह की भूमिका रही है, जैसी ऊपर बताई गई है। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से यह बराबर बदलती रही है और मिलने-जुलने और समन्वय का और संघों का विरोधीकरण होकर बंट जाने का अमल जारी रहा है। विचार के मैदान में बराबर विकास होता रहा है और अकसर संघर्ष रहा है। शुरू के उपनिषदों के बाद के जमाने में बहुत-सी विचाराओं में विचार और

काम में तरक्की हुई है, और यह खुद कर्म-कांड और पुरोहिताई के खिलाफ़ प्रतिक्रिया के रूप में रही है। लोगों का दिमाग़ जो कुछ वे देखते थे उसके खिलाफ़ विद्रोह करता था और इस विद्रोह का नतीजा था जो शुरू के उपनिषदों में और कुछ समय बाद बढ़कर, जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म के रूप में और भगवद्गीता में पाये जानेवाले सब धर्मों के समन्वय में हमें मिलता है। फिर इस सबके भीतर से हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े या दर्शन की छः पद्धतियां निकलती हैं। लेकिन इस सब मानसिक संघर्ष और विद्रोह के पीछे एक चौती-जागती और तरक्की करती हुई क़ौमी ज़िंदगी थी।

जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म वैदिक-धर्म और उसकी शाखों से हटकर थे अगरचे एक मानी में ये खुद उसीसे निकले थे। ये वेदों को प्रमाण मानने से इन्कार करते हैं और जो बात सबसे बुनियादी है वह यह है कि ये आदि कारण के बारे में या तो मौन हैं या उससे इन्कार करते हैं। दोनों ही अहिंसा पर ज़ोर देते हैं और ब्रह्मचारी भिक्खुओं और पुरोहितों के संघ बनाते हैं। उनका नज़रिया एक हद तक यथार्थवादी और बुद्धिवादी नज़रिया है, हालांकि जब अनदेखी दुनिया पर विचार करना हो तो लाज़िमी तौर पर यह नज़रिया हमें बहुत आगे नहीं ले जाता। जैन-धर्म का एक बुनियादी सिद्धांत है कि सत्य हमारे विचारों से सापेक्ष है। यह एक कठोर नीतिवादी और अपरोक्ष-वादी विचार-पद्धति है और इस धर्म में ज़िंदगी और विचार में तपस्या के पहलू पर ज़ोर दिया गया है।

जैन-धर्म के संस्थापक महावीर और बुद्ध समकालीन थे। दोनों ही क्षत्रिय वर्ण के थे। बुद्ध का ८० वर्ष की उम्र में ईसा से ५४४ वर्ष पहले निर्वाण हुआ। तभी से बौद्ध-संवत शुरू होता है। (यह तिथि परंपरा के मुताबिक है। इतिहासकार बाद की तारीख़ मानते ४८७ ई० पू०, देते हैं। लेकिन अब उनका रुझान परंपरागत तिथि को मानने की तरफ़ है)। यह एक अद्भुत संयोग है कि मैं ये सतरें बौद्ध-संवत २४८८ की पहली तारीख़ वैशाखी पूर्णिमा के दिन लिख रहा हूं। बौद्ध-साहित्य में यह लिखा है कि बुद्ध का जन्म इसी वैशाख (मई-जून) महीने की पूर्णिमा को हुआ था इसी तिथि को उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था और इसी तिथि को उनका निर्वाण भी हुआ था।

बुद्ध में प्रचलित धर्म, अंधविश्वास, कर्म-कांड और मंत्र आदि की प्रथा पर और इनके साथ जुड़े हुए निहित स्वार्थों पर हमला करने का साहस था। उन्होंने आधिभौतिक और परमार्थी नज़रियों का, करामातों, इलहाम, अलौकिक व्यापार आदि का विरोध किया। दलील, अक़्ल और तजुर्बे पर उनका आग्रह

था और उन्होंने नीति या इखलाक पर ज़ोर दिया। उनका तरीक़ा था मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का और इस मनोविज्ञान में आत्मा को जगह नहीं दी गई थी। उनका नज़रिया आधिभौतिक कल्पना की बासी हवा के बाद पहाड़ की ताज़ी हवा के झोंके-सा जान पड़ता है।

बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था पर कोई सीधा वार नहीं किया, लेकिन अपने संघ में उन्होंने इसे जगह नहीं दी और इसमें शक नहीं कि उनका सारा रुख और काम करने का ढंग ऐसा रहा कि उससे वर्ण-व्यवस्था को धक्का पहुंचा। शायद उनके समय में और कुछ सदियों बाद तक जात या वर्ण-व्यवस्था बहुत तरल दशा में थी। यह ज़ाहिर है कि जिस समाज में जात-पांत के बंधन हों, वह विदेशों से व्यापार में या दूसरे साहसी कामों में बहुत हिस्सा नहीं ले सकता और फिर भी बुद्ध के पंद्रह सौ बरस बाद तक हम देखते हैं कि हिंदुस्तान और पड़ोसी मुल्कों के बीच व्यापार तरक्क़ी कर रहा था और हिंदुस्तानी उपनिवेशों की भी अच्छी हालत थी। पश्चिमोत्तर से विदेशी लोगों के आने का तांता बंधा रहा और वे आम यहां जज़्ब होते रहे हैं।

जज़्ब होने की इस गति पर विचार करना मनोरंजक है। यह गति दोनों सिरों पर काम करती रही। नीचे की तरफ़ तो नई जातें बनती गईं, दूसरी तरफ़ जितने कामयाब हमलावर होते सब क्षत्रिय बन जाते। ईसाई सन से ठीक पहले और बाद की सदियों के सिक्के दो-तीन पीढ़ियों के भीतर-भीतर तेज़ी के साथ होनेवाली यह तब्दीली ज़ाहिर करते हैं। पहले शासक का नाम विदेशी है, उसके बेटे या पोते का नाम संस्कृत का है, और उसे गद्दी पर बिठाने के वक्त वही परंपरागत विधि बरती जाती है, जो क्षत्रियों के लिए बनाई गई थी।

बहुत-से राजपूत क्षत्रिय वंश उस वक्त से शुरू होते हैं, जब शकों या सिदियनों के हमले ईसा से पहले की दूसरी सदी में होने लगे थे, या जब बाद में सफ़ेद हूणों के हमले हुए। इन सबों ने मुल्क में प्रचलित धर्म को और संस्थाओं को क़बूल कर लिया और बाद में उन्होंने महाकाव्यों के वीर-पुरुषों से रिश्ता जोड़ना शुरू किया। क्षत्रिय वर्ग ज़्यादातर अपने पद और प्रतिष्ठा के कारण बना था, न कि जन्म की वजह से, इसलिए विदेशियों के लिए इसमें शरीक हो जाना बड़ा आसान था।

यह एक अजीब लेकिन मार्के की बात है कि हिंदुस्तानी इतिहास की लंबी मुद्दत में बड़े लोगों ने पुरोहितों और वर्ण-व्यवस्था की सख्तियों के ख़िलाफ़ बार-बार आवाज़ उठाई है और इनके ख़िलाफ़ ताक़तवर तहरीकें हुई हैं, फिर भी रफ़्ता-रफ़्ता क़रीब-क़रीब इस तरह कि पता भी नहीं चलता, मानो

भाग्य का कोई न टलनेवाला चक्र हो जात-पांत का ज़ोर बढ़ा है और उसने फँसकर हिंदुस्तानी ज़िंदगी के हर एक पहलू को अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। जात के विरोधियों का बहुत लोगों ने साथ दिया है और अंत में इनकी खुद अलग जात बन गई है। जैन-धर्म जो कायम-शुदा धर्म से विद्रोह करके उठा था और बहुत तरह से उससे जुदा था जात की तरफ़ सहिष्णुता दिखाता था और खुद उससे मिल-जुल गया था। यही कारण है कि यह आज भी ज़िंदा है और हिंदुस्तान में जारी है। यह हिंदू-धर्म की करीब-करीब एक शाख बन गया है। बौद्ध-धर्म वर्ण-व्यवस्था न स्वीकार करने के कारण अपने विचार और रुख में ज़्यादा स्वतंत्र रहा। अठारह सौ साल हुए, ईसाई-मत यहां आता है और बस जाता है और रफ़्ता-रफ़्ता अपनी अलग जातें बना लेता है। मुसलमानी समाजी संगठन बावजूद इसके कि उसमें इस तरह के भेदों का ज़ोरदार विरोध हुआ है इससे कुछ हद तक प्रभावित हुए बगैर न रह सका।

हमारे ही ज़माने में जात-पांत की कठोरता को तोड़ने के लिए बीच के वर्गवालों में बहुत-सी तहरीकें हुई हैं और उनसे कुछ फ़र्क भी पैदा हुआ है लेकिन जहांतक आम जनता का ताल्लुक है कोई खास फ़र्क नहीं हुआ है। इन तहरीकों का कायदा यह रहा है कि सीधे-सीधे हमला किया जाय। इसके बाद गांधीजी आये और उन्होंने इस मसले को हिंदुस्तानी तरीके पर हाथ में लिया—यानी घुमाव के तरीके से—और उनकी निगाह आम जनता पर रही। उन्होंने काफ़ी सीधे तरीके पर भी वार किये हैं काफ़ी तोड़-फोड़ की है, काफ़ी आग्रह के साथ इस काम में लगे रहे हैं लेकिन उन्होंने चार वर्णों के मूल और बुनियाद में काम करनेवाले सिद्धांत को चुनौती नहीं दी। इस व्यवस्था के ऊपर और नीचे जो झाड़-झंखाड़ उठ आई है उस पर उन्होंने हमला किया और यह जानते हुए कि इस तरह वह जात-पांत के समूचे ढांचे की जड़ काट रहे हैं।[1] इसकी बुनियाद को उन्होंने अभी ही हिला दिया है और आम

[1] जात-पांत के बारे में गांधीजी के बयान बराबर ज़्यादा ज़ोरदार और तीखे होते जा रहे हैं और उन्होंने अनेक बार इसे साफ़ तरीके पर कहा है कि जिस रूप में आज जात-पांत चल रही है उसे दूर ही हो जाना चाहिए। अपने रचनात्मक कार्यक्रम में जो उन्होंने कौम के सामने रखा है, वह कहते हैं—"इसमें शक नहीं कि इसका मकसद राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक आज़ादी है। यह तो बड़ी कौम की ज़िंदगी के हर एक कोने में एक [illegible] अहिंसात्मक इन्कलाब है—जिसका नतीजा यह होगा कि जात-पांत और अछूतपन और इसी तरह के और अंधे यकीन मिट जायेंगे, हिंदू-मुसलमान के झगड़े

जनता पर इसका गहरा असर पड़ा है। उनके लिए तो ऐसा है कि या तो सारा ढ़ांचा क़ायम रहे या सारा-का-सारा टूट जाय। लेकिन गांधीजी की ताक़त से भी बड़ी ताक़त काम कर रही हैं और वह हमारे मौजूदा ज़िंदगी के हालात हैं—और ऐसा जान पड़ता है कि आख़िरकार पुराने ज़माने के इस चिमटे रहनेवाले निशान का भी अंत होनेवाला है।

लेकिन उस वक़्त जब हम हिंदुस्तान में जात-पांत के ख़िलाफ़ (जिस-की शुरू बुनियाद रंग या वर्ण पर रही है) इस तरह लड़ रहे हैं, हम देखते हैं कि पच्छिम में नई, अपने को अलग रखनेवाली और भयंकर बातें उठ खड़ी हुई हैं जिनका उसूल अपने को अलग-अलग रखना है और इसे कभी वे राज-नीति और अर्थशास्त्र की भाषा में और कभी लोकतंत्र के नाम पर भी पेश करती हैं।

बुद्ध से पहले ईसा से ७०० साल पहले बताया जाता है कि बड़े ऋषि और स्मृतिकार, याज्ञवल्क्य ने यह कहा था— 'अपने मज़हब और चमड़े के रंग की वजह से हममें गुण नहीं उपजता गुण अभ्यास से आता है। इसलिए यह उचित है कि कोई आदमी दूसरे के लिए कोई भी ऐसी बात न करे, जिसे वह अपने लिए किया जाना पसंद न करेगा।"

## १७ : चंद्रगुप्त और चाणक्य : मौर्य-साम्राज्य की स्थापना

बौद्ध-धर्म हिंदुस्तान में रफ़्ता-रफ़्ता फैला अगरचे मूल में यह क्षत्रियों की तहरीक थी और हुकूमत करनेवाले वर्ग और ब्राह्मणों के बीच के झगड़े को ज़ाहिर करती थी फिर भी इसके इख़लाक़ी और जमहूरियत के पहलू और ख़ासकर पुरोहिताई और कर्म-कांड के विरोध आम लोगों को पसंद आये। इसका विकास एक नामपसंद सुधार के आंदोलन के रूप में हुआ और कुछ ब्राह्मण विचारक भी इसमें खिंचकर आ गये। लेकिन आमतौर पर ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया और बौद्धों को नास्तिक और क़ायम-शुदा मज़हब के ख़िलाफ़ बग़ावत करनेवाला बताया। ढाई सदी बाद सम्राट अशोक ने इस धर्म में दीक्षा ली और शांति के साथ इस मज़हब का हिंदुस्तान में और बाहर प्रचार करने में उसने अपनी सारी ताक़त लगा दी।

---

गुज़रे हुए ज़माने की बात हो जायगी और अंग्रेज़ों और यूरोपियों से दुश्मनी का ख़याल बिल्कुल भुला दिया जायगा।" और फिर बहुत हाल में उन्होंने कहा है—"जात-पांत की व्यवस्था—जैसे हम जिस रूप में जानते हैं—पछिमाड़-गूसी चीज़ है। अगर हिंदू-धर्म और हिंदुस्तान को क़ायम रहना है और तरक़्क़ी करना है तो इसे जाना ही होगा।"

इन दो सदियों में हिंदुस्तान में बहुत-सी तब्दीलियां हुईं। जातियों में मेल-जोल से आने की और छोटी-छोटी रियासतों को गणराज्य का रूप देने की बहुत-सी क्रियाएं बहुत दिनों से जारी थीं और एक मिला-जुला केंद्रीय राज्य क़ायम करने की पुरानी प्रेरणा भी काम कर रही थी और इन सब का नतीजा यह हुआ कि एक ताक़तवर और शानदार साम्राज्य क़ायम हो गया। पच्छिमोत्तर में होनेवाले सिकंदर के हमले ने इस विकास को और भी आगे ढकेलने में मदद दी और दो ऐसे मार्के के आदमी सामने आये जिन्होंने इस बदलती हुई हालत से फ़ायदा उठाया और उसे अपनी मर्ज़ी के मुताबिक़ ढाल लिया। ये लोग थे चंद्रगुप्त मौर्य और उसका दोस्त वज़ीर और सलाहकार ब्राह्मण चाणक्य। इनके मेल से ख़ूब काम चला। दोनों ही नंदों के मगध राज्य से जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) थी निकाले हुए थे दोनों ही पच्छिमोत्तर में तक्षशिला पहुंचे और वहां सिकंदर के मुक़र्रर किये हुए यूनानियों के संपर्क में आये। चंद्रगुप्त सिकंदर से ख़ुद मिला उसकी विजयों और शान-शौकत का हाल सुना और उसीकी बराबरी करने का उसके मन में हौसला पैदा हुआ। दोनों देख-भाल और तैयारी में लगे रहे। उन्होंने बड़े ऊंचे मनसूबे बांधे और अपना मक़सद पूरा करने के लिए मौक़े के इंतज़ार में रहे।

जल्द ही उन्हें बेबिलन से सिकंदर के (३२३ ई. पू. में) मरने की ख़बर मिली और फ़ौरन चंद्रगुप्त और चाणक्य ने राष्ट्रीयता का पुराना और सदा नया नारा बुलंद किया। यूनानियों की संरक्षक सेना तक्षशिला से भगा दी गई। क़ौमियत की पुकार ने चंद्रगुप्त को बहुत-से साथी दिये और इन्हें साथ लेकर उत्तरी हिंदुस्तान पार करते हुए उसने पाटलिपुत्र पर धावा कर दिया। सिकंदर की मौत के दो साल के भीतर ही उसने इस शहर पर और राज्य पर क़ब्ज़ा कर लिया और मौर्य-साम्राज्य की स्थापना हो गई।

सिकंदर के सेनापति सेल्यूकस ने जिसने अपने स्वामी की मौत के बाद एशिया माइनर से लेकर हिंदुस्तान तक के प्रदेश पर उत्तराधिकार पाया था पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान पर फिर से हुकूमत क़ायम करनी चाही और उसने अपनी फ़ौज लेकर सिंधु नदी पार कर ली। उसने शिकस्त खाई और क़ाबुल और हिरात तक अफ़ग़ानिस्तान का एक हिस्सा उसे चंद्रगुप्त को देना पड़ा और उसने अपनी लड़की भी चंद्रगुप्त के साथ ब्याह दी। दक्खिन हिंदुस्तान को छोड़कर सारे हिंदुस्तान पर अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक चंद्रगुप्त का साम्राज्य फैला हुआ था और उत्तर में वह काबुल तक पहुंचता था। लिखित इतिहास में यह पहला मौक़ा था कि हिंदुस्तान

में एक केंद्रीय हुकूमत इतने बड़े पैमाने पर बनी। इस बड़ी सल्तनत की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

यह नई हुकूमत थी कैसी? खुशक़िस्मती से इसके पूरे-पूरे हाल हमें मिलते हैं हिंदुस्तानियों के लिखे हुए भी और यूनानियों के भी। मेगस्थनीज़ ने जो सेल्यूकस का भेजा हुआ एलची था हालात दर्ज किए हैं और उस से भी ज़्यादा महत्त्व की बात यह है कि कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में जो राज नीति शास्त्र पर एक पुस्तक है हमें उसी ज़माने का लिखा हुआ हाल मिलता है। कौटिल्य चाणक्य का ही दूसरा नाम है और इस तरह हमें एक ऐसी किताब देखने को मिलती है जिसका लिखनेवाला न महज़ एक विद्वान था बल्कि उसने साम्राज्य के क़ायम करने उसे तरक़्क़ी देने और उसकी हिफ़ाज़त में बहुत ख़ास हिस्सा लिया था। चाणक्य को हिंदुस्तान का मैकियाविली कहा गया है और कुछ हद तक यह मुक़ाबला मुनासिब भी है। लेकिन हर मानी में वह उसके मुक़ाबले में बहुत बड़ा आदमी था—दिमाग़ में भी और काम में भी। वह एक राजा का महज़ पैरोकार या एक शक्तिशाली सम्राट का दीन सलाहकार न था। हिंदुस्तान के एक पुराने नाटक—'मुद्राराक्षस'—में जो उस ज़माने का हाल दर्ज कराता है, उसकी तस्वीर हमें मिलती है। साहसी और षड्यंत्री गर्वीला और बदला लेनेवाला अपमान को कभी न भूलनेवाला अपने उद्देश्य पर बराबर डटा रहनेवाला दुश्मन को धोखे में डालने और हराने की सभी तरह की तरकीबों को काम में लानेवाला—इस रूप में हम उसे एक साम्राज्य की बागडोर को हाथ में लिये देखते हैं और वह सम्राट को अपने मालिक की तरह नहीं बल्कि एक प्रिय शिष्य की तरह देखता है। अपनी ज़िंदगी में सीधा-सादा और तपस्वी ऊँचे पद की शान-शौक़त में दिलचस्पी न लेनेवाला है और जब उसका मक़सद हासिल हो जाता है तो वह काम से छुट्टी पा लेना चाहता है और ब्राह्मण की तरह मनन और चिंतन की ज़िंदगी बिताना चाहता है।

अपना मक़सद हासिल करने के लिए शायद ही कोई बात हो जिसे करने में चाणक्य को पसोपेश होता। वह काफ़ी बेबाक था साथ ही वह काफ़ी बुद्धिमान भी था और यह समझता था कि ग़लत ज़रियों से मक़सद को ही नुक़सान पहुँच सकता है। क्लौसविट्ज़[1] से बहुत पहले कहा जाता है कि उसने बताया था कि युद्ध दूसरे ज़रियों से शासन-नीति का ही एक सिलसिला है लेकिन उसने यह भी बताया है कि युद्ध का मक़सद इस नीति के व्यापक उद्देश्यों को पूरा करना होना चाहिए, उसे खुद एक मक़सद

[1] जर्मन सेनापति तथा सैन्य लेखक (१७८०-१८३१ ई०)

बनकर ही न रह जाना चाहिए। राजनीतिज्ञ का हमेशा यह उद्देश्य होना चाहिए कि युद्ध के फलस्वरूप राज्य की तरक्की हो केवल यह नहीं कि वैरी हार जाय और नष्ट हो जाय। अगर युद्ध से दोनों फ़रीक़ नष्ट हो जाते हैं तो इसे राजनीतिज्ञता का दिवाला समझना चाहिए। लड़ाई के लिए हथियारबंद फ़ौज की ज़रूरत होती है, लेकिन हथियारों के ज़ोर से कहीं ज्यादा महत्व की बात है वह कूटनीति जिससे दुश्मन भरोसा खो बैठे और उसकी फ़ौज तितर बितर होकर या तो नष्ट हो जाय या हमला होने के पहले ही मात की हालत के क़रीब पहुंच जाय। अगरचे चाणक्य अपने मक़सद को हासिल करने के मामले में बड़ा कड़ा और कुछ भी न उठा रखनेवाला था फिर भी वह यह कभी नहीं भूलता था कि अक़्लमंद और आला-दिमाग़ दुश्मन को कुचलने के बनिस्बत उसे अपना हिमायती बना लेना ज्यादा अच्छा है। दुश्मन की फ़ौज में फूट के बीज बोना उसका आख़िरी हथियार था। साथ ही कहा यह जाता है कि ठीक उस वक़्त जबकि जीत होनेवाली थी उसने चंद्रगुप्त को अपने वैरी की तरफ़ उदारता दिखाने पर आमादा किया। यह भी कहते हैं कि चाणक्य ने अपने ऊंचे ओहदे की मुहर को खुद ही इस विपक्षी के मंत्री के सिपुर्द कर दिया जिसकी बुद्धिमानी और अपने पुराने मालिक के लिए वफ़ादारी का चाणक्य पर बड़ा असर पड़ा था। इस तरह से यह क़िस्सा हार और अपमान की कड़ वाहट के साथ नहीं बल्कि समझौते के साथ और राज्य की मज़बूत और क़ायम रहनेवाली बुनियाद के रखने के साथ ख़त्म होता है जिसमें दुश्मन की हार ही नहीं होती है बल्कि उसे दिल से भी अपने में मिला लिया जाता है।

मौर्य-साम्राज्य का यूनानी दुनिया के साथ कूटनीतिक संबंध था—सेल्यूकस से भी और उसके उत्तराधिकारी टोलमी फ़िलाडेल्फ़स से भी। यह संबंध आपस के व्यापारिक हितों की मज़बूत बुनियाद पर टिका हुआ था। प्लैनी कहता है कि मध्य-एशिया की आमूनदी उस महत्त्वपूर्ण सिलसिले की एक कड़ी थी जिससे हिंदुस्तानी माल कैस्पियन और काले समुंदरों के रास्ते यूरोप में पहुंचाया जाता था। ईसा से पहले की तीसरी सदी में यह रास्ता बहुत चालू था। उस ज़माने में मध्य एशिया खुशहाल और ज़रख़ेज़ था। उसमें एक हज़ार साल कुछ बाद वह सूखने लगा। 'अर्थशास्त्र' में लिखा है कि राजा के अस्तबल में अरबी घोड़े थे।

## १८ राज्य का संगठन

यह नया राज्य जो ३२१ ई० पू० में क़ायम हुआ और हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से पर और उत्तर में ठीक क़ाबुल तक फैला आख़िर था कैसा

राज्य ? यह था एकछत्र शासन और ऊपर के सिरे पर हम इसमें एकाधिपत्य पाते हैं जैसाकि अधिकतर साम्राज्यों में रहा है और अब भी है। शहरों और गांवों की इकाइयों में बहुत-कुछ मुक़ामी स्वराज्य था और चुने गये बुज़ुर्ग इन मुक़ामी मामलों की देखभाल किया करते थे। इस मुक़ामी स्वराज्य की बड़ी क़द्र थी और शायद ही किसी राजा या सबसे बड़े शासक ने इसमें दख़ल दिया हो। फिर भी केंद्रीय शासन का असर था और उसके तरह-तरह के काम सभी जगह देखने में आते थे और कुछ मानी में यह मौर्य-शासन ऐसा न था कि आजकल के एकाधिपत्य शासन की याद दिलाता है। उस महज़ किसानी के युग में राज्य व्यक्ति पर उस तरह की बंदिशें जैसी आजकल दिखती हैं लगा नहीं सकता था लेकिन सब सीमाओं के बावजूद ज़िंदगी पर बंदिशें लगाने की और उसे नियंत्रित करने की कोशिशें हुईं। यह शासन एक मात्र पुलिस शासन न था जिसका मक़सद बाहरी और भीतरी अमन क़ायम रखना और लगान वसूल करना ही रहा हो।"

एक काफ़ी फैली हुई और कड़ी नौकरशाही थी और खुफ़िया विभाग के भी हवाले अक्सर मिलते हैं। खेती पर बहुत तरीक़ों से नियंत्रण लगे हुए थे और यही हालत सूद के दर की थी। खाने की चीज़ों मंडियों कारख़ानों क़साईख़ानों पशुओं की नस्लकशी पानी के हक़ों शिकार, वेश्याओं और शराबख़ानों पर बंदिशें लगी हुई थीं और इनकी समय-समय पर जांच हुआ करती थी। नापें और तौलें सब जगहों के लिए एक-सी कर दी गई थीं। खाने की चीज़ों के भरने और उनमें मिलावट करने पर कड़ी सज़ाएं मिलती थीं। व्यापार पर कर लगा हुआ था और इसी तरह धर्म के कामों पर भी। नियमों का पालन न हुआ या और कोई अपराध हुआ तो मंदिरों का धन ज़ब्त कर लिया जाता था। अगर अमीर लोग ग़बन करते या क़ौमी संकटों से फ़ायदा उठाते तो उनकी जायदाद ज़ब्त कर ली जाती। सफ़ाई का इंतज़ाम किया जाता था और अस्पताल खुले हुए थे और ख़ास-ख़ास केंद्रों पर वैद्य मुक़र्रर थे। हुकूमत की तरफ़ से विधवाओं यतीमों बीमारों और कमज़ोरों को मदद दी जाती थी। अकाल से बचाने की ख़ास ज़िम्मेदारी हुकूमत की होती थी और हुकूमत के भंडारों में जो कुछ भी ग़ल्ला होता उसका आधा इसीके लिए बचा रखा जाता था कि अकाल के ज़माने में काम आये।

ये सब क़ानून-क़ायदे शायद ज़्यादातर शहरों पर लागू होते थे और गांवों पर कम यह भी मुमकिन है इनका व्यवहार में दिखाई से इस्तेमाल किया जाता हो। लेकिन सिद्धांत के ख़याल से भी ये बातें दिलचस्प हैं। गांव के रहनेवालों के लिए क़रीब-क़रीब स्वराज था।

चाणक्य के 'अर्थशास्त्र' में अनेकानेक विषयों का बयान हुआ है और यह पुस्तक हुकूमत के सिद्धांत और व्यवहार के सभी पहलुओं पर विचार करती है। इसमें राजा के, उसके मंत्रियों और सलाहकारों के कर्तव्य बताये गये हैं और राज-सभा की बैठकों, सरकारी महकमों, कूटनीति, लड़ाई और सुलह के बयान हैं। इसमें चन्द्रगुप्त की बड़ी फ़ौज की तफ़्सील दी गई है, जिसमें पैदल, घुड़सवार सेना, रथों और हाथियों का हाल है।[1] साथ ही चाणक्य का कहना है, गिनती से कुछ होता-जाता नहीं—अगर संयम न हो और ठीक नेता न हों, तो यही सेना भार हो सकती है। रक्षा के और क़िलेबंदी के बारे में भी इस किताब में कहा गया है।

और जिन बातों पर इस किताब में लिखा गया है, वे हैं व्यापार और व्यवसाय, क़ानून और न्यायालय, शहरी व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, विवाह और तलाक़, औरतों के अधिकार, राज्य-कर और लगान, खेती, खानों और कारखानों का चलाना, व्यवसाय, मंडियां, बाग़बानी, उद्योग-धंधे, आब-पाशी और जल के रास्ते, जहाज़ और जहाज़रानी, जिसमें मर्दुमशुमारी, मछली पकड़ने का धंधा, क़साईख़ाने, राहदारी के पत्र, क़ैदख़ाने वग़ैरह। विधवा को फिर से ब्याहा जाना माना गया है, और किन्हीं ख़ास हालतों में तलाक़ भी।

चीन के बने रेशमी कपड़े, 'चीन पट्ट', का भी हवाला मिलता है और इस कपड़े में और हिंदुस्तान के बने रेशम के कपड़े में फ़र्क़ बताया गया है। शायद हिंदुस्तान का बना कपड़ा चीन के कपड़े के मुक़ाबले में ज़्यादा मोटा होता था। चीनी कपड़ों का आयात यह बताता है कि कम-से-कम ईसा से पहले की चौथी सदी में चीन के साथ हिंदुस्तान का व्यावसायिक संबंध क़ायम था।

अपने राज्यारोहण के वक़्त राजा को इस बात की क़सम खानी पड़ती थी कि वह अपनी प्रजा की सेवा करेगा। 'मैं स्वर्ग, जिंदगी और संतान से वंचित रहूं, अगर मैं तुम्हें सताऊं।' "उसका सुख उसकी प्रजा के सुख में है और उसकी बेहतरी उसकी बेहतरी में है; जो बात उसे खुद अच्छी लगती है, उसे वह अच्छा न समझे, लेकिन जो बात उसकी प्रजा को अच्छी लगे, उसे वह अच्छा समझे।" "अगर राजा में उत्साह है, तो उसकी प्रजा में भी उतना ही उत्साह होगा।" 'आम लोगों के हित के काम उस वक़्त तक नहीं रुके रह सकते, जबतक कि

---

[1] शतरंज का खेल, जिसका आरंभ हिंदुस्तान में ही हुआ, शायद सेना के इन्हीं चार अंगों के आधार से निकला था। यह 'चतुरंग' कहलाता था, यानी चार अंगोंवाला, जिससे 'शतरंज' निकला। बाणभट्ट भी इस खेल का हिंदुस्तान में चार आदमियों द्वारा खेले जाने का हाल लिखता है।

राजा को फ़ुरसत न हो उसे उनके लिए सदा तैयार रहना चाहिए। और अगर राजा अनीति करे, तो उसकी प्रजा को यह अधिकार है कि उसे हटाकर उसकी जगह दूसरे को बिठा दे।

एक आबपाशी का महकमा था जो नहरों की निगरानी किया करता था और एक महकमा जल के यातायात का था जो बंदरगाहों घाटों पुलों और उन बहुत-सी नावों और जहाजों की देख-भाल करता था जो नदियों पर चला करते थे और समुंदर पर होकर बरमा या उससे भी आगे जाते थे। खुश्की की फ़ौज के सहायक अंग की तरह जान पड़ता है एक जल-सेना भी थी।

साम्राज्य में व्यापार खूब होता था और दूर-दूर जगहों के बीच चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं जिनके किनारे अकसर यात्रियों के लिए आराम-घर बने हुए थे। खास सड़क को राज-पथ या राजा का रास्ता कहते थे और यह सारे देश को पार करता हुआ राजधानी से लेकर ठीक पश्चिमोत्तर सरहद तक जाता था। विदेशी व्यापारियों का खासतौर पर जिक्र आता है और उनके लिए अलग सुविधाएं थीं और जान पड़ता है कि उन्हें उनके आपस के व्यवहार में अपने देशों के अलग कानूनों का कुछ हद तक लाभ दिया जाता था। कहा जाता है कि पुराने मिस्री लोग अपने सुरक्षित शवों को हिंदुस्तान की मलमल में लपेटा करते थे और अपने कपड़ों को हिंदुस्तान के नील में रंगा करते थे। पुराने खंडहरों में एक तरह का कांच भी मिला है। यूनानी एलची मेगस्थनीज कहता है कि हिंदुस्तानी सौंदर्य और नफ़ासत की चीजों के प्रेमी थे और यह भी लिखता है कि ऊंचाई को बढ़ाने के लिए जूतों का इस्तैमाल किया जाता था।

मौर्य-साम्राज्य में विलास की बढ़ती हुई जिंदगी में सारवी बटी धंधों के बंटवारे बढ़े और संगठन भी बढ़ा। "सराय आराम-घर, खाने के घर, जुआघर, जान पड़ता है बहुत हैं संप्रदायों और पेशेवरों की सभाओं के लिए अलग-अलग जगहें हैं और पेशेवरों की आम दावतें भी होती हैं। मनोरंजन के धंधे से बहुत तरह के लोगों की रोजी चलती है जैसे नचनियों नटों और स्वांग करनेवालों की। ये लोग गांवों तक में पहुंचते हैं और 'अर्थशास्त्र' का लेखक इन खेल-तमाशों के लिए भवन बनाये जाने के खिलाफ़ इसलिए है कि इससे लोगों का घर-बार और खेती के काम से जी हटता है। साथ ही सार्वजनिक मनोरंजन के कामों में हाथ बंटाने से इन्कार करने के लिए दंड की भी व्यवस्था है। राजा की तरफ़ से खासतौर पर तैयार किये गये मकानों या अखाड़ों में नाटक कुश्ती और आदमियों और पशुओं की और प्रतियोगिताओं

का और दूसरे तमाशों और विचित्र चीज़ों की तस्वीरों के दिखाने का इंत-ज़ाम है। बहुत करके उत्सवों के मौक़ों पर सड़कों पर रोशनी की जाती थी। [1] शाही जुलूस भी निकला करते थे और शिकारियों के जमाव हुआ करते थे।

इस विशाल साम्राज्य में बड़ी आबादीवाले बहुत-से शहर थे लेकिन उन सबमें बड़ा शहर पाटलिपुत्र था जो राजधानी था और यह आलीशान शहर गंगा और सोन के संगम पर (मौजूदा पटना) बसा हुआ था। मेगस्थ-नीज़ ने इसका यों वर्णन किया है— 'इस नदी (गंगा) और एक दूसरी नदी के संगम पर पालिबोथ्र बसा हुआ है जो अस्सी स्टेडिया (९२ मील) लंबा और पंद्रह स्टेडिया (१७ मील) चौड़ा है। इसकी शक्ल समचतुष्कोण की है और यह लकड़ी की चार-दीवारी से घिरा हुआ है, जिसमें तीर चलाने के लिए सूराखें बनी हुई हैं। सामने इसके एक खाई है, जो हिफ़ाज़त के लिए है और जिसमें शहर का गंदा पानी पहुंचता है। यह खाई, जो चारों तरफ़ घूमी हुई है चौड़ाई में ६ फ़ुट है और गहराई में ३ हाथ और दीवाल पर ५७ बुर्जे हैं और उसमें ६४ फाटक हैं।

यह दीवाल ही लकड़ी की नहीं थी बल्कि ज्यादातर घर भी लकड़ी के थे। ज़ाहिरा यह भूकंप से बचाव के लिए था क्योंकि उस प्रदेश में भूकंप अकसर आते रहे हैं। सन १९३४ के बिहार के भयानक भूकंप ने हमें इस बात की फिर याद दिला दी है। चूंकि मकान लकड़ी के होते थे इसलिए आग लगने से बचने के लिए बहुत इंतज़ाम रहता था। हर एक गृहस्थ को सीढ़ियां कांटे और पानी से भरे डोल रखने पड़ते थे।

पाटलिपुत्र में लोगों की चुनी हुई म्यूनिसिपैलिटी भी थी। इसके ३० सदस्य थे और वे पांच-पांच की ६ समितियों में बंटे हुए थे और इनके हाथ में व्यापार, दस्तकारी मौत और पैदाइश उद्योग-धंधों यात्रियों वग़ैरह के इंत-ज़ाम थे। रुपये-पैसे सफ़ाई, पानी पहुंचाना सार्वजनिक इमारतों और बग़ीचों की देख-भाल पूरी म्यूनिसिपैलिटी के ज़िम्मे थी।

## १९ बुद्ध की शिक्षा

इन राजनीतिक और आर्थिक इन्क़लाबों के पीछे, जो हिंदुस्तान की क़िस्मत ही बदल रहे थे बौद्ध-धर्म का जोश था। पुराने मतों से इसका संघर्ष और धर्म के मामले में निहित स्वार्थों से इसकी लड़ाई चल रही थी।

---

[1] 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया' (जिल्द १ पृ ४८) में डॉक्टर एफ़ डब्ल्यू टामस।

बहस और मुबाहसे (जिनका हिंदुस्तान में हमेशा शौक रहा है) से कहीं बढ़ कर लोगों पर असर था एक ज्वलंत और बहुत बड़े व्यक्तित्व का और उसकी याद दिलों में ताजा थी। उसका संदेश पुराना था फिर भी बहुत नया था और जो लोग ब्रह्म-ज्ञान की बारीकियों में उलझे हुए थे उनके लिए मौलिक था। इसने विचारशील लोगों की कल्पना पर कब्जा कर लिया यह लोगों के दिलों के भीतर गहरा पैठ गया। बुद्ध ने अपने चेलों से कहा था— 'सभी देशों में जाओ और इस धर्म का प्रचार करो। उनसे कहो कि गरीब और दीन अमीर और कुलीन सब एक हैं और इस धर्म में सभी जातें इस तरह आकर मिल जाती हैं जिस तरह कि नदियां समुंदर में जाकर मिलती हैं। उनका संदेश सभी के लिए दया और प्रेम का संदेश था। क्योंकि "इस दुनिया में नफ़रत का अंत नफ़रत से नहीं हो सकता नफ़रत प्रेम करने से ही जायगी।" और 'आदमी को चाहिए कि दूसरे को दया के जरिये और बुराई को भलाई के जरिये जीते।

भले काम करने का और अपने ऊपर संयम रखने का यह आदर्श था। "आदमी लड़ाई में हजार आदमियों पर विजय हासिल कर सकता है लेकिन जो अपने ऊपर विजय पाता है वही सबसे बड़ा विजयी है।" "जन्म से नहीं बल्कि कर्म से ही आदमी शूद्र या ब्राह्मण होता है। पापी की भी निंदा उचित नहीं क्योंकि "जो पापियों से जान-बूझकर कड़े शब्द कहता है वह मानो उनके पाप-रूपी घाव पर नमक छिड़कता है। दूसरे के ऊपर विजय पाना ही दुख का कारण होता है—"विजय नफ़रत उपजाती है क्योंकि विजित दुखी होता है।

अपने इन सब उपदेशों में उन्होंने धर्म का प्रमाण नहीं दिया न ईश्वर या किसी दूसरी दुनिया का हवाला दिया। वह बुद्धि और तर्क और अनुभव पर भरोसा करते हैं और लोगों से कहते हैं कि सत्य को अपने मन के भीतर खोजो। कहा जाता है कि उन्होंने कहा—"किसीको मेरे बताये नियमों को आदर की वजह से न मान लेना चाहिए उसकी परख पहले इस तरह कर लेनी चाहिए, जैसे तपाकर सोने की परख की जाती है।" सचाई के न जानने से सभी दुख उपजते हैं। ईश्वर या परब्रह्म है या नहीं इसके बारे में उन्होंने कुछ नहीं बताया है। न वह उससे इकरार करते हैं न इन्कार। जहां जानकारी मुमकिन नहीं वहां हमें अपना फ़ैसला नहीं देना चाहिए। एक सवाल के जवाब में बताया जाता है कि बुद्ध ने यह कहा था— अगर परब्रह्म से मतलब है किसी उस चीज से जिसका सभी जानी हुई चीजों से कोई संबंध नहीं तो किसी तर्क से उसका अस्तित्व या वजूद सिद्ध नहीं किया जा

सकता। यह हम कैसे जान सकते हैं कि दूसरी चीजों से असंबद्ध चीज कोई है भी या नहीं ? यह सारा विश्व—उसे हम जिस रूप में जानते हैं—संबंधों का एक सिलसिला है हम कोई ऐसी चीज नहीं जानते जो बिना संबंध के है या हो सकती है।" इसलिए हमें अपने को उन चीजों तक महदूद रखना चाहिए, जिनका हम अनुभव कर सकते हैं और जिनके बारे में हमें पक्की जानकारी है।

इसी तरह बुद्ध ने आत्मा के अस्तित्व के बारे में भी कुछ नहीं कहा है। वह इससे भी न इकरार करते हैं और न इन्कार। वह इस सवाल में पड़ना ही नहीं चाहते और यह एक बड़ी अचरज की बात है क्योंकि उस जमाने में हिंदुस्तानियों के दिमाग में आत्मा और परमात्मा एकेश्वरवाद अद्वैतवाद और दूसरे आधिभौतिक सिद्धांत समाये रहते थे। मगर बुद्ध ने सभी तरह के आधिभौतिकवाद से अपने विचारों को हटाया। लेकिन प्रकृति के नियम के स्थायित्व में और एक व्यापक हेतुवाद में उनका विश्वास है और इस तरह हर एक बात की स्थिति अपने से पहले की स्थिति का नतीजा है, अच्छे काम का सुख से और बुरे काम का दुख से स्वाभाविक संबंध है।

हम अनुभव की इस दुनिया में शब्दों या भाषा का इस्तेमाल करते हैं और कहते हैं कि "यह है" या 'यह नहीं है'। लेकिन जब हम सतही पहलुओं के भीतर पैठते हैं तो इनमें से एक भी संभव है, सही न हो और जो कुछ हो रहा है उसको बयान करने में हमारी भाषा ही नाकाफ़ी हो। सत्य "है" और "नहीं है" के बीच में या इनसे परे कहीं भी हो सकता है। नदी बराबर बहती है और हर क्षण एक-सी मालूम पड़ती है फिर भी पानी बराबर तब्दील होता रहता है। इसी तरह आग है। लौ जलती रहती है और अपना आकार भी कायम रखती है फिर भी वही लौ हमेशा नहीं रहती बल्कि क्षण-क्षण में बदलती रहती है। इसी तरह जिंदगी भी बराबर बदलती रहती है और अपने सभी रूपों में वह एक धारा की तरह है जिसे हम 'होने की प्रक्रिया' कह सकते हैं। असलियत कोई ऐसी चीज नहीं है, जो कायम रहनेवाली और न बदलनेवाली हो बल्कि वह एक ऐसा ताक़त है, जिसमें तेजी है और रफ़्तार है और जो नतीजों का एक सिलसिला है। समय की धारणा 'महज एक ख़याल है' जो किस-किसी घटना के आधार पर व्यवहार के लिए बना लिया गया है। हम यह नहीं कह सकते कि कोई एक चीज किसी दूसरी चीज का कारण है क्योंकि 'होने की प्रक्रिया' में कोई अंश ऐसा नहीं है जो स्थायी हो या न बदलनेवाला हो। किसी वस्तु का तत्व उसमें निहित नियम में है, जो उसे किसी दूसरी कहलाई जानेवाली वस्तु से जोड़ता है। हमारे शरीर और हमारी आत्माएं क्षण-क्षण में बदलती रहती हैं उनका अंत हो जाता है

और उनकी जगह पर कोई दूसरी चीज जो उन्हीं-जैसी लेकिन उनसे मुख्तलिफ़ होती है, वह जगह ले लेती है और फिर वह भी चली जाती है। एक मानी में हम हरदम मर रहे हैं और हरदम फिर से जन्म ले रहे हैं और यह सिल सिला एक अटूट अस्तित्व का आभास देता है। यह 'एक सतत परिवर्तनशील अस्तित्व का सिलसिला है'। हर चीज बस एक प्रवाह है, आंदोलन है और परिवर्तन है।

हम लोग भौतिक घटनाओं को एक नपे-तुले ढंग से सोचने और उनकी व्याख्या करने के इतने आदी हो गये हैं कि हमारे दिमागों के लिए यह सब समझ सकना मुश्किल है। लेकिन यह बड़ी मार्के की बात है कि बुद्ध का यह फ़िलसफ़ा हमें आजकल के भौतिक-विज्ञान की धारणाओं और दार्शनिक विचारों के इतना निकट से जाता है।

बुद्ध का ढंग मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का ढंग था और यहां भी यह देखकर अचरज होता है कि आज के विज्ञान की नई-से-नई खोजों के कितने निकट उनकी सूझ-बूझ थी। आदमी की ज़िंदगी पर विचार और जांच बिना किसी स्थायी आत्मा के लिहाज के होती है, क्योंकि अगर किसी ऐसी आत्मा की सत्ता है भी तो वह हमारी समझ से परे है। मन को शरीर का अंग मान सिक शक्तियों की एक मिलावट समझा जाता था। इस तरह से व्यक्ति मान-सिक स्थितियों की एक गठरी बन जाता है, "आत्मा विचारों का महज़ एक प्रवाह है।" 'जो कुछ भी हम हैं, वह जो कुछ भी हमने सोचा है उसका नतीजा है।'

ज़िंदगी में जो दुख और व्यथा है उस पर ज़ोर दिया गया है और बुद्ध ने जिन "चार बड़े सत्यों" का बखान किया है उनमें यह दुख, उसके कारण उसे खतम करने की संभावना और उसके लिए उपाय बताये गये हैं। अपने चेलों को उपदेश देते हुए, कहा जाता है कि बुद्ध ने कहा था— जब तुमने युगों के दौर में इस (दुख) का अनुभव किया, तुम्हारी आंखों से इतना पानी बहा है, जब तुम इस (ज़िंदगी की) यात्रा में भटके हो और तुमने शोक किया है या तुम रोये हो क्योंकि जिस चीज से तुम नफ़रत करते रहे हो, वह तुम्हें मिली है और जिस चीज की तुम ख्वाहिश करते रहे हो वह तुम्हें नहीं मिली है, वह सब तुम्हारे आंसुओं का पानी चारों बड़े समुद्रों के पानी से ज्यादा रहा है।

दुख की इस हालत का अंत कर देने से 'निर्वाण' प्राप्त हो सकता है। 'निर्वाण' है क्या? इसके बारे में लोगों में मतभेद रहा है, क्योंकि एक ऐसी हालत का जो अनुभव से परे है, किस तरह से हमारे सीमित दिमागों की

भाषा में बयान हो सकता है? कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल विनाश हो जाना है, बुझ जाना है। लेकिन बुद्ध ने, कहा जाता है कि, इससे इन्कार किया है और यह बताया है कि यह एक अत्यंत क्रियाशीलता की अवस्था है। यह झूठी इच्छाओं के मिट जाने की हालत है न कि अपने मिट जाने की लेकिन इसका बयान केवल नकारात्मक शब्दों में किया जा सकता है।

बुद्ध का बताया हुआ रास्ता मध्यम-मार्ग है और यह अपने को यातना देने और विलास में डुबा देने के बीच का रास्ता है। शरीर को तकलीफ देने के अनुभव के बाद उन्होंने कहा है कि जो आदमी अपनी ताकत खो बैठता है, वह ठीक रास्ते पर नहीं चल सकता। यह मध्यम-मार्ग आर्यों का अष्टांग मार्ग कहलाया। इसके अंग हैं—ठीक विश्वास, ठीक आकांक्षाएं, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक आचार, ठीक प्रयत्न, ठीक वृत्ति और ठीक आनंद। इसमें अपने विकास का सवाल है, किसीकी कृपा का नहीं। और अगर आदमी इस दिशा में अपना विकास करने में कामयाब होता है, तो उसके लिए कभी हार नहीं—'जिसने अपने को वश में कर लिया है, उसकी जीत को देवता भी हार में नहीं बदल सकते।'

बुद्ध ने अपने चेलों को वे बातें बताईं, जो उनके विचार में वे लोग समझ सकते थे और जिन पर वे आचरण कर सकते थे। उनके उपदेशों का यह मकसद नहीं था कि जो कुछ भी है, उसकी व्याख्या की जाय, बल्कि जो कुछ भी है उसका पूरा-पूरा विवरण कराया जाय। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने अपने हाथ में कुछ सूखी पत्तियां लेकर अपने प्रिय शिष्य आनंद से पूछा कि हाथ की इन पत्तियों के अलावा क्या और भी कहीं पत्तियां हैं। आनंद ने जवाब दिया—"पतझड़ की पत्तियां सभी तरफ गिर रही हैं और वे इतनी हैं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।" तब बुद्ध ने कहा—"इसी तरह मैंने तुम्हें मुट्ठी-भर सत्य दिये हैं, लेकिन इनके अलावा कई हजार और सत्य हैं, इतने कि उनकी गिनती नहीं हो सकती।"

## २० बुद्ध की कहानी

बुद्ध की कहानी ने मुझे मुक बचपन में ही आकर्षित किया था और मैं युवा सिद्धार्थ की तरफ खिंचा था, जिसने बहुत-से अंतर्द्वंद्वों, दुःख और तप के बाद बुद्ध का पद हासिल किया था। एडविन आर्नल्ड की किताब 'लाइट ऑव एशिया' मेरी एक प्रिय पुस्तक बन गई। बाद में जब मैंने अपने सूबे में बहुत-से दौरे किये तब मैं बुद्ध-की कथा से संबंध रखनेवाली बहुत-सी जगहों पर, अपने यात्रा-मार्ग से हटकर भी जाना पसंद करता था। इनमें से ज्यादातर मुकाम या तो मेरे ही सूबे में हैं या उसके नजदीक हैं। यहीं

(नेपाल की तराई पर) बुद्ध का जन्म हुआ, यहीं वह घूमते-फिरते रहे, यहीं गया (बिहार) में उन्होंने बोधि वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया, यहीं उन्होंने अपना पहला उपदेश दिया और यहीं वह मरे।

जब मैं उन देशों में गया, जहां बौद्ध-धर्म अब भी एक जीता-जागता और खास धर्म है, तब मैंने जाकर मंदिरों और मठों को देखा और भिक्खुओं और आम लोगों से मिला और यह जानने की कोशिश की कि बौद्ध-धर्म ने जनता के लिए क्या किया। उसने उन पर क्या असर डाला, किस तरह की छाप उनके दिमागों और चेहरों पर छोड़ी और मौजूदा जिंदगी की उन पर क्या प्रतिक्रिया हुई? बहुत-कुछ ऐसा था, जिसे मैंने नहीं पसंद किया। बौद्ध धर्म के बुनियादी नैतिक सिद्धांतों पर इतना कूड़ा-करकट जमा हो गया है, इतने कर्म-कांड, इतने विधि-विधान और बुद्ध की शिक्षा के बावजूद, इतने आधिभौतिक सिद्धांत और जादू-टोने तक इकट्ठा हो गये हैं कि क्या कहा जाय! और बुद्ध के सतर्क कर देने पर भी उन्हें ईश्वर माना गया है, और उनकी बड़ी बड़ी मूर्तियां बन गई हैं, जिन्हें मैंने मंदिरों में और और जगहों में अपने सिर की ऊंचाई से भी ऊपर स्थापित देखा है। उस वक्त मैंने मन में सोचा कि अगर वह इन्हें देखते तो क्या कहते। बहुत-से भिक्खु अनपढ़ लोग हैं बल्कि घमंडी हैं, क्योंकि वे यह चाहते हैं कि उनके सामने माथा झुकाया जाय, अगर उनके सामने नहीं तो उनके भेस के सामने। हर एक देश में धर्म के ऊपर कौमी खासियतों की छाप पड़ी हुई थी और इसने उनके जुदा-जुदा रीति-रिवाजों और रहन-सहन के अनुसार रूप धरा रखा था। यह सब स्वाभाविक ही था और शायद एक लाजिमी विकास था।

लेकिन मैंने बहुत-कुछ ऐसा भी देखा, जिसे मैंने पसंद किया। कुछ मठों में और उनसे लगे हुए विद्यालयों में ध्यान और शांति से अध्ययन करने का वातावरण था। बहुत-से भिक्खुओं के चेहरों पर शांति और सौम्यता मिली और बोध और दया और तटस्थता का भाव मिला, और संसार की चिंताओं से मुक्ति दिखाई दी। क्या ये सब बातें आज की दुनिया में अपनी ठीक जगह रखती हैं या महज उससे बच निकलने का एक तरीका है? क्या इनका जिंदगी के निरंतर संघर्ष से इस तरह मेल नहीं हो सकता कि ये उसके भद्दे पन को, उसकी लोलुपता को, उसके हिंसा भाव को कम कर सकें?

बौद्ध-धर्म का निराशावाद मेरे अपने जिंदगी के नजरिये से मेल नहीं खाता, न जिंदगी और उसके मसलों से भागने की उसकी प्रवृत्ति मेरे अनुकूल पड़ती है। अपने दिमाग के किसी छिपे हुए कोने में मैं काफ़िर हूं और जिस तरह से काफ़िर जिंदगी और प्रकृति को उमंग के साथ देखता है, उसी तरह मैं

भी देखता हूं और जिंदगी में जिन सवालों का सामना करना पड़ता है उनसे घबराता नहीं हूं। जो कुछ मैंने अनुभव किया है या अपने चारों ओर देखा है, वह चाहे जितना तकलीफ़ और दुख पहुंचानेवाला रहा हो उससे मेरे इस नज़रिये में फ़र्क़ नहीं पड़ा है।

क्या बौद्ध-धर्म निष्क्रियता और निराशावाद सिखाता है? इसकी व्याख्या करनेवाले ऐसा कह सकते हैं और इस धर्म के बहुत-से अनुयायियों ने यही अर्थ निकाला है। मुझमें उसकी बारीकियों पर ग़ौर करने या इसकी बाद की जटिलताओं और आधिभौतिक विकास पर फ़ैसला देने की योग्यता नहीं है। लेकिन जब मैं बुद्ध का ध्यान करता हूं तो इस तरह के विचार मेरे मन में नहीं उठते न मैं यही समझता हूं कि निष्क्रियता और निराशावाद की बुनियाद पर ठहरे हुए किसी धर्म का अनुयायियों की इतनी बड़ी संख्या पर, जिसमें क़ाबिल-से-क़ाबिल लोग हो गये हैं इतना गहरा असर पड़ सकता है।

जान पड़ता है कि बुद्ध की वह कल्पना जिसे अनगिनत प्रेमपूर्ण हाथों ने पत्थर और संगमरमर और कांसे में गढ़कर साकार किया है हिंदुस्तानियों के विचारों और भावों की प्रतीक है या कम-से-कम उसके एक विशेष पहलू की प्रतीक है। कमल के फूल पर शांत और धीर, वासनाओं और इच्छाओं से परे, इस दुनिया के तूफ़ान और कश-मकश से दूर, वह इतने ऊपर, इतने दूर मालूम पड़ते हैं कि जैसे पहुंच से बाहर हों। लेकिन जब फिर उन्हें देखते हैं तो उस शांत अडिग आकृति के पीछे एक आवेग और मनोभाव जान पड़ता है जो अनोखा है और उन आवेगों और मनोभावों से जिनसे हम परिचित हैं ज़्यादा ज़ोरदार है। उनकी आंखें मुंदी हुई हैं लेकिन चेतना की कोई शक्ति उनके भीतर से दिखाई देती है और शरीर में एक जीवनी-शक्ति भरी हुई जान पड़ती है। युग-पर-युग बीतते हैं फिर भी बुद्ध इतने दूर के नहीं जान पड़ते हैं उनकी वाणी हमारे कानों में कुछ धीमे स्वर से कहती जान पड़ती है और यह बताती है कि हमें संघर्ष से भागना नहीं चाहिए, बल्कि धीर नेत्रों से उसका सामना करना चाहिए और ज़िंदगी में विकास और तरक्क़ी और और भी बड़े अवसरों को देखना चाहिए।

सदा की तरह आज भी व्यक्तित्व का असर है और जिस आदमी ने इन्सान के विचारों पर अपनी वह छाप डाली हो जो बुद्ध ने डाली जिसमें आज भी हम उनकी कल्पना में कोई जीती-जागती थरथराहट पैदा करनेवाली चीज़ पाते हैं वह आदमी बड़ा ही अद्भुत आदमी रहा होगा—ऐसा आदमी जो बार्थ के शब्दों में शांत और मधुर प्रभुता की सजी हुई मूर्ति था

जिसमें सभी प्राणियों के लिए अपार करुणा थी जिसे पूरी नैतिक स्वतंत्रता मिली हुई थी और जो सभी तरह के पक्षपात से अलग था।" और उस क़ौम और जाति में जो ऐसे विधान नमूने पेश कर सकती है अक्लमंदी और भीतरी ताक़त की कैसी गहरी संचित निधि होगी!

## २१ अशोक

हिंदुस्तान और पश्चिमी दुनिया से जो संपर्क चंद्रगुप्त मौर्य ने क़ायम किये थे वे उसके बेटे बिंदुसार के लंबे राज्य-काल में बने रहे। पाटलिपुत्र के दरबार में मिस्र के टॉलमी और पश्चिमी एशिया के सेल्यूकस निकाटोर के बेटे और उत्तराधिकारी ऐंटिओकस के यहां से एलची आते रहे। चंद्रगुप्त के पोते अशोक ने ये संपर्क और भी बढ़ाये और इसके ज़माने में हिंदुस्तान एक महत्त्व का अंतर्राष्ट्रीय केंद्र बन गया—खासतौर से बौद्ध धर्म के तेजी से बढ़ते हुए प्रचार की वजह से।

२७३ ई० पू० में अशोक इस बड़े साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। इससे पहले वह पश्चिमोत्तर का प्रादेशिक शासक रह चुका था जिसकी राजधानी विश्वविद्यालय की नगरी तक्षशिला थी। उस समय ही साम्राज्य के भीतर हिंदुस्तान का ज़्यादातर हिस्सा आ गया था और यह ठीक मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। सिर्फ़ दक्खिन-पूरब और दक्खिन का एक हिस्सा इसमें नहीं आ पाया था। सारे हिंदुस्तान को एक हुकूमत के मातहत ले आने के पुराने सपने ने अशोक को उकसाया और उसने पूरबी समुद्र-तट के कलिंग प्रदेश को जीतने की ठानी। यह प्रदेश मोटे ढंग से आजकल के उड़ीसा और आंध्र देश का एक हिस्सा मिलाकर बनेगा। कलिंग के लोगों के बहादुरी के साथ मुक़ाबला करने के बावजूद अशोक की सेना जीत गई। इस लड़ाई में भयानक खून-खराबा हुआ और जब अशोक के पास समाचार पहुंचे तो उसे बड़ा पछतावा हुआ और युद्ध से उसका जी फिर गया। विजयी सम्राटों और इतिहास के नेताओं के बीच वह अकेला व्यक्ति है जिसने विजय के क्षण में यह निश्चय किया कि वह आगे युद्ध न करेगा। सारे हिंदुस्तान ने उसका आधिपत्य मंजूर कर लिया—सिवाय धुर दक्खिन के एक टुकड़े के जिसे वह इच्छा करने-भर से अपने अधिकार में ला सकता था। लेकिन उसने अपने राज्य को बढ़ाया नहीं और युद्ध की शिक्षा के असर में उसका मन दूसरी ही तरह की विजयों और साहसी कामों की तरफ़ फिरा।

अशोक के क्या ख़याल थे और उसने क्या किया यह हम उसके ही शब्दों में उन बहुत-से आदेशों में जो उसने जारी किये थे और जो पत्थरों और धातों पर अंकित किये गये थे हम जानते हैं। ये आदेश सारे हिंदुस्तान में फैले

अशोक का साम्राज्य

थे और हमें अब भी मिलते हैं। इन आदेशों के जरिये उसने अपनी प्रजा को ही नहीं बल्कि आनेवाली पीढ़ियों को भी अपना संदेसा दिया था। उसके एक आदेश में कहा गया है

'परम पवित्र प्रियदर्शी सम्राट ने अपने राज्य के आठवें वर्ष में कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहां से कैदी के रूप में लाये गये एक लाख आदमी वहां पर मारे गये और इस संख्या के कई गुने लोग और मरे।

'कलिंग के साम्राज्य में मिलाये जाने के ठीक बाद ही प्रियदर्शी सम्राट का अहिंसा-धर्म का पालन करना उस धर्म से प्रेम और उसका प्रचार शुरू होता है। इस तरह प्रियदर्शी सम्राट का कलिंग-विजय पर पश्चाताप उदय होता है क्योंकि न जीते गये देश के जीते जाने के साथ ही खूनखराबी और मौतें होती हैं और लोग बंदी करके ले जाये जाते हैं। यह प्रियदर्शी सम्राट को महान शोक पहुंचानेवाली बात है।

इस आदेश में आगे कहा गया है कि अब अशोक हत्या या बंदी किया जाना नहीं देख सकता जितने लोग कलिंग में मरे, उनके सौवें-हजारवें हिस्से का भी नहीं। सच्ची विजय अशोक लिखता है लोगों के दिलों पर कर्तव्य और दया-धर्म पालन करते हुए विजय हासिल करना है और इस तरह की सच्ची विजय उसने पा भी ली थी न महज अपने राज्य में बल्कि दूर-दूर के राज्यों में। इसके अलावा आदेश में यह भी कहा है

"इसके अतिरिक्त यह है कि अगर कोई उनके साथ बुराई करता है तो उसे भी प्रियदर्शी सम्राट जहांतक होगा सहन करेंगे। अपने राज्य के वन के निवासियों पर भी प्रियदर्शी सम्राट की कृपा दृष्टि है और वह चाहते हैं कि वे लोग ठीक विचारवाले बनें क्योंकि अगर ऐसा वह न करें तो प्रियदर्शी सम्राट को अनुशोच होगा क्योंकि परम पवित्र महाराज चाहते हैं कि जीव-धारी-मात्र की रक्षा हो और उन्हें आत्म-संयम मन की शांति और मार्दव प्राप्त हो।"

इस अद्भुत शासक ने जिसे अबतक हिंदुस्तान में और एशिया के दूसरे हिस्सों में प्रेम के साथ याद किया जाता है, बुद्ध के सत्कर्म और सद्भाव की शिक्षा के फैलाने में और जनता के हित के कामों में अपने को पूरी तरह लगा दिया। वह घटनाओं को हाथ-पर-हाथ रखकर देखनेवाला और ध्यान में डूबा हुआ और अपनी उन्नति की चिंता में खोया हुआ आदमी न था। वह राज-कार्य में मेहनत करनेवाला था और उसने यह ऐलान कर दिया था कि मैं सदा काम के लिए तैयार हूं सब वक्तों में और सब तरह, चाहे मैं खाना खाता होऊं, चाहे रनिवास में होऊं, चाहे अपने शयन में रहूं या स्नान

में सवारी पर रहूं या महल के बाग़ में सरकारी कर्मचारी जनता के कामों के बारे में मुझे बराबर सूचना देते रहें। जिस समय भी हो और जहां भी हो मैं लोक-हित के लिए काम करूंगा।"

उसके दूत और एलची सीरिया मिस्र मैसिडोनिया साइरीन और एपाइरस तक बुद्ध के संदेश और उसकी शुभ कामनाओं को लेकर पहुंचे। वे मध्य एशिया भी गये और बरमा और स्याम भी और उसने खुद अपने बेटे और बेटी महेंद्र और संघमित्रा को दक्खिन में लंका भेजा। सभी जगह दिमाग़ और दिल को फेरने की कोशिश की गई कोई दबाव या ज़ोर नहीं इस्तेमाल किया गया। खुद कट्टर बौद्ध होते हुए भी उसने दूसरे धर्मों के लिए आदर का भाव दिखाया। एक आदेश में उसने यह ऐलान किया

"सभी मत किसी-न-किसी वजह से आदर पाने के अधिकारी हैं। इस तरह का व्यवहार करने से आदमी अपने मत की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है साथ ही वह दूसरे मतों और लोगों की सेवा करता है।"

बौद्ध-धर्म हिंदुस्तान में काश्मीर से लेकर लंका तक बड़ी तेज़ी के साथ फैला। यह नेपाल में भी पैठा और बाद में तिब्बत और चीन और मंगोलिया तक पहुंचा। हिंदुस्तान में इसका एक नतीजा यह हुआ कि शाकाहार बढ़ा और शराब पीने से लोग बचने लगे। उस वक्त तक ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही मांस खाया करते थे और शराब पीते थे। पशुओं का बलिदान रोक दिया गया।

विदेशों से संपर्क होने और धर्म के प्रचारकों के बाहर जाने का नतीजा यह ज़रूर हुआ होगा कि हिंदुस्तान और बाहर के मुल्कों में व्यापार बढ़ा हो। खुतन (अब मध्य-एशिया में सिनक्यांग में) में हिंदुस्तानियों के एक उपनिवेश का बयान हमें हासिल हुआ है। हिंदुस्तानी विश्वविद्यालयों में ख़ासतौर से तक्षशिला में बाहर से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे।

अशोक एक बड़ा निर्माता भी था और यह कहा गया है कि उसने अपनी कुछ बड़ी-बड़ी इमारतों के बनवाने के लिए विदेशी कारीगरों को रख छोड़ा था। यह नतीजा एक जगह बने हुए कुछ ऐसे स्तंभों को देखकर निकाला गया है जो पर्सिपोलिस की याद दिलाते हैं। लेकिन इस शुरू की पत्थर की कारीगरी में और कांकड़ों में भी हिंदुस्तानी कला की परंपरा की ख़ास बातें देखने में आती हैं।

अशोक के पाटलिपुत्र के महल की बहुत-से खंभोंवाली एक इमारत के कुछ हिस्सों को कोई तीस साल हुए पुरातत्त्वज्ञों ने खोदकर निकाला था। हिंदुस्तान के पुरातत्त्व विभाग के डा. स्पूनर ने अपनी सरकारी रिपोर्ट में कहा

है कि यह "ऐसी सुरक्षित हालत में पाई गई है कि विश्वास नहीं होता। इसमें लगी हुई धन्नीरें वैसी ही चिकनी और ठीक हालत में हैं, जैसी वे उस दिन रही होंगी जब वे लगाई गई थीं यानी दो हजार साल से ज्यादा साल पहले। आगे चलकर वह यह भी लिखते हैं कि "पुरानी लकड़ी की ऐसी रक्षा—उनके किनारे इतने सही और पक्के थे कि उनके जोड़ों की लकीरों तक का पता न चलता था—देखकर सभी देखनेवालों की हैरत का ठिकाना न था। सब-की-सब चीजें ऐसी सच्ची और होशियारी से बनी थीं कि उससे अच्छा काम आज भी हो सकना मुमकिन नहीं है मुख्तसर यह है कि बनावट इतनी पक्की थी जितनी कि इस तरह के कामों में हो सकती है।"

देश के और हिस्सों में भी खुदाई की गई इमारतों में लकड़ी की धन्नीरें और कड़ियां मिली हैं जो बहुत सुरक्षित हालत में हैं। यह कहीं भी अचरज की बात होगी लेकिन हिंदुस्तान में जहां आबहवा उन्हें नष्ट कर देती है और जहां इतने तरह के कीड़ों से खाये जाने का उन्हें डर रहता है, यह और भी अचरज की बात है। लकड़ी की हिफ़ाज़त के लिए कोई मसाला इस्तेमाल ज़रूर होता रहा होगा यह क्या था यह मैं समझता हूं अब भी एक रहस्य है।

पाटलिपुत्र (पटना) और गया के बीच नालंदा विश्वविद्यालय के खंडहर मिलते हैं, जो बाद में मशहूर हुआ था। यह जाहिर नहीं होता कि कब से इसकी शुरुआत हुई। अशोक के ज़माने में इसका कोई पता नहीं मिलता।

अशोक की मृत्यु ईसा से पहले २३२ में साल में हुई, जब वह इक-तालीस साल राज्य कर चुका था। इसके बारे में एच० जी० वेल्स अपनी 'आउट-लाइन ऑफ़ हिस्टरी' में लिखते हैं—"बादशाहों के उसिमों हजार नामों में जिनसे इतिहास के सफ़े भरे हुए हैं, जिनमें बड़े-बड़े महाराजे और महा महिम और शहंशाह हैं, अशोक का नाम अकेला चमक रहा है इस तरह से चमक रहा है जैसे कोई सितारा हो। वोलगा से लेकर जापान तक उसका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है। चीन तिब्बत और हिंदुस्तान भी (जहां उसकी शिक्षा अमरचे त्याग दी गई है) उसके बड़प्पन की परंपरा की रक्षा करते हैं। आज के जितने जिंदा लोग उसकी स्मृति को बनाये हुए हैं उतने लोगों ने कांस्टेंटाइन और शार्लमेन के नाम कभी सुने भी न होंगे।"

# ५
# युगों का दौर

## १ गुप्त-काल में राष्ट्रीयता और साम्राज्यवाद

मौर्य-साम्राज्य का अंत हुआ और उसकी जगह शुंग-वंश ने ली। इसका राज्य उसके मुक़ाबले में बहुत छोटे क्षेत्र पर था। दक्खिन में बड़े बड़े राज्य उठ रहे थे और उत्तर में बाख्त्री या भारतीय-यूनानी क़ाबुल से पंजाब तक फैल गये थे। मेनांडर के नेतृत्व में उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर हमला किया लेकिन मार भगाये गये। खुद मेनांडर पर हिंदुस्तान के रंग-ढंग और वातावरण का असर पड़ा और वह बौद्ध बन गया और एक मशहूर बौद्ध हुआ। आम बौद्ध-परंपरा में यह राजा मिलिंद कहलाया और इसे क़रीब-क़रीब संत का पद मिला। हिंदुस्तानी और यूनानी संस्कृतियों के मेल-जोल से गंधार की यानी अफ़ग़ानी सरहदी सूबे की यूनानी-बौद्ध कला का जन्म हुआ।

एक पत्थर की लाट है जो 'हेलियोदोर की लाट' के नाम से मशहूर है और जिसका वक़्त ईसा से पहले की पहली सदी है। यह मध्य हिंदुस्तान में सांची के क़रीब बेसनगर में है और इस पर संस्कृत में एक लेख खुदा हुआ है। इससे हमें इस बात की झलक मिलती है कि किस तरह यूनानी जो हिंदुस्तान के सरहद पर आये थे हिंदुस्तानी बन रहे थे और हिंदुस्तानी संस्कृति में जज़्ब हो रहे थे। इस लेख का तर्जुमा इस तरह किया गया है :

"देवताओं के देव वासुदेव (विष्णु) के इस गरुड़-स्तंभ को दिया के बेटे तक्षशिला-निवासी विष्णु-पूजक हेलियोदोरस ने स्थापित किया जो यूनान के महाराज एंटियाल्किडास के यहां से परम रक्षक महाराज काशिपुत्र भागभद्र के यहां उनके राज्य-काल के चौदहवें वर्ष में राजदूत होकर आये।

"तीन शाश्वत सिद्धांत जिनका अच्छी तरह पालन करने से स्वर्ग मिलता है है — आत्म-संयम आत्म-त्याग (दान) और सत्यनिष्ठा।

मध्य-एशिया में शक या सिथियन लोग (सीस्तान = शकस्तान) आक्सस (वक्षु) नदी की घाटी में बस गये थे। यूह-ची दूर पूरब से आये और

उन्होंने इन शकों को हिंदुस्तान की तरफ़ ढकेला। ये शक बौद्ध और हिंदू बन गये। यूह-चियों में से एक क़बीला कुशानों का था। इसने शकों के ऊपर अधिकार करके अपनी ताक़त फैलाई और उत्तरी हिंदुस्तान पर आया। शकों को कुशानों ने हराया और दक्खिन की तरफ़ ढकेला। ये काठियावाड़ और दक्खिन में चले गये। इसके बाद कुशानों ने सारे उत्तरी हिंदुस्तान पर और मध्य-एशिया के एक बड़े हिस्से पर अपना साम्राज्य क़ायम कर लिया। उनमें से कुछ ने हिंदू-धर्म अख्तियार कर लिया लेकिन ज्यादातर बौद्ध बने और उनका सबसे मशहूर राजा कनिष्क बौद्ध-कथाओं का एक नायक है और उसके बड़े-बड़े कारनामों और लोक-हित के कामों का इन कथाओं में जिक्र हुआ है। अगरचे यह बौद्ध था लेकिन जान पड़ता है कि राष्ट्र का धर्म कुछ मिला-जुला मामला था जिसमें जरथुष्ट्र के धर्म का भी हाथ था। यह सरहदी हुकूमत जो कुशान साम्राज्य कहलाई और जिसकी राजधानी मौजूदा पेशावर और तक्षशिला के पुराने विश्वविद्यालय के पास ही थी ऐसी जगह बन गई, जहां बहुत सी क़ौमों के लोग इकट्ठा हुआ करते थे। यहां पर हिंदुस्तानी लोग सिदियनों यूह-चियों ईरानियों बाख्त्री यूनानियों तुर्कों और चीनियों से मिलते-जुलते थे और इन जुदा-जुदा संस्कृतियों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ता था। इनके आपस के प्रभावों का नतीजा यह हुआ कि मूर्ति-कला की एक नई शैली निकल पड़ी। इसी जमाने में जहांतक इतिहास बताता है चीन और हिंदुस्तान के बीच पहले संपर्क हुए और ६४ ई॰ में चीन से यहां एलची आये। चीन से हिंदुस्तान आये तोहफ़ों में छोटे लेकिन बहुत पसंद आनेवाले तोहफ़े थे आड़ू और नाशपाती के दरख्त। ठीक गोबी के रेगिस्तान के किनारे पर, तुर्फ़ान और कूचा में हिंदुस्तानी चीनी और ईरानी संस्कृतियों का बहुत आकर्षक मेल क़ायम हुआ।

कुशानों के जमाने में बौद्ध-धर्म दो टुकड़ों में बंट गया—एक महायान और दूसरा हीनयान कहलाया—और दोनों में जैसाकि हिंदुस्तान का क़ायदा रहा है बड़े विवाद होते थे और बड़ी-बड़ी सभाओं में जिनमें सारे हिंदुस्तान से नुमाइंदे इकट्ठा होते थे झगड़े के विषयों को लेकर बहसें हुआ करती थीं। काश्मीर इस साम्राज्य के बीच के हिस्से के पास था और यहां भी मुबाहसे होते थे और बहुत-सी सांस्कृतिक प्रवृत्तियां देखने में आती थीं। इन विवादों में एक नाम बहुत आगे आता है वह है नागार्जुन का जो पहली सदी ईसवी में हुआ था। यह बहुत ऊंचे पाये का आदमी था और बौद्ध शास्त्रों का और हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े का बहुत बड़ा जानकार था और इसी

की वजह से हिंदुस्तान में महायान-मत की जीत हुई। महायान के ही सिद्धांत चीन में फैले लंका और बरमा हीनयान के सिद्धांतों को मानते रहे।

कुषाण लोग हिंदुस्तानी बन गये थे और हिंदुस्तानी संस्कृति के संरक्षक थे। फिर भी कौमी विरोध की धारा भीतर-ही-भीतर इस हुकूमत के खिलाफ़ बह रही थी और जब बाद में नई जातियां हिंदुस्तान में आईं, तब इस कौमी और विदेशियों का विरोध करनेवाले आंदोलन ने चौथी सदी ईसवी में एक रूप ग्रहण कर लिया। एक दूसरे बड़े शासक ने जिसका भी नाम चंद्रगुप्त था नये हमला करनेवालों को मार भगाया और एक ताक़तवर और विस्तृत साम्राज्य क़ायम कर लिया।

इस तरह से साम्राज्यवादी गुप्तों के ज़माने का ३२ ई में आरंभ होता है जिसमें एक के बाद एक कई बड़े शासक पैदा होते हैं जो न महज़ युद्ध में कामयाब होते हैं, बल्कि शांति की कलाओं में भी सफलता दिखाते हैं। बार-बार के हमलों ने विदेशियों के खिलाफ़ एक मज़बूत भावना पैदा कर दी थी और देश के पुराने ब्राह्मण-क्षत्रिय इस बात पर मजबूर हुए कि अपने देश की और संस्कृति की हिफ़ाज़त के लिए कुछ करें। जो विदेशी लोग यहां बस हो गये थे उनको कुबूल कर लिया गया लेकिन सभी नये आनेवालों को ज़ोरदार विरोध का सामना करना पड़ा और इस बात की कोशिश की गई कि पुराने ब्राह्मण-आदर्शों की नींव पर एक गठी हुई हुकूमत क़ायम की जाय। लेकिन अब वह पुराना आत्म-विश्वास जा रहा था और इन आदर्शों में एक ऐसी कड़ाई आ गई, जो उनके स्वभाव के खिलाफ़ थी। हिंदुस्तान शारीरिक और मानसिक दोनों ही अवस्थाओं को देखते हुए, जैसे किसी खोल के भीतर आ गया था।

फिर भी यह खोल काफ़ी गहरा और चौड़ा था। शुरू में जिस ज़माने में आर्य यहां—जिसे उन्होंने आर्यावर्त या भारतवर्ष कहा आये—उस ज़माने में हिंदुस्तान के सामने सवाल यह था कि इस नई जाति और संस्कृति में और इस देश की पुरानी जाति और सभ्यता में समन्वय कैसे क़ायम हो। हिंदुस्तान के दिमाग़ ने इसके हल करने पर ध्यान दिया और मिली-जुली भारतीय आर्य-संस्कृति की बुनियाद पर एक क़ायम रहनेवाला हल पेश किया। दूसरे विदेशी लोग यहां आये और बस होते गये। उन्होंने कुछ खास फ़र्क पैदा न किया। अगरचे हिंदुस्तान के दूसरे मुल्कों से व्यापार के ज़रिये और दूसरी तरह के भी ताल्लुक़ थे फिर भी वह अपने ही मसलों में ग़र्क रहा उसने बाहर क्या हो रहा है, इस पर कम ध्यान दिया। लेकिन अब जो समय-समय पर अजनबी लोगों के हमले हो रहे थे जिनके अनोखे रीति-रिवाज थे उन्होंने उसे

हिस्सा लिया और वह अब इन हमलों की तरफ़ से लापरवाह नहीं हो सकता था क्योंकि वे महज उसके राजनैतिक संगठन को ही नहीं तोड़ रहे थे बल्कि उसके सांस्कृतिक आदर्शों को भी खतरे में डाल रहे थे और उसकी सामाजिक व्यवस्था को भी। इस प्रतिक्रिया ने क़ौमी रूप लिया और इसके साथ क़ौमियत की ताक़त भी थी और तंग-नज़री भी। धर्म और फ़िलसफ़ा इतिहास और परंपरा रीति-रिवाज और सामाजिक व्यवस्था जो उस ज़माने के हिंदुस्तान की ज़िंदगी को अपने घेरे में लिये हुए थी और जिसे ब्राह्मण-धर्म या (बाद में व्यवहार में आये हुए शब्द द्वारा) हिंदू-धर्म कह सकते हैं, इस क़ौमियत का प्रतीक बना। यह दरअसल एक क़ौमी मज़हब था और यह उन सब जातीय और सांस्कृतिक गहरी भावनाओं के मनुकूल था जो आज सब जगह क़ौमियत की बुनियाद में हैं। बौद्ध-धर्म को भी जो हिंदुस्तानी विचार से उपजा था अपनी क़ौमी पृष्ठभूमि थी। उसके लिए हिंदुस्तान वह देश था जहां बुद्ध रहे थे उन्होंने उपदेश दिया था और जहां वह मरे थे। लेकिन मूल में बौद्ध-धर्म अंतर्राष्ट्रीय था सारी दुनिया का धर्म था और जैसे-जैसे इसने विकास पाया और फैला वैसे-वैसे यह अधिकाधिक अंतर्राष्ट्रीय होता गया। इस तरह पुराने ब्राह्मण-धर्म के लिए यह स्वाभाविक था कि वह बार-बार क़ौमी जागृतियों का प्रतीक बने।

यह धर्म और फ़िलसफ़ा हिंदुस्तान के मुख्तलिफ़ धर्मों और जातीय तत्त्वों की तरफ़ तो रवादारी और उदारता का बरताव करता था और उन्हें अपने विस्तृत संगठन में बराबर जज़्ब करता जाता था लेकिन विदेशियों के खिलाफ़ इसकी उग्रता बढ़ती जाती थी और इसने अपने को उनके संपर्क से बचाये रखना चाहा। ऐसा करने से जो क़ौमियत की भावना उठी है वह अक्सर साम्राज्यवाद में बदल गई है जैसा कि अक्सर ताक़त के बढ़ जाने से होता है। हालांकि गुप्तों का ज़माना खूब बढ़ी तरक़्क़ी और तहज़ीब और कला-कला का ज़माना था फिर भी इसने बड़ी तेज़ी से साम्राज्यवाद की प्रवृत्तियां दिखाईं। इस वंश के एक बड़े शासक समुद्रगुप्त को हिंदुस्तान का नपोलियन कहा गया है। साहित्य और कला के लिहाज़ से यह ज़माना बड़ा ही शानदार ज़माना रहा है।

चौथी सदी से लेकर कोई डेढ़ सौ साल तक गुप्त-वंश ने उत्तर में एक बड़े शक्तिशाली और खुशहाल राज्य के ऊपर हुकूमत की। क़रीब डेढ़ सौ साल तक और उनके उत्तराधिकारी यह राज्य चलाते रहे, लेकिन वे अपनी रक्षा करने में लगे रहे और उनका साम्राज्य सिमटता और रफ़्ता-रफ़्ता छोटा होता रहा। मध्य-एशिया से नये हमलावर हिंदुस्तान में उतर रहे थे और इस पर हमले कर रहे थे। ये लोग सफ़ेद हूण थे और इन्होंने मुल्क में बड़ी लूट-मार

की उसी तरह, जिस तरह एटिला यूरोप में कर रहा था। उनके बर्बर व्यवहार और पिशाची निर्दयता ने आखिरकार लोगों को जगाया और यशोवर्मन के नेतृत्व में मिल-जुलकर लोगों ने उन पर हमला किया। हूणों की ताकत तोड़ दी गई और उनके सरदार मिहिरगुल को कैद कर लिया गया। लेकिन गुप्तों के वंशज बालादित्य ने अपने मुल्क के रिवाज के अनुसार उसके साथ उदारता का बरताव किया और उसे हिंदुस्तान से वापस जाने दिया। मिहिरगुल ने इस बरताव का यह बदला दिया कि बाद में वह फिर लौटा और उसने अपने मेहरबान पर कपट से हमला किया।

लेकिन हिंदुस्तान में हूणों का राज्य थोड़े दिनों का था—कोई आधी सदी का। उनमें से बहुत-से यहीं रह गये और छोटे-छोटे सरदार बन बैठे। ये अक्सर लोगों को सताते रहे, लेकिन अंत में हिंदुस्तान की जनता के समुंदर में ये भी समा गये। इनमें से कुछ सरदार सातवीं सदी के आरंभ में बड़े उग्र हो गये। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने उन्हें कुचल दिया और बाद में उसने एक शक्तिशाली राज्य का खूब संगठन किया जो सारे उत्तरी हिंदुस्तान और मध्य-एशिया तक फैला हुआ था। वह बड़ा उत्साही बौद्ध था लेकिन उसका मत महायानी बौद्ध-धर्म था जो बहुत-कुछ हिंदू-धर्म के निकट था। उसने बौद्ध धर्म और हिंदू-धर्म दोनों को ही मदद दी। इसीके जमाने में मशहूर चीनी यात्री ह्वेन-त्सांग (य्वान-च्वांग) हिंदुस्तान में (६२९ ई में) आया था। हर्षवर्धन कवि और नाटककार भी था और उसके दरबार में बहुत-से कलाकार और कवि रहते थे और उसकी राजधानी उज्जयिनी सांस्कृतिक कामों का एक मशहूर केंद्र बन गई थी। हर्ष ६४८ ई में मरा। यह करीब-करीब वही वक्त था जब इस्लाम अरब के रेगिस्तान में उठ रहा था और बाद में बड़ी तेजी से अफ्रीका और एशिया में फैलनेवाला था।

## २ दक्खिनी हिंदुस्तान

मौर्य-साम्राज्य के सिमिटकर अंत हो जाने के एक हजार से ज्यादा साल बाद तक दक्खिनी हिंदुस्तान में बड़े-बड़े राज्य पनपे। आंध्रों ने शकों को हराया था बाद में ये कुशाणों के समकालीन रहे। इसके बाद पश्चिम में चालुक्य-साम्राज्य कायम हुआ और इसके पीछे राष्ट्रकूट आये। धुर दक्खिन में पल्लवों का राज्य था और यहीं से ज्यादातर वे हिंदुस्तानी बाहर गये जिन्होंने उपनिवेश कायम किये। इसके बाद चोळ-साम्राज्य बना और वह सारे प्रायद्वीप पर छा गया और इसने लंका और बरमा तक पर विजय हासिल की। आखिरी बड़ा चोळ-राजा राजेंद्र था जिसकी १०४४ ई में मौत हुई।

दक्खिनी हिंदुस्तान अपनी बारीक दस्तकारी और समुद्री व्यापार के लिए खासतौर पर मशहूर था। इसकी समुद्री ताक़तों में गिनती थी और यहां के जहाज़ दूर देशों तक सामान पहुंचाया करते थे। यूनानियों की यहां बस्ती थी और रोम के सिक्के भी यहां पाये गये हैं। चालुक्य राज्य और ईरान के सासानी शासकों के बीच आपस में एलची आते-जाते थे।

उत्तरी हिंदुस्तान में जो बार-बार हमले होते रहते थे उनका कोई सीधा असर दक्खिन पर नहीं पड़ता था। यह ज़रूर था कि उत्तर से बहुत-से लोग जिनमें कारीगर, बढ़ई और शिल्पी भी थे दक्खिन में आकर बस जाया करते थे। इस तरह दक्खिन पुरानी कला-परंपरा का मरकज़ बन गया और उत्तर में नई-नई धाराएं हमलावरों के साथ-साथ आती रहीं। यह सिलसिला बाद की सदियों में और तेज़ हो गया यहांतक कि दक्खिन हिंदू कट्टरपन का गढ़ बन गया।

### ६ अमन के साथ विकास और लड़ाई के तरीक़े

बार-बार के हमलों का और एक साम्राज्य के बाद दूसरे साम्राज्य के आने का जो मुख़्तसर बयान किया गया है उससे हिंदुस्तान में क्या हो रहा था इसके बारे में ग़लत ख़याल पैदा हो सकता है। इस बात को याद रखना चाहिए कि यह ज़माना एक हज़ार या उससे ज़्यादा साल का है और बीच-बीच में लंबे वक़्त आये हैं, जब मुल्क में अमन रहा है और हुकूमत में तरतीब। मौर्य कुशाण गुप्त और दक्खिन में आंध्र चालुक्य राष्ट्रकूट और और राज्य ऐसे हुए हैं जो दो-दो तीन-तीन सौ साल तक क़ायम रहे हैं—अंग्रेज़ी-साम्राज्य को यहां जितना ज़माना गुज़रा है आमतौर पर उससे ज़्यादा लंबे अरसों तक। इनमें से क़रीब-क़रीब सब मुल्की हुकूमतें रही हैं और कुषाणों तक जैसे लोग जो उत्तरी सरहद के पार से आये थे बहुत जल्द इस देश के हो रहे थे उन्होंने यहां की सांस्कृतिक परंपरा को अपना लिया था और उनकी जड़ें यहीं थीं। बराबर की हुकूमतों से सरहदी छेड़-छाड़ और कभी-कभी संघर्ष होते रहते थे लेकिन मुल्क की आम हालत अमन-अमान की थी और हाकिम कला और संस्कृति की प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने में अपना ख़ास बड़प्पन समझते थे। ये प्रवृत्तियां राज्यों की हदों तक सीमित नहीं रहती थीं क्योंकि सारे हिंदुस्तान की साहित्य और संस्कृति के लिहाज़ से एक ही भूमिका थी। धर्म और फ़िलसफ़े के विवाद भी तुरंत मुल्क में फैल जाते थे और उत्तर और दक्खिन सभी जगह उन पर चर्चा होने लगती थी।

उस वक़्त भी जबकि दो राज्यों में लड़ाई होती रहती थी या भीतरी राजनैतिक इनक़लाब की हालत होती थी यहांतक जनता के धंधे मे

उनसे बहुत कम छेड़-छाड़ की जाती थी। इस बात के लिखे प्रमाण मिले हैं कि लड़नेवाले शासकों में और खुदमुख्तार गांवों के मुखियों के बीच ऐसे मुआहदे हुए हैं कि फ़सल को किसी तरह का नुकसान न पहुंचाया जायगा और अगर अनजाने में नुकसान पहुंच गया तो उसका दूसरे फ़रीक़ को मुआवज़ा देना पड़ जायगा। ज़ाहिर है कि यह मुआहदा बाहर से आनेवाले हमलावरों की तरफ़ से नहीं हो सकता था और न शायद सचमुच ताक़त हासिल करने के लिए लड़ी गई लड़ाई में यह चीज़ चल सकती थी।

लड़ाई का पुराना और कड़ा भारतीय आर्य-सिद्धांत यह था कि कोई अनीति के तरीक़े अख़्तियार न किये जायेंगे और हक़ के लिए लड़ी गई लड़ाई में नीति के तरीक़े बरते जायेंगे। अमल में यह सिद्धांत कहांतक माना जाता था, यह दूसरी ही बात है। ज़हरीले तीरों का इस्तेमाल मना था। इसी तरह छुपे हुए हथियारों का सोते हुए या शरण में आये हुए लोगों को मारना मना किया गया था। इसका एहतमाम था कि अच्छी इमारतों को कोई नुकसान न पहुंचाया जाय। लेकिन इस मत में चाणक्य के ज़माने में ही तब्दीली शुरू हो गई थी और अगर दुश्मन को हराने के लिए ज़रूरी हो तो और भी विनाशकारी और छल के तरीक़ों का इस्तेमाल किया जाना वह पसंद करता था।

यह एक दिलचस्प बात है कि चाणक्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में लड़ाई के हथियारों का ज़िक्र करते हुए ऐसे यंत्रों का बयान किया है जो एक साथ सैकड़ों आदमियों की जान ले सकते थे और साथ ही किसी तरह के विस्फोटक का भी ज़िक्र है। उसने खाई खोदकर लड़ाई करने के हवाले दिये हैं। इन सब के ठीक-ठीक मानी क्या होते हैं अब कह सकना मुमकिन नहीं है। शायद ये हवाले किन्हीं परंपरा से चली आई कहानियों या तिलिस्मी लड़ाइयों के हैं। इनसे बारूद का हवाला हो सकता है ऐसा यक़ीन करने की कोई वजह नहीं है।

अपने लंबे इतिहास के दौर में हिंदुस्तान ने बहुत-से संकट के ज़माने देखे हैं जब उसे आग और तलवार और अकाल से पैदा होनेवाले विनाशों का सामना करना पड़ा है और इस ज़माने में भीतरी व्यवस्था ख़त्म हो गई है। लेकिन इस इतिहास की एक व्यापक जांच से यह पता चलेगा कि लंबे अरसों तक यहां जो व्यवस्था और शांति की ज़िंदगी रही है वैसी यूरोप में नहीं रही है। और यह बात तुर्कों और अफ़ग़ानों के हमलों के बाद की सदियों के बारे में भी सही उतरती है ठीक उस वक़्त तक जब मुग़ल साम्राज्य टूटता है। यह ख़याल कि अंग्रेज़ी राज्य ने पहले-पहले हिंदुस्तान में

अमन क़ायम किया एक बड़ा ही अनोखा और बाके का सवाल है। यह सही है कि जब अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान में अपनी हुकूमत क़ायम की उस वक्त यह मुल्क बड़ी पस्ती की हालत में था और राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था टूट गई थी। और दरअसल यही वजह थी कि यह राज्य इस देश में क़ायम हो सका।

## ४ आज़ादी के लिए हिंदुस्तान की उमंग

पूरब ने तूफ़ान के आगे सिर झुका लिया—
सब्र और गहरी लापरवाही के साथ
उसने फ़ौजों को सिर के ऊपर से गुज़र जाने दिया
और फिर वह विचार में डूब गया।

ऐसा कवि ने कहा है और उसकी ये पंक्तियां अकसर उद्धृत की जाती हैं। यह सही है कि पूरब या कम-से-कम उसका वह हिस्सा जिसे हिंदुस्तान कहते हैं विचार में डूबना पसंद करता रहा है और अकसर उन बातों पर विचार करने का उसे शौक़ रहा है जिन्हें कुछ ऐसे लोग जो अपने को अमल-पसंद कहेंगे,बेतुका और बेमतलब समझेंगे। उसने हमेशा विचारों और विचार करनेवालों की—आला दिमाग़वालों की—क़द्र की है और तलवार चलानेवालों और पैसेवालों को इनसे ऊंचा समझने से बराबर इन्कार किया है। अपनी पस्ती के दिनों में भी वह विचार का तरफ़दार रहा है और इससे उसे कुछ तसल्ली हासिल हुई है।

लेकिन यह बात सही नहीं है कि हिंदुस्तान ने कभी भी सब्र के साथ तूफ़ान के आगे सिर झुका दिया है या विदेशी फ़ौजों के सिर पर से गुज़रने की तरफ़ से लापरवाह रहा है। उसने उनका हमेशा मुक़ाबला किया है—कभी कामयाबी के साथ और कभी नाकाम होकर—और जब वह नाकाम भी रहा है तो उसने अपनी नाकामी को याद रखा है और दूसरी कोशिश के लिए अपने को तैयार करता रहा है। उसने दो तरीक़े अख्तियार किये हैं—एक तो यह कि वह लड़ा है और उसने हमलावरों को मार भगाया है, दूसरा यह कि जो भगाये नहीं जा सके उनको उसने अपने में जज़्ब कर लेने की कोशिश की है। उसने सिकंदर की फ़ौज का बड़ी कामयाबी से मुक़ाबला किया और उसकी मौत के ठीक बाद उत्तर से उन फ़ौजियों को जिन्हें यूनानियों ने यहां मुक़र्रिर कर रखा था मार भगाया है। बाद में उसने भारतीय-यूनानियों और भारतीय-सिदियनों को जज़्ब करके आखिरकार फिर क़ौमी एकता क़ायम कर ली है। वह कई पीढ़ियों तक हूणों से लड़ता रहा है और

उन्हें अंत में मार भगाया है। जो बच रहे उन्हें उसने फिर अपने में जज्ब कर लिया। जब अरब आये तो वे सिंधु नदी के पास रुक गये। तुर्क लोग और अफ़ग़ानी बहुत रफ़्ता रफ़्ता आगे फैले। दिल्ली के तख़्त पर अपने को मज़बूती से क़ायम करने में उन्हें सदियां लग गईं। यह एक अटूट और लंबा संघर्ष रहा है और जहां एक तरफ़ यह संघर्ष चलता रहता था दूसरी तरफ़ जज्ब करने और उन्हें हिंदुस्तानी बनाने की क्रिया भी जारी रहती थी जिसका नतीजा यह होता था कि हमलावर वैसे ही हिंदुस्तानी बन जाते थे जैसेकि और लोग थे। अकबर मुख़्तलिफ़ तत्वों के समन्वय के पुराने हिंदुस्तानी आदर्श का नुमाइंदा बन गया और इस मुल्कवालों को एक आम क़ौमियत के अंदर लाने की कोशिश में लगा। चूंकि वह हिंदुस्तान का बना रहा इसलिए हिंदुस्तान ने भी उसे अपनाया बावजूद इसके कि वह बाहर से आया हुआ था। यही वजह थी कि वह अच्छा निर्माण कर सका और उसने एक शानदार सल्तनत की नींव डाली। जबतक उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति को बरता और क़ौमियत की जेहनियत बनाये रहे तबतक उनकी सल्तनत क़ायम रही। जब वे इससे अलग हट गये और क़ौमियत के विकास की सारी प्रवृत्ति को रोकने लगे तब वे कमज़ोर पड़ गये और सारी सल्तनत की धज्जियां उड़ गईं। नई तहरीकें उठीं जिनमें तंग-नज़री थी लेकिन जो उभरती हुई क़ौमियत की नुमाइंदगी करती थीं और अगरचे वे इतनी मज़बूत नहीं थीं कि पायदार हुकूमत क़ायम कर सकें फिर भी वे मुग़लों की सल्तनत को नाबूद करने-भर को काफ़ी ताक़तवर थीं। ये कुछ वक़्त तक कामयाब रहीं लेकिन उनकी निगाह गुज़रे हुए ज़माने पर बहुत ज़्यादा थी और उस ज़माने को फिर से ज़िंदा करने के ख़याल में डूबी थीं। उन्होंने यह नहीं महसूस किया कि बहुत-कुछ जो उसके बाद गुज़र चुका था उसकी तरफ़ से आंखें नहीं मूंदी जा सकती थीं अतीत वर्तमान की जगह हरगिज़ नहीं ले सकता था और यह वर्तमान भी उनके ज़माने के हिंदुस्तान में ऐसा था जिसमें सड़ांध पैदा हो गई थी। यह बदलती हुई दुनिया से अलग-थलग जा पड़ा था और हिंदुस्तान बहुत पीछे पड़ गया था। उन्होंने इस बात का ठीक-ठीक अनुमान न किया कि एक नई और जीवट की दुनिया पच्छिम में उठ रही थी जिसका ज़ाविया नया था और जिसके पास नई हिकमतें थीं और यह कि एक नई ताक़त—यानी ब्रिटिश—उस नई दुनिया की जिससे वे इतने बेख़बर थे नुमाइंदगी करती थी। ब्रिटिश जीते लेकिन मुश्किल से उन्होंने अपने को उत्तर में क़ायम किया था कि बलवा हो गया और यह आज़ादी की लड़ाई बन गया और इसने अंग्रेज़ी हुकूमत का क़रीब-क़रीब ख़ात्मा कर दिया। आज़ादी

की स्वतन्त्रता की उमंग हमेशा रही है और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाने से बराबर इन्कार किया गया है।

## ५ तरक्क़ी बनाम हिफ़ाज़त

हम एक अलग-अलग रहनेवाले लोग हैं, अपने गुज़रे हुए ज़माने और अपनी विरासत का हमें नाज़ रहा है और इनकी हिफ़ाज़त करने के लिए हम दीवारें और बाड़ें खड़ी करते रहे हैं। लेकिन जाति-चेतना के और जात-पांत की बढ़ती हुई सख़्ती के बावजूद हम और लोगों की ही तरह जो अपनी जातीय विशुद्धता का घमंड रखते हैं अजीब वर्ण-संकर जाति बन गये हैं जिसमें आर्य द्रविड़ तूरानी सेमेटिक मंगोल—सभी जातियों का मेल है। आर्यों की यहां कई लहरें आईं और वे द्रविड़ों में घुल-मिल गये इसके बाद हज़ारों बरसों तक अपना घर-बार छोड़कर भागनेवाली अन्य जातियों तथा क़बीलों की लहरें आती रहीं—मीडियन ईरानी यूनानी बाख़्त्री पार्थियन शक या सिथियन कुशान या यूह ची तुर्क-मंगोल और और जातियां जो बड़ी या छोटी संख्या में आईं और जिन्होंने हिंदुस्तान में अपना घर कर लिया। डाडवेल अपनी किताब 'इंडिया' में कहते हैं—"ख़ूंख़ार और लड़ाकू जातियों ने बार-बार इस (हिंदुस्तान) के उत्तरी मैदान पर हमला किया इसके राजाओं को परास्त किया इसके शहरों पर क़ब्ज़ा किया या उन्हें बरबाद कर दिया नये राज्य बनाये अपनी नई राजधानियां खड़ी कीं और फिर जनता की महान लहर में समा गये और छोड़ गये अपनी औलाद में क्षीण होता हुआ कुछ विदेशी रक्त या विदेशी रीति रिवाज के कुछ नामे और वे भी जल्द ही अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के ज़बरदस्त प्रभाव की वजह से उसीके अनुरूप हो गये।"

इस ज़बरदस्त वातावरण का क्या कारण रहा है? कुछ अंश में तो यह भूगोल और मौसम और हिंदुस्तान की हवा का ही असर था। लेकिन यक़ीनन बहुत ज़्यादा असर था यह एक ज़बरदस्त जज़्बे का एक गहरी प्रेरणा का या ज़िंदगी के महत्त्व के ख़याल का जिसने हिंदुस्तान की अंतश्चेतना पर अपनी छाप उस वक़्त डाल दी थी जबकि इतिहास के उषा-काल में अभी यह ताज़ा और थोड़ी उम्र का ही था। यह छाप इतनी गहरी थी कि बराबर क़ायम रही और इससे जो लोग भी संपर्क में आये उन पर इसने असर डाला और इस तरह व चाहे कितने मुख़्तलिफ़ रहे हों वे भी इसके घेरे में आकर जज़्ब हो गये। क्या यह जज़्बा यह विचार, यह ज़िंदा चिनगारी थी जिसने इस मुल्क में पनपनेवाली तहज़ीब को रोशन

उन्हें अंत में मार भगाया है। जो बच रहे उन्हें उसने फिर अपने में जज़्ब कर लिया। जब अरब आये तो वे सिंधु नदी के पास रुक गये। तुर्क लोग और अफ़ग़ानी बहुत रफ़्ता रफ़्ता आगे फैले। दिल्ली के तख़्त पर अपने को मज़बूती से क़ायम करने में उन्हें सदियां लग गई। यह एक अटूट और लंबा संघर्ष रहा है और जहां एक तरफ़ यह संघर्ष चलता रहता था दूसरी तरफ़ जज़्ब करने और उन्हें हिंदुस्तानी बनाने की क्रिया भी जारी रहती थी जिसका नतीजा यह होता था कि हमलावर वैसे ही हिंदुस्तानी बन जाते थे जैसे कि और लोग थे। अकबर मुख़्तलिफ़ तत्त्वों के समन्वय के पुराने हिंदुस्तानी आदर्श का नुमाइंदा बन गया और इस मुल्कवालों को एक आम क़ौमियत के अंदर लाने की कोशिश में लगा। चूंकि वह हिंदुस्तान का बना रहा इसलिए हिंदुस्तान ने भी उसे अपनाया बावजूद इसके कि वह बाहर से आया हुआ था। यही वजह थी कि वह अच्छा निर्माण कर सका और उसने एक शानदार सल्तनत की नींव डाली। जबतक उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति को बरता और क़ौमियत की बेहूनियत बनाये रहे तबतक उनकी सल्तनत क़ायम रही। जब वे इससे अलग हट गये और क़ौमियत के विकास की सारी प्रवृत्ति को रोकने लगे तब वे कमज़ोर पड़ गये और सारी सल्तनत की धज्जियां उड़ गईं। नई तहरीकें उठीं जिनमें तंग-नज़री थी लेकिन जो उभर रही हुई क़ौमियत की नुमाइंदगी करती थीं और अगरचे वे इतनी मज़बूत नहीं थीं कि पायदार हुकूमत क़ायम कर सकें फिर भी वे मुग़लों की सल्तनत को नाबूद करने-भर को क़ाफ़ी ज़बर थीं। वे कुछ वक़्त तक कामयाब रहीं लेकिन उनकी निगाह गुज़रे हुए ज़माने पर बहुत ज़्यादा थी और उस ज़माने को फिर से ज़िंदा करने के ख़याल में डूबी थीं। उन्होंने यह नहीं महसूस किया कि बहुत-कुछ जो उसके बाद गुज़र चुका था उसकी तरफ़ से आंखें नहीं मूंदी जा सकती थीं अतीत वर्तमान की जगह हरगिज़ नहीं ले सकता था और यह वर्तमान भी उनके ज़माने के हिंदुस्तान में ऐसा था जिसमें सड़ांध पैदा हो गई थी। यह बदलती हुई दुनिया से अलग-थलग जा पड़ा था और हिंदुस्तान बहुत पीछे पड़ गया था। उन्होंने इस बात का ठीक-ठीक अनुमान न किया कि एक नई और बीगट की दुनिया पश्चिम में उठ रही थी जिसका नज़रिया नया था और जिसके पास नई हिकमतें थीं और यह कि एक नई ताक़त—यानी ब्रिटिश —उस नई दुनिया की जिससे वे इतने बेख़बर थे नुमाइंदगी करती थी। ब्रिटिश जीते लेकिन मुश्किल से उन्होंने अपने को उत्तर में क़ायम किया था कि बलवा हो गया और यह आज़ादी की लड़ाई बन गया और इसने अंग्रेज़ी हुकूमत का क़रीब-क़रीब ख़ात्मा कर दिया। आज़ादी

की स्वतंत्रता की उमंग हमेशा रही है और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाने से बराबर इन्कार किया गया है।

### ५ तरक्क़ी बनाम हिफ़ाज़त

हम एक अलग-अलग रहनेवाले लोग हैं अपने गुजरे हुए ज़माने और अपनी विरासत का हमें नाज़ रहा है और इनकी हिफ़ाज़त करने के लिए हम दीवारें और बाड़ें खड़ी करते रहे हैं। लेकिन जाति-चेतना के और जात-पांत की बढ़ती हुई सख्ती के बावजूद हम और लोगों की ही तरह जो अपनी जातीय विशुद्धता का घमंड रखते हैं अजीब वर्ण-संकर जाति बन गये हैं जिसमें आर्य द्रविड़ तूरानी सेमेटिक मंगोल—सभी जातियों का योग है। आर्यों की यहां कई लहरें आईं और वे द्रविड़ों में घुल-मिल गये इसके बाद हज़ारों बरसों तक अपना घर-बार छोड़कर आनेवाली अन्य जातियों तथा क़बीलों की लहरें आती रहीं—मीडियन ईरानी यूनानी बाख़्त्री पार्थियन शक या सिथियन कुशान या यूह ची तुर्क-मंगोल और और जातियां जो बड़ी या छोटी संख्या में आईं और जिन्होंने हिंदुस्तान में अपना घर कर लिया। डाडवेल अपनी किताब 'इंडिया' में कहते हैं— 'खूंखार और लड़ाकू जातियों ने बार-बार इस (हिंदुस्तान) के उत्तरी मैदान पर हमला किया इसके राजाओं को परास्त किया इसके शहरों पर क़ब्ज़ा किया या उन्हें बरबाद कर दिया नये राज्य बनाये अपनी नई राजधानियां खड़ी कीं और फिर जनता की महान लहर में समा गये और छोड़ गये अपनी औलाद में क्षीण होता हुआ कुछ विदेशी रक्त या विदेशी रीति-रिवाज के कुछ धागे और ये भी जल्द ही अपने इर्द-गिर्द के वातावरण के ज़बरदस्त प्रभाव की वजह से उसीके अनुरूप हो गये।

इस ज़बरदस्त वातावरण का क्या कारण रहा है? कुछ अंश में तो यह भूगोल और मौसम और हिंदुस्तान की हवा का ही असर था। लेकिन यक़ीनन बहुत ज़्यादा असर था यह एक ज़बरदस्त असर का एक गहरी प्रेरणा का या ज़िंदगी के महत्त्व के ख़याल का जिसने हिंदुस्तान की अंत चेतना पर अपनी छाप उस वक़्त डाल दी थी जबकि इतिहास के उषा-काल में अभी वह ताज़ा और थोड़ी उम्र का ही था। यह छाप इतनी गहरी थी कि बराबर क़ायम रही और इससे जो लोग भी संपर्क में आये उनपर इसने असर डाला और इस तरह वे चाहे कितने मुख़्तलिफ़ रहे हों वे भी इसके घेरे में आकर जज़्ब हो गये। क्या यह जज़्बा यह विचार, यह ज़िंदा चिनगारी थी जिसने इस मुल्क में पनपनेवाली तहज़ीब को रोशन

किया और जो मुख्तलिफ़ दर्जे तक इतिहास के युगों में यहां के लोगों पर असर डालती रही ?

हिंदुस्तानी सभ्यता के विकास के भीतर काम करनेवाले किसी जज़्बे या ज़िंदगी के नज़रिये की बात करना बेतुकी और बढ़कर बोलने-जैसी बात जान पड़ती है। अकेले शख़्स की ज़िंदगी भी सौ ज़रियों से अपनी ग़िज़ा हासिल करती है, एक क़ौम या तहज़ीब की ज़िंदगी इससे कहीं पेचीदा है। हिंदुस्तान की सतह पर अनगिनत विचार समुंदर पर बहने वाले टुकड़ों की तरह तिरते रहते हैं और इनमें से बहुत-से ऐसे हैं जो आपस में एक-दूसरे के ख़िलाफ़ पड़ते हैं। यह बहुत आसान होगा कि इनमें से कुछ को चुनकर किसी ख़ास विषय को हम सिद्ध कर दें। उतना ही आसान होगा कुछ और बातों को चुनकर इस विषय का खंडन कर देना। कुछ हद तक यह सभी जगह मुमकिन है; हिंदुस्तान-जैसे एक पुराने और बड़े मुल्क में जहां ज़िंदा चीज़ों के साथ मुर्दा चीज़ें इस तरह चिमटी हुई हों यह काम ख़ासतौर पर आसान होगा। बहुत पेचीदा घटना को सादगी से बयान करने में एक ज़ाहिरा ख़तरा भी है। विचार और अमल के बीच गहरे फ़र्क़ बहुत ही कम होते हैं; एक ख़याल दूसरे से जुड़ा-सा रहता है, और ऐसे भी विचार होते हैं जो अपना बाहरी रूप बनाये रखते हुए भी भीतर भीतर बिल्कुल बदल जाते हैं या अकसर वे बदलती दुनिया का साथ नहीं दे पाते और उसके लिए बोझ हो जाते हैं।

हम युगों के साथ-साथ बराबर बदलते रहे हैं और किसी ज़माने में यह नहीं हुआ है कि हम अपने मुख़्तिलफ़ ज़माने-जैसे बने रहे हों—ख़ास जाति और संस्कृति दोनों ही के लिहाज़ से हम जो-कुछ भी थे उससे मुख़्तलिफ़ हैं और अपने चारों ओर, क्या हिंदुस्तान में और क्या दूसरी जगह, मैं देखता हूं कि तबदीली लंबे डग भर रही है। फिर भी इस वाक़ये को मैं नज़र-अंदाज़ नहीं कर सकता कि हिंदुस्तानी और चीनी-तहज़ीबों ने क़ायम रहने की और अपने को मौक़े के मुताबिक़ ढाल लेने की ग़ज़ब की ताक़त दिखाई है और बावजूद अनेक तबदीलियों और संकटों के वे बहुत बड़ी मुद्दत तक अपनी बुनियादी शख़्सियत क़ायम रखने में कामयाब हुए हैं। वे ऐसा न कर पाते अगर वे ज़िंदगी और क़ुदरत से एक समरसता या संगति न कर पाते तो। वह जो कुछ भी चीज़ रही हो जिसने इन्हें अपने पुराने ढंग से बनाये रखा वह चाहे अच्छी हो चाहे बुरी चाहे मिली-जुली अगर वह ताक़तवर न रही होती तो इतने ज़माने तक क़ायम नहीं रह सकती थी। शायद अपनी उपयोगिता यह कब की खो चुकी है और तबसे यह महज़

एक बोझ और रुकावट बनकर चली आ रही है या मुमकिन है ऐसा हो कि बाद के जमानों के कूड़ा-करकट ने उसकी अच्छाइयों को दबाकर खत्म कर दिया हो और अब उस मुर्दा चीज का महज बोझ बाकी रह गया हो।

तरक्की और हिफ़ाजत या पायदारी के विचारों में शायद हमेशा कुछ आपस की अनबन रही है। दोनों एक साथ मौजूद नहीं हो पाते। इनमें से पहला तब्दीली चाहता है और दूसरा एक न बदलनेवाली पनाह की जगह चाहता है और यह कि चीजें जैसी-की-तैसी बनी रहें। तरक्की का खयाल नये जमाने का है और पच्छिम में भी अपेक्षाकृत नया है। कदीम और बीच के जमाने की तहज़ीबें गुजिश्ता सुनहले वक्त के और फिर जमाने की पस्ती के खयाल में डूबी रहती थीं। हिंदुस्तान में भी गुजरे हुए जमाने की बड़ी सुनहली कल्पना की गई है। यहां जो सभ्यता तैयार हुई उसकी भी बुनियाद हिफ़ाजत और पायदारी के खयालों पर बनी थी और इस नुक्ते-नजर से यह उन सभी सभ्यताओं से जो पच्छिम में उठीं कहीं ज्यादा कामयाब रही। समाज के संगठन ने जिसकी नींव में वर्ण-व्यवस्था और मुश्तरका खानदान थे इसमें मदद पहुंचाई और गिरोह के लिए सामाजिक पायदारी पैदा की और उन्न कमजोरों या लाचारों की बाबत से जो अपना पेट नहीं भर सकते थे उनके लिए एक तरह का बीमा मुहैया किया। इस तरह का इंतजाम अगर कमजोरों की मदद करता है तो एक हद तक मजबूतों के लिए रुकावट भी पैदा करता है। यह साधारण लोगों को बढ़ावा तो देता है लेकिन असाधारण लोगों के खिलाफ़ पड़ता है चाहे वे बुरे हों चाहे क़ाबिल। यह लोगों को उठाकर या गिराकर एक सतह पर ले आता है और व्यक्तिवाद के खिलने के लिए इस हालत में कम मौक़ा होता है। ध्यान देने की यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि जहां हिंदुस्तानी फ़िलसफ़ा हद दर्जे का व्यक्तिवादी फ़िलसफ़ा रहा है और क़रीब-क़रीब पूरे तौर से व्यक्ति के विकास से उसका संबंध रहा है वहां हिंदुस्तान का सामाजिक संगठन फ़िरक़ेवाराना था और महज गिरोहों पर ध्यान देता था। व्यक्ति को पूरी आजादी थी इस बात की कि जो चाहे सोचे विचारे और जिस चीज में चाहे यक़ीन लाये लेकिन उसे समाज और फ़िरक़े के रीति-रिवाजों की कड़ी पाबंदी करनी पड़ती थी।

बावजूद इस पाबंदी के गिरोहों के भीतर भी सब-कुछ लेकर बहुत लचीलापन था और कोई ऐसा क़ानून या समाज का नियम न था जो रीति-रिवाज से बदला न जा सके। यह भी था कि नये गिरोह अपने-अपने

अलग रीति-रिवाज विश्वास और व्यवहार रख सकते थे और ऐसा करते हुए भी एक बड़े सामाजिक-संगठन का अंग बने रह सकते थे। यही लचीलापन और अपने को मौक़े के मुताबिक़ ढालने की ताक़त ऐसी चीज़ें थीं जिन्होंने विदेशियों को जज्ब करने में मदद दी। इन सबके पीछे कुछ बुनियादी इखलाकी या नीति के सिद्धांत थे और ज़िंदगी के मसलों को देखने का एक फ़िलसफ़ियाना नजरिया था और दूसरों के तरीक़ों के लिए रवादारी थी।

जबतक पायदारी और हिफ़ाज़त खास मक़सद रहे तबतक तो यह व्यवस्था खूब काम देती रही और अगर आर्थिक तबदीलियों ने इसकी जड़ें हिलाईं तो भी अपने को उनके माफ़िक़ बनाकर यह क़ायम रही। इसे असली चुनौती मिली सामाजिक तरक्की की उस नई, गतिशील धारणा से जो किसी तरह पुराने टिके हुए विचारों से मेल नहीं खाती थी। यही अवधारणा पुराने क़ायम-शुदा व्यवस्थाओं को पूरब में उखाड़ रही है, उसी तरह जिस तरह कि इसने पच्छिम में व्यवस्थाओं को उखाड़ा है। पच्छिम में वहां अब भी तरक्की का बोलबाला है हिफ़ाज़त की मांग पेश हो गई है। हिंदुस्तान में हिफ़ाज़त की कमी ने ही लोगों को मजबूर किया है कि वे पुरानी लीक छोड़कर बाहर आयें और ऐसी तरक्की का ख़याल लायें जो हिफ़ाज़त की हालत पैदा करेगी।

लेकिन क़दीम या बीच के ज़माने के हिंदुस्तान में तरक्की की ऐसी कोई चुनौती न थी। हां तबदीली और नये मौक़ों के मुताबिक़ अपने को ढालते रहने की ज़रूरत महसूस की जा चुकी थी इसीसे समन्वय के लिए हम इतना उत्साह पाते हैं। यह समन्वय महज़ उन लोगों का नहीं था जो हिंदुस्तान में पहुंच गये थे यह समन्वय व्यक्ति की बाहरी और भीतरी ज़िंदगी के बीच भी था और इसी तरह आदमी और प्रकृति के बीच भी। उस ज़माने में ऐसी खाइयां नहीं थीं जैसी आजकल दिखती हैं। इस आम संस्कृति की भूमिका ने हिंदुस्तान को बनाया और इस पर विविधता के बावजूद एकता की छाप दी। राजनैतिक व्यवस्था की जड़ में खुदमुख़्तार गांवों की प्रथा थी और यह बुनियाद के रूप में क़ायम रहती थी जबकि राजे आते-जाते रहते थे। बाहर से नये आनेवाले और हमलावर इस व्यवस्था की सतह को सिर्फ़ छेड़ देते थे और उसकी जड़ को नहीं छू पाते थे। राज्य की ताक़त देखने में चाहे जैसी निरंकुश दिखाई पड़ती हो, रीति-रिवाजों और वैधानिक बंधनों से सैकड़ों तरीक़ों से ऐसी जकड़ी हुई थी कि कोई भी शासक सहज में गांवों के हक़ों और अधिकारों में दख़ल न

दे सकता था। इन आम हकों और अधिकारों से न केवल गांव में बसनेवालों की आजादी बल्कि व्यक्ति की भी हिफ़ाजत होती थी।

हिंदुस्तान के लोगों में आज सबसे खासतौर पर हिंदुस्तान और हिंदुस्तानी संस्कृति और परंपरा पर गर्व करनेवाले अगर कोई हैं तो राजपूत हैं। उनके बहादुरी के कारनामे गुजरे हुए जमाने में इसी परंपरा के जिंदा अंग थे। लेकिन कहा जाता है कि बहुत-से राजपूत भारतीय-सिदि यनों के वंशज हैं और कुछ उन हूणों के भी जो हिंदुस्तान में आये थे। जाट से ज्यादा मजबूत और अच्छा किसान आज हिंदुस्तान में न मिलेगा जिसने धरती से अपना नाता जोड़ लिया है और अपनी जमीन में किसी किस्म का हस्तक्षेप नहीं बरदाश्त कर सकता। वह भी मूल में सिदियन है। इसी तरह काठियावाड़ का लंबा और खूबसूरत किसान कदूठी भी है। हमारे यहां के लोगों में से कुछ के नस्ल की शुरुआत कमोबेश निश्चय के साथ बताई जा सकती है, दूसरों के बारे में ऐसा कर सकना मुमकिन न होगा। लेकिन मूल में जो भी रहा हो सभी साफ़-साफ़ हिंदुस्तानी बन गये हैं और दूसरों के साथ-साथ हिंदुस्तानी संस्कृति के अंग हैं और हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा को अपनी परंपरा मानते हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि हिंदुस्तान में जो भी तत्त्व आया और यहां जज्ब हो गया उसने हिंदुस्तान को अपना कुछ दिया भी और उससे उसका लिया भी, इसने अपनी और हिंदुस्तान इन दोनों की ताकत में इज़ाफ़ा किया। लेकिन जहां वह अलग-थलग रहा और हिंदुस्तान की जिंदगी में और यहां की सपन्न और विविध संस्कृति में हिस्सा न ले सका वहां उसका कोई पायदार असर न हुआ और आखिरकार मिट गया और मिटते मिटते अपने को या फिर हिंदुस्तान को कुछ नुकसान पहुंचा गया।

## ६ हिंदुस्तान और ईरान

उन बहुत-से लोगों में जो हिंदुस्तान की जिंदगी और संस्कृति से संपर्क में आये हैं और इन पर असर डाला है सबसे पुराने और सबसे मुस्तकिल ईरानी रहे हैं। दरअसल यह तास्लुक भारतीय आर्य-सभ्यता की शुरुआत से पहले ही शुरू हो जाता है, क्योंकि भारतीय-आर्य और ईरानी अलग होकर अपना-अपना रास्ता लेने से पहले एक ही नस्ल के थे। जाति के खयाल से तो इन दोनों का नाता रहा ही है, इनके पुराने धर्म और भाषा की भी एक-सी भूमिका रही है। वैदिक-धर्म और जरथुस्त्र के धर्म में बहुत-सी एक-सी बातें थीं और वैदिक संस्कृत और 'अवेस्ता' की भाषा दोनों एक-दूसरे से बहुत-कुछ मिलती-जुलती हैं। बाद की संस्कृत और

फ़ारसी के विकास अलग-अलग हुए, लेकिन दोनों के बहुत-से मूल-शब्द एक ही हैं जिस तरह कि सभी आर्य-भाषाओं के कुछ मूल-शब्द समान हैं। दोनों भाषाओं पर और इनसे ज्यादा उनकी कला और संस्कृति पर, उनके जुदा-जुदा वातावरणों का प्रभाव पड़ा। फ़ारसी कला का ईरान की मिट्टी और प्राकृतिक दृश्य से नज़दीकी संबंध जान पड़ता है और शायद इसी वजह से ईरान की कला-संबंधी परंपरा बनी चली आ रही है। इसी तरह भारतीय-आर्य कला-परंपरा और आदर्श बर्फ़ से ढके पहाड़ों हरे-भरे जंगलों और उत्तरी हिंदुस्तान की बड़ी नदियों से पैदा हुए हैं।

हिंदुस्तान की तरह ईरान की भी सांस्कृतिक बुनियाद इतनी मज़बूत थी कि वह अपने हमलावरों पर भी असर डाल सके और अकसर उन्हें अपने में जज़्ब कर ले। अरब लोग जिन्होंने सातवीं सदी ईसवी में ईरान विजय किया इस असर के नीचे आ गये और अपने सीधे-सादे रेगिस्तानी रहन-सहन को छोड़कर उन्होंने ईरान की रंगी-चुनी तहज़ीब अख़्तियार कर ली। जिस तरह फ़्रान्सीसी ज़बान यूरोप में है उसी तरह फ़ारसी दूर-दराज़ हिस्सों के सभ्य लोगों की भाषा बन गई। ईरानी कला और संस्कृति पश्चिम में कुस्तुंतुनिया से लेकर ठीक गोबी के रेगिस्तान तक फैल गई।

हिंदुस्तान पर भी यह असर बराबर रहा और अफ़ग़ानों और मुग़लों के ज़मानों में यहां मुल्क की दरबारी ज़बान फ़ारसी रही। यह बात अंग्रेज़ी दौर के ठीक शुरू तक बनी रही। आज की सभी हिंदुस्तानी ज़बानों में फ़ारसी शब्द भरे पड़े हैं। संस्कृत से निकली ज़बानों के लिए, ख़ासतौर पर हिंदुस्तानी के लिए, जो ख़ुद एक मिली-जुली ज़बान है, यह स्वाभाविक था। लेकिन दक्खिन की द्रविड़ ज़बानों पर भी फ़ारसी का असर पड़ा है। हिंदुस्तान में गुज़रे हुए ज़माने के फ़ारसी के कुछ बड़े शानदार शायर गुज़रे हैं और आज भी हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ही में फ़ारसी के अच्छे आलिम मिलते हैं।

इसमें कोई शक नहीं जान पड़ता कि सिंध की घाटी की सभ्यता के संपर्क उस ज़माने की ईरान और मेसोपोटामिया की तहज़ीबों से थे। कुछ आकृतियों और मुहरों में आश्चर्यजनक सादृश्य पाया जाता है। इस बात के भी कुछ सबूत हैं कि ईरान और हिंदुस्तान के बीच पूर्व-अखीमिनियन ज़माने में भी आपस के संपर्क थे। हिंदुस्तान का [illegible] में ज़िक्र आया है और उत्तरी हिंदुस्तान का कुछ भाग भी [illegible] के हवाले हैं। फ़ारसी लोग 'पार्स' कहलाते थे और [illegible] कहलाये

जिससे आधुनिक 'पारसी' शब्द निकला है। पार्थियनों को 'पार्थव' कहा गया है। इस तरह ईरान और हिंदुस्तान के दरम्यान आपस की दिलचस्पी की परंपरा पुरानी है और अखीमिनियन वंश के जमाने से भी पहले की है। शहंशाह साइरस के जमाने से और भी संपर्कों के प्रमाण मिले हैं। साइरस हिंदुस्तान की सरहद गांधार, काबुल और बलूचिस्तान तक आया था। ईसा से पहले छठी सदी में दारा के अधीन था सल्तनत भी बहुत ठीक पश्चिमोत्तर हिंदुस्तान तक फैली हुई थी और सिंध और शायद पश्चिमी हिंदुस्तान का एक हिस्सा इसमें आ गया था। इस जमाने को हिंदुस्तान के इतिहास में बरखुश्त का जमाना कहा गया है और इसका असर काफ़ी फैला रहा होगा। सूर्य की पूजा को प्रोत्साहन दिया गया।

दारा का हिंदुस्तानी सूबा उसकी सल्तनत का सबसे मालदार और सबसे ज्यादा बना बसा हुआ सूबा था। इस जमाने में सिंध आज के टुकड़ों में बंटे हुए रेगिस्तानी देश से बहुत मुख्तलिफ़ रहा होगा। हेरोडोटस हिंदुस्तानी बाशिंदों की खुशहाली और आबादी का और दारा को दिये जाने वाले ख़िराज का हाल लिखता है—"हिंदुस्तानियों की आबादी जितने लोगों को हम जानते हैं उनसे ज्यादा है और इसी औसत से वह औरों से ज्यादा ख़िराज भी देते थे—सोने के चूरे की ३६० टैलेंट" (यह बराबर है दस लाख पाउंड से ऊपर के)। हेरोडोटस फ़ारसी फ़ौज के हिंदुस्तानी दस्ते का भी ज़िक्र करता है जिसमें पैदल घुड़सवार और रथवाले थे। बाद में हाथियों का भी ज़िक्र है।

ईसा से पहले की सातवीं सदी से भी पहले से लेकर मुग़ों बाद तक व्यापार के ज़रिये हिंदुस्तान और ईरान के ताल्लुक़ के सबूत मिलते हैं आमतौर पर यह ख़याल किया जाता है कि हिंदुस्तान और बेबिलन के बीच होनेवाला क़दीम व्यापार का रास्ता फ़ारस की खाड़ी से होकर था।[1] छठी सदी के बाद साइरस और दारा के हमलों के ज़रिये सीधे संपर्क क़ायम हो गये। सिकंदर की विजय के बाद कई सदियों तक ईरान यूनानियों की हुकूमत में रहा। इस जमाने में भी संपर्क बने रहे और कहा जाता है कि अशोक की इमारतों पर पार्सिपोलिस की निर्माण-शैली का असर पड़ा। यूनानी-बौद्ध-कला जो पश्चिमोत्तर हिंदुस्तान और अफ़ग़ानिस्तान में विकसित हुई, उसमें भी ईरान की छूत रही है। हिंदुस्तान में गुप्तों के जमाने में

[1] प्रोफ़ेसर ए० वी० विलियम्स जैक्सन : 'दि कैंब्रिज हिस्टरी ऑव इंडिया' जिल्द १ पृ ३२९।

फ़ारसी के विकास अलग-अलग हुए, लेकिन दोनों के बहुत-से मूल-शब्द एक ही हैं जिस तरह कि सभी आर्य-भाषाओं के कुछ मूल-शब्द समान हैं। दोनों भाषाओं पर और इनसे ज्यादा उनकी कला और संस्कृति पर, उनके जुदा-जुदा वातावरणों का प्रभाव पड़ा। फ़ारसी कला का ईरान की मिट्टी और प्राकृतिक दृश्य से गहरा भी सबंध जान पड़ता है और शायद इसी वजह से ईरान की कला-संबंधी परंपरा बनी चली आ रही है। इसी तरह भारतीय-आर्य कला-परंपरा और आदर्श बर्फ से ढके पहाड़ों हरे-भरे जंगलों और उत्तरी हिंदुस्तान की बड़ी नदियों से पैदा हुए हैं।

हिंदुस्तान की तरह ईरान की भी सांस्कृतिक बुनियाद इतनी मजबूत थी कि वह अपने हमलावरों पर भी असर डाल सके और अक्सर उन्हें अपने में जज़्ब कर ले। अरब लोग जिन्होंने सातवीं सदी ईसवी में ईरान विजय किया इस असर के नीचे आ गये और अपने सीधे-सादे रेगिस्तानी रहन सहन को छोड़कर उन्होंने ईरान की रंगी-चुनी तहज़ीब अख्तियार कर ली। जिस तरह फ्रान्सीसी ज़बान यूरोप में है उसी तरह फ़ारसी दूर-दराज़ हिस्सों के सभ्य लोगों की भाषा बन गई। ईरानी कला और संस्कृति पच्छिम में कुस्तुंतुनिया से लेकर ठीक गोबी के रेगिस्तान तक फैल गई।

हिंदुस्तान पर भी यह असर बराबर रहा और अफ़गानों और मुगलों के ज़मानों में यहां मुल्क की दरबारी ज़बान फ़ारसी रही। यह बात अंग्रेजी दौर के ठीक शुरू तक बनी रही। आज की सभी हिंदुस्तानी ज़बानों में फ़ारसी लफ़्ज़ भरे पड़े हैं। संस्कृत से निकली ज़बानों के लिए, ख़ासतौर पर हिंदुस्तानी के लिए, जो खुद एक मिली-जुली ज़बान है यह स्वाभाविक था। लेकिन दक्खिन की द्राविड़ ज़बानों पर भी फ़ारसी का असर पड़ा है। हिंदुस्तान में गुज़रे हुए ज़माने के फ़ारसी के कुछ बड़े शानदार शायर गुज़रे हैं और आज भी हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ही में फ़ारसी के अच्छे आलिम मिलते हैं।

इसमें कोई शक नहीं जान पड़ता कि सिंध की घाटी की सभ्यता के संपर्क उस ज़माने की ईरान और मेसोपोटामिया की तहज़ीबों से थे। कुछ आकृतियों और मोहरों में आश्चर्यजनक सादृश्य पाया जाता है। इस बात के भी कुछ सबूत हैं कि ईरान और हिंदुस्तान के बीच पूर्व-अखीमियन ज़माने में भी आपस के संपर्क थे। हिंदुस्तान का 'अवेस्ता' में ज़िक्र आया है और उत्तरी हिंदुस्तान का कुछ बयान भी है। ऋग्वेद में फ़ारस के हवाले हैं। फ़ारसी लोग 'पार्श्व' कहलाते थे और बाद में यही 'पारसीक' कहलाये

गये। इनमें से सबसे खूबसूरत इमारत थी ताजमहल, जिसके बारे में फ्रान्सीसी आलिम एम. ग्रूसे ने कहा है कि 'इसमें हिंदुस्तान के जिस्म में ईरान की रूह उतर आई है।'

हिंदुस्तान और ईरान के लोगों में शुरू से लेकर सारे इतिहास के ज़माने में जैसा नजदीकी ताल्लुक रहा है, शायद ही दूसरे लोगों में रहा हो। बदकिस्मती से जो आखिरी यादगार इस लंबे, करीब के और बा-इज्जत रिश्ते की है, वह नादिरशाह के हमले की है, जो दो सौ साल का ज़माना गुजरा, थोड़े वक्त के लिए हुआ था, लेकिन जो हद दर्जे का खौफनाक हमला था।

इसके बाद अंग्रेज आये और उन्होंने सब दरवाजे और सब रास्ते जिनके जरिये हमारा अपने एशियाई पड़ोसियों से ताल्लुक जुड़ता था, बंद कर दिये। समुंदर के आर-पार नये रास्ते कायम हुए, जिन्होंने हमें यूरोप के ज्यादा करीब पहुंचाया, खासतौर पर इंगलिस्तान के। लेकिन हिंदुस्तान और ईरान और मध्य-एशिया और चीन के बीच फिर कोई संपर्क नहीं रह पाये, जबतक कि इस ज़माने में हवाई जहाजों ने तरक्की नहीं कर ली और फिर हमने अपनी पुरानी दोस्ती ताजा की। बाकी एशिया से अचानक इस तरह अलग-थलग हो रहना हिंदुस्तान की अंग्रेजी हुकूमत का सबसे खास और बदकिस्मत नतीजा हुआ है।[1]

लेकिन एक अटूट नाता कायम रहा है—मौजूदा ज़माने के ईरान से नहीं, बल्कि कदीम ईरान से। तेरह सौ साल हुए, जब इस्लाम ईरान में पहुंचा, उस वक्त पुराने जरथुस्त्र-धर्म के माननेवाले लोग सैकड़ों या हजारों

---

[1] प्रोफेसर ई. जे. रैपसन लिखते हैं—"यह ताकत जो सब मातहत हुकूमतों को एक बड़े निजाम के अंदर लाने में कामयाब हुई है, वह असल में एक समुंदरी ताकत है; और चूंकि इसका समुंदरी रास्तों पर काबू है, अमन के हक में इसे खुश्की की राहें बंद कर देना पड़ी है। हिंदुस्तान की सल्तनत के सरहदी मुल्कों—अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और बरमा—के प्रति अंग्रेजी पालिसी का यही मकसद रहा है। सियासी अलहदगी इस तरह पर सियासी एकता का एक लाजिमी नतीजा रही है। लेकिन इसे याद चाहिए कि अलहदगी हिंदुस्तान की तारीख की एक हाल की और चीज है। यह एक खास घटना है जो मौजूदा ज़माने को हुए ज़माने से अलग करती है।"
(कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया, जिल्द १ पृष्ठ ५२)

ईसा के बाद की चौथी-पांचवीं सदियों में जो कला और संस्कृति के कारनामों के लिए मशहूर हैं ईरान से ताल्लुक बने रहे।

काबुल, कंधार और सीस्तान के सरहदी इलाके जो अक्सर हिंदुस्तान की हुकूमतों के अंदर रहे हैं हिंदुस्तानियों और ईरानियों की आपस में मिलने की जगहें थीं। बाद के पार्थियन जमाने में इन्हें 'सफ़ेद हिंदुस्तान' का नाम दिया गया। इन हिस्सों का जिक्र करते हुए फ़्रान्सीसी विद्वान जेम्स डार्मेस्टेटर कहते हैं—"हिंदू सभ्यता इन इलाकों में फैली हुई थी जो दरअसल ईसा से पहले और बाद की दो सदियों में 'सफ़ेद हिंदुस्तान' के नाम से जाने जाते थे और मुसलमानों की विजय के जमाने तक ईरानी से ज्यादा हिंदुस्तानी बने रहे।

उत्तर हिंदुस्तान में आनेवाले व्यापारी और यात्री खुश्की के रास्ते आते थे। दक्खिनी हिंदुस्तान समुंदर के ऊपर भरोसा करता था और उसकी समुंदरी रास्ते से दूसरे देशों से तिजारत होती थी। दक्खिनी राज्य और ईरान के सासानियों के बीच आपस में राजदूत आते-जाते रहते थे।

हिंदुस्तान पर तुर्कों, अफ़गानों और मुग़लों की विजयों का नतीजा यह हुआ कि हिंदुस्तान के ताल्लुकात मध्य और पच्छिमी एशिया से बढ़े। पन्द्रहवीं सदी में (यूरोपीय रिनेसां या पुनर्जागृति के युग के समय) समरकंद और बुखारा में तैमूरी पुनर्जागृति फल-फूल रही थी और इस पर ईरान का गहरा असर था। बाबर, जो खुद तैमूरिया खानदान का शहजादा था इसी वातावरण से आया और उसने दिल्ली के तख्त पर कब्जा कर लिया। यह सोलहवीं सदी के शुरू की बात है जिस वक्त कि ईरान में सफ़वी बादशाहों की हुकूमत के जमाने में एक शानदार कलात्मक पुनर्जागृति हो रही थी और यह जमाना फ़ारसी कला का सुनहला जमाना कहलाता है। बाबर के बेटे हुमायूं ने यहां से भागकर सफ़वी शाह के यहां पनाह ली थी और उसीकी मदद से वह फिर हिंदुस्तान लौटा था। हिंदुस्तान के मुग़ल बादशाह ईरान से बड़ा नजदीकी ताल्लुक बनाये रखते थे और सरहद पार करके मुग़लों के शानदार दरबार में इज्जत और धन कमाने के लिए आनेवाले ईरानी विद्वानों और कलाकारों का तांता बना रहता था।

हिंदुस्तान में इमारतों के एक नये तर्ज ने तरक्की पाई, जिसमें हिंदुस्तानी और ईरानी आदर्शों और प्रेरणाओं का मेल-जोल था और दिल्ली और आगरा बहुत-सी शानदार और खूबसूरत इमारतों से भर

गये। इनमें से सबसे खूबसूरत इमारत थी ताजमहल, जिसके बारे में फ्रान्सीसी आलिम एम० ग्रूसे ने कहा है कि 'इसमें हिंदुस्तान के जिस्म में ईरान की रूह उतर आई है।"

हिंदुस्तान और ईरान के लोगों में शुरू से लेकर सारे इतिहास के जमाने में जैसा नजदीकी ताल्लुक रहा है, शायद ही दूसरे लोगों में रहा हो। बदकिस्मती से जो आखिरी यादगार इस लंबे करीब के और बा इज्जत रिश्ते की है, वह नादिरशाह के हमले की है, जो दो सौ साल का जमाना गुजरा थोड़े वक्त के लिए हुआ था, लेकिन जो हद दर्जे का खौफनाक हमला था।

इसके बाद अंग्रेज आये और उन्होंने सब दरवाजे और सब रास्ते जिनके जरिये हमारा अपने एशियाई पड़ोसियों से ताल्लुक जुड़ता था, बंद कर दिये। समुंदर के आर-पार नये रास्ते कायम हुए, जिन्होंने हमें यूरोप के ज्यादा करीब पहुंचाया, खासतौर पर इंगलिस्तान के। लेकिन हिंदुस्तान और ईरान और मध्य-एशिया और चीन के बीच फिर कोई संपर्क नहीं रह पाये, जबतक कि इस जमाने में हवाई जहाजों ने तरक्की नहीं कर ली और फिर हमने अपनी पुरानी दोस्ती ताजा की। बाकी एशिया से अचानक इस तरह अलग-अलग हो रहना हिंदुस्तान की अंग्रेजी हुकूमत का सबसे खास और बदकिस्मत नतीजा हुआ है।[1]

लेकिन एक अटूट नाता कायम रहा है—मौजूदा जमाने के ईरान से नहीं, बल्कि कदीम ईरान से। तेरह सौ साल हुए, जब इस्लाम ईरान में पहुंचा, उस वक्त पुराने जरथुस्त-धर्म के माननेवाले लोग सैकड़ों या हजारों

---

[1] प्रोफेसर ई० जे० रैपसन लिखते हैं—"यह ताकत जो सब मातहत हुकूमतों को एक बड़े निजाम के अंदर लाने में कामयाब हुई है, वह असल में एक समुंदरी ताकत है; और चूंकि इसका समुंदरी रास्तों पर काबू है, अमन के हक में इसे खुश्की की राहें बंद कर देना पड़ी है। हिंदुस्तान की सल्तनत के सरहदी मुल्कों—अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और बरमा—के प्रति अंग्रेजी पालिसी का यही मकसद रहा है। सियासी अलहदगी इस तरह पर सियासी एकता का एक लाजिमी नतीजा रही है। लेकिन इसे याद रखना चाहिए कि अलहदगी हिंदुस्तान की तारीख की एक हाल की और बिलकुल नई चीज है। यह एक खास घटना है, जो मौजूदा जमाने को गुजरे हुए जमाने से जुदा करती है।"

(कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इंडिया, जिल्द १ पृष्ठ ५२)

की गिनती में हिंदुस्तान में आये। उनका यहां स्वागत हुआ और वे पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गये और अपने मजहब और रीति-रिवाजों के पाबंद बने रहे। न किसीने उनसे छेड़खानी की न उन्होंने दूसरों से। यह एक बड़े मार्के की बात है कि ये लोग जो पारसी कहलाये हिंदुस्तान में चुपके-से और बग़ैर बड़े दिखावे के मिल-बैठ गये और इसे अपना घर बना लिया और फिर भी एक छोटे फ़िरक़े की हैसियत से अपने पुराने रीति-रिवाजों को पाबंदी से निभाते रहे। अपने फ़िरक़े के बाहर शादी-ब्याह की इन्होंने इजाजत न दी और ऐसी बहुत ही कम मिसालें हैं। खुद इस बात से हिंदुस्तान में ज्यादा ताज्जुब नहीं हो सकता था क्योंकि यहां भी आमतौर पर लोग अपनी ही बिरादरी में शादी-ब्याह करते हैं। उनकी आबादी बहुत धीमी रफ़्तार से बढ़ी है और आज भी कुल गिनती उनकी एक लाख के लगभग है। तिजारत में उन्होंने तरक़्क़ी की है और इनमें से बहुत-से उद्योग-धंधों के अगुवा हैं। ईरान से क़रीब-क़रीब कोई ताल्लुक़ उनका नहीं रहा है और वे पूरी तौर पर हिंदुस्तानी बन गये हैं फिर भी वे अपनी परंपरा को पकड़े हुए हैं और अपनी क़दीम मातृभूमि की स्मृति को बनाये हुए हैं।

ईरान में हाल में इस्लाम से पहले की अपनी पुरानी तहज़ीब पर ध्यान देने की एक जबरदस्त तहरीक पैदा हो गई है। इसका मजहब से कोई वास्ता नहीं है यह संस्कृति और क़ौमियत की बिनाह पर है और ईरान की लंबी सांस्कृतिक परंपरा की खोज में रहती है और उस पर गर्व करती है।

दुनिया में जो कुछ हो रहा है और आपस की दिलचस्पियां एशियाई मुल्कों को अब फिर एक-दूसरे की तरफ़ मुख़ातिब होने के लिए मजबूर कर रही हैं। यूरोप की हुकूमत के जमाने को एक बुरे सपने की तरह समझकर उसे भुलाया जा रहा है और पुरानी यादें, पुराने दोस्ताना ताल्लुक़ात और मेल-जोल के कामों की तरफ़ खींच रही हैं। इसमें कोई शक नहीं कि ठीक ही आनेवाले जमाने में हिंदुस्तान उसी तरह ईरान के क़रीबतर आयेगा जिस तरह वह चीन के क़रीबतर आ रहा है।

दो महीने हुए हिंदुस्तान में आनेवाले ईरानी कल्चरल (सांस्कृतिक) मिशन के नेता ने इलाहाबाद शहर में कहा था— 'ईरानी और हिंदुस्तानी दो भाई की तरह हैं जो फ़ारसी क़िस्से के अनुसार एक-दूसरे से छूट गये थे एक पूरब चला गया था और दूसरा पच्छिम। उनके ख़ानदानवाले भी एक-दूसरे को भुला बैठे थे। दोनों के बीच जो बात समान रह गई थी

वह कुछ पुराने गीतों की धुनें थीं जिन्हें दोनों अब भी अपनी बांसुरियों पर निकाला करते थे। इन धुनों के जरिये से ही दोनों खानदानवालों ने सदियों बाद एक-दूसरे को पहचाना और फिर मिल गये। इसी तरह हम भी हिंदुस्तान में आये हैं अपनी धुनों पुरानी तानों को अपनी बांसुरियों पर गाने के लिए, जिसमें कि उन्हें सुनकर हमारे हिंदुस्तानी भाई हमें पहचान सकें और अपना ही समझें और फिर वे अपने ईरानी भाइयों से मिल जायं।"

## ७ हिंदुस्तान और यूनान

क़दीम यूनान यूरोपीय तहज़ीब का सरचश्मा ख़याल किया जाता है और पूरब और पच्छिम के बुनियादी भेद के मुताल्लिक़ बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। यह भेद मेरी समझ में नहीं आता जो कुछ कहा जाता है वह एक हद तक अस्पष्ट और अवैज्ञानिक है और उसका घटनाओं में कोई आधार नहीं है। अभी हाल तक बहुत-से यूरोपीय विचारकों का यह ख़याल था कि क़द्र व क़ीमत के क़ाबिल जितनी चीज़ें हैं उनकी शुरुआत यूनान से या रोम से है। सर हेनरी मेन ने कहीं पर कहा है कि कुदरत की अंधी ताक़तों के अलावा दुनिया में कोई भी हरकत करनेवाली चीज़ नहीं है, जो अपने मूल में यूनानी न हो। यूनान और रोम के बारे में जानकारी रखनेवाले यूरोप के बड़े-बड़े आलिम हिंदुस्तान और चीन के बारे में बहुत कम जानते थे। फिर भी प्रोफ़ेसर ई० आर० डॉड्स ने जोर दिया है उस "पूरबी भूमिका पर जो यूनानी संस्कृति के पीछे थी और जिससे वह अपने को (सिवाय यूनान और रोम के विषय के पंडितों के दिमाग़ में) कभी जुदा न कर सकी थी।

यूरोप में बहुत दिनों तक आलिमी तौर पर यूनानी इबरानी और लातीनी ज़बानों तक इल्म महदूद था। और इससे जो तस्वीर तैयार होती थी वह भूमध्य सागर के आस-पास की दुनिया की थी। बुनियादी ख़याल पुराने रोमनों के ख़याल से बहुत मुख़्तलिफ़ न था अगरचे इसमें बहुत-सी तबदीलियां और रद्दोबदल कर भने पड़े थे। यह विचार न महज़ इतिहास और भौगोलिक राजनीति पर और संस्कृति और सभ्यता के विकास पर हावी था बल्कि इसने वैज्ञानिक तरक़्क़ी के रास्ते में भी रोड़े डाले। बतलमा तूस और अरस्तू दिमाग़ पर छाये हुए थे। उस वक़्त भी जबकि एशिया के लोगों के कारनामों की कुछ जानकारी यूरोपीय दिमाग़ तक छनकर पहुंचती थी यह ख़ुशी से क़बूल नहीं की जाती थी। अनजान में इसका विरोध होता और इसे कैसे भी हो पहली तस्वीर में बिठलाने की कोशिश की जाती थी।

जब खास पढ़े-लिखे लोगों का यह खयाल था कि पूरब और पच्छिम के बीच एक खास फ़र्क है तो फिर आम अनपढ़ लोगों का तो कहना ही क्या ! यूरोप में मशीन के कारखानों के खुलने और उसके साथ होनेवाली माली तरक्की ने आम लोगों पर इस भेद की छाप और भी गहरी कर दी और किसी अनजानी दलील से क़दीम यूनान मौजूदा यूरोप और अमरीका का मां-बाप बन गया। दुनिया के गुज़िश्ता ज़माने के मुतास्सिक़ नई जानकारियों ने कुछ विचार करनेवालों के दिमाग के इन नतीजों को हिला दिया लेकिन जहांतक आम लोगों का मामला था चाहे व पढ़े-लिखे हों चाहे अनपढ़ सदियों पुराने विचार क़ायम रहे ये खयाली सूरतें थी जो उनकी चेतना के ऊपरी तहों पर तिरती रहती थीं और फिर उस ढांचे में जो उन्होंने अपने लिए बना रखा था समा जाती थीं।

पूरब और पच्छिम इन लफ्ज़ों के इस्तेमाल को मैं समझ नहीं सका हूं सिवाय इस मानी में कि यूरोप और अमरीका ने मशीन के कारखानों में बड़ी तरक्की कर ली है और एशिया इस लिहाज़ से पिछड़ा हुआ है। कल-कारखानों की बहुतायत दुनिया के इतिहास में एक नई चीज़ है और इसने और चीज़ों के मुक़ाबले में दुनिया को ज्यादा बदल दिया है और बराबर बदल रही है। लेकिन यूनानी तहज़ीब में और आज की यूरोपीय और अमरीकी तहज़ीबों में कोई बुनियादी रिश्ता नहीं है। आज का यह खयाल कि आराम की ज़िन्दगी ही सबसे बड़ी चीज़ है यूनानी और दूसरे क़दीम साहित्यों के बुनियादी विचारों से बिलकुल जुदा है। यूनानी और हिंदुस्तानी और चीनी और ईरानी लोग हमेशा एक ऐसे मज़हब और ज़िन्दगी के फ़िलसफ़े की तलाश में रहे हैं जिसका असर उनके सभी कामों पर रहा है और जिसका मक़सद एक तरह का समतौल और समरसता का भाव पैदा करना रहा है। यह आदर्श ज़िन्दगी के हर पहलू में—साहित्य में कला में और संस्थाओं में—ज़ाहिर होता है और एक मुनासिबत और पूर्णता पैदा करता है। मुमकिन है कि ये विचार बिलकुल सही न हों और ज़िन्दगी के असल हालात और ही रहे हों। फिर भी यह याद रखना ज़रूरी है कि आज के यूरोप और अमरीका यूनानियों के मुकम्मिल नज़रिये से कितने दूर हैं जिसकी वे अपनी फ़ुरसत के क्षणों में इतनी तारीफ़ करते हैं और जिनके साथ वे कुछ दूर का रिश्ता क़ायम करना चाहते हैं महज़ इसलिए कि उनके दिलों की कुछ भीतरी ख्वाहिशें पूरी हों या मौजूदा ज़िन्दगी के सख्त और जलते रेगिस्तान में कोई नख़लिस्तान मिले।

पूरब और पच्छिम के हर एक देश और लोगों का अपना व्यक्तित्व

रहा है, उनका सलीक़ा रहा है और उन्होंने ज़िंदगी के मसलों को अपने तरीक़े पर हल करने की कोशिश की है। यूनान की कुछ ख़ास बात है और अपने ढंग में वह निराला है यही बात हिंदुस्तान की है यही चीन और ईरान की। क़दीम हिंदुस्तान और क़दीम यूनान एक-दूसरे से मुख़्तलिफ़ थे, फिर भी मिलते जुलते थे उसी तरह जिस तरह क़दीम हिंदुस्तान और क़दीम चीन के बीच बावजूद बड़े इख़्तलाफ़ा के ख़यालों का मेल-जोल था। इन सबों का एक-सा उदार रवादारी का और काफ़िरों-जैसा नज़रिया था ज़िंदगी का और प्रकृति की अनंत विविधता और अपार सुंदरता का वे आनंद लेते थे कला से प्रेम था और थी वह अक़्लमंदी जो एक पुरानी जाति को उसके उचित अनुभवों की वजह से हासिल होती है। इनमें से हर एक ने अपनी क़ौमी ख़ासियत के बमूजिब तरक़्क़ी की। अपने यहां की क़ुदरती फ़िज़ा से असर लिया और ज़िंदगी के किसी एक पहलू पर औरों की बनिस्बत ज़्यादा ज़ोर दिया। यह ज़ोर सब जगह एक-सा नहीं है। यूनानियों ने एक क़ौम की हैसियत से मुमकिन है अपने मौजूदा ज़माने की ज़िंदगी में ज़्यादा उमंग से हिस्सा लिया हो और जो सौंदर्य और मधुरता उनके इर्द-गिर्द थी या जिसे उन्होंने ख़ुद पैदा किया था उसके रस में डूबे हों। हिंदुस्तानियों ने भी यह आनंद और मधुरता अपने मौजूदा ज़माने में ही पाई लेकिन साथ-ही-साथ उनकी आंखें और गहरे ज्ञान की तरफ़ भी थीं और उनके दिमाग़ अगोचर सवालों के हल में लगे हुए थे। चीनी इन मसलों और उनके रहस्यों को ख़ूब जानते हुए भी अक़्लमंदी के साथ उनमें उलझने से अलग रहे। अपने-अपने मुख़्तलिफ़ तरीक़ों से हर एक ने ज़िंदगी की ख़ूबसूरती और पूर्णता को व्यक्त करने की कोशिश की। इतिहास ने दिखा दिया है कि हिंदुस्तान और चीन की बुनियादें ज़्यादा मज़बूत थीं और उनमें टिकने की ज़्यादा ताक़त थी। वे अभी तक ज़िंदा हैं अगरचे बुरी तरह झकोरे खा चुके हैं और उनकी बड़ी तमस्ख़ुली हो चुकी है और भविष्य धुंधला है। पुराने यूनान की जो भी शान रही है उसकी ज़िंदगी थोड़े ज़माने की रही वह टिका न रह सका सिवाय इसके कि उसके आलीशान कारनामे हैं और उसका असर बाद में आनेवाली संस्कृतियों पर पड़ा है और उस छोटे और रोशन दिन की भरी-पूरी ज़िंदगी की यादगार बाक़ी है। शायद अपने मौजूदा ज़माने में उसकी इस हद की दिलचस्पी रही कि अब वह गुज़रा हुआ ज़माना बन के रह गया।

अपनी भावना और दृष्टिकोण में हिंदुस्तान यूरोपीय राष्ट्रों की बनिस्बत पुराने यूनान के ज़्यादा क़रीब है यद्यपि वे अपने को यूनानी संस्कृति के वारिस बताते हैं। हम इस बात को भूल सकते हैं क्योंकि हम तक कुछ ऐसे

खयाल चले आ रहे हैं जो तरक्की के काम और करने के रास्ते में रुकावट डालते हैं। कहा जाता है कि हिंदुस्तान में मजहब और फ़िलसफ़ा और चिंतन और अध्यात्म पनपते हैं और हिंदुस्तानी इस दुनिया की बातों से उदासीन हैं, और जो कुछ इससे परे है या बाद की दुनिया का है उसके सपना में खोया रहता है। हमको बताया यही जाता है और शायद जो लोग हमसे ऐसा कहते हैं वे चाहेंगे भी कि हिंदुस्तान विचार और चिंतन में डूबा और उलझा रहे और वे लोग इस दुनिया को और उसके सभी पदार्थों को इन विचारकों से आज़ाद रहकर अपने क़ब्ज़े में रख सकें और उनका उपभोग कर सकें। हाँ हिंदुस्तान में यह सब कुछ रहा है लेकिन इससे और ज़्यादा बातें भी रही हैं। उसने बचपन के भोलेपन और मासूमियत को जाना है, जवानी की उमंगें और मस्तियाँ देखी हैं और बुज़ुर्गी में वह ज्ञान हासिल किया है जो सुख दुख के अनुभव से ही आता है और बार-बार उसने अपने बचपन अपनी जवानी और अपनी बुज़ुर्गी को ताज़ा किया है। उम्र और आकार के ज़बरदस्त बोझ ने उसे दबा दिया है पस्ती लानेवाले रीति-रिवाजों और बुरे अमल ने उसमें घर कर लिया है ढुकैनी कीड़े उसमें चिपटे हुए उसका ख़ून चूस रहे हैं लेकिन इन सबके पीछे युगों की ताक़त और एक क़दीम जाति की भीतरी अक़्ल है क्योंकि हम बहुत पुराने लोग हैं अनगिनती सदियाँ हमारे कानों में धीमे स्वर में अपनी कहानी कह रही हैं। लेकिन हमने अपनी जवानी को बार-बार ताज़ा किया है मगर वे उन गुज़रे हुए युगों की यादें और सपने क़ायम रहे हैं।

यह कोई गुप्त सिद्धांत या गूढ़ विद्या नहीं है जिसने हिंदुस्तान को इतने लंबे युगों तक ज़िंदा और क़ायम रखा जिस चीज़ ने ऐसा किया है वह है उसकी कोमल मानवता उसकी बहुरंगी और रवादारी बरतनेवाली संस्कृति और ज़िंदगी और उसके भेद-भरे तरीक़ों की गहरी सूझ-बूझ। उसकी भरी-पूरी जीवनी-शक्ति की धार उसकी शानदार कला और साहित्य में युग-युग से बहती आई है, हालाँकि इसका बहुत थोड़ा हिस्सा हमें आजकल हासिल है और ज़्यादा हिस्सा या तो छिपा पड़ा है या क़ुदरत और इन्सान की ग़ारतगरी से जाया हो चुका है। एलीफ़ेंटा की गुफा की त्रिमूर्ति में हम पूरे हिंदुस्तान की बहुमुखी मूर्ति देख सकते हैं—शक्तिशाली आँखों में मजबूर कर देनेवाली ताक़त रखनेवाली गहरे ज्ञान और समझ-बूझवाली जो हमारी तरफ़ देख रही है। अजंता के दीवार के चित्रों में हमें कोमलता और सौंदर्य और जीवन से प्रेम दिखाई देता है, लेकिन हमेशा कुछ और गहरी चीज़ का ऐसी चीज़ का जो हमसे परे है, आभास मिलता है।

भूगोल और आबोहवा के लिहाज से यूनान हिंदुस्तान से मुख्तलिफ़ है। वहां कोई ऐसी नदियां नहीं जो सचमुच की नदियां कहला सकें कोई जंगल नहीं कोई बड़े वृक्ष नहीं जिनकी हिंदुस्तान में बहुतायत है। अपनी विशालता और परिवर्तनशीलता से समुद्र ने यूनानियों पर जो असर डाला है वह हिंदुस्तानियों पर नहीं पड़ा सिवाय इसके कि उन हिंदुस्तानियों पर पड़ा हो जो समुद्र के किनारे बसते हैं। हिंदुस्तान की जिंदगी खुश्की की जिंदगी रही है, बड़े-बड़े मैदानों विशाल पर्वतों जोरदार नदियों और घने जंगलों का इसमें हिस्सा रहा है। यूनान में भी कुछ पहाड़ रहे हैं और यूनानियों ने ओलिंपस को अपने देवताओं का उसी तरह निवास बनाया है जिस तरह कि हिंदुस्तानियों ने अपने देवताओं और ऋषियों को हिमालय की ऊंचाइयों पर जगह दी है। दोनों ने देवताओं की गाथाएं रची हैं और ये इतिहास के साथ इतनी मिल-जुल गई हैं कि घटनाओं को गढ़त से छुड़ाना मुश्किल हो गया है। पुराने यूनानी कहा जाता है न भोगी थे और न योगी थे मानव को बुरा या पाप जानकर उससे दूर नहीं भागते थे न वे जान-बूझकर उस तरह के मामलों में पड़ते थे जिनमें इस जमाने के लोग पड़ते हैं। जिस तरह से हम अपनी इच्छाओं का दमन करते हैं, वैसा किये बगैर वे जिंदगी में जोश से हिस्सा लेते थे और जिस काम में लगते थे खूब लगते थे और इस तरह से वे हमारी बनिस्बत जिंदगी का ज्यादा लुत्फ़ लेते थे। हिंदुस्तान की जिंदगी के बारे में भी हम अपने पुराने साहित्य से कुछ ऐसा ही असर लेते हैं। हिंदुस्तान में तपस्या की जिंदगी का भी एक पहलू रहा है जैसाकि बाद में यूनान में भी रहा है, लेकिन यह बहुत थोड़े आदमियों तक महदूद था और जनता की जिंदगी पर इसका असर न था। यह पहलू जैन और बौद्ध-धर्म के दिनों में कुछ जोर पकड़ गया था लेकिन फिर भी इसने जिंदगी की पृष्ठभूमि को ज्यादा नहीं बदला था।

जिंदगी जैसी भी थी उसे हिंदुस्तान और यूनान दोनों जगह कुबूल किया गया था और लोग उसे पूरी तरह बसर करते थे फिर भी इस तरह का यकीन था कि एक खास किस्म की मजहबी जिंदगी बेहतर होती है। इससे कुतूहल और कल्पना को गुंजाइश होती थी लेकिन जांच की यह भावना पदार्थों के बारे में अनुभव प्राप्त करने की तरफ नहीं झुकती थी बल्कि कुछ विचारों को जाहिरा तौर पर सही क्यास करके उन पर तर्कपूर्ण दलील की तरफ़ जाती थी। वैज्ञानिक तरीक़ों के आने से पहले बरअसल सभी जगह यही रुख हुआ करता था। शायद यह सोच-विचार कुछ थोड़े ऊंचे तबक़े के लोगों तक महदूद था फिर भी साधारण शहरियों पर भी इसका असर पड़ता ही था,

और वे भी फ़िलसफ़े के मसलों पर आपस में और बातों के साथ चुनी-चुनी सभाओं में बहस करते थे। लोगों का रहन-सहन जैसा आज भी हिन्दुस्तान में खासकर देहातों में है, पंचायती ढंग का था और लोग भारत में बाज़ार में या मंदिरों और मसजिदों में या पनघटों पर या जहाँ पंचायत घर होते, इकट्ठा होकर दिन की खबरों और आम ज़रूरतों पर विचार करते थे। यहीं लोकमत बनता था और उसका व्यवहार होता था। ऐसी चर्चाओं के लिए काफ़ी फ़ुरसत रहा करती थी।

फिर भी यूनानियों के बहुत-से शानदार कारनामों में से एक ऐसा है जो औरों से बढ़-चढ़कर है—यानी प्रयोगात्मक विज्ञान की शुरुआत। इसकी तरक्की जैसी यूनानी सभ्यता के भीतर आए हुए प्रदेश सिकंदरिया में हुई, वैसी खुद यूनान में नहीं हो पाई और ईसा से पहले ३१० से ११ तक इसी को दुनिया में वैज्ञानिक उन्नति और यंत्रों के आविष्कार में नये दम लिये। हिन्दुस्तान में इसके मुकाबले की कोई चीज़ नहीं मिलती और हिन्दुस्तान ही क्या कहीं और भी हम ऐसी बात सत्रहवीं सदी तक नहीं पाते हैं जब फिर विज्ञान ने नये कदम भरे। रोम ने भी बावजूद अपने साम्राज्य के एक विस्तृत प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के और यूनानी सभ्यता से संपर्क होने के और कई कौमों के ज्ञान और तजुरबे से फ़ायदा उठाने के मौकों के विज्ञान, आविष्कार या यांत्रिक विकास को कोई खास देन नहीं दी। यूरोप में यूनान और रोम की तहज़ीब के विनष्ट होने पर ये अरब थे, जिन्होंने विज्ञान की लौ को मध्य युगों में जगाये रखा।

सिकन्दरिया की विज्ञान और आविष्कार की यह तरक्की यक़ीनी तौर पर ज़माने की समाजी उपज और एक बढ़ते हुए समाज और जहाज़रानी की ज़रूरतों का नतीजा था, उसी तरह जिस तरह कि अंक-गणित और बीज-गणित का विकास—शून्यांक और दशमलवों का आविष्कार—हिन्दुस्तान में बढ़ते हुए व्यापार और जटिल होते हुए संगठन के लिहाज़ से समाजी ज़रूरतों का परिणाम था। लेकिन यों आमतौर पर पुराने यूनानियों में कहाँ तक विज्ञान के लिए रुझान था यह नहीं कहा जा सकता। उनकी ज़िंदगी अपनी परंपरा के नमूने पर चली होगी जिसकी बुनियाद में उनका पुराना फ़िलसफ़ियाना नज़रिया था जो इन्सान और कुदरत के बीच समरसता और मेल चाहता था। यह नज़रिया पुराने यूनान और हिन्दुस्तान में एक-सा था। हिन्दुस्तान की तरह यूनान में भी साल त्योहारों में बँटा हुआ था और मौसम-मौसम के उत्सव हुआ करते थे जो इन्सान को कुदरत के स्वर के साथ मिलाये रहते थे। हिन्दुस्तान में अब भी ये त्योहार मनाये जाते हैं, वसंत में और फ़सल कटने के समय

और दीपावली जो रोशनी का त्योहार है और शरद के अंत में मनाया जाता है और होली का उत्सव जो शुरू गरमी में मनाया जाता है और इनके अलावा पौराणिक पुरुषों के नाम पर त्योहार चलते हैं। अब भी इन उत्सवों में कुछ के मौकों पर लोकगीत और लोकनृत्य होते हैं जैसे रामलीला या कृष्ण का गोपियों के साथ नाच।

पुराने हिंदुस्तान में औरतें अलग-थलग नहीं रहती थीं सिवाय कुछ हद तक राज-घराने और कुलीन वर्ग की औरतों के। शायद यूनान में मर्द और औरतें उस जमाने में हिंदुस्तान के मुकाबले में ज्यादा अलग रहते थे। पुरानी हिंदुस्तानी किताबों में मशहूर और विदुषी औरतों का अक्सर जिक्र आता है और अक्सर वे खुले शास्त्रार्थों में हिस्सा लिया करती थी। यूनान में शादी जाहिरा तौर पर सिर्फ आपस के मुआहदे की बात थी लेकिन हिंदुस्तान में यह हमेशा धार्मिक संस्कार समझी गई है अगरचे और तरह की शादियों का भी जिक्र आया है।

यूनान की औरतें भी जान पड़ता है, हिंदुस्तान में खास आवभगत होती थी। जैसाकि पुराने नाटकों से पता चलता है राज-दरबारों की दासियां अक्सर यूनानी हुआ करती थीं। यूनान से हिंदुस्तान में आनेवाली खास चीजों में जो बेरी गैजा (पश्चिमी हिंदुस्तान में भड़ोच) के बंदरगाह में उतरती थीं "गानेवाले लड़कों और खूबसूरत लड़कियां" का होना बताया जाता है। चंद्रगुप्त मौर्य का रहन-सहन बताते हुए मेगस्थनीज कहता है—"राजा का खाना औरतें पकाती थीं और वे ही शराब भी पेश किया करती थीं जिसका सभी हिंदुस्तानियों में चलन है। कुछ शराब यकीनी तौर पर यूनान या उसके उपनिवेशों से आती थी क्योंकि एक पुराना तमिळ कवि "यवनों (आयोनियन या यूनानियों) द्वारा अपने अच्छे जहाजों में लाई ठंडी सुगंधित शराब" का हवाला देता है। एक यूनानी बयान है कि पाटलिपुत्र के राजा (शायद अशोक का पिता बिंदुसार) ने ऐंटिओकस को लिखा कि हमें मीठी शराब सूखी अंजीर और एक सोफिस्ट फिलसूफ खरीदकर भेज दो। ऐंटिओकस ने जवाब दिया—'हम आपको अंजीर और शराब भेजेंगे लेकिन यूनानी कानून सोफिस्ट की बिक्री की इजाजत नहीं देता।

यूनानी-साहित्य से यह साफ पता चलता है कि सम-लिंगी संबंध को बुरा नहीं माना जाता था। दरअसल इसकी जानिब एक सरस अनुमोदन का भाव था। शायद इसकी वजह यह थी कि युवावस्था में लड़के-लड़कियां अलग रखे जाते थे। इसी तरह की प्रवृत्ति ईरान में पाई जाती है और फारसी-साहित्य में इसके हवाले भरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि

माशूक की एक युवक के रूप में कल्पना करना साहित्यिक-परंपरा का अंग बन गया था। संस्कृत साहित्य में ऐसी कोई बात नहीं मिलती और यह जाहिर है कि हिंदुस्तान में सम-लिंगी संबंध न पसंद किया जाता था और न प्रचलित ही था।

यूनान और हिंदुस्तान के आपस के संपर्क उस जमाने से मिलते हैं, जबसे कि लिखा हुआ इतिहास मिलता है और बाद के जमाने में हिंदुस्तान के और यूनानी असर में आये हुए पच्छिमी एशिया के क़रीबी ताल्लुक रहे हैं। मध्य प्रदेश में उज्जयिनी (अब उज्जैन) में जो बहुत बड़ी वेधशाला है, उसका मिस्र के सिकंदरिया से संबंध था। संपर्क की इस लंबी मुद्दत में इन दो जातियों के बीच विचार और संस्कृति की दुनिया में आपस के बहुत-से तबादले हुए होंगे। किसी यूनानी किताब में यह रवायत दर्ज है कि कुछ हिंदुस्तानी सुकरात के पास आये और उन्होंने उससे सवाल किये। पैथागोरस पर हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े का खास असर हुआ था और प्रोफ़ेसर एच० जी० रौलिन्सन का कहना है कि 'धर्म फ़िलसफ़े और गणित के क़रीब-क़रीब सभी सिद्धांत, जिनकी पैथागोरस के अनुयायी तालीम दिया करते थे हिंदुस्तान में ईसा से पहले की छठी सदी में मालूम थे। उत्तरकाल के यूनान और रोम का खास अध्ययन करनेवाले एक यूरपीय विद्वान ने अफ़लातून की 'रिपब्लिक' नाम की किताब की व्याख्या हिंदुस्तानी विचार के आधार पर की है।[1] ईसाई-तत्त्ववाद को यूनानी अफ़लातूनी और हिंदुस्तानी तत्त्वों को मिलाकर एक करने की कोशिश समझा गया है। टियाना का फ़िलसूफ़ एपोलोनियस शायद पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में तक्षशिला में ईसाई संवत के शुरू में आया था।

मशहूर यात्री और विद्वान अलबेरूनी जो मध्य-एशिया के तुरफ़ान में पैदा हुआ एक फ़ारसी था हिंदुस्तान में ग्यारहवीं सदी ईस्वी में आया। उसने यूनानी फ़िलसफ़ा जो बगदाद में एक इस्लामी जमाने में आम पसंद था पढ़ रखा था। हिंदुस्तान में आकर उसने संस्कृत सीखने में मेहनत की जिससे वह हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े को पढ़ सके। उसने दोनों में बहुत-सी समान बातें देखीं और दोनों का मुकाबला उसने अपनी किताब में किया है। वह ऐसी संस्कृत किताबों के हवाले देता है, जिनमें यूनानी ज्योतिष और रोमन ज्योतिष का बयान हुआ है।

---

[1] लिविंग्स्टन अपनी 'दि ग्रीक कामनवेल्थ' किताब में उत्तरकाल की किताब 'दि मेसेज ऑफ़ प्लेटो' (१९२ ) का हवाला दिया है। मैंने यह किताब नहीं देखी है।

अगरचे लाज़िमी तौर पर इनका एक-दूसरे पर असर रहा है, फिर भी यूनानी और हिंदुस्तानी तहज़ीबों में से हर एक इतनी मज़बूत रही है कि अपनी जगह पर मुस्तक़िल रहे और अपनी ख़ासियत की बिनाह पर तरक़्क़ी कर सके। पुरानी प्रवृत्ति सभी चीज़ों को यूनान या रोम से निकली हुई बताने की रही है लेकिन इस प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया हुई है और एशिया और ख़ास तौर पर हिंदुस्तान के कारनामों पर ग़ौर किया गया है। प्रोफ़ेसर टार्न कहते हैं—"मोटे रूप से एशिया ने यूनान से जो भी लिया वह आमतौर पर महज़ बाहरी बातें हैं उसने केवल रूप-रेखा ली। शायद ही उसने भीतरी बातें ग्रहण की हों—नागरिक संस्थाएं चाहे एक अपवाद हों—और भाव तो उसने लिया ही नहीं क्योंकि भाव के मामले में एशिया को हमेशा यक़ीन रहा है कि वह यूनान को दूर बिठा सकता है और उसने दूर बिठाया है। फिर लिखते हैं—"हिंदुस्तानी तहज़ीब इतनी मज़बूत थी कि यूनानी तहज़ीब के मुक़ाबले में डटी रह सके लेकिन मज़हब को छोड़कर और मामलों में ज़ाहिरा इतनी मज़बूत न थी कि अपना वैसा असर डाल सके जैसाकि बेबिलन ने उस पर डाला फिर भी ऐसा ख़याल करने की हमें वजह मिल सकती है कि कुछ बातों में हिंदुस्तान एक ख़ासो साझेदार था। "बुद्ध की प्रतिमा को छोड़ दें तो यह कहा जा सकता है कि अगर यूनानियों का कभी वजूद न होता तो भी हिंदुस्तान का इतिहास मुख्य-मुख्य बातों में ठीक वैसा ही रहता जैसाकि रहा है।"

यह एक दिलचस्प ख़याल है कि हिंदुस्तान में मूर्ति-पूजा यूनान से आई। वैदिक-धर्म सभी तरह की मूर्ति-पूजा के ख़िलाफ़ था। देवताओं के लिए कोई मंदिर तक न थे। मूर्ति-पूजा के कुछ निशानात हिंदुस्तान के पुराने विश्वासों में मिलते हैं अगरचे मूर्ति-पूजा यक़ीनी तौर पर बहुत फैली नहीं थी। बुद्ध का बौद्ध-धर्म इसका कट्टर विरोधी था और बुद्ध की मूर्तियां और प्रतिमाएं तैयार करने की ख़ास मनाही थी। लेकिन यूनानी कला का असर अफ़ग़ानिस्तान में और सरहद के आस-पास काफ़ी गहरा था और रफ़्ता रफ़्ता उस असर ने काम किया। फिर भी शुरू में बुद्ध की कोई मूर्तियां नहीं बनीं बल्कि बोधिसत्वों की (जिन्हें बुद्ध के पहले के अवतार समझा जाता है) अपोलो-जैसी मूर्तियां बनीं। इसके बाद खुद बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। इससे हिंदु-धर्म के कुछ रूपों में भी मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन मिला हालांकि वैदिक-धर्म पर यह असर न पड़ा और वह इससे बचा रहा। मूर्ति या प्रतिमा के लिए फ़ारसी और हिंदुस्तानी में अबतक शब्द है 'बुत' जो बुद्ध से निकला है।

इन्सान के दिमाग़ में जान पड़ता है, ज़िंदगी और प्रकृति और विश्व

माशूक की एक युवक के रूप में कल्पना करना साहित्यिक-परंपरा का अंग बन गया था। संस्कृत साहित्य में ऐसी कोई बात नहीं मिलती और यह जाहिर है कि हिंदुस्तान में सम-लिंगी संबंध न पसंद किया जाता था और न प्रचलित ही था।

यूनान और हिंदुस्तान के आपस के संपर्क उस जमाने से मिलते हैं जबसे कि लिखा हुआ इतिहास मिलता है और बाद के जमाने में हिंदुस्तान के और यूनानी असर में आये हुए पच्छिमी एशिया के करीबी ताल्लुक रहे हैं। मध्य प्रदेश में उज्जयिनी (अब उज्जैन) में जो बहुत बड़ी वेधशाला है, उसका मिस्र के सिकंदरिया से संबंध था। संपर्क की इस लंबी मुद्दत में इन दो वहूमियों के बीच विचार और संस्कृति की दुनिया में आपस के बहुत-से तबादले हुए होंगे। किसी यूनानी किताब में यह रवायत दर्ज है कि कुछ हिंदुस्तानी सुकरात के पास आये और उन्होंने उससे सवाल किये। पैथागोरस पर हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े का खास असर हुआ था और प्रोफ़ेसर एच. जी. रौलिन्सन का कहना है कि "धर्म फ़िलसफ़े और गणित के क़रीब-क़रीब सभी सिद्धांत जिनकी पैथागोरस के अनुयायी तालीम दिया करते थे हिंदुस्तान में ईसा से पहले की छठी सदी में मालूम थे। वर्बिक नाम के यूनान और रोम का खास अध्ययन करनेवाले एक यूरपीय विद्वान ने अफ़लातून की 'रिपब्लिक' नाम की किताब की व्याख्या हिंदुस्तानी विचार के आधार पर की है।"[1] ईसाई तत्ववाद को यूनानी अफ़लातूनी और हिंदुस्तानी तत्वों को मिलाकर एक करने की कोशिश समझा गया है। रियाना का फ़िलसूफ़ एपोलोनियस शायद पच्छिमोत्तर हिंदुस्तान में तक्षशिला में ईसाई संवत के शुरू में आया था।

मशहूर यात्री और विद्वान अलबेरूनी जो मध्य-एशिया के खुरासान में पैदा हुआ एक फ़ारसी था हिंदुस्तान में ग्यारहवीं सदी ईसवी में आया। उसने यूनानी फ़िलसफ़ा को बग़दाद में शुरू इस्लामी जमाने में खास पसंद या पढ़ रखा था। हिंदुस्तान में आकर उसने संस्कृत सीखने में मेहनत की जिससे वह हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े को पढ़ सके। उसने दोनों में बहुत-सी समान बातें देखीं और दोनों का मुक़ाबला उसने अपनी किताब में किया है। वह ऐसी संस्कृत किताबों के हवाले देता है जिनमें यूनानी ज्योतिष और रोमन ज्योतिष का बयान हुआ है।

---

[1] विमर्न ने अपनी 'दि ग्रीक कामनवेल्थ' किताब में वर्बिक की किताब 'दि मेसेज ऑव प्लेटो' (१९२ ) का हवाला दिया है। मैंने यह किताब नहीं देखी है।

अगरचे क़ायमी तौर पर इनका एक-दूसरे पर असर रहा है, फिर भी यूनानी और हिंदुस्तानी तहज़ीबों में से हर एक इतनी मज़बूत रही है कि अपनी जगह पर मुस्तक़िल रहे और अपनी ख़ासियत की बिनाह पर तरक़्क़ी कर सके। पुरानी प्रवृत्ति सभी चीज़ों को यूनान या रोम से निकली हुई बताने की रही है, लेकिन इस प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ प्रतिक्रिया हुई है, और एशिया और ख़ास तौर पर हिंदुस्तान के कारनामों पर ग़ौर किया गया है। प्रोफ़ेसर टार्न कहते हैं—"मोटे ढंग से एशिया ने यूनान से जो भी लिया वह आमतौर पर महज़ बाहरी बातें हैं, उसने केवल रूप-रेखा ली। शायद ही उसने भीतरी बातें ग्रहण की हों—नागरिक संस्थाएं चाहे एक अपवाद हों—और भाव तो उसने लिया ही नहीं, क्योंकि भाव के मामले में एशिया को हमेशा यक़ीन रहा है कि वह यूनान को दूर बिठा सकता है, और उसने दूर बिठाया है।" फिर लिखते हैं—"हिंदुस्तानी तहज़ीब इतनी मज़बूत थी कि यूनानी तहज़ीब के मुक़ाबले में डटी रह सके, लेकिन मज़हब को छोड़कर और मामलों में ज़ाहिरा इतनी मज़बूत न थी कि अपना वैसा असर डाल सके जैसाकि बेबिलन ने उस पर डाला। फिर भी ऐसा क़यास करने की हमें वजह मिल सकती है कि कुछ बातों में हिंदुस्तान एक हामी साझेदार था।" "बुद्ध की प्रतिमा को छोड़ दें, तो यह कहा जा सकता है कि अगर यूनानियों का कभी वजूद न होता, तो भी हिंदुस्तान का इतिहास मुख्य-मुख्य बातों में ठीक वैसा ही रहता, जैसाकि रहा है।"

यह एक दिलचस्प ख़याल है कि हिंदुस्तान में मूर्ति-पूजा यूनान से आई। वैदिक-धर्म सभी तरह की मूर्ति-पूजा के ख़िलाफ़ था। देवताओं के लिए कोई मंदिर तक न थे। मूर्ति-पूजा के कुछ निशानात हिंदुस्तान के पुराने विश्वासों में मिलते हैं, अगरचे मूर्ति-पूजा यक़ीनी तौर पर बहुत फैली नहीं थी। शुरू का बौद्ध-धर्म इसका कट्टर विरोधी था और बुद्ध की मूर्तियां और प्रतिमाएं तैयार करने की ख़ास मनाही थी। लेकिन यूनानी कला का असर अफ़ग़ानिस्तान में और सरहद के आस-पास काफ़ी गहरा था और रफ़्ता-रफ़्ता उस असर ने काम किया। फिर भी शुरू में बुद्ध की कोई मूर्तियां नहीं बनीं, बल्कि बोधिसत्वों की (जिन्हें बुद्ध के पहले के अवतार समझा जाता है) अपोलो-जैसी मूर्तियां बनीं। इसके बाद ख़ुद बुद्ध की मूर्तियां बनने लगीं। इससे हिंदू-धर्म के कुछ रूपों में भी मूर्ति-पूजा को प्रोत्साहन मिला, हालांकि वैदिक-धर्म पर यह असर न पड़ा और वह इससे बचा रहा। मूर्ति या प्रतिमा के लिए फ़ारसी और हिंदुस्तानी में अबतक लफ़्ज़ है 'बुत', जो बुद्ध से निकला है।

इन्सान के दिमाग़ में जान पड़ता है, ज़िंदगी और प्रकृति और विश्व

बहुत काफ़ी साहित्य इस पर तैयार हो चुका रहा होगा और इसके पीछे कई सदियों का रफ़्ता-रफ़्ता विकास जान पड़ता है। हाल में छोटा नागपुर की रामगढ़ की पहाड़ियों में एक ऐसे क़दीम नाट्यघर का पता चला है, जिसकी तारीख़ ईसा से पहले की दूसरी सदी बताई जाती है। यह मार्के की बात है कि 'नाट्यशास्त्र' में जो रंगमंच का आम बयान मिलता है, उससे इस नाटकघर का नक़्शा मेल खाता है।

अब यक़ीन किया जाने लगा है कि ईसा से पहले की तीसरी सदी में नियमित रूप से लिखे गये संस्कृत नाटक पूरी-पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुके थे बल्कि कुछ विद्वानों का ख़याल है कि यह बात ई० पू० पांचवीं सदी में ही हो गई थी। जो नाटक मिलते हैं उनमें और पहले के नाटककारों और नाटकों के हवाले अक्सर आते हैं, जिनका अभीतक पता नहीं चला है। ऐसे खोये हुए नाटककारों में एक भास था जिसकी बाद के नाटककारों ने बड़ी तारीफ़ की है। इस सदी के शुरू में इसके तेरह नाटकों का एक संग्रह खोज में हाथ आया। अबतक मिले संस्कृत नाटकों में अश्वघोष के नाटक हैं। अश्वघोष ईसवी सवत के ठीक पहले या बाद हुआ था। दरअसल ये नाटकों के कुछ टुकड़े मात्र हैं, जो ताड़-पत्र पर अंकित हैं और एक ताज्जुब की बात है कि गोबी रेगिस्तान के किनारे तुरफ़ान में पाये गए हैं। अश्वघोष एक धर्म-परायण बौद्ध था और इसने 'बुद्ध चरित' भी लिखा है जो बुद्ध की जीवनी है और मशहूर है और बहुत ज़माने से हिंदुस्तान चीन और तिब्बत में आम-पसंद रहा है। किसी ज़माने में इसका तर्जुमा चीनी ज़बान में हो चुका है और इसका तर्जुमा करनेवाला एक हिंदुस्तानी था।

जहांतक पुराने हिंदुस्तानी नाटकों के इतिहास की बात है, इन खोजों ने हमारे सामने एक नया ही दृश्य ला दिया है और हो सकता है कि अगर और खोजें हों और नई रचनाएं मिलें तो हिंदुस्तानी संस्कृति के इस मनोरंजक विकास पर और रोशनी पहुंचे क्योंकि सैलवां लेवी ने अपनी पुस्तक 'ल थियेत्र इंदियां' ('हिंदुस्तानी रंगमंच') में लिखा है—"नाटक में उदय होती हुई सभ्यता की महत्तम अभिव्यक्ति होती है। यह असली जिंदगी का बयान करता है। यह एक चमत्कारी रूप में सारभूत तथ्यों को गौण बातों से अलग करके हमारे सामने एक प्रतीक के रूप में रखता है। हिंदुस्तान की मौलिकता की उसकी नाट्य-कला में पूरी-पूरी अभिव्यक्ति हुई है—इस कला में हिंदुस्तान की कड़ियां ख़यालों और संस्थाओं का मिला-जुला सार पाया जाता है।

यूरोप ने प्राचीन हिंदुस्तानी नाटकों के बारे में तब जाना जब सन

१७८९ में सर विलियम जोन्स ने कालिदास के 'शकुंतला' का अनुवाद प्रकाशित किया। इस खोज से यूरोप के विचारशील लोगों में हलचल पैदा हो गई और इस पुस्तक के कई संस्करण निकले। सर विलियम जोन्स के अनुवाद के सहारे जर्मन, फ्रेंच, डेनिश और इटालियन में भी इसके अनुवाद हुए। गेटे पर इसका गहरा असर हुआ और उसने 'शकुंतला' की जी खोलकर तारीफ़ की। 'फ़ाउस्ट' में प्रस्तावना जोड़ने का विचार, कहा जाता है, उसके मन में कालिदास की प्रस्तावना को पढ़कर उठा और यह संस्कृत नाटकों की साधारण परंपरा के अनुसार ही लिखी गई थी।[1]

---

[1] हिंदुस्तानी लेखकों की यह प्रवृत्ति रही है (और इसका मैं भी शिकार रहा हूं) कि वे यूरोपीय विद्वानों की रचनाओं में से ऐसे चुने हुए टुकड़े और उद्धरण पेश करते हैं जो पुराने हिंदुस्तानी साहित्य और फ़िलसफ़े की तारीफ़ में हों। उतनी ही आसानी से, बल्कि और ज़्यादा आसानी से ऐसे उद्धरण भी पेश किये जा सकते हैं जो इनके बर-अक्स हों। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में हिंदुस्तानी विचार और फ़िलसफ़े के बारे में यूरोपीय विद्वानों ने जो जानकारी हासिल की उससे उनमें बड़ा उत्साह पैदा और उन्होंने इनकी बड़ी तारीफ़ें कीं। ऐसा ख़याल किया गया कि ये चीज़ें उनकी एक ज़रूरत को पूरा करती हैं जिसे यूरोपीय संस्कृति नहीं कर पाई है। फिर एक प्रतिक्रिया शुरू हुई और यह धारणा पलटी और आलोचनाएं होने लगीं और संदेह उठा। इसका कारण यह हुआ कि यह फ़िलसफ़ा कोरा शास्त्र का और निरूप हुआ समझा गया और हिंदुस्तानी समाज के कड़े जात-पांत के बंधनों को भी बुरा माना गया। ये दोनों ही तरह की प्रतिक्रियाएं ऐसी थीं जिनकी बुनियाद में पुराने हिंदुस्तानी साहित्य की नाकाफ़ी जानकारी थी। ख़ुद गेटे की राय ने पलटा खाया और उसने एक तरफ़ तो यह क़बूल किया है कि हिंदुस्तानी विचार ने पश्चिमी सभ्यता को ज़ोरदार उत्तेजना दी है, और दूसरी तरफ़ इसके गहरे असर को मानने से इन्कार किया है। हिंदुस्तान के बारे में यूरोपीय विचार का यह दो-तरफ़ा और विरोधी नज़रिया एक ख़ास बात रही है। हाल में महान यूरोपीय रोम्यां रोलां ने जो सबसे अच्छा यूरोपीय संस्कृति के नुमाइंदे हैं, एक ज़्यादा समन्वय का और हिंदुस्तानी विचार की बुनियादी बातों के लिए एक बहुत दोस्ताना नज़रिया सामने रखा है। उनके ख़याल से पूरब और पश्चिम मानवी आत्मा के लगातार संघर्ष के अलग-अलग पहलुओं की नुमाइंदगी करते हैं। इस विषय—हिंदुस्तानी विचार की तरफ़ पश्चिमी प्रतिक्रिया—पर शांतिनिकेतन विश्वविद्यालय के मि. अलेक्स एरनसन ने बड़ी जानकारी और क़ाबलियत के साथ लिखा है।

कालिदास संस्कृत-साहित्य का सबसे बड़ा कवि और नाटककार माना गया है। प्रोफ़ेसर सिल्वां लेवी ने लिखा है—"हिंदुस्तानी कविता और साहित्य के क्षेत्र में कालिदास का नाम चमक रहा है। नाटक महाकाव्य और विरह गीत आज भी इस कलाकार की प्रतिभा और सूझ-बूझ का सबूत दे रहे हैं। सरस्वती के वरद पुत्रों में यह अद्वितीय है और इसे ही ऐसी महान रचना करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है जिससे हिंदुस्तान का आदर बढ़ा है और खुद मानवता ने अपने को पहचाना है। उज्जयिनी में 'शकुंतला' के जन्म पर जो आलोक हुआ था उसने कई लंबी सदियों बाद पश्चिम की दुनिया को भी तब आलोकित किया जब विलियम जोन्स ने इसका उसे परिचय कराया। कालिदास ने अपने लिए उज्ज्वल तारों के बीच स्थान कर लिया है, जहां हर एक नाम इन्सानी भावना के एक युग की नुमाइंदगी करता है। इन नामों का सिलसिला इतिहास की रचना करता है, बल्कि यों कहिये कि खुद इतिहास बन जाता है।

कालिदास ने और नाटक भी लिखे हैं और कुछ लंबे काव्य रचे हैं। उसका वक्त ठीक-ठीक नहीं तय हो पाया है लेकिन अनुमान है कि वह चौथी सदी ईसवी के अंत के लगभग उज्जयिनी में गुप्त खानदान के चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के ज़माने में था। परंपरा कहती है कि वह इस दरबार के नव रत्नों में से एक था और इसमें कोई शक नहीं कि उसकी प्रतिभा को लोगों ने पहचाना और उसकी अपनी जिंदगी में पूरी क़द्र हुई। वह उन भाग्यवानों में से था जिन्हें ज़िंदगी में आदर मिला और जिन्होंने सुंदरता और कोमलता को—जिंदगी की कड़ाइयों और रूखेपन के मुक़ाबले में—ज़्यादा अनुभव किया। उसकी रचनाओं में ज़िंदगी के लिए प्रेम और प्रकृति की सुंदरता के लिए एक उमंग मिलती है।

कालिदास की एक बड़ी कविता है 'मेघदूत'। एक प्रेमी है, जिसे पकड़कर अपनी प्रेयसी से अलग कर दिया गया है, बरसात के मौसम में एक बादल से अपनी गहरी चाह का संदेसा उसके पास पहुंचाने के लिए कहता है। इस कविता की और कालिदास की अमरीकी विद्वान राइडर ने जी खोलकर तारीफ़ की है। वह कविता के दो हिस्सों का हवाला देते हुए कहते हैं— 'पहले आधे में बाहरी प्रकृति का बयान है लेकिन उसमें इन्सानी जज़्बे पिरोये हैं, दूसरे आधे में इन्सानी दिल की तस्वीर है लेकिन यह तस्वीर प्रकृति की सुंदरता के चौखटे में मढ़ी हुई है। यह काम इतनी होशियारी से किया गया है कि यह कहना मुश्किल हो जाता है कि कौन-सा आधा हिस्सा ज़्यादा अच्छा है। जो लोग इस मुकम्मिल कविता को मूल में पढ़ते हैं, उनमें से

कुछ एक हिस्से को कुछ दूसरे को ज्यादा पसंद करते हैं। पांचवीं सदी में कालिदास ने यह बात समझ ली थी जिसे यूरोप ने उन्नीसवीं सदी तक न समझा और जिसे वह अब भी एक अधूरे ढंग से समझ रहा है, यानी दुनिया आदमी के लिए नहीं बनी है और यह कि वह अपना पूरा रुतबा तभी हासिल करता है जबकि वह उस जिंदगी की शान और कीमत समझ लेता है जो इन्सानी जिंदगी से जुदा है। कालिदास ने इस हकीकत को पा लिया था यह उसकी दिमागी ताकत का शानदार सबूत है यह ऐसा गुण है कि जो ऊंचे दर्जे की कविता के लिए उतना ही जरूरी है जितना कि बाहरी रूप-रेखा की पूर्णता। कविता में प्रवाह कोई दुर्लभ बात नहीं दिमागी समझ-बूझ भी बहुत असाधारण चीज नहीं लेकिन दोनों का मेल जबसे कि दुनिया शुरू हुई, शायद आधी दर्जन से ज्यादा बार नहीं देखा गया। चूंकि कालिदास में यह मधुर मेल मौजूद था इसलिए उसकी गिनती ऐनाक्रियन और होरेस और शैली की पंगत में नहीं बल्कि सोफोक्लीज और वर्जिल और मिल्टन की पंगत में है।

कालिदास से शायद बहुत पहले एक और मशहूर नाटक रचा गया था—शूद्रक का 'मृच्छकटिक'। यह एक कोमल और एक हद तक कृत्रिम नाटक है फिर भी इसमें कुछ ऐसी असलियत है कि उसका हम पर असर होता है और इससे हमें उस जमाने की तहजीब और विचारों की झांकी मिलती है। ४ ई० के लगभग चंद्रगुप्त द्वितीय के ही जमाने में एक दूसरा मशहूर नाटक रचा गया। यह विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' था। यह एक खालिस राजनैतिक नाटक है जिसमें प्रेम या किसी पौराणिक कथा का आधार नहीं लिया गया है। इसमें चंद्रगुप्त मौर्य के जमाने का हाल है, और उसका प्रधान मंत्री चाणक्य जिसने 'अर्थशास्त्र' लिखा था इसका नायक है। कुछ मानों में यह नाटक आज के जमाने पर बहुत मौजू जाता है।

राजा हर्ष भी जिसने सातवीं सदी ईसवी के शुरू में एक नया साम्राज्य कायम किया एक नाटककार था और हमें उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं। ७ ई० के लगभग भवभूति हुआ है जो संस्कृत-साहित्य का एक और उज्ज्वल नक्षत्र था उसका अनुवाद करना सहज नहीं क्योंकि उसके नाटक की सुंदरता उसकी भाषा में है लेकिन वह हिंदुस्तान में बहुत लोकप्रिय है और सिर्फ कालिदास को उससे बड़ा समझा जाता है। विल्सन ने जो ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रोफ़ेसर थे इन दोनों के बारे में लिखा है कि "भवभूति और कालिदास के श्लोकों

से ज्यादा मधुर और सुंदर और शानदार भाषा की कल्पना करना मुमकिन नहीं।"

संस्कृत नाटक की धारा सदियों तक बहती रही, लेकिन नवीं सदी के मुरारी के बाद उसकी खूबियों में जाहिरा कमी आई। यह कमी और सिल-सिलेवार उतार हमें जिंदगी के और कामों में भी दिखाई पड़ता है। यह राय दी गई है कि नाटकों का यह ह्रास कुछ अंशों में इस वजह से हो सकता है कि भारतीय-अफ़ग़ान और मुगल ज़मानों में इसे राज-दरबार की सर-परस्ती नहीं हासिल हुई और इस्लाम मज़हबवालों ने कला के इस रूप यानी नाटक को यों नहीं पसंद किया कि इसका ताल्लुक राष्ट्रीय धर्म से था। क्योंकि यह साहित्यिक नाटक—हम उसके आमपसंद पहलुओं को छोड़ देते हैं, जो जारी रहे—ऐसा था कि ऊँचे वर्ग के लोगों के लिए लिखा गया था और उन्हीं की सरपरस्ती का इसे सहारा था। लेकिन इस दलील में ज्यादा दम नहीं है, अगरचे यह मुमकिन है कि ऊपर की सियासी तबदीलियों ने थोड़ा-बहुत दूर का असर डाला हो। सच बात तो यह है कि संस्कृत नाटक का ह्रास इन सियासी तबदीलियों से बहुत पहले दिखाई पड़ने लगता है और ये तबदीलियाँ भी कुछ सदियों तक सिर्फ़ उत्तरी हिंदुस्तान में हुई और अगर इस नाटक में कोई दम बाकी रहा था तो यह दक्खिन में पनप सकता था। भारतीय-अफ़ग़ानी तुर्कों और मुगल शासकों का कार-नामा—कुछ थोड़ी सूरतों को छोड़कर, जब कट्टरपना गालिब आया है—यह रहा है कि उन्होंने हिंदुस्तान की संस्कृति को यकीनी तौर पर बढ़ावा दिया है और अक्सर उसमें नये रूप पैदा किये हैं और अपनी बातें जोड़ी हैं। हिंदुस्तानी संगीत को बड़े उत्साह से ज्यों-का-त्यों मुसलमानी दरबारों में और अमीरों के यहाँ उठा लिया गया है और इसके कुछ सबसे बड़े उस्ताद मुसलमान हुए हैं। साहित्य और कविता को भी बढ़ावा मिला है और मशहूर हिंदी कवियों में मुसलमान भी हुए हैं। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह ने हिंदी में संगीत पर एक किताब लिखी है। हिंदुस्तानी कविता और संगीत दोनों में ही हिंदू देवी-देवताओं के ज़िक्र भरे पड़े हैं लेकिन उन्हें कबूल किया गया और पुराने रूपक और अलंकार कायम रहे। यह कहा जा सकता है कि प्रतिमा का बनाना छोड़कर कला का कोई भी रूप नहीं है जिसे मुस्लिम शासकों ने (कुछ अपवादों को छोड़कर) दबाने की कोई कोशिश की हो।

संस्कृत नाटक का ह्रास यों हुआ कि उन दिनों हिंदुस्तान में दूसरी दिशाओं में भी उतार आया हुआ था और रचना-शक्ति घट रही थी।

कुछ एक हिस्से को कुछ दूसरे को ज्यादा पसंद करते हैं। पांचवीं सदी में कालिदास ने यह बात समझ ली थी, जिसे यूरोप ने उन्नीसवीं सदी तक न समझा और जिसे वह अब भी एक अधूरे ढंग से समझ रहा है, यानी दुनिया आदमी के लिए नहीं बनी है, और यह कि वह अपना पूरा दरजा तभी हासिल करता है, जबकि वह उस जिंदगी की शान और कीमत समझ लेता है, जो इन्सानी जिंदगी से जुदा है। कालिदास ने इस हकीकत को पा लिया था, यह उसकी दिमागी ताकत का शानदार सबूत है। यह ऐसा गुण है कि जो ऊंचे दर्जे की कविता के लिए उतना ही जरूरी है, जितना कि बाहरी रूप रेखा की पूर्णता। कविता में प्रवाह कोई दुर्लभ बात नहीं, दिमागी समझ-बूझ भी बहुत असाधारण चीज नहीं, लेकिन दोनों का मेल जबसे कि दुनिया शुरू हुई, शायद आधी दर्जन से ज्यादा बार नहीं देखा गया। चूंकि कालिदास में यह मधुर मेल मौजूद था, इसलिए उसकी गिनती एनाक्रियन और होरेस और शैली की पांत में नहीं, बल्कि सोफोक्लीज और वर्जिल और मिल्टन की पंगत में है।

कालिदास से शायद बहुत पहले एक और मशहूर नाटक रचा गया था—शूद्रक का 'मृच्छकटिक'। यह एक कोमल और एक हद तक कृत्रिम नाटक है, फिर भी इसमें कुछ ऐसी असलियत है कि उसका हम पर असर होता है और इससे हम उस जमाने की तहजीब और विचारों की झांकी मिलती है। ४०० ई० के लगभग चंद्रगुप्त द्वितीय के ही जमाने में एक दूसरा मशहूर नाटक रचा गया। यह विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' था। यह एक खालिस राजनैतिक नाटक है, जिसमें प्रेम या किसी पौराणिक कथा का आधार नहीं लिया गया है। इसमें चंद्रगुप्त मौर्य के जमाने का हाल है और उसका प्रधान मंत्री चाणक्य, जिसने 'अर्थशास्त्र' लिखा था, इसका नायक है। कुछ मानों में यह नाटक आज के जमाने पर बहुत मौजूं आता है।

राजा हर्ष भी, जिसने सातवीं सदी ईसवी के शुरू में एक नया साम्राज्य कायम किया, एक नाटककार था और हमें उसके लिखे हुए तीन नाटक मिलते हैं। ७०० ई० के लगभग भवभूति हुआ है, जो संस्कृत साहित्य का एक और उज्ज्वल नक्षत्र था। उसका अनुवाद करना सहज नहीं, क्योंकि उसके नाटक की सुंदरता उसकी भाषा में है, लेकिन वह हिंदुस्तान में बहुत लोकप्रिय है और सिर्फ कालिदास को उससे बड़ा समझा जाता है। विल्सन ने, जो ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में संस्कृत के प्रोफेसर थे, इन दोनों के बारे में लिखा है कि भवभूति और कालिदास के श्लोकों

से ज्यादा मधुर और सुंदर और शानदार भाषा की कल्पना करना मुमकिन नहीं।"

संस्कृत नाटक की धारा सदियों तक बहती रही लेकिन नवीं सदी के मुरारी के बाद उसकी खूबियों में जाहिरा कमी आई। यह कमी और सिलसिलेवार उतार हमें जिंदगी के और कामों में भी दिखाई पड़ता है। यह राय दी गई है कि नाटकों का यह ह्रास कुछ अंशों में इस वजह से हो सकता है कि भारतीय-अफ़ग़ान और मुग़ल जमानों में इसे राज-दरबार की सरपरस्ती नहीं हासिल हुई और इस्लाम मजहबवालों ने कला के इस रूप यानी नाटक को यों नहीं पसंद किया कि इसका ताल्लुक राष्ट्रीय धर्म से था क्योंकि यह साहित्यिक नाटक—हम उसके आमपसंद पहलुओं को छोड़ देते हैं, जो जारी रहे—ऐसा था कि ऊंचे वर्ग के लोगों के लिए लिखा गया था और उन्हींकी सरपरस्ती का इसे सहारा था। लेकिन इस दलील में ज्यादा दम नहीं है अगरचे यह मुमकिन है कि ऊपर की सियासी तब्दीलियों ने थोड़ा-बहुत दूर का असर डाला हो। सच बात तो यह है कि संस्कृत नाटक का ह्रास इन सियासी तब्दीलियों से बहुत पहले दिखाई पड़ने लगता है और ये तब्दीलियां भी कुछ सदियों तक सिर्फ़ उत्तरी हिंदुस्तान में हुई और अगर इस नाटक में कोई दम बाक़ी रहा था तो यह दक्खिन में पनप सकता था। भारतीय-अफ़ग़ानों तुर्कों और मुग़ल शासकों का कारनामा—कुछ थोड़ी मुद्दतों को छोड़कर, जब कट्टरपना ग़ालिब आया है, यह रहा है कि उन्होंने हिंदुस्तान की संस्कृति को यक़ीनी तौर पर बढ़ावा दिया है और अक्सर उसमें नये रुख पैदा किये हैं और अपनी बातें जोड़ी हैं। हिंदुस्तानी संगीत को बड़े उत्साह से ज्यों-का-त्यों मुसलमानी दरबारों में और अमीरों के यहां उठा लिया गया है और इसके कुछ सबसे बड़े उस्ताद मुसलमान हुए हैं। साहित्य और कविता को भी बढ़ावा मिला है और मशहूर हिंदी कवियों में मुसलमान भी हुए हैं। बीजापुर के सुल्तान इब्राहीम आदिलशाह ने हिंदी में संगीत पर एक किताब लिखी है। हिंदुस्तानी कविता और संगीत दोनों में ही हिंदू देवी-देवताओं के ज़िक्र भरे पड़े हैं, लेकिन उन्हें क़बूल किया गया और पुराने रूपक और अलंकार चलते रहे। यह कहा जा सकता है कि मूर्तियां का बनाना छोड़कर कला का कोई भी रूप नहीं है जिसे मुस्लिम शासकों ने (कुछ अपवादों को छोड़कर) दबाने की कोई कोशिश की हो।

संस्कृत नाटक का ह्रास यों हुआ कि उन दिनों हिंदुस्तान में दूसरी दिशाओं में भी उतार आया हुआ था और रचना-शक्ति घट रही थी।

अफ़ग़ानों और तुर्कों के दिल्ली में तख़्तनशीन होने के बहुत पहले ही यह उतार शुरू हो गया था। बाद में संस्कृत को अमीरों की रस्मी ज़बान की हैसियत से फ़ारसी से मुक़ाबला करना पड़ा। लेकिन एक साफ़ वजह यह मालूम पड़ती है कि संस्कृत नाटकों की ज़बान में और उस ज़माने की रोज़मर्रा की ज़बान में एक बढ़ती हुई खाई पैदा हो रही थी। १   ई० तक वाली जानदार आम ज़बानें जिनसे हमारी मौजूदा ज़बानें निकली हैं, अपनी शक्ल अख़्तियार करने लग गई थीं।

फिर भी इन सब बातों के बावजूद संस्कृत नाटक तमाम मध्य-युग में और हाल तक लिखे जाते रहे, यह एक अचरज पैदा करनेवाली बात है। सन १८९२ में शेक्सपियर के 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम' का संस्कृत भाषानुवाद निकला। पुराने नाटकों की पाण्डुलिपियां बराबर मिल रही हैं। इनकी एक सूची जो प्रोफ़ेसर सिल्वा लेवी ने १८९  में तैयार की थी ३७७ नाटकों और १८९ नाटककारों के नाम देती है। एक और हाल की फ़ेहरिस्त में ६५  नाटकों के नाम दिये गये हैं।

पुराने नाटकों की (कालिदास और दूसरों के) भाषा मिली-जुली है, यानी उनमें संस्कृत और एक या ज़्यादा प्राकृतों का इस्तेमाल हुआ है। ये प्राकृत संस्कृत की ही बोल-चाल का रूप हैं। एक ही नाटक में पढ़े-लिखे लोग संस्कृत बोलते हैं और साधारण अनपढ़ लोग और ख़ासतौर से औरतें प्राकृत बोलती हैं, हालांकि इसके अपवाद भी मिलेंगे। श्लोक या गीत जिनकी बहुतायत है, संस्कृत में हैं। इस मिली-जुली भाषा की वजह से शायद नाटक आम तमाशबीनों को ज़्यादा पसंद होता था। यह साहित्यिक भाषा और आमपसंद कला के अलग-अलग तक़ाज़ों के बीच का एक समझौता था। सिल्वा लेवी इसका कुछ मानों में फ़्रान्सीसी दरबारी नाटकों से मुक़ाबला करते हैं, जो अपने विषयों के चुनाव की वजह से आम लोगों से अलग जा पड़ा था और जिसने असली ज़िंदगी से मुड़कर एक रस्मी समाज पैदा कर लिया था।

लेकिन इस ऊंचे दर्जे के साहित्यिक रंगमंच से अलग हमेशा एक आम लोगों का रंगमंच रहा है, जिसकी बुनियाद में हिंदुस्तान के महाकाव्यों और पुराणों की कथाएं होती थीं और इन मज़मूनों से देखनेवाले वाक़िफ़ हुआ करते थे, और उनको तमाशे से मतलब होता, नाटकीय तत्वों की जांच से नहीं। ये आम लोगों की बोली में होते, इसलिए अलग-अलग इलाक़ों में अलग-अलग बोलियां इस्तेमाल की जाती थीं। दूसरी तरफ़ संस्कृत नाटक ऐसे थे, जिनका सारे हिंदुस्तान में चलन था, क्योंकि

संस्कृत सारे हिंदुस्तान की भाषा थी।

इसमें कोई शक नहीं कि ये संस्कृत नाटक खेले जाने के लिए लिखे जाते थे क्योंकि इनमें तफ़सील से अभिनय-संकेत दिये गये हैं और देखने-वालों को बिठाने के भी क़ायदे थे। क़दीम यूनान की बरतन के खिलाफ़ यहां पात्रियां स्टेज में हिस्सा लेती थीं। यूनानी और संस्कृत नाटकों में प्रकृति के संबंध में एक सूक्ष्म चेतना मिलती है, एक ऐसा भाव मिलता है कि मनुष्य प्रकृति का अंग है। इनमें संगीत का ज़बरदस्त पुट है और कविता ज़िंदगी का एक लाज़िमी अंग जान पड़ती है, जिसमें भरपूर मानी हैं और महत्व है। यह अकसर स्वर से पढ़ी जाती थी। यूनानी नाटकों को पढ़ते हुए बहुत-से ऐसे रीति-रिवाजों और विचार के तरीक़ों के हवाले आते हैं, जिनसे ख़याल यकायक पुराने हिंदुस्तानी रीति-रिवाजों पर जा पहुंचता है। यह सब होते हुए भी यूनानी नाटक संस्कृत नाटक से मूल में जुदा है।

यूनानी नाटक का ख़ास आधार दुखांत (ट्रैजेडी) है, पाप की समस्या है। आदमी क्यों दुख उठाता है? दुनिया में पाप क्यों है? धर्म और ईश्वर की पहेली है। आदमी कितना तरस के क़ाबिल है, जिसकी दो दिन की ज़िंदगी है और जो अभिमानी भाग्य के ख़िलाफ़ बड़ी और बिना मक़सद की कोशिशों में लगा हुआ है—"यह वह नियम है जो क़ायम रहता है बदलता नहीं युगों तक ।" आदमी को दुख सहकर सीखना चाहिए और अगर वह भाग्यवान है तो वह इस कोशिश से ऊपर उठेगा

"सुखी वह है जिसने थका देनेवाले समुंदर पर तूफ़ानों से छुटकारा पा लिया है और जो सुरक्षित बंदरगाह में पहुंच गया है।

"सुखी वह है, जो अपनी कोशिशों से ऊपर उठकर आज़ाद हो गया है।

"क्योंकि ज़िंदगी की कथा एक अजब ढंग से गढ़ी गई है कि एक और दूसरा, अपने भाई को धन और शक्ति में पीछे छोड़ जाता है।"

"और करोड़ों आदमी बहते और तरसते रहते हैं और करोड़ों उम्मीदों के ख़मीर से उनमें तूफ़ान आता रहता है।

"और या तो उनकी इच्छा पूरी होती है, या पूरी होने से रह जाती है और आशाएं या तो मर जाती हैं या बनी रहती हैं।

"लेकिन ज़माने के गुज़रने के साथ जो भी यह जान सकता है कि जीना ही सुखी होना है उसने अपना स्वर्ग पा लिया है।"

आदमी मुसीबत झेलकर ही सीखता है, वह सीखता है कि ज़िंदगी का सामना कैसे करना चाहिए लेकिन वह यह भी सीखता है कि आख़िरी

रहस्य बना रह जाता है और इन्सान अपने सवालों के जवाब नहीं पाता है, न अच्छाई और बुराई की पहेली को हल कर पाता है।

"रहस्य के अनेक रूप हैं, और बहुत-सी चीजें जिन्हें ईश्वर ने पैदा किया है, आशा और भय से परे हैं। और जिस अंत की आदमी को तलाश है वह आता नहीं और जहां किसी आदमी का ख़याल नहीं जाता था, वहां एक रास्ता मौजूद है।

यूनानी 'ट्रेजेडी' के मुकाबले की जोरदार और उस शान की कोई चीज संस्कृत में नहीं है। दरअसल यहां 'ट्रेजेडी' (दुखांत) जैसी कोई चीज है ही नहीं क्योंकि इसकी मनाही रही है। इस तरह के बुनियादी सवालों पर विचार नहीं किया गया है क्योंकि नाटककारों ने धार्मिक विश्वासों को जैसे वे प्रचलित थे मान लिया है। इसमें पुनर्जन्म और कार्य कारण के सिद्धांत हैं। बिना कारण के आकस्मिक या पाप पर विचार ही नहीं हो सकता था क्योंकि जो कुछ भी होता है वह पूर्व-जन्म की किसी पहली घटना का लाजिमी नतीजा है। अंधे तरीके पर काम करनेवाली अंधी ताकतों की जिनके खिलाफ़ आदमी लड़ता है अगरचे उसकी लड़ाइयों का कोई फल नहीं निकलता, यहां गुंजाइश ही नहीं है। फ़िलसूफ़ और विचारक इन सीधी-सादी व्याख्याओं से संतुष्ट न होते थे और वे बराबर इसके पीछे रहस्य क्या है इसकी खोज में रहते थे और आख़िरी कारण और पूरी तफ़सील जानना चाहते थे। लेकिन ज़िंदगी इन्हीं विश्वासों के सहारे चलती थी और नाटककार उनकी कुरेद नहीं किया करते थे। मैं नाटक और संस्कृत काव्य आमतौर पर साधारण हिंदुस्तानी धारणा को मानकर चलते थे और इस धारणा से विद्रोह के कोई ऐसे चिह्न नहीं हासिल होते हैं।

नाटकों की रचना के बारे में कड़े नियम बने हुए थे और उन्हें तोड़ सकना आसान न होता था। फिर भी क़िस्मत के आगे दीनता से सिर नहीं झुकाया गया है—नायक हमेशा हिम्मतवाला आदमी होता है जो कठिनाइयों का मुकाबला करता है। चाणक्य व्यंग्य के साथ 'मुद्राराक्षस' में कहता है—'मूर्ख भाग्य के भरोसे रहते हैं वे अपने असर पैदा करने के बजाय मदद के लिए सितारों की तरफ़ देखते हैं। कुछ बनावट आ जाती है नायक हमेशा नायक बना रहता है, दुष्ट हमेशा दुष्टता के काम करता है बीच का ताव-भाव नहीं मिलता।

ये दो उद्धरण 'यूरीपिडिज़' से प्रोफ़ेसर गिल्बर्ट मरे के तरजुमे के आधार पर दिये गये हैं। पहला 'बाक्काइ' और दूसरा 'ऐलसैस्टिस' से है।

फिर भी जबरदस्त नाटकीय मौके आते हैं जिन पर असर पैदा करने वाले दृश्य दिखाये गये हैं और जिन्दगी की एक पृष्ठभूमि है जो सपने की तस्वीर की तरह जान पड़ती है मानी जो उसकी थी है और बेमुनि बाद भी और इन सबको कवि की कल्पना शानदार भाषा में घुलकर रख देती है। ऐसा जान पड़ता है—चाहे दरअसल ऐसा न रहा हो—कि हिंदुस्तान की जिन्दगी उस वक्त ज्यादा धालिमय ज्यादा पायदार थी और मानो उसने अपनी जड़ों का पता लगा लिया था और मसलों का हल पा गई थी। वह जिन्दगी धीर-गंभीर भाव से बहती जाती है और तेज हवा के झपेड़ों और गुजरते हुए तूफान भी सिर्फ उसकी सतह को हिला जाते हैं। यूनानी ट्रैजेडी के खौफनाक तूफानों-जैसी कोई चीज यहाँ नहीं है। लेकिन उसमें बड़ी मानवता है एक सुन्दर सामञ्जस्य है, और एक व्यवस्थित एकता है। सिल्वाँ लेवी ने लिखा है कि नाटक अब भी हिंदुस्तानी प्रतिभा का सबसे अच्छा आविष्कार है।

प्रोफेसर ए० बैरीडेल कीथ[1] भी कहते हैं कि "संस्कृत नाटक को यथार्थ में हिंदुस्तानी काव्य की सबसे ऊँची उपज समझा जा सकता है, जिसमें हिंदुस्तानी साहित्य के सावधान रचनाकारों की साहित्यिक कला की अंतिम कल्पना का निचोड़ आ गया है। दरअसल ब्राह्मण जिसे हम और दूसरे मामलों में बहुत बुरा-भला कहा गया है हिंदुस्तान के दिमागी बड़प्पन के मूल में रहा है। जिस तरह से उसने हिंदुस्तानी फ़िलसफ़ा पेश किया उसी तरह अपने दिमाग की एक दूसरी कोशिश से उसने नाटक के गूढ़ और प्रभावशाली रूप का विकास किया।

शूद्रक के 'मृच्छकटिक' का एक अनुवाद १९२४ में न्यूयार्क में मंच पर खेला गया। 'नेशन' पत्र के नाटकीय समालोचक मि० जोसेफ उड क्रच ने उसके बारे में यह लिखा था—"अगर दर्शक को 'विशुद्ध कला' 'रंगमंच' का जिसकी सिद्धान्तवादी लोग चर्चा करते रहते हैं, सच्चा नमूना कहीं देखने को मिल सकता है तो वह यहीं पर मिलेगा और यहीं पर उसे पूरब के सबसे श्राम पर विचार करने का मौका मिलेगा जो

---

[1] मैंने सिल्वाँ लेवी की 'ला थियेत्र इंदियान' (पेरिस १८९ ) तथा बैरीडेल कीथ की 'दि संस्कृत ड्रामा' (ऑक्सफ़ोर्ड, १९२४) को कई बार पढ़ा है और कुछ उद्धरण इन दोनों पुस्तकों से लिये गये हैं।

पश्चिमी लेखक भारतवासियों के लिए प्रायः 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग करते हैं।—अ०

गढ़ सिद्धान्तों में नहीं रखा हुआ है बल्कि एक विशेष कोमलता में है, जो परम्परागत ईसाई-मत की कोमलता से, जिसे इसाली मत की कट्टर पवित्रता ने बिगाड़ रखा है, कहीं ज्यादा गहरी और सच्ची है। एक बिलकुल गढ़ा हुआ नाटक है, लेकिन जो दिल पर असर डालता है, क्योंकि वह वास्तविकता का चित्रण नहीं करता बल्कि खुद वास्तविक है। इसका लिखनेवाला जो भी रहा हो और चाहे वह चौथी सदी में हुआ हो चाहे आठवीं में, वह एक भला और बुद्धिमान आदमी था और उसकी बुद्धिमानी या असमंजस-साहस उपदेशक के होठों से या ठेठ चलनेवाले कलम से निकलनेवाली नहीं बल्कि दिल से उपजनेवाली है। मौसम और प्रेम की नूतन सुन्दरता के लिए उसकी कोमल सहानुभूति ने उसके शांत स्वभाव को अपना पुट दिया है और वह इतना प्रौढ़ हो चुका है कि वह समझे कि एक हल्की फुल्की और गढ़ंत घटना-वाली कहानी भी कोमल मानवता और निश्चित भलाई का वाहन बन सकती है। इस तरह का नाटक सिर्फ ऐसी सभ्यता पैदा कर सकती है जिसमें पायदारी आ गई हो। जब किसी सभ्यता ने अपने सभी मामलों पर विचार कर लिया हो तभी वह ऐसे शांत और सरल नतीजे पर पहुंच सकती है। मैकबेथ और ओथेलो चाहे जितने बड़े और हिला देनेवाले चरित्र हों बर्बर नाटक हैं, क्योंकि शेक्सपियर का नाटक आवेग एक ऐसा आवेग है जिसे एक नई बनी हुई चेतना और बर्बर युग की बहुत-सी नैतिक धारणाओं के संघर्ष ने पैदा किया है। हमारे ज़माने का यथार्थवादी नाटक भी इसी तरह की उलझनों का नतीजा है, लेकिन जब मसले स्थिर हो जाते हैं, जब दिमाग से किये गये फैसलों के जरिये आवेग शांत हो जाते हैं, तब रूप मात्र रह जाता है। यह शांति और रूप का सामंजस्य यूरोप में किसी पिछले ज़माने में हमें इससे ज्यादा सच्चे रूप में नहीं मिल सकती है।[1]

## १ संस्कृत की जीवनी-शक्ति और स्थिरता

[illegible] और कृपा से लदी हुई

[1] मैंने यह लंबा उद्धरण आर. एस. पंडित के 'मुद्राराक्षस' के अनुवाद की भूमिका से लिया है। इस अनुवाद के साथ बहुत-सी दिलचस्प टिप्पणियां और परिशिष्ट हैं। मैंने अक्सर सिल्वां लेवी के 'ला थियेत्र इन्दियान' (पेरिस १८ ) और ए. बेरीडेल कीथ के 'दि संस्कृत ड्रामा' (आक्सफर्ड १ ) से मदद ली है और इन दोनों पुस्तकों से कुछ उद्धरण दिए हैं।

भाषा है, फिर भी यह नियमों से बंधी हुई है और २६ वर्ष पहले व्याकरण का जो ढांचा पाणिनि ने इसके लिए तैयार कर दिया था उसीके भीतर बस रही है। यह फैली, खूब संपन्न हुई, भरी-पूरी और अलंकृत बनी लेकिन अपने मूल को पकड़े रही। संस्कृत-साहित्य के ह्रास के ज़माने में इसने अपनी कुछ शक्ति और शैली की सादगी को दी और कठिन रूपों और उपमानों और उत्प्रेक्षाओं में उलझ गई। शब्दों को जोड़नेवाले समास के नियम पंडितों के हाथ में पड़कर चतुराई दिखाने के साधन बन गये और ऐसे समास पद बनाये जाने लगे जो कई पंक्तियों में जाकर टूटते थे।

सर विलियम जोन्स ने १७८४ में ही कहा था—'संस्कृत भाषा चाहे जितनी पुरानी हो उसका गठन अद्भुत है। यूनानी भाषा के मुकाबले में ज़्यादा मुकम्मिल, लातीनी के मुकाबले में ज़्यादा संपन्न और दोनों के मुकाबले में यह ज़्यादा परिष्कृत है, लेकिन दोनों के साथ धातु-क्रियाओं और व्याकरण के रूपों में यह इतनी मिलती-जुलती है कि यह संयोग आकस्मिक नहीं हो सकता। यह मेल इतना गहरा है कि कोई भी भाषा-शास्त्री इसकी जांच करने पर इस नतीजे पर पहुंचे बिना नहीं रह सकता कि ये सभी भाषाएं किसी एक ही स्रोत से निकली हैं, जो शायद अब नहीं रह गया है।'

विलियम जोन्स के बाद और यूरोपीय विद्वान हुए हैं—अंग्रेज, फ्रांसीसी, जर्मन और दूसरे—जिन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया और एक नये विज्ञान यानी तुलनात्मक भाषा-विज्ञान की नींव डाली। जर्मन विद्वान इस नये मैदान में आगे बढ़े और संस्कृत में खोज करने का सबसे ज़्यादा श्रेय उन्नीसवीं सदी के इन्हीं जर्मन विद्वानों को मिलना चाहिए। करीब-करीब सभी जर्मन विश्वविद्यालयों में एक संस्कृत का विभाग रहा है और इसमें एक या दो अध्यापक लगे रहे हैं। हिंदुस्तान में पंडितों की कमी नहीं थी लेकिन वे पुराने ढंग के थे, उनमें आलोचना-वृत्ति नहीं थी और वे अरबी और फ़ारसी को छोड़कर प्रतिष्ठित विदेशी भाषाओं के जानकार न थे। यूरोपीयों के असर से हिंदुस्तान में एक नई तरह से अध्ययन शुरू हुआ और बहुत-से हिंदुस्तानी यूरोप (खासतौर पर जर्मनी) गये जिससे कि वे शोध और आलोचना और तुलनात्मक अध्ययन के नये तरीकों को सीख लें। इन्हें यूरोपीयों के मुकाबले में एक सुविधा थी लेकिन साथ-ही-साथ एक असुविधा भी थी। और यह असुविधा इस वजह से थी कि उनके कुछ बंधे-तुले और पहले से बने हुए विचार थे और विरासत में मिले हुए इन विचारों और परंपराओं के कारण वे निष्पक्ष आलोचना न कर पाते थे। जो सुविधा थी वह बहुत बड़ी सुविधा

थी मानी रचना के भाव को और जिस वातावरण में वह की गई थी उस से जल्दी समझ लेते थे और इस तरह उसमें पैठ सकते थे।

व्याकरण और भाषा-शास्त्र के मुकाबले में भाषा खुद कहीं बड़ी चीज है। यह एक जाति और संस्कृति की प्रतिभा की कवित्वमय विरासत है और जिन विचारों और कल्पनाओं ने उन्हें ढाला है उनका जीता-जागता रूप है। शब्द युग-युग में अपने अर्थ बदलते रहते हैं और पुराने विचार नये विचारों में तब्दील हो जाते हैं, अगरचे अक्सर वे अपना पुराना भेस कायम रखते हैं, किसी पुराने लफ्ज़ या मुहावरे के मानी पकड़ना मुश्किल हो जाता है और उसके भाव के बारे में तो कहा ही क्या जाय! अगर हम उस पुराने मानी को समझ लेना चाहते हैं और उन लोगों के दिमाग में पैठना चाहते हैं जिन्होंने इस भाषा को गुज़रे दिनों में इस्तेमाल किया था तो हमें भावुक और कवित्वमय निगाह रखना ज़रूरी है। भाषा जितनी संपन्न और भरी-पूरी होती है उतनी ही यह दिक्कत बढ़ जाती है और प्रतिष्ठित भाषाओं की तरह संस्कृत ऐसे लफ्ज़ों से भरी पड़ी है जिनमें न महज़ काव्य की सुंदरता है बल्कि जिनमें गहरे मानी हैं, उनके साथ जुड़े हुए बहुत-से विचार हैं जिनको ऐसी भाषा में जो भाषा और तजुर्बे में विदेशी है नहीं अदा किया जा सकता। उसके व्याकरण उसके फ़िलसफ़े में भी काव्य का पुट है—उसके पुराने कोष तक पद्य में हैं।

इसलिए अगरचे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के अध्ययन ने तरक्क़ी की है और संस्कृत में बहुत-कुछ शोध का काम हुआ है, फिर भी भावुक और कवित्व मय निगाह की दृष्टि से यह कुछ बेसूद और बेकार-सा रहा है। अंग्रेज़ी में या किसी विदेशी भाषा में संस्कृत से शायद ही कोई ऐसा अनुवाद हुआ हो, जिसे हम मान्य और मूल के साथ न्याय करनेवाला कह सकते हैं। इस काम में हिंदुस्तानी और विदेशी दोनों ही अलग-अलग कारणों से नाकामयाब रहे हैं। यह बड़े अफ़सोस की बात है और दुनिया कुछ ऐसी चीज़ से महरूम रह जाती है जिसमें अपार सौंदर्य है और कल्पना है और गहरा विचार है और जो न महज़ हिंदुस्तान की विरासत है, बल्कि जिसे मानव-जाति की विरासत होना चाहिए।

इंजील के प्रामाणिक संस्करण के अंग्रेज़ी अनुवादकों के कठिन संयम भावपूर्ण दृष्टिकोण और सूझ-बूझ ने न महज़ एक विशाल ग्रंथ तैयार किया बल्कि अंग्रेज़ी भाषा को शक्ति और गौरव प्रदान किया। यूरोपीय विद्वानों और कवियों की कई पीढ़ियों ने यूनानी और लातीनी के प्रतिष्ठित ग्रंथों पर प्रेम के साथ मेहनत करके कई यूरोपीय भाषाओं में सुंदर अनुवाद पेश किये हैं और इस तरह आम लोग भी उन संस्कृतियों में दाख़िल हो सकते हैं और अपनी मौरूस विरासतों में सचाई और सुंदरता की झलक पा सकते हैं। बदक़िस्मती से संस्कृत की बड़ी रचनाओं के साथ यह काम होना बाक़ी है। यह कब होगा और होगा भी या नहीं मैं नहीं जानता। हमारे विद्वान गिनती में और ज्ञान सिवत में आगे बढ़ते जाते हैं, इसी तरह हमारे कवि भी हैं, लेकिन इन दोनों के बीच एक चौड़ी और बढ़ती हुई खाई है। हमारी रचनात्मक प्रवृत्तियां दूसरी ही दिशा में जा रही हैं और आज की दुनिया के बहुत-से तक़ाज़े हमें इसका मौक़ा नहीं देते कि हम फ़ुरसत से इन ग्रंथों का अध्ययन कर सकें। ख़ासतौर से हिंदुस्तान में हमें दूसरी ही तरफ़ देखना पड़ रहा है और जो बहुत-सा वक़्त खोया जा चुका है उसे भरना है। हम लोग पुराने ग्रंथों में बहुत दबे रहे हैं और चूंकि हम अपनी रचनात्मक बुद्धि खो चुके हैं इसलिए हमें उन ग्रंथों से जितना हम इतना दम भरते हैं प्रेरणा भी नहीं मिलती। मैं समझता हूं हिंदुस्तान की प्रतिष्ठित पुस्तकों के अनुवाद निकलते ही रहेंगे और विद्वान लोग इसका ध्यान रखेंगे कि संस्कृत शब्दों और नामों की वर्तनी ठीक-ठीक की जाती है और शुद्ध उच्चारण के लिए आवश्यक चिह्न लगाये जाते हैं, साथ ही काफ़ी टिप्पणियों और व्याख्याओं और तुलनात्मक संकेतों को भी दिया जाता है। दरअसल जो भी अनुवाद होगा उसमें हर एक शब्द का मतलब सावधानी से अदा किया जायगा, फिर भी एक ज़िंदा भाव की कमी रह

जायगी। जिस चीज में जान थी, आनंद था, जो इतनी सुंदर और मधुर थी वह पुरानी और फीकी और बासी जान पड़ेगी, जिसका यौवन और सौंदर्य जाता रहा है, सिर्फ विद्वानों के अध्ययन-कक्ष की धूल और बासी रात में जलाये गये दीपक के तेल की गंध रह जायगी।

कितने दिनों से संस्कृत एक मरी हुई भाषा है—इस मानी में कि यह आम तौर पर बोली नहीं जाती—मैं नहीं जानता। कालिदास के जमाने में भी यह जनता की भाषा न थी, अगरचे यह सारे हिंदुस्तान के पढ़े-लिखों की भाषा थी। और सदियों तक वह ऐसी ही बनी रही बल्कि दक्खिन-पूरबी एशिया के हिंदुस्तान के उपनिवेशों में और मध्य-एशिया में भी फैली। नियमित रूप से संस्कृत-अध्ययन के और संभवतः नाटकों के भी छातवीं सदी ईसवी में कंबोडिया में प्रचलित होने के प्रमाण हैं। थाईलैंड (स्याम) में कुछ उत्सव-संस्कारों के मौक़ों पर संस्कृत अब भी इस्तेमाल में आती है। हिंदुस्तान में संस्कृत की जीवनी-शक्ति बड़ी अचरज भरी रही है। जब तेरहवीं सदी के शुरू में अफ़गान सुल्तानों ने दिल्ली की गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लिया उस समय हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्सों की दरबारी ज़बान फ़ारसी हो गई और रफ़्ता रफ़्ता बहुत से पढ़े लिखे लोगों ने संस्कृत के मुक़ाबले में उसे तरजीह दी। आम ज़बानों ने भी तरक़्क़ी करके साहित्यिक रूप अख़्तियार किये। फिर भी इन सब बातों के बावजूद संस्कृत चलती रही अगरचे यह संस्कृत वैसे पाये की न रह गई थी। १९३७ में त्रिवेंद्रम में ओरियंटल कान्फ़्रेंस के मौक़े पर सभापति की हैसियत से बोलते हुए डॉ० एफ़० एफ़० टॉमस ने बताया था कि संस्कृत का हिंदुस्तान में एकता लाने में कितना ज़ोरदार हाथ था और अब भी उसका कितना प्रचार है। उन्होंने दरअसल यह तजवीज़ किया कि संस्कृत के किसी सरल रूप को या एक तरह की बुनियादी संस्कृत हो अखिल-भारत की भाषा के रूप में बढ़ावा देना चाहिए। उन्होंने मैक्समूलर के इस बयान को उद्धृत किया और उससे इत्तिफ़ाक़ ज़ाहिर किया—'क़दीम और आज के हिंदुस्तान के बीच ऐसा अद्भुत सिलसिला चला आ रहा है कि बावजूद बार-बार की समाजी उथल-पुथल के धार्मिक सुधारों और विदेशी हमलों के संस्कृत आज भी अकेली भाषा है जो इस बड़े देश में सब जगह बोली जाती है... आजकल भी एक सदी की अंग्रेज़ी हुकूमत और शिक्षा के बाद मेरा विश्वास है कि संस्कृत हिंदुस्तान में जितने विस्तार से समझी जाती है उतने विस्तार से दांते के ज़माने में यूरोप में लातीनी भाषा भी नहीं समझी जाती थी।'

दांते के ज़माने में यूरोप में कितने लोग लातीनी समझते थे इसका मुझे कुछ भी अनुमान नहीं, न मैं यही जानता हूँ कि हिंदुस्तान में आज कितने

लोग संस्कृत समझते हैं। लेकिन संस्कृत समझनेवालों की गिनती खासतौर पर दक्खिन में अब भी बहुत बड़ी है। सादी संस्कृत का समझना उन लोगों के लिए, जो आज की किसी भी भारतीय-आर्य भाषा—हिंदी बंगाली मराठी गुजराती आदि—को अच्छी तरह जानते हैं आसान है। आजकल की उर्दू तक में जो खुद एक भारतीय-आर्य भाषा है ८० फ़ी-सदी लफ़्ज़ संस्कृत के हैं। अकसर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि कोई खास लफ़्ज़ संस्कृत से आया है या फ़ारसी से क्योंकि इन दोनों भाषाओं के मूल शब्द अकसर एक-से हैं। कुछ अचरज की बात है कि दक्खिन की द्राविड़ भाषाओं ने अगरचे वे मूल में बिलकुल अलग ही भाषाएं हैं संस्कृत के इतने शब्द अपने में ले लिये हैं कि क़रीब-क़रीब उनका आधा शब्द-कोष संस्कृत से मिलता है।

बहुत-से विषयों पर, जिनमें नाटक भी हैं संस्कृत में सारे मध्य-युग यहांतक कि हमारे ज़माने तक किताबें लिखी जाती रही हैं। दरअसल ऐसी किताबें अब भी निकलती रहती हैं और संस्कृत में पत्रिकाएं भी निकलती हैं। उनका दर्जा बहुत ऊंचा नहीं है और संस्कृत साहित्य में वे कोई मूल्यवान इज़ाफ़ा नहीं करतीं। लेकिन ताज्जुब की बात तो यह है कि संस्कृत की पकड़ इस सारे लंबे ज़माने में बनी रही। कभी-कभी आम सभाओं में अब भी संस्कृत में व्याख्यान होते हैं अगरचे यह स्वाभाविक है कि सुननेवाले लोग बहुत चुने हुए होते हैं।

संस्कृत के लगातार इस्तेमाल ने यक़ीनी तौर पर मौजूदा ज़माने की हिंदुस्तानी भाषाओं की सहज बाढ़ को रोका है। पढ़े-लिखे दिमागी लोगों ने इन्हें तुच्छ बोलियों के रूप में समझा है और इस क़ाबिल नहीं जाना है कि इनमें रचनात्मक और विद्वतापूर्ण रचनाएं पेश की जायें। इस तरह की रचनाएं संस्कृत में और बाद में फ़ारसी में पेश की जाती रहीं। बावजूद इस रुकावट के बड़ी-बड़ी सूबेवार भाषाओं ने रफ़्ता-रफ़्ता सदियों के दौर में शक्ल अख्तियार की और उनके साहित्यिक रूपों का विकास हुआ और उनके साहित्य का निर्माण हुआ।

यह जानना दिलचस्प होगा कि आजकल के ज़माने में जब नये पारिभाषिक वैज्ञानिक और प्रशासन-संबंधी पारिभाषिक शब्दों की ज़रूरत हुई तो उनमें से बहुत-से संस्कृत के आधार पर बना लिये गये।

प्राचीन हिंदुस्तानी ध्वनि पर बड़ा जोर देते थे और इसलिए उनकी रचनाओं में चाहे वे गद्य में हों या पद्य में एक लय और संगीत का गुण मिलता है। शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण हो सके इसकी बड़ी कोशिश होती थी और इसके लिए नियम बनाये गये थे। इसकी और भी ज़रूरत यों पड़ी कि पुराने

ज़माने में शिक्षा ज़बानी होती थी और सारी पुस्तकें कंठ करा दी जाती थीं और इस तरह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती थी। शब्दों की ध्वनि को महत्त्व देने का नतीजा यह हुआ कि मतलब और ध्वनि का मेल कराने की कोशिशें हुईं। कभी-कभी बहुत सुंदर मेल पैदा हुआ और कभी-कभी भद्दे और बनावटी संयोग भी बन पड़े। ई० एच० जान्स्टन ने इसके बारे में लिखा है—"हिंदुस्तान के संस्कृत कवियों में ध्वनि के परिवर्तनों का जो एहसास है उसके बराबर की मिसाल दूसरे देशों के साहित्य में बहुत कम मिलेगी और उनके शब्द-विन्यास में बड़ा ही आनंद आता है। लेकिन उनमें से कुछ ध्वनि और आशय को इस तरह से भी मिलाने की कोशिश करते हैं कि उससे कोई बारीकी नहीं पैदा होती और उन्होंने थोड़े-से व्यंजनों के सहारे और कभी एक ही व्यंजन के सहारे पद्य रचना करके तो बड़ा ही अनर्थ किया है।"[1]

वेदों के पाठ आज भी उच्चारण के उन नियमों के अनुसार किये जाते हैं जो पुराने ज़माने में बनाये गये थे।

मौजूदा ज़माने की हिंदुस्तानी भाषाएं जो संस्कृत से निकली हैं और इसलिए भारतीय-आर्य भाषाएं कहलाती हैं ये हैं—हिंदी उर्दू बंगाली मराठी गुजराती उड़िया असमी राजस्थानी (जो हिंदी का ही एक रूप है) पंजाबी सिंधी पश्तो और काश्मीरी। द्रविड़ भाषाएं ये हैं—तमिळ तेलगू कन्नड़ और मलयालम। इन पंद्रह भाषाओं में सारे हिंदुस्तान की भाषाएं आ जाती हैं और इनमें से हिंदी (अपने रूपांतर उर्दू के साथ) सबसे ज्यादा रायज है और जहां यह बोली भी नहीं जाती वहां भी समझ ली जाती है। इन भाषाओं को छोड़कर कुछ बोलियां और अविकसित भाषाएं हैं जो बहुत छोटे इलाक़ों में या कुछ पिछड़ी हुई पहाड़ी और जंगली जातियों द्वारा बोली जाती हैं। बार-बार दुहराई जानेवाली यह कहानी कि हिंदुस्तान में पांच सौ या इससे ज्यादा ज़बानें हैं भाषा-वैज्ञानिकों या मर्दुमशुमारी के कमिश्नर के दिमाग़ की उपज है, जो बोलियों के छोटे-छोटे भेदों को और आसाम बंगाल और बरमा के सरहद की पहाड़ी जातियों की हर एक बोली को भिन्न लेते हैं चाहे वह बोली कुछ सौ या हज़ार लोगों की ही बोली हो। इन सैकड़ों की गिनती करानेवाली भाषाओं में से ज्यादातर हिंदुस्तान के पूरबी सरहदी या बरमा के सरहदी इलाक़ों की बोलियां हैं। जो तरीक़ा मर्दुमशुमारी के कमिश्नरों ने अख़्तियार किया है उसीकी नक़ल की जाय तो यूरोप में सैकड़ों भाषाएं निकलेंगी और जर्मनी में मेरा ख़याल है साठ बताई गई हैं।

[1] ई० एच० जान्स्टन के अश्वघोष के 'बुद्ध-चरित' (लाहौर, १९३६) के अनुवाद से।

हिंदुस्तान में ज़बान के मसले का इस विविधता से कोई ताल्लुक़ नहीं। यह मसला हिंदी-उर्दू का है यानी एक ज़बान का जिसके दो साहित्यिक रूप हैं और जिनकी दो लिपियां हैं। बोली में दोनों में शायद ही ज़्यादा फ़र्क़ हो लिखने में ख़ासतौर से साहित्यिक शैली में यह भेद बढ़ जाता है। इस भेद को कम करने की ओर एक आम सूरत जिसे हिंदुस्तानी कहते हैं पैदा करने की भी कोशिशें हुई हैं और अब भी जारी हैं। और यह आम ज़बान की शक्ल में जो सारे हिंदुस्तान में समझी जा सके तरक्क़ी कर रही है।

पश्तो जो संस्कृत से निकली हुई भारतीय-आर्य भाषाओं में से एक है, पश्चिमोत्तर के सरहदी सूबे की ज़बान है और अफ़ग़ानिस्तान की भी। इस पर हमारी दूसरी भाषाओं के मुक़ाबले में फ़ारसी का ज़्यादा असर पड़ा है। इस सरहदी इलाक़े में गुज़रे ज़माने में बहुत-से ऊंचे दर्जे के विचारक विद्वान और संस्कृत के वैयाकरण हो गये हैं।

लंका की भाषा सिंहली है। यह भी संस्कृत से निकली हुई एक भारतीय-आर्य भाषा है। सिंहली लोगों ने अपना धर्म यानी बौद्ध-धर्म ही हिंदुस्तान से नहीं लिया है बल्कि ये जाति और भाषा में भी हिंदुस्तानियों से मिले हुए हैं।

अब यह बात पूरी तरह से मानी जा चुकी है कि संस्कृत का यूरोप की पुरानी प्रतिष्ठित और आज की भाषाओं से मेल है। रूसी भाषा तक में बहुत-से मूल शब्द संस्कृत से मिलते हैं। संस्कृत से सबसे निकट की यूरोपीय भाषा लिथुआनियन है।

## १० बौद्ध-दर्शन

कहा जाता है कि बुद्ध ने उस प्रदेश की आम भाषा का इस्तेमाल किया जिसमें वह रहते थे और यह प्राकृत थी जो संस्कृत से निकली थी। संस्कृत वह जानते थे इसमें कोई शक नहीं लेकिन वह जनता तक पहुंचने के लिए आम भाषा में बोलना पसंद करते थे। इस प्राकृत से बुद्ध के पवित्र धर्म ग्रंथों की भाषा पाली का विकास हुआ। बुद्ध की बात-चीत और कथाएं और वाद-विवाद उनके मरने के बाद पाली में लिखे गये और यह लंका बरमा और स्याम जहां हीनयान बौद्ध-मत का प्रचार है के बौद्ध-धर्म का आधार है।

बुद्ध के कोई सैकड़ों-साल बाद हिंदुस्तान में संस्कृत फिर जमी और बौद्ध विद्वानों ने अपने फ़िलसफ़े के और दूसरे ग्रंथ संस्कृत में लिखे। अश्वघोष की रचनाएं और नाटक (जो हमारे सबसे पुराने नाटक हैं) जिनका मक़सद बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा है, संस्कृत में हैं। हिंदुस्तान के बौद्ध पंडितों की ये रचनाएं चीन जापान तिब्बत और मध्य-एशिया तक पहुंचीं जहां बौद्ध-धर्म की महायान शाखा का प्रचार रहा है।

जिस युग में बुद्ध का जन्म हुआ वह हिंदुस्तान के लिए बड़े मानसिक मंथन और दार्शनिक सोच-विचार का जमाना था। और यह बात हिंदुस्तान तक ही महदूद न थी क्योंकि यही जमाना लाओ-त्से और कन्फ़्यूसस का और ज़रथुष्ट्र और पाइथागोरस का जमाना था। हिंदुस्तान में इसने भौतिकवाद को भी जन्म दिया और भगवद्गीता को भी बौद्ध-मत को भी और जैन-मत को भी और दूसरी बहुत-सी विचार-धाराओं को जो बाद में हिंदुस्तानी-दर्शन के अलग-अलग धर्मों में प्रकट हुईं। विचारों की अनेक तहें थीं—एक-दूसरे से मिली हुई और कभी एक-दूसरे पर चढ़ी हुई। बौद्ध-धर्म के साथ-साथ विभिन्न दर्शनों का विकास हुआ और खुद बौद्ध-धर्म में ऐसे भेद पैदा हुए, जिनसे विचार के अलग-अलग धर्म कायम हो गये। फ़िलसफ़ियाना सोच-विचार धीरे-धीरे घटा और उसकी जगह लोग पंडिताऊ बहस-मुबाहसे में पड़ गये।

बुद्ध ने अपने अनुयायियों को आधिभौतिक विषयों को लेकर पंडिताऊ बहस-मुबाहसे में पड़ने के खिलाफ आगाह कर दिया था। कहा जाता है कि उन्होंने कहा था— जिस विषय पर आदमी को बोलना जरूरी न हो उस पर चुप रहना चाहिए। सत्य तो जीवन में ही पाया जा सकता है जीवन की परिधि से बाहर की बातों पर तर्क-वितर्क करने से नहीं। उन्होंने जिंदगी के इखलाकी पहलू पर जोर दिया और जाहिरा यह महसूस किया कि लोग जब आधिभौतिक बारीकियों में पड़ जाते हैं तो इसे नजर-अंदाज कर दिया जाता है। शुरू के बौद्ध धर्म में हमें बुद्ध के इस फ़िलसफ़ियाना और बुद्धिवादी भाव की झलक मिलती है। उसकी जिज्ञासा की बुनियाद अनुभव पर है। अनुभव की दुनिया में विशुद्धात्मा की कल्पना ठीक-ठीक नहीं ग्रहण की जा सकती थी इसलिए उसे अलग कर दिया गया। उसी तरह सृष्टिकर्त्ता ईश्वर का विचार, जिस का दलील के साथ सबूत नहीं दिया जा सकता था अलग रखा गया। फिर भी अनुभव बना रहता है और एक मानी में यह वास्तविक भी है—यह होने की प्रक्रिया के अलावा जो बराबर अपने को बदलती रहती है और क्या हो सकता है? इस तरह वास्तविकता की इन बीच की अवस्थाओं को माना गया है और मानोवैज्ञानिक आधार पर इनके बारे में जिज्ञासा चलती है।

बुद्ध ने विद्रोही होते हुए भी अपने को देश के पुराने धर्म से अलग नहीं किया। मिसेज रीज डेविड्स कहती हैं— गौतम का जन्म और पालन हिंदू की भांति हुआ था और वह हिंदू की तरह रहे और मरे। गौतम के अध्यात्म-वाद और सिद्धान्तों में ज्यादा बातें ऐसी न मिलेंगी जो प्राचीन पद्धतियों में न मिल जायें और उनको नीति में मिलती हुई शिक्षाएं शुरू या बाद की हिंदू पुस्तकों में मिल जायेंगी। गौतम की जो कुछ मौलिकता है वह इस बात में है कि

जो अच्छी बातें और लोग कह गये थे, उन्हें उन्होंने नये रूप में ढाला, उनका विस्तार किया, उन्हें प्रतिष्ठित और क्रमबद्ध किया और यह कि जिन न्याय और बराबरी के सिद्धांतों को पहले ही खास-खास हिंदू विचारकों ने माना था, उनको उन्होंने तर्क के आधार पर अंतिम परिणाम तक पहुंचाया। इनमें और दूसरे उपदेशकों में फ़र्क यह था कि इनमें ज्यादा गहरी लगन और लोक-हित की विशाल भावना थी।"[1]

फिर भी अपने जमाने के परंपरा से आनेवाले धर्म के चलन के खिलाफ़ बुद्ध ने विद्रोह के बीज बोये। उनके सिद्धांत या फ़िलसफ़े का विरोध नहीं हुआ—क्योंकि कट्टर धर्म का पालन करते हुए भी किसी ऐसे विचार में, जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं, सिद्धांत के रूप में प्रतिपादन में बाधा न थी—बल्कि समाज की जिंदगी और संगठन में जो उन्होंने दखल दिया, उसका विरोध हुआ। पुराने तरीक़े में बड़ी आज़ादी और विचारों का लचीलापन था, हर एक तरह के मत की गुंजाइश थी, लेकिन अमल के मामले में उसमें कड़ाई थी और चलन को तोड़ना पसंद न किया जाता था। इसलिए लाजिमी तौर पर बौद्ध-धर्म पुराने विश्वास से अलग-थलग जा पड़ा और बुद्ध के मरने के बाद यह खाई और भी चौड़ी हो गई।

बुद्ध के बौद्ध-धर्म की ज्यों-ज्यों अवनति हुई, त्यों-त्यों उसके महायान रूप ने तरक्की की। पुराना रूप हीनयान कहलाता था। इसी महायान पंथ में बुद्ध को ईश्वर का पद दिया गया और साकार ईश्वर के रूप में उनकी उपासना शुरू हुई। बुद्ध की मूर्ति भी पश्चिमोत्तर के यूनानी प्रदेश में दिखाई पड़ने लगी। लगभग इसी वक्त हिंदुस्तान में ब्राह्मण-धर्म फिर से जागा और साथ-साथ संस्कृत के अध्ययन ने जोर पकड़ा। हीनयान और महायान पंथों के बीच तीखे विवाद हुए और दोनों के बीच शास्त्रार्थ और आपस का विरोध बाद के इतिहास में बराबर मिलता है। हीनयानवाले देश (लंका, बरमा, स्याम) अब भी चीन और जापान में प्रचलित बौद्ध-धर्म को हिकारत से देखते हैं और मेरा खयाल है कि दूसरी तरफ़ से भी इस चलने का जवाब मिलता है।

हीनयान ने कुछ हद तक सिद्धांत की पुरानी पवित्रता कायम रखी और उसे पाली में एक नियम के अंतर्गत कर लिया, लेकिन महायान सभी दिशाओं में फैला, सभी तरह के विश्वासों के लिए रवादारी बरती और हर एक देश के खास नजरिये के अनुसार अपने को ढाल लिया। हिंदुस्तान में यह आम धर्म के निकट आने लगा। हर एक और मुल्क—चीन, जापान, तिब्बत में—

---

[1] यह उद्धरण और कुछ-कुछ और बातें, डॉ. एस. राधाकृष्णन् की 'इंडियन फ़िलासफ़ी' (जार्ज ऐलेन ऐंड अनविन, लंदन १९४ ) से ली गई हैं।

इसका विकास अलग-अलग ढंग से हुआ। कुछ शुरू के बहुत बड़े बौद्ध विचारकों ने आत्मा के बारे में बुद्ध के रुख को यानी न उससे इन्कार करना और न इकरार करना छोड़ दिया और उन्होंने साफ़-साफ़ आत्मा से इन्कार किया।

अनेक प्रतिभाशाली लोगों में नागार्जुन की एक खास जगह है और उसकी गिनती उन सबसे बड़े दिमाग़ी लोगों में है जिन्हें हिंदुस्तान ने पैदा किया है। वह कनिष्क के ज़माने में ईसवी सन के शुरू के लगभग हुआ और महायान सिद्धांतों के प्रतिपादन की खास ज़िम्मेदारी इसीकी है। उसके विचारों में अद्भुत बल और साहस है और ऐसे नतीजों तक पहुँचने में उसे ज़रा भी संकोच नहीं होता जो [illegible] लोगों के लिए नागवार और चौंका देनेवाले हों। अपने विवेचन में वह निष्ठुर तर्क के साथ चलता है यहाँतक कि उसे अपने विचारों से इन्कार करना पड़ जाता है। विचार अपने को जान नहीं सकता और अपने से बाहर जा नहीं सकता यानी दूसरे को जान नहीं सकता। इस विश्व से बाहर कोई ईश्वर नहीं और ईश्वर से अलग कोई विश्व नहीं और दोनों ही दिखावा-मात्र हैं। और इसी तरह वह दलील करता रहता है, यहाँतक कि कुछ बच नहीं रहता। सत्य और असत्य के बीच कोई फ़र्क नहीं रह जाता, किसी चीज़ को समझने की या उसके बारे में राय-क़ायमी की संभावना नहीं रह जाती क्योंकि जो अवास्तविक है उसके बारे में राय-क़ायमी ही क्या हो सकती है? कोई चीज़ वास्तविक नहीं है। दुनिया का वजूद देखने-भर का है, यह गुणों और संबंधों का एक आकर्षक भ्रम है जिसमें हमने विश्वास बना रखा है लेकिन जिसकी हम बुद्धि से व्याख्या नहीं कर सकते। लेकिन इस सब अनुभव के पीछे वह किसी वस्तु—परम सत्ता—का संकेत करता है, जो हमारी विचार की ताक़त से परे है क्योंकि जब हम उस पर विचार करने लगते हैं तब वह सापेक्ष हो जाता है।[1]

---

[1] रूस की अकादेमी ऑव साइंसेज़ के प्रोफ़ेसर थी. श्चेरबात्स्की ने अपनी पुस्तक 'दि कन्सेप्शन ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण' (लेनिनग्राद, १९२७) में यह सुझाव दिया है कि नागार्जुन को 'संसार के बड़े फ़िलसूफ़ों में' जगह मिलनी चाहिए। वह उसकी 'अद्भुत शैली' का उल्लेख करते हैं जो हमेशा दिलचस्प, तर्कपूर्ण, हैरान करनेवाली और कभी-कभी देखने में 'गूढ़' है। वह नागार्जुन के विचारों का हीगेल और ब्रैडले के विचारों से मुक़ाबला करते हैं—"इस तरह नागार्जुन के अद्वैतवाद में और मि. ब्रैडले (जो हमारी रोज़मर्रा की दुनिया की क़रीब-क़रीब सभी धारणाएँ, वस्तुएँ, गुण संबंध देश और काल, परिवर्तन,

परम सत्ता को बौद्ध फ़िलसफ़े में शून्यता कहकर बताया गया है, लेकिन यह हमारे असत् या कुछ न होने की धारणा से बिलकुल जुदा चीज़ है।[1] अपने अनुभव की दुनिया में हम उसे शून्यता इसलिए कहते हैं कि उसके लिए कोई दूसरा शब्द नहीं है लेकिन आधिभौतिक सत्य की परिभाषा में यह कुछ ऐसी वस्तु है जो सबसे परे और सबमें व्याप्त है। एक मशहूर बौद्ध विद्वान ने कहा है—"शून्यता के कारण ही सब बातें संभव होती हैं, बिना इसके दुनिया में कुछ भी संभव नहीं।"

इन सबसे पता चलता है कि आधिभौतिकवाद हमें कहां पहुंचा सकता है और इस तरह के विचारों के पीछे पड़ने के ख़िलाफ़ आगाह करके बुद्ध ने कितनी अक्लमंदी की थी। फिर भी इन्सानी दिमाग़ अपने को क़ैद में रखने से इन्कार करता है और ज्ञान के उस फल की तरफ़ हाथ बढ़ाता रहता है, जिसे वह अच्छी तरह से जानता है कि वह उसकी पहुंच के बाहर है। बौद्ध फ़िलसफ़े में आधिभौतिकवाद भी आया लेकिन इसके विषय को देखने का ढंग मनोवैज्ञानिक था। मन की मनोवैज्ञानिक स्थितियों की सूझ-बूझ देखकर भी अचरज होता है। आजकल के मनोविज्ञान के अवचेतन मन की यहां स्पष्ट धारणा है और उसका विवेचन भी हुआ है। मेरा ध्यान एक पुरानी पुस्तक के एक मज़ेदार अंश पर दिलाया गया है। यह एक तरह से आजकल के ईडिपस

---

कर्म-कारण-संबंध, पति और आत्मा का खंडन करते हैं) में और उसमें बड़ा अद्भुत साम्य है। हिंदुस्तानी दृष्टिकोण से देखने को उसको माध्यमिक कहा जा सकता है। लेकिन इन सब मुश्किलों से ऊपर उठकर हम शायद ह्यूम और नागार्जुन के तर्क के तरीक़े में ऐसी समानता पायेंगे जो एक ही कुल के लोगों में मिलती है। श्चेरबात्सकी ने बौद्ध फ़िलसफ़े की कुछ पद्धतियों और ज़माने हाल के विज्ञान के नज़रिये में भी कुछ समानताएं बताई हैं, ख़ासतौर पर 'एंट्रोपी' के नियम के अनुसार विश्व की अंतिम हालत की कल्पना के बारे में। उन्होंने एक दिलचस्प घटना बताई है, जब सोवियत बुर्यातमंगोलिया में ब्यूरियतों का नया-नया 'जनराज्य' बना तब वहां के शिक्षा विभाग के अधिकारियों ने धर्म-विरोधी प्रचार करते हुए यह बताया कि इस ज़माने का विज्ञान विश्व को पदार्थवाद के नज़रिये से देखता है। जनराज्य के बौद्ध भिक्षुओं ने जो महायानी थे एक पैम्फ़लेट छापकर यह जवाब दिया कि पदार्थवाद से वे नावाक़िफ़ नहीं हैं बल्कि दरअसल उनके फ़िलसफ़े की एक पद्धति में पदार्थवाद के सिद्धांत का निरूपण किया है।

[1] प्रोफ़ेसर श्चेरबात्सकी जो इस विषय के अधिकारी विद्वानों में हैं, कई भाषाओं के (जिनमें तिब्बती भाषा भी है) मूल पाठों की जांचने

कम्प्लेक्स' के सिद्धांत की याद दिलाता है, अगरचे प्रतिपादन का ढंग बिलकुल जुदा है।[1]

बौद्ध धर्म से फ़िलसफ़े की चार निश्चित पद्धतियां निकलीं, इनमें से दो हीनयान शाखा में थीं और दो महायान शाखा में। इन सभी बौद्ध-दर्शन या फ़िलसफ़े की पद्धतियों का मूल उपनिषदों में है, लेकिन ये वेदों को प्रमाण नहीं मानते। वेदों से इन्कार ही एक खास बात है, जो इन्हें उसी ज़माने के तथाकथित हिंदू फ़िलसफ़ा से जुदा करती है। ये तथाकथित हिंदू फ़िलसफ़े वेदों को आमतौर पर मानते हैं और एक तरह से उनकी तरफ़ श्रद्धा के भाव दिखाते हैं, लेकिन ये वेदों को ऐसा नहीं समझते कि उनसे कोई ग़लती नहीं हो सकती और दरअसल बिना वेदों का सहारा लिये हुए अपनी राह चलते हैं। चूंकि वेदों और उपनिषदों में अनेक तरह से बातें कही गई हैं, इसलिए बाद के विचारकों के लिए यह हमेशा संभव रहा है कि औरों को छोड़कर किसी एक पहलू पर ज्यादा ज़ोर दें और उसीकी बुनियाद पर अपनी पद्धति का निर्माण करें।

प्रोफ़ेसर राधाकृष्णन् ने बौद्ध-विचार के विकास-क्रम को जिस रूप में वह चार पद्धतियों में प्रकट हुआ, इस तरह बताया है—यह वास्तविक आधिभौतिकवाद से शुरू होता है और ज्ञान को वस्तुओं का प्रत्यक्ष बोध मानता है। दूसरी सीढ़ी यह है कि विचार वस्तुओं के बोध का माध्यम बन जाते हैं, और

---

के बाद कहते हैं कि शून्यता सापेक्षता है। हर एक चीज़ सापेक्ष और परस्पराश्रित होने की वजह से ऐसी है कि उसकी निजी सत्ता नहीं, इसलिए वह शून्य है। दूसरी तरफ़ इस दिखनेवाली दुनिया से बिलकुल परे और इसको भी लिये हुए कोई वस्तु है जिसे परम सत्ता समझ सकते हैं और चूंकि इसकी कल्पना नहीं हो सकती या इसका ऐसे शब्दों में बयान नहीं हो सकता जो सीमित और इस दिखनेवाली दुनिया के हैं, इसलिए इसे 'तथ्यता' कहा गया है। इसी परम सत्ता को शून्यता कहा गया है।

[1] यह वसुबंधु के 'अभिधर्मकोश' में आया है, जो पांचवीं सदी ईस्वी में लिखा गया था और जिसमें और पहले के मत और परंपराएं इकट्ठी की हुई हैं। मूल संस्कृत अप्राप्य है, लेकिन उसके चीनी और तिब्बती भाषा में तरजुमे मौजूद हैं। चीनी तरजुमा प्रसिद्ध यात्री ह्वेन त्सांग का किया हुआ है, जो हिंदुस्तान में आया था। इस चीनी तरजुमे से फ़्रांसीसी में एक अनुवाद हुआ है (पेरिस-प्रकाशन १९२६)। मेरे सहयोगी और जेल के साथी आचार्य नरेंद्र देव इस पुस्तक का फ़्रांसीसी से हिंदी और अंग्रेजी में अनुवाद कर रहे हैं और उन्होंने इस बात पर मेरा ध्यान दिलाया। यह तीसरे अध्याय में है।

इस तरह से मन और वस्तुओं के बीच एक परदा खड़ा हो जाता है। ये दो सीढ़ियाँ हीनयान मत की हैं। महायान मत और आगे बढ़ता है। वह स्वरूप के पीछे जो वस्तु है उसीको खतम कर देता है और सभी अनुभव को मन के विचारों का एक क्रम मानता है। सापेक्षता और अवचेतन में मन के विचार भी आ जाते हैं। अंतिम सीढ़ी में—यह नागार्जुन का माध्यमिक दर्शन या बीच का मार्ग है—मन खुद एक आत्मा का रूप ग्रहण कर लेता है और हमारे आगे आत्माओं की छुट-पुट इकाइयाँ रह जाती हैं और आभास रह जाता है और इनके बारे में हम कुछ कह नहीं सकते।

इस तरह से हम अंत में कहीं नहीं पहुंचते हैं या ऐसी चीज तक पहुंचते हैं, जिसको हमारे सीमित दिमागों के लिए समझ सकना कठिन है और उसका न वर्णन हो सकता है न उसकी परिभाषा हो सकती है। ज्यादा-से-ज्यादा जो हम कह सकते हैं वह यह है कि यह एक तरह की चेतना है, या जैसा कहा गया है 'विज्ञान' है।

बावजूद इस नतीजे के जिसे मनोवैज्ञानिक और आधिभौतिक विवेचन के बाद हमने हासिल किया है और जो आखिरकार अदृश्य दुनिया या परम सत्ता की कल्पना को विशुद्ध चेतना बना देता है यानी कुछ नहीं कर देता जहाँतक हम अनुभवों का उपयोग कर सकते या उन्हें समझ सकते हैं इस बात पर जोर दिया गया है कि इस्तलाही संबंधों की हमारी सीमित दुनिया में निश्चित कीमत है। इसलिए हमें अपनी जिंदगी में और इन्सानी ताल्लुकात में इखलाक बरतना चाहिए और भली जिंदगियाँ बितानी चाहिए। उस जिंदगी और इस दिखनेवाली दुनिया पर हम तर्क और ज्ञान और अनुभव का इस्तेमाल कर सकते हैं और हमें करना चाहिए। असीम या जो कुछ भी उसे कहें इस दुनिया से कहीं परे है और इसलिए उस पर इनको लागू नहीं किया जा सकता।

## ११ बौद्ध-धर्म का हिंदू-धर्म पर असर

बुद्ध की शिक्षा का पुराने आर्य-धर्म पर और हिंदुस्तान के लोगों में प्रचलित आम विश्वासों पर क्या असर हुआ ? इसमें कोई शक नहीं कि इस शिक्षा ने मजहबी और क़ौमी जिंदगी के बहुत-से पहलुओं पर जबरदस्त और क़ायम रहनेवाले असर डाले। बुद्ध ने अपने को एक नये मजहब का बानी भले ही न समझा हो—शायद वह अपने को सिर्फ एक सुधारक समझते थे—लेकिन उनके अद्भुत व्यक्तित्व और जोरदार संदेश ने जिनमें उन्होंने अनेक सामाजिक और मजहबी चलन की बातों पर हमले किये लाजिमी तौर पर उनके और स्वार्थ-पर पुरोहित-वर्ग के बीच संघर्ष पैदा कर दिया। बुद्ध ने क़ायम

पुराने समाजी या आर्थिक निजाम को तोड़ने का दावा कभी नहीं किया। उन्होंने उसकी बुनियादी मान्यताओं को क़बूल किया और असर इमले किये तो महज़ उन बुराइयों पर, जो उनके चारों ओर इकट्ठा हो गई थीं। फिर भी यह कुछ हद तक समाज में इन्क़लाब पैदा करने के काम में लगे थे इसीलिए ब्राह्मण-धर्म जो उस ज़माने के मौजूदा चलन को जारी रखना चाहता था, उनसे नाराज़ हो गया। बुद्ध की शिक्षा में कोई भी बात ऐसी नहीं है जिसे विचारों के विस्तीर्ण क्षेत्र में बिठाया न जा सके। लेकिन चूंकि ब्राह्मणों के अधिकार पर हमला हुआ था इसीलिए बात ही दूसरी पैदा हो गई थी।

यह एक दिलचस्प बात है कि बौद्ध-धर्म ने पहले मगध में जड़ पकड़ी यह उत्तरी हिंदुस्तान का वह हिस्सा था जहां ब्राह्मण-धर्म कमज़ोर था। रफ़्ता-रफ़्ता यह पश्चिम और उत्तर में फैला और बहुत-से ब्राह्मण भी इसमें शरीक हुए। सबसे पहले यह खासतौर पर क्षत्रियों का आंदोलन था, लेकिन आम जनता को भी पसंद आनेवाला था। शायद ब्राह्मणों की वजह से ही, जो इसमें बाद में शरीक हुए, फ़िलसफ़े और अध्यात्मवाद की दिशाओं में इसका विकास हुआ। यह भी मुमकिन है कि ब्राह्मण-बौद्धों की वजह से ही इसके महायान मत का विकास हुआ क्योंकि कुछ मामलों में और खासकर अपनी रवादारी और विविधता में यह उस ज़माने के आर्य-धर्म से ज़्यादा मिलता-जुलता था।

बौद्ध-धर्म ने सैकड़ों तरीकों से हिंदुस्तानी ज़िंदगी पर असर डाला। और यह लाज़िमी भी था क्योंकि इसे याद रखना चाहिए कि एक हज़ार वर्ष तक यह एक जीता-जागता शक्तिशाली और हिंदुस्तान में दूर-दूर तक फैला हुआ मज़हब था। उस लंबे ज़माने में भी जब इसका ह्रास हो रहा था और जब एक अलग धर्म की शक्ल में यहां इसका वजूद न रहा इसका बहुत कुछ हिंदू-धर्म और क़ौमी ज़िंदगी और विचार के तरीक़ों का अंग बन गया और अन्त में आखिरकार आम लोगों ने इसे धर्म के रूप में मानना छोड़ दिया इसकी अमिट छाप बनी रही और उसने क़ौमी तरक्की पर असर डाला। इस स्थायी असर का धार्मिक विश्वास फ़िलसफ़े के सिद्धांत या इस तरह की बातों से कोई ताल्लुक़ न था। यह बुद्ध और उनके धर्म का नैतिक और सामाजिक और अमली आदर्शवाद था जिसने हमारी जनता को प्रभावित किया और उस पर अपनी अमिट छाप डाली उसी तरह, जिस तरह कि ईसाई-धर्म के नैतिक आदर्शों ने यूरोप पर असर डाला चाहे उसने उसके धार्मिक विश्वासों पर ज़्यादा ध्यान न दिया और इस्लाम के इन्सानी

समाजी और अमली नजरिये ने बहुत-से ऐसे लोगों पर असर डाला जिनको उसके धार्मिक रूपों और विश्वासों के लिए आकर्षण न था।

हिंदुस्तान में आर्य-धर्म खासतौर पर एक क़ौमी मजहब था जो इस देश तक महदूद था और जो समाजी जात-पांत की व्यवस्था यहां पर तरक्की कर रही थी उसने इस पहलू पर जोर दिया। इसने धर्म प्रचार की कोशिशें नहीं कीं। धर्म-परिवर्तन का यहां कोई सवाल न उठता था और न हिंदुस्तान की सरहद से पार इसकी निगाह ही जाती थी। हिंदुस्तान के भीतर इसकी शक्ति का अपना खास तरीक़ा था जिसमें उग्रता न थी और जो अचेतन ढंग से नये और पुराने आनेवालों को अपने में जज्ब करता रहा और लगातार उनकी नई बस्तें बना देता रहा। उन दिनों के लिए, बाहरी दुनिया के प्रति इस तरह का रुख स्वाभाविक था क्योंकि आने-जाने में दिक्कतें थीं और दूर के मुल्कों से संपर्क की जरूरत शायद ही होती थी। इसमें शक नहीं कि व्यापार और धंधों के लिए संपर्क कायम थे लेकिन उनसे हिंदुस्तान की जिंदगी और तरीक़ों में कोई फ़र्क नहीं पैदा होता था। हिंदुस्तानी जिंदगी का समुंदर अपने में भरा-पूरा था और इतना काफ़ी बड़ा और विविध था कि उसमें तरह तरह की मौजों के उठने की पूरी गुंजाइश थी। उसमें आत्म-चेतना थी और वह अपने में ही पर्क रहनेवाला था और उसे इस बात की परवाह न थी कि उसकी सरहदों के बाहर क्या हो रहा है। इस समुंदर के बीचों-बीच एक ऐसा सोता फूट निकला जिससे ताज़ा और निखरे हुए पानी की धार बह चली जो पुरानी सतह को चंचल करती हुई बढ़कर सैलाब बन गई और इसने उन पुरानी सरहदों और रुकावटों की परवाह न की जिन्हें इन्सान और क़ुदरत ने खड़ा कर रखा था। बुद्ध की शिक्षा की इस धार में क़ौम के लिए उपदेश था लेकिन यह उपदेश क़ौम तक के लिए ही नहीं था। यह सबसे आचरण में लगने के लिए एक ऐसी पुकार थी जिसने वर्ग जात-पांत या क़ौम की हदबंदियां न मानीं।

उनके जमाने के हिंदुस्तान के लिए यह एक नया नजरिया था। अशोक पहला व्यक्ति था जिसने दूतों और प्रचारकों को विदेशों में भेजकर इतने बड़े पैमाने पर यह काम किया। इस तरह से हिंदुस्तान को और दुनिया के बारे में चेतना शुरू हुई और शायद ज्यादातर यही चीज थी जिसने ईसवी संवत की शुरू की सदियों में उसे उपनिवेशों के क़ायम करने में बड़े-बड़े साहसी काम करने के लिए उकसाया। समुद्र-पार के इन कामों का संगठन हिंदू राजाओं ने किया था और ये अपने साथ ब्राह्मण-व्यवस्था और आर्य-संस्कृति ले गये थे। एक ऐसे धर्म और संस्कृति के लिए, जिसने अपने भीतर धीरे धीरे तरह-तरह के वर्ग-भेद क़ायम कर रखे थे यह एक असाधारण विकास

था। किसी बड़ी जोरदार प्रेरणा या बुनियादी नज़रिये की तब्दीली से ही यह बात पैदा हो सकती थी। मुमकिन है यह प्रेरणा कई कारणों से हुई हो और बड़ी वजह है इनमें व्यापार और फैलते हुए समाज की ज़रूरतें रही हों लेकिन नज़रिये की यह तब्दीली एक अंश में बौद्ध-धर्म और उसने जो विदेशों से संपर्क स्थापित कर लिये थे उनके कारण भी हुई। उस वक्त हिंदू-धर्म में इतनी काफ़ी स्फूर्ति और गति मौजूद थी लेकिन इससे पहले उसने विदेशों की ओर उतना ध्यान नहीं दिया था। नये धर्म की सार्वभौमिकता के जो नतीजे हुए, उनमें एक यह भी था कि इस बड़ी स्फूर्ति को दूर देशों तक पहुंचने के लिए प्रोत्साहन मिला।

वैदिक-धर्म और धर्म के ज़्यादा आम रूपों के साथ जो कर्म-कांड और पूजा-पाठ का रिवाज लगा हुआ था वह सुप्त हो चुका था खासतौर पर पशुओं की बलि की प्रथा उठ चुकी थी। अहिंसा के विचार पर, जो वेदों और उपनिषदों में पहले से ही मौजूद था बौद्ध-धर्म ने और उससे भी ज़्यादा जैन-धर्म ने ज़ोर दिया। ज़िंदगी के लिए एक नया आदर और जानवरों की तरफ़ दया का भाव पैदा हो गया। और इन सबके पीछे नैतिक ज़िंदगी ऊंचे प्रकार की ज़िंदगी बिताने का विचार रहा।

बुद्ध ने तपस्या के नैतिक मूल्य से इन्कार किया था लेकिन उनकी शिक्षा का सारा असर ज़िंदगी की तरफ़ निराशावाद का था। यह खासतौर से हीनयान का रुख़ था और जैनियों का इससे भी बढ़कर था। परलोक मुक्ति और दुनिया के बोझ से छुटकारा पाने पर ज़ोर दिया जाता था। ब्रह्मचर्य को प्रोत्साहन मिला और शाकाहार बढ़ा। ये सभी विचार हिंदुस्तान में बुद्ध से पहले मौजूद थे लेकिन इन पर इतना ज़ोर नहीं दिया गया था—पुराने आर्य-आदर्श का ज़ोर भरी-पूरी और बहुमुखी ज़िंदगी पर था। विद्यार्थी अवस्था ब्रह्मचर्य और संयम के लिए थी गृहस्थ ज़िंदगी के धंधों में अच्छी तरह हिस्सा लेता था और भोग का उसका अंग समझता। इसके बाद रफ़्ता रफ़्ता उससे विराग दिया जाता और लोक-सेवा और आत्मा की उन्नति की तरफ़ ज़्यादा ध्यान जाता। ज़िंदगी की सिर्फ़ आख़िरी मंज़िल जब वृद्धावस्था आ जाती ज़िंदगी के साधारण कामों और रागों से पूरे तौर पर विरक्त और संन्यास के लिए होती।

पहले तपस्या की तरफ़ झुकाव रखनेवाले लोग छोटे-छोटे गुटों में जंगलों में आश्रम बनाकर रहा करते थे और विद्यार्थी आकर्षित होकर उनके पास जाते थे। बौद्ध धर्म के साथ-साथ बड़े-बड़े मठ—भिक्षुओं और भिक्षुणियों के—सब जगह बन गये और लोग इनमें मिलकर बराबर जाने

लगे। बिहार के सूबे का नाम ही विहार या मठ से बना है, जिससे पता चलता है कि इस बड़े प्रदेश में कितने मठ रहे होंगे। इन मठों में शिक्षा का भी इंतज़ाम हुआ करता था और कुछ का संबंध विद्यालयों और कभी-कभी विश्वविद्यालयों या विद्यापीठों से था।

न सिर्फ़ हिंदुस्तान में बल्कि सारे मध्य-एशिया में बहुत-से बड़े-बड़े बौद्ध मठ क़ायम थे। एक मशहूर मठ बलख में था जिसमें एक हज़ार भिक्षु रहते थे और इसके बहुत-से उल्लेख मिलते हैं। इसका नाम नव-विहार या नया मठ था जिसका फ़ारसी रूप नौ-बहार हो गया।

यह क्या बात है कि हिंदुस्तान में बौद्ध-धर्म का नतीजा यह हुआ कि और देशों के मुक़ाबले में यहां यह लंबी मुद्दतों तक क़ायम रहा जैसे चीन जापान और बरमा में—यहां परलोकवाद की ज़्यादा तरक़्क़ी हुई? मैं नहीं जानता लेकिन मेरा ख़याल है कि हर एक देश की पृष्ठभूमि इतनी काफ़ी मज़बूत रही है कि धर्म को अपने ही रूप में ढाल ले। मिसाल के लिए चीन में कनफ़ूशस और लाओ-त्से और दूसरे फ़िलसूफ़ों की ज़बरदस्त परंपराएं रही हैं। और फिर चीन और जापान ने बौद्ध-धर्म का महायानी रूप क़बूल किया जो हीनयान के मुक़ाबले में कम निराशावादी था। हिंदुस्तान पर जैन-धर्म का भी असर पड़ा जो इन सब सिद्धांतों और फ़िलसफ़ों से ज़्यादा परलोकवादी और ज़िंदगी से इन्कार करनेवाला रहा है।

हिंदुस्तान और उसके सामाजिक संगठन पर बौद्ध-धर्म का एक और बड़ा अजीब असर पड़ा मालूम देता है ऐसा असर, जो उसके सारे नज़रिये का विरोधी है। वह है जात-पांत संबंधी जिसको उसने पसंद न किया लेकिन फिर भी जिसकी मूल बुनियाद को इसने क़बूल कर लिया।

बुद्ध के ज़माने में वर्ण-व्यवस्था लचीली थी और इसमें उतनी कट्टरता नहीं आई थी जितनी बाद के ज़माने में आ गई। जन्म से ज़्यादा योग्यता चरित्र और काम पर ज़ोर दिया जाता था। खुद बुद्ध ने अकसर ब्राह्मण शब्द का उपयोग योग्य उत्साही और संयमी आदमी के लिए किया है। छांदोग्य उपनिषद् में एक मशहूर कहानी है जिससे जात-पांत और स्त्री-पुरुष के संबंध को उस ज़माने में कैसा समझा जाता था इस पर रोशनी पड़ती है।

यह सत्यकाम की कथा है, जिसकी माता जबाला थी। सत्यकाम गौतम ऋषि (बुद्ध नहीं) के यहां विद्या सीखना चाहता था और जब वह

घर से चलने लगा तब उसने अपनी मां से पूछा—"मैं किस गोत्र का हूं? उसकी मां ने उससे कहा— बेटा मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। अपनी युवावस्था में जब मैं अपने पिता के घर में आये हुए बहुत से अतिथियों की सेवा में रहती थी उस समय तू मेरे गर्भ में आया। मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है। मेरा नाम जबाला था तू सत्यकाम है। अपने को सत्यकाम जाबाल बताना।

इसके बाद सत्यकाम गौतम के यहां गया और ऋषि ने उसके वंश का पता पूछा। उसने जैसा उसकी मां ने बताया था कह दिया। इस पर ऋषि ने कहा— सच्चे ब्राह्मण को छोड़कर दूसरा कोई इस तरह साफ़-साफ़ नहीं कह सकता। जाओ बस लकड़ी बीन लाओ। मैं तुम्हें दीक्षा दूंगा। तुम सत्य से डिगे नहीं।

शायद बुद्ध के ज़माने में ब्राह्मण-धर्म के लोगों में ही कमोबेश कट्टरता आई थी। क्षत्रिय अपने कुल और परंपरा का अभिमान करते थे लेकिन जहां-तक धर्म की बात थी उनके दरवाज़े उन सब व्यक्तियों और कुलों के लिए खुले हुए थे जो शासक बन बैठे। उन्हें छोड़कर ज़्यादातर लोग वैश्य थे जो किसानी करते थे और यह पेशा बड़े आदर का पेशा समझा जाता था। दूसरी पेशेवर जातें भी थीं। अछूत कहलानेवाले लोग जान पड़ता है बहुत थोड़े थे शायद कुछ जंगली लोग थे और कुछ ऐसे लोग थे जिनका पेशा मुर्दों को जलाना फेंकना आदि था।

जैन और बौद्ध-धर्म ने जो अहिंसा पर ज़ोर दिया उसका नतीजा यह हुआ कि खेत जोतना एक नीचा धंधा समझा जाने लगा क्योंकि इसमें अक्सर जीव-हत्या होती थी। यह पेशा जो भारतीय-आर्यों के गर्व करने का पेशा था देश के कुछ हिस्सों में गिरा हुआ समझा जाने लगा, बावजूद इसके कि इस पेशे का एक बुनियादी महत्त्व था और जो लोग खेती करते उनकी प्रतिष्ठा घट गई।

इस तरह से बौद्ध धर्म जो पुरोहिताई और कर्म-कांड के खिलाफ़ और आदमी को गिराने और उसे ऊंची ज़िंदगी से वंचित रखने के खिलाफ़ एक विद्रोह के रूप में उगा था खुद अनजाने में बहुत बड़ी संख्या में किसानों की पस्ती का कारण बन गया। बौद्ध धर्म को इसके लिए ज़िम्मेदार ठहराना ठीक न होगा क्योंकि दूसरी जगहों में इसका ऐसा कोई असर न पड़ा। वर्ण-व्यवस्था के भीतर ही कुछ ऐसी बात थी जो इसे इस दिशा में ले गई। जैन-धर्म ने उसे अहिंसा के उत्साह में इधर ढकेला—और बौद्ध-धर्म ने अनजान में इस क्रिया में मदद पहुंचाई।

## १२ हिंदू-धर्म ने बौद्ध-धर्म को क्योंकर अपने में मिला लिया ?

आठ या नौ साल हुए, जब मैं पेरिस में था मेरी और अपनी बात-चीत के शुरू में ही आंद्रे मालरो ने मुझसे एक अजीब सवाल किया। उन्होंने मुझसे पूछा—"वह कौनसी ताक़त थी जिसकी वजह से एक हज़ार वर्ष पहले हिंदू-धर्म ने बिना किसी बड़े संघर्ष के संगठित बौद्ध-धर्म को हिंदुस्तान से बाहर कर दिया ? हिंदू-धर्म एक बड़े और फैले हुए लोकप्रिय धर्म को बिना धर्म के नाम पर लड़ी गई उस तरह की लड़ाइयों के जिन्होंने और देशों के इतिहास को काला किया है क्योंकर एक तरह से अपने में जज़्ब कर लेने में कामयाब हुआ ? कौनसी भीतरी ताक़त या जीवनी-शक्ति हिंदू-धर्म में उस वक्त थी जिससे वह यह अद्भुत काम कर सका ? और क्या हिंदुस्तान में आज भी वह जीवनी-शक्ति और भीतरी ताक़त मौजूद है ? अगर है तो उसकी आज़ादी को कोई रोक नहीं सकता और उसका बड़प्पन निश्चय है।

*यह सवाल शायद ऐसा था जो एक फ्रान्सीसी विचारक के लिए, जो काम* के मैदान का भी आदमी था उपयुक्त ही था। फिर भी यूरोप या अम-रीका में बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो इस तरह की बातों में उलझें उनके लिए तो मौजूदा ज़माने के ही न जाने कितने मसले और करने के लिए होंगे। आज की दुनिया के ये मसले मालरो के सामने भी थे और अपने शक्तिशाली और विश्लेषण करनेवाले दिमाग़ के ज़रिये वह उन मसलों पर रोशनी हासिल करने की कोशिश में रहते थे वह रोशनी चाहे पुराने ज़माने से मिले चाहे मौजूदा ज़माने से—और इसे वह विचार से बातचीत से लेखों से या सबसे बढ़कर काम से ज़िंदगी और मौत के खेल के मैदान से हासिल करने की कोशिश में रहते।

स्पष्ट है कि मालरो के लिए यह केवल एक सैद्धांतिक सवाल नहीं था। *यह उनके दिमाग़ में फिर रहा था और छूटते ही उन्होंने मुझसे यह सवाल* किया। यह मेरी पसंद का सवाल था या ऐसा सवाल था जो मेरे मन में भी चलता रहा है। लेकिन इसका मेरे पास मालरो के लिए या खुद अपने लिए कोई जवाब न था। जवाबों और व्याख्याओं की कमी नहीं है, लेकिन वे ऐसी हैं कि सवाल के मूल तक नहीं पहुंचतीं।

यह साफ़ है कि हिंदुस्तान में बौद्ध-धर्म का बड़े पैमाने पर या ज़ुल्म के साथ दमन नहीं किया गया। कभी-कभी मुक़ामी झगड़े या किसी हिंदू शासक और बौद्ध-संघ या भिक्खुओं के संगठन के बीच जो बड़ा शक्तिशाली

गुप्तकालीन भारत

हो गया था संघर्ष हो जाते थे। इन झगड़ों के मूल में अक्सर राजनैतिक बातें होती थीं और इनसे कोई ज्यादा फ़र्क होता-जाता न था। यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि हिंदू-धर्म को बौद्ध धर्म ने कभी भी बिलकुल ही हटा दिया हो ऐसा न था। जिस समय कि बौद्ध-धर्म की सबसे ज्यादा तरक्की हुई, उस समय भी हिंदू-धर्म खूब फैला हुआ था। बौद्ध-धर्म की हिंदुस्तान में क़ुदरती मौत हुई या यह कहिये कि यह रफ़्ता-रफ़्ता मिटता गया और एक नये रूप में बदलता गया। एलीयट का कहना है—"हिंदुस्तान में एक ऐसी अद्भुत शक्ति है कि यह जिस चीज़ को बाहर से ग्रहण करता है उसे अपने में मिला और पचा लेता है।" अगर यह बात बाहर से और विदेशी आचारों से ली गई चीज़ों के बारे में सही है, तो यह खुद उसीके दिमाग़ और विचारों की उपज के बारे में और भी लागू हो जाती है। बौद्ध-धर्म न सिर्फ़ पूरी तौर पर हिंदुस्तान की उपज था बल्कि इसका फ़िलसफ़ा हिंदुस्तान के पुराने विचार और उपनिषदों के वेदांती फ़िलसफ़े से मिलता हुआ था। उपनिषदों ने पुरोहिताई और कर्म-कांड का मज़ाक तक उड़ाया था और जात-पांत के महत्व को कम किया था।

आपस के शास्त्रार्थों के बावजूद या शायद उन्हींकी वजह से ब्राह्मण धर्म और बौद्ध-धर्म की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रही और ये फ़िलसफ़े और आम यक़ीन के ख़याल से भी एक-दूसरे के क़रीब आते रहे। ख़ासतौर पर महायान-मत ब्राह्मण-धर्म और रूपों के बहुत निकट था। अपनी नैतिक पृष्ठभूमि की हिफ़ाज़त करते हुए यह किसी चीज़ से भी सम-झौता करने के लिए तैयार था। ब्राह्मण-धर्म ने बुद्ध को अवतार—ईश्वर—बना दिया। यही बौद्ध-धर्म ने भी किया। महायान के सिद्धांत तेज़ी से फैले लेकिन जैसे-जैसे उनका प्रसार हुआ वैसे-वैसे महायान के गुणों का ह्रास हुआ और वह कम स्पष्ट रह गया। मठों में धन इकट्ठा हो गया वे निहित स्वार्थों के गढ़ बन गये और इनका अनुशासन ढीला पड़ने लगा। पूजा के आम रूपों में जादू-टोने और अंध-विश्वास ने घर किया। पहले एक हज़ार साल के वजूद के बाद हिंदुस्तान में बौद्ध-धर्म का बढ़ता हुआ ह्रास दिखाई पड़ता है। इस ज़माने में उसके रोग की हालत का बयान मिसेज़ रीज़ डेविड्स ने किया है—"इन रोग-ग्रस्त कल्पनाओं के गहरे असर में आकर गौतम की नैतिक शिक्षाएं हमारी निगाह से ओझल हो गई हैं। सिद्धांत-पर-सिद्धांत उठकर सामने आते हैं, और हर एक नई धारणा एक ज्यादा धारणा मांगती है, यहांतक कि सारा आसमान दिमाग़ी कल्पनाओं से भर जाता है और धर्म के बानी के धीमे-सादे और महान उपदेश अतिमानुषिक

सूक्ष्मताओं के वज़नीले ढेर के नीचे दबकर और घुटकर ख़त्म हो जाते हैं।[1]

यही बयान उन रोग-ग्रस्त कल्पनाओं और 'दिमाग़ी ऐयाशियों' पर भी ठीक-ठीक लागू होता है जिनसे ब्राह्मण-धर्म और उसकी शाखाएं इस ज़माने में पीड़ित थीं।

बौद्ध-धर्म हिंदुस्तान में एक सामाजिक और आध्यात्मिक जागृति और सुधार के ज़माने में शुरू हुआ। इसने लोगों में एक नई जान फूंकी, जनता की ताक़त के नये ज़रिये निकाले और रहनुमाई के नये ज़ाहिर पेश किये। अशोक की शहंशाही सरपरस्ती में यह तेज़ी से फैला और हिंदुस्तान का सबसे ख़ास मज़हब बन गया। यह दूसरे मुल्कों में भी फैला और बौद्ध आलिमों और विद्वानों का एक तांता था जो हिंदुस्तान के बाहर जाता था और हिंदुस्तान में लौटता था। यह सिलसिला सदियों तक जारी रहा। जब चीनी यात्री फ़ाहियान हिंदुस्तान में पांचवीं सदी ईसवी में यानी बुद्ध के एक हज़ार साल बाद आया तो उसने देखा कि यहां बौद्ध-धर्म फैला हुआ है। सातवीं सदी में एक उससे भी मशहूर यात्री ह्वेनत्सांग (य्वान च्वांग) हिंदुस्तान में आया और उसने ह्रास के लक्षण देखे, अगरचे कुछ प्रदेशों में इसका अब भी ज़ोर था। काफ़ी बड़ी तादाद में बौद्ध विद्वान और भिक्षु रफ़्ता रफ़्ता हिंदुस्तान से चीन चले गये।

इस बीच में गुप्त सम्राटों के ज़माने में चौथी और पांचवीं सदियों में ब्राह्मण-धर्म में पुनर्जागृति पैदा हो गई थी। यह बौद्ध-धर्म की विरोधी हर्गिज़ नहीं थी लेकिन इसने यक़ीनी तौर पर ब्राह्मण-धर्म की ताक़त और अहमियत को बढ़ावा दिया और इसके भीतर बौद्ध-धर्म की परलोकमुखता के ख़िलाफ़ एक प्रतिक्रिया भी थी। बाद के गुप्त राजाओं ने बहुत दिनों तक हूणों के हमलों का मुक़ाबला किया और अगरचे उन्होंने आख़िरकार हूणों को यहां से भगा दिया फिर भी मुल्क में कमज़ोरी आ गई और ह्रास का सिलसिला शुरू हो गया। बाद में कई ऐसे वक़्त आये हैं, जब तरक़्क़ी दिखाई पड़ी है और मार्के के लोग सामने आये हैं। लेकिन ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का ह्रास होता रहा और दोनों के अंदर बहुत गिरे क़िस्म के अमल दिखाई पड़ने लगे। दोनों के बीच फ़र्क़ कर सकना मुश्किल हो गया। अगर ब्राह्मण-धर्म ने बौद्ध-धर्म को जज़्ब कर लिया तो इस प्रक्रिया में ब्राह्मण धर्म ख़ुद बहुत-से मानों में बदल गया।

आठवीं सदी में शंकराचार्य ने जो हिंदुस्तान के सबसे बड़े दिमा-

---

[1] राधाकृष्णन की 'इंडियन फ़िलासफ़ी' नामक पुस्तक से लिया गया उद्धरण।

मुल्कों में हो गये हैं हिंदू संन्यासियों के मठ बनाये। यह बौद्धों के संघों की नक़ल में था। इससे पहले ब्राह्मण-धर्म में संन्यासियों के ऐसे कोई संगठन न थे हालांकि उनके छोटे-छोटे गुट मौजूद थे।

पूर्वी बंगाल में और पच्छिमोत्तर में सिंध में बौद्ध-धर्म का कुछ बिगड़ा हुआ रूप अब भी चल रहा था। पर वैसे तो बौद्ध-धर्म एकाएक हिंदुस्तान से एक फैले हुए मज़हब की शक्ल में उठ-सा गया।

## १५ हिंदुस्तान का फ़िलसफ़ियाना नज़रिया

अगरचे एक विचार से दूसरे विचार का सिलसिला लगा रहता है, और आमतौर से इनमें से हर एक का ज़िंदगी के बदलते हुए ताने-बाने से ताल्लुक़ होता है और इन्सानी दिमाग़ में कभी-कभी एक तर्क-पूर्ण प्रवाह देखने को मिलता है फिर भी ऐसा होता है कि ये विचार एक-दूसरे पर चढ़ जाते हैं और नये और पुराने साथ-साथ चलते रहते हैं जो आपस में मेल नहीं खाते और अक्सर विरोधी होते हैं। अकेले आदमी के दिमाग़ को लीजिये तो उसमें भी हम विरोधी विचारों की एक गठरी पायेंगे और उसके कामों में आपस में कोई मेल मुश्किल से ढूंढ़ सकेंगे। जब एक क़ौम का सवाल हो जिसमें सांस्कृतिक विकास की सभी मंज़िलें मिलती हों तो हम देखेंगे कि वह अपने में अपने विचारों यक़ीनों और धर्मों में गुज़रे ज़मानों को लेकर आजतक के सभी युगों की नुमाइंदगी करती है। शायद इसके लोगों के काम मौजूदा ज़माने के समाजी और सांस्कृतिक नमूने से ज़्यादा मिलते हुए हों नहीं तो वह ज़िंदगी की बहती हुई धार से अलग-थलग जा पड़ेंगे लेकिन इन कामों के पीछे आदिम विश्वास और ऐसे यक़ीन लगे हुए हैं जिनकी कोई दलील नहीं। ऐसे मुल्कों में भी जो तिजारत के लिहाज़ से तरक़्क़ी याफ़्ता हैं जहां हर शख़्स ख़ुद-ब-ख़ुद नई-से-नई ईजादों या तरीक़ों को इस्तेमाल में लाता है या उनसे फ़ायदा उठाता है हमें ऐसे यक़ीन और विचार मिलेंगे जिन्हें दलील इन्कार करती है और अक़्ल क़बूल नहीं करती और यह देखकर हर दर्जे का अचरज होता है। समझ और अक़्ल की उम्दा मिलावट हुए बिना ही एक राजनीतिज्ञ कामयाब हो सकता है। एक वकील मार्के का पेशेवर और न्याय-शास्त्री होते हुए भी और बातों में हर दर्जे का जाहिल हो सकता है और एक वैज्ञानिक भी जो मौजूदा ज़माने का ख़ास नुमाइंदा है अक्सर अपने तरीक़ों और विज्ञान के नज़रिये को अपने पढ़ने के कमरे और प्रयोगशाला से बाहर जाते ही भुला देता है।

यह बात उन मसलों पर सही घटती है जो हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी के भौतिक पहलुओं पर असर डालते हैं। फ़िलसफ़े और आधि

भौतिक विचारों में ये सबसे ज़्यादा दूर के कम अमली और हमारे रोज़ के कामों से कम ताल्लुक रखनेवाले जान पड़ते हैं। हम लोगों में से ज़्यादातर के लिए—अगर हमने अपने ऊपर कड़ा संयम नहीं लगाया है, और दिमाग को इस तौर पर मायल नहीं किया है—ये सबसे अपनी पहुँच से बिलकुल बाहर के हुआ करते हैं। लेकिन फिर भी हममें से सभी का कुछ-न-कुछ ज़िंदगी का फ़िलसफ़ा होता है, चाहे जान में हो या अनजान में और अगर वह खुद अपने चिंतन का नतीजा नहीं है तो वह विरासत में मिला हुआ और दूसरों से कुबूल किया गया और ज़ाहिरा तौर पर सही मान लिया गया फ़िलसफ़ा होता है। या यह हो सकता है कि हम खुद विचार करने के खतरे से बचकर किसी मज़हबी अक़ीदे या धार्मिक विश्वास या क़ौम के भाग्य या एक अस्पष्ट इन्सानी-हमदर्दी के ख़याल में पनाह लें। अक्सर ये सभी बातें और दूसरी बातें भी एक साथ मौजूद रहती हैं चाहे उनमें आपस में कोई ताल्लुक न भी हो। इस तरह से हमारा व्यक्तित्व टुकड़ों में बँट जाता है जो आपस में ताल्लुक रखते हुए अलग-अलग काम करते रहते हैं।

शायद गुज़रे ज़माने में इन्सान के व्यक्तित्व में ज़्यादा एकता और सम-तौल रहे हैं अगरचे कुछ बहुत ऊँचे लोगों की मिसालों को छोड़कर, आज के मुकाबले में ये नीची सतह पर रहे होंगे। परिवर्तन के इस नये दौर में जिससे दुनिया गुज़र रही है हमने इस एकता को तोड़ दिया है, लेकिन हम एक नई एकता हासिल करने में अभीतक कामयाब नहीं हुए हैं। हम अब भी हठवादी धर्म के तरीकों से चिमटे हुए हैं पुराने रस्मों और विश्वासों को पकड़े हुए हैं फिर भी विज्ञान की रीति के बमूजिब रहने का दावा करते हैं। शायद विज्ञान ज़िंदगी के प्रति अपने नज़रिये में बहुत तंग रहा है और इसने बहुत-से जीते-जागते पहलुओं को नज़र-अंदाज़ कर दिया है इसीसे वह एक नई एकता और नये समन्वय का आधार नहीं पेश कर सका है। शायद यह रफ़्ता-रफ़्ता इस आधार को फैला रहा है और हम इन्सानी व्यक्तित्व के लिए पिछली सतह से ऊँचे स्थान पर एक नया मेल-जोल हासिल कर सकेंगे।

लेकिन मसला अब ज़्यादा मुश्किल और जटिल हो गया है क्योंकि अब यह इन्सानी व्यक्तित्व के दायरे से बाहर पहुँच गया है। पुराने ज़माने और बीच के युग के महदूद दायरे में एक तरह से मिले-जुले व्यक्तित्व का विकास कर सकना शायद ज़्यादा आसान था। गाँवों और शहरों की उस छोटी-सी दुनिया में जहाँ समाजी संगठन और व्यवहार के ख़याल बँधे

हुसे थे व्यक्ति और उनके गिरोह अपने तक महदूद और आमतौर पर बाहरी तूफ़ानों से महफ़ूज़ ज़िंदगी बिताया करते थे। आज व्यक्ति तक का दायरा सारी दुनिया तक फैल गया है और समाजी संगठन के जुदा-जुदा ख़याल एक-दूसरे के साथ टक्कर ले रहे हैं और उनके पीछे हैं ज़िंदगी के जुदा-जुदा फ़िलसफ़े। कहीं ज़ोर की हवा कहीं तूफ़ान बरपा करती है तो कहीं बवंडर उठाती है। इसलिए अगर व्यक्ति को शांति और सकून हासिल करना है तो यह तभी हो सकता है जबकि उसे सारी दुनिया में फैली हुई एक ही क़िस्म की समाजी व्यवस्था का सहारा मिले।

हिंदुस्तान में और जगहों से कहीं ज़्यादा समाजी संगठन का पुराना विचार और ज़िंदगी का यह फ़िलसफ़ा जो इसकी तह में है कुछ हद तक आज भी जमा आ रहा है। अगर उसमें समाज को पायदारी देनेवाला और उसका ज़िंदगी के हालात से मेल करानेवाला कोई गुण न होता तो ऐसा न हुआ होता। साथ ही उसकी बुराई उसके गुण पर छा न गई होती तो आख़िरकार वह नाकामयाब न हुए होते और ज़िंदगी से अलग-थलग होकर उसके लिए बोझ न बन जाते। लेकिन हर हालत में आज उन्हें हम दुनिया से जुदा चीज़ की हैसियत में नहीं देख सकते हमें तो उन्हें दुनिया के साथ-साथ ही देखना पड़ेगा और उनका दुनिया के साथ मेल बिठाना होगा।

हेवल ने कहा है—"हिंदुस्तान में धर्म की हैसियत एक हठधर्मी मत की नहीं है, वह इन्सानी व्यवहार का एक ऐसा ख़ास सिद्धांत है, जिसने अपने को रूहानी तरक़्क़ी की मुख़्तलिफ़ मंज़िलों और ज़िंदगी के मुख़्तलिफ़ हालात के माफ़िक़ बना लिया है। एक हठधर्मी मत में तो ज़िंदगी से अलग हटकर भी यक़ीन क़ायम रखा जा सकता है लेकिन इन्सानी व्यवहार के एक ख़ास सिद्धांत को तो ज़िंदगी से अपना मेल बनाये रखना है, नहीं तो वह ज़िंदगी के रास्ते में रुकावट बन जायगा। ऐसे सिद्धांत का मूल आधार ही यह है कि वह असली हो ज़िंदगी से मेल रखनेवाला हो और अपने को बदलती हुई हालतों के मुताबिक़ ढाल सके। जबतक वह ऐसा कर सकता है तबतक वह अपना काम कर रहा है। ज़िंदगी के झुकाव से दूर हुआ सामाजिक दस्तूरों से संपर्क हुआ तो इसके और ज़िंदगी के बीच फ़ासला बढ़ जाता है और वह अपनी जीवनी-शक्ति और महत्त्व खो बैठता है।

आधिभौतिक सिद्धांत और कल्पनाओं का विषय ज़िंदगी की बराबर बदलती रहनेवाली चीज़ें नहीं हैं बल्कि उनके पीछे जो परम-सत्ता है—अगर इस तरह की कोई सत्ता है भी—वह है। इसलिए उनमें कुछ ऐसी

पायदारी है जिसमें बाहरी तब्दीलियों से फ़र्क़ नहीं आता। लेकिन जिस वातावरण में वे पैदा होते हैं और जिन इन्सानी दिमाग़ों की वे उपज हैं उनकी इन पर छाप रहती है। अगर इनका असर फैलता है तो लोगों के विचारों के आम फ़िलसफ़े को ये बदल देते हैं। हिंदुस्तान में अगरचे फ़िलसफ़ा, जहाँ तक कि ऊँचे विचार का ताल्लुक़ है, कुछ चुने हुए लोगों तक महदूद रहा है, फिर भी और जगहों के मुक़ाबले में यह ज़्यादा आम रहा है और क़ौमी नज़रिये के बनाने और दिमाग़ का एक ख़ास रुझान पैदा करने में इसका गहरा हाथ रहा है।

बौद्ध फ़िलसफ़े ने इस अमल में एक अहम हिस्सा लिया और बीच के ज़माने में इस्लाम ने ऐसे नये फ़िरक़े पैदा करके—जिन्होंने हिंदू-धर्म और इस्लामी समाजी और मज़हबी संगठन के बीच की खाई पर पुल बाँधने की कोशिश की—सीधे तरीक़े से या घुमाव-फिराव के साथ क़ौमी नज़रिये पर अपनी छाप डाली। लेकिन जो ख़ासतौर पर जिसका असर रहा है वह हिंदुस्तान के छः दर्शनों का है। इनमें से कुछ पर ख़ुद बौद्ध विचारों का प्रभाव पड़ा था। ये सभी कट्टर मत माने जाते हैं लेकिन अपने नज़रिये और परिणामों में ये एक-दूसरे से जुदा हैं अगरचे इनमें बहुत-से विचार एक-से भी हैं। इनमें हमें बहुदेववाद मिलेगा, साकार ईश्वरवाद मिलेगा, विशुद्ध अद्वैतवाद मिलेगा और ऐसा दर्शन भी मिलेगा जो ईश्वर पर ध्यान न देते हुए विकास के सिद्धांत को आधार बनाता है। हमें आदर्शवाद भी मिलेगा और पदार्थवाद भी। इन दर्शनों की एकता और विविधता में हमें जटिल और सर्वग्राही हिंदुस्तानी मानस के अनेक रूप देखने को मिलेंगे। मैक्समूलर ने इन दोनों बातों पर ध्यान दिलाया है—"इस सत्य का मुझ पर अधिकाधिक प्रभाव पड़ा है    कि इन छः दर्शनों की विविधता के पीछे कोई ऐसी आम पूँजी है जिसे हम क़ौमी या आम फ़िलसफ़ा कह सकते हैं    जिससे हर एक विचारक अपने मतलब के माफ़िक़ विचार ले सकता था।

इन सबमें समान रूप से माना गया यह विश्वास है कि विश्व में एक व्यवस्था है और उसका परिचालन नियम के अनुसार होता है और उसमें एक विशाल तारतम्य है। कुछ इस तरह का ख़याल ज़रूरी हो जाता है, नहीं तो कोई ऐसी व्यवस्था नहीं रह जायगी जिसका समझना ज़रूरी हो। अगरचे हेतुवाद और कर्म-बन्धन के सिद्धांत चलते रहते हैं फिर भी व्यक्तियों को अपने भाग्य का निर्माण करने की कुछ स्वतंत्रता रहती है। हमें इनमें पुनर्जन्म में विश्वास मिलता है और इनमें निःस्वार्थ प्रेम और निष्काम कर्म पर ज़ोर दिया गया है। विवेचन में तर्क और बुद्धि का सहारा

लिया जाता है, लेकिन यह बात मान्य है कि अंतर्प्रेरणा इन दोनों से बढ़कर है। साधारण विवेचन बुद्धि के धरातल पर चलता है—यहांतक कि बुद्धि का सहारा उन बातों के विषय में लिया जा सकता है जो उसकी सीमा से बाहर है। प्रोफ़ेसर कीथ ने बताया है कि 'इन दर्शनों में निश्चय ही एक कट्टरता है और धर्म-ग्रंथों के प्रमाण को माना गया है लेकिन वे अस्तित्व संबंधी समस्याओं को इन्सानी तरीक़ों से समझना चाहते हैं और देखा यह जाता है कि धर्म-ग्रंथों का इस्तेमाल केवल उन नतीजों के समर्थन में हुआ है जिन पर वे स्वतंत्र रूप से पहुंचे हैं, और अक्सर तो प्रमाणों का उनके सिद्धांतों से लगाव भी संदिग्ध रह जाता है।

## १४ षट्-दर्शन

हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े की शुरुआत हम बौद्ध ज़माने से पहले ही होती हुई देखते हैं। ब्राह्मणों और बौद्धों के दर्शनों का विकास साथ-साथ और रफ़्ता-रफ़्ता होता है और ये आपस में अक्सर एक-दूसरे की आलोचना भी करते हैं और एक-दूसरे की बातों का ग्रहण भी कर लेते हैं। ईसवी संवत के आरंभ होने से पहले ब्राह्मणों के छः दर्शनों ने ऐसे और बहुत-से बादों के भीतर से उठकर, अपना स्वरूप बना लिया था। इनमें हर एक का अपना जुदा नज़रिया है हर एक की तर्क-शैली अलग है फिर भी ये एक-दूसरे से अलग-अलग नहीं थे बल्कि एक बड़ी व्यवस्था के अंग थे।

छः दर्शनों के नाम इस तरह हैं—(१) न्याय (२) वैशेषिक (३) सांख्य (४) योग (५) मीमांसा और (६) वेदांत।

न्याय की शैली तर्क और विश्लेषण की शैली है। दरअसल 'न्याय' के मानी ही तर्क या विवेक-शास्त्र के हैं। यह बहुत-कुछ अरस्तू की तर्क-शैली से मिलता-जुलता है लेकिन दोनों में बुनियादी फ़र्क़ भी है। न्याय के बुनियादी उसूलों को और सभी दर्शनों ने स्वीकार कर लिया था और मानसिक संयम के रूप में न्याय की शिक्षा बराबर प्राचीन और बीच के ज़माने में बल्कि आजतक हिंदुस्तान की पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में दी जाती रही है। हिंदुस्तान की नई तालीम में इसे जगह नहीं मिली है लेकिन जहां कहीं भी संस्कृत पुराने ढंग से पढ़ाई जाती है, वहां यह पाठ्य क्रम का एक ख़ास अंग है। दर्शन के अध्ययन के लिए इसे महज़ एक लाज़िमी तैयारी के तौर पर नहीं समझा जाता था बल्कि यह ख़याल किया जाता था कि हर एक पढ़े-लिखे आदमी के लिए इसका जानना ज़रूरी है। हिंदुस्तानी तालीम की पुरानी व्यवस्था में इसकी कम-से-कम उतनी ही महत्त्वपूर्ण जगह है जितनी कि यूरोपीय शिक्षा में अरस्तू के तर्क-शास्त्र की।

इसका तरीका अलबत्ता इस जमाने के वैज्ञानिक ढंग के वस्तुगत अनुसंधान से जुदा था। फिर भी वह अपने ढंग से आलोचनात्मक और शास्त्रीय था और ऐसा था कि उसमें धर्म का सहारा लेने के बजाय ज्ञान के नियमों की जाँच की तर्कपूर्ण ढंग से और क़दम-क़दम करके कोशिश की गई है। इसके पीछे कुछ धर्म जरूर रहा है, कुछ मान्यताएँ रही हैं, जिनके बारे में तर्क कर सकना मुमकिन न था। लेकिन उन मान्यताओं को कबूल करके इस दर्शन का ढाँचा ऐसी ही बुनियादों पर खड़ा किया गया है। यह मान लिया गया था कि जिंदगी और प्रकृति में एक तारतम्य और एकता है। व्यक्ति-रूप ईश्वर में भी विश्वास है, इसी तरह व्यक्ति-रूप आत्माओं और पारमाणविक सृष्टि में। व्यक्ति न शरीर है और न आत्मा बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है। वास्तविकता को आत्माओं और प्रकृति का जटिल मिश्रण माना गया है।

वैशेषिक दर्शन बहुत-सी बातों में न्याय से मिलता-जुलता है। यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर जोर देता है और इस सिद्धांत को पेश करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है। इसमें विश्व को धर्म के आधार पर संचालित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर सारा ढाँचा खड़ा है। ईश्वर के अनुमान को साफ़-साफ़ स्वीकार नहीं किया गया है। न्याय और वैशेषिक और बुद्ध के बौद्ध-दर्शन में बहुत-सी मिलती हुई बातें हैं। कुल मिलाकर उनका नज़रिया यथार्थवादी है।

सांख्य दर्शन जिसके बारे में कहा जाता है कि कपिल (लगभग सातवीं सदी ई० पू०) ने इसे बहुत-सी प्राचीन और बुद्ध से पहले की विचारधाराओं के तत्त्वों के सहारे गढ़ा था बड़े मार्के का है। रिचर्ड गार्बे के अनुसार—"दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें इन्सानी दिमाग की पूरी आज़ादी और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कहीं मिलती है, तो वह कपिल के सिद्धांत में।

बौद्ध-धर्म के उदय के बाद सांख्य एक बड़ा सुगठित दर्शन बन गया। जो सिद्धांत इसमें बताया गया है वह वस्तु जगत के पदार्थों की जाँच के आधार पर नहीं बना है, बल्कि आदमी के दिमाग से उपजी हुई, पूरे तौर पर फ़िलसफ़ियाना और आधिभौतिक कल्पना है। दरअसल जो चीज़ें अपनी पहुँच से परे हैं उनकी इस तरह जाँच मुमकिन भी नहीं। बौद्ध-धर्म की तरह सांख्य ने भी अपनी जाँच-पड़ताल में बुद्धि और तर्क का सहारा लिया और प्रमाणों को छोड़ा इस तरह उसने बौद्ध-धर्म से उसीके मैदान में मोर्चा लिया। इस बुद्धिवादी नज़रिये की वजह से ईश्वर के विचार को अलग कर

दिया गया। इस तरह सांख्य में न साकार ईश्वर है और न निराकार, न एकेश्वरवाद है न एकवाद। इसका नजरिया नास्तिक नजरिया है और इसने लोकातीत धर्म की बुनियादों को हिला दिया। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है बल्कि एक संतत विकास हुआ है। यह पुरुष बल्कि पुरुषों और प्रकृति की आपस की प्रतिक्रिया का नतीजा है अगरचे प्रकृति खुद भी शक्ति रूप है। विकास एक निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन कहलाता है क्योंकि इसका आधार दो आदि कारणों पर है एक तो प्रकृति है जो बराबर काम करती रहनेवाली और परिवर्तनशील शक्ति है, और दूसरा पुरुष है जो चेतना है और कभी बदलता नहीं। चेतन-रूप पुरुषों या आत्माओं की अनगिनत संख्या है। पुरुष स्वयं स्थिर है लेकिन उसके प्रभाव में प्रकृति विकास करती है और एक बराबर पूर्णता को प्राप्त करनेवाली दुनिया का रूप लेती है। कार्य-कारण का संबंध माना गया है लेकिन कहा गया है कि कार्य कारण में ही निहित है। कार्य और कारण इस तरह से एक ही वस्तु के विकसित और अविकसित रूप हैं। हमारे अमली नजरिये से अलबत्ता कार्य और कारण जुदा-जुदा और एक-दूसरे से मुख्तलिफ़ हैं लेकिन बुनियादी तौर पर दोनों एक हैं।

इस तरह तर्क चलता है और यह दिखाता है कि किस तरह से अव्यक्त प्रकृति या शक्ति पुरुष या चेतन के प्रभाव में और हेतुवाद के सिद्धांत के अनुसार, इतना जटिल और विविध रूप धारण कर लेती है और बराबर बदलती और विकास करती रहती है। विश्व के ऊंचे-से-ऊंचे और नीचे-से-नीचे प्राणी के बीच में एक सिलसिला और एकता है। सारी कल्पना आधि-भौतिक है और कुछ अनुमानों के आधार पर जो विवेचन पेश किया गया है, वह लंबा जटिल और तर्कपूर्ण है।

पतंजलि का योग दर्शन खासतौर पर शरीर और मन के संयम का एक तरीका है, जिससे मानसिक और आत्मिक शिक्षा मिलती है। पतंजलि ने न सिर्फ़ इस पुराने दर्शन को एक संगठित रूप दिया बल्कि पाणिनि के संस्कृत व्याकरण पर भी उसने भाष्य लिखा। यह टीका जो 'महा भाष्य' के नाम से मशहूर है उतनी ही प्रामाणिक मानी जाती है जितना कि पाणिनि का ग्रंथ। लेनिनग्राद के प्रोफ़ेसर चेरबात्स्की ने लिखा है कि 'हिंदुस्तान की आदर्श वैज्ञानिक कृति पाणिनि का व्याकरण और पतंजलि का 'महाभाष्य' है।'[1]

---

[1] यह निश्चय नहीं हो पाया है कि वैयाकरण पतंजलि और 'योगसूत्र' के रचनेवाले पतंजलि एक ही हैं कि दो हैं। वैयाकरण की तिथि

इसका तरीका अलबत्ता इस जमाने के वैज्ञानिक ढंग के वस्तुगत मनुसंधान से जुदा था। फिर भी वह अपने ढंग से आलोचनात्मक और शास्त्रीय था और ऐसा था कि उसमें धर्म का सहारा लेने के बजाय ज्ञान के विषयों की जांच की तर्कपूर्ण ढंग से और कदम-कदम करके कोशिश की गई है। इसके पीछे कुछ धर्म चलकर रहा है कुछ मान्यताएं रही हैं जिनके बारे में तर्क कर सकना मुमकिन न था। लेकिन उन मान्यताओं को कबूल करके इस दर्शन का ढांचा ऐसी ही बुनियादों पर खड़ा किया गया है। यह मान लिया गया था कि जिंदगी और प्रकृति में एक तारतम्य और एकता है। व्यक्ति-रूप ईश्वर में भी विश्वास है इसी तरह व्यक्ति-रूप आत्माओं और पारमार्थिक सृष्टि में। व्यक्ति न शरीर है और न आत्मा बल्कि दोनों के मेल का नतीजा है। वास्तविकता को आत्माओं और प्रकृति का जटिल मिश्रण माना गया है।

वैशेषिक दर्शन बहुत-सी बातों में न्याय से मिलता-जुलता है। यह जीव और पदार्थ की भिन्नता पर जोर देता है और इस सिद्धांत को पेश करता है कि सृष्टि परमाणुओं से निर्मित है। इसमें विश्व को धर्म के आधार पर व्यवस्थित बताया गया है और इसी सिद्धांत पर सारा ढांचा खड़ा है। ईश्वर के अनुमान को साफ-साफ स्वीकार नहीं किया गया है। न्याय और वैशेषिक और बुद्ध के बौद्ध-दर्शन में बहुत-सी मिलती हुई बातें हैं। कुल मिलाकर उनका नजरिया यथार्थवादी है।

सांख्य दर्शन जिसके बारे में कहा जाता है कि कपिल (लगभग सातवीं सदी ई पू ) ने इसे बहुत-सी प्राचीन और बुद्ध से पहले की विचारधाराओं के तत्त्वों के सहारे खड़ा था बड़े मार्के का है। रिचर्ड गार्बे के अनुसार—'दुनिया के इतिहास में पहली बार हमें इन्सानी दिमाग की पूरी आजादी और अपनी शक्ति पर पूरी निर्भरता की मिसाल कहीं मिलती है, तो वह कपिल के सिद्धांत में।

बौद्ध-धर्म के उदय के बाद सांख्य एक बड़ा सुगठित दर्शन बन गया। जो सिद्धांत इसमें बताया गया है वह वस्तु जगत के पदार्थों की जांच के आधार पर नहीं बना है बल्कि आदमी के दिमाग से उपजी हुई पूरे तौर पर फिलसफियाना और आधिभौतिक कल्पना है। दरअसल जो चीजें अपनी पहुंच से परे हैं उनकी इस तरह जांच मुमकिन भी नहीं। बौद्ध-धर्म की तरह सांख्य ने भी अपनी जांच-पड़ताल में बुद्धि और तर्क का सहारा लिया और प्रमाणों को छोड़ा इस तरह उसने बौद्ध-धर्म से उसीके मैदान में मोर्चा लिया। इस बुनियादी नजरिये की वजह से ईश्वर के विचार को अलग कर

किया गया। इस तरह सांख्य में न साकार ईश्वर है और न निराकार, न एकेश्वरवाद है न एकवाद। इसका नज़रिया नास्तिक नज़रिया है और इसने लोकातीत धर्म की बुनियादों को हिला दिया। ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है बल्कि एक सतत विकास हुआ है। यह पुरुष बल्कि पुरुषों और प्रकृति की आपस की प्रतिक्रिया का नतीजा है अगरचे प्रकृति खुद भी शक्ति-रूप है। विकास एक निरंतर प्रक्रिया है।

सांख्य द्वैतवादी दर्शन कहलाता है क्योंकि इसका आधार दो आदि कारणों पर है एक तो प्रकृति है जो बराबर काम करती रहनेवाली और परिवर्तनशील शक्ति है और दूसरा पुरुष है जो चेतना है और कभी बदलता नहीं। चेतन-रूप पुरुषों या आत्माओं की अनगिनत संख्या है। पुरुष स्वयं स्थिर है लेकिन उसके प्रभाव में प्रकृति विकास करती है और एक बराबर पूर्णता को प्राप्त करनेवाली दुनिया का रूप लेती है। कार्य-कारण का संबंध माना गया है लेकिन कहा गया है कि कार्य कारण में ही निहित है। कार्य और कारण इस तरह से एक ही वस्तु के विकसित और अविकसित रूप हैं। हमारे अमली नज़रिये से अलबत्ता कार्य और कारण जुदा-जुदा और एक-दूसरे से मुख्तलिफ़ हैं लेकिन बुनियादी तौर पर दोनों एक हैं।

इस तरह तर्क चलता है और यह दिखाता है कि किस तरह से अव्यक्त प्रकृति या शक्ति पुरुष या चेतन के प्रभाव में और हेतुवाद के सिद्धांत के अनुसार, इतना जटिल और विविध रूप धारण कर लेती है और बराबर बदलती और विकसित करती रहती है। विश्व के ऊंचे-से-ऊंचे और नीचे-से नीचे प्राणी के बीच में एक सिलसिला और एकता है। सारी कल्पना आधिभौतिक है, और कुछ अनुमानों के आधार पर जो विवेचन पेश किया गया है, वह बड़ा जटिल और तर्कपूर्ण है।

पतंजलि का योग दर्शन खासतौर पर शरीर और मन के संयम का एक तरीका है जिससे मानसिक और आत्मिक शिक्षा मिलती है। पतंजलि ने न सिर्फ़ इस पुराने दर्शन को एक संगठित रूप दिया बल्कि पाणिनि के संस्कृत व्याकरण पर भी उसने भाष्य लिखा। यह टीका जो 'महाभाष्य' के नाम से मशहूर है उतनी ही प्रामाणिक मानी जाती है जितना कि पाणिनि का ग्रंथ। लेनिनग्राद के प्रोफ़ेसर चेरबात्स्की ने लिखा है कि "हिंदुस्तान की आदर्श वैज्ञानिक कृति पाणिनि का व्याकरण और पतंजलि का 'महाभाष्य' है।"

---

यह निश्चय नहीं हो पाया है कि वैयाकरण पतंजलि और 'योगसूत्र' के रचनेवाले पतंजलि एक ही हैं कि दो हैं। वैयाकरण की तिथि

योग शब्द यूरोप और अमरीका में सब घर गया है, मगरचे इसे बहुत कम लोग ठीक-ठीक समझते हैं और इसका संबंध विचित्र क्रियाओं से जोड़ा जाता है, खासतौर पर बुद्ध के समान आसन लगाकर बैठने से और अपनी नाभि या नाक की नोक की तरफ़ ध्यान लगाकर देखने से।[1] पश्चिम में कुछ लोग शरीर के कुछ करतबों को सीखकर अपने को इस विषय का अधिकारी समझने लगते हैं और विश्वासी या अद्भुत चीज़ों की तलाश में रहनेवालों को ठगते हैं या उन पर रोब जमाते हैं। यह दर्शन शरीर के कुछ करतबों तक सीमित नहीं है, बल्कि इसका आधार यह मनोवैज्ञानिक ख़याल है कि मन की ठीक-ठीक शिक्षा हो तो एक ऊंचे ढंग की चेतना पैदा हो जाती है। इस तरीक़े का मक़सद यह है कि आदमी खुद चीज़ों की जानकारी हासिल करे, यह नहीं कि यथार्थता या विश्व के बारे में किसी पूर्व-कल्पित आधिभौतिक सिद्धांत को क़बूल कर ले। इस तरह से यह एक प्रयोगात्मक पद्धति है और इसे चलाने के सबसे अच्छे ढंग से बयान किये गये हैं और इसलिए इसे कोई भी फ़िलसफ़ा ग्रहण कर सकता है, उसका नज़रिया चाहे जैसा हो। मिसाल के लिए सांख्य दर्शन जो नास्तिक है, इसके तरीक़ों को व्यवहार में ला सकता है। बौद्ध-धर्म ने यौगिक शिक्षा के नये ही रूप का विकास किया जो इससे कुछ मिलता था और कुछ जुदा था। इसलिए पतंजलि के योग दर्शन के सिद्धांतवाले अंश मुक़ाबले में कम महत्त्व के हैं, जिस चीज़ का महत्त्व है वह है उसकी क्रियाएं। ईश्वर की सत्ता में विश्वास इस दर्शन का अंग नहीं है, लेकिन इस बात का सुझाव दिया जान पड़ता है कि साकार ईश्वर में विश्वास और उसकी भक्ति मन को स्थिर करने में मददगार होती है, इसलिए इसका एक अमली मक़सद है।

ऐसा ख़याल किया जाता है कि आगे चलकर योग की साधना करनेवाले को एक अंतर्दृष्टि हासिल हो जाती है, या परमानंद की स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिस तरह की स्थिति का सूफ़ी लोग भी बयान करते हैं। मैं नहीं कह सकता कि यह मन की ऊंची स्थिति है, जिससे विशेष ज्ञान के दरवाज़े खुल जाते हैं, या महज़ एक आत्म-मोह की हालत है। अगर इनमें से पहली बात मुमकिन है तो दूसरी भी यक़ीनी तौर पर पैदा होती है और

तो निश्चित रूप से मालूम है कि ईसा से पहले की दूसरी सदी है। कुछ लोगों की राय है कि 'योगसूत्र' का रचयिता दूसरा ही है, जो इसके दो-तीन सौ साल बाद हुआ है।

[1] 'योग' शब्द का अर्थ है 'मिल'। शायद यह उसी धातु से निकला है जिससे अंग्रेज़ी शब्द 'योक' निकला है।

इसे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि योग की क्रिया में कोई व्यक्ति कम हुआ तो उसके बड़े विषम नतीजे होते हैं— यहांतक कि दिमाग का ताल्लुक है।

लेकिन ध्यान और मनन की इन आखिरी सीढ़ियों तक पहुंचने से पहले शरीर और मन के संयम की जरूरत है। शरीर ठीक और स्वस्थ लचीला और सुघर, दृढ़ और मजबूत होना चाहिए। बहुतरी जिस्मानी कसरतें बताई गई हैं और सांस लेने के तरीके भी जिनसे उस पर बस हासिल हो सके और आदमी आमतौर पर गहरी और लंबी सांसें लेने का आदी हो जाय। इसके लिए 'कसरतें' शब्द इस्तेमाल करना ठीक नहीं क्योंकि इनमें जोर से हरकतें नहीं होतीं। ये तो एक तरह के आसन या बैठने के तरीके हैं और अगर इन्हींको ठीक-ठीक किया गया तो ये शरीर को आराम देते हैं और तरो-ताजा कर देते हैं उसे बिलकुल थकाते नहीं। शरीर को चुस्त रखने का यह खास हिंदुस्तानी तरीका सचमुच बड़े मार्के का है अगर हम इसका दूसरे आम तरीकों से मुकाबला करते हैं जिनमें उछल-कूद रहती है और जिस्म को तरह-तरह के झटके दिये जाते हैं, यहांतक कि आदमी थक-कर रह जाता है और हांफ जाता है। ये दूसरे तरीके भी हिंदुस्तान में रायज रहे हैं और कुश्ती तैराकी घुड़सवारी बनेटी तीरंदाजी गदा-मुगदर जिउ-जित्सू के ढंग की चीजें और बहुत-से और खेल और जिस्म-बहलाव के तरीके रहे हैं। लेकिन आसन का तरीका शायद हिंदुस्तान के लिए अपना और उसके फिलसफे के अनुकूल है। इसमें एक खास सम-तौल है और शरीर को कसरत कराते हुए भी इसमें एक अविचलित शांति है। इससे शक्ति को खर्च किये बगैर आदमी ताकत और चुस्ती हासिल कर लेता है और इसी वजह से आसन सभी उम्र के लोगों के लिए ठीक हैं यहांतक कि इसे बूढ़े लोग भी कर सकते हैं।

ये आसन बहुत तरह के हैं। इधर कई बरसों से जब-जब मुझे मौका मिला है, मैं इनमें से कुछ सीधे-सादे और चुने हुए आसनों का प्रयोग करता रहा हूं। इसमें शक नहीं कि शरीर और मन के लिए जैसी प्रतिकूल हालतों में मुझे अक्सर रहना पड़ा है, उसमें इनसे मुझे बड़ा फायदा हुआ है। योग का अभ्यास मेरा इन्हीं तक और कुछ प्राणायाम की विधियों तक सीमित रहा है। मैं कुछ शुरू की जिस्मानी हालतों से आगे नहीं बढ़ सका हूं और मेरा मन अब भी काबू में नहीं आया है और शरीर का एक असंयत अंग बना हुआ है।

शरीर के संयम के साथ-साथ (जिसमें उचित खान-पान करना और अनुचित खान-पान से बचना शामिल है) जिसे योग दर्शन में नैतिक प्रवृत्ति कहा है, यह भी जरूरी है। इसके अंदर अहिंसा सत्य ब्रह्मचर्य आदि

जाते हैं। अहिंसा के माने शारीरिक बल-प्रयोग से बचना ही नहीं है बल्कि मन को घृणा और द्वेष से बचाये रखना भी है।

यह ख़याल किया जाता है कि इन सबसे इंद्रियों पर क़ाबू पाया जाता है इसके बाद मनन और ध्यान आते हैं और अंत में वह गहरी एकाग्रता या समाधि की अवस्था आती है, जिससे अनेक प्रकार की अंतर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

विवेकानंद ने जो योग और वेदांत के इस ज़माने के सबसे बड़े हामियों में हुए हैं, योग के प्रयोगात्मक पहलू पर बार-बार ज़ोर दिया है और उसे विवेक पर आधारित किया है। 'इन योगों में से कोई भी विवेक का पल्ला नहीं छोड़ता कोई यह नहीं कहता कि तुम अपनी विवेक-बुद्धि किसी भी तरह के पुरोहितों के हाथ में सुपुर्द कर दो इनमें से हर एक यह बताता है कि तुम अपने विवेक को मज़बूती से पकड़े रहो।' अगरचे योग और वेदांत का भाव विज्ञान के भाव के अनुकूल है फिर भी यह सच है कि दोनों के माध्यम जुदा-जुदा हैं और इसलिए उनमें गहरे मतभेद आ जाते हैं। योग के मुताबिक़ चेतना बुद्धि तक महदूद नहीं और 'विचार कर्म है और केवल कर्म के कारण विचार का मूल्य है।' प्रेरणा और अंतर्दृष्टि को स्वीकार किया गया है लेकिन क्या यह धुमावे में हमें नहीं डाल सकती? विवेकानंद कहते हैं कि बुद्धि के ख़िलाफ़ नहीं होना चाहिए, 'जिसे हम प्रेरणा कहते हैं, वह विवेक का ही विकास है अंतर्दृष्टि तक पहुंचानेवाला रास्ता विवेक का ही रास्ता है सच्ची प्रेरणा कभी विवेक के ख़िलाफ़ नहीं जाती। जहां वह ख़िलाफ़ जाती है वहां वह सच्ची प्रेरणा ही नहीं है यह भी कहते हैं—"प्रेरणा हर किसीकी भलाई के लिए होनी चाहिए नाम और शोहरत और किसी निजी फ़ायदे के लिए नहीं। इसे हमेशा दुनिया के भले के लिए और पूरी तरह से निस्वार्थ होना चाहिए।

आगे वह कहते हैं— 'ज्ञान का एकमात्र आधार अनुभव है। जांच-पड़ताल के वही तरीक़े जिन्हें हम विज्ञान में और बाहरी ज्ञान के सिलसिले में इस्तेमाल में लाते हैं मज़हब के मामले में भी इस्तेमाल में आने चाहिएं। अगर इस तरह की जांच-पड़ताल का यह नतीजा होता है कि मज़हब नष्ट हो जाता है तो यह समझना चाहिए कि वह एक फ़िज़ूल-सी चीज़ था और निकम्मा अंधविश्वास था और जितनी जल्दी वह ख़त्म हो जाय उतना ही अच्छा है।' 'मज़हब इस बात का दावा क्यों करते हैं कि वे विवेक से बंधे नहीं हैं यह कोई नहीं जानता क्योंकि यह कहीं बेहतर है कि आदमी बुद्धि का अनुसरण करते हुए नास्तिक हो जाय बजाय इसके कि किसीके प्रमाण पर

बीस करोड़ देवताओं में अंधविश्वास रखो। शायद ऐसे पैगंबर हुए हैं जिन्होंने इंद्रियों के ज्ञान की सीमा पार कर ली है और जो इससे आगे बढ़ गये हैं। इस बात में हम यकीन उसी वक्त लायेंगे जब हम ऐसा खुद कर सकें इससे पहले नहीं। यह कहा जाता है कि विवेक ऐसी दृढ़ चीज नहीं है और इससे अक्सर गलतियां हो जाती हैं। अगर विवेक कमजोर चीज है तो पुरोहितों का एक समूह क्या ज्यादा काबिले-इतमीनान समझा जाय? विवेकानंद आगे कहते हैं—'मैं अपने विवेक का सहारा लूंगा क्योंकि बावजूद उसके कमजोर होने के उसीके जरिये सचाई तक पहुंचने का मौका हो सकता है। इसलिए हमें विवेक का अनुसरण करना चाहिए और उन लोगों से सहानुभूति रखनी चाहिए, जो विवेक का अनुसरण करते हुए किसी विश्वास पर नहीं पहुंच सके हैं। 'इस राजयोग के मनन के लिए किसी विश्वास की जरूरत नहीं। जबतक कि तुम खुद न जान लो किसी चीज में यकीन न लाओ।[1]

विवेकानंदजी विवेक पर बराबर जोर देते रहे और उन्होंने विश्वास के आधारपर जो किसी चीज को मान लेने से जो इन्कार किया उसका कारण यह था कि उनका दिमाग की आजादी में अटल यकीन था। अलावा इसके वह प्रमाण को मान लेने से उठनेवाली बुराइयों को अपने मुल्क में देख चुके थे—"क्योंकि मैं एक ऐसे मुल्क में पैदा हुआ जहां लोगों ने प्रमाण की हद कर दी है। इसलिए उन्होंने पुराने योग और वेदांत दर्शनों की अपने मत के अनुसार व्याख्या की और इसके वह अधिकारी भी थे। लेकिन उनके पीछे चाहे जितना विवेक और प्रयोग हो वे एक ऐसे क्षेत्र की बातें हैं, जो साधारण आदमी की समझ और पहुंच के बाहर की हैं और यह क्षेत्र आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक है और जिस दुनिया से हम परिचित हैं उससे बिल्कुल जुदा है। यह तय है कि इस तरह के प्रयोग और अनुभव सिर्फ हिंदुस्तान में ही नहीं हुए हैं ईसाई रहस्यवादियों ईरानी सूफियों और औरों की रचनाओं में इसके पूरे-पूरे सबूत मिलते हैं। ये अनुभव एक-दूसरे से कितने मिलते-जुलते हैं, यह देखकर अचरज होता है। रोम्यां रोलां के शब्दों में उनसे यह जाहिर होता है कि "मजहबी अनुभव की बड़ी घटनाए सब जगह और सब काल में मिलती हैं जाति और काल के अलग-अलग पहनावे को हटा दिया जाय तो ये आपस में समान दिखनेवाली हैं और इससे यह पता चलता है कि इन्सान की भावना में बराबर एकता

[1] विवेकानंद की रचनाओं के ज्यादातर उद्धरण रोम्यां रोलां की पुस्तक 'लाइफ ऑव विवेकानंद' से लिये गये हैं।

है—बल्कि यह भावना से भी ज्यादा गहराई में जानेवाली चीज है जिसकी तलाश में यह भावना लगी रहती है—मनुष्य-भाव को निर्माण करनेवाला तत्त्व ही एक है।

तब फिर योग एक ऐसी प्रयोगात्मक पद्धति है जो व्यक्ति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को टटोलती है और इस तरह कुछ चेतना और मन की रोक-थाम को विकसित करती है। आजकल का मनोविज्ञान इससे कहांतक लाभ उठा सकता है मैं नहीं कह सकता लेकिन ऐसा करने का कुछ प्रयत्न होना अच्छा है। अरविंद घोष ने योग की परिभाषा इस तरह की है—'सारा राज-योग इस चेतना और अनुभव पर निर्भर करता है कि हमारे भीतरी तत्त्व उनके मेल-जोल इत्व शक्तियां इन सबको अलग अलग और छिन्न-भिन्न किया जा सकता है और फिर उनमें एक नया संयोग पैदा किया जा सकता है और उनसे ऐसे नये काम लिये जा सकते हैं जो उनके लिए पहले मुमकिन न होते या उन्हें बदलकर निश्चित भीतरी क्रियाओं से एक नये समन्वय का रूप दिया जा सकता है।

इसके बाद दूसरा दर्शन है मीमांसा। यह कर्म-कांड-संबंधी है और इसमें बहुदेववाद की तरफ झुकाव मिलता है। इस जमाने के आम हिंदू धर्म और हिंदू-विधान पर इस सिद्धांत और उसके नियमों का बड़ा असर रहा है। ये नियम बताते हैं कि धर्म क्या है और उनके अनुसार उचित आचार कैसा होना चाहिए। इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि हिंदुओं का बहुदेववाद एक विचित्र ही ढंग का है क्योंकि देव लोग उनमें चाहे जैसी विलक्षण शक्तियां हों मनुष्य से नीची योनि के जीव माने गये हैं। हिंदुओं और बौद्धों दोनों ही का विश्वास है कि मनुष्य-जन्म आत्म-सिद्धि के रास्ते में जीव के लिए सबसे ऊंची अवस्था है। देव लोग भी यह स्वतंत्रता और सिद्धि तभी हासिल कर सकते हैं, जब वे आदमी का जन्म लें। साधारण बहुदेववाद की कल्पना से यह बहुत दूर की स्थिति है। बौद्धों का कहना है कि सिर्फ मनुष्य बुद्धत्व के परम पद को प्राप्त कर सकता है।

इस सिलसिले का छठा और आखिरी दर्शन वेदांत है जिसकी शुरुआत उपनिषदों से होती है और जो विकसित होकर अनेक रूप धारण करता है लेकिन जिसका आधार हमेशा विश्व की अद्वैत कल्पना में रहा है। सांख्य में जिस पुरुष और प्रकृति का वर्णन है उसे वेदांत अलग-अलग तत्त्व नहीं समझता बल्कि यह समझता है कि यह एक ही सत्ता परम पुरुष के विभाव हैं। पुराने वेदांत के आधार पर शंकर (या शंकराचार्य) ने अद्वैत वेदांत का निर्माण किया। यही वह दर्शन है जो आज के हिंदू-धर्म के

आम मजरिये की नुमाइंदगी करता है।

इसका आधार विशुद्ध अद्वैतवाद है आधिभौतिक अर्थ में आखिरी सत्ता आत्मा या परब्रह्म है। वही सद्रूप है और जो कुछ भी है वह दृश्यमान है। परब्रह्म किस तरह सब चीजों में व्याप्त है किस तरह वे एक अनेक रूप में भासमान है और अखंड भी है क्योंकि परब्रह्म अखंड और ऐसा है जिसके टुकड़े नहीं किये जा सकते यह सब तर्क द्वारा समझ में नहीं आ सकता क्योंकि हमारा दिमाग वस्तु-जगत से सीमित और महदूद है। उपनिषद् ने इस आत्मा का बयान इस तरह किया है (अगर हम इसे बयान कह सकते हैं)—"वह पूर्ण है यह (भी) पूर्ण है पूर्ण-से-पूर्ण आता है पूर्ण को-पूर्ण से निकाल लो (फिर भी) पूर्ण बच रहता है।"

शंकर ने ज्ञान के एक जटिल और सूक्ष्म सिद्धांत का निर्माण किया है और कुछ अनुमानों के आधार पर, तर्क द्वारा एक-एक पग बढ़ते हुए अद्वैतवाद का पूरा ढांचा पेश किया है। व्यक्तिगत आत्मा की अलग सत्ता नहीं है बल्कि वह परमात्मा ही है, जिसने अपने को कुछ रूपों में सीमित कर लिया है। इसकी उपमा घड़े के भीतर के अवकाश से दी गई है आत्मा व्यापक अवकाश है। अमल में हम उन दोनों को अलग-अलग मान सकते हैं, लेकिन यह भेद केवल देखने का है सच्चा भेद नहीं है। इस एकता के मानी व्यक्तिगत आत्मा और परमात्मा की एकता के अनुभव में ही मुक्ति है।

इस तरह से हम जिस वस्तु-जगत को अपने चारों ओर देखते हैं वह उस सत्ता का सिर्फ एक प्रतिबिंब है या अनुभव के स्तर पर उसकी छाया है। इसे माया कहा गया है जिसका अंग्रेजी में 'इल्यूजन' शब्द द्वारा गलत अनुवाद किया गया है। लेकिन यह असत् नहीं है। यह सत् और असत् के बीच का एक रूप है। यह एक प्रकार की सापेक्ष स्थिति है इसलिए शायद सापेक्षवाद की कल्पना हमें माया के अर्थ के ज्यादा निकट लाती है। फिर इस दुनिया में भलाई और बुराई क्या है ? क्या ये भी सिर्फ प्रतिबिंब हैं और इनमें सार नहीं है ? आखिरी विश्लेषण में ये चाहे जो ठहरें, हमारी इस अनुभव की दुनिया में इन नैतिक भेदों में एक वास्तविकता और महत्त्व है। जहाँ व्यक्ति व्यक्ति की तरह पेश आते हैं, वहां ये भेद संगत हो जाते हैं।

ये सीमित व्यक्ति असीम को बिना सीमित किये उसकी कल्पना नहीं कर सकते वे महज महदूद और वस्तुगत रूप में कल्पना कर सकते हैं। लेकिन ये सीमित रूप और कल्पनाएं भी अंत में असीम और परब्रह्म

में ही आश्रय लेती है। इसलिए धर्म का रूप एक सापेक्ष बात हो जाती है और हर एक आदमी अपनी शक्ति के अनुसार कल्पना करने के लिए आजाद है।

शंकर ने वर्ण-व्यवस्था की बुनियाद पर ब्राह्मणों के जरिये बनी समाजी जिंदगी को कबूल किया और उसीको कौम के मिले-जुले अनुभव और अक्ल की नुमाइंदगी करनेवाला समझा। लेकिन उन्होंने बताया कि किसी भी जात का कोई भी आदमी सबसे ऊंचा ज्ञान हासिल कर सकता है।

शंकर के फ़िलसफ़े और उनके रुख में दुनिया से इन्कार करने का और आत्मा की मुक्ति के लिए, जो उनकी नज़र में आदमी का परम ध्येय है, साधारण प्रवृत्तियों से बचने का भाव है। त्याग और वैराग्य पर भी बराबर ज़ोर दिया गया है।

फिर भी शंकर एक अद्भुत शक्ति के और बड़े काम करनेवाले व्यक्ति थे। वह गुफा में जाकर बैठ जानेवाले या जंगल के एक कोने में एकांतवास करते हुए अपनी व्यक्तिगत पूर्णता की साधना करनेवाले और दूसरों को क्या होता है इससे लापरवाह आदमी नहीं थे। उनका जन्म दक्खिन हिंदुस्तान के मलाबार प्रदेश में हुआ था और उन्होंने सारे हिंदुस्तान में निरंतर यात्रा की थी और अनगिनत लोगों से वह मिले थे उनसे तर्क और वाद-विवाद किया था और उन्हें क़ायल किया था और उन्हें अपने उत्साह और जीवनी-शक्ति का एक अंश दिया था। ज़ाहिर है कि वह ऐसे आदमी थे जो अपना एक खास ध्येय समझते थे जो कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक सारे हिंदुस्तान को अपना कार्य-क्षेत्र समझते थे और उसमें एक सांस्कृतिक एकता का अनुभव करते थे और यह समझते थे कि बाहरी रूप चाहे जितने भिन्न हों वह एक ही भाव से भरा हुआ है। हिंदुस्तान में उनके ज़माने में विचार की जो जुदा-जुदा धाराएं बह रही थीं उनमें एक समन्वय पैदा करने की उन्होंने पूरी कोशिश की और इस बात की कोशिश की कि विविधता के बीच से एकता पैदा करें। बत्तीस साल की छोटी-सी जिंदगी में उन्होंने जो काम कर दिखाया वह ऐसा था कि कई लंबी जिंदगियों में दूसरा न कर पाता और उन्होंने अपने ज़बरदस्त दिमाग़ और संपन्न व्यक्तित्व की ऐसी छाप हिंदुस्तान पर डाली कि वह आजतक बनी हुई है। उनमें फ़िलसूफ़ और विद्वान का, अद्वैतवादी और रहस्यवादी का, कवि और संत का और इन सबके अलावा एक अमली सुधारक और क़ाबिल संगठनकर्ता का एक अजीब मेल-जोल था। ब्राह्मण-धर्म के अंतर्गत उन्होंने पहली बार दस पंथ बनाये और इनमें से चार अब भी खूब चल रहे हैं।

उन्होंने चार बड़े मठ क़ायम किये जो हिंदुस्तान के क़रीब-क़रीब चार कोरों पर हैं। इनमें से एक मैसूर में शृंगेरी में दूसरा पूर्वी समुद्र-तट पर पुरी में तीसरा काठियावाड़ में पश्चिमी समुद्र-तट पर द्वारका में और चौथा बीच हिमालय में बद्रीनाथ में है। बत्तीस वर्ष की उम्र में दक्खिन के परम प्रदेश का यह ब्राह्मण केदारनाथ में ऊंचे हिमालय के बर्फ़ से ढके प्रदेश में परलोक सिधारा।

शंकर की इन लंबी यात्राओं का उस ज़माने में जबकि आना-जाना मुश्किल होता था और सवारी के साधन धीमे और आदिम थे एक खास महत्त्व है। इन यात्राओं की कल्पना ही और सब जगह अपने-जैसे विचार वालों से मिलना-जुलना और सारे हिंदुस्तान के पंडितों की भाषा संस्कृत में उनसे बातचीत करना हमारे सामने इतने पुराने समय के हिंदुस्तान में एकता का चित्र ले आते हैं। उस ज़माने में या उससे भी और पहले ऐसी यात्राएं ग़ैर-मामूली न रही होंगी। बावजूद राजनैतिक विभाजनों के लोगों की बराबर आमद-रफ्त होती थी नई किताबें भी फैलती थीं हर एक नया विचार, नया सिद्धांत सारे देश में बड़ी तेज़ी से फैल जाता था और लोग उन पर दिलचस्पी से बातचीत ही नहीं करते थे बल्कि उन्हें लेकर गरम वाद-विवाद भी होते थे। पढ़े-लिखे लोगों का ही एक आम सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर नहीं था बल्कि साधारण लोग भी बराबर अनेक तीर्थों की यात्रा किया करते थे जो सारे देश में फैले हुए थे और जो पौरा-णिक काल से ही मशहूर भी थे। इस सब आमद-रफ्त और लोगों के आपस में मिलने-जुलने ने सबके एक मुल्क और आम संस्कृति के ख़याल को पक्का पुख़्ता किया होगा। ये यात्राएं ऊंचे वर्ण के लोगों तक महदूद न थीं यात्रियों में सभी वर्ण के आदमी और औरतें होती थीं। लोगों के मन में इन यात्राओं का जो भी धार्मिक महत्त्व रहा हो आज की तरह उस ज़माने में भी इसे छुट्टी का अवसर और आनंद मनाने और मुल्क के जुदा-जुदा हिस्सों को देखने का मौक़ा समझा जाता था। हर एक तीर्थ के मुक़ाम पर हिंदुस्तान के सभी जगह और स्तर के लोगों को देखा जा सकता था जिनके रीति-रिवाज पहनावे और बोलियां जुदा-जुदा थीं लेकिन फिर भी जिनमें इस बात की चेतना थी कि उनमें कुछ समान बातें हैं कुछ आपस के बंधन हैं जो उन्हें एक ही जगह खींचकर ले आये हैं। उत्तर और दक्खिन हिंदुस्तान की बिलकुल जुदा भाषाएं भी आपस के मेल-जोल में बहुत ज़्यादा बाधक न हो पाती थीं।

ये सब बातें उस समय थी और क़ुदरती तौर पर शंकर इन्हें पूरी

नजदीक आये और जिसके जरिये उन्होंने बहुत-से संपर्क कायम कर लिये। अशोक के पहले दोनों के बीच संपर्क थे या नहीं, इसकी हमें जानकारी नहीं है, शायद समुद्र के रास्ते से कुछ व्यापार होता था, क्योंकि चीन से रेशमी माल यहां आता था। लेकिन खुश्की के रास्ते भी संपर्क रहे होंगे और बहुत पहले जमाने में लोग आते रहे होंगे, क्योंकि हिंदुस्तान के पूरबी छोर के प्रदेश में मंगोली सूरत-शक्ल के लोग आमतौर पर मिलते हैं। नेपाल में यह बात बहुत जाहिर हो जाती है। असम (पुराने कामरूप) में और बंगाल में यह अक्सर देखी जाती है। लेकिन जहांतक इतिहास की बात है, अशोक के धर्म-प्रचारकों ने रास्ता खोला, और ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध-धर्म फैला त्यों-त्यों वहां से यात्रियों और विद्वानों का लगातार आना शुरू हुआ और ये हिंदुस्तान और चीन के बीच एक हजार बरस तक आते-जाते रहे। वे गोबी रेगिस्तान पार करके, मध्य-एशिया के पहाड़ों और मैदानों को तय करते हुए और हिमालय के ऊपर से अपनी लंबी, कठिन और भयानक यात्रा करते थे। बहुत-से हिंदुस्तानी और चीनी रास्ते में मर गये—और एक बयान तो यह है कि ९० फी-सदी यात्री मर गये। बहुत-से जो अपनी यात्रा पूरी कर सके वे फिर जहां पहुंचे वहीं बस गये और वापस नहीं लौटे। एक दूसरा रास्ता भी था, जो मुकाबले में कुछ ज्यादा महफूज न था, पर छोटा जरूर था। यह रास्ता समुद्री था और हिंद-चीन, जावा, सुमात्रा, मलय और निकोबार टापुओं से होकर जानेवाला था। इससे भी लोग अक्सर आते थे और कभी-कभी यात्री खुश्की के रास्ते से चलकर समुद्री रास्ते से अपने देश को लौटा करते थे। बौद्ध-धर्म और हिंदुस्तानी संस्कृति सारे मध्य-एशिया में और इंडोनेशिया के हिस्सों में फैल गई थी और बहुत-से मठ और विद्यालय इस सारे विस्तृत प्रदेश में जगह-जगह बने हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान और चीन के यात्रियों का समुद्र और खुश्की के इन मार्गों में सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हें ठहरने की जगह मिल जाती थी। कभी-कभी चीन से आनेवाले विद्वान इंडोनेशिया के किसी हिंदुस्तानी उपनिवेश में कुछ महीना तक ठहरकर संस्कृत सीखते और फिर यहां आते थे।

पहला हिंदुस्तानी विद्वान, जिसके चीन जाने का बयान मिलता है, वह था कश्यप मातंग। यह सन ६७ ई॰ में सम्राट मिंग-ती के राज्य काल में शायद उसीके बुलावे पर चीन गया था। लो नदी के तट पर लो-यांग नाम की जगह पर यह बस गया था। उसके साथ धर्मरक्षक गया था और बाद के सालों में जो प्रसिद्ध विद्वान गये उनमें बुद्धिभद्र, जिनभद्र, कुमारजीव, परमार्थ, जिनगुप्त और बोधिधर्म थे। इनमें हर एक अपने साथ भिक्षुओं या चेलों

तरह से जानते थे। ऐसा जान पड़ता है कि शंकर इस क़ौमी एकता और समान चेतना के भाव को और भी बढ़ाना चाहते थे। दिमाग़ी फ़िलसफ़ियाना और धार्मिक स्तर पर उन्होंने सारे देश में ज्यादा एकता पैदा करने की कोशिश की। आम लोगों के स्तर पर भी उन्होंने बहुत-कुछ किया उन्होंने बहुत-सी रूढ़ियों को तोड़ा और अपने दार्शनिक विचारों के मंदिर के दरवाजों को उन सभी के लिए खोल दिया जो उसमें आने की योग्यता रखते थे। अपने चार बड़े मठों को हिंदुस्तान के उत्तर, दक्खिन पूरब और पच्छिम के कोनों में क़ायम करके जाहिर है, वह संस्कृति के ख़याल से मिले-जुले हिंदुस्तान की कल्पना को बढ़ावा देना चाहते थे। ये चारों जगहें कुछ अंशों में पहले भी तीर्थ के मुकाम रही हैं और अब तो और भी ज्यादा हो गई हैं।

क़दीम हिंदुस्तानी अपने तीर्थ के मुकामों का कैसा अच्छा चुनाव किया करते थे! क़रीब-क़रीब हमेशा ये रमणीक स्थान हुआ करते थे और उनके आस-पास प्रकृति की छवि देखने को मिलती थी। कश्मीर में अमरनाथ की बर्फ़ीली गुफा है दक्खिनी हिंदुस्तान के बिल्कुल छोर पर रामेश्वरम् के पास कन्याकुमारी का मंदिर है। फिर काशी है और हरिद्वार है जो हिमालय के तले पर है और जहां से गंगा टेढ़ी-मेढ़ी पहाड़ी घाटियों को पार करके मैदानी प्रदेश में आती है और प्रयाग है जहां गंगा और यमुना का संगम होता है और मथुरा और वृंदावन हैं जो जमुना-तट पर हैं जिनके चारों ओर कृष्ण की कथाएं जुड़ी हुई हैं और बुद्ध गया है जहां बताया जाता है कि बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था और दक्खिन हिंदुस्तान में इसी तरह की अनेक जगहें हैं। बहुत-से पुराने मंदिरों में, ख़ासतौर पर दक्खिन में मशहूर मूर्तियां बनी हुई हैं और दूसरे कलात्मक अवशेष हैं। इस तरह से बहुत-से तीर्थों की यात्रा करने से पुरानी हिंदुस्तानी कला की झांकी मिल जाती है।

कहा जाता है कि शंकर ने हिंदुस्तान में व्यापक धर्म के रूप में बौद्ध मत का अंत करने में मदद की और उसके बाद ब्राह्मण-धर्म ने उसे भाई की तरह गले लगाकर अपने में जज्ब कर लिया। लेकिन शंकर के ज़माने से पहले भी हिंदुस्तान में बौद्ध-धर्म सिमट रहा था। शंकर के कुछ विरोधी ब्राह्मण तो उन्हें छिपा हुआ (प्रच्छन्न) बौद्ध बताते थे। यह बात सही है कि बौद्ध-धर्म का उन पर गहरा असर पड़ा था।

## १५ हिंदुस्तान और चीन

यह बौद्ध-धर्म था जिसके ज़ोर से हिंदुस्तान और चीन एक-दूसरे के

नजदीक आये और जिसके जरिये उन्होंने बहुत-से संपर्क कायम कर लिये। अशोक के पहले दोनों के बीच संपर्क थे या नहीं इसकी हमें जानकारी नहीं है शायद समुद्र के रास्ते से कुछ व्यापार होता था क्योंकि चीन से रेशमी माल यहां आता था। लेकिन खुश्की के रास्ते भी संपर्क रहे होंगे और बहुत पहले जमाने में लोग आते रहे होंगे क्योंकि हिंदुस्तान के पूरबी छोर के प्रदेश में मंगोली सूरत-शक्ल के लोग आमतौर पर मिलते हैं। नेपाल में यह बात बहुत जाहिर हो जाती है। आसाम (पुराने कामरूप) में और बंगाल में यह अक्सर देखी जाती है। लेकिन जहांतक इतिहास की बात है अशोक के धर्म-प्रचारकों ने रास्ता खोला और ज्यों-ज्यों चीन में बौद्ध-धर्म फैला त्यों-त्यों वहां से यात्रियों और विद्वानों का लगातार आना शुरू हुआ और ये हिंदुस्तान और चीन के बीच एक हजार बरस तक आते-जाते रहे। वे गोबी रेगिस्तान पार करके मध्य-एशिया के पहाड़ों और मैदानों को तय करते हुए और हिमालय के ऊपर से अपनी लंबी कठिन और खतरनाक यात्रा करते थे। बहुत-से हिंदुस्तानी और चीनी रास्ते में मर गये—और एक बयान तो यह है कि ९ फ़ी-सदी यात्री मर गये। बहुत-से जो अपनी यात्रा पूरी कर सके वे फिर वहीं पहुंचे वहीं बस गये और वापस नहीं लौटे। एक दूसरा रास्ता भी था जो मुकाबले में कुछ ज्यादा महफ़ूज़ न था पर छोटा जरूर था। यह रास्ता समुद्री था और हिंद चीन जावा सुमात्रा मलय और निकोबार टापुओं से होकर जानेवाला था। इससे भी लोग अक्सर जाते थे और कभी-कभी यात्री खुश्की के रास्ते से चलकर समुद्री रास्ते से अपने देश को लौटा करते थे। बौद्ध-धर्म और हिंदुस्तानी संस्कृति सारे मध्य-एशिया में और इंडोनेशिया के हिस्सों में फैल गई थी और बहुत से मठ और विद्यालय इस सारे विस्तृत प्रदेश में जगह-जगह बने हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान और चीन के यात्रियों का समुद्र और खुश्की के इन मार्गों में सर्वत्र स्वागत होता था और उन्हें ठहरने की जगह मिल जाती थी। कभी-कभी चीन से आनेवाले विद्वान इंडोनेशिया के किसी हिंदुस्तानी उपनिवेश में कुछ महीनों तक ठहरकर संस्कृत सीखते और फिर यहां आते थे।

पहला हिंदुस्तानी विद्वान जिसके चीन जाने का बयान मिलता है, यह था कश्यप मातंग। यह सन ६७ ई० में सम्राट मिङ-ती के राज्य काल में शायद उन्हीं के बुलावे पर चीन गया था। लो नदी के तट पर लो-यंग नाम की जगह पर यह बस गया था। उसके साथ धर्मरक्षक गया था और बाद के सालों में जो प्रसिद्ध विद्वान गये उनमें बुद्धिभद्र जिनभद्र कुमारजीव, परमार्थ जिनगुप्त और बोधिधर्म थे। इनमें हर एक अपने साथ भिक्षुओं या चेलों

को ले गया था। यह कहा जाता है कि एक वक्त (छठी सदी ईसवी) तीन हजार से ज्यादा बौद्ध भिक्षु और दस हजार हिंदुस्तानी परिवार सिर्फ लो-यंग के सूबे में ही थे।

ये हिंदुस्तानी विद्वान जो चीन गये न महज अपने साथ संस्कृत के हाथ के लिखे ग्रंथ ले गये जिनका उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया बल्कि उन्होंने चीनी भाषा में मौलिक पुस्तकें भी रचीं। उन्होंने चीनी साहित्य की वृद्धि में अच्छा खासा हिस्सा लिया और चीनी में कविताएं भी लिखीं। कुमारजीव जो ४०१ ईसवी में चीन गया था बड़ा लिखने वाला था और उसकी लिखी ४७ किताबें इस वक्त मिलती हैं। उसकी चीनी लिखने की शैली बहुत अच्छी कही जाती है। उसने मशहूर हिंदुस्तानी विद्वान नागार्जुन की जीवनी का चीनी में अनुवाद किया। जिनपुप्त चीन छठी सदी ईसवी के दूसरे हिस्से में गया। उसने संस्कृत के ३७ ग्रंथों का चीनी में अनुवाद किया। उसके ज्ञान का इतना आदर था कि ठंग-वंश के एक सम्राट ने उससे दीक्षा ली और उसका चेला बन गया।

चीन और हिंदुस्तान के बीच विद्वानों का आना-जाना दोनों ओर से ही होता था और बहुत-से चीनी विद्वान भी यहां आये। इनमें से सबसे मशहूर, जिन्होंने अपनी यात्राओं के बयान लिख छोड़े हैं वे हैं फ़ाहियान (या फ़ासिया) सुंग-युन ह्वेन-त्सांग (या ह्यान च्वांग) और इत्सिंग (या यि-त्सिंग)। फ़ाहियान हिंदुस्तान पांचवीं सदी में आया। वह चीन में कुमारजीव का चेला था। हिंदुस्तान के लिए चलने से पहले जब फ़ाहियान अपने गुरु से विदा होने के लिए गया तब कुमारजीव ने उससे जो कुछ कहा उसका मनोरंजक बयान किया जाता है। कुमारजीव ने उससे कहा कि धार्मिक ज्ञान हासिल करने में ही अपना सारा वक्त न बिताना बल्कि हिंदुस्तान के लोगों के रहन-सहन और आचार को भी अच्छी तरह समझने की कोशिश करना जिसमें कि चीनवाले उन्हें अच्छी तरह समझ सकें। फ़ाहियान ने पाटलि-पुत्र के विश्वविद्यालय में शिक्षा हासिल की थी।

चीनी यात्रियों में सबसे मशहूर ह्वेन-त्सांग था जो यहां सातवीं सदी में आया था जबकि चीन में महान ठंग-वंश का राज्य चल रहा था और उत्तरी हिंदुस्तान में एक साम्राज्य का शासक हर्षवर्धन था। ह्वेन-त्सांग उत्तरी के रास्ते गोबी रेगिस्तान को पार करके तुरफान और कूचा ताशकंद और समरकंद बल्ख खुतन और यारकंद होता हुआ हिमालय को लांघ कर हिंदुस्तान में आया था। वह अपने बहुत-से साहसी कामों का बयान करता है और उन संकटों का जिन्हें उसे झेलना पड़ा साथ ही वह मध्य-

एशिया के बौद्ध शासकों और मठों और उन गुर्गों का जो कट्टर बौद्ध थे हाल लिखता है। हिंदुस्तान में आकर वह सारे देश में घूमा सभी जगह उसका आदर और स्वागत हुआ और उसने यहां की जगहों और लोगों के बारे में आंखों-देखा हाल लिखा और कुछ मनोरंजक और अजीब सुनी सुनाई कहानियां भी लिखीं। उसने नालंदा विश्वविद्यालय में जो पाटलिपुत्र के पास था और जो अपने बहुमुखी ज्ञान के लिए मशहूर था और जहां देश के दूर-दूर हिस्सों के विद्यार्थी आते थे कई साल बिताये। कहा जाता है कि यहां १० विद्यार्थी और भिक्षु रहा करते थे। ह्वान-त्सांग ने यहां न्याय के आचार्य की उपाधि ली और बाद में विश्वविद्यालय का उप प्रधान बन गया।

ह्वेन-त्सांग की किताब 'सि-यू-की' यानी पश्चिमी राज्य (तात्पर्य हिंदुस्तान से है) का ब्यौरा पढ़ने में बड़ी रोचक है। ह्वेन-त्सांग एक बहुत बड़े सभ्य और तरक्कीयाफ्ता मुल्क से उस जमाने में आया था जबकि चीन की राजधानी सि-आन्-फू कला और ज्ञान का केंद्र थी इसलिए उसकी टिप्पणियां और हिंदुस्तान की दशा के बयान बड़े कीमती हैं। वह यहां की शिक्षा व्यवस्था का हाल लिखता है जिसके अंतर्गत बहुत बचपन में विद्यारंभ होकर क्रमशः विद्यार्थी विश्वविद्यालय के दर्जे तक पहुंचता था और वहां पांच विषयों में शिक्षा दी जाती थी—(१) व्याकरण (२) कला-कौशल (३) औषध (४) तर्क और (५) दर्शन। हिंदुस्तान के लोगों के विद्या प्रेम का उसने खासतौर पर असर लिया था। एक तरह की प्रारंभिक शिक्षा यहां व्यापक रूप में मिलती है और सभी भिक्षु और पुरोहित शिक्षक हुआ करते थे। लोगों के बारे में वह लिखता है कि "साधारण लोग अगरचे वे स्वभाव से सुसमिजाज हैं फिर भी सच्चे और ईमानदार हैं। रुपये-पैसे के मामलों में उनमें मक्कारी नहीं है और न्याय करने के विषय में उनमें बहुत सोच-विचार मिलता है अपने व्यवहार में वे कपटी या धोखेबाज नहीं है और अपने वादों और कसम के पाबंद हैं। उनके हुकूमत के कायदों में अद्भुत ईमानदारी है और उनके व्यवहार में बड़ी मिठास और शालीनता है। जहांतक विद्रोहियों या अपराधियों का मामला है ये बहुत कम देखने में आते हैं और कभी-कभी ही उपद्रव करते हैं। आगे चलकर वह लिखता है— 'चूंकि शासन-व्यवस्था की नींव उदार सिद्धांतों पर खड़ी है इसलिए सरकार का कामकाज बहुत सादा है लोगों से बेगार नहीं ली जाती इस तरह लोगों पर कर हलके हैं रोजगार में लगे हुए व्यापारी अपने धंधों की खातिर आते-जाते रहते हैं।

ह्वेन-त्सांग की हिन्दुस्तान की यात्रा और चीन और हिन्दुस्तान में जो उसे आदर प्राप्त हुआ, उसका नतीजा यह हुआ कि दोनों देशों में राजनैतिक संपर्क कायम हुए। कन्नौज के हर्षवर्धन और तंग-सम्राट के बीच राजदूतों की अदला-बदली हुई। ह्वेन-त्सांग ने खुद हिन्दुस्तान से अपना लगाव कायम रखा। वह यहां के मित्रों के पास खत भेजा करता था और यहां से हाथ की लिखी पोथियां मंगाया करता था। दो मनोरंजक पत्र, जो मूल में संस्कृत में लिखे गये थे, चीन में सुरक्षित हैं। इनमें से एक ६५४ ई० में हिन्दुस्तानी बौद्ध विद्वान स्थविर प्रज्ञादेव ने ह्वेन-त्सांग को लिखा था। अभिवादन और आपस के मित्रों के कुशल-समाचार और अपनी साहित्यिक कृतियों की बात-चीत के बाद वह लिखता है—"हम तुम्हें एक जोड़ा सफ़ेद वस्त्र का भेज रहे हैं, जिससे यह प्रकट हो कि हम तुम्हें भूले नहीं हैं। रास्ता लंबा है। इस-लिए इस बात का ध्यान न करना कि भेंट तुच्छ है। हम चाहते हैं कि तुम इसे स्वीकार करो। जिन सूत्रों और शास्त्रों की तुम्हें ज़रूरत हो, उनकी सूची भेजना। हम उनकी नक़ल करके तुम्हारे पास भेज देंगे।" ह्वेन-त्सांग अपने जवाब में लिखता है—"मुझे हिन्दुस्तान से लौटे हुए एक राजदूत से मालूम हुआ कि महान गुरु शीलभद्र अब नहीं रहे। इस समाचार से मुझे जो दुख हुआ, उसकी हद नहीं।... मैंने उन सूत्रों और शास्त्रों में से जो मैं—ह्वेन-त्सांग—लाया था, योगाचार्य भूमिशास्त्र और दूसरे ग्रंथ का अनुवाद कर लिया है, कुल तीस जिल्दों का। मैं विनयपूर्वक आपको सूचित करना चाहूंगा कि सिंधु नदी पार करते हुए मैंने पवित्र ग्रंथों का एक गट्ठर खो दिया। इस पत्र के साथ अब मैं मूल पाठों की एक सूची भेज रहा हूं। मैं प्रार्थना करूंगा कि अवसर मिले, तो इन्हें मेरे पास भेजना। कुछ छोटी-मोटी चीज़ें भेंट के तौर पर भेज रहा हूं। कृपा कर इन्हें स्वीकार करना।"[1]

ह्वेन-त्सांग ने हमें नालंदा विद्यापीठ का बहुत-कुछ हाल बताया है और उसके बारे में और भी बयान मिलते हैं। लेकिन अब से कुछ साल हुए, वहां गया और मैंने नालंदा के खुदे हुए खंडहर देखे, तो जिस बड़े पैमाने पर उसकी रचना हुई थी, उसे देखकर मैं अचरज में रह गया। अभी उसके सिर्फ़ एक हिस्से की खुदाई हुई है, और बाकी हिस्सों पर बस्तियां बसी हुई हैं, लेकिन जिस हिस्से की खुदाई हुई है, उसमें बड़े-बड़े आंगन हैं, जिनके चारों तरफ़ किसी वक्त पत्थर की विशाल इमारतें बनी हुई थीं।

चीन में ह्वेन-त्सांग की मृत्यु के तुरंत बाद ही एक दूसरा मशहूर चीनी

---

[1] डाक्टर पी० सी० बागची की पुस्तक 'इंडिया एंड चाइना' (कल-कत्ता, १९४४) में उद्धृत।

यात्री—इत्सिंग (या यि-त्सिंग) हिंदुस्तान में आया। वह ६७१ ई० में रवाना हुआ और उसे हिंदुस्तान के बंदरगाह ताम्रलिप्ति तक पहुंचने में क़रीब-क़रीब दो साल लगे। यह बंदरगाह हुगली नदी के दाहिने दहाने पर है। वह समुद्र के रास्ते आया और कई महीने तक वह श्रीभोज (सुमात्रा में आधुनिक पालेमबंग) में संस्कृत सीखने के लिए ठहरा। समुद्र के रास्ते उसकी यात्रा का एक महत्त्व है, क्योंकि यह संभव है कि मध्य-एशिया की स्थिति उस वक़्त हलचल की थी और राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे। मुमकिन है कि बहुत-से मैत्री-भाव रखनेवाले बौद्ध-मठ, जो रास्ते में बिखरे हुए थे, अब न रह गये हों। यह भी मुमकिन है कि हिंदुस्तानी उपनिवेशों के इंडोनेशिया में तरक़्क़ी पाने की वजह से और हिंदुस्तान और इन देशों के बीच व्यापार के व और दूसरे संपर्कों के कारण समुद्री रास्ता ज्यादा सहूलियत का हो गया हो। उसके और वृत्तांतों से पता चलता है कि फ़ारस (ईरान) हिंदुस्तान मलय सुमात्रा और चीन के बीच नियमित रूप से जहाज आया-जाया करते थे। इत्सिंग क्वांगतुंग से एक फ़ारसी जहाज पर सवार होकर पहले सुमात्रा गया था।

इत्सिंग ने भी नालंदा विश्वविद्यालय में बहुत दिनों तक विद्या सीखी और वह अपने साथ कई सौ संस्कृत ग्रंथ ले गया। उसकी ख़ास दिलचस्पी बौद्ध कर्म-कांड और आचार की बारीकियों में थी और इनके बारे में उसने विस्तार से लिखा है। लेकिन वह रीति-रिवाजों कपड़ों और खाने-पीने के बारे में भी बहुत-कुछ कहता है। अब की तरह उस ज़माने में भी गेहूं उत्तरी हिंदुस्तान का मुख्य भोजन था और पूरब और दक्खिन में चावल चलता था। मांस भी कभी-कभी खाया जाता था लेकिन यह कम ही होता था। (इत्सिंग संभवतः बौद्ध भिक्षुओं की बात बता रहा है औरों की नहीं)। घी तेल दूध मलाई सब जगह मिलती थी और मिठाइयों और फलों की इफ़रात थी। आचार-विचार की शुद्धता पर हिंदुस्तानी जो महत्त्व देते थे उसका इत्सिंग ने बयान किया है। "सब पहला और खास फ़र्क़ जो पांच प्रदेशों के देश हिंदुस्तान और दूसरी क़ौमों में है वह पवित्रता और अपवित्रता में किया जानेवाला बड़ा भेद है। वह यह भी लिखता है—"भोजन के बाद जो कुछ बच रहे, उसको रख छोड़ना जैसाकि चीन में चलता है, हिंदुस्तान के नियमों के अनुकूल नहीं है।

इत्सिंग हिंदुस्तान का हवाला आमतौर पर पच्छिम (सि-फ़ंग) करके देता है लेकिन वह कहता है कि यह आर्य-देश के नाम से मशहूर है—'आर्य-देश' आर्य माने उत्तम और देश माने प्रदेश उत्तम प्रदेश जो

'पश्चिम' का नाम है। इसका नाम ऐसा इसलिए पड़ा कि यहां उत्तम चरित्र के लोग बराबर उत्पन्न होते रहे हैं और सभी लोग इस नाम से देश की प्रशंसा करते हैं। यह मध्य-देश भी कहलाता है, यानी बीच का देश क्योंकि यह सैकड़ों-हज़ारों देशों के बीच में है। लोग सब इस नाम से परिचित हैं। उत्तरी जातियां (हू या मंगोल या तुर्क) ही इस उत्तम देश को 'हिंदू' (शिन्-तु) कहती हैं लेकिन यह नाम हरगिज़ आम नहीं है। यह केवल देसी नाम है और इसका कोई खास महत्त्व नहीं है। हिंदुस्तान के लोग इस नाम को नहीं जानते और हिंदुस्तान के लिए सबसे उचित नाम 'आर्य देश' है।

इत्सिंग का 'हिंदू' का हवाला मनोरंजक है। वह आगे कहता है— 'कुछ लोग कहते हैं कि इंदु के मानी चंद्रमा के होते हैं और हिंदुस्तान का चीनी नाम यानी इंदु (यिन्-तु) इसीसे निकला है इसका यह अर्थ हो सकता है लेकिन यह नाम आम नहीं है। जहांतक महान चाऊ (चीन) का हिंदुस्तानी नाम यानी चीना है यह महज एक नाम है इसका कोई महत्त्व नहीं। वह कोरिया और और देशों के संस्कृत नामों का भी वर्णन करता है।

हिंदुस्तान और हिंदुस्तान की बहुत-सी चीज़ों के लिए आदर का भाव रखते हुए इत्सिंग ने साफ़ बताया है कि वह पहला स्थान अपनी जन्मभूमि चीन को देता है। हिंदुस्तान आर्य-देश हो सकता है लेकिन चीन देव-भूमि है। "हिंदुस्तान के पांच भागों के लोगों को अपनी पवित्रता और उत्तमता का गर्व है। लेकिन ऊंचे किस्म की रुचि साहित्यिक उत्कृष्टता शिष्टता मर्यादा आवभगत और विदा होनेके समय के शिष्टाचार भोजन का स्वाद नीति और उदारता की शालीनता चीन में ही मिलती है और कोई मुल्क चीन से इन बातों में बढ़ नहीं सकता। सुई से छेदकर और जलाकर रोग अच्छा करने की क्रिया में नब्ज़ देखने की कला में हिंदुस्तान के किसी हिस्से से चीन पिछड़ा नहीं है और ज़िंदगी को बढ़ाने की औषधि तो सिर्फ़ चीन में मिलती है मनुष्यों के चरित्र और चीज़ों के गुणों के कारण चीन देव-भूमि कहलाया है। क्या हिंदुस्तान के पांचों भागों में कोई व्यक्ति है, जो चीन की तारीफ़ नहीं करता ?

चीन-सम्राट के लिए पुरानी संस्कृत में जिस शब्द का इस्तेमाल हुआ है वह है 'देव-पुत्र' और यह ठीक उसी आशय के चीनी शब्द का अनुवाद है।

इत्सिंग जो खुद संस्कृत का खासा विद्वान था इस भाषा की तारीफ़ करता है और बताता है कि उत्तर और दक्षिण के दूर-दूर देशों में इसका

आदर होता है। 'तब तो देव-भूमि (चीन) और स्वर्गिक भंडार (हिंदुस्तान) के लोगों को भाषा के सच्चे नियमों की कितनी और शिक्षा देनी चाहिए।'[1] चीन में संस्कृत का काफ़ी अध्ययन होता रहा होगा। यह बात मनोरंजक है कि कुछ चीनी विद्वानों ने संस्कृत के ध्वनि के नियमों को चीनी भाषा में चलाना चाहा। इसकी एक मशहूर मिसाल शाउ-वेन का भिक्षु था जो तंग-वंश के ज़माने में हुआ था। इसी ढंग की एक वर्णमाला उसने चीन में चलाने की कोशिश की।

हिंदुस्तान में बौद्ध-धर्म के ह्रास के साथ-साथ हिंदुस्तान और चीन के बीच विद्वानों का आना-जाना करीब-करीब बंद हो गया, अगरचे चीनी यात्री हिंदुस्तान की बौद्ध-धर्म की पवित्र जगहों के दर्शन के लिए फिर भी कभी-कभी आते रहते थे। ग्यारहवीं सदी और उसके बाद जो राजनैतिक क्रांतियां हुईं, उस ज़माने में बौद्ध भिक्षुओं के ठट्ठ-के-ठट्ठ पोथियों की गठरियां बांधे हुए नेपाल चले गये या हिमालय पार करके तिब्बत पहुंच गये। इस तरह से और पहले भी पुराने हिंदुस्तानी साहित्य का बहुत-सा हिस्सा चीन और तिब्बत पहुंच गया, और हाल के बरसों में उनका फिर से पता चला है, जो या तो मूल में ही मौजूद हैं या ज्यादातर अनुवाद के रूप में। बहुत-से पुराने हिंदुस्तानी ग्रंथ चीनी या तिब्बती तरजुमे की शक्ल में सुरक्षित हैं और ये महज़ बौद्ध-धर्म के बारे में नहीं हैं, बल्कि ब्राह्मण-धर्म, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि विषय के भी हैं। चीन के सुंग-पाओ मठ में ऐसे ८ ग्रंथ मौजूद बताये जाते हैं। तिब्बत ऐसे ग्रंथों से भरा हुआ है। अक्सर हिंदुस्तानी, चीनी और तिब्बती विद्वान मिलकर काम किया करते थे। इस सहयोग की एक खास मिसाल बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का वह संस्कृत-तिब्बती-चीनी कोष है, जो नवीं या दसवीं सदी ईसवी में तैयार हुआ था और जिसका नाम 'महाव्युत्पत्ति' है।

चीन की सबसे पुरानी छपी हुई किताबों में, जो आठवीं सदी ईसवी की शुरुआत की बनी हुई हैं, संस्कृत के ग्रंथ भी हैं। ये लकड़ी के ठप्पों से छपे हुए हैं। दसवीं सदी में चीन में ठप्पे के विशेषज्ञों का एक शाही कमीशन बना और उसके फलस्वरूप सुंग ज़माने तक छपाई की कला ने तेज़ी से तरक्की की। यह एक अचरज की बात है और इसका ठीक-ठीक कारण

[1] ये उद्धरण जे. तकाकुसु के इत्सिंग के ग्रंथ के अनुवाद 'ए रेकर्ड ऑव बुद्धिस्ट रिलिजन एज़ प्रैक्टिस्ड इन इंडिया एंड दि मलय आर्किपेलेगो' (ऑक्सफ़ोर्ड १८९६) से लिये गये हैं।

नहीं समझ में आता कि बावजूद चीनी और हिंदुस्तानी विद्वानों के बीच इतना घना संबंध होने के और सैकड़ों साल तक आपस में पुस्तकों की अदला-बदली होते रहने के इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते कि हिंदुस्तान में उस ज़माने में पुस्तकों की छपाई होती थी। ठप्पे से छापने का चलन चीन से तिब्बत में किसी शुरू ज़माने में पहुंचा और मेरा ख़याल है कि यह वहां अब भी क़ायम है। चीनी छपाई का पहला परिचय यूरोप को मंगोल या युआन-वंश के ज़माने (१२६० १३६८) में हुआ। पहले यह जर्मनी तक महदूद रहा बाद में पंद्रहवीं सदी में यह और जगहों में फैला।

हिंदुस्तान के दिल्ली-अफ़ग़ान और मुग़ल ज़मानों में भी हिंदुस्तान और चीन के बीच जब-तब राजनैतिक संबंध रहे हैं। दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक़ (१३२५ ५१) ने अरब यात्री इब्न बतूता को चीनी दरबार में राजदूत बनाकर भेजा था। बंगाल ने उस ज़माने में सुल्तान की हुकूमत से अलग होकर अपनी आज़ाद रियासत क़ायम कर ली थी। चौदहवीं सदी के बीच के ज़माने में चीनी दरबार की तरफ़ से बंगाल के सुल्तान के यहां हु-चीन और फ़िन-चीन नाम के दो राजदूत भेजे गये थे। इसका नतीजा यह हुआ कि सुल्तान ग़यासुद्दीन के राज्य-काल में बंगाल से कई राजदूत लगातार चीन भेजे गये। यह चीन के मिंग बादशाहों का ज़माना था। बाद में एक एलची के साथ जिसे सैफ़ुद्दीन ने १४१४ ई॰ में भेजा था और क़ीमती तोहफ़ों के साथ एक ज़िंदा जिराफ़ भी भेजा गया था। जिराफ़ हिंदुस्तान में कैसे पहुंचा यह एक रहस्य की बात है। शायद यह अफ़रीका से भेंट की शक्ल में आया हो और इस ख़याल से कि यह अजीब चीज़ है और इसलिए पसंद किया जायगा इसे मिंग बादशाह के पास भेजा गया। दरअसल चीन में इसकी बड़ी क़द्र हुई क्योंकि कनफ़्यूशस के अनुयायी जिराफ़ को एक पवित्र प्रतीक मानते हैं। इसमें शक नहीं कि यह जानवर जिराफ़ ही था क्योंकि इसके वर्णन के साथ-साथ चीनी रेशमी कपड़े पर इसकी एक तस्वीर भी मिलती है। जिस दरबारी चित्रकार ने इसकी तस्वीर बनाई है, उसने इसका सारा हाल भी लिखा है जिसमें बताया गया है कि यह जानवर बहुत शुभ है। 'मंत्री लोग और आम जनता इसे देखने के लिए जमा हुए और उसे देखकर बहुत ही ख़ुश हुए।

चीन और हिंदुस्तान के बीच जो व्यापार बौद्ध ज़माने में ज़ोर से चल रहा था वह दिल्ली-अफ़ग़ान और मुग़ल ज़माने में भी जारी रहा और बहुत-सी चीज़ों का अदला-बदला होता रहा। यह माल उत्तरी हिमालय के दर्रों से होकर मध्य-एशिया के कारवानी रास्ते से जाता था। समुद्र के

रास्ते भी अच्छा-खासा व्यापार होता था, जो दक्खिन-पूरबी एशिया के टापुओं से होता हुआ खासतौर पर दक्खिनी हिंदुस्तान के बंदरगाहों तक पहुंचता था।

चीन और हिंदुस्तान के बीच होनेवाली तीन हजार, बल्कि इससे ज्यादा सालों की राह-रस्म में दोनों मुल्कों ने एक-दूसरे से कुछ हासिल किया, न सिर्फ विचार और फ़िलसफ़े के मैदान में, बल्कि जिन्दगी की कलाओं और विज्ञान में भी। शायद चीन पर हिंदुस्तान का जितना असर पड़ा उतना हिंदुस्तान पर चीन का नहीं पड़ा। यह अफ़सोस की बात है, क्योंकि हिंदुस्तान चीन का कुछ व्यावहारिक ज्ञान सीखकर उससे लाभ उठा सकता था और अपनी दिमागी उड़ानों को कुछ क़ाबू में रख सकता था। चीन ने हिंदुस्तान से बहुत-कुछ लिया, लेकिन उसमें हमेशा ऐसी शक्ति और आत्म-विश्वास रहा है कि जो कुछ वह लेगा, वह अपने ढंग से और उसको अपने यहां की जिंदगी के ताने-बाने में कहीं ठीक-ठीक बिठा लेगा। बौद्ध-धर्म और उसका पेचीदा फ़िलसफ़ा भी कनफ़ूशस और लाओ-त्से का रंग लिये बगैर न रह पाया। बौद्ध-धर्म के किंचित निराशावादी नज़रिये ने चीनियों के जिंदगी के प्रति प्रेम और उमंग को दबाया नहीं। एक पुरानी चीनी कहावत है— अगर कहीं सरकार तुम्हें पकड़ पाये तो कोड़ों से तुम्हारी जान ले लेगी; अगर कहीं बौद्ध तुम्हें पकड़ पायें तो वे तुम्हें भूखों मार डालेंगे।"

सोलहवीं सदी का एक मशहूर चीनी उपन्यास है—'बंदर' जो वू-चेंग-एन की रचना है (इसका अंग्रेज़ी तर्जुमा 'मंकी' नाम से आर्थर वेली ने किया है), जिसमें हिंदुस्तान की यात्रा में ह्वेन-त्सांग पर बीती घटनाओं का काल्पनिक और बढ़ा-चढ़ा बयान है। इस किताब के आखिर में हिंदुस्तान के लिए एक समर्पण है— मैं इस किताब को बुद्ध की पवित्र भूमि को समर्पित करता हूं। प्रार्थना है कि अपने संरक्षक और गुरु की दया का यह ऋण चुकाने और भटक रहा और पतितों के कष्टों को कम करे।

एक-हजार से ज्यादा सालों तक एक-दूसरे के पड़ोसी रहकर भाग्य के अजीब फेर से हिंदुस्तान और चीन विदेशी एशिया ... के असर में आये। हिंदुस्तान को इस ... दिनों तक बरदाश्त करना पड़ा, चीन में यह संपर्क बहुत बाद शुरू हुआ था, फिर भी बड़ा इसका नतीजा यह हुआ कि वहाँ अराजकता और गड़बड़ी पैदा हुई।

और अब अतीत का चक्र पूरा फिर घूमा है और फिर से हिंदुस्तान

चीनी सब ... के आचार्य के लेखक प्रोफ़ेसर हु-शीह ने पुराने ज़माने के 'चीनी भारतीयकरण' पर लिखा है।

और चीन एक-दूसरे की तरफ़ देखने लगे हैं और उनके दिमाग़ों में पुरानी यादें उठ रही हैं। फिर एक दूसरे ही तरह के यात्री बीच के पहाड़ों को पार करके या उन पर से उड़ करके सद्भावना के संदेश लाने लगे हैं, जिनसे मैत्री के मज़बूत बंधन क़ायम होंगे।

## १६ दक्खिन-पूरबी एशिया में हिंदुस्तानी उपनिवेश और सभ्यता

हिंदुस्तान को जानने और समझने के लिए यह ज़रूरी है कि आदमी दूर देश और काल में यात्रा करे और कुछ देर के लिए उसकी मौजूदा हालत, उसके सब दुख-दर्द, उसकी संकीर्णता और उसकी भयानक दशा को भूल जाय और वह क्या था और उसने क्या किया, इन बातों की झांकी ले। रवींद्रनाथ ठाकुर ने लिखा था—'मेरे देश को जानने के लिए आदमी को उस युग की यात्रा करनी पड़ेगी, जब उसने आत्म-ज्ञान हासिल किया था और इस तरह अपनी भौतिक सीमाओं को लांघ गया था, जब उसने अपना रूप एक ऐसी ज्वलंत उदारता द्वारा प्रकट किया था कि जिसने सारे पूर्वी क्षितिज को आलोकित कर दिया था और विदेशी तटों के निवासी एक अचंभित ज़िंदगी में जागकर उसे अपना समझ सके थे; न कि अब, जब वह गुमनामी के तंग घेरे में सिमटकर आ गया है, जब उसे अलहदगी का दैन्य गर्व है, जब उसका चिंतन दरिद्र होकर अपने ही गिर्द गुज़रे हुए ज़माने को दुहराते हुए चक्कर काट रहा है, ऐसे गुज़रे हुए ज़माने के गिर्द जिसने अपनी रोशनी खो दी है और जिसके पास भविष्य के यात्रियों के लिए कोई संदेश नहीं है।

हमें गुज़रे हुए ज़माने को ही सामने लाने की ज़रूरत नहीं, बल्कि एशिया के उन अनेकों देशों की शरीर से नहीं तो कल्पना में ही यात्रा करने की ज़रूरत है, जहां बहुत तरह से हिंदुस्तान ने अपना विस्तार किया था और जहां उसने अपनी भावना, अपनी शक्ति और अपने सौंदर्य-प्रेम की अमर छाप डाली थी। अपने गुज़रे हुए ज़माने की इन शान-दार कृतियों को हममें से कितने कम लोग जानते हैं, कितने कम लोग इसका अनुभव करते हैं कि हिंदुस्तान विचार और फ़िलसफ़े के मैदान में तो बड़ा था ही, काम के मैदान में भी वह उतना ही बड़ा था? हिंदुस्तान के मर्दों और औरतों ने अपने देश से दूर जाकर जिस इतिहास का निर्माण किया उसका लिखा जाना अभी बाक़ी है। बहुत-से पच्छिम के लोग अब भी यह ख़याल करते हैं कि पुराने ज़माने का इतिहास भूमध्य

सागर के किनारे के देशों तक खत्म हो जाता है और बीच के जमाने और मौजूदा जमाने का इतिहास ज्यादातर उस छोटे मगर महान महाद्वीप का इतिहास है जिसे यूरोप कहते हैं। और अब भी वे आनेवाले जमाने के लिए इस तरह योजना बनाते हैं जैसे यूरोप ही सब-कुछ है और बाकी देश कहीं भी बिठाये जा सकते हों।

सर चार्ल्स इलियट ने लिखा है कि 'यूरोप के इतिहासकार हिंदुस्तान के साथ अन्याय करते हैं जब वे महज उसके आक्रमणकारियों के वृत्तांत लिखते हैं और इस तरह का प्रभाव डालते हैं कि मानो खुद उसके बाशिंदे कमजोर सपना देखनेवाले लोग हों और बाकी दुनिया से कटे हुए अपने पहाड़ों और समुद्रों से घिरे हुए अलग-अलग रह रहे हों। इस तरह की तस्वीर में यह बात भुला दी जाती है कि हिंदुओं ने कैसी-कैसी दिमागी विजय हासिल की है। उनकी राजनैतिक विजयें भी तुच्छ नहीं हैं और अगर इस लिहाज से नहीं कि कौम से देशों पर ये हुई हैं, तो पूरी के लिहाज से तो जरूर ही मार्के की हैं लेकिन इस तरह के फ़ौजी या व्यापारी आक्रमण हिंदुस्तानी विचार के प्रचार के मुकाबले में कम भी नहीं हैं।'[1]

जिस वक्त इलियट ने यह लिखा उस वक्त शायद वह उन हाल की जानकारियों से परिचित नहीं थे जो दक्खिन-पूरबी एशिया के बारे में अब हासिल हुई हैं और जिन्होंने हिंदुस्तान और एशिया के पुराने हुए जमाने के बारे में हमारे खयालों में क्रांति पैदा कर दी है। इन खोजों की जानकारी ने उनकी दलील को और भी मजबूत कर दिया होता और यह दिखा दिया होता कि विचारों के प्रचार के अलावा भी विदेशों में हिंदुस्तान का कारनामा हरगिज तुच्छ नहीं रहा है। मुझे याद है कि जब मैंने करीब पंद्रह साल पहले दक्खिन-पूरबी एशिया के इतिहास का कुछ विस्तार से काम पढ़ा था तब मुझे कितना ताज्जुब हुआ था और मैं कितना उत्तेजित हो उठा था। मेरी आंखों के सामने बिलकुल नये नजारे फिर नये थे इतिहास के नये पहलू दिखाई पड़े थे और हिंदुस्तान के गुजरे हुए जमाने की नई कल्पना सामने आई थी और मुझे अपने सब पुराने विचारों को उसकी रोशनी में फिर से ठीक-ठीक बिठाना पड़ा था। चंपा, कंबोडिया और अंगकोर, श्रीविजय और मज्जापहित एकाएक मानो शून्य के भीतर से साकार होकर मेरे सामने आए थे और उनके साथ एक स्वाभाविक भावना का उद्गार था जो अतीत का वर्तमान से स्पर्श कराता है।

उस बक्त यात्री और विजेता और दूसरे कारनामोंवाले लोगों के बारे

[1] इलियट 'हिंदूइज्म एंड बुद्धिज्म' जिल्द १ पृष्ठ १२

में डॉ एच जी क्वारिच वेल्स ने लिखा है— 'उस बड़े विजेता ने जिसके कारनामों का मुकाबला पश्चिमी इतिहास के सिर्फ़ बड़े-से-बड़े सैनिकों से किया जा सकता है और जिसका नाम अपने ज़माने में फ़ारस से चीन तक फैला हुआ था बस या बीस साल के भीतर ही एक विस्तृत समुद्री साम्राज्य कायम कर लिया था जो पांच सदियों तक क़ायम रहा और जिसने हिंदुस्तानी कला और संस्कृति के अद्भुत विकास को जावा और कम्बोडिया में संभव बनाया। लेकिन अपने विश्व-कोषों और इतिहासों में इस विस्तृत साम्राज्य या उसके महान संस्थापक का हवाला ढूंढना फ़िज़ूल साबित होगा यह बात ही कि इस तरह का एक साम्राज्य किसी ज़माने में था मुट्ठी-भर पूर्वी विषयों के विद्वानों के अलावा लोग शायद मुश्किल से जानते हैं।'[1] इन प्राचीन हिंदुस्तानी उपनिवेश क़ायम करनेवालों के फ़ौजी कारनामे महत्त्व के हैं क्योंकि उनसे हिंदुस्तानी चरित्र और योग्यता के कुछ पहलुओं पर रोशनी पड़ती है जिनका अबतक ठीक-ठीक आदर नहीं किया गया है। लेकिन इससे कहीं अहम बात यह है कि उन लोगों ने अपने उपनिवेशों में एक संपन्न सभ्यता क़ायम की और ऐसी बस्तियां बसाईं जो एक हज़ार साल से ज़्यादा तक क़ायम रहीं।

पिछली चौथाई सदी के बीच दक्खिन-पूरबी एशिया के इस बड़े प्रदेश के इतिहास पर बहुत-कुछ रोशनी पड़ी है और इसे बृहत्तर भारत का नाम दिया गया है। बहुत-सी कड़ियां अब भी नहीं मिलतीं बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें कही जाती हैं विद्वान लोग अब भी एक-दूसरे के ख़िलाफ़ सिद्धांत पेश कर रहे हैं लेकिन मोटे ढंग से इस इतिहास की रूप-रेखा काफ़ी स्पष्ट है और कभी-कभी तो विस्तार की बातों की भी बहुतायत से जानकारी हासिल होती है। सामग्री की कोई कमी नहीं है क्योंकि हिंदुस्तानी पुस्तकों में हमें हवाले मिलते हैं अरब के यात्रियों के बयान हैं, और सबसे महत्त्व की तो चीन से प्राप्त इतिहास की सूचनाएं हैं। बहुत-से पुराने शिलालेख ताम्र पत्र वग़ैरह भी हैं और जावा और बाली में हिंदुस्तानी आधारों पर तैयार किया गया एक संपन्न साहित्य भी है जो अक्सर हिंदुस्तानी महाकाव्यों और पुराणों की गाथाओं को दूसरे रूपों में महज़ बृहत् देता है। यूनानी और लातिनी आधारों से भी कुछ सूचनाएं मिलती हैं लेकिन सबसे बढ़कर पुरानी इमारतों के विशाल खंडहर हैं जो ख़ासतौर पर अंगकोर और बोरोबुदुर में मिलते हैं।

---

[1] देखिये 'टुवर्ड्स अंगकोर' (हैरप १९३७)
इस संबंध में डॉक्टर आर सी मजूमदार की पुस्तक 'एनशियेंट

ईसवी संवत की पहली सदी से आगे हिंदुस्तानी उपनिवेश बसानेवालों की लहर-पर-लहर पूरब और दक्खिन-पूरब में फैली और ये लंका बरमा मलय जावा सुमात्रा बोर्नियो स्याम कंबोडिया और इंडोचीन तक फैलीं। इनमें से कुछ तो फारमूसा फिलिपीन टापुओं और सेलिबीज तक पहुंचीं। मैडागास्कर तक की भाषा जबान इंडोनेशियन है जिसमें संस्कृत शब्दों की मिलावट है। ऐसा होने में कई सौ साल लगे होंगे और शायद इन सब जगहों में सीधे हिंदुस्तान के लोग न पहुंचे होंगे बल्कि बीच के किसी उपनिवेश से फैले होंगे। पहली सदी ईसवी से लगभग ९०० ईसवी तक चार बड़ी लहरें उपनिवेश कायम करनेवालों की गई हुई जान पड़ती हैं लेकिन इनके बीच-बीच में पूरब जानेवाले लोगों का एक सिलसिला बना रहा होगा। इन साहसी कारनामों की सबसे मार्के की बात यह थी कि इनका संगठन राज्य द्वारा हुआ जान पड़ता है। दूर-दूर तक फैले हुए उपनिवेश एकाएक एक साथ कायम होते हैं और करीब-करीब हमेशा ये ऐसी जगहों पर कायम होते हैं जो फौजी दृष्टि से महत्व की जगहें हैं या खास मार्गों के मार्ग हैं। इन बस्तियों को जो नाम दिये गये वे पुराने हिंदुस्तानी नाम हैं। इस तरह वह देश जिसे आज कंबोडिया कहते हैं कंबोज कहलाता जो प्राचीन हिंदुस्तान का काबुल की घाटी में गंधार में एक मशहूर शहर था। इस नाम से ही मोटे तौर से उपनिवेश के बसाये जाने का समय जाना जा सकता है क्योंकि उस वक्त गंधार (अफगानिस्तान) आर्य-हिंदुस्तान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा रहा होगा।

समुद्र-पार की इन अद्भुत और अथाह विजय-यात्राओं के पीछे कौनसी प्रेरणा थी? इनका खयाल या संगठन मुमकिन न था अगर इससे पहले पीढ़ियों और सदियों पहले कुछ व्यक्ति या छोटे-छोटे व्यापारी गिरोह वहां जाकर वहां से परिचित न हुए होते। सबसे पुरानी संस्कृत किताबों में पूरब के इन देशों के अस्पष्ट हवाले हैं। उनमें आये हुए नामों को आज जगहों से जोड़ सकना आसान नहीं लेकिन कभी-कभी कोई दिक्कत नहीं भी होती। जावा साफ तौर पर 'यवद्वीप' या 'जौ का टापू' है और यव आज भी एक अन्न विशेष का नाम है। पुराने ग्रंथों में आये हुए और नाम भी आमतौर पर धातु खनिज या किसी व्यापार या खेती की पैदावार से ताल्लुक रखते हैं। इस नामकरण से ही व्यापार की तरफ ध्यान जाता है। डॉक्टर आर

---

इंडियन कालोनीज इन दि फार ईस्ट' (कलकत्ता, १९२७) और इसी लेखक की पुस्तक 'स्वर्णद्वीप' (कलकत्ता १९३७) देखिये ग्रेटर इंडिया सोसायटी (कलकत्ता) के प्रकाशन भी।

श्री मजूमदार ने बताया है—'अगर साहित्य आम लोगों के विचारों का ठीक-ठीक दर्पण है तो ईसवी सवत के शुरू होने से पहले और बाद की सदियों में वनिज-व्यापार के लिए बहुत बड़ा उत्साह रहा होगा।' इन सब बातों से पता चलता है कि यहां की आर्थिक व्यवस्था का फैलाव हो रहा था और दूर-दूर की मंडियों की बराबर खोज हो रही थी।

ईसा से पहले की तीसरी और दूसरी सदियों में यह व्यापार रफ्ता-रफ्ता बढ़ गया था और तब इन व्यवसायियों और व्यापारियों के साथ धर्म प्रचारकों का जाना शुरू हुआ होगा क्योंकि यह अशोक से ठीक बाद का ज़माना था। संस्कृत की पुरानी कथाओं में डरानेवाली समुद्र-यात्राओं और जहाज़ों के तबाह होने के बहुत-से बयान मिलते हैं। यूनानी और अरबी लोगों ही बयानों से पता लगता है कि हिंदुस्तान और सुदूर पूरब के देशों के बीच कम-से-कम पहली सदी ईसवी में समुद्र के रास्ते से नियमित व्यापार चालू था। मलय प्रायद्वीप और इंडोनेशिया के टापू चीन और हिंदुस्तान तथा अरब और भूमध्य सागर के यात्रा-मार्ग में पड़ते थे। अपने भौगोलिक महत्त्व के अलावा इन देशों में क़ीमती खनिज धातु, मसाले और लकड़ियां मिलती थीं। अब की तरह उस ज़माने में भी मलय अपनी टीन की खानों के लिए मशहूर था। शायद सबसे पहली यात्राएं हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र तट के बराबर-बराबर—कलिंग (उड़ीसा) बंगाल बरमा और फिर नीचे मलय प्रायद्वीप होते हुए हुई थीं। बाद में दक्खिन हिंदुस्तान से सीधे यात्रा-मार्ग क़ायम हो गये थे। इसी रास्ते से हिंदुस्तान में अनेक चीनी यात्री आये थे। फ़ाह्यान जावा से पांचवीं सदी में होकर गुज़रा था और उसने उल्लेख किया है कि अब भी यहां बहुत-से विधर्मी बसते हैं, उसका तात्पर्य ब्राह्मणों से था जो बौद्ध-धर्म के अनुयायी नहीं बने थे।

यह ज़ाहिर है कि जहाज़ों के बनाने का धंधा प्राचीन हिंदुस्तान में अच्छी तरक्की पर था। उस ज़माने में बने हुए जहाज़ों का कुछ ब्यौरेवार हाल हमें मिलता है। बहुत-से हिंदुस्तानी बंदरगाहों के नाम मिलते हैं। दूसरी और तीसरी सदी ईसवी के दक्खिन हिंदुस्तानी (आंध्र) सिक्कों पर दुहरे पालों वाले जहाज़ की छाप मिलती है। अजंता की दीवार पर बने हुए चित्रों में लंका की विजय दिखाई गई है और हाथी ले जानेवाले जहाज़ बने हैं। वे बड़ी रियासतें और हुकूमतें जो पूरब के हिंदुस्तानी उपनिवेशों में क़ायम हुई, सभी मुख्य रूप से समुद्री ताक़तें थीं। उनकी व्यापार में दिलचस्पी थी और इसलिए समुद्री-मार्ग पर उनका अधिकार था। उनकी आपस में समुद्री लड़ाइयां भी होती थीं और कम-से-कम एक बार उन्होंने दक्खिन

ईसवी संवत की पहली सदी से आगे हिंदुस्तानी उपनिवेश बसानेवालों की लहर-पर-लहर पूरब और दक्खिन-पूरब में फैलीं और ये लंका बरमा मलय जावा सुमात्रा बोर्नियो स्याम कंबोडिया और इंडोचीन तक फैलीं। इनमें से कुछ तो फ़ारमूसा फिलिपीन टापुओं और सेलिबीज तक पहुंचीं। मेडागास्कर तक की भाषा मलाया इंडोनेशियन है जिसमें संस्कृत शब्दों की मिलावट है। ऐसा होने में कई सौ साल लगे होंगे और शायद इन सब जगहों मे सीधे हिंदुस्तान के लोग न पहुंचे होंगे बल्कि बीच के किसी उपनिवेश से फैले होंगे। पहली सदी ईसवी से लगभग ९ ईसवी तक चार खास लहरें उपनिवेश क़ायम करनेवालों की गई हुई जान पड़ती है लेकिन इनके बीच-बीच में पूरब जानेवाले लोगों का एक सिलसिला बना रहा होगा। इन साहसी कारनामों की सबसे मार्के की बात यह थी कि इनका संगठन राज्य द्वारा हुआ जान पड़ता है। दूर-दूर तक फैले हुए उपनिवेश यकायक एक साथ क़ायम होते हैं और क़रीब-क़रीब हमेशा वे ऐसी जगहों पर क़ायम होते हैं जो फ़ौजी दृष्टि से महत्त्व की जगहें हैं या खास यात्रा के मार्ग हैं। इन बस्तियों को जो नाम दिये गये वे पुराने हिंदुस्तानी नाम हैं। इस तरह वह देश जिसे आज कंबोडिया कहते हैं कंबोज कहलाया जो प्राचीन हिंदुस्तान का क़ाबुल की घाटी में गधार में एक मशहूर शहर था। इस बात से ही मोटे ढंग से उपनिवेश के बसाये जाने का समय जाना जा सकता है क्योंकि उस वक्त गधार (अफ़ग़ानिस्तान) आर्य-हिंदुस्तान का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा रहा होगा।

समुद्र-पार की इन अद्भुत और समारोह विजय-यात्राओं के पीछे कौनसी प्रेरणा थी ? इनका खयाल या संगठन मुमकिन न था अगर इनसे पहले पीढ़ियों और सदियों पहले कुछ व्यक्ति या छोटे-छोटे तिजारती गिरोह वहां जाकर वहां से परिचित न हुए होते। सबसे पुरानी संस्कृत किताबों में पूरब के इन देशों के अस्पष्ट हवाले हैं। उनमें आये हुए नामों को आज जगहों से जोड़ सकना आसान नहीं लेकिन कभी-कभी कोई दिक्कत नहीं भी होती। जावा साफ़ तौर पर 'यवद्वीप' या 'जौ का टापू' है और यह आज भी एक अन्न विशेष का नाम है। पुराने ग्रंथों में आये हुए और नाम भी आमतौर पर धातु, खनिज या किसी व्यापार या खेती की पैदावार से ताल्लुक रखते हैं। इस नामकरण से ही व्यापार की तरफ़ ध्यान जाता है। डॉक्टर आर

---

इंडियन कालोनीज इन दि फ़ार ईस्ट' (कलकत्ता, १९२७) और इन्हीं लेखक की पुस्तक 'स्वर्णद्वीप' (कलकत्ता १९३७) देखिये; ग्रेटर इंडिया सोसाइटी (कलकत्ता) के प्रकाशन भी।

सी मजूमदार ने बताया है—"अगर साहित्य आम लोगों के विचारों का ठीक-ठीक दर्पण है तो ईसवी संवत के शुरू होने से पहले और बाद की सदियों में वणिक-व्यापार के लिए बहुत बड़ा उत्साह रहा होगा। इन सब बातों से पता चलता है कि यहां की आर्थिक व्यवस्था का फैलाव हो रहा था और दूर-दूर की मंडियों की बराबर खोज हो रही थी।

ईसा से पहले की तीसरी और दूसरी सदियों में यह व्यापार रफ्ता-रफ्ता बढ़ गया था और तब इन व्यवसायियों और व्यापारियों के बाद धर्म प्रचारकों का जाना शुरू हुआ होगा क्योंकि यह अशोक से ठीक बाद का जमाना था। संस्कृत की पुरानी कथाओं में डरानेवाली समुद्र-यात्राओं और जहाजों के तबाह होने के बहुत-से बयान मिलते हैं। यूनानी और अरबी दोनों ही बयानों से पता लगता है कि हिंदुस्तान और सुदूर पूरब के देशों के बीच कम-से-कम पहली सदी ईसवी में समुद्र के रास्ते से नियमित व्यापार चालू था। मलय प्रायद्वीप और इंडोनेशिया के टापू चीन और हिंदुस्तान फ़ारस अरब और भूमध्य सागर के यात्रा-मार्ग में पड़ते थे। अपने भौगोलिक महत्त्व के अलावा इन देशों में क़ीमती खनिज धातु, मसाले और लकड़ियां मिलती थीं। अब की तरह उस जमाने में भी मलय अपनी टीन की खानों के लिए मशहूर था। शायद सबसे पहली यात्राएं हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र तट के बराबर-बराबर—कलिंग (उड़ीसा) बंगाल बरमा और फिर नीचे मलय प्रायद्वीप होते हुए हुई थीं। बाद में दक्खिन हिंदुस्तान से सीधे यात्रा-मार्ग क़ायम हो गये थे। इसी रास्ते से हिंदुस्तान में अनेक चीनी यात्री आये थे। फ़ाह्यान जावा से पांचवीं सदी में होकर गुजरा था और उसने उल्लेख किया है कि अब भी यहां बहुत-से विधर्मी बसते हैं उसका तात्पर्य ब्राह्मणों से था जो बौद्ध-धर्म के अनुयायी नहीं बने थे।

यह जाहिर है कि जहाजों के बनाने का धंधा प्राचीन हिंदुस्तान में अच्छी तरक्की पर था। उस जमाने में बने हुए जहाजों का कुछ ब्यौरेवार हाल हमें मिलता है। बहुत-से हिंदुस्तानी बंदरगाहों के नाम मिलते हैं। दूसरी और तीसरी सदी ईसवी के दक्खिन हिंदुस्तानी (आंध्र) सिक्कों पर दुहरे पालों वाले जहाज की छाप मिलती है। अजंता की दीवार पर बने हुए चित्रों में लंका की विजय दिखाई गई है और हाथी ले जानेवाले जहाज बने हैं। वे बड़ी रियासतें और सल्तनतें जो शुरू के हिंदुस्तानी उपनिवेशों में कायम हुईं, सभी मुख्य रूप से समुद्री ताक़तें थीं। उनकी व्यापार में दिलचस्पी थी और इसलिए समुद्री-मार्ग पर उनका अधिकार था। उनकी आपस में समुद्री लड़ाइयां भी होती थीं और कम-से-कम एक बार उन्होंने दक्खिन

बृहत्तर भारत
(दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय उपनिवेश)

हिंदुस्तान के चोळ राज्य को चुनौती दी। लेकिन चोळ-वंशी भी बड़े ताकतवर थे और उन्होंने समुद्री धावा किया और कुछ काल के लिए शैलेंद्र के साम्राज्य को दबा दिया।

सन १०८८ ई० का एक दिलचस्प तामिल शिलालेख है जिसमें "पांच सौ के संघ" का बयान है। जाहिरा तौर पर यह व्यापारियों का संघ था जिसके लोगों को बताया गया है कि वे "वीर पुरुष थे जिनका जन्म कृत युग (सतयुग) से ही थल और जल की राह से दूर-दूर देशों में जाकर वहां लोगों को भेदकर घोड़े हाथी मणि-माणिक फुलेल और औषधियों का थोक और फुटकर व्यापार करने के लिए हुआ था।"

हिंदुस्तानियों के शुरू के औपनिवेशिक उद्योगों की यह भूमिका थी। व्यापार और साहसी कामों और विस्तार की प्रेरणा उन्हें इन पूर्वी देशों में ले गई, जिनका पुराने संस्कृत ग्रंथों में 'स्वर्णभूमि' या 'स्वर्णद्वीप' के व्यापक शब्द से संकेत किया गया है। इस नाम में ही एक कशिश थी। शुरू के उपनिवेश कायम करनेवाले पहले बस गये फिर और बाद में आये और शांति के साथ बैठने की यह क्रिया जारी रही। हिंदुस्तानियों का उन जातियों से जो उन्हें वहां पर मिलीं मेल-जोल हुआ और एक नई मिली जुली संस्कृति का विकास हुआ। इतना हो चुकने पर ही शायद राजनैतिक वर्ग के लोग—कुछ क्षत्रिय राजकुमार, कुलीन वंशों के सैनिक—साहसी कामों और राज्य-स्थापना के विचार से आये। नामों की समानता की वजह से यह सुझाव दिया गया है कि इन लोगों में से ज्यादातर हिंदुस्तान में दूर फैली हुई मालव जाति के लोग थे—इसीसे मलय जाति हुई, जिसका सारे इंडोनेशिया पर इतना गहरा असर रहा है। मध्य-हिंदुस्तान का एक हिस्सा अब भी मालवा कहलाता है। ऐसा खयाल किया जाता है कि शुरू के औपनिवेशिक पूर्वी समुद्र-तट के कलिंग देश (उड़ीसा) से गये थे लेकिन यह दक्खिन का पल्लव हिंदू राज्य था जिसने उपनिवेशों को बसाने की संगठित कोशिश की। यह खयाल किया जाता है कि शैलेंद्र-वंश जो दक्खिन-पूरबी एशिया में इतना मशहूर हुआ उड़ीसा से आया हुआ था। उस जमाने में उड़ीसा बौद्धों का एक गढ़ था अगरचे शासन करनेवाला राजवंश ब्राह्मण-धर्म का अनुयायी था।

ये सभी हिंदुस्तानी नौ-आबादियां चीन और हिंदुस्तान इन दो बड़े मुल्कों और दो बड़ी तहजीबों के बीच बसी थीं। उनमें से कुछ, जो एशिया के बड़े भू-खंड पर थीं तो ऐसी थीं कि उनकी सरहदें चीनी-साम्राज्य को छूती थीं बाकी हिंदुस्तान और चीन के खास तिजारती रास्ते में पड़ती

थीं। इस तरह उन पर दोनों देशों का असर पड़ता था और उनमें एक मिली-जुली हिंदुस्तानी और चीनी सभ्यता ने तरक्की की लेकिन इन दोनों ही सभ्यताओं की प्रकृति ऐसी थी कि आपस के कोई झगड़े नहीं हुए और जुदा-जुदा शक्ल के मिले-जुले नमूने बन गये। मु-ख्यी देशों में बरमा स्याम और हिंद चीन थे और इन पर ज्यादा असर चीन का पड़ा टापुओं पर और मलय प्रायद्वीप पर हिंदुस्तान की छाप ज्यादा थी। आमतौर पर शासन के तरीके और जिंदगी का फ़िलसफ़ा चीन ने दिया धर्म और कला हिंदुस्तान ने दी। मु-ख्यी देश अपने व्यापार के लिए ज़्यादातर चीन का सहारा लेते थे और उनमें आपस में एलचियों का अदल-बदल होता रहता था। लेकिन कंबोडिया तक में और अंगकोर के विशाल खंडहरों में कला-संबंधी जो भी प्रभाव पड़ा वह सिर्फ़ हिंदुस्तान का। इसके अलावा और दूसरे असर का पता अबतक नहीं चला है। लेकिन हिंदुस्तानी कला लचीली थी और ऐसी थी कि उसे हर एक मुल्क अपनी ज़रूरत के मुताबिक ढाल सकता था और हर एक मुल्क में इसने इस तरह नये-नये फूल खिलाये अगरचे बुनियादी छाप वही हिंदुस्तान की बनी रही। सर जान मार्शल ने "हिंदुस्तानी कला की अद्भुत जीवनी-शक्ति रखनेवाली और लचीलेपन की विशेषता" का हवाला दिया है और उन्होंने बताया है कि किस तरह हिंदुस्तानी और यूनानी दोनों ही कलाओं में 'अपने को हर एक संपर्क में आनेवाले देश जाति और धर्म की ज़रूरतों के मुताबिक ढाल लेने की गुंजाइश थी।"

हिंदुस्तानी कला अपनी बुनियादी विशेषता हिंदुस्तान के ख़ास धर्म-संबंधी आदर्शों और फ़िलसफ़ियाना नज़रिये से हासिल करती है। जिस तरह कि हिंदुस्तान से इन सभी पूर्वी देशों में धर्म पहुंचा उसी तरह कला की यह बुनियादी कल्पना भी पहुंची। अनुमान होता है कि शुरू की नौ-आबादियां क़रीनी-तौर पर ब्राह्मण-धर्मवालों की थीं और बौद्ध-धर्म वहां बाद में फैला। दोनों आपस में मैत्री रखते हुए साथ-साथ चलते थे और मिली-जुली पूजा के रूप में आम लोगों में बस निकले थे। यह बौद्ध-धर्म महायानी था जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल आसानी से ढाल लेता था और मुकामी रहन-सहन और परंपरा का ऐसा असर हुआ कि ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म शायद दोनों ही अपने मूल सिद्धांतों की शुद्धता पर कायम न रह सके थे। बाद के सालों में एक बौद्ध-राज्य और एक ब्राह्मण-राज्य के बीच घोर लड़ाइयां हुईं, लेकिन ये दरअसल व्यापार और समुद्री यात्रा-मार्ग पर अधिकार पाने के लिए राजनैतिक और आर्थिक लड़ाइयां थीं।

इन हिंदुस्तानी नौ-आबादियों का इतिहास कोई तेरह सौ साल का

बल्कि इससे भी ज्यादा का है। यह पहली या दूसरी सदी ईसवी से शुरू होकर पंद्रहवीं सदी के अंत तक चलता है। शुरू की सदियों का हाल बहुत साफ़-साफ़ नहीं मालूम है सिवाय इसके कि बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे। रफ्ता-रफ्ता वे आपस में मिल जाते हैं और पांचवीं सदी के होते-होते बड़े बड़े शहरों का निर्माण होने लगता है। आठवीं सदी तक ऐसे साम्राज्य बन चुके थे जो जहाजरानी किया करते थे और कुछ अर्थों में केंद्रीय थे लेकिन बहुत-से द्वीपों पर एक अस्पष्ट ढंग का आधिपत्य भी बनाये हुए थे। कभी-कभी ये मातहत राज्य आजाद बन बैठते थे यहांतक कि केंद्रीय राज्य पर हमले भी कर दिया करते थे और इस वजह से उन जमानों को ठीक-ठीक समझने में कुछ दिक्कत होती है।

इनमें सबसे बड़ा राज्य शैलेंद्र-साम्राज्य था। इसी को श्रीविजय का साम्राज्य कहते हैं, और यह आठवीं सदी तक सारे मलय एशिया में समुद्री और खुश्की दोनों तरह की ताकतों के रूप में सबसे ऊपर उठ चुका था। अभी हाल तक यह खयाल किया जाता था कि इसकी शुरुआत सुमात्रा में हुई थी और वहीं इसकी राजधानी भी थी लेकिन बाद की खोजों से साबित कर दिया है कि इसकी शुरुआत मलय प्रायद्वीप में हुई थी। जिस जमाने में इसकी ताकत चोटी पर पहुंच गई थी उस जमाने में इसके अंदर मलय लंका सुमात्रा जावा का एक हिस्सा बोर्नियो सैलिबिस फ़िलिपीन और फ़ारमूसा का एक हिस्सा था और शायद कंबोडिया और चंपा (अनाम) पर भी इसका आधिपत्य था। यह बौद्ध-साम्राज्य था।

लेकिन शैलेंद्र-वंश के इस साम्राज्य के क़ायम और मजबूत करने के बहुत पहले ही मलय कंबोडिया और जावा में ताकतवर रियासतें बन चुकी थीं। मलय प्रायद्वीप के उत्तरी हिस्से में स्याम की सरहद के क़रीब जो दूर तक फैले हुए खंडहर हैं, वे डा० ... विल्स के अनुसार ऐसे हैं, जिनसे 'बहुत ऊंचे दर्जे की संपन्न और वैभवशाली बलशाली रियासतों' के वहां किसी जमाने में होने का पता चलता है। चंपा (अनाम) में तीसरी सदी में पांडुरंगम नाम का शहर था और पांचवीं सदी में कंबोज एक बड़ा शहर हो गया था। नवीं सदी में जयवर्मन नाम के एक प्रतापी राजा ने छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर कंबोडिया का साम्राज्य क़ायम किया था जिसकी राजधानी अंगकोर थी। कंबोडिया बीच-बीच में शैलेंद्र-वंश के आधिपत्य में संभवतः आ जाता रहा लेकिन यह आधिपत्य नाम के लिए था और नवीं सदी में यह स्वतंत्र हो बैठा। यह कंबोडिया का साम्राज्य क़रीब चार सौ साल तक क़ायम रहा और इसमें बहुत बड़े-बड़े शासक और निर्माण

करनेवाले लोग हुए जैसे यशवर्मन यशोवर्मन इंद्रवर्मन और सूर्यवर्मन। इसकी राजधानी सारे एशिया में मशहूर हो गई, जो 'विशाल अंगकोर' के नाम से जानी जाती थी यहां दस लाख की आबादी थी और यह शहर सीज़र बादशाहों के रोम शहर से बड़ा और ज्यादा विशाल था। शहर के पास ही अंगकोर वट का विशाल मंदिर था। कंबोडिया का साम्राज्य तेरहवीं सदी के आखिर तक चलता रहा और १२९७ में एक चीनी राजदूत वहां गया था जो राजधानी की दौलत और शान-शौकत का बयान करता है। लेकिन इस साम्राज्य का अचानक अंत हो गया इतना अचानक कि कुछ इमारतें मुकम्मिल होने से रह गईं। बाहरी हमले हुए और अंदरूनी दिक्कतें भी पेश आईं, लेकिन शायद जो सबसे बड़ी आफ़त आई, वह यह थी कि मीकांग नदी रेत से अट गई जिसकी वजह से शहर में आने के रास्तों में पानी आकर दलदल बन गया और शहर को छोड़ना पड़ा।

नवीं सदी में जावा भी शैलेंद्र-साम्राज्य से अलग हो गया फिर भी शैलेंद्र-वंश इंडोनेशिया में ग्यारहवीं सदी तक सबसे बड़ी ताक़त बना रहा और तब दक्खन हिंदुस्तान के चोल राज्य से उसकी मुठभेड़ हुई। चोल-वंशी विजयी हुए और पचास साल से ज़्यादा ज़माने तक इंडोनेशिया के बहुत-से हिस्सों पर उनका आधिपत्य रहा। चोल लोगों के हट जाने पर शैलेंद्र-वंश ने अपनी खोई हुई ताक़त फिर हासिल कर ली और क़रीब तीन सौ साल तक और एक स्वतंत्र राज्य की हैसियत से बना रहा। लेकिन तब यह पूरबी समुद्र के देशों में सबसे बड़ी ताक़त न रह गया था और तेरहवीं सदी में इस साम्राज्य का छिन्न-भिन्न होना शुरू हो गया। इसकी कमज़ोरी से जावा ने फ़ायदा उठाया और श्यामों (स्याम) ने भी। चौदहवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में जावा ने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया।

यह जावाई राज्य जो इस वक्त आगे आया, ऐसा था कि उसके पीछे एक लंबा इतिहास है। यह ब्राह्मण-धर्मवालों का राज्य था और बौद्ध धर्म के प्रचार के बावजूद इसने अपने पुराने धर्म को छोड़ा न था। इसने श्रीविजय के शैलेंद्र-साम्राज्य के राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव का उस वक्त भी मुकाबला किया था जब खुद जावा का आधे से ज्यादा हिस्सा इस साम्राज्य में आ गया था। यहां ऐसे लोग बसते थे जिनका ध्यान व्यापार पर था जो जहाज़रानी करते थे और जिन्हें पत्थर की शानदार इमारतें बनवाने का शौक़ था। शुरू में यह सिंहसारी-राज्य कहलाता था, लेकिन १२९२ ई० में मज्जापहित नाम का एक नया शहर क़ायम हुआ और आगे

चलकर इसीसे मज्जापहित-साम्राज्य हो गया था जो श्रीविजय-साम्राज्य के बाद दक्खिन-पूरबी एशिया की सबसे बड़ी ताक़त था। मज्जापहित ने कुबलाइ ख़ां के चीन से भेजे गये कुछ एलचियों का अनादर किया और चीनियों ने उस पर धावा करके उसे दंड दिया। जावाइयों ने शायद चीनियों से बारूद का इस्तेमाल सीखा और इसकी मदद से वह अंत में शैलेंद्र-वंश वालों को हरा सके।

मज्जापहित एक बड़ा केंद्रित और विस्तारशील साम्राज्य था। कहा जाता है कि यहां की कर-व्यवस्था बड़े अच्छे ढंग से संगठित थी और व्यापार और उपनिवेशों पर खासतौर पर ध्यान दिया जाता था। सरकार का एक व्यवसाय-विभाग था और इसी तरह उपनिवेश-विभाग स्वास्थ्य-विभाग और युद्ध और गृह-विभाग आदि भी थे। एक प्रधान न्यायालय भी था जिसमें कई न्यायाधीश काम करते थे। इस साम्राज्य का जैसा अच्छा संगठन था उसे जानकर हैरत होती है। इसका खास काम हिंदुस्तान और चीन से व्यापार करना था। यहां के मशहूर शासकों में एक महारानी सुहिता थी।

मज्जापहित और श्रीविजय के बीच का युद्ध बड़ा भयानक था और आखिर मज्जापहित की पूरे तौर पर जीत हुई, इस जीत ने नये झगड़ों के बीज बोये। शैलेंद्रों की ताक़त जो कुछ भी बच रही थी उससे और लोगों ने खासतौर पर अरब और मुस्लिमों ने मिलकर सुमात्रा और मलाका में मलय शक्ति क़ायम की। पूर्वी समुद्रों की कमान जो अबतक दक्खिन हिंदुस्तान या हिंदुस्तानी उपनिवेशों के हाथ में थी वह अब अरबों के हाथ में चली गई। तिजारत के केंद्र की हैसियत से और राजनैतिक ताक़त की जगह के रूप में अब मलाका सामने आया और मलय-प्रायद्वीप और टापुओं में इस्लाम फैला। यही ताक़त थी जिसने पंद्रहवीं सदी के अंत में मज्जापहित का पूरी तरह खात्मा कर दिया। लेकिन कुछ बरसों के भीतर ही सन १५११ में अल्बुकर्क के नेतृत्व में पुर्तगाली आये और उन्होंने मलाका पर क़ब्ज़ा कर लिया। अपनी नई और तरक्क़ी करती हुई ताक़त के बल पर यूरोप सुदूर पूरब तक पहुंच गया था।

## १७ हिंदुस्तानी कला का विदेशों में प्रभाव

पुराने साम्राज्यों और वंशों का यह ह्रास पुरातत्त्वज्ञों की दिलचस्पी का है लेकिन सभ्यता और कला के इतिहास के लिए उसकी दिलचस्पी और भी ज्यादा है। हिंदुस्तान के नज़रिये से यह खासतौर पर महत्त्व का है क्योंकि वहां जो कुछ था वह हिंदुस्तान का किया-धरा था और हिंदुस्तान की जीवनी-शक्ति और प्रतिभा मज़बूतशिष्ठ रास्तों में वहां ज़ाहिर हुई थी।

हम हिंदुस्तान को उत्साह से भरा हुआ और दूर-दूर तक फैलता हुआ पाते हैं और यह देखते हैं कि वह न महज़ अपने विचारों, बल्कि दूसरे आदर्शों, अपनी कला, अपने व्यापार, अपनी भाषा और साहित्य और अपने हुकूमत के तरीक़ों को सब जगह ले जाता है। न वह मंद पड़ा हुआ है, न अलग-अलग रहनेवाला है, या समुंदर और पहाड़ से कटकर अकेला पड़ गया है। उसके निवासी इन ऊँचे पहाड़ों को पार करते हैं और ख़तरनाक समुंदर को लाँघते हैं और जैसाकि मो० रीनी ग्रूसे ने बताया है, "एक बृहत्तर हिंदुस्तान का निर्माण करते हैं, जो राजनैतिक हैसियत से उतना ही कम संगठित है जितना कि बृहत्तर यूनान था, लेकिन जो नैतिक हैसियत से वैसा ही मधुर और व्यापक प्रभाव रखनेवाला है।" दरअसल मध्य-एशिया की इन रियासतों का राजनैतिक संगठन भी बड़े ऊँचे दर्जे का था, अगरचे यह हिंदुस्तानी राजनैतिक व्यवस्था का अंग नहीं था। लेकिन मो० ग्रूसे उन विस्तृत प्रदेशों का हवाला देते हैं, जहाँ हिंदुस्तानी तहज़ीब फैल गई थी—"पूरबी ईरान के ऊँचे पठार में, सेरिंडिया के नख़लिस्तानों में, तिब्बत, मंगोलिया और मंचूरिया के सूखे बंजरों में, चीन और जापान के पुराने तहज़ीब मुल्कों में, नागा और ख़मेरों और हिंद-चीन की और आदिम जातियों की भूमियों पर, मलय-पोलिनीशियनों के मुल्कों में, इंडोनेशिया और मलय में, न सिर्फ़ मज़हब पर, बल्कि कला और साहित्य पर भी, या एक शब्द में कहिये तो आत्मा की सभी बुलंद चीज़ों पर, हिंदुस्तान ने अपनी ऊँची संस्कृति की अमिट छाप छोड़ी है।"[1]

हिंदुस्तानी तहज़ीब ने ख़ासतौर पर दक्खिन-पूरबी एशिया के मुल्कों में पैठ पक्की और इसका सबूत आज वहाँ सब जगह मिलता है। चंपा, अंगकोर, श्रीविजय, मज्जापहित और और जगहों में संस्कृत की शिक्षा के बड़े-बड़े केंद्र थे। मुख़्तलिफ़ राजाओं के नाम और उन राज्यों और शासकों के नाम जो वहाँ क़ायम हुए, बिलकुल हिंदुस्तानी और संस्कृत नाम हैं। इससे यह मतलब न निकालना चाहिए कि वे पूरी तौर पर हिंदुस्तानी थे, बल्कि यह कि उनमें हिंदुस्तानीपन आ गया था। राज्य की मुख़्तलिफ़ रस्में हिंदुस्तानी ढंग की थीं और वे संस्कृत के ज़रिये अदा की जाती थीं। राज्य के सभी कर्मचारियों के पद प्राचीन संस्कृत में आये हुए पद हैं और ये पद अबतक न महज़ थाईलैंड में चले आ रहे हैं, बल्कि मलाया की मुस्लिम रियासतों में भी। इंडोनेशिया की इन जगहों के पुराने साहित्य में हिंदुस्तानी कथाएं और गाथाएं भरी पड़ी हैं। जावा और बाली के मशहूर

---

[1] रीनी ग्रूसे 'सिविलाइज़ेशन्स ऑफ़ दि ईस्ट' जिल्द २, पृ० २७६।

मुख्य हिंदुस्तान से हासिल किये हुए हैं। बाली के छोटे टापू ने तो अपनी पुरानी हिंदुस्तानी तहज़ीब को अबतक बहुत-कुछ क़ायम रखा है, यहांतक कि हिंदू-धर्म भी वहां चला आ रहा है। फ़िलिपीन में लिखने की कला हिंदुस्तान से गई।

कंबोडिया की वर्णमाला दक्खिन हिंदुस्तान से ली गई है और बहुत से संस्कृत शब्द छोटे-मोटे हेर-फेर के साथ ले लिये गये हैं। दीवानी और फ़ौजदारी के क़ानून हिंदुस्तान के क़दीम स्मृतिकार मनु के क़ानून के आधार पर बने हैं और इन्हें बौद्ध-धर्म के असर से होनेवाली कुछ तबदीलियों के साथ कंबोडिया के मौजूदा क़ानून में ले लिया गया है।[1]

लेकिन जिन चीज़ों में हिंदुस्तानी असर सबसे ज्यादा साफ़ तौर पर मिलता है, वे हैं इन क़दीम हिंदुस्तानी नौ-आबादियों की कला और इमारतें। मौलिक प्रेरणा में कुछ तबदीली आई, उसमें अपने को परिस्थितियों के मुताबिक ढालने और मुक़ामी गुणों का उसमें मेल-मिलाप हुआ और इस मेल-मिलाप से अंगकोर और बोरोबुदर की शानदार इमारतें और अद्भुत मंदिर तैयार हुए। जावा में बोरोबुदर में बुद्ध की ज़िंदगी की सारी कहानी पत्थरों में गढ़ी हुई मिलती है। दूसरी जगहों में मूर्तिपट्टों पर विष्णु और राम और कृष्ण की कथाएं खुदी हुई हैं। अंगकोर के बारे में ऑसवर्ट सिटवेल ने लिखा है—"इस बात को तुरंत मान लेना चाहिए कि अंगकोर, जिस रूप में वह खड़ा हुआ मिलता है आज दुनिया के खास अजायबों में है इन्सानी प्रतिभा ने पत्थर पर खुदाई करके जो कुछ भी पेश किया है, यह उसकी चोटी पर है और इसके मुक़ाबले की वर्णनीय सुंदर और अद्भुत चीज़ तो चीन में कहीं नहीं देखी जाती। ये एक ऐसी सभ्यता के पद-अवशेष हैं जिसने छः सदियों तक अपने वस्तंत चमकीले पर फहराये और जो इस तरह नष्ट हो गई कि अब उसका नाम भी इन्सान के होठों पर नहीं आता।'[2]

अंगकोर वट के विशाल मंदिर के गिर्द एक बड़ा रक़बा बहुत दूरतक फैले हुए खंडहर का है जिसमें बनावटी झीलें और पोखरें हैं और नहरें हैं,

---

[1] पी० आर० बर्जी के 'इंडियन कल्चरल इन्फ्लुएंस इन कंबोडिया' (कलकत्ता, १९२८) ग्रंथ में ए० लेक्लेयर की 'रिसर्चेज सर ले ओरिजिन्स ब्रह्मनास डेलाय कंबोजियन्स' से उद्धृत।

[2] ये दो उद्धरण ऑसवर्ट सिटवेल की पुस्तक 'इस्केप विद मी—एन ओरिएंटल स्केच बुक' (१९४१) से लिये गये हैं।

जिन पर पुल बने हुए हैं ... और एक बड़ा फाटक है जिस पर "एक बहुत बड़े आकार का सिर पत्थर में खुदा हुआ है ... यह एक सुंदर, मुस्कराता हुआ लेकिन रहस्यमय कंबोडियाई मुख है, जो शक्ति और सुंदरता में देवताओं-जैसा है।[1] यह मुख अद्भुत रूप से आकर्षक है और इसकी मुस्कान विचलित करनेवाली है—इसे अंगकोर की मुस्कान कहिये। मुख कई जगह दुहराया गया है। इस फाटक से मंदिर के लिए रास्ता है—"पड़ोस का बयान दुनिया में सबसे अजीब और कल्पनापूर्ण है। अंगकोर वट से ज्यादा सुंदर है क्योंकि इसकी कल्पना ज्यादा अलौकिक है। यह किसी दूर के नक्षत्र के शहर का मंदिर जान पड़ता है ... और इसकी सुंदरता उसी तरह सताती है जिस तरह कि बड़े काव्य की पंक्तियों की हुआ करती है।[1]

अंगकोर को प्रेरणा हिंदुस्तान से मिली लेकिन यह ख्मेर-प्रतिभा थी जिसने उसे विकसित किया या यह कहिये कि दोनों ने एक-दूसरे से मिलकर यह अचरज की चीज पैदा की। कंबोडिया के जिस राजा ने कहा जाता है कि इसे बनवाया उसका नाम जयवर्मन (सप्तम) था और यह एकदम हिंदुस्तानी नाम है। डाक्टर क्वारिट्स वेल्स कहते हैं—"जब हिंदुस्तान का राह दिखानेवाला हाथ छूट गया तब भी जो प्रेरणा उससे मिली थी वह नहीं भुलाई गई, बल्कि ख्मेर-प्रतिभा ने मुक्त होकर उससे विशाल और अद्भुत रूप से सजीव कल्पनाएं ढालीं जो विशुद्ध हिंदुस्तानी वातावरण में पली किसी भी चीज से जुदा थीं ... इसलिए उनका आपस में मुकाबला न होना चाहिए। ... यह बात सही है कि ख्मेर-संस्कृति हिंदुस्तानी प्रेरणा के आधार पर कायम हुई और यह प्रेरणा न रही होती तो ख्मेर लोग मध्य-अमरीका के मय लोगों जैसी बर्बर शान दिखाने से कुछ ज्यादा न कर पाते ... लेकिन यह मानना पड़ेगा कि इस प्रेरणा ने जैसी उपजाऊ धरती यहां पाई, वैसी बृहत्तर भारत में उसे और कहीं न मिली।[2]

इससे यह ख्याल पैदा होता है कि खुद हिंदुस्तान में यह प्रेरणा जो रफ्ता-रफ्ता मिट गई उसकी वजह यह थी कि उसके दिमाग और जमीन नई धाराओं और विचारों की खुराक की कमी की वजह से दब गये और कमजोर हो गये। जबतक हिंदुस्तान ने अपने दिमाग को दुनिया के लिए खुला

---

[1] ये उद्धरण श्री ओस्बर्ट सिटवेल की पुस्तक 'एस्केप विद मी—एन ओरियंटल स्केच बुक' से लिये गये हैं।

[2] डॉक्टर एच. जी. क्वारिट्स वेल्स की पुस्तक 'टुवर्ड्स अंगकोर' (हैरप १९३७) से।

रखा, अपनी दौलत दूसरों को दी और खुद उसमें जिस चीज की कमी थी उसे दूसरों से लिया, तब तक उसमें ताजगी रही और वह मजबूत और जीवटवाला बना रहा। लेकिन जितना ही वह अपने भीतर सिमटा और अपनी रक्षा करने की कोशिश में रहा और बाहरी असरों से उसने अपने को जितना अछूता रखना चाहा उतना ही उसने अपनी प्रेरणा को खो दिया और उसकी जिंदगी अधिकाधिक मंद पड़ती गई और ऐसी हो गई कि वह अपने मरे हुए अतीत के गिर्द व्यर्थ बंधनों में फंसी हुई चक्कर काटती रही। सौंदर्य की रचना करने की कला तो खोई ही उसकी औलाद ने उसे पहचानने की बुद्धि भी खो दी।

जावा, अंगकोर और बृहत्तर भारत की दूसरी जगहों की खुदाई और खोजों का यश यूरोपीय विद्वानों और पुरातत्त्वविदों को है, खासकर फ्रांसीसी और डच विद्वानों को। बड़े-बड़े शहर और स्मारक शायद अब भी मिट्टी में दबे हुए पड़े हैं और उनकी खोज होनी बाकी है। इस बीच में कहा जाता है कि खानों के खोदने की वजह से या सड़क बनाने का सामान लेने में मलाया की खास-खास पुरानी जगहें, जहां पुराने खंडहर थे, गायब हो गई हैं और यकीनी तौर पर युद्ध इस बरबादी में इजाफा करेगा। कुछ साल हुए, मुझे एक थाई (स्यामी) विद्यार्थी का जो ठाकुर के शांतिनिकेतन में आया था और थाईलैंड को वापस जा रहा था एक खत मिला था। उसने लिखा था—"मैं अपने को बार-बार खासतौर पर खुशकिस्मत समझता हूं कि मुझे इस बड़े और पुराने देश भारतवर्ष में आने का और मातामही मातृभूमि को अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करने का मौका मिला। यह मातामही ऐसी है जिसकी गोद में मेरी मातृभूमि प्रेमपूर्वक पली है और उसने सभ्यता और धर्म में जो कुछ भी सुंदर है, उसे पहचानना और उससे मुहब्बत करना सीखा है।" मुमकिन है कि यह एक आम खियाल न हो फिर भी इससे कुछ पता इस बात का चलता है कि हिंदुस्तान के बारे में दक्खिन-पूरबी एशिया में किस तरह के खयाल लोगों के दिलों में हैं अगरचे यह खयाल धुंधला है और इसके साथ बहुत कुछ और भी मिला-जुला है। वहां सभी जगह एक तंग किस्म की जातीयता पैदा हो गई है जो अपने ही तक देखकर रह जाती है और दूसरों का यकीन नहीं करना चाहती। यूरोप के आधिपत्य से भय है और नफरत है फिर भी यूरोप और अमरीका की नकल करने की एक ख्वाहिश भी है। अकसर हिंदुस्तान के लिए कहीं-कहीं हिकारत के भाव भी हैं क्योंकि हिंदुस्तान गुलामी की हालत में है लेकिन फिर भी इन सब बातों के पीछे हिंदुस्तान के लिए एक आदर और मित्रता का भाव है क्योंकि पुरानी यादें कायम रहती हैं, और लोग इस

बात को नहीं भूले हैं कि एक जमाना था, जब हिंदुस्तान उनके लिए मातृ-भूमि-जैसा था और उनका अपने भंडार के पुष्ट भोजन से पालन करता था। जिस तरह से यूनान से भूमध्य सागर के मुल्कों में 'हेलेनिज़्म' या यूनानियत फैली, उसी तरह से हिंदुस्तान का सांस्कृतिक असर बहुत-से मुल्कों में फैला और वहां उसने अपनी जबरदस्त छाप छोड़ी।

सिल्वां लेवी लिखते हैं— 'ईरान से चीनी समुंदर तक, साइबेरिया के बर्फीले प्रदेशों से जावा और बोर्नियो के टापुओं तक, ओशीनिया से सोकोत्रा तक हिंदुस्तान ने अपना यकीदा, अपनी कहानियां और अपनी तहज़ीब को फैलाया है। उसने मानव-जाति के चौथाई हिस्से पर लंबी सदियों के दौर में अपनी अमिट छाप डाली है। उसे इस बात का हक़ है कि अज्ञान के कारण उसे दुनिया के इतिहास में जो पद मिलने से रह गया है, उसे हासिल करे और मानव-आत्मा की प्रतीक बड़ी क़ौमों के बीच अपनी उचित जगह ले।'[1]

## १८ पुरानी हिंदुस्तानी कला

हिंदुस्तानी संस्कृति और कला का जो अद्भुत विस्तार दूसरे देशों में हुआ है, उसका नतीजा यह रहा है कि इस कला के कुछ अच्छे-से-अच्छे नमूने इस देश से बाहर मिलते हैं। बदकिस्मती से हमारी बहुत-सी इमारतें और मूर्तियां, खासतौर पर उत्तरी हिंदुस्तान में, युगों के दौर में नाश हो चुकी हैं। सर जान मार्शल कहते हैं कि "हिंदुस्तान के अंदर की ही हिंदुस्तानी कला को जानना उसकी आधी ही कहानी जानने के बराबर है। उसे पूरी तौर पर समझने के लिए हमें बौद्ध-धर्म के साथ-साथ मध्य-एशिया, चीन और जापान तक जाना चाहिए; तिब्बत और बरमा और स्याम में फैलकर नये रूप धारण करते हुए और फूटकर नये सौंदर्य पेश करते हुए हमें इसे देखना चाहिए; हमें कंबोडिया और जावा में इसके शानदार और बेमिसाल कारनामों को देखना चाहिए। इन मुल्कों में हर एक में हिंदुस्तानी कला का एक नई ही जातीय प्रतिभा से मुकाबला होता है, उसे नये ही मुकामी वातावरण का सामना करना पड़ता है और इनके खास असर में यह नये भेष बदलती है।

---

[1] यह उद्धरण यू. एन. घोषाल की किताब 'प्रोग्रेस ऑव ग्रेटर इंडियन रिसर्च १९१७-४२' (कलकत्ता, १९४३) में दिया गया है।

रेजिनाल्ड ली मे की 'बुद्धिस्ट आर्ट इन स्याम' (कैंब्रिज, १९३८) की प्रस्तावना का अंश, जो घोषाल की 'प्रोग्रेस ऑव ग्रेटर इंडियन रिसर्च' (कलकत्ता, १९४३) में उद्धृत है।

हिंदुस्तानी कला का हिंदुस्तानी धर्म और फ़िलसफ़े से इतना गहरा ताल्लुक़ है कि जबतक कोई उन आदर्शों की जानकारी न रखता हो, जो हिंदुस्तानी दिमाग़ को अपनी तरफ़ खींचते रहे हैं तबतक उसके लिए इसका ठीक-ठीक समझना मुश्किल हो जाता है। जैसे संगीत में पूरबी और पच्छिमी कल्पनाओं के बीच एक खाई है उसी तरह कला में भी है। मध्य यूरोप के मध्य-युग के महान कलाकार और निर्माता हिंदुस्तानी कला और शिल्प से अपना ज्यादा मेल पाते बनिस्बत आज के यूरोपीय कलाकारों के जिन्होंने अपनी प्रेरणा रिनेसां और उसके बाद के युग से हासिल की है क्योंकि हिंदुस्तानी कला में हमें बराबर एक धार्मिक प्रेरणा मिलती है, एक पार-दृष्टि दिखाई देती है जैसी खास यूरोप के बड़े गिरजाघरों के बनानेवालों में थी। सौंदर्य की कल्पना भाव-जगत में की गई है, वस्तु-जगत में नहीं। यह आत्मा से संबंध रखनेवाली चीज़ है, चाहे उसने जड़ वस्तु में सुंदर रूप और आकार ग्रहण कर लिया हो। यूनानियों को सौंदर्य से बड़ा प्रेम था और उसमें उन्हें आनंद ही नहीं मिलता था बल्कि सत्य दिखता था। क़दीम हिंदुस्तानियों को भी सौंदर्य से प्रेम था लेकिन वे अपनी कृतियों में सदा कोई गूढ़ अर्थ बिठाने की कोशिश में रहते थे—अंदरूनी सत्य की कोई ऐसी कल्पना जिसका उन्हें आभास हुआ हो। उनकी रचनात्मक कृतियों की खास मिसालों को देखकर हमारे मन में प्रशंसा के भाव उठते हैं, चाहे हम उनके उद्देश्य या विचारों को ठीक-ठीक समझ न सकें। ऐसी मिसालों में जो उनसे उतरकर हैं, कलाकार के मन में न पैठ सकने की और समझ पाने की यह कमी इस प्रशंसा में बाधक होती है। और एक ऐसी चीज़ को देखकर, जिसे आदमी समझ नहीं पाता कुछ अस्पष्ट घबराहट और खिज भी होती है और दिमाग़ इस नतीजे पर पहुंचता है कि कलाकार अपना काम ठीक जानता न था या नाकामयाब रहा है। कभी-कभी तो नफ़रत पैदा हो जाती है।

मैं पूरबी या पच्छिमी कला के बारे में कुछ नहीं जानता और मुझे इस बात का अधिकार नहीं कि उसके बारे में कुछ कहूं। उनके प्रति मेरे भाव ऐसे ही हैं जैसे किसी अन-सीखे मामूली आदमी के हों। कुछ चित्रों या मूर्तियों या इमारतों को देखकर दिल खुशी से भर जाता है या मुझ पर असर पड़ता है और एक अजीब भाव का अनुभव करता हूं या वे मुझे कम पसंद आते हैं या उनका मुझ पर कोई असर नहीं होता और मैं उन्हें क़रीब क़रीब अनदेखा करके आगे गुज़र जाता हूं या उनसे मुझे नफ़रत होती है। मैं इन प्रतिक्रियाओं को समझा नहीं सकता न कला की चीज़ों के गुण और दोष को क़ाबलियत के साथ बता सकता हूं। कला में अनुराधापुर की बुद्ध

बात को नहीं भूले हैं कि एक ज़माना था, जब हिंदुस्तान उनके लिए मातृ-भूमि-जैसा था और उनका अपने भंडार के पुष्ट भोजन से पालन करता था। जिस तरह से यूनान से भूमध्य सागर के मुल्कों में 'हेलेनिज़्म' या यूनानियत फैली, उसी तरह से हिंदुस्तान का सांस्कृतिक असर बहुत-से मुल्कों में फैला और वहां उसने अपनी ज़बरदस्त छाप छोड़ी।

सिल्वां लेवी लिखते हैं—"ईरान से चीनी समुंदर तक, साइबेरिया के बर्फ़ानी प्रदेशों से जावा और बोर्नियो के टापुओं तक, ओशीनिया से सोकोटरा तक हिंदुस्तान ने अपने यक़ीन, अपनी कहानियों और अपनी तहज़ीब को फैलाया है। उसने मानव-जाति के चौथाई हिस्से पर लंबी सदियों के दौर में अपनी अमिट छाप डाली है। उसे इस बात का हक़ है कि अज्ञान के कारण उस दुनिया के इतिहास में जो पद मिलने से रह गया है, उसे हासिल करे और मानव-आत्मा की प्रतीक बड़ी क़ौमों के बीच अपनी उचित जगह ले।"[1]

## १८ पुरानी हिंदुस्तानी कला

हिंदुस्तानी संस्कृति और कला का जो अद्भुत विस्तार दूसरे देशों में हुआ है, उसका नतीजा यह रहा है कि इस कला के कुछ अच्छे-से-अच्छे नमूने इस देश से बाहर मिलते हैं। बदक़िस्मती से हमारी बहुत-सी इमारतें और मूर्तियां, ख़ासतौर पर उत्तरी हिंदुस्तान में, युगों के दौर में नष्ट हो चुकी हैं। सर जान मार्शल कहते हैं कि 'हिंदुस्तान के अंदर की ही हिंदुस्तानी कला को जानना उसकी आधी ही कहानी जानने के बराबर है। उसे पूरी तौर पर समझने के लिए हमें बौद्ध-धर्म के साथ-साथ मध्य-एशिया, चीन और जापान तक जाना चाहिए, तिब्बत और बरमा और स्याम में फैलकर नये रूप धारण करते हुए और फूटकर नये सौंदर्य पेश करते हुए हमें इसे देखना चाहिए, हमें कंबोडिया और जावा में इसके शानदार और बेमिसाल कारनामों को देखना चाहिए। इन मुल्कों में हर एक में हिंदुस्तानी कला का एक नई ही जातीय प्रतिभा से मुक़ाबला होता है, उसे नये ही मुक़ामी वातावरण का सामना करना पड़ता है और उनके ख़ास असर में यह नये भेस बदलती है।

[1] यह उद्धरण यू. एन. घोषाल की किताब 'प्रोग्रेस ऑव ग्रेटर इंडियन रिसर्च, १९१७-४२' (कलकत्ता, १९४३) में दिया गया है।

रेजिनाल्ड ले मे की 'बुद्धिस्ट आर्ट इन स्याम' (कैंब्रिज, १९३८) की प्रस्तावना का अंश, जो घोषाल की 'प्रोग्रेस ऑव ग्रेटर इंडियन रिसर्च' (कलकत्ता, १९४३) में उद्धृत है।

हिंदुस्तानी कला का हिंदुस्तानी धर्म और फ़िलसफ़े से इतना गहरा ताल्लुक़ है कि जबतक कोई उन आदर्शों की जानकारी न रखता हो, जो हिंदुस्तानी दिमाग़ को अपनी तरफ़ खींचते रहे हैं, तबतक उसके लिए इसका ठीक-ठीक समझना मुश्किल हो जाता है। जैसे संगीत में पूरबी और पच्छिमी कल्पनाओं के बीच एक खाई है, उसी तरह कला में भी है। शायद यूरप के मध्य-युग के महान कलाकार और निर्माता हिंदुस्तानी कला और शिल्प से ज़्यादा मेल खाते, बनिस्बत बाद के यूरोपीय कलाकारों के, जिन्होंने अपनी प्रेरणा रिनेसां और उसके बाद के युग से हासिल की है; क्योंकि हिंदुस्तानी कला में हमें बराबर एक धार्मिक प्रेरणा मिलती है, एक पार दृष्टि दिखाई देती है, जैसी शायद यूरप के बड़े गिरजाघरों के बनानेवालों में थी। सौंदर्य की कल्पना भाव-जगत में की गई है, वस्तु-जगत में नहीं। यह आत्मा से संबंध रखनेवाली चीज़ है, चाहे उसने कहीं वस्तु में सुंदर रूप और आकार ग्रहण कर लिया हो। यूनानियों को सौंदर्य से बड़ा प्रेम था और उसमें उन्हें सत्य ही नहीं मिलता था, बल्कि सत्य दिखता था। क़दीम हिंदुस्तानियों को भी सौंदर्य से प्रेम था, लेकिन वे अपनी कृतियों में सदा कोई गूढ़ अर्थ बिठाने की कोशिश में रहते थे—अंदरूनी सत्य की कोई ऐसी कल्पना, जिसका उन्हें आभास हुआ हो। उनकी रचनात्मक कृतियों की आला मिसालों को देखकर हमारे मन में प्रशंसा के भाव उठते हैं, चाहे हम उनके उद्देश्य या विचार को ठीक-ठीक समझ न सकें। ऐसी मिसालों में, जो उससे उतरकर हैं, कलाकार के मन में न पैठ सकने की और समझ पाने की वजह कभी हमें प्रशंसा में बाधक होती है। और एक ऐसी चीज़ को देखकर, जिसे आदमी समझ नहीं पाता, कुछ असंतोष, घबराहट और खिज भी होती है और दिमाग़ इस नतीजे पर पहुँचता है कि कलाकार अपना काम ठीक जानता न था या नाकामयाब रहा है। कभी-कभी तो नफ़रत पैदा हो जाती है।

मैं पूरबी या पच्छिमी कला के बारे में कुछ नहीं जानता और मुझे इस बात का अधिकार नहीं कि उसके बारे में कुछ कहूँ। उसके प्रति मेरे भाव ऐसे ही हैं, जैसे किसी अनसीखे मामूली आदमी के हों। कुछ चित्रों या मूर्तियों या इमारतों को देखकर दिल ख़ुशी से भर जाता है, या मुझ पर असर पड़ता है और एक अजीब भाव का अनुभव करता हूँ, या ये मुझे कम पसंद आते हैं, या उनका मुझ पर कोई असर नहीं होता और मैं उन्हें क़रीब-क़रीब अनदेखा करके आगे गुज़र जाता हूँ, या उनसे मुझे नफ़रत होती है। मैं इन प्रतिक्रियाओं को समझा नहीं सकता, न कला की चीज़ों के गुण और दोष को इत्मीनान के साथ बता सकता हूँ। लंका में अनुराधापुर की बुद्ध

मूर्ति का मुझ पर बड़ा असर पड़ा और उसकी एक तस्वीर बरसों तक मेरे साथ बराबर रही है। दूसरी तरफ़ दक्खिन हिंदुस्तान के कुछ मशहूर मंदिर हैं जो तफ़्सील और नक्काशी से अटे हुए हैं जिन्हें देखकर मुझे घबराहट होती है और मन में बेचैनी होती है।

यूनानी-परंपरा में शिक्षा पाये हुए यूरोपीयों ने शुरू में हिंदुस्तानी कला की यूनानी नजरिये से जांच की। गंधार और सरहदी सूबे की यूनानी-बौद्ध कला में तो उन्होंने कुछ बात देखी जो उनकी पहचानी हुई थी और हिंदुस्तान की कला को और कृतियों को उन्होंने इसीका गिरा हुआ रूप माना। रफ्ता रफ्ता एक नया नजरिया क़ायम हुआ और यह कहा जाने लगा कि हिंदुस्तानी कला में एक मौलिकता और जीवनी-शक्ति है, जो यूनानी बौद्ध-कला से नहीं हासिल हुई है बल्कि यूनानी-बौद्ध-कला खुद उसका एक हलका प्रतिबिंब है। यह नया नजरिया ज्यादातर इंग्लिस्तान को छोड़कर यूरोप के और मुल्कों से आया। यह एक अचरज की बात है कि हिंदुस्तानी कला की (और यह बात संस्कृत-साहित्य के बारे में भी ठीक उतरती है) जैसी क़द्र यूरोप के दूसरे मुल्कों में हुई वैसी इंग्लिस्तान में नहीं। मैंने अकसर सोचा है कि इंग्लिस्तान और हिंदुस्तान के बीच बदक़िस्मती से आज जो राजनैतिक रिश्ता है उसका कहांतक इस परिस्थिति में हाथ हो सकता है। शायद इसका कुछ हाथ तो है लेकिन फ़र्क़ के और भी ज्यादा बुनियादी कारण हो सकते हैं। यों बहुत से कलाकार विद्वान और दूसरे अंग्रेज हैं जो हिंदुस्तानी भाव नाओं और नजरिये के नजदीक पहुंच गये हैं और जिन्होंने हमारी पुरानी निधियों की खोज में और दुनिया के आगे उनकी व्याख्या करने में मदद दी है। बहुत-से और लोग भी हैं जिनकी दोस्ती और सेवा के लिए हिंदुस्तान एह-सानमंद है। फिर भी यह वाक़या रह ही जाता है कि हिंदुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच एक खाई है और यह बराबर बढ़ती जा रही है। हिंदुस्तान की तरफ़ से तो इस बात का समझ लेना कम-से-कम मेरे लिए, कुछ ज्यादा आसान है, क्योंकि हाल के जमाने में बहुत-सी ऐसी घटनाएं घटी हैं जिन्होंने हमारे दिलों में गहरे घाव कर दिये हैं। दूसरी तरफ़ शायद दूसरी ही वजहों से इसीसे मिलती जुलती प्रतिक्रिया हो और इस बात पर गुस्सा हो कि अपरचे उनकी राय में उनका कसूर नहीं रहा है फिर भी सारी दुनिया के आगे वे बदनाम कर दिए गये हैं। लेकिन यह जज्बा महज राजनैतिक नहीं है और खुद-ब-खुद जाहिर हो जाता है और सबसे ज्यादा यह इंग्लिस्तान के बुद्धि जीवी तबक़े के लोगों में मिलता है। उनके मुक़ाबले में हिंदुस्तानी आदमी मुझ

पाप[1] का एक खास प्रतीक है और उसके सारे कर्मों पर इस पाप की छाप है। एक लोकप्रिय अंग्रेज लेखक ने जिसे मुश्किल से अंग्रेजी विचारों या बुद्धि का नुमाइंदा कहेंगे एक पुस्तक हाल में लिखी है जो हिंदुस्तान की क़रीब-क़रीब सब चीज़ों के लिए हिकारत और नफ़रत से भरी हुई है। उससे एक ज़्यादा ऊँचे और प्रामाणिक अंग्रेज लेखक मि० ऑस्बर्ट सिटवेल ने अपनी किताब 'इस्केप विद मी' (१९४१) में कहा है कि "बावजूद उसकी अनेक और विविध अद्भुत चीज़ों के हिंदुस्तान का आदर्श एक नागवार ख़याल रहा है।" वह "हिंदू-कला की कृतियों की अक्सर घृणा पैदा करनेवाली चर्बी और चिपचिपी ख़ासियत" का भी ज़िक्र करते हैं।

हिंदुस्तानी कला या आमतौर से हिंदुस्तान के बारे में इस तरह की राय रखने का मि० सिटवेल को अख़्तियार है। मुझे यक़ीन है कि यही उनके सही जज़्बे हैं। हिंदुस्तान की बहुत-सी बातों से मुझे भी नफ़रत होती है। लेकिन सब-कुछ लेकर हिंदुस्तान के बारे में मेरे ये भाव नहीं हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि मैं हिंदुस्तानी हूँ और अपने से आसानी से नफ़रत नहीं कर सकता चाहे कितना अयोग्य मैं क्यों न होऊँ। लेकिन यह सवाल रायों का या कला के बारे में नज़रिये का नहीं है यह ज़्यादा करके एक पूरी क़ौम के खिलाफ़ जानकर और अनजान में नफ़रत का और ग़ैर-दोस्ताना जज़्बा है। क्या यह बात सही है कि जिन्हें हमने नुक़सान पहुँचाया है उन्हें हम नापसंद करते हैं और उनसे नफ़रत करने लगते हैं?

इन अंग्रेज़ों में जिन्होंने हिंदुस्तानी कला को पसंद किया है और उस पर राय क़ायम करने के लिए नई कसौटियाँ इस्तेमाल की हैं लारेंस बिनि-यन और ई० बी० हैवेल हैं। हिंदुस्तानी कला के आदर्शों और उसके तह के भावों के बारे में हैवल को ख़ासतौर पर उत्साह है वह इस बात पर ज़ोर देते हैं कि एक बड़ी क़ौमी कला के ज़रिये हमें क़ौम के विचार और स्वभाव का गहरा परिचय मिलता है लेकिन हम इस कला को तभी समझ सकते हैं जब हम उन आदर्शों को समझ लें जो उनके पीछे हैं। एक विदेशी हुकूमत करनेवाली क़ौम इन आदर्शों को न समझकर या उनकी बुराई करके मान-सिक विरोध के बीज बोती है। हिंदुस्तानी कला मुट्ठी-भर विद्वानों के संबो-धन के लिए नहीं रही है। इसका मक़सद यह रहा है कि हिंदू-धर्म और फ़िल-सफ़े के मरकज़ी ख़यालों को आम लोगों को समझाये। "इस शिक्षा के मक़सद को पूरा करने में हिंदू-कला कामयाब रही इसका अनुमान वाक़ये से ही

---

[1] बाइबिल के अनुसार जब हव्वा ने ज्ञानवृक्ष का फल खाया, तभी से पाप शुरू हुआ। ईसाई लोग इसीको 'मूल पाप' कहते हैं। —सं

जाता है (जो उन सबका माना हुआ है जो हिंदुस्तानी जिंदगी से परिचित हैं) कि हिंदुस्तानी गांववाले अगरचे वे पच्छिमी लोगों के मानों में निरक्षर और अनपढ़ हैं फिर भी अपने वर्ग के लोगों में दुनिया के किसी जगह के लोगों के मुक़ाबले में ज्यादा सभ्य हैं।

संस्कृत कविता और हिंदुस्तानी संगीत की तरह कला में भी यह माना जाता था कि कलाकार प्रकृति के सभी विभागों से एकमत होकर आदमी की प्रकृति और विश्व के साथ एकता का निरूपण करेगा। सारी एशियाई कला की यह खास बात रही है और इसीकी वजह से एशिया की कला में हमें एक तरह की एकता मिलती है बावजूद इसके कि क़ौमी फ़र्क और विभिन्नता इतनी ज़ाहिर है। हिंदुस्तान में अजंता की दीवारों पर बने हुए सुंदर चित्रों के अलावा पुरानी चित्रकारी ज्यादा नहीं मिलती। शायद इस कला का ज्यादा हिस्सा नष्ट हो गया है। हिंदुस्तान की विशेषता उसकी मूर्तिकला और स्थापत्य में है जिस तरह कि चीन और जापान की विशेषता उनकी चित्रकारी में है।

हिंदुस्तानी संगीत जो यूरोपीय संगीत से इतना मुख्तलिफ़ है, अपने तरीक़े पर बहुत तरक्क़ी कर चुका था और इसके लिए हिंदुस्तान मशहूर था और चीन और दूर पूरब के मुल्कों को छोड़कर इसने सारे एशिया के संगीत पर असर डाला था। इस तरह से संगीत ईरान अफ़ग़ानिस्तान अरब तुर्किस्तान और कुछ हद तक और इलाकों में जहां अरबी तहज़ीब फैली थी जैसे उत्तरी अफ़रीका इनके बीच की एक और कड़ी बन गया। हिंदुस्तान का शास्त्रीय संगीत शायद इन सब जगहों में पसंद किया जायगा।

कला के विकास में एशिया की और जगहों की तरह हिंदुस्तान में भी धार्मिक विचारों का एक खास असर पड़ा। हुई मूर्तियों के खिलाफ़ पड़ा। वेद मूर्ति-पूजा के विरोधी थे और बौद्ध ज़माने में भी बाद के दिनों में ही बुद्ध की मूर्तियां और तस्वीरें बनीं। मथुरा के अजायबघर में बोधिसत्व की एक बहुत बड़ी पत्थर की मूर्ति है, जिसमें बड़ा दम-ख़म है। यह ईस्वी संवत के शुरू के कुषाण ज़माने की है।

गुप्त के ज़माने में हिंदुस्तानी कला हमें प्रकृतिवाद से भरी हुई मिलती है या कुछ अंशों में चीनी प्रभावों की वजह से हो सकता है। हिंदुस्तानी कला के इतिहास की मुख्तलिफ़ मंज़िलों पर हमें चीनी असर दिखाई देते हैं आमतौर पर प्रकृतिवाद की तरक्क़ी देनेवाले इसी तरह हिंदुस्तानी आदर्श

ई० बी० हैवेल : 'दि आइडियल्स ऑव इंडियन आर्ट' (१९२०) पृ० १९ भूमिका।

बाद में चीन और जापान में जाकर ख़ास ज़मानों में बड़ा ज़बरदस्त असर डाला।

चौथी से छठी सदियों के बीच गुप्तों के ज़माने में जो हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाया है, अजंता की गुफाएं खोदी गई और उनकी दीवारों पर चित्र बनाये गये। बाघ और बादामी की गुफाएं भी इसी ज़माने की हैं। अजंता की दीवार पर बनी तस्वीरें बड़ी सुंदर हैं और जबसे उनकी खोज हुई है उन्होंने हमारे आजकल के कलाकारों पर गहरा असर डाला है और ये ज़िंदगी से मुड़कर अजंता की शैली की नक़ल में पड़ गये हैं। यह इसके अच्छे नतीजे नहीं हैं।

अजंता हमें एक दूर की सपन-जैसी पुर की लेकिन बहुत वास्तविक दुनिया में पहुंचा देता है। दीवाल पर बने ये चित्र बौद्ध भिक्खुओं के बनाये हुए हैं। बहुत दिन पहले उनके स्वामी बुद्ध ने बताया था कि स्त्रियों से दूर रहो उनकी तरफ़ देखो तक नहीं क्योंकि वे ख़तरनाक हैं। फिर भी हम पाते हैं कि यहां स्त्रियों की कमी नहीं है—सुंदर स्त्रियां राज-कन्याएं, गानेवाली नाचनेवाली बैठी और खड़ी शृंगार करती हुई या जुलूस के साथ जाती हुई स्त्रियां हमें मिलती हैं। अजंता की स्त्रियां मशहूर हो गई हैं। इन कलाकार भिक्खुओं का दुनिया से और इस ज़िंदगी के चलते-फिरते नाटक से कितना गहरा परिचय था कितने प्रेम से उन्होंने ये चित्र बनाये हैं। ये चित्र उन्होंने उसी तरह बनाये हैं जिस तरह कि उन्होंने बोधिसत्व की प्रशांत और लोकोत्तर महिमा का चित्रण किया है।

सातवीं और आठवीं सदियों में ठोस चट्टानों को काटकर एलोरा की विशाल गुफाएं तैयार हुईं, जिनके बीच में कैलास का बहुत बड़ा मंदिर है। इन्सान ने इसकी कल्पना किस तरह की और कल्पना करने के बाद उसे किस तरह साकार किया इसका सोचना कठिन है। इसी ज़माने की एलीफैंटा की गुफाएं भी हैं जहां त्रिमूर्ति की ज़बरदस्त और रहस्यमयी मूर्ति बनी हुई है। दक्खिन हिंदुस्तान में महाबलिपुरम की इमारतें भी इसी ज़माने की हैं।

एलीफैंटा की गुफा में नटराज शिव की एक टूटी हुई मूर्ति है, जिसमें शिव नाचने की मुद्रा में दिखाये गये हैं। हैवेल का कहना है कि अपनी टूटी हुई हालत में भी यह बड़ी ज़बरदस्त मूर्ति है और इसकी कल्पना विशाल है "नृत्य की लयमय गति से जमरचे पट्टान तक प्रतिध्वनित जान पड़ती है, फिर भी सिर को देखने से उसी सौम्य और शांत और निर्विकार प्रकृति का आभास होता है जिससे बुद्ध का मुख आलोकित रहता है।
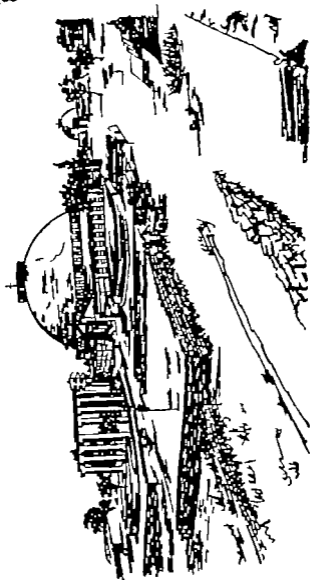
साँची का स्तूप

ब्रिटिश म्यूज़ियम में एक दूसरी मूर्ति नटराज शिव की है और इसके बारे में एप्स्टीन ने लिखा है—"लोक का सृजन करते हुए और उसका विनाश करते हुए शिव नाच रहे हैं। उनकी विशाल लयमयता युगों की कल्पना सामने ले आती है और उनकी गति में मंझधार की-सी निठुर चालू भरी शक्ति है। ब्रिटिश म्यूज़ियम के इस छोटे-से संग्रह में हमें प्रेम की साधना में मृत्यु की अभिव्यक्ति की मर्मांतक मिसाल मिलती है और मनुष्य के मनोवेगों में जो क़िस्मत का फ़ैसला करनेवाला युद्ध है उसका जैसा निचोड़ यहां मिलता है वैसा किसी दूसरी कृति में नहीं मिलता। इन महान कृतियों के मुक़ाबले में हमारे यूरोपीय प्रतीक शुष्क और बेजान जान पड़ते हैं इनमें प्रतीकपने का आडंबर नहीं ये सार-वस्तु पर ज़ोर देती हैं इनमें विशेष मूर्तिमत्ता है। [1]

जावा के बोरोबुदर का बोधिसत्त्व का एक सिर है, जो कोपेनहेगन के ग्लिप्टोटेक में पहुंच गया है। रूप-रेखा की दृष्टि से तो यह सुंदर है ही लेकिन जैसाकि हैवेल ने कहा है, इसमें कुछ और गहरी बात है जो बोधिसत्त्व की विशुद्ध आत्मा को इस तरह दिखलाती है जैसे दर्पण में कोई देखे। "यह एक ऐसा चेहरा है जिस पर समुद्र की गहराइयों की प्रशांति बिना बादल के नीले आसमान का निर्मलपन और इन्सानी निगाह से दूर का परम सौंदर्य साकार हुआ है।

हैवेल आगे लिखते हैं—"जावा की हिंदुस्तानी कला अपनी एक विशेषता रखती है जो उसे उस महाप्रदेश की कला से जुदा करती है, जहां से यह आई थी। दोनों में वही गहरी प्रशांति मिलती है लेकिन जावा के दिव्य-आदर्शों में हमें वे तपस्या के भाव नहीं मिलते जो एलीफ़ेंटा और महाबलिपुरम के हिंदू-शिल्प की विशेषता हैं। हिंदी जावाई कला में मानवी संतोष और आनंद का भाव ज़्यादा है और यह टापुओं में बसे हुए नौआबाद हिंदुस्तानियों की अपने महाप्रदेश में पूर्वजों के सदियों के संघर्ष के बाद हासिल शांति और ख़ुशी की ज़िंदगी का इज़हार करती है।"

## १९ हिंदुस्तान का विदेशी व्यापार

ईसवी संवत के पहले एक हज़ार बरसों में हिंदुस्तान का व्यापार बराबर ख़ूब फैला हुआ था और हिंदुस्तानी व्यापारी बहुत-सी विदेशी मंडियों पर क़ब्ज़ा किये हुए थे। यह व्यापार पूर्वी समुद्र के देशों में तो ख़ूब होता ही था उधर यह भूमध्य सागर के देशों तक फैला हुआ था। काली मिर्च

---

[1] एप्स्टीन : 'लेट देयर बी स्कल्पचर' (१९४२) पृ. १९५।

[2] हैवेल : 'दि आइडियल्स ऑव इंडियन आर्ट' (१९२०) पृ. १९१।

और मसाले हिंदुस्तान से या हिंदुस्तान होकर पच्छिम को जाते थे। ये अक्सर हिंदुस्तानी या चीनी जहाज़ों में जाते और यह कहा जाता है कि गोथ अलेरिक रोम से । पौंड काली मिर्च ले गया था। रोमन लेखकों ने यह शिकायत की है कि रोम से हिंदुस्तान और दूर के देशों में बहुत-सी आमोद-प्रमोद की चीज़ों के बदले में सोना बहकर जाता था।

यह व्यापार ज़्यादातर, क्या हिंदुस्तान में और क्या दूसरी जगह, उन सामग्रियों के अदल-बदल का होता था जो मुकामी तौर पर पाई जाती थीं। हिंदुस्तान की ज़मीन उपजाऊ थी और यहां कुछ चीज़ें बहुतायत से होती थीं, जो दूसरी जगहों में नहीं होती थीं और चूंकि उसके लिए समुद्र का रास्ता सुगम था, इस रास्ते से वह चीज़ें विदेशों में भेजता था। वह व्यापार की चीज़ें पूर्वी समुद्रों से लाकर भी बाहर पहुंचाता था और इस तरह ढुलाई के व्यापार से भी फ़ायदा उठाता था। लेकिन इसके अलावा भी बातें उसके हक़ में थीं। बहुत पुराने ज़माने से वह कपड़ा तैयार करता रहा है, उस ज़माने से जबकि बहुत-से दूसरे मुल्क इस धंधे को नहीं जान सके, इसलिए यहां पर कपड़े का धंधा तरक़्क़ी कर गया था। हिंदुस्तानी बुना हुआ कपड़ा दूर-दूर देशों में जाया करता था। बहुत शुरू के ज़माने से यहां रेशमी कपड़ा भी बनता रहा है, अगरचे शायद वह चीनी रेशम-जैसा अच्छा न होता था जो ईसा से पहले की चौथी सदी से ही यहां लाया जाता रहा है। हिंदुस्तानी रेशम के व्यवसाय ने यहां बाद में तरक़्क़ी की होगी, हालांकि जान पड़ता है कि यह बहुत खास तरक़्क़ी न रही होगी। कपड़े रंगने की कला में अलबत्ता खास तरक़्क़ी हुई जान पड़ती है और पक्के रंग तैयार करने के यहां खास तरीक़े खोज निकाले गए थे। इनमें से एक नील का रंग था जिसे अंग्रेज़ी में 'इंडिगो' कहते हैं। यह शब्द 'इंडिगो' से निकला है और यूनान के ज़रिये आया है। शायद इस रंगाई के धंधे की जानकारी ने हिंदुस्तान के विदेशों से व्यापार को बहुत आगे बढ़ाया।

ईसवी सन की शुरू की सदियों में रसायन-शास्त्र हिंदुस्तान में और मुल्कों के मुक़ाबले में शायद ज़्यादा तरक़्क़ी कर चुका था। इसके बारे में मेरी जानकारी बहुत कम है, लेकिन हिंदुस्तानी रसायन-शास्त्रियों और वैज्ञानिकों के प्रमुख सर पी० सी० राय ने, जिन्होंने हिंदुस्तानी वैज्ञानिकों की कई पीढ़ियां तैयार की हैं, एक किताब 'हिस्ट्री ऑव हिंदू केमिस्ट्री' लिखी है। उस ज़माने में रसायन-शास्त्र कीमियागरी और धातु-शास्त्र से बहुत ताल्लुक रखता था। एक मशहूर हिंदुस्तानी रसायन और धातु-शास्त्री नागार्जुन हुआ है और नामों की समानता की वजह से कुछ लोगों ने गुमान किया है

कि यही पहली सदी ईसवी का बड़ा फ़िलसूफ़ था । लेकिन इस बात में बड़ा शुबहा है ।

क़दीम हिंदुस्तानी फ़ौलाद को ताव देना जानते थे और हिंदुस्तानी फ़ौलाद और लोहे की दूसरे मुल्कों में क़द्र होती थी खासतौर पर लड़ाई के कामों में । बहुत-सी और धातुओं की यहां लोगों को जानकारी थी और औषधि के लिए धातुओं के यौगिक तैयार किये जाते थे । कई सीपने और कंकड़ पत्थर फूंककर चूना बनाने का काम लोगों को अच्छी तरह मालूम था । औषधि विज्ञान ने काफ़ी तरक्की कर ली थी । मध्य-युग तक प्रयोगों में खासी तरक्की होती रही मगरचे ये प्रयोग ज्यादातर पुरानी किताबों के आधार पर हुआ करते थे । शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान का अध्ययन होता था और खून की गरदिश की बात हार्वे से बहुत पहले सुझाई जा चुकी थी ।

ज्योतिर्विज्ञान जो सबसे पुराना विज्ञान है विश्वविद्यालयों के पाठ्य क्रम का एक नियमित अंग था और अकसर इसे फलित ज्योतिष से मिला-जुला दिया जाता था । एक बहुत शुद्ध पंचांग तैयार किया जा चुका था और यह अब भी चलता है । यह सौर-पंचांग है, जिसमें महीनों की गिनती चंद्रमा के हिसाब से होती है जिसकी वजह से इसे समय-समय पर ठीक करने की ज़रूरत पड़ती है । और जगहों की तरह यहां भी पुरोहितों या ब्राह्मणों के हाथों में यह पंचांग होता था और वे मौसम के त्योहारों को निश्चित करते और सूर्य ग्रहणों के ठीक-ठीक वक्त बताते थे । वे मौके भी त्योहार-जैसे ही हुआ करते थे । इस ज्ञान से फ़ायदा उठाकर वे जनता में विश्वासों को उत्पन्न करने और उन्हें पूजा-पाठ में लगाते (जिसे वे खुद निश्चय ही अंधविश्वास समझते रहे होंगे) और इस तरह अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते थे । ज्योतिर्विज्ञान का ज्ञान असली तौर पर उन लोगों के बड़े काम का होता जो समुद्री-यात्रा पर निकलते । क़दीम हिंदुस्तानियों को ज्योतिर्विज्ञान की अपनी तरक्की पर गर्व रहा है । उनके अरब-ज्योतिर्विज्ञान से संपर्क थे जो ज्यादातर सिकंदरिया में केंद्रित था ।

यह बताना मुश्किल है कि यंत्रों ने कहांतक तरक्की की थी लेकिन जहाजों का बनाना एक ऐसा व्यवसाय था जो खूब चलता था । और भी तरह-तरह के 'यंत्रों' के हवाले मिलते हैं खासतौर पर लड़ाई में काम आनेवाले यंत्रों के । कुछ उत्साही और विश्वासी हिंदुस्तानियों ने इससे तरह-तरह के पेचीदा यंत्रों की कल्पना कर ली है । फिर भी यह मालूम पड़ता है कि औज़ारों के इस्तेमाल में और रसायन-शास्त्र और धातु-शास्त्र की जानकारी में हिंदुस्तान किसी भी मुल्क के मुक़ाबले में पिछड़ा हुआ न था । इसस व्यापार के

मामले में उसे फ़ायदा पहुंचा और कई सदियों तक वह कई विदेशी मंडियों को अपने क़ाबू में रख सका ।

शायद एक बात और उसके माफ़िक़ पड़ती थी—गुलाम मज़दूरों का न होना, जबकि इस तरह की प्रथा यूनानियों की और दूसरी क़दीम तहज़ीबों की तरक्की में बाधक रह चुकी थी । वर्ण-व्यवस्था में चाहे जैसी बुराइयां रही हों, सबसे नीचे तबक़े के लोगों के लिए भी गुलामी के मुक़ाबले में काफ़ी ग़नीमत थी । हर एक जात के अंदर तो बराबरी और एक हद तक आज़ादी थी, हर एक जात अपने पेशे के आधार पर क़ायम हुई थी और अपने ख़ास काम में लगती थी । इससे जिस काम में भी एक ख़ास हुनर होता, उसे ख़ास महारत हासिल हो जाती और हुनर के धंधेवालों को काम की विशेषता हासिल होती ।

## २० क़दीम हिंदुस्तान में गणित-शास्त्र

चूंकि क़दीम हिंदुस्तानी ऊंचे दिमाग़वाले और सूक्ष्म बातों पर सोच-विचार करनेवाले लोग थे, इसलिए हमें उम्मीद ही करनी चाहिए कि वे गणित-शास्त्र में बढ़े-चढ़े रहे होंगे । यूरोप ने शुरू में अंक-गणित और बीज-गणित अरबों से सीखा—इसीसे उन्होंने संख्याओं को 'अरबी संख्याओं' का नाम दिया—लेकिन अरबों ने ख़ुद उन्हें पहले हिंदुस्तान से सीखा था । हिंदुस्तानियों ने गणित में जो अचरज-भरी तरक्की की थी, उसे अब लोग अच्छी तरह से जानते हैं और यह माना जाता है कि अंक-गणित और बीज-गणित की बुनियाद बहुत पहले ही हिंदुस्तान में पड़ी थी । गिनती के चौखटे की मदद से गिनने के भद्दे तरीक़े और रोमन और इसी तरह की संख्याओं के इस्तेमाल ने बहुत दिनों तक तरक्की को रोक रखा था, जबकि शून्य-चिह्न मिलाकर दस हिंदुस्तानी अंकों ने इन्सान के दिमाग़ को इन बंधनों से आज़ाद कर दिया और अंकों के आचरण पर बहुत रोशनी डाली । अंकों के ये चिह्न और मुल्कों में इस्तेमाल किये जानेवाले चिह्नों से बिल्कुल जुदा थे । आज ये इतने आम हैं कि हम उन्हें माने बैठे हैं, लेकिन उनमें क्रांतिकारी तरक्की के बीज थे । हिंदुस्तान से बग़दाद होते हुए पच्छिमी दुनिया में पहुंचने में इन्हें सदियां लग गईं ।

डेढ़ सौ साल हुए, नेपोलियन के ज़माने में लाप्लास ने लिखा था—

*यह हिंदुस्तान है, जिसने हमें सभी संख्याओं को दस चिह्नों के ज़रिये प्रकट करने का प्रतिभापूर्ण तरीक़ा बताया, जिसमें हर एक चिह्न का एक अपना मूल्य है और एक उसके स्थान की वजह से मिला हुआ मूल्य है । यह एक गहरा और अहम ख़याल है, जो अब हमें इतना सीधा-सादा जान पड़ता है कि हम*

उसकी सही खूबियों को भूल जाते हैं। लेकिन इसकी सादगी ही से जो आसानी हमारी गिनतियों में हो गई है उसने अंक-गणित को उपयोगी आविष्कारों की पहली कोटि में ला दिया है और हम इस कारनामे के महत्व को तब समझेंगे जब हम यह याद रखेंगे कि कदीम जमाने के दो सबसे बड़े लोगों यानी आर्कमीडिस और अपोलोनियस की प्रतिभा से भी यह विचार बच निकला था।[1]

हिंदुस्तान में ज्यामिति अंक-गणित और बीज-गणित की शुरुआत हमें बहुत कदीम जमाने तक पहुंचा देती है। शायद शुरू में वैदिक वेदियों पर चित्रों के बनाने में एक तरह के ज्यामितीय बीज-गणित का इस्तेमाल किया जाता था। सबसे प्राचीन किताबों में एक वर्गाकार को आयत में जिसकी एक भुजा दी गई हो बदलने की रीति बताई गई है (अ क्ष—स)। हिंदू संस्कारों में ज्यामिति-चित्र अब भी आमतौर से इस्तेमाल में आते हैं। ज्यामिति ने हिंदुस्तान में तरक्की जरूर की लेकिन इस विषय में यूनान और सिकंदरिया आगे बढ़ गये। अंक-गणित और बीज-गणित में ही हिंदुस्तान आगे बना रहा। स्थान-मूल्य की दशमलव-विधि और शून्यांक के आविष्कारक या आविष्कारकों का पता नहीं। शून्यांक के सबसे पहले प्रयोग का जो अबतक पता लगा है वह लगभग २ ई पू के एक शास्त्रीय ग्रंथ में है। यह मुमकिन समझा जाता है कि स्थान-मूल्य का तरीका ईसाई संवत के शुरू के लगभग ईजाद किया गया। शून्य जिसके मानी कुछ नहीं के हैं शुरू में एक बिंदी या नुक्ते की शक्ल में था। बाद में यह एक छोटे वृत्त की शक्ल में बदल गया। यह और अंकों की तरह एक अंक समझा जाता था। प्रोफेसर हाल्स्टेड ने इसके गहरे महत्व के बारे में इस तरह लिखा है—"शून्य के चिह्न की रचना के महत्व को चाहे जितना बढ़ाकर कहा जाय अत्युक्ति न होगी। एक ऐसी चीज को जो हवाई और कुछ न हो एक स्थिति और नाम दे देना एक चित्र और प्रतीक में बदल देना जिसमें मदद करने की शक्ति आ जाय हिंदू जाति की ही विशेषता है जहां इसका जन्म हुआ। यह निर्वाण को बिजली पैदा करनेवाले यंत्रों में डाल देने जैसी बात है। गणित की कोई भी ईजाद बुद्धि और शक्ति को आम-तौर पर आगे बढ़ाने में इतनी कारगर नहीं हुई है।[2]

[1] हाग्बेन की 'मैथमेटिक्स फ़ार दि मिलियन' (लंदन १९४२) में उद्धृत।

[2] जी बी हाल्स्टेड की 'आन दि फाउंडेशन ऐंड टेक्नीक ऑव अरिथमेटिक' (शिकागो १९१२) पृष्ठ २० बी दत्त और ए एन सिंह की 'हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथमेटिक्स' (१९३५) में उद्धृत।

इस तारीख़ी घटना को लेकर इस ज़माने के एक और गणितज्ञ ने बड़ी ज़ोरदार प्रशंसा की है। डानज़िग अपनी पुस्तक 'नंबर' में लिखते हैं—"पांच हज़ार साल के इस लंबे ज़माने में न जाने कितनी तहज़ीबें उठीं और गिरीं और इनमें से हर एक अपने साहित्य, कला, फ़िलसफ़े और मज़हब की विरासत छोड़ गई। लेकिन गिनती के मैदान में, जो इन्सान की पहली कला रही है, सब-कुछ मिलाकर उनके क्या कारनामे रहे? गिनती का ढंग इतना भौंडा और ग़ैर-लचीला था कि तरक़्क़ी को ग़ैर-मुमकिन बना देनेवाला, और जोड़ने के ढंग इतने महदूद कि मामूली हिसाब के लिए भी विशेषज्ञ की मदद लेनी पड़े। आदमी इन तरीक़ों को हज़ारों साल तक इस्तेमाल में लाता रहा, लेकिन इनमें कोई मार्के का सुधार न कर सका, इसमें एक भी मतलब का विचार न जोड़ सका। यह सही है कि अंधेरे युगों में विचार बहुत धीरे-धीरे तरक़्क़ी करते थे, फिर भी इनके मुक़ाबले में गिनती के इतिहास को देखा जाय, तो आमतौर पर गतिहीन और अटका हुआ जान पड़ता है। इस नज़र से देखने से उस अनजाने हिंदू का कारनामा, जिसने हमारे संवत की पहली सदियों में किसी वक़्त स्थान-मूल्य के सिद्धांत को ईजाद किया, एक लोक-व्यापी महत्व का कारनामा हो जाता है।"[1]

डानज़िग को ताज्जुब इस बात का है कि यूनान के बड़े गणितज्ञों ने न जाने इसकी ईजाद क्यों न की। "क्या यह बात है कि यूनानी प्रयोगात्मक विज्ञान को हेठा समझते थे और अपने बच्चों की तालीम तक को गुलामों के सिपुर्द कर देते थे? अगर ऐसा है, तो यह कैसे हुआ कि जिस क़ौम ने हमें ज्यामिति दी और उसे इतना आगे बढ़ाया, वह बीज-गणित के मोटे सिद्धांत भी हमें न दे सकी? क्या यह इतने ही ताज्जुब की बात नहीं कि बीज-गणित भी, जो आजकल के गणित का बुनियादी पत्थर है, हिंदुस्तान में उपजा और क़रीब-क़रीब उसी वक़्त, जबकि स्थान-मूल्य की ईजाद हुई?"

प्रोफ़ेसर हागबेन ने इस सवाल के जवाब में यह सुझाव दिया है—"[illegible] न हो, हम दिशा में क़दम क्या बढ़ाया, क्यों अपने प्राचीन गणितज्ञों ने ऐसा नहीं किया, क्या व्यावहारिक मनुष्यों द्वारा यह बन सका, इस बात को समझने की कोशिश का हम यत्न न कर सकेंगे, अगर हम बौद्धिक उन्नति को कुछ प्रतिभावान मनुष्यों की कोशिशों का नतीजा समझते रहेंगे, बजाय इसके कि हम उन [illegible] और विचार के पूरे सामाजिक संगठन का नतीजा समझें, [illegible] प्रतिभावानों के लिए होता है।[1] ईसवी के लग-

[1] एल० हागबेन की 'मैथेमैटिक्स फ़ार दि मिलियन' (लंदन १९४२) में उद्धृत।

भग हिंदुस्तान में जो हुआ है, वह पहले भी हो चुका है। हो सकता है कि यह इस वक्त रूस में हो रहा हो। इस सत्य को मानने का अर्थ यह है कि अगर कोई संस्कृति आम जनता की तालीम की तरफ उतना ही ध्यान नहीं देती, जितना कि वह विशेष प्रतिभावाले लोगों की तरफ देती है, तो यह समझना चाहिए कि उसके विनाश का बीज उसीके अंदर है।[1]

तब हमें मान लेना होगा कि ये मार्के की ईजादें किसी ऐसे प्रतिभा-वाले व्यक्ति की क्षणिक सूझ का नतीजा नहीं हैं, जो अपने समकालीनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था, बल्कि यह कि वे दरअसल सामाजिक परिस्थितियों का नतीजा हैं और अपने जमाने की लगातार मांग के जवाब में थीं। इस मांग को पूरा करने के लिए ऊंचे दर्जे की प्रतिभा की यकीनी तौर पर जरूरत थी, लेकिन अगर यह मांग मौजूद न रही होती तो कोई रास्ता निकालने की प्रेरणा ही न हुई होती और अगर यह ईजाद हुई भी होती तो इसे लोग या तो भुला देते या उस वक्त तक के लिए रख छोड़ते जब इसकी जरूरत आकर पड़ती। संस्कृत के शुरू के गणित-संबंधी ग्रंथों से यह साफ जाहिर है कि मांग मौजूद थी, क्योंकि इन ग्रंथों में व्यापार के और ऐसे समाजी ताल्लुकों के सवाल भरे पड़े हैं जिनमें टेढ़े-मेढ़े जोड़ लगाने पड़ते थे। कर, उधार और सूद के मसले हैं, साझेदारी के, चीजों के अदल-बदल और लेन-देन के और सोने की परख और तौल-कांटे के मसले भी मिलते हैं। समाज जटिल हो चुका था और सरकारी धंधों में और लंबे रोजगारों में बहुत-से लोग लगे हुए थे। हिसाब के सीधे तरीकों के जाने बिना काम चलाना गैर-मुमकिन था।

शून्यांक और स्थान-मूल्यवाली दशमलव विधि को कबूल कर लेने से हिंदुस्तान में अंक-गणित और बीज गणित की तरक्की के दरवाजे तेजी से खुल गये। भिन्न और भिन्न राशियों के गुणा व भाग प्रचलित हुए, त्रैराशिक निकला और उसे पूर्ण बनाया गया, घन और वर्गमूल, उसके साथ-साथ वर्गमूल का चिह्न (√) निकला, घन और घनमूल, ऋण-चिह्न, ज्या की तालिकाएं उपयोग में आईं, वृत्त की परिधि तथा व्यास के अनुपात π का मूल्य ३.१४१६ ठहराया गया, अज्ञात राशियों के लिए बीज-गणित में वर्णमाला के अक्षरों का इस्तेमाल हुआ, सामान्य और वर्ग समीकरण का विचार उठा, शून्यांक के गणित की छान-बीन हुई। शून्यांक की परिभाषा इस तरह दी गई: अ — अ = ०, अ + ० = अ, अ — ० = अ

[1] हाग्बेन, 'मैथेमेटिक्स फ़ार दि मिलियन' (लंदन १९४२) पृष्ठ २८५।

अ × ० = अ — अनंत संख्या । ऋण राशियों की कल्पना भी की गई है । इस तरह $\sqrt{४} = २\pm$ ।

गणित की ये और दूसरी प्रगतियां पांचवीं से बारहवीं सदी के बीच होनेवाले अनेक मशहूर गणितज्ञों की पुस्तकों में दी गई हैं । इससे पहले के भी ग्रंथ हैं (ईसा से पहले की आठवीं सदी के लगभग का 'बौधायन' ईसा से पहले की पांचवीं सदी के 'आपस्तंब' और 'कात्यायन') जिनमें ज्यामिति के प्रश्नों खासतौर पर त्रिभुज आयत और वर्ग के सवालों को बताया गया है । लेकिन बीज-गणित पर जो सबसे पुरानी पुस्तक मिलती है वह प्रसिद्ध ज्योतिर्विद आर्य भट्ट की है, जिसका जन्म ४७६ ई० में हुआ था । ज्योतिष और गणित पर उसने अपनी किताब जब लिखी तब उसकी उम्र सिर्फ २३ साल की थी । आर्य भट्ट ने जिसे कभी-कभी बीज-गणित का ईजाद करनेवाला बताया जाता है अपने से पहले के लेखकों से कम-से-कम कुछ अंशों में मदद ली होगी। हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र में दूसरा बड़ा नाम जो आता है वह है भास्कर प्रथम का (५२२ ई० ) और उसके बाद ब्रह्मगुप्त (६२८ ई० ) हुआ । वह भी एक ज्योतिर्विद था । उसने शून्यांक के नियमों का बयान किया और इस विद्या में और भी तरक्की की । इसके बाद लगातार कई गणितज्ञ हुए हैं जिन्होंने अंक-गणित और बीज-गणित पर पुस्तकें लिखी हैं । आखिरी बड़ा नाम भास्कर द्वितीय का है, जिसका जन्म १११४ ई० में हुआ था । उसने ज्योतिर्विज्ञान बीज-गणित और अंक-गणित इन पर तीन पुस्तकें लिखी हैं । उसकी गणित की पुस्तक का नाम 'लीलावती' है, जो गणित की किताब के लिए कुछ अनूठा नाम है क्योंकि यह एक औरत का नाम है । इस किताब में एक लड़की के बार-बार हवाले आते हैं जिसे 'ऐ लीलावती' करके पुकारा गया है उसके बाद किसी दिये गये सवाल को समझाया गया है । यह खयाल किया जाता है (अगरचे इसका सबूत नहीं है) कि लीलावती भास्कर की बेटी थी । किताब की शैली साफ और सादी है और ऐसी है कि उसे छोटी उम्र के लोग समझ सकें । यह किताब संस्कृत स्कूलों में कुछ हदतक अपनी शैली के कारण अब भी इस्तेमाल में आती है ।

गणित-शास्त्र की किताबें (नारायण ११५० गणेश १५४५) बनती रहीं लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि जो काम हो चुका था उसे इनमें महज दुहराया गया है । हिंदुस्तान में गणित-शास्त्र में बारहवीं सदी के बाद जब तक कि हम मौजूदा जमाने तक नहीं आ जाते हैं मौलिक काम बहुत थोड़ा हुआ है ।

आठवीं सदी में खलीफा अलमंसूर के राजकाल में (७५३-७७४) कई

हिंदुस्तानी विद्वान बग़दाद गये और जिन किताबों को वे अपने साथ ले गये थे उनमें ज्योतिर्विज्ञान और गणित की भी किताबें थीं। शायद इससे पहले भी हिंदुस्तानी गिनती के अंक बग़दाद पहुंच चुके थे लेकिन यह पहला नियमित संपर्क था और ख़लीफ़ा हारूँ-अल-रशीद के हुक्म से हिंदुस्तानी किताबों के अरबी तरजुमे हुए। इन्होंने अरबी दुनिया में गणित और ज्योतिष की तरक्की पर असर डाला और वहां हिंदुस्तानी अंक प्रचलित हुए। बग़दाद उस ज़माने में इल्म का एक बड़ा केंद्र था और यूनानी और यहूदी आलिम वहां जमा हुए थे और इन लोगों के साथ-साथ यूनानी फ़िलसफ़ा ज्यामिति और विज्ञान वहां पहुंचे थे। बग़दाद का सांस्कृतिक असर मध्य-एशिया से लेकर स्पेन तक सारी इस्लामी दुनिया में पहुंचा था और इस तमाम हिस्से में अरबी तरजुमों के ज़रिये हिंदुस्तानी गणित-शास्त्र का ज्ञान फैल गया था। अरब इन अंकों को 'हिंदसा' कहते थे और अंकों के लिए अरबी शब्द 'हिंदसा' ही है जिसके माने हैं 'हिंद से आया हुआ'।

अरबी दुनिया से यह नई गणित शायद स्पेन के मूर विश्वविद्यालयों के ज़रिये यूरोपीय मुल्कों में पहुंची और यूरोपीय गणित-शास्त्र की इससे बुनियाद पड़ी। यूरोप में इन नये 'हिंदसा' का विरोध हुआ। वे काफ़िरों के निशान समझे जाते थे और उनके आमतौर पर इस्तेमाल में आने में कई सौ साल लग गये। सबसे पहला इस्तेमाल जो हुआ वह सिसली के एक सिक्के में ११३४ ई॰ में हुआ। इंग्लिस्तान में इसका पहला इस्तेमाल १४९० में हुआ।

यह साफ़ मालूम पड़ता है कि हिंदुस्तानी गणित की जानकारी और ख़ासतौर पर अंकों के स्थान-मूल्य की पद्धति की जानकारी पच्छिमी एशिया में बग़दाद में हिंदुस्तानी विद्वानों के जाने से पहले पहुंच चुकी थी। सीरिया के एक विद्वान भिक्षु ने जिसका सीरियनों को हिक़ारत से देखनेवाले कुछ यूनानी विद्वानों के ग़रूर से दिल बहुत दुखा था, उनकी एक शिकायत में कुछ दिलचस्प वाक्य लिखे हैं। उसका नाम सेवेरस सेबोख़्त था और वह फ़रात नदी के किनारे के एक धर्माश्रम में रहा करता था। उसने ६६२ ई॰ में लिखा है और यह बताने की कोशिश की है कि सीरिया के लोग यूनानियों से किसी तरह घटकर नहीं हैं। मिसाल के तौर पर वह हिंदुस्तानियों का हवाला देता है—"मैं हिंदुओं के विज्ञान का बयान बिल्कुल न करूंगा जो सीरियनों-जैसे लोग नहीं हैं, ज्योतिर्विज्ञान की उनकी सूक्ष्म खोजों को जो यूनानियों और बैबिलोनियावालों की खोजों से कहीं बढ़कर हैं न बताऊंगा। उनकी गणना का तो बयान ही नहीं हो सकता। मैं सिर्फ़ यह बताना चाहूंगा कि यह गणना नौ चिह्नों के सहारे की जाती है। अगर यूनानी भाषा बोलने ही की वजह

से कोई समझता हो कि वह सारा विज्ञान जान गया है तो उसे ये बातें भी जाननी चाहिए। तब उसे पता चलेगा कि दूसरे लोग भी हैं, जो कुछ जानते हैं।[1]

हिंदुस्तान के गणित का जिक्र करते हुए हाल के जमाने के एक असाधारण व्यक्ति की बरबस याद आती है। यह श्रीनिवास रामानुजम थे। दक्खिन हिंदुस्तान के एक ग़रीब ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर और उचित शिक्षा न पाकर वह मद्रास पोर्ट ट्रस्ट में क्लर्क हो गये। लेकिन उनमें कुदरती प्रतिभा का एक न दब सकनेवाला गुण था और वह अपने फ़ुरसत के वक्तों में अंकों और उनके समीकरण से अपना जी बहलाया करते थे। खुश किस्मती से एक गणितज्ञ का ध्यान इस पर गया और उसने इनका कुछ काम इंग्लिस्तान में कैंब्रिज भेज दिया। वहां के लोगों पर इसका असर पड़ा और उनके लिए एक वजीफ़े का इंतजाम कर दिया गया। इस तरह उन्होंने अपनी क्लर्की छोड़ी और वह कैंब्रिज चले गये। थोड़े ही समय में उन्होंने वहां कुछ बड़ा अहम और मौलिक काम पेश किया। इंग्लिस्तान की रायल सोसायटी ने अपने कायदों को तोड़कर उन्हें अपना एक 'फ़ेलो' चुन लिया लेकिन वह दो साल बाद ३३ साल की उम्र में शायद तपेदिक से मर गये। मेरा खयाल है कि जूलियन हक्सले ने उनके बारे में कहीं कहा है कि वह इस सदी के सबसे बड़े गणितज्ञ थे।

रामानुजम की छोटी जिंदगी और मौत हिंदुस्तान की हालत की प्रतीक है। हमारे करोड़ों लोगों में कितने थोड़े हैं जो कुछ शिक्षा भी पा लेते हैं कितने हैं जिन्हें पेट भर खाना नहीं मिलता उन लोगों में से भी जिन्हें कुछ तालीम हासिल हो जाती है कितने हैं जिनके लिए किसी दफ्तर में क्लर्की करने के सिवा कुछ चारा नहीं होता और इस क्लर्की की तनख्वाह इंग्लिस्तान के बेकारों को मिलनेवाली खैरात से कम होती है? अगर जिंदगी इनके लिए अपने दरवाजे खोल दे और उन्हें खाना और दूसरी सुविधाएं दे, और तालीम और तरक्की के मौके दे तो इन करोड़ों में से कितने हैं जो बड़े वैज्ञानिक शिक्षक हुनर जाननेवाले व्यापारी लेखक और कलाकार बन सकते हैं और एक नये हिंदुस्तान और एक नई दुनिया के बनाने में मदद कर सकते हैं?

---

[1] बी. दत्त और ए. एन. सिंह की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथेमैटिक्स' (१९३५) में उद्धृत। इस विषय की बहुत-सी जानकारी के लिए मैं इस पुस्तक का आभारी हूं।

## २१ विकास और ह्रास

ईसवी सन के पहले हजार बरसों में हिंदुस्तान ने बहुत-से चढ़ाव और उतार देखे हैं। हमलावरों से लड़ाइयां और अंदरूनी दिक्कतें पेश आई हैं। फिर भी यह जोरदार उफान लेती हुई और चारों तरफ फैलती हुई क़ौमी जिंदगी का जमाना रहा है। संस्कृति तरक्क़ी करती है, एक भरी-पूरी तहजीब फ़िलसफ़ा साहित्य नाटक कला विज्ञान और गणित-शास्त्र के फूल खिलाती है। हिंदुस्तान की आर्थिक व्यवस्था फलती है, हिंदुस्तान का क्षितिज विस्तृत होता है और दूसरे मुल्क इसके असर में आते हैं। ईरान चीन यूनानी दुनिया मध्य एशिया से ताल्लुक़ात बढ़ते हैं और इन सबके ऊपर यह होता है कि पूर्वी समुद्र के देशों की तरफ़ बढ़ने की गहरी उमंग पैदा होती है, जिसका नतीजा यह होता है कि हिंदुस्तानी नौआबादियां क़ायम होती हैं और हिंदुस्तानी संस्कृति हिंदुस्तान की सरहदों से बहुत आगे तक पहुंचती है। इन हजार बरस के बीच के जमाने में चौथी सदी के शुरू से छठी सदी तक गुप्त-साम्राज्य का बोल-बाला रहता है और इस दूर-दूर तक फैली हुई बौद्धिक और कलात्मक प्रवृत्तियों का यह प्रतीक और सरपरस्त बनता है। यह हिंदुस्तान का सुनहला युग कहलाता है और इस जमाने के ग्रंथों में जो संस्कृत-साहित्य की निधि है, एक प्रशांत गंभीरता है, आत्म-विश्वास है, और उस जमाने के लोगों में इस बात का गर्व है कि वे इस सभ्यता के प्रखर मध्याह्न-काल में जीवित हैं और इसके साथ-साथ अपनी ऊंची दिमाग़ी और कलात्मक शक्तियों का ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग में लाने की उनमें उमंग है।

लेकिन इससे पहले कि यह सुनहला जमाना खतम हो कमजोरी और ढलतापन की अलामतें दिखाई देने लगती हैं। पच्छिमोत्तर से सफ़ेद हूणों के दल-के-दल आते हैं और बार-बार मार भगाये जाते हैं। लेकिन उनका आना जारी रहता है और रफ़्ता-रफ़्ता वे उत्तरी हिंदुस्तान में रास्ता कर लेते हैं। आधी सदी तक वे उत्तरी हिंदुस्तान में हुक्मरानी भी करते हैं, लेकिन इसके बाद आख़िरी गुप्त-सम्राट मध्य-हिंदुस्तान के एक शासक यशोवर्मन के साथ मिल-कर बड़ी कोशिश से उन्हें मुल्क से निकाल बाहर करता है। इस लंबे संघर्ष के कारण हिंदुस्तान राजनैतिक हैसियत से और लड़ाई की ताक़त की हैसियत से भी कमजोर पड़ गया और हूणों के बहुत तादाद में सारे उत्तरी हिंदुस्तान में बस जाने ने रफ़्ता-रफ़्ता क़ौमों में एक भीतरी तब्दीली भी पैदा कर दी। जिस तरह और विदेशी से आनेवाले जज़्ब हो चुके थे उसी तरह ये भी जज़्ब कर लिये गये लेकिन इनकी छाप बनी रही और भारतीय-आर्य जातियों के प्राचीन आदर्श कमजोर पड़ गये। हूणों के जो पुराने बयान मिलते हैं, वे

उनकी हूण वर्ग की कठोरता के और बर्बरता के व्यवहारों से भरे हुए हैं और इस तरह के व्यवहार युद्ध और हुकूमत के हिंदुस्तानी आदर्शों से बिल्कुल जुदा हैं।

सातवीं सदी में हर्ष के जमाने में राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों ही तरह की पुनर्जागृति होती है। उज्जयिनी (आजकल का उज्जैन) जो गुप्तों की शानदार राजधानी थी फिर कला और संस्कृति और एक बलशाली राज्य का केंद्र बनती है। लेकिन इसके बाद की सदियों में यह भी कमजोर पड़ जाती है और खत्म हो जाती है। नवीं सदी में गुजरात का मिहिरभोज छोटे-छोटे राज्यों को एक में मिलाकर उत्तरी और मध्य-हिंदुस्तान में एक केंद्रीय राज्य कायम करता है और कन्नौज को अपनी राजधानी बनाता है। फिर एक साहित्यिक पुनर्जागृति होती है और इसका मुख्य पुरुष राजशेखर होता है। इसके बाद फिर ग्यारहवीं सदी के शुरू में एक दूसरा भोज जो बड़ा पराक्रमी और आकर्षक व्यक्ति है सामने आता है और उज्जयिनी फिर एक बड़ी राजधानी बनती है। यह भोज एक बड़ा अद्भुत आदमी था और इसने कई क्षेत्रों में प्रतिष्ठा हासिल की थी। यह वैयाकरण था कोशकार था और इसकी दिलचस्पी वैद्यक और ज्योतिर्विज्ञान में भी थी। यह बड़ी इमारतों का निर्माण करनेवाला था और कला और साहित्य का संरक्षक भी था। यह खुद कवि और लेखक था और कई रचनाएं इसके नाम के साथ जुड़ी हुई हैं। उसका नाम लोक-कथाओं और कहानियों का—बड़प्पन ज्ञान और उदारता के प्रतीक के रूप में—अंग बन गया है।

लेकिन इन चमकदार मिसालों के बावजूद हम देखते हैं कि हिंदुस्तान में एक भीतरी कमजोरी पैठ गई है जो न महज उसकी राजनैतिक प्रतिष्ठा बल्कि रचनात्मक प्रवृत्तियों को मंद कर देती है। इसके लिए कोई तिथि नहीं दी जा सकती क्योंकि यह प्रक्रिया धीमी गति से चलनेवाली थी और इसने पहले उत्तरी हिंदुस्तान और बाद में दक्खिन में असर डाला। सच तो यह है कि इस वक्त दक्खिन हिंदुस्तान राजनैतिक और सांस्कृतिक दोनों हैसियतों से ज्यादा महत्त्व का बन गया। शायद इसकी यह वजह रही हो कि दक्खिन हिंदुस्तान हमलावरों के साथ बराबर लड़ाई में लगे रहने की मुसीबत और परेशानी से बचा रहा। शायद उत्तरी हिंदुस्तान की गैर-इतमीनानी की हालत से बचने के लिए बहुत-से लेखक और कलाकार और बड़े-बड़े इमारतों के निर्माण करनेवाले भागकर दक्खिन में जा बसे। दक्खिन के शक्तिशाली राज्यों ने और उनके शानदार दरबारों ने लोगों को आकर्षित किया होगा और उन्हें रचनात्मक कार्य के लिए वह अवसर दिया होगा जो उन्हें दूसरी

जगह नहीं मिलता था।

लेकिन मगरचे उत्तरी हिंदुस्तान सारे हिंदुस्तान पर हावी नहीं था जैसा कि वह अक्सर पहले रह चुका था बल्कि छोटे-छोटे राज्यों में बटा हुआ था फिर भी जिंदगी भरी-पूरी थी और संस्कृति और फ़िलसफ़े के बहुत-से केंद्र अब भी मौजूद थे। हमेशा की तरह इस वक्त भी बनारस धार्मिक और फ़िलसफ़ियाना विचारों का गढ़ था और हर शख्स जो किसी नये सिद्धांत को या किसी पुराने सिद्धांत की नई व्याख्या को लेकर सामने आता उसे अपने विचारों को मान्य कराने के लिए यहां आना पड़ता था। बहुत जमाने तक काश्मीर भी बौद्धों और ब्राह्मणों के संस्कृत ज्ञान का बड़ा केंद्र रहा है। बड़े-बड़े विश्वविद्यालय रहे हैं जिनमें नालंदा सबसे मशहूर था और वहां के विद्वानों का सारे हिंदुस्तान में आदर था। नालंदा में शिक्षा पानेवाले पर संस्कृति की एक छाप-सी लग जाती थी। इस विश्वविद्यालय में भरती होना सहज न था क्योंकि इसमें वही लोग भरती हो सकते थे जिन्होंने एक खास काबलियत हासिल कर ली होती थी। इसने स्नातकोत्तर शिक्षा देने में विशेषता प्राप्त की थी और यहां चीन जापान और तिब्बत तक से विद्यार्थी आते थे बल्कि कहा जाता है कि कोरिया मंगोलिया और बुखारा से भी। धार्मिक और फ़िलसफ़ियाना विषयों के अलावा जो बौद्ध-मत और ब्राह्मण-मत दोनों ही के अनुसार पढ़ाये जाते थे दुनिया की और व्यावहारिक विषयों की भी तालीम दी जाती थी। कला और इमारत बनाने की शिक्षा के विभाग थे वैद्यक का एक विभाग था कृषि का विभाग था गोधन और पशुओं का विभाग था। और यहां के बौद्धिक जीवन के बारे में कहा जाता है कि बराबर जोरदार वाद-विवाद और बहसें चलती रहती थीं। हिंदुस्तानी संस्कृति का विदेशों में प्रचार ज्यादातर नालंदा के विद्वानों का काम रहा है।

इसके अलावा विक्रमशिला का विश्वविद्यालय था जो बिहार में ही आजकल के भागलपुर के पास था और काठियावाड़ में वल्लभी था। गुप्तों के जमाने में उज्जयिनी के विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा हुई। दक्खिन में अमरावती का विश्वविद्यालय था।

फिर भी ज्यों यह सहस्राब्दी खत्म होने को आती है, यह सब कुछ संस्कृति की तिपहरी-जैसा लगता है। सबेरे की आभा बहुत पहले खत्म हो चुकी थी और दुपहरी भी बीत गई थी। दक्खिन में अब भी कुछ दम और जोर बाकी था और यह कुछ सदियों तक और चलता रहा देश से बाहर हिंदुस्तान की नौ-आबादियों में उत्साह की और भरी-पूरी जिंदगी पांच सौ बरसों तक और कायम रही। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि हृदय मंद हो रहा था उसकी

धड़कनें धीमी पड़ रही थीं और रफ़्ता-रफ़्ता उसकी शिथिलता और जर्यों में भी फँस रही थी। आठवीं सदी में होनेवाले शंकर के बाद फ़िलसफ़े के मैदान में कोई बड़ा आदमी नहीं हुआ है, हालाँकि टीकाकारों और व्याख्या करनेवालों का एक लंबा सिलसिला मिलता है। शंकर भी दक्खिन हिंदुस्तान के थे। मानसिक साहस और जिज्ञासा का स्थान कठोर तर्क और अनुर्वर वाद-विवाद ले लेते हैं। ब्राह्मण-धर्म और बौद्ध-धर्म दोनों का उतार दिखाई देता है और पूजा के गिरे हुए रूप सामने आते हैं, ख़ासतौर पर तांत्रिक पूजा और योग के कुछ विकृत रूप।

साहित्य में भवभूति (आठवीं सदी) आख़िरी बड़ा व्यक्ति है। बहुत-सी किताबें इसके बाद भी लिखी जाती रहीं, लेकिन शैली जटिल और बनावटी होती गई, न तो विचारों में और न उनके प्रकट करने के ढंग में ताज़गी रह गई है। गणित में भास्कर द्वितीय (बारहवीं सदी) आख़िरी बड़ा नाम है। कला में ई॰ बी॰ हैवेल हमें इस ज़माने के बाद तक ले आते हैं। उनका कहना है कि कलात्मक उभार के रूप सातवीं-आठवीं सदी तक पक्के नहीं हो पाए थे, जबकि हिंदुस्तान की आला दर्जे की मूर्ति-कला और चित्र-कला के ज़्यादातर नमूने तैयार हुए। उनके कहने के मुताबिक़ सातवीं-आठवीं सदी से लेकर चौदहवीं सदी तक हिंदुस्तानी कला का सबसे बुलंद ज़माना रहा है, उसी तरह जिस तरह कि यूरोप में गॉथिक कला के सबसे ऊँचे विकास का यह ज़माना रहा है। उनका कहना है कि सोलहवीं सदी में जाकर पुराने हिंदुस्तान की रचनात्मक प्रवृत्ति क्षीण होने लगी। यह विचार कहाँ तक सही है, मैं नहीं जानता, लेकिन मेरा ख़याल है कि कला के मैदान में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ही उत्तरी हिंदुस्तान के मुक़ाबले में पुरानी परंपरा ज़्यादा दिनों तक क़ायम रही।

उपनिवेशों को बसानेवाला आख़िरी बड़ा गिरोह दक्खिन हिंदुस्तान से नवीं सदी में गया था, लेकिन पच्छिम-वासियों की समुद्री शक्ति ग्यारहवीं सदी तक बनी रही, जब उन्हें श्रीविजय ने हराया और परास्त किया।

इस तरह हम देखते हैं कि हिंदुस्तान शुष्क हो रहा था और अपनी रचनात्मक शक्ति और प्रतिभा खो रहा था। यह सिलसिला बहुत धीमा था और इसमें कई सदियाँ लग गईं, और पहले उत्तर में और अंत में दक्खिन में ह्रास हुआ। इस राजनैतिक और सांस्कृतिक पतन के क्या कारण थे? क्या इसकी यह वजह थी कि हमारी तहज़ीब पुरानी पड़ चुकी थी और जिस तरह इन्सान का बुढ़ापा आता है, उसी तरह तहज़ीबों का भी आता है, या ज्वार-भाटे की तरह इस तरह की लहर थी, जो आगे बढ़कर फिर पीछे खिंच जाती

हृ? या इसके लिए बाहरी कारण और हमले जिम्मेदार थे? राधाकृष्णन का कहना है कि हिंदुस्तानी फ़िलसफ़े ने अपनी शक्ति सियासी आज़ादी के साथ साथ खो दी। सिल्वां लेवी कहते हैं—"हिंदुस्तान की आज़ादी के साथ संस्कृत का रचनात्मक युग भी खत्म हो गया। आजकल की भाषाएं और आजकल के साहित्य आर्यों के देश पर छा गये हैं और उन्होंने ही संस्कृत की जगह ले ली है। संस्कृत को अब सिर्फ़ विद्यालयों में शरण मिली है और यहांपर उसमें पंडिताऊपन की छाप लग गई है।"

ये सब बातें सही हैं क्योंकि सियासी आज़ादी को जाने के साथ तहज़ीब का उतार भी लाज़िमी तौर पर शुरू हो जाता है। लेकिन सियासी आज़ादी ही क्यों गुम हो जबतक कि किसी तरह का उतार उससे पहले ही शुरू नहीं हो गया है? छोटा मुल्क हो तो एक ज़्यादा ताक़तवाले हमलावर के सामने आसानी से भले ही झुक जाय लेकिन हिंदुस्तान-जैसा बड़ा विकसित और ऊंचे दर्जे की तरक़्क़ी तक पहुंचा हुआ मुल्क बग़ैर अंदरूनी ह्रास के *हमलावर के सामने न झुकेगा। यह दूसरी बात है कि हमलावर का युद्ध-कला* का ज्ञान ऊंचा हो। भीतरी ह्रास इन हज़ार बरसों के ज़ाहिर में हिंदुस्तान में पैदा हो चुका था यह ज़ाहिर ही है।

हर एक तहज़ीब की ज़िंदगी में ह्रास और फूट के ज़माने आते हैं और ऐसे ज़माने हिंदुस्तान के इतिहास में पहले भी आ चुके हैं। लेकिन हिंदुस्तान ने उन्हें झेलकर अपने को फिर से तरोताज़ा किया है और कभी-कभी अपने ही में सिमिटकर कुछ वक़्त बिताने के बाद फिर एक नई ताक़त हासिल करके मैदान में आया है। हमेशा एक सजीव अंतस्तल बच रहा है जिसने नये संपर्कों की मदद से अपने को फिर से ताज़ा किया है और फिर से अपना विकास किया है यद्यपि यह गुज़रे हुए ज़माने से मुख़्तलिफ़ ढंग का रहा है। ताहम उससे इसका गहरा ताल्लुक़ भी रहा है। अपने को वक़्त के मुताबिक़ ढाल लेने की मुलायमियत दिमाग़ का वह लचीलापन जिसे हिंदुस्तान ने पहले बहुत अकसर दिखाया है क्या अब जाता रहा है? क्या उसके बंधे-जुड़े विश्वासों ने और उसके समाजी संगठन की कट्टरता ने उसके दिमाग़ को भी सख़्त बना दिया है? क्योंकि अगर ज़िंदगी का बढ़ना और तरक़्क़ी करना बंद हो जाता है तो विचारों का विकास भी ठहर जाता है। व्यावहारिक जीवन में कट्टरता का और विचारों में विस्फोट का अजब मेल हमें हिंदुस्तान में बराबर देखने को मिलता है। लाज़िमी तौर पर इस विचार का व्यवहार पर असर पड़ा है चाहे यह असर इस तरह पर हुआ हो कि अतीत का तिरस्कार न किया गया हो। लेवी ने कहा है— अगरच उनकी निगाहें

पुराने ज्ञान की तरफ़ है उनकी बुद्धि आजकल के विचारों को समझती है। और अनजाने ही आज हिंदुस्तान बदल गया है। लेकिन विचार ने जब अपनी विस्फोटकता और रचनात्मक-शक्ति खो दी और वह एक घिसे-पिटे और बेमानी व्यवहार का गुलाम बन गया पुराने नुसख़ों का गुणगान करने और सभी नई चीज़ों से डरने लगा तब ज़िंदगी बंध गई और स्थिर हो गई और अपने ही बनाये कैदख़ाने में बंद हो गई।

तहज़ीबों के ख़त्म हो जाने की हमारे सामने बहुत-सी मिसालें हैं और शायद इनमें से सबसे मार्के की मिसाल रोम के पतन के बाद यूरोप की क़दीम सभ्यता के ख़त्म होने की है। उत्तर से आनेवाले हमलावरों के हमलों से बहुत पहले रोम अपनी अंदरूनी कमज़ोरियों के कारण जर्जर हो गया था। उसका अर्थ-तंत्र जो पहले फैल रहा था संकुचित हो गया था और अनेक कठिनाइयां उठ खड़ी हुई थीं। शहरी उद्योग-धंधे पिछड़ गये थे ख़ुशहाल शहर रफ़्ता-रफ़्ता गरीब और छोटे हो गये थे और धरती का उपजाऊपन भी कम हो चला था। अपनी बराबर बढ़नेवाली कठिनाइयों पर क़ाबू पाने के लिए बादशाहों ने तरह-तरह की कोशिशें कीं। रियासत की तरफ़ से व्यापारियों पर ऐसी पाबंदियां लगाई गईं कि वे अपने ख़ास पेशों से बंध गये। बहुत किस्म के मज़दूर पेशा लोगों पर अपने वर्ग से बाहर ब्याह-शादी करने पर रोक लगा दी गई इस तरह से कुछ पेशे क़रीब-क़रीब एक जाति-से बन गये। किसान गुलाम बन गये। लेकिन ह्रास को रोकने की ये सब सख़्ती तरकीबें बेकार हुईं बल्कि उन्होंने हालत को और भी बिगाड़ दिया और रोम सल्तनत बैठ गई।

हिंदुस्तानी सभ्यता का ऐसा नाटकीय अंत न उस वक़्त हुआ और न बाद में ही और जो कुछ भी उस पर गुज़रा उसके बावजूद उसने एक गज़ब की पायदारी दिखलाई है। लेकिन एक बढ़ती हुई तनज़्ज़ुली दिखाई पड़ती है। ज़्यादा के साथ यह बता सकना मुश्किल है कि हिंदुस्तान में ईसवी सन के पहले हज़ार साल के आख़िर में समाज की क्या हालत थी। लेकिन कमोबेश यक़ीन के साथ यह कहा जा सकता है कि हिंदुस्तान का फैलता हुआ अर्थ-तंत्र ख़त्म हो चुका था और सिकुड़ने की तरफ़ उसका ज़बरदस्त झुकाव हो चला था। शायद यह हिंदुस्तानी समाजी संगठन के बढ़ते हुए कट्टरपन और अलग-थलग रहने की प्रवृत्ति का नतीजा था और इसकी तह में यहां की अर्थ-व्यवस्था थी। जहां-जहां हिन्दुस्तानी विदेशों में पहुंचे थे जैसे दक्खिन-पूर्वी एशिया में वहां-वहां उनके दिमाग़ में रीति-रिवाजों में और अर्थ-तंत्र में यह कड़ापन नहीं आया था और विकास और फैलाव के उनके सामने

मौक़े थे। इससे चार-पांच सदी बाद तक वे इन नौ-आबादियों में पनपे और उन्होंने स्फूर्ति और रचनात्मक शक्ति दिखाई। लेकिन खास हिंदुस्तान में अलग-अलग रहने की भावना ने उनकी रचनात्मक शक्ति को खोखला कर दिया और उनमें तंग-ख़याली गुटबंदी और संकुचित नज़रिया पैदा हो गया। ज़िंदगी इस तरह टुकड़े-टुकड़े में बंट और बंध गई कि हर एक शख्स का धंधा निश्चित हो गया और सदा-सदा के लिए बन गया और उसका तास्लुक़ दूसरों से बहुत कम रह गया। क्षत्रियों का काम मुल्क की हिफ़ाज़त में लड़ाई करना रह गया और इस काम में दूसरों को या तो दिलचस्पी न रह गई थी या उन्हें इसके लिए इजाज़त न थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय बनिज-व्यापार करनेवालों को नीची नज़र से देखने लगे। नीची जातवालों को तालीम और तरक़्क़ी के मौक़ों से वंचित रखा गया और उन्हें अपने से ऊंची जात-वालों के अधीन रहना सिखलाया गया। बावजूद इसके कि शहरी अर्थ-व्यवस्था और उद्योगों ने काफ़ी तरक़्क़ी कर ली थी राज्य का संगठन बहुत कुछ सामंतवादी था। शायद युद्ध-कला में भी हिंदुस्तान पिछड़ गया था। इन हालतों में जबतक सारे ढांचे को न पलट दिया जाय और शक्ति और योग्यता लिए नये स्रोते न खोल दिये जायें तरक़्क़ी नामुमकिन थी। जात-पांत के बंधनों से इसमें रुकावट पड़ती थी। इसने हिंदुस्तानी समाज में चाहे जो पायदारी या खूबियां पैदा की हों खुद इसके अंदर इसके विनाश के बीज मौजूद थे।

हिंदुस्तान के समाजी संगठन ने (और इसके बारे में मैं आगे चलकर और भी विचार करूंगा) हिंदुस्तानी सभ्यता को एक अद्भुत पायदारी दे रखी थी। इसने गुटों को बल दिया था और उनका आपस का मेल पक्का किया था। लेकिन यही फैलाव एक विस्तृत मेल-जोल के हक़ में बाधक साबित हुआ। इसने हुनर और दस्तकारी और बनिज-व्यापार को तरक़्क़ी दी लेकिन हमेशा एक महदूद दायरे के भीतर-भीतर। इस तरह खास-खास क़िस्म के पेशे पुश्तैनी बन गये और नये ढंग के कामों से बचने की और पुरानी लकीर पीटते रहने की प्रवृत्ति पैदा हुई इससे नई प्रेरणाओं और विचारों की तरफ़ से लोगों में विमुखता आई। इसने एक महदूद दायरे के अंदर कुछ आज़ादी बख्श दी लेकिन एक बड़ी आबादी को नुकसान पहुंचाकर, और जो क़ीमत इसे चुकानी पड़ी वह यह थी कि बहुत बड़ी संख्या में लोग सदा-सदा के लिए समाज की सीढ़ी के नीचे ही हिस्से में बने रह गये और तरक़्क़ी करने के मौक़े न मिले। जबतक इस संगठन में तरक़्क़ी और फैलाव के रास्ते निकलते रहे तब-तक यह प्रगतिशील रहा जब ऐसी हालत में पहुंच गया कि आगे फैलाव

नामुमकिन था तब वह स्थिर हो गया, प्रगतिशील न रहा और बाद में लाज़िमी तौर पर पीछे हटनेवाला बन गया।

इसकी वजह से चौतरफ़ा ह्रास हुआ—विचारों में, फ़िलसफ़े में, राजनीति में, लड़ाई के तौर-तरीक़ों में, दुनिया की जानकारी और उससे संपर्क में और मुक़ामी जज़्बे पैदा हुए, सामंतवादी भावनाएं दिखने लगीं और सारे हिंदुस्तान का न खयाल करके फ़िरक़ेबंदी का खयाल किया जाने लगा और हमारा मन-क्षेत्र संकुचित होने लगा। लेकिन, जैसाकि बाद के ज़माने ने ज़ाहिर किया, पुराने ढांचे में एक जीवनी-शक्ति बाक़ी थी, उसमें एक अद्भुत दृढ़ता थी और साथ ही एक प्रकार का लचीलापन था और अपने को वक़्त की ज़रूरतों के मुताबिक़ ढालने की सलाहियत थी। इसकी वजह से ही वह क़ायम रह सका और नये संपर्कों से और विचारों की लहरों से फ़ायदा उठा सका और कुछ बातों में तरक़्क़ी भी कर सका। लेकिन यह तरक़्क़ी हमेशा गुज़रे हुए ज़माने की बहुत-सी यादगारों से जकड़ी और बंधी रही।

## ६

# नये मसले

### १ अरबवाले और मंगोल

जिस समय हर्ष उत्तरी हिंदुस्तान के एक बलशाली राज्य पर हुकूमत कर रहा था और चीनी यात्री और विद्वान युवान-च्वांग नालंदा विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था, उस समय इस्लाम अरब में अपना रूप धारण कर रहा था। इस्लाम को हिंदुस्तान में एक मजहबी और राजनैतिक ताकत की शक्ल में आकर बहुत-से नये मसले खड़े करना था, लेकिन यह बात ध्यान रखने की है कि हिंदुस्तानी परिस्थिति में फर्क के आने में उसे बहुत जमाना लग गया। हिंदुस्तान के बीचों-बीच पहुंचने में उसे करीब छः सदियां लग गईं और जब वह यहां राजनैतिक विजयों के साथ-साथ पहुंचा उस वक्त तक वह खुद बहुत कुछ बदल चुका था और इसके अलमबरदार दूसरे ही लोग थे। अरबवाले जो अपने उत्साह की बाढ़ में एक प्रबल शक्ति के साथ फैलकर स्पेन से लेकर मंगोलिया की सरहदों तक विजयी के रूप में पहुंच गये थे और जिन्होंने इन प्रदेशों में अपनी शानदार संस्कृति पहुंचाई थी, खास हिंदुस्तान में न आये। वे पश्चिमोत्तर किनारे तक पहुंचे और वहीं तक रह गये। अरबी-सभ्यता का रफ्ता-रफ्ता उतार हुआ और मध्य और पश्चिमी एशिया की तुर्की जातियां आगे आईं। यही तुर्क लोग थे और हिंदुस्तानी सरहद के अफगान थे, जो इस्लाम को हिंदुस्तान में एक राजनैतिक ताकत की हैसियत से लाये।

कुछ तारीखों के सहारे ये घटनाएं हमें ठीक-ठीक समझ में आ जायेंगी। इस्लाम की शुरुआत ६२२ ई० में पैगंबर मुहम्मद की मक्का से मदीना को हिजरत के वक्त से मानी जा सकती है। मुहम्मद की मृत्यु १  साल बाद हुई। कुछ जमाना तो अरब में परिस्थिति को मजबूत करने में लगा और इसके बाद उन अद्भुत घटनाओं का सिलसिला शुरू हुआ, जिन्होंने इस्लाम का झंडा उठानेवाले अरबों को पूरब में मध्य-एशिया तक और पश्चिम में सारे उत्तरी अफ्रीका के महाद्वीपों को पार करते हुए स्पेन और फ्रान्स तक

पहुंचाया। सातवीं सदी में और आठवीं के शुरू तक वे इराक़ ईरान और मध्य-एशिया तक फैल चुके थे। ७१२ ई॰ में वे पश्चिमोत्तर हिंदुस्तान में सिंध तक पहुंचे और वहीं ठहर गये। इस इलाक़े के और हिंदुस्तान के ज़्यादा उपजाऊ हिस्सा के बीच एक बड़ा रेगिस्तान पड़ता था। पश्चिम में अरबवालों ने अफ़रीक़ा और यूरोप के बीच के तंग समुद्री रास्ते को (जो अब जिब्रॉल्टर के जलडमरूमध्य के नाम से मशहूर है) पार किया और ७११ ई॰ में वे स्पेन में दाख़िल हुए। उन्होंने सारे स्पेन पर क़ब्ज़ा कर लिया और पिरेनीज़ पहाड़ों को पार करके फ़्रांस पहुंचे। ७३२ ई॰ में तूर्स (फ़्रांस) में उन्हें चार्ल्स मार्टेल ने हराया और उनकी बाढ़ रोकी।

यह एक ऐसी क़ौम की विजय-यात्रा थी जिसका घर अरब के रेगिस्तानों में था और जिसने अबतक तारीख़ में कोई बड़ा काम नहीं किया था और इस हैसियत से यह बहुत मार्के की थी। उन्होंने अपनी बड़ी शक्ति अपने पैग़ंबर के ज़ोरदार और क्रांतिकारी व्यक्तित्व से और उनके इस्लामी भाईचारे के सबक़ से हासिल की होगी। फिर भी यह ख़याल ग़लत होगा कि अरब-सभ्यता का इस्लाम से पहले कोई वजूद न था और वह आप-ही-आप यकायक उठ खड़ी हुई। इस्लामी आलिमों की प्रवृत्ति रही है कि अरबवालों के इस्लाम में पहुंचने के ज़माने को जाहिलियत का ज़माना कहकर, ऐसा ज़माना बताकर जबकि लोगों में अज्ञान और अंधविश्वास फैला हुआ था, उसे गिराने की कोशिश करते हैं। और तहज़ीबों की तरह अरबी-तहज़ीब का भी एक लम्बा अतीत काल रहा है और इसका नामी क़ौमों यानी फ़िनीशियन बैबिलन कैल्डियन और इरानियों की तरक़्क़ी से गहरा ताल्लुक़ रहा है। हालांकि ज़्यादातर अलग-अलग रहनेवाले हुए और ख़ानाबदोश-पसंद थे फिर यहां में और वहां से उन्होंने अपना नाता जोड़ लिया। ताहम सारे नामी इलाक़ों के आपस में संपर्क बने हुए थे और कुछ दूर तक उनकी एक सामान्य पृष्ठभूमि थी। इस्लाम से पहले भी अरब तहज़ीब ख़ासतौर पर यमन में पनपी। पैग़ंबर के वक़्त में अरबी ज़बान एक बड़ी तरक़्क़ी-याफ़्ता ज़बान थी और उसमें फ़ारसी अल्फ़ाज़ कि हिंदुस्तानी अल्फ़ाज़ मिल-जुल गये थे। हिन्दुस्तानियों की तरह अरबवाले भी समुद्र के ज़रिये दूर-दराज़ का सफ़र तिजारत करने के लिए किया करते थे। इस्लामी चीन में कैंटन के पास इस्लाम से पहले के ज़माने में अरबवालों की नौ-आबादी थी।

फिर भी यह सच है कि इस्लाम के पैग़ंबर ने अपने मोमिनों में एक नई [illegible] जोश और उत्साह पैदा किया। उनमें [illegible] उन्होंने अपने दिलों में ऐसी ख़ुदी

और ऐसे आत्म-विश्वास का अनुभव किया जैसा अक्सर पूरी क़ौम पर छा जाता है और इतिहास को उलट-पुलट देता है। उनकी कामयाबी की यक़ीनी तौर पर यह भी वजह रही है कि पश्चिमी और मध्य-एशिया और उत्तरी अफ़रीका के राज्य पस्ती की हालत में थे। उत्तरी अफ़रीका में विरोधी ईसाई फ़िरक़े आपस की लड़ाई में लगे हुए थे और ताक़त हासिल करने के लिए लड़ी गई ये लड़ाइयां अक्सर ख़ूनी लड़ाइयां रही हैं। इस ज़माने में जिस तरह की ईसाइयत वहां फैली थी उसमें तंगदिली और ग़ैर-रवादारी नुमायां तौर पर मौजूद थी और उसमें और अरबी मुसलमानों में बड़ा फ़र्क़ दिखता था क्योंकि ये लोग इन्सानी भाई-चारे का पैग़ाम लाये थे और रवादारी बरतना जानते थे। यही वजह थी कि ईसाइयों के तबक़ों से आजिज़ आकर पूरी-की-पूरी क़ौमें उनके साथ हो लीं।

जो संस्कृति अरबवाले अपने साथ दूर देशों में ले गये वह खूब बराबर तब्दील होती और तरक़्क़ी करती रही है। इस पर इस्लाम के नये विचारों की छाप ज़रूर थी लेकिन इसे इस्लामी तहज़ीब का नाम देना बातों को उलझाना और शायद उन्हें ग़लत तरीक़े पर पेश करना होगा। दमिश्क़ में राजधानी बनाकर उन्होंने जल्दी ही अपने रहन-सहन के सीधे-सादे ढंग छोड़ दिये और एक ज़्यादा रंगी-चुनी तहज़ीब को तरक़्क़ी दी। यह ज़माना अरब और सीरिया की मिली-जुली संस्कृति का ज़माना कहा जा सकता है। बाइज़ैंटाइन के असर भी उन पर पड़े लेकिन जब वे हटकर बग़दाद में चले गये तो सबसे ज़्यादा असर ईरान की पुरानी परंपरा का पड़ा और अरबी और ईरानी मिली-जुली संस्कृति ने तरक़्क़ी पाई और उन सारे इलाक़ों पर, जिन पर उनका बस था छा गई।

अगरचे अरबवालों ने दूर-दूर मुल्कों पर फ़तह हासिल की थी और यह फ़तह आसानी से कर सके थे हिंदुस्तान में वे उस वक़्त सिंध से आगे न बढ़ सके न बाद में ही। क्या इसकी यह वजह हो सकती है कि हिंदुस्तान इस वक़्त भी इतना काफ़ी मज़बूत था कि हमलावरों को रोक सके? ग़ालिबन यह बात सही है क्योंकि दूसरी तरह से इस बात की वज़ाहत नहीं की जा सकती कि इसके कई सदियों बाद तक क्यों दरअसल कोई दूसरा हमला न हुआ। हो सकता है कि कुछ अंश में खुद अरबों के आपस के झगड़ों की वजह से ऐसा हुआ हो। बग़दाद की मरकज़ी हुकूमत से सिंध जुदा हो गया और एक आज़ाद मुसलमानी रियासत बन गया। लेकिन अगरचे कोई हमला न हुआ फिर भी हिंदुस्तान और अरब के संबंध बढ़े यात्री आने-जाने लगे एलचियों का तबादला हुआ और हिंदुस्तानी किताबें खासतौर पर गणित और ज्योतिर्विज्ञान

की बगदाद पहुंचीं और उनके अरबी में तरजुमे हुए। बहुत-से हिंदुस्तानी वैद्य बगदाद गये। ये व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध सिर्फ़ उत्तरी हिंदुस्तान से नहीं कायम हुए। इसमें हिंदुस्तान की दक्खिनी रियासतें भी शरीक हुईं—खासतौर पर राष्ट्रकूट जो हिंदुस्तान के पच्छिमी समुद्र-तट से व्यापार किया करते थे।

इस लगातार ताल्लुक की वजह से हिंदुस्तानियों का इस नये मज़हब—इस्लाम—से वाक़िफ़ हो जाना लाज़िमी था। इस नये धर्म को फैलाने के लिए प्रचारक भी आये और उनका स्वागत भी हुआ। मस्जिदें बनाई गईं। इस पर न तो हुकूमत ने न जनता ने कोई एतराज़ किया और न किसी तरह के मज़हबी फ़िसाद हुए। हिंदुस्तान की पुरानी परंपरा यह थी कि सभी मज़हबों और पूजा के सभी तरीक़ों के साथ रवादारी बरती जाय। इस तरह इस्लाम हिंदुस्तान में राजनैतिक ताक़त की हैसियत से आने से सदियों पहले मज़हब की हैसियत से आ चुका था।

उमैया ख़लीफ़ाओं की हुकूमत में जो अरबी साम्राज्य क़ायम हुआ उसकी राजधानी दमिश्क थी और यह एक आलीशान शहर बन गया। लेकिन जल्द ही ७५ ई के लगभग अब्बासिया ख़लीफ़ाओं ने बग़दाद को राजधानी बना लिया। भीतरी झगड़े पैदा हुए और स्पेन मरकज़ी सल्तनत से अलग हो गया लेकिन बहुत दिनों तक फिर भी एक आज़ाद अरबी रियासत बना रहा। रफ़्ता-रफ़्ता बग़दाद की सल्तनत भी कमज़ोर पड़ी और कई छोटी-छोटी रियासतों में बट गई और मध्य-एशिया से सेल्जुक तुर्कों ने आकर बग़दाद में सियासी ताक़त क़ायम कर ली अगरचे ख़लीफ़ा उनकी मर्ज़ी को मानता हुआ अब भी बना रहा। अफ़ग़ानिस्तान में सुल्तान महमूद ग़ज़नवी नाम का एक तुर्क उठ खड़ा हुआ जो बड़ा अच्छा सिपाही और फ़ौजी नायक था। उसने ख़लीफ़ाओं की कुछ परवाह न की बल्कि उन्हें टाले देता रहा। लेकिन फिर भी बग़दाद इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक केंद्र बना रहा और दूर का स्पेन भी अपनी प्रेरणा के लिए उसका मुंह देखता। उस वक़्त यूरोप विद्या विज्ञान कला और ज़िंदगी की आसाइशों से पिछड़ा हुआ था। यह अरबी स्पेन था और ख़ासतौर पर क़ारडोवा का विश्वविद्यालय था जिसने यूरोप में उस सारे अंधकार के युग में ज्ञान और जिज्ञासा का दीपक जगाये रखा और उसके प्रकाश ने यूरोपीय अंधकार को कुछ हद तक दूर किया।

ईसाइयों के मुसलमानों के ख़िलाफ़ धर्म-युद्ध (क्रूसेड) १ ९५ ई में शुरू हुए और क़रीब डेढ़ सदी तक जारी रहे। ये मज़हब की उन जंगों ख़लीफ़ा

और हिजाज़ की आपस की लड़ाई की हैसियत नहीं रखते थे। मशहूर इतिहासकार प्रोफ़ेसर जी. एम. ट्रेवेलियन ने बताया है कि "ये धर्म-युद्ध (क्रूसेड) नई स्फूर्ति से भरते हुए यूरोप की पूरब तक पहुँचने की आम ख्वाहिश के छोटी और मज़हबी पहलू थे और इन धर्म-युद्धों से जो पुरस्कार यूरोप लेकर वापस आया वह पवित्र ईसाई-धर्म को क़ायम रखनेवाली आज़ादी न थी न ईसाइयत की एकता थी क्योंकि इन धर्म-युद्धों की कहानी ही इस बात को झुठला देती है। वह दरअसल ले आया ललित कलाएं और हुनर, आराम के साधन विज्ञान और मानसिक जिज्ञासा—यानी वे सभी चीज़ें जिनसे साधु पीटर को सबसे ज़्यादा नफ़रत होती।

आख़िरी धर्म-युद्ध (क्रूसेड) के एक ग़ैर-शानदार तरीक़े पर ख़त्म होने से पहले ही बीच एशिया में कुछ ख़ौफ़नाक और तहलका मचा देनेवाली घटनाएं घटीं। चंगेज़ ख़ाँ ने बरबादी ढानेवाला अपना धावा पश्चिम की तरफ़ शुरू कर दिया। इसका जन्म मंगोलिया में ११५५ ई. में हुआ था और १२१९ में उसने अपना यह बड़ा धावा शुरू किया जिसने मध्य-एशिया को एक दहकते हुए वीराने में तबदील कर दिया। उस वक्त यह कोई नौजवान बहादुर न था। बुखारा समरकंद हेरात और बल्ख ये आलीशान शहर जिनमें से हर एक की आबादी दस लाख से ज़्यादा थी जलाकर ख़ाक कर दिये गये। चंगेज़ रूस में कीफ़ तक गया फिर लौट आया। चूँकि बग़दाद उसके रास्ते में नहीं पड़ता था इसलिए वह किसी तरह बच गया। १२२७ में ७२ साल की उम्र पाकर वह मरा। उसके उत्तराधिकारी और आगे यूरोप तक पहुँचे और १२५८ में हलाकू ने बग़दाद पर क़ब्ज़ा किया और कला के एक मशहूर मरकज़ का जहाँ पाँच सौ बरसों से दुनिया के हर एक हिस्से से आकर ख़ज़ाने इकट्ठे हुए थे ख़ात्मा कर दिया। इससे एशिया में अरब और ईरान की मिली-जुली ख़ास तहज़ीब को, बड़ा धक्का पहुँचाया मगर फिर भी यह तहज़ीब मंगोलियों के ज़माने में भी ज़िन्दा रही—ख़ासतौर पर उत्तरी अफ़्रीका और स्पेन में। आलिमों के दल-के-दल अपनी किताबें लिये हुए बग़दाद से क़ाहिरा और स्पेन पहुँचे और इन जगहों में कला और विद्या की एक नई जागृति हुई। लेकिन ख़ुद स्पेन अरबवालों के हाथों से खिसक रहा था और १२३६ ई. में क़ारडोवा का पतन हो चुका था। इसके बाद और ढाई सदियों तक ग्रैनाडा की रियासत अरबी तहज़ीब का चमकीला मरकज़ बनी रही। १४९२ ई. में ग्रैनाडा भी फ़र्डिनेंड और इज़ाबेला के हाथों में चला गया और स्पेन में अरबी हुकूमत का अंत हुआ। इसके बाद अरबवालों का ख़ास मरकज़ क़ाहिरा बन गया हालाँकि यह तुर्कों के क़ब्ज़े में आ गया। आटोमन तुर्कों ने कुस्तुंतुनिया

को कब्ज़े में कर लिया और इस तरह उन शक्तियों को प्रस्तुत किया, जिन्होंने बाद में यूरोपीय नव-जागृति को जन्म दिया।

एशिया और यूरोप में मंगोलों की ये विजयें युद्ध की कला में एक नयापन पेश करती हैं। लिडेल हार्ट का कहना है कि "जहांतक दुश्मन को हैरत में डाल देने और तेज़ हरकत की बात है, जहांतक फ़ौजी हिकमत और बग़ैर सामना किये हुए हमला करने की तरकीब का मामला है, उनके (मंगोलों के) हमले तारीख़ में अपना सानी नहीं रखते। चंगेज़ ख़ाँ अगर दुनिया का सबसे बड़ा फ़ौजी नेता नहीं है, तो बिला-शुबहा सबसे बड़े नेताओं में एक है। उसके और उसके शानदार साथियों के आगे एशिया और यूरोप की बहादुरी तिनके की तरह थी, और इसे महज़ एक इत्तिफ़ाक़ समझना चाहिए कि पच्छिमी और बीच का यूरोप फ़तह होने से बच गया। इन मंगोलों से यूरोप ने फ़ौजी हिकमत और लड़ाई की कला के बारे में नये सबक़ सीखे। इन मंगोलों के ज़रिये बारूद का इस्तेमाल भी, जो चीन की चीज़ थी, इधर आया।

मंगोल हिंदुस्तान में नहीं आये। वे सिंध नदी तक आकर रुक गये और दूसरी जगहों पर जाकर उन्होंने फ़तहें हासिल कीं। जब उनकी सल्तनत ख़त्म हुई, तो एशिया में कई छोटी-छोटी रियासतें क़ायम हुईं, और फिर १३९८ ईसवी में तैमूर ने, जो तुर्क था और मां की तरफ़ से चंगेज़ ख़ाँ की औलाद होने का दावा करता था, चंगेज़ के कारनामों को दुहराने की कोशिश की। उसकी राजधानी समरकंद फिर एक सल्तनत का सदर मुक़ाम बनी, मगर यह सल्तनत ज़्यादा दिनों की नहीं थी। तैमूर की मौत के बाद उसके वारिसों की दिलचस्पी फ़ौजी कारनामों में कम रही, बल्कि वे शांति की ज़िंदगी बसर करने और कलाओं को तरक़्क़ी देने में ज़्यादा लगे रहे। मध्य एशिया में तैमूरियों के नाम पर मशहूर एक नई जागृति हुई और इस सिलसिले में तैमूर के एक वंशज बाबर ने जन्म लिया और बड़ा हुआ। बाबर हिन्दुस्तान में मुग़ल-वंश का क़ायम करनेवाला था। वह शानदार मुग़लियों में पहला था। दिल्ली उसने १५२६ में जीती।

चंगेज़ ख़ाँ मुसलमान नहीं था, जैसाकि कुछ लोग इसलिए ख़याल करते हैं कि उसका नाम अब इस्लाम में मिल-जुल गया है। कहा जाता है कि वह 'शामां' मज़हब का माननेवाला था, जो एक आसमानी मज़हब था। यह मज़हब क्या था, मैं नहीं जानता, लेकिन इस नाम से लाज़िमी तौर पर उस लफ़्ज़ की याद आ जाती है जो अध्यापकों या बौद्धों के लिए रखा था, यानी [illegible], जो संस्कृत [illegible] से निकला है। उस ज़माने में बौद्ध [illegible] एशिया के [illegible] हिस्सों में फैले हुए थे और इस

हिस्सों में मंगोलिया भी था और यह मुमकिन है कि चंगेज़ खाँ इनके असर में पला भी। यह एक बड़ा अटपटा ख़याल है कि इतिहास का सबसे बड़ा फ़ौजी विजेता शायद किसी तरह का बौद्ध था।[1]

मध्य-एशिया में आज भी बड़े विजेताओं में चार के नाम क़िस्से कहानियों तक में चलते हैं और याद किये जाते हैं—सिकंदर, सुल्तान महमूद, चंगेज़ खाँ और तैमूर। इन चारों के साथ अब एक पाँचवाँ नाम जोड़ने की ज़रूरत है जो एक दूसरे ही क़िस्म का आदमी था, एक दूसरे ही मैदान का लड़ाका और विजेता था, जिसके नाम के गिर्द क़िस्से-कहानियाँ बनने लग गई हैं, यानी लेनिन।

## २ अरबी-सभ्यता के फूल का खिलना और हिंदुस्तान से संपर्क

एशिया और अफ़रीक़ा के बड़े हिस्से और यूरोप का एक टुकड़ा जीत लेने के बाद अरबवालों ने अपने दिमाग़ को दूसरे ही मैदानों में फ़तह हासिल करने के लिए फेरा। सल्तनत मज़बूत की जा रही थी, बहुत-से नये मुल्क उनकी नज़र के दायरे में आ चुके थे और वे इस दुनिया और उसके तरीक़ों को जानने के ख़्वाहिशमंद थे। आठवीं और नवीं सदियों के अरबवालों में बड़े मार्के की मानसिक जिज्ञासा, विवेकपूर्ण चिंतन और वैज्ञानिक जाँच की भावना मिलती है। आमतौर पर किसी भी मज़हब में, जिसकी बुनियाद निश्चित विचारों और यक़ीनों पर होती है, शुरू के दिनों में प्रबल विश्वास रहता है और उससे इधर-उधर हटना नहीं पसंद किया जाता, न उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। यह विश्वास अरबवालों को दूर-दूर तक ले गया था और

---

[1] एक तरह का सामानी या शामानी मत अब भी आर्कटिक प्रदेश के साइबीरिया, मंगोलिया और सोवियत मध्य-एशिया के तमाम-दुआ में चलता है। इसका आधार प्रेतात्माओं में पूरे तौर पर विश्वास पर जान पड़ता है और बौद्ध-धर्म से इसका कोई भी ताल्लुक़ नहीं है। लेकिन हो सकता है कि बहुत पुराने ज़माने में बौद्ध-धर्म के किसी बिगड़े हुए रूप का इस पर असर पड़ा हो और बाद में यह मुक़ामी आदिम अंधविश्वासों से मिल-जुल गया हो। तिब्बत में जो माना हुआ बौद्ध मुल्क है, एक अपने-ही ढंग का बौद्ध धर्म रायज है जिसे लामा-मत कहते हैं। मंगोलिया में भी, जहाँ शामानी मत का प्रचार है, बौद्ध-परंपरा जीवित है। इस तरह उत्तरी मध्य-एशिया में विश्वास के अनेक दर्जे मिलेंगे जो बौद्ध-धर्म से लेकर आदिम विश्वासों तक पहुँचते हैं।

उनकी विजयपूर्ण सफलता ने ही उसके विश्वास को और भी गहरा बना दिया होगा। फिर भी हम पाते हैं कि वे मजहबी यकीनों और इकरार की हद को लांघकर जड़वाद के सिद्धांतों पर भी सोच-विचार करते हैं और अपनी स्फूर्ति और उत्साह को साहसी विचार की तरफ मोड़ते हैं। अरब वासी जो अपने ढंग में बेजोड़ थे दूर मुल्कों में यह जानने और समझने के लिए जाते हैं कि वहां के लोग क्या कर-धर या विचार कर रहे हैं और उनके फिल-सफे, विज्ञान और रहन-सहन का क्या रवैया है, और इसीके बाद वे अपने खयालों को तरक्की देते हैं। बाहर से विद्वान बुलाकर बगदाद में लाये गये और किताबें मंगाई गईं और खलीफा अल-मंसूर (आठवीं सदी के बीच में) ने खोज और तर्जुमे के इदारे कायम किये जहां यूनानी, सिरियक, ज़ेंद, लातीनी और संस्कृत से तर्जुमे किये जाते थे। सीरिया, एशिया माइनर और लेवांट के पुराने मठों की पांडुलिपियों के पाने के लिए खूब छान-बीन हुई। ईसाई पादरियों ने सिकंदरिया के पुराने विद्यालयों को बंद कर दिया था और वहां के विद्वानों को निकाल दिया था। इनमें से बहुत-से देश-निकाले लोग ईरान और दूसरी जगहों में चले गये थे। अब उन्हें बगदाद में पनाह मिली और वे अपने साथ यूनानी फिलसफा और विज्ञान और गणित ले आये—अफलातून और अरस्तू, बतलीमूस और उक्लैदिस से यहां के लोगों का परिचय कराया। यहां पर नस्तूरी और यहूदी विद्वान और हिंदुस्तानी वैद्य फिलसूफ और गणितज्ञ मौजूद थे। यह हालत हारूं अल-रशीद और अल-मामून (आठवीं और नवीं सदियों में) खलीफाओं के जमाने तक जारी रही और तरक्की करती रही और बगदाद सभ्य दुनिया का सबसे बड़ा आलिमों का मरकज बन गया।

इस जमाने में हिंदुस्तान से इसके बहुत-से संपर्क रहे और अरबवालों ने हिंदुस्तानी गणित, ज्योतिर्विद्या और औषधि-विद्या से बहुत-कुछ हासिल किया। और फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि इन संपर्कों के लिए प्रेरणा खासतौर पर अरबों की थी और जबकि अरबों ने हिंदुस्तान से बहुत-कुछ सीखा हिंदुस्तानियों ने अरबों से ज्यादा नहीं सीखा। हिंदुस्तानी अपने घमंड में डूबे अलग-थलग और जहांतक हो सका अपने ही खोल के भीतर समाये रहे। यह एक बदकिस्मती की बात है क्योंकि अरबवाद और अरबी-नवजागृति के विजयी खमीर ने हिंदुस्तानी दिमाग को ठीक उस वक्त जगाया होता जबकि वह अपनी रचनात्मक शक्ति बहुत-कुछ खो चुका था। मानसिक जांच-पड़ताल की इस भावना को और भी पुराने जमाने के हिंदुस्तानियों ने अपने विचारों के अनुकूल पाया होता।

बगदाद में हिंदुस्तानी इल्म और विज्ञान के अध्ययन को शक्तिशाली बर मक घरानेवालों ने जिसमें से हारूँ अल-रशीद के वज़ीर होते रहे हैं बड़ा प्रोत्साहन दिया। यह घराना शायद पहले बौद्ध-धर्म का माननेवाला था और इसने बाद में मज़हब बदल दिया था। हारूँ अल-रशीद की किसी बीमारी के मौक़े पर मनक नाम का एक वैद्य हिंदुस्तान से बुलाया गया। मनक बगदाद में बस गया और एक बड़े अस्पताल का व्यवस्थापक बना दिया गया। अरबी लेखकों का कहना है कि मनक के अलावा उस वक्त बगदाद में छः और हिंदुस्तानी वैद्य रहा करते थे। ज्योतिर्विज्ञान में अरबों ने हिंदुस्तानियों और सिकंदरियावालों दोनों से आगे तरक्क़ी की। दो और नाम उनके यहाँ मशहूर हैं—अलख्वारिज्मी जो नवीं सदी का गणितज्ञ और नजूमी था और उमर खय्याम जो बारहवीं सदी में कवि और नजूमी दोनों हैसियतों से मशहूर हुआ। औषध-शास्त्र में अरब चिकित्सक और जर्राह एशिया और यूरोप में मशहूर थे। इनमें सबसे मशहूर बुखारा का इब्नसीना था जो हकीमों का बादशाह कहलाया है। उसकी मृत्यु १०३७ ई० में हुई। अरब विचारकों और फ़िलसूफ़ों में एक बड़ा नाम अबू नस्र फ़ाराबी का है।

फ़िलसफ़े में हिंदुस्तान का असर ज्यादा हुआ नहीं जान पड़ता। फ़िलसफ़े और विज्ञान इन दोनों के लिए अरबवाले यूनान और पुराने सिकंदरिया के विद्वानों की तरफ़ झुकते थे। अफ़लातून और ख़ासतौर पर अरस्तू ने अरब ख़याल पर गहरा असर डाला है और अबतक इस्लामी मदरसों में उनकी पढ़ाई मूल पाठों की मदद से नहीं बल्कि अरबी टीकाओं के ज़रिये ख़ास मज़मूनों की हैसियत से होती है। सिकंदरिया की नौ-अफ़लातूनियत का असर भी अरबी दिमाग़ पर हुआ और यूनानी फ़िलसफ़े के अड़चनवाले सवाल भी अरबों तक पहुँचे और इससे उनके यहाँ बुद्धिवाद और अड़वाद की शुरुआत हुई। अड़वादियों ने मज़हब से क़रीब-क़रीब क़तई इन्कार किया है। जो बात ग़ौर करने की है वह यह है कि बगदाद में इन मुख़्तलिफ़ और विरोधी सिद्धांतों पर बहस-मुबाहसा करने की पूरी आज़ादी थी। मज़हब और अक़्ल के बीच का यह मुबाहसा और झगड़ा बगदाद से सारी अरबी दुनिया में फैला और स्पेन तक पहुँचा। ईश्वर के स्वरूप के बारे में मुबाहसे हुए और यह बताया गया कि उसमें उस तरह के किन्हीं गुणों का आरोप नहीं हो सकता जिनका उसमें होना कहा जाता है। ये गुण इन्सानी हैं। यह कहा गया कि ख़ुदा को रहीम या नेक बताना उतनी ही पस्त और ला-मज़हब बात होगी जितना कि यह कहना कि उसके दाढ़ी है।

बुद्धिवाद से भौतिकवाद और सर्वेश्वरवाद का रास्ता खुला। लेकिन

बग़दाद की पस्ती और तुर्की ताक़त की तरक़्क़ी के साथ-साथ बुद्धिवादी जिज्ञासा की भावना मंद पड़ गई। लेकिन अरबी स्पेन में यह फिर भी जारी रही और स्पेन का एक मशहूर अरबी फ़िलसूफ़ तो मज़हब से इन्कार करने की हद तक पहुंचा। यह इब्न रश्द था जो बारहवीं सदी में हुआ है। बताया जाता है कि उसने कहा था कि उसके ज़माने के सभी मज़हब या तो बच्चों के लिए या बेवक़ूफ़ों के लिए हैं या ऐसे हैं कि उन पर अमल नहीं किया जा सकता। उसने दरअसल ऐसा बयान किया या नहीं यह कहा नहीं जा सकता लेकिन जो परंपरा है उससे पता चलता है कि वह किस तरह का आदमी था और अपने विश्वासों के लिए उसने तकलीफ़ें सहीं। औरतों को जन-साधारण के कामों में हिस्सा लेने का मौक़ा मिलना चाहिए, इसके हक़ में उसने ज़ोरों से लिखा है और कहा है कि वे इन कामों को पूरी तौर पर अंजाम दे सकती हैं। उसने यह भी सुझाव दिया है कि ऐसे लोगों को जिनका इलाज नहीं हो सकता और इसी तरह के दूसरे लोगों को मिटा देना चाहिए, क्योंकि वे समाज पर एक बोझ हैं। स्पेन उस वक़्त यूरोप के और इस्लामी मरकज़ों से बहुत आगे बढ़ा हुआ था और कारडोवा के अरबी और यहूदी आलिमों की पेरिस में और दूसरी जगहों में बड़ी क़द्र होती थी। टोलेडो के सईद नाम के एक अरबी लेखक ने पिरेनीज़ के उत्तर में रहनेवाले यूरोपियों का इस तरह बयान किया है— वे ठंडी प्रकृति के होते हैं और उनमें पुख़्तगी कभी नहीं आती। वे क़द के लम्बे और रंग के गोरे-चिट्टे होते हैं, लेकिन उनमें अक़्ल की तेज़ी और दिमाग़ी सूझ-बूझ नहीं होती।

पच्छिमी और मध्य-एशिया में अरबी तहज़ीब ने जो फूल खिलाये उनकी प्रेरणा अरबी और ईरानी इन दो आधारों से मिली। दोनों आपस में खूब घुल-मिल गये और उन्होंने समाज का ज़ोर पैदा किया और ऊंचे दर्जे के लोगों के ऊंचे रहन-सहन की हालत पैदा की। अरबों से ताक़त और जोश की भावना आई, ईरानियों ने ज़िंदगी के ढंग और कला और आसाइशों को पेश किया। तुर्की-हुकूमत में ज्यों-ज्यों बग़दाद की तनुज़्ज़ुली हुई, त्यों-त्यों बुद्धिवाद और जिज्ञासा की भावना भी मिटी। चंगेज़ खां और मंगोलों ने इन सभी का ख़ात्मा कर दिया। सौ साल बाद मध्य-एशिया फिर जगा और समरक़न्द और हेरात चित्र-कला और वास्तु-कला के केंद्र बने और उन्होंने अरब और ईरान की मिली-जुली सभ्यता की परंपरा में फिर से कुछ जान फूंकी। लेकिन अरबी बुद्धिवाद और विज्ञान फिर न जगे। इस्लाम एक ज़्यादा सख़्त और बेलोच मज़हब बन गया जो फ़ौजी क़दमों के लिए माक़ूल पड़ता था दिमाग़ी क़दमों के लिए नहीं। एशिया में इसके बाद घुमा-

इसि अरबवाले न रहे बल्कि तुर्क[1] और मंगोल (जो बाद में हिंदुस्तान में आकर मुग़ल कहलाये) बने और कुछ हद तक अफ़ग़ानी। पश्चिमी एशिया के ये मंगोल मुसलमान हो गये थे; सुदूर पूरब में और बीच के इलाक़ों में बहुत-से बौद्ध बन गये थे।

## ५ महमूद ग़ज़नवी और अफ़ग़ान

आठवीं सदी के शुरू में ७१२ ई. में अरबवाले सिंध पहुंचे थे और उन्होंने यहां अधिकार कर लिया था। वहीं वे ठहर गये। क़रीब पचास साल के भीतर खुद सिंध अरबी सल्तनत से अलहदा हो गया, यद्यपि यह एक छोटी आज़ाद मुसलमान रियासत की हैसियत से बना रहा। क़रीब तीन सौ साल बाद तक फिर कोई और हमला या धावा हिंदुस्तान पर न हुआ। १ ई. के आस-पास अफ़ग़ानिस्तान में ग़ज़नी के सुल्तान महमूद ने जो तुर्क था और जिसने मध्य-एशिया में अच्छी ताक़त बना ली थी हिंदुस्तान पर धावे शुरू किये। ऐसे बहुत-से धावे हुए और ये धावे ख़ूं-नाक और बे-दर्दी के थे और हर मौक़े पर महमूद अपने साथ लूट का बड़ा ख़ज़ाना ले गया। उसी ज़माने के एक आलिम खीवा के रहनेवाले अल्बेरूनी ने इन हमलों का बयान किया है—"हिंदू धूल के कणों की तरह चारों तरफ़ तितर बितर हो गये और लोगों के मुंह में किसी पुराने क़िस्से की तरह उनकी याद रह गई। जो तितर-बितर होकर बच रहे, वे सभी मुसलमानों की तरफ़ हद दर्जे की नफ़रत से देखते हैं।" इस शायराना बयान से हमें उस आफ़त का कुछ अंदाज़ मिलता है, जो महमूद ने ढाई थी। ताहम हमें यह याद रखनी चाहिए कि महमूद ने उत्तरी हिंदुस्तान के सिर्फ़ एक टुकड़े को छुआ और काटा था, जो उसके धावे के रास्ते में पड़े थे। सारा-का-सारा मध्य-पूरबी और दक्खिनी हिंदुस्तान उससे बिलकुल बचा हुआ था।

उस वक़्त और बाद में भी दक्खिन हिंदुस्तान में ज़बरदस्त चोल साम्राज्य की हुकूमत थी, जिसने समुद्री रास्तों को क़ाबू में कर रखा था और जो जावा में श्रीविजय तक और सुमात्रा तक फैला हुआ था। पूरबी समुद्र के देशों में हिंदुस्तानी नौ-आबादियां भी तरक्की पर थीं और ख़ुशहाली थी। उनके

---

[1] मैंने अक्सर तुर्क या तुर्की लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया है। इससे कुछ भ्रम हो सकता है, क्योंकि 'तुर्क' से आजकल तुर्की के लोगों से मतलब लिया जाता है, जो उस्मानी तुर्कों की औलाद हैं। लेकिन और तरह के तुर्क भी होते थे जैसे सेल्जुक वग़ैरह। मध्य-एशिया, चीनी तुर्किस्तान वग़ैरह की सभी तूरानी जातियां तुर्क या तुर्की कही जा सकती हैं।

और पश्चिमी हिंदुस्तान के बीच समूची ताकत बंटी हुई थी। लेकिन यह हिंदुस्तान को तुर्कों की राह होनेवाले हमले से न बचा सकी।

महमूद ने पंजाब और सिंध को अपने राज्य में मिला लिया और वह हर हमले के बाद गजनी लौट जाता रहा। वह काश्मीर न जीत पाया। इस पहाड़ी देश ने कामयाबी के साथ उसे रोका और वहां से मार भगाया। जब वह काठियावाड़ में सोमनाथ से वापस आ रहा था तो उसे राजपूताने के रेगिस्तानी प्रदेश में भी गहरी हार खानी पड़ी।[1] यह उसका आखिरी धावा था और इसके बाद वह फिर न लौटा।

महमूद मजहबी आदमी होने के बनिस्बत लड़ाका कहीं ज्यादा था और बहुत-से और विजेताओं की तरह उसने अपनी फ़तहों में मजहब के नाम से फ़ायदा उठाया। उसके लिए हिंदुस्तान महज एक ऐसा मुल्क था जहां से वह माल और खजाना लूटकर अपने देश में पहुंचा सकता था। उसने हिंदुस्तान से एक फ़ौज भरती की और उसे अपने एक मशहूर सिपहसालार की मातहती, जिसका नाम तिलक था और जो एक हिंदुस्तानी और हिंदू था, कर दिया। इस फ़ौज का इस्तेमाल उसने खुद अपने मजहबवालों के खिलाफ़ मध्य-एशिया में किया। उसकी यह बड़ी ख्वाहिश थी कि अपनी राजधानी गजनी को मध्य और पश्चिमी एशिया के बड़े शहरों के मुकाबले का

[1] इस हार के बारे में 'तारीखे-सोरठ' (रणछोड़जी अमरजी द्वारा अनूदित, बंबई १८८२) नाम के एक पुराने फ़ारसी इतिहास में एक अजीब बयान आया है (पृष्ठ ११२)—"शाह मुहम्मद ने बबड़पुर में भागकर अपनी जान बचाई, लेकिन उसके बहुत-से साथी मर्द और औरत, पकड़ लिये गये। तुर्क नौजवान और मुगल औरत क़ैदियों से जबर से ब्याही हुई, जो हिंदुस्तानी सिपाहियों ने ब्याह कर लिये। औरतों के पेट बलात और रेचक दवाएं देकर साफ़ किये गये और इसके बाद क़ैदियों का उसी वर्ग के लोगों के साथ ब्याह कर दिया गया। "नीचे के वर्ग की औरतें नीचे वर्ग के लोगों से ब्याही गईं। शरीफ़ आदमियों की दाढ़ियां मुड़वा दी गईं और वे राजपूतों की बेलाखत और बाढ़िल जातियों में शरीक कर लिये गये; और नीचे वर्ग के लोग कोलियों, खांतों, वाघेरियों और मेरों की जातियों में मिला लिये गये।" मैंने खुद 'तारीखे-सोरठ' नहीं देखी है और कह नहीं सकता कि इसे कहां तक प्रामाणिक माना जा सकता है। मैंने यह उद्धरण के० एम० मुंशी की किताब 'दि ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश' से लिया है (भाग ३ पृष्ठ १४)। विदेशियों को राजपूतों के फ़िरक़ों में मिला लेने का ढंग दिलचस्प है, और यह बात कि शादियां तक हुईं। शुद्धि का जो तरीका बताया गया, वह अजीब है।

जमा थे और इसलिए वह हिंदुस्तान से बहुत-से कारीगर और मेमार ले गया था। इमारतों के बनाने में उसकी दिलचस्पी थी और दिल्ली के क़रीब मथुरा शहर का उस पर बड़ा असर पड़ा। इसके बारे में उसने लिखा—"यहाँ हज़ारों इमारतें हैं जो मज़हबियों के मज़हब की तरह मज़बूत हैं। यह मुमकिन नहीं कि उसकी यह हालत करोड़ों दीनार ख़र्च के किये बग़ैर हुई हो और इस तरह का दूसरा शहर दो सौ साल से कम वक़्त में नहीं तैयार हो सकता।

लड़ाइयों के बीच फ़ुरसत के वक़्तों में महमूद की दिलचस्पी इस बात में थी कि अपने देश के तहज़ीबी रुझानों को तरक़्क़ी दिलाये और उसने अपने यहाँ बहुत-से मशहूर लोगों को इकट्ठा कर लिया था। इनमें से मशहूर फ़ारसी कवि फ़िरदौसी भी था जिसने 'शाहनामा' रचा था और जिसकी बाद में महमूद से अनबन हो गई थी। अलबेरूनी जो यात्री और आलिम था उसका समकालीन हुआ है और इसने अपनी किताबों में उस वक़्त के मध्य-एशिया के और पड़ोसों की झांकी पेश की है। खीवा में उसका जन्म हुआ था लेकिन वह फ़ारसी ख़ानदान का था। वह हिंदुस्तान आया और यहाँ उसने ख़ूब यात्राएं की। वह दक्खिन के चोळ-राज्य के आबपाशी के बड़े कामों के हाल बताता है, यद्यपि इसमें शक है कि वह ख़ुद दक्खिन हिंदुस्तान गया भी था। उसने काश्मीर में संस्कृत सीखी और हिंदुस्तान के मज़हब, फ़िलसफ़े, विज्ञान और कलाओं की जानकारी हासिल की। इससे पहले उसने यूनानी फ़िलसफ़े को पढ़ने के लिए यूनानी ज़बान भी सीखी थी। उसकी किताबें न महज़ मालूमात का एक ख़ज़ाना हैं बल्कि उनसे हमें यह भी पता चलता है कि किस तरह लड़ाई और लूटमार और क़त्ल के ज़माने में भी सच के खोजी लोग इल्म हासिल करने में लगे रहते थे और किस तरह एक मुल्क के लोग दूसरे मुल्कवालों की बातों को उस वक़्त भी समझने की कोशिश में लगे हुए थे जबकि जोश और गुस्से ने उनके आपस के संबंध को तीखा बना दिया था। इस जोश और गुस्से ने बिला शुबहा दोनों ही तरफ़ के लोगों की बुद्धि को मंद कर दिया था और हर एक अपने को दूसरे से ऊंचा ख़याल करता था। हिंदुस्तानियों के बारे में अलबेरूनी कहता है कि वे "गर्वीले मूर्खतापूर्ण घमंडी अपने में संतुष्ट और बेवक़ूफ़ हैं और उनका यक़ीन है कि "उनके मुल्क-जैसा दूसरा मुल्क नहीं उनकी क़ौम-जैसी दूसरी क़ौम नहीं उनके राजों-जैसे दूसरे राजे नहीं और उनके विज्ञान-जैसा दूसरों का विज्ञान नहीं। शायद लोगों के रुख़ का यह काफ़ी सही बयान है।

महमूद के हमले हिंदुस्तान के इतिहास की एक बड़ी घटना है, हालांकि

सियासी तौर पर सारे हिंदुस्तान पर उनका कुछ ज्यादा असर नहीं पड़ा और हिंदुस्तान का खास हिस्सा अछूता ही रहा। उनसे उत्तरी हिंदुस्तान की कमजोरी और उतार का पता चलता है और अलबेरूनी के बयान इस बात पर और भी रोशनी डालते हैं कि उत्तर और पच्छिम में राजनैतिक हालत कैसी बिगड़ी हुई थी। पच्छिमोत्तर से होनेवाले बार-बार के ये हमले हिंदुस्तान के जमे हुए विचार और अर्थ-तंत्र में बहुत-से नये तत्त्व लेकर आये। सबसे खास बात यह है कि वे यहां इस्लाम को ले आये जो पहली बार बेरहम फ़ौजी फ़तहों के साथ आया। अबतक करीब तीन सौ साल पहले से इस्लाम यहां शांति के साथ एक मजहब की हैसियत से आया था और उसने बिना लड़े-झगड़े के अपनी जगह और मजहबों के साथ-साथ बना ली थी। उसके इस नये तरीके ने लोगों में जबरदस्त मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं पैदा कीं और उनके दिलों में कड़वापन भर दिया। एक नये मजहब से कोई एतराज न था लेकिन अगर कोई चीज जबरदस्ती उनके रहन-सहन के ढंग में खलल डाले और उसे उलट-पलट दे तो इसके खिलाफ़ उनके दिलों में गहरा विरोध था।

यह याद रहे कि हिंदुस्तान बहुत-से मजहबों का मुल्क रहा है, बावजूद इसके कि हिंदू मजहब अपनी मुख्तलिफ़ शक्लों में उन पर हावी रहा हो। जैन और बौद्ध-धर्म को छोड़ दिया जाय जो ज्यादातर हिंदू-धर्म में जज्ब हो गये थे तो भी ईसाई और इस्लामी मजहब रह जाते हैं। ये दोनों मजहब हिंदुस्तान में शायद ईसा के बाद की पहली सदी में आये थे और दोनों ने इस मुल्क में जगह कर ली थी। दक्खिन हिंदुस्तान में बहुत-से सिरियन ईसाई और नस्तूरी थे और वे इस देश के वैसे ही अंग थे जैसे और लोग थे। यही हाल यहूदियों का था और जरथुष्ट्र के अनुयायियों के उस छोटे-से दल का भी था जो ईरान से सातवीं सदी में हिंदुस्तान आया था। और यही हालत बहुत-से मुसलमानों की भी थी—जो उत्तर-पच्छिम से आकर पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गये थे।

महमूद विजेता की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का एक सरहदी सूबा बन गया। फिर भी जब वह यहां का शासक बन बैठा तो उसके पुराने तरीकों को नरम करने और कुछ हदतक सूबे के लोगों की खुशी हासिल करने की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब इतना दखल नहीं दिया जाता था और फ़ौज में और हुकूमत में ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर हिंदू मुकर्रर किये जाने लगे थे। महमूद के जमाने में इस तौर की शुरुआत-भर हो गई थी; बाद में इस रुझान ने और तरक्की की।

महमूद १ १ ई में मरा। उसकी मौत के बाद एक सौ साठ से ज्यादा सालों तक कोई दूसरा हमला न हुआ और न तुर्की हुकूमत पंजाब से आगे बढ़ी। इसके बाद शहाबुद्दीन ग़ोरी नाम के एक अफ़ग़ान ने ग़ज़नी पर कब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवियों की सल्तनत का ख़ात्मा हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया फिर दिल्ली पर, लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया। शहाबुद्दीन अफ़ग़ानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक नई फ़ौज लेकर हिंदुस्तान में उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और ११९२ में वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा।

पृथ्वीराज एक लोकप्रिय नायक है और गीतों और कहानियों में अब भी मशहूर है क्योंकि साहसी प्रेमी हमेशा हर-दिल अज़ीज़ होते हैं। वह अपनी प्रेमिका को उसके पिता कन्नौज के राजा जयचंद के महल से भगा लाया था और बहुत-से छोटे-छोटे राजाओं को, जो उसको बरने के लिये आये थे चुनौती दी थी। थोड़े वक्त के लिए उसने अपनी प्रेमिका को पाकर पा लिया लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि एक शक्तिशाली शासक से उसकी लड़ाई छिड़ गई और दोनों तरफ़ से बहुत-से योद्धा काम आये। दिल्ली और मध्य हिंदुस्तान के बहादुर आपस की लड़ाई में खप गये और बहुत खून-ख़राबी हुई। इस तरह एक औरत की ख़ातिर पृथ्वीराज ने अपनी जान गंवाई और अपना तख़्त खोया और दिल्ली जो एक सल्तनत की राजधानी थी एक विदेशी हमलावर के हाथ में चली गई। लेकिन उसकी प्रेम कहानी अब भी कही जाती है और उसे एक वीर पुरुष माना जाता है और जयचंद को क़रीब-क़रीब देशद्रोही समझा जाता है।

दिल्ली की इस फ़तह के ये मानी नहीं थे कि सारा हिंदुस्तान फ़तह हो गया। चोल-संघ दक्खिन में अब भी शक्तिशाली था और दूसरी खुद मुख़्तार रियासतें भी थीं। अफ़ग़ानों को दक्खिन हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से में अपनी हुकूमत फैलाने में और भी डेढ़ सदी लग गई। लेकिन दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मार्के की बात थी और नई व्यवस्था का यह एक प्रतीक था।

## ४ हिंदी-अफ़ग़ान दक्खिन हिंदुस्तान विजयनगर बाबर समुद्री ताक़त

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेजों ने और कुछ हिंदुस्तानी इतिहासकारों ने भी तीन बड़े हिस्सों में बांटा है—प्राचीन या हिंदू, मुस्लिम और अंग्रेज़ी-काल। यह बंटवारा न अक्ल का है और न सही है इससे धोखा होता

सियासी तौर पर सारे हिंदुस्तान पर उनका कुछ ज्यादा असर नहीं पड़ा और हिंदुस्तान का खास हिस्सा अछूता ही रहा। उनसे उत्तरी हिंदुस्तान की कमजोरी और उतार का पता चलता है और अलबेरूनी के बयान इस बात पर और भी रोशनी डालते हैं कि उत्तर और पच्छिम में राजनैतिक हालत कैसी बिगड़ी हुई थी। पच्छिमोत्तर से होनेवाले बार-बार के ये हमले हिंदुस्तान के बंधे हुए विचार और अर्थ-तंत्र में बहुत-से नये तत्त्व लेकर आये। सबसे खास बात यह है कि वे यहां इस्लाम को ले आये जो पहली बार बेरहम फौजी फ़तहों के साथ आया। अबतक करीब तीन सौ साल पहले से इस्लाम यहां शांति के साथ एक मजहब की हैसियत से आया था और उसने बिना झगड़े-फ़साद के अपनी जगह और मजहबों के साथ-साथ बना ली थी। उसके इस नये तरीके ने लोगों में जबरदस्त मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं पैदा कीं और उनके दिमाग में कड़वापन भर दिया। एक नये मजहब से कोई एतराज न था लेकिन अगर कोई चीज जबरदस्ती उनके रहन-सहन के ढंग में दखल डाले और उसे उलट-पलट दे तो इसके खिलाफ उनके दिलों में गहरा विरोध था।

यह याद रहे कि हिंदुस्तान बहुत-से मजहबों का मुल्क रहा है बावजूद इसके कि हिंदू मजहब अपनी मुख्तलिफ़ शक्लों में उन पर हावी रहा है। जैन और बौद्ध-धर्म को छोड़ दिया जाय जो ज्यादातर हिंदू-धर्म में जज्ब हो गये थे तो भी ईसाई और यहूदी मजहब रह जाते हैं। ये दोनों मजहब हिंदुस्तान में ग़ालिबन ईसा से बाद की पहली सदी में आये थे और दोनों ने इस मुल्क में जगह कर ली थी। दक्खिन हिंदुस्तान में बहुत-से सिरियन ईसाई और नस्तूरी थे और वे इस देश के वैसे ही अंग थे जैसे और लोग थे। यही हाल यहूदियों का था और जरथुश्त के अनुयायियों के उस छोटे-से दल का भी था जो ईरान से सातवीं सदी में हिंदुस्तान आया था। और यही हालत बहुत-से मुसलमानों की भी थी—जो उत्तर-पच्छिम से आकर पच्छिमी समुद्र-तट पर बस गये थे।

महमूद विजेता की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का एक सरहदी सूबा बन गया। फिर भी जब वह यहां का शासक बन बैठा तो उसके पुराने तरीकों को खत्म करने और कुछ हदतक सूबे के लोगों की खुशी हासिल करने की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब इतना दखल नहीं दिया जाता था और फ़ौज में और हुकूमत में ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर हिंदू मुकर्रर किये जाने लगे थे। महमूद के जमाने में इस तौर की शुरुआत-भर हो पाई थी बाद में इस रुझान ने और तरक्की की।

महमूद १ १ ई में मरा। उसकी मौत के बाद एक सौ साठ से ज्यादा सालों तक कोई दूसरा हमला न हुआ और न तुर्की हुकूमत पंजाब से आगे बढ़ी। इसके बाद शहाबुद्दीन ग़ौरी नाम के एक अफ़ग़ान ने ग़ज़नी पर कब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवियों की सल्तनत का खात्मा हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया फिर दिल्ली पर, लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया। शहाबुद्दीन अफ़ग़ानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक नई फ़ौज लेकर हिंदुस्तान में उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और ११९२ में वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा।

पृथ्वीराज एक लोकप्रिय नायक है और गीतों और कहानियों में अब भी मशहूर है, क्योंकि साहसी प्रेमी हमेशा हर-दिल अज़ीज़ होते हैं। वह अपनी प्रेमिका को उसके पिता कन्नौज के राजा जयचंद के महल से भगा लाया था और बहुत-से छोटे-छोटे राजाओं को, जो उसको वरने के लिये आये थे चुनौती दी थी। थोड़े वक्त के लिए उसने अपनी प्रेमिका को ज़रूर पा लिया लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि एक शक्तिशाली शासक से उसकी लड़ाई छिड़ गई और दोनों तरफ़ से बहुत-से योद्धा काम आये। दिल्ली और मध्य हिंदुस्तान के बहादुर आपस की लड़ाई में लग गये और बहुत ख़ून-ख़राबी हुई। इस तरह एक औरत की ख़ातिर पृथ्वीराज ने अपनी जान गवाई और अपना तख़्त खोया और दिल्ली जो एक सल्तनत की राजधानी थी एक विदेशी हमलावर के हाथ में चली गई। लेकिन उसकी प्रेम कहानी अब भी कही जाती है और उसे एक वीर पुरुष माना जाता है और जयचंद को क़रीब-क़रीब देशद्रोही समझा जाता है।

दिल्ली की इस फ़तह के ये मानी नहीं थे कि सारा हिंदुस्तान फ़तह हो गया। चोल-वंश दक्खिन में अब भी शक्तिशाली था और दूसरी ख़ुद मुख़्तार रियासतें भी थीं। अफ़ग़ानों को दक्खिन हिंदुस्तान के ज़्यादातर हिस्से में अपनी हुकूमत फैलाने में और भी डेढ़ सदी कम लगी। लेकिन दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मार्के की बात थी और नई व्यवस्था का यह एक प्रतीक था।

### ४ हिंदी-अफ़ग़ान दक्खिन हिंदुस्तान विजयनगर बाबर समुद्री ताक़त

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेज़ों ने और कुछ हिंदुस्तानी इतिहासकारों ने भी तीन बड़े हिस्सों में बांटा है—प्राचीन या हिंदू, मुस्लिम और अंग्रेज़ी-काल। यह बटवारा न अक्ल का है और न सही है इससे धोखा होता

है और यह हमारे सामने एक गलत तस्वीर पेश करता है। इसमें ऊपर के वर्गों के कुछ सतही परिवर्तनों का खयाल किया गया है, बनिस्बत इसके कि हिंदुस्तानियों के राजनैतिक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की खास-खास तब्दीलियों का खयाल किया गया हो। तथाकथित प्राचीन काल बड़ा विशाल है और परिवर्तनों से भरा हुआ है उन्नति उतार और फिर बराबर उन्नति का क्रम चलता है। जिसे मुस्लिम-काल या मध्य-युग कहते हैं, उसमें भी एक तब्दीली हुई और अहम तब्दीली हुई, फिर भी यह ऊपर के लोगों तक महदूद रही। इसने हिंदुस्तानी जिंदगी के खास सिलसिले पर ज्यादा असर नहीं डाला। वे हमलावर, जो हिंदुस्तान में पश्चिमोत्तर से आये ज्यादा पुराने जमाने में आनेवाले और हमलावरों की तरह हिंदुस्तान में बस हो गये और उसके हो रहे। उनके वंश हिंदुस्तानी वंश कहलाये और आपस की शादियों की वजह से जातियों का बहुत-कुछ मेल-जोल हो गया। कुछ अपवादों को छोड़कर जान-बूझकर इस बात की कोशिश की गई जान पड़ती है कि आम लोगों के रीति-रिवाजों और तरीकों से छेड़ छाड़ न की जाय। उन्होंने हिंदुस्तान को अपना देश समझा और हिंदुस्तान के बाहर उनके कोई दूसरे लगाव न थे। हिंदुस्तान एक आजाद मुल्क बना रहा।

अंग्रेजों के आने ने एक बड़ा फर्क ला दिया और पुरानी प्रथा बहुत-कुछ जड़ से उखड़ चली। वे पश्चिम से एक बिलकुल नई प्रेरणा लाये जो यूरोप में पुनर्जागृति (रिनेसां) सुधार (रिफ़ॉर्मेशन) और इंग्लिस्तान की राजनैतिक क्रांति के जमाने से रफ्ता-रफ्ता तरक्की कर रही थी और औद्योगिक क्रांति (इंडस्ट्रियल रिव्योल्यूशन) के शुरू में जिसकी रूपरेखा बन रही थी। अमरीका और फ्रांस की क्रांतियों ने इसे और आगे बढ़ाया। अंग्रेज बाहरी विदेशी और हिंदुस्तान में बे-मेल ही बने रहे और कुछ और होने की उन्होंने कोशिश भी न की। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हिंदुस्तान के इतिहास में पहली दफा उसका राजनैतिक नियंत्रण बाहर से चलाया गया और उसके अर्थ तंत्र का मरकज एक दूर देश में रहा। उन्होंने हिंदुस्तान को आधुनिक युग की एक नौ-आबादी की तरह समझा और हिंदुस्तान अपनी लंबी तारीख में पहली बार एक गुलाम मुल्क बना।

महमूद गजनवी का हमला यकीनी तौर पर एक विदेशी तुर्की हमला था और उसका नतीजा यह हुआ कि पंजाब हिंदुस्तान के और हिस्सों से कुछ जमाने के लिए अलग रहा। जो अफ़गान यहां बारहवीं सदी के आखिर में आये थे उनकी जड़ गहरी थी। वे हिंदी-आर्य जाति के लोग थे और हिंदुस्तान के लोगों से उनका नजदीकी रिश्ता था। दरअसल लंबी मुद्दतों

तक अफ़ग़ानिस्तान हिंदुस्तान का एक टुकड़ा होकर रहा है उसे ऐसा होना ही था। उसकी भाषा पश्तो बुनियादी तौर पर संस्कृत से निकली है। हिंदुस्तान या हिंदुस्तान से बाहर बहुत कम जगहें ऐसी हैं जहां हिंदुस्तानी संस्कृति की पुरानी यादगारें और खंडहर—खासकर बौद्ध ज़माने के—इतनी बहुतायत से हों जितने अफ़ग़ानिस्तान में हैं। ज्यादा सही यह होगा कि अफ़ग़ान लोग हिंदी-अफ़ग़ान कहे जायें। उनमें और हिंदुस्तान के मैदानों के लोगों में बहुत-कुछ फ़र्क रहा है, उसी तरह जिस तरह कि काश्मीर की पहाड़ी घाटियों के लोगों में और नीचे के गरम और मैदानी इलाक़ों के लोगों में है। लेकिन बावजूद इस फ़र्क के काश्मीर हिंदुस्तानी इल्म और तहज़ीब का एक खास मरकज़ रहा है। अफ़ग़ानियों में और खासा तहज़ीब-याफ़्ता या सायमी से छूटे हुए अरबों और ईरानियों में भी फ़र्क रहा है। अपने पहाड़ी भाइयों की तरह वे सख्त और खौफ़नाक भाग हैं। वे लोग अपने मज़हब के पक्के बहादुर, दिमाग़ी पेचों और यहूदाश्मा में पड़ने से बचनेवाले रहे हैं। शुरू-शुरू में उनका व्यवहार ऐसा रहा है, जैसा विजेताओं का विरोधी लोगों के साथ होता है, यानी कड़ा और बेरहमी का।

लेकिन जल्द ही वे नरम पड़ गये। हिंदुस्तान उनका घर बन गया और दिल्ली उनकी राजधानी रही—दूर-दराज़ ग़ज़नी नहीं जैसाकि महमूद के ज़माने में था। अफ़ग़ानिस्तान जहां से वे आये थे उनके राज्य के छोर के बाहर एक हिस्से की हैसियत रखता था। हिंदुस्तानी बनने की क्रिया तेज़ी से चली और उनमें से बहुतों ने इस मुल्क की औरतों से ब्याह कर लिये। उनके बड़े सुल्तानों में से एक अलाउद्दीन खिलजी ने एक हिंदू औरत के साथ ब्याह किया और इसी तरह उसके बेटे ने भी। बाद के कुछ शासक जाति से तुर्क थे जैसे कुतुबुद्दीन ऐबक सुल्ताना रज़िया और इल्तुतमिश लेकिन उमरा और क़ौम ज्यादातर अफ़ग़ान ही रही। दिल्ली एक सल्तनत की राजधानी के तौर पर चमकी। मोरक्को का एक मशहूर अरब यात्री इब्न बतूता जिसने बहुत-से मुल्क और क़ाहिरा और कुस्तुनतुनिया से चीन तक के बहुत-से शहर देखे थे शायद कुछ अत्युक्ति के साथ कहता है कि "दिल्ली जहान के सबसे बड़े शहरों में एक है।"

दिल्ली की सल्तनत दक्खिन की तरफ़ फैली। चोल-राज्य की अवनति हो रही थी लेकिन उसकी जगह पर एक नई समुद्री ताक़त उठ खड़ी हुई थी। यह पांड्य रियासत थी इसकी राजधानी मदुरा में थी और इसका बंदरगाह पूरबी तट पर क़याल था। यह एक छोटा-सा राज्य था लेकिन यहां व्यापार की एक बड़ी मंडी थी। चीन से वापस आते समय मार्को पोलो यहां दो बार

सियासी तौर पर सारे हिंदुस्तान पर उनका कुछ ज्यादा असर नहीं पड़ा और हिंदुस्तान का खास हिस्सा अछूता ही रहा। उनसे उत्तरी हिंदुस्तान की कमजोरी और हार का पता चलता है और अलबेरूनी के बयान इस बात पर और भी रोशनी डालते हैं कि उत्तर और पश्चिम में राजनैतिक हालत कैसी बिगड़ी हुई थी। पश्चिमोत्तर से होनेवाले बार-बार के ये हमले हिंदुस्तान के बंधे हुए विचार और धर्म-तंत्र में बहुत-से नये तत्त्व लेकर आये। सबसे खास बात यह है कि वे यहां इस्लाम को ले आये जो पहली बार बेरहम फौजी फ़तहों के साथ आया। अबतक क़रीब तीन सौ साल पहले से इस्लाम यहां शांति के साथ एक मजहब की हैसियत से आया था और उसने बिना झगड़े-फसाद के अपनी जगह और मजहबों के साथ-साथ बना ली थी। उसके इस नये तरीके ने लोगों में जबरदस्त मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएं पैदा की और उनके दिलों में कड़वापन भर दिया। एक नये मजहब से कोई एतराज न था लेकिन अगर कोई चीज जबरदस्ती उनके रहन-सहन के ढंग में खलल डाले और उसे उलट-पलट दे तो इसके खिलाफ़ उनके दिलों में गहरा विरोध था।

यह याद रहे कि हिंदुस्तान बहुत-से मजहबों का मुल्क रहा है बावजूद इसके कि हिंदू मजहब अपनी मुख्तलिफ़ शक्लों में उन पर हावी रहा हो। जैन और बौद्ध-धर्म को छोड़ दिया जाय जो ज्यादातर हिंदू-धर्म में जज्ब हो गये थे तो भी ईसाई और यहूदी मजहब रह जाते हैं। ये दोनों मजहब हिंदुस्तान में गालिबन ईसा से बाद की पहली सदी में आये थे और दोनों ने इस मुल्क में जगह कर ली थी। दक्खिन हिंदुस्तान में बहुत-से सिरियन ईसाई और नस्तूरी थे और वे इस देश के वैसे ही अंग थे जैसे और लोग थे। यही हाल यहूदियों का था और जरथुश्त्र के अनुयायियों के उस छोटे-से दल का भी था जो ईरान से सातवीं सदी में हिंदुस्तान आया था। और यही हालत बहुत-से मुसलमानों की भी थी—जो उत्तर-पश्चिम से आकर पश्चिमी समुद्र-तट पर बस गये थे।

महमूद ग़जनी की हैसियत से आया और पंजाब उसकी सल्तनत का एक सरहदी सूबा बन गया। फिर भी जब वह वहां का शासक बन बैठा तो उसके पुराने तरीकों को नरम करने और कुछ हदतक सूबे के लोगों की खुशी हासिल करने की कोशिश की गई। उनके रहन-सहन में अब इतना दखल नहीं दिया जाता था और फौज में और हुकूमत में ऊंचे-ऊंचे ओहदों पर हिंदू मुकर्रर किये जाने लगे थे। महमूद के हमलों में इस तौर की शुरुआत-भर ही पाई थी बाद में इस रुझान ने और तरक्की की।

महमूद १ १ ६ में मरा। उसकी मौत के बाद एक सौ साठ से ज्यादा सालों तक कोई दूसरा हमला न हुआ और न तुर्की हुकूमत पंजाब से आगे बढ़ी। इसके बाद शहाबुद्दीन ग़ोरी नाम के एक अफ़ग़ान ने ग़ज़नी पर क़ब्ज़ा कर लिया और ग़ज़नवियों की सल्तनत का ख़ात्मा हुआ। उसने पहले लाहौर पर धावा किया फिर दिल्ली पर, लेकिन दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने उसे पूरी तरह से हरा दिया। शहाबुद्दीन अफ़ग़ानिस्तान वापस चला गया और दूसरे साल फिर एक नई फ़ौज लेकर हिंदुस्तान में उतरा। इस बार उसकी जीत हुई और ११९२ में वह दिल्ली के तख़्त पर बैठा।

पृथ्वीराज एक लोकप्रिय नायक है और गीतों और कहानियों में अब भी मशहूर है, क्योंकि साहसी प्रेमी हमेशा हर-दिल अज़ीज़ होते हैं। वह अपनी प्रेमिका को उसके पिता क़न्नौज के राजा जयचंद के महल से भगा लाया था और बहुत-से छोटे-छोटे राजाओं को जो उसको वरने के लिये आये थे चुनौती दी थी। थोड़े वक़्त के लिए उसने अपनी प्रेमिका को ज़रूर पा लिया लेकिन इसका नतीजा यह हुआ कि एक शक्तिशाली शासक से उसकी लड़ाई छिड़ गई और दोनों तरफ़ से बहुत-से योद्धा काम आये। दिल्ली और मध्य हिंदुस्तान के बहादुर आपस की लड़ाई में खप गये और बहुत ख़ून-ख़राबी हुई। इस तरह एक औरत की ख़ातिर पृथ्वीराज ने अपनी जान गवाँई और अपना तख़्त खोया और दिल्ली जो एक सल्तनत की राजधानी थी एक विदेशी हमलावर के हाथ में चली गई। लेकिन उसकी प्रेम कहानी अब भी कही जाती है और उसे एक वीर पुरुष माना जाता है और जयचंद को क़रीब-क़रीब देशद्रोही समझा जाता है।

दिल्ली की इस फ़तह के ये मानी नहीं थे कि सारा हिंदुस्तान फ़तह हो गया। चोल-संघ दक्खिन में अब भी शक्तिशाली था और दूसरी ख़ुद-मुख़्तार रियासतें भी थीं। अफ़ग़ानों को दक्खिन हिंदुस्तान के ज़्यादातर हिस्से में अपनी हुकूमत फैलाने में और भी डेढ़ सदी लग गई। लेकिन दिल्ली में नई हुकूमत का आना एक मार्के की बात थी और नई व्यवस्था का यह एक प्रतीक था।

### ४ हिंदी-अफ़ग़ान दक्खिन हिंदुस्तान विजयनगर बाबर समुद्री ताक़त

हिंदुस्तान के इतिहास को अंग्रेज़ों ने और कुछ हिंदुस्तानी इतिहासकारों ने भी तीन बड़े हिस्सों में बाँटा है—प्राचीन या हिंदू, मुस्लिम और अंग्रेज़ी-काल। यह बँटवारा न अक़्ल का है और न सही है। इससे धोखा होता

रुका था—सन १२८८ में और फिर १२९३ में और उसने इसे "एक बड़ा और विलास नगर" बताया है जहां अरब और चीन के जहाजों का जमघट रहता था। वह बहुत बारीक मलमल का भी जिक्र करता है जिसके तार मकड़ी के जालों-जैसे लगते थे और जो हिंदुस्तान के पूरबी समुद्र तट पर तैयार किया जाता था। मार्को पोलो हमें एक और दिलचस्प बात बताता है। अरब और ईरान से बहुत बड़ी संख्या में घोड़े दक्खिन हिंदुस्तान में मंगाये जाते थे। दक्खिन हिंदुस्तान की आब-हवा घोड़ा-बच्ची के लिए माफ़िक नहीं आती थी और घोड़ों की और इस्तैमाल के अलावा, फ़ौजी कामों के लिए ज़रूरत पड़ती थी। घोड़ा-बच्ची के माफ़िक सबसे अच्छे मैदान मध्य और पच्छिमी एशिया में थे और इस बात से कुछ हद तक इसका अंदाज लगेगा कि *मध्य-एशिया की जातियां लड़ाई की कला में क्यों बढ़ी-चढ़ी थीं।* वहां के मंगोल बड़े शानदार घुड़सवार थे और वे अपने घोड़ों से बड़ा लगाव रखते थे। तुर्क लोग भी अच्छे घुड़सवार थे और अरबवालों की अपने घोड़ों के लिए मुहब्बत तो मशहूर ही है। उत्तरी और पच्छिमी हिंदुस्तान में खासतौर पर काठियावाड़ में घोड़ा-बच्ची के लिए कुछ अच्छे मैदान हैं और राजपूत घोड़ा के बड़े शौकीन हैं। कई छोटी-मोटी लड़ाइयां अकसर किसी मशहूर घोड़े की खातिर लड़ी गई हैं। दिल्ली के एक सुल्तान के बारे में एक कहानी कही जाती है कि उसने एक राजपूत सरदार के घोड़े को पसंद करके उसे मांगा। इस सरदार ने लोभी बादशाह से कहा— 'तीन चीज़ें हैं जिन्हें राजपूत से कभी नहीं मांगना चाहिए, उसका घोड़ा उसकी स्त्री और उसकी तलवार।' और यह कहकर वह घोड़े को सरपट भगाता हुआ चला गया। बाद में इस घटना के कारण झगड़ा हुआ।

चौदहवीं सदी के आखिरी हिस्से में तुर्क या तुर्क-मंगोल जाति के तैमूर ने उत्तर से उतरकर दिल्ली सल्तनत को विध्वस्त कर दिया। वह हिंदुस्तान में चंद महीने ही रहा, वह दिल्ली आया और वापस लौट गया। लेकिन जिस रास्ते वह आया उस रास्ते में सब जगहें उसने वीरान कर दीं और कत्ल किए गये लोगों की खोपड़ियों के मीनार बना दिये। खुद दिल्ली मुर्दों का शहर बन गया। खुशकिस्मती से वह और आगे नहीं बढ़ा और पंजाब के कुछ हिस्सों और दिल्ली को ही यह खौफनाक हालत भुगतनी पड़ी।

दिल्ली को मौत की इस नींद से उठने में बहुत साल लग गये और जब वह जगी भी तो एक बड़ी सल्तनत की राजधानी न रह गई थी। तैमूर के हमले ने इस सल्तनत को तोड़ दिया था और उसके खंडहरों पर दक्खिन में कई रियासतें उठ खड़ी हुई थीं। इससे बहुत पहले चौदहवीं सदी के शुरू में दो

बड़े राज्य क़ायम हुए थे—गुलबर्गा जो बहमनी[1] राज्य के नामसे मशहूर है और विजयनगर का हिंदू राज्य। गुलबर्गा अब पांच रियासतों में बंट गया। इनमें से एक अहमदनगर था। अहमद निज़ाम शाह जिसने १४९ में अहमदनगर क़ायम किया बहमनी राजाओं के वज़ीर निज़ामुल्मुल्क भैरी का बेटा था। यह निज़ामुल्मुल्क भैरू नाम के एक ब्राह्मण लेखापाल का बेटा था (इसीसे इसका नाम भैरी पड़ा)। इस तरह अहमदनगर के राज-वंश की जड़ देसी ही थी और अहमदनगर की बहादुर औरत चांदबीबी का ख़ून मिला-जुला था। दक्खिन हिंदुस्तान की सभी मुस्लिम रियासतें देसी और हिंदुस्तानी थीं।

तैमूर के दिल्ली को तबाह करने के बाद उत्तरी हिंदुस्तान कमज़ोर बना रहा और टुकड़ों में बंट गया। उसके मुक़ाबले में दक्खिनी हिंदुस्तान की हालत ज़्यादा अच्छी थी और दक्खिनी राज्यों में सबसे बड़ा और बलशाली राज्य विजयनगर का था। इस राज्य ने उत्तर से भागे हुए बहुत-से हिंदुओं को अपनी तरफ़ खींचा। उस ज़माने में लिखे हुए बयानों से यह पता लगता है कि यह शहर बहुत शानदार और ख़ूबसूरत था। मध्य-एशिया का अब्दुल रज़्ज़ाक़ लिखता है कि "शहर ऐसा है, जिसके मुक़ाबले का शहर सारी दुनिया में न आंखों से देखा और न कानों से सुना है। बाज़ारों के लिए मेहराबवाले रास्ते थे और आली-शान इमारतें बनी हुई थीं और इन सबके बीच राजा का शानदार महल खड़ा था जिसके चारों तरफ़ पत्थर की कटी हुई, चिकनी और चमकदार नहरों से पानी के बहुत-से सोते बहा करते थे। सारा शहर बाग़ों से भरा पड़ा था और इन्हींकी वजह से जैसाकि एक इटली के यात्री निकोलो कांटी ने १४२ में लिखा है, शहर की बाहर-बाहर घेर ६ मील लंबी थी। एक बाद का यात्री पायस था जो पुर्तगाली था और १५२२ में इटली की नवजागृति के शहरों को देखकर आया था। उसका कहना है कि विजयनगर का शहर "रोम जितना बड़ा और देखने में बहुत सुंदर" है। और अपनी अनेक वाटिकाओं, नहरों और फल बाग़ों की वजह से बड़ा ही अनूठा और सुहावना है। यह 'दुनिया का सबसे भरा-पूरा शहर है' और 'यहां सभी चीज़ों की बहुतायत' है। महल के कमरे तमाम हाथीदांत की कारीगरी से भरे हुए थे और उनके ऊपर गुलाब और कमल नक़्श किये हुए थे। 'यह इतना ख़ूबसूरत और क़ीमती है कि इसके मुक़ाबले का दूसरा कहीं मिल सकना दुश्वार होगा।' राजा कृष्णदेव राय के बारे में

[1] दक्खिन के बहमनी राज्य का आरंभ और नामकरण दिलचस्प है। इस राज्य को क़ायम करनेवाला एक अफ़ग़ान मुसलमान था, जिसका गंगू नाम का ब्राह्मण गुरु के दिनों में संरक्षक था। उसके एहसान को क़बूल करते हुए इसने अपने ख़ानदान का नाम बहमनी (ब्राह्मण से) ख़ानदान रखा।

पास लिखता है—"इससे ज्यादा पुण्यों और पराक्रमवाला राजा भी कहीं नहीं मिल सकता। वह बहुत हँसमुख और खुशमिजाज है। वह विदेशियों का बड़ा आदर और प्रेम से आवभगत करता है, और उनकी जैसी भी हालत हो, पूरा पूरा कुशल-समाचार पूछता है।"

जिस वक्त कि दक्खिन में विजयनगर तरक्की पर था उस वक्त दिल्ली की छोटी सल्तनत को एक नये दुश्मन का सामना करना पड़ा। उत्तरी पहाड़ी प्रदेशों से एक और हमलावर उतरकर आया और दिल्ली के पास पानीपत के मशहूर मैदान में, जहां हिंदुस्तान के भाग्य का अक्सर निबटारा हुआ है, उसने १५२६ ई० में दिल्ली के तख्त पर कब्जा कर लिया। यह विजेता बाबर था, जो तुर्की-मंगोल था और मध्य-एशिया के तैमूरिया खानदान का था। उससे हिंदुस्तान की मुग़ल सल्तनत की शुरुआत होती है।

बाबर की कामयाबी की वजह शायद दिल्ली की सल्तनत की कमजोरी ही नहीं थी, बल्कि यह भी थी कि उसके पास एक नया और तरक्कीयाफ्ता तोपखाना था, जैसा उस वक्त हिंदुस्तान में इस्तेमाल में नहीं आया था। इस वक्त से आगे हिंदुस्तान युद्ध के विज्ञान की तरक्की करने में पिछड़ता जाता है। यह कहना ज्यादा सही होगा कि सारा एशिया इस विज्ञान में जहां-का-तहां बना रहा, जबकि यूरोप ने इसमें बराबर तरक्की की। महान मुग़ल साम्राज्य (अगरचे हिंदुस्तान में दो सौ साल तक यह शक्तिशाली बना रहा) शायद सत्रहवीं सदी के बाद यूरोपीय फ़ौजों के साथ बराबर के मुकाबले में ठहर न सकता था। लेकिन जबतक समुद्री रास्ते पर काबू न हो, कोई यूरोपीय सेना हिंदुस्तान तक पहुंच नहीं सकती थी। जो बड़ी तब्दीली इन सदियों में होती रही थी, वह यह थी कि यूरोप के लोग समुद्री ताकत में तरक्की कर रहे थे। दक्खिन में तेरहवीं सदी में चोल-राज्य के पतन के बाद हिंदुस्तान की समुद्री ताकत तेजी से घटी। पांड्य के छोटे-से राज्य का समुद्र से ताल्लुक होते हुए भी वह काफी मजबूत न था। हिंदुस्तान की नौ-आबादियों का समुद्र पर प्रभाव फिर भी पन्द्रहवीं सदी तक बना रहा और उस वक्त अरबवालों ने उनसे बाजी जीत ली और उनके जल्द बाद पुर्तगालियों ने।

## ५ मिली-जुली संस्कृति का विकास और समन्वय; परदा; कबीर; गुरु नानक; अमीर खुसरो

इसलिए मुसलमानों के हिंदुस्तान पर हमला करने की या हिंदुस्तान के मुसलमानी जमाने की बात करना उतना ही गलत है, जितना अंग्रेजों के हिंदुस्तान में आने को ईसाई हमला कहना या अंग्रेजी जमाने को ईसाई जमाना

कहना होगा। इस्लाम ने हिंदुस्तान पर हमला नहीं किया यह हिंदुस्तान में कुछ सदियों पहले आया था। यहां तुर्की हमला (महमूद का) हुआ अफ़ग़ानों का हमला हुआ इसके बाद तुर्क-मंगोलों या मुग़लों का हमला हुआ और इनमें आख़िरी बड़े महत्त्व के थे। अफ़ग़ानों को हम तक़रीबन हिंदुस्तानी दल का समझ सकते हैं वे शायद ही अजनबी कहे जा सकते हैं और उनकी सियासी हुकूमत के ज़माने को हिंदी-अफ़ग़ान काल कहलाना चाहिए। मुग़ल बाहर के लोग थे और हिंदुस्तान के लिए अजनबी भी थे फिर भी वे हिंदुस्तानी ढांचे में बड़ी जल्दी समा गये और उनसे हिंदी-मुग़ल काल शुरू हुआ।

चाहे अपनी ख़ुशी से उन्होंने ऐसा किया हो चाहे परिस्थिति ने उन्हें मजबूर किया हो अफ़ग़ान शासक और उनके साथ आनेवाले लोग हिंदुस्तान में समा गये। उनके ख़ानदान पूरी तौर पर हिंदुस्तानी हो गये और उनकी जड़ें हिंदुस्तान में फैलीं उन्होंने हिंदुस्तान को अपना घर समझा और बाक़ी दुनिया को विदेश माना। बावजूद सियासी झगड़ों के उन्हें लोगों ने भी ऐसा ही ख़याल किया और बहुत-से राजपूत राजाओं तक ने उन्हें अपना फ़रमां-रवा समझा। लेकिन और राजपूत सरदार भी थे जिन्होंने उनके मातहत होने से इन्कार भी किया और भयानक लड़ाइयां भी हुईं। दिल्ली के मशहूर सुल्तान फ़िरोज़शाह की मां हिंदू औरत थी इसी तरह ग़यासुद्दीन तुग़लक़ की मां थी। अफ़ग़ान तुर्क और हिंदू उमरावों में इस तरह की शादियां आम नहीं थीं लेकिन फिर भी होती थीं। दक्खिन में गुलबर्गे के मुसलमान शासक ने विजय नगर की एक हिंदू राजकुमारी के साथ बड़ी शान-शौक़त के साथ ब्याह किया था।

ऐसा जान पड़ता है कि मध्य और पच्छिमी एशिया में हिंदुस्तानियों के बारे में बड़े अच्छे ख़याल थे। ग्यारहवीं सदी के पुराने ज़माने में यानी अफ़ग़ानों की विजय से पहले इदरीसी नाम के एक मुसलमान भूगोलविद ने लिखा था— "हिंदुस्तानी स्वभाव से इन्साफ़-पसंद हैं और इससे अपने व्यवहार में कभी डिगते नहीं। उनकी नेकी ईमानदारी और अपने वादों की वफ़ादारी मशहूर है और दरअसल वे इन गुणों के लिए इतने मशहूर हैं कि लोग उनके मुल्क में सब तरफ़ से आकर इकट्ठे होते हैं।"[1]

एक कार-गुज़ार हुकूमत क़ायम हो गई और आमद-रफ़्त के ज़रियों की ख़ासतौर पर तरक़्क़ी हुई ख़ासकर इसकी वजह फ़ौजी सहूलियत का पैदा करना था। सरकार इस बात का ख़याल करती थी कि मुक़ामी रिवाजों में दख़ल न दे। ताहम वह ज़्यादा मरकज़ी हो चली थी। शेरशाह (जिसका ज़माना मुग़-

[1] इलियट की 'हिस्टरी ऑव इंडिया' जिल्द १ पृष्ठ ८८ से।

लिया जमाने के बीच में आ पड़ता है) अफ़ग़ान शासकों में सबसे क़ाबिल था। उसने मालगुज़ारी की ऐसी प्रथा की बुनियाद रखी कि उसे बाद में अकबर ने भी अपना लिया और फैलाया। अकबर का मशहूर वज़ीर-माल राजा टोडरमल पहले शेरशाह के यहां इसी पद पर था। अफ़ग़ान हाकिम हिंदुओं को रफ़्ता-रफ़्ता ज़्यादा ओहदे देने लगे थे।

हिंदुस्तान और हिंदू-धर्म पर अफ़ग़ानों की फ़तह के दो असर पड़े, और इनमें से दोनों एक-दूसरे को काटते हुए थे। फ़ौरन जो असर पड़ा वह यह था कि बहुत-से लोग दक्खिन में चले गये और अफ़ग़ान हुकूमत के इलाक़ों से दूर जा रहे। जो बच रहे वे और कट्टर बन गये और अलग-अलग रहने लगे वे अपने ही खोल में समा गये और अपनी वर्ण-व्यवस्था को और कड़ा करके विदेशी तरीक़ों और असरों से अपने को बचाने में लग गये। दूसरी तरफ़, विचार और ज़िंदगी के इन विदेशी तरीक़ों की ओर लोगों का रफ़्ता-रफ़्ता और बिना कोशिश के झुकाव पैदा होने लगा। फिर एक समन्वय पैदा हुआ। इमारत की कला में नई शैलियां उपजीं खाना-कपड़ा बदला और बहुत तरह के फ़र्क़ रहन-सहन में पैदा हो गये। यह समन्वय संगीत में ख़ासतौर पर नुमायां था जिसने पुराने हिंदुस्तानी शास्त्रीय ढांचे को क़ायम रखते हुए अनेक दिशाओं में तरक़्क़ी की। फ़ारसी ज़बान दरबार की सरकारी ज़बान बन गई और बहुत-से फ़ारसी लफ़्ज़ आम इस्तेमाल में आने लगे। साथ-ही-साथ एक आम ज़बान को भी तरक़्क़ी दी गई।

हिंदुस्तान में जो बुरी बातें पैदा हुईं, उनमें से एक परदे के रिवाज की तरक़्क़ी थी। ऐसा क्योंकर हुआ यह साफ़ नहीं लेकिन आनेवालों की पुराने लोगों पर होनेवाली प्रतिक्रिया का यह नतीजा ज़रूर था। हिंदुस्तान में इससे पहले मर्द और औरत अमीरों के वर्ग में तो कुछ अलग-अलग ज़रूर रहते थे जैसाकि और मुल्कों में भी ख़ासतौर पर यूनान में था। दोनों के अलग-अलग रहने का कुछ इसी तरह का रिवाज ईरान में भी था बल्कि सारे पच्छिमी एशिया में था लेकिन कहीं भी सख़्त क़िस्म का परदा नहीं होता था। शायद इसकी शुरुआत बाइज़ेंटाइन दरबारियों के दायरे में हुई जहां जनानखाने की निगरानी के लिए ख़्वाजासरा मुक़र्रर किये जाते थे। बाइज़ेंटाइन का असर रूस में पहुंचा जहां ठीक महान पीटर के ज़माने तक औरतें काफ़ी कड़े परदे में रखी जाती थीं। इसका तातारों से कोई ताल्लुक़ न था जिनके बारे में यह बात काफ़ी तौर पर आम है कि वे अपनी औरतों को अलग नहीं रखते थे। अरब और फ़ारस की मिली-जुली तहज़ीब पर बाइज़ेंटाइनी रीति रिवाजों का बहुत-कुछ असर पड़ा और संभवतः ऊंचे वर्ग की औरतों का अलग

रहना चल पड़ा। फिर भी अरब में या पच्छिमी और मध्य-एशिया में औरतों में कोई कड़ा परदा न होता था। जो अफ़ग़ान उत्तरी हिन्दुस्तान में दिल्ली की फ़तह के बाद आये उनके यहाँ परदे की कड़ी पाबंदी न होती थी। तुर्की और अफ़ग़ान शहज़ादियाँ और बेगमें अकसर घोड़े की सवारी, शिकार और मेल-मुलाक़ात के लिए निकला करती थीं। यह एक पुराना मुसलमानी रिवाज है, जिसकी पाबंदी अब भी होती है कि हज के सफ़र में उन्हें अपने चेहरों को खुला रखना चाहिए। मालूम पड़ता है कि परदे के रिवाज की तरक्क़ी हिन्दुस्तान में मुग़लों के ज़माने में हुई, जब इसे हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही में पद और इज़्ज़त की निशानी समझा जाने लगा। परदे की यह प्रथा ख़ासतौर पर ऊँचे वर्ग के लोगों में उन सभी जगहों में तेज़ी से फैली जहाँ मुसलमानों का असर था—यानी उस बीच और पूरब के बड़े प्रदेश में जिसमें दिल्ली, संयुक्त प्रांत, राजपूताना, बिहार और बंगाल आ जाते हैं। लेकिन यह कुछ अजीब बात है कि पंजाब और सरहदी सूबे में परदे की पाबंदी बहुत कड़ी नहीं है। दक्खिन और पच्छिम हिन्दुस्तान में कुछ हद तक मुसलमानों को छोड़कर परदे का रिवाज नहीं रहा है।

इसमें मुझे ज़रा भी शक नहीं कि हाल की सदियों में हिन्दुस्तान के ह्रास के कारणों में से एक ख़ास कारण औरतों को परदे में रखने का रिवाज है। मुझे इसका और भी ज़्यादा यक़ीन है कि इस वाहियात रिवाज का पूरी तरह ख़त्म होना हमारी समाजी ज़िन्दगी की तरक्क़ी के लिए लाज़िमी है। औरत को इससे नुक़सान पहुँचता है, यह ज़ाहिर-सी बात है, लेकिन जो नुक़सान मर्द को पहुँचता है, जो बढ़ते हुए बच्चे को पहुँचता है, जिसे अपना बहुत-सा वक़्त औरतों के साथ परदे में बिताना पड़ता है, वह कम बड़ा नहीं है। ख़ुशक़िस्मती से यह रिवाज हिन्दुओं में बहुत तेज़ी से उठ रहा है और मुसलमानों में भी कुछ धीमी रफ़्तार से। परदे के उठाने में सबसे ज़्यादा हाथ कांग्रेस की सियासी और समाजी तहरीकों का रहा है, जिन्होंने बीच के वर्ग की दसियों हज़ार औरतों को अपनी ओर खींचा है और जो किसी-न-किसी सार्वजनिक धंधे में शरीक हुई हैं। गांधीजी परदे के रिवाज के कट्टर विरोधी रहे हैं और हैं और उन्होंने इसे "दूषित और बर्बर रिवाज" बताया है, जिसने औरतों को पिछड़ा हुआ और तरक्क़ी से महरूम रखा है। एक जगह उन्होंने लिखा है—"इस वाहियात रिवाज के ज़रिये मर्द लोग हिन्दुस्तान की औरतों पर जो अत्याचार कर रहे हैं मैंने उसका विचार किया। जिस वक़्त यह रिवाज शुरू हुआ उस वक़्त इसके जो भी लाभ रहे हों अब यह मुल्क को अपार नुक़सान पहुँचा रहा है। गांधी-जी ने कहा है कि "औरतों को वही आज़ादी और अपनी तरक्क़ी के वही मौक़े

मिलने चाहिए, जो मर्दों को हासिल हैं। मर्दों और औरतों के आपस के संबंध में समझदारी के बरताव की ज़रूरत है। दोनों के बीच में दीवारें नहीं खड़ी की जानी चाहिए। उनके आपस के व्यवहार में स्वाभाविकता और बेसाख्तगी होनी चाहिए।" दरअसल गांधीजी ने औरतों की बराबरी और आज़ादी के बारे में ज़ोरदार बातें कहीं और लिखी हैं और उनकी घरेलू गुलामी को तीखेपन से बुरा बताया है।

मैं अपने विषय से हटकर यकायक मौजूदा ज़माने की बातें करने लगा और अब मुझे मध्य-युग पर वापस आना चाहिए, जब अफ़गान लोग दिल्ली की गद्दी पर जम चुके थे और पुराने और नये तरीकों के बीच समन्वय का कायम होना शुरू हो चुका था। इनमें से ज़्यादातर तब्दीलियां ऊपर के वर्गों में हुईं और उनका असर आम जनता पर, खासतौर पर देहाती जनता पर नहीं पड़ा। उनकी शुरुआत दरबारी हलकों में होती और वे शहरों और क़स्बों में फैलतीं। इस तरह एक ऐसा सिलसिला चला जो कई सदियों तक चलता रहा और उत्तरी हिंदुस्तान में एक मिली-जुली संस्कृति तरक्की करती गई। दिल्ली और जिसे अब संयुक्त प्रांत कहते हैं इसके मरकज़ बने, जिस तरह कि ये पुरानी आर्य संस्कृति के मरकज़ रहे और अब भी हैं। लेकिन आर्य-संस्कृति का बड़ा हिस्सा खिसककर दक्खिन पहुंचा जो हिंदू कट्टरता का गढ़ बन गया।

तैमूर के हमले से दिल्ली की सल्तनत जब कमज़ोर हो गई तो जौनपुर (संयुक्त प्रांत) में एक छोटा-सा मुसलमानी राज्य क़ायम हुआ। सारी पंद्रहवीं सदी भर यह कला और संस्कृति और मज़हबी रवादारी का मरकज़ रहा। तरक्की करती हुई आम ज़बान हिंदी को यहां प्रोत्साहन मिला, और हिंदुओं और मुसलमानों के मज़हबों में समन्वय पैदा करने की भी कोशिशें हुईं। क़रीब क़रीब इसी वक्त उत्तर में दूर काश्मीर में भी ज़ैनुल आबदीन नाम के एक मुसलमान राजा ने अपनी रवादारी और संस्कृत विद्या और पुरानी संस्कृति के प्रोत्साहन के लिए बड़ा नाम हासिल किया।

सारे हिंदुस्तान में यह नया खमीर काम कर रहा था और लोगों के दिमागों में नये विचार हलचल पैदा कर रहे थे। पुराने ज़माने की तरह हिंदुस्तान में इस नई परिस्थिति की तरफ़ एक प्रतिक्रिया चल रही थी और विदेशी तत्त्वों का असर ग्रहण करने की कोशिश में वह अपने को कुछ तब्दील कर रहा था। इसी खमीर से नये ढंग के सुधारक उत्पन्न हुए जिन्होंने इस समन्वय के पक्ष में निश्चय के साथ उपदेश दिये और अक्सर वर्ण-व्यवस्था की निंदा या अवहेलना की। दक्खिन में पंद्रहवीं सदी में हिंदू रामानंद हुए और उनके और

भी मशहूर शिष्य बनारस में कबीर हुए, जो मुसलमान जुलाहे थे। उत्तर में गुरु नानक हुए, जो सिख-धर्म के संस्थापक माने जाते हैं। इन लोगों का असर उन मतों तक सीमित नहीं था जो इनके नाम पर क़ायम हुए, बल्कि उससे कहीं ज्यादा फैला हुआ था। सारे हिंदू-धर्म पर इन नये विचारों का प्रभाव पड़ा और हिंदुस्तान का इस्लाम भी और जगहों के इस्लाम से मुख्तलिफ़ बन गया। इस्लाम के जबरदस्त अद्वैतवाद का हिंदू-धर्म पर असर पड़ा और हिंदुओं के बहुत से देवी-देवताओं में विश्वास का कुछ असर हिंदुस्तानी मुसलमानों पर पड़े बगैर न रहा। हिंदुस्तानी मुसलमानों में से ज्यादातर ऐसे थे जो नौ-मुस्लिम थे और यहां की पुरानी परंपरा में पले थे। बाहर से आनेवाले मुसलमान मुक़ाबले में थोड़े थे। मुस्लिम रहस्यवाद और सूफ़ी मत की जिसकी शुरुआत शायद नये अफ़लातूनी मत से हुई थी तरक्की हुई।

विदेशी लोगों के हिंदुस्तान में बराबर जज्ब होने का सबसे मार्के का पता इस बात से लगता है कि मुल्क की आम जबान को उन्होंने उठा लिया, मगर वे फ़ारसी दरबार की जबान बनी रही। मुल्क के मुसलमानों की लिखी हुई हिंदी की कई मशहूर किताबें हैं। इन लिखनेवालों में सबसे मशहूर खुसरो था, जो एक तुर्क था और जिसका घराना संयुक्त-प्रांत में दो-तीन पीढ़ियों से बस गया था। वह चौदहवीं सदी में हुआ और इसने कई अफ़गान सुल्तानों के ज़माने देखे थे। फ़ारसी का तो वह चोटी का शायर था, वह संस्कृत भी जानता था। वह बहुत बड़ा संगीतज्ञ भी था और हिंदुस्तानी संगीत में उसने कई नई बातें पैदा कीं। यह भी कहा जाता है कि हिंदुस्तान का आम पसंद साज-यंत्र सितार उसीकी ईजाद की हुई चीज़ है। उसने बहुत से मज़मूनों पर लिखा है और ख़ासतौर पर हिंदुस्तान की तारीफ़ की है और यह बताया है कि भिन्न-भिन्न बातों में हिंदुस्तान बढ़ा हुआ है। इनमें मजहब, फ़िलसफ़ा, तर्क-शास्त्र, भाषा और व्याकरण (संस्कृत), संगीत, गणित, विज्ञान और आम (फल) गिनाये गये हैं।

लेकिन हिंदुस्तान में ख़ासतौर पर उसकी शोहरत की वजह उसके आम-पसंद गीत हैं, जिन्हें उसने लोगों की आम जबान हिंदी में लिखा है। उसने साहित्यिक माध्यम न चुनकर बड़ी अक्लमंदी की, क्योंकि उसे मुट्ठी-भर लोग ही समझ पाते। उसने गांववालों की जबान ही नहीं इस्तेमाल की, बल्कि उनके रीति-रिवाज और रहन-सहन के ढंग का भी बयान किया। उसने जुदा-जुदा ऋतुओं के गीत लिखे हैं और हिंदुस्तान की पुरानी शास्त्रीय परंपरा के अनुसार हर एक ऋतु के लिए अलग राग और बोल हैं। उसने जिंदगी के विविध पहलुओं पर गीत रचे हैं—मुसाफ़िर के आने पर, प्रेमी के वियोग पर, बर्सा-

ऋतु पर, जब जलती हुई धरती से नई ज़िंदगी फूट निकलती है। ये गीत अब भी दूर-दूर गाये जाते हैं और हम इन्हें उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के किसी गांव या शहर में सुन सकते हैं, खासतौर पर तब जब वर्षा-ऋतु आती है और हर एक गांव में आम और पीपल की डालों में बड़े-बड़े झूले पड़ते हैं, और गांव के सभी लड़के-लड़कियां झूला झूलने के लिए इकट्ठा होते हैं।

अमीर खुसरो ने बहुत-सी पहेलियां भी रची हैं जो बच्चों और बड़ों दोनों में ही बहुत चलती हैं। अपनी ज़िंदगी में ही खुसरो गीतों और पहेलियों के लिए मशहूर हो गया था। उसकी यह शोहरत बढ़ती ही रही है। मैं और कहीं भी ऐसी मिसाल नहीं पाता कि छः सौ साल पहले जो गीत लिखे गये हों, वे अब भी आमपसंद हों और अब भी लफ़्ज़ों की फेर-फार के बग़ैर, ज्यों-के-त्यों गाये जाते हों।

## ६ हिंदुस्तानी समाजी संगठन   वर्ग का महत्त्व

हिंदुस्तान के बारे में जो लोग कुछ भी जानते हैं, उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का हाल सुन रखा है   बाहर का हर आदमी इसे बुरा कहता है और हिंदुस्तान के बहुत-से लोग ऐसा ही कहते हैं और इसकी नुक्ता-चीनी करते हैं। हिंदुस्तान में भी शायद ही कोई ऐसा हो, जो इसकी मौजूदा शक्ल व सूरत को देखते हुए इसे पसंद करता हो अगरचे ऐसे लोग बेशक मिलेंगे जो इसके बुनियादी सिद्धांत को कबूल करते हैं और हिंदुओं में बहुत-से लोग अपनी ज़िंदगी में इसे मानते चले आ रहे हैं। 'वर्ण' या 'जात' लफ़्ज़ के इस्तेमाल से कुछ ग़लतफ़हमी होती है क्योंकि अलग-अलग लोग इसके अलग-अलग मानी लगाते हैं। साधारण यूरोपीय या उसीके जैसे विचारोंवाला हिंदुस्तानी यह समझता है कि यह केवल वर्गों को पत्थर की तरह मज़बूत करके अलग-अलग कर देना है और यह महज़ इस बात की तरकीब है कि वर्ग-भेद बना रहे ऊंचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए चोटी पर बने रहें और नीचे वर्ग के लोग सदा-सदा के लिए नीचे ही बने रहें। इस विचार में सचाई है और शुरू में शायद यह इस बात की तरकीब थी कि आर्य विजेता उन लोगों में न मिलने-जुलने पावें जिन्हें उन्होंने हराया था। शुरू में चाहे इस व्यवस्था में लचीलापन रहा हो लेकिन जिस तरह इसने तरक्की की है उससे यक़ीनी तौर पर यही नतीजा निकलता है। लेकिन सचाई का यह महज़ एक पहलू है। और इस कैफ़ियत से यह नहीं पता चलता कि आख़िर इस व्यवस्था में इतनी शक्ति और मज़बूती क्योंकर रही कि यह आजतक चली आ रही है। इसने बौद्ध धर्म की ज़बरदस्त टक्कर को झेल लिया और पठान और मुग़ल शासन और इस्लाम के प्रचार की कई सदियां ही नहीं देखीं बल्कि अनगिनत हिंदू सुधारकों के जिन्होंने इसके ख़िलाफ़

अपनी आवाजें बुलंद की जा सकें। यह तो सिर्फ़ आजकल ही ऐसा हुआ है कि इसकी बुनियाद पर ही हमला हो रहा है और इसका वजूद ही जोखिम में है। इसका कारण खासतौर पर हिंदू समाज में उपजी हुई कोई जबरदस्त प्रेरणा नहीं है, अगरचे मज़हबी तौर पर ऐसी प्रेरणा मौजूद है। न यही कारण है कि पच्छिमी ख़याल हमारे बीच में आ गये हैं, अगरचे ऐसे ख़यालों ने ज़रूर अपना असर डाला है। जो तबदीलियां हमारी आंखों के सामने हो रही हैं, उनका कारण खासतौर पर यह है कि बुनियादी आर्थिक परिवर्तनों ने हिंदुस्तानी समाज के सारे ढांचे को हिला दिया है और संभव है कि उसे पूरी तरह से उलट-पलट दें। जिंदगी के हालातों में तबदीली आ गई है, विचार के ढंग बदल रहे हैं, यहां तक कि अब ग़ैर-मुमकिन जान पड़ता है कि वर्ण-व्यवस्था क़ायम रह सके। उसकी जगह क्या चीज़ ले लेगी, यह मैं नहीं कह सकता क्योंकि सिर्फ़ वर्ण-व्यवस्था ही जोखिम में नहीं है। संघर्ष है सामाजिक संगठन के मसले पर दो जुदा-जुदा नज़रियों में। एक तरफ़ है पुराना हिंदू-विचार कि वर्ग या गिरोह संगठन की बुनियादी इकाई है, दूसरी तरफ़ पच्छिम का विचार है, जो बहुत ज्यादा व्यक्तिवाद पर ज़ोर देता है, जो व्यक्ति को वर्ग से ऊपर रखता है।

यह संघर्ष हिंदुस्तान की ही विशेषता नहीं है। यह पच्छिम में भी और सारी दुनिया में चल रहा है, अगरचे यहां इसने दूसरी शक्लें अख्तियार की हैं। यूरोप की उन्नीसवीं सदी की सभ्यता ने लोकतंत्री उदार-मत का रूप लेकर और आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में उसके विस्तार ने व्यक्तिवाद की नुमाइंदगी की सबसे खास अलामत पेश की। उन्नीसवीं सदी की विचारधारा अपने सामाजिक और राजनैतिक संगठन के साथ-साथ बीसवीं सदी में भी बढ़कर आ गई है, लेकिन अब उसका ज़माना बिलकुल बीता हुआ जान पड़ता है और संकट और युद्ध के दबाव से यह टूट रही है। अब वर्ग और समाज के महत्त्व पर ज्यादा ज़ोर दिया जाने लगा है और सवाल यह पैदा हो गया है कि व्यक्ति और वर्ग के तकाज़ों के बीच समझौता कैसे कराया जाय। इस मसले का हल अलग-अलग मुल्कों में अलग-अलग शक्लें ले सकता है, ताहम ख्याल इस तरफ़ है कि एक बुनियादी हल हासिल किया जाय जो सब पर यक-सा लागू हो।

वर्ण-व्यवस्था कोई अलग-थलग चीज़ नहीं है, यह एक और बड़ी सामाजिक व्यवस्था का अंग है, और महत्त्व रखनेवाला अंग है। यह मुमकिन जान पड़ता है कि उसकी कुछ ज़ाहिरा बुराइयों को दूर कर दिया जाय और उसकी तरतीब को न छेड़ा जाय। लेकिन यह बहुत ग़ैर-मुमकिन बात है, क्योंकि जो आर्थिक और सामाजिक ताक़तें काम कर रही हैं, उन्हें इसके ढांचे की ज्यादा परवाह नहीं है, वे इसकी बुनियाद पर ही हमला कर रही हैं और साथ-साथ

उन सभी थूनियों पर, जो इसे उठाये हुए हैं। सच बात तो यह है कि ये थूनियां बहुत-कुछ टूट चुकी हैं और वर्ण-व्यवस्था को अब अपना ही सहारा है। अब सवाल यह नहीं रहा है कि हम वर्ण-व्यवस्था को पसंद करते हैं या नहीं। हम पसंद करें या नहीं तबदीलियां हो रही हैं। लेकिन यकीनी तौर पर यह हमारी ताकत के भीतर है कि हम इन तबदीलियों को ढाल सकें और उन्हें रुख दे सकें इस तरह कि हमें सारे हिंदुस्तान के लोगों की उस प्रतिभा और विशेषता का पूरा-पूरा फायदा मिल जाय जो हमारे सामाजिक संगठन की मजबूती और पायदारी के जरिये साफ तौर पर जाहिर हो चुकी है।

सर जार्ज बर्डवुड ने कहीं पर कहा है—'जबतक हिंदू अपनी वर्ण-व्यवस्था को कायम रखते हैं तबतक हिंदुस्तान हिंदुस्तान बना रहेगा लेकिन जिस दिन उन्होंने इसे छोड़ा उस दिन से हिंदुस्तान हिंदुस्तान न रह जायगा। यह शानदार प्रायद्वीप गिरकर ऐंग्लो-सैक्सन साम्राज्य के ओर 'ईस्ट एंड'[1] की हालत पर पहुंच जायगा।' वर्ण-व्यवस्था रहे चाहे न रहे हम ब्रिटिश-साम्राज्य में उस हालत पर बहुत दिनों से गिरकर पहुंचे हुए हैं। और हर सूरत में हमारी भविष्य की स्थिति चाहे जैसी भी हो वह इस साम्राज्य की सरहद के भीतर नहीं महदूद रहेगी। लेकिन सर जार्ज बर्डवुड ने जो कहा है उसमें कुछ सचाई है अगरचे शायद उन्होंने इसे उस रुख से नहीं देखा है। एक विधान और पुराने सामाजिक संगठन के टूटने पर समाजी जिंदगी पूरी तौर पर तितर-बितर हो सकती है और सारे-के-सारे लोगों को मुसीबत का सामना करना पड़ सकता है और व्यक्तियों के बावजूद बड़े पैमाने पर बिछड़ सकते हैं अगर कोई दूसरा सामाजिक ढांचा जो जनता की प्रतिभा के अनुकूल हो— उसकी जगह पर नहीं आ जाता। शायद परिवर्तन के जमाने में [illegible] की यह हालत पैदा होनी लाजिमी है यह हालत आज सारी दुनिया में काफी फैली हुई है। शायद इस तरह की हालत से जो दुख और मुसीबतें आती हैं उन्हीं के जरिये लोग तरक्की करते हैं और जिंदगी के सबक सीखते हैं और अपने को नई हालतों के मुताबिक ढाल लेते हैं।

फिर भी हम एक व्यवस्था को महज तोड़कर इस उम्मीद में नहीं बैठे रह सकते कि कुछ अच्छा ही होगा [illegible] उस भविष्य की जिसके लिए हम काम कर रहे हैं कोई कल्पना—वह अस्पष्ट कल्पना ही क्यों न हो— रखनी चाहिए। हम जगह खाली छोड़कर ही नहीं बैठ सकते नहीं तो यह खाली जगह मुमकिन है, इस तरह भर जाय कि हमें पछताना पड़े। हम जो

[1] ईस्ट एंड लंदन का वह हिस्सा है, जहां गरीब लोग बसते हैं। —सं

भी रचनात्मक योजनाएं बनायें हमें उन आदमियों का ध्यान रखना पड़ेगा जिनसे हमारा वास्ता है—उनके विचारों और प्रेरणाओं की कैसी पृष्ठभूमि है और किस तरह के वातावरण में हमें काम करना है? इन सब बातों को नजर अंदाज कर देने के ये मानी होंगे कि हम अपनी योजना हवा में तैयार कर रहे हैं या दूसरों ने और जगहों में जो किया है, उसकी महज नकल कर रहे हैं और यह बेवकूफी की बात होगी। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम अपने उस पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन को जानने और समझने की कोशिश करें जिसने लोगों पर इतना जबरदस्त असर डाला है।

इस संगठन की बुनियाद तीन विचारों पर थी—खुदमुख्तार देहाती समाज वर्ण-व्यवस्था और मुश्तरका खानदान। इन तीनों में ही वर्ग को बड़ाई दी गई है व्यक्ति की जगह दूसरे दर्जे पर है। अलग-अलग इनमें से किसी विचार में बहुत मनोखापन नहीं और इनमें से तीनों के मुकाबले की व्यवस्थाएं हमें दूसरे मुल्कों में भी मिल जायेंगी खासतौर पर मध्य-युग में। पुराने हिंदुस्तानी गणराज्यों की तरह सभी जगह आदिम रूप में गणतंत्र मिल जायेंगे। हिंदुस्तानी गांव के समाज के मुकाबले में पुराने रूसी 'मीर' होते थे। वर्ण या जात खासतौर पर धंधों के मुताबिक ही हैं, और यही प्रथा यूरोप के मध्य-युग के व्यावसायिक-संघों की रही है। चीन का मुश्तरका खानदान हिंदुस्तान के मुश्तरका खानदान से मिलता-जुलता है। मैं इन सबके बारे में इतनी काफी जानकारी नहीं रखता कि इस बहस को आगे बढ़ाऊं और न मेरे मकसद के लिए यह जरूरी ही है। सब-कुछ ले-देकर यह मानना पड़ेगा कि हिंदुस्तानी संगठन अपने ढंग का निराला था और यह वक्त के साथ-साथ और भी निराला हो गया।

### ७ गांव का स्वराज शुक्र-नीति-सार

दसवीं सदी की एक पुरानी किताब है, जिससे तुर्की और अफगान-हमलों से पहले की हिंदुस्तान की राजनैतिक-व्यवस्था का कुछ चित्र मिलता है। यह है शुक्राचार्य का 'नीति-सार'। इसमें केंद्रीय शासन के और शहर और गांव की जिंदगी के संगठन का बयान मिलता है साथ ही राज-सभा और बहुत-से सरकारी महकमों के भी बयान हैं। गांव की पंचायत या चुनी हुई प्रतिनिधि-सभा के न्याय और व्यवस्था दोनों ही के संबंध में बड़े अधिकार थे और इसके सदस्यों को राजा के अधिकारी बहुत ही आदर की नजर से देखते थे। यही पंचायत जमीन की बांट करती थी और पैदावार का एक अंश कर के रूप में उगाहती थी और गांव की तरफ से सरकार का हिस्सा अदा किया करती थी। कई गांव-पंचायतों के ऊपर एक बड़ी पंचायत हुआ करती

थी जो उनकी निगरानी करती और जरूरत पड़ने पर उनके कामों में दखल भी दे सकती थी।

कुछ पुराने शिलालेख हमें यह भी बताते हैं कि गांव-पंचायतों के सदस्य किस तरह चुने जाते थे और उनमें क्या बातें गुण और दोष की समझी जाती थीं। अलग-अलग समितियां बनाई जाती थीं जिनके लिए सालाना चुनाव होते थे और जिनमें औरतें हिस्सा ले सकती थीं। अच्छा आचरण न करने पर कोई भी सदस्य अपने पद से हटाया जा सकता था। सार्वजनिक रुपये-पैसे का ठीक-ठीक हिसाब न दे सकने पर कोई भी सदस्य अयोग्य ठहराया जा सकता था और अलग किया जा सकता था। रियायत रोकने के लिए बनाये गये एक दिलचस्प नियम का बयान मिलता है—सार्वजनिक पदों पर इन सदस्यों के निकट संबंधियों की नियुक्ति नहीं हो सकती थी।

इन गांव-पंचायतों को अपनी आजादी का बड़ा खयाल रहता था और यह नियम बना हुआ था कि जबतक राजाज्ञा न मिली हो कोई भी सिपाही गांव में दाखिल नहीं हो सकता था। अगर किसी पदाधिकारी की शिकायत लोग करें, तो 'नीति-सार' का कहना है कि राजा को "अपने हुक्कामों की तरफदारी न करके अपनी रियाया की तरफदारी करनी चाहिए।" अगर बहुत लोग शिकायत करें, तो पदाधिकारी को बरखास्त कर देना चाहिए, "क्योंकि पद के मद से कौन उन्मत्त नहीं हो जाता?" राजा का जनता के बहुमत के अनुकूल काम करने का कर्तव्य बताया गया था। "लोकमत राजा के मुकाबले में ज्यादा मजबूत होता है जिस तरह कि बहुत-से तारों की बटी हुई रस्सी शेर को भी खींच लाती है।" "पदाधिकारियों की नियुक्ति करते वक्त चरित्र और योग्यता का ध्यान रखना चाहिए—जाति या घराने का नहीं" और "न वर्ण से और न पुरखों द्वारा ब्राह्मणत्व का भाव उत्पन्न किया जा सकता है।"

बड़े कसबों में बहुत-से कारीगर और सौदागर बसते थे और उनके संघ या समितियां और महाजनों के संगठन हुआ करते थे। इनमें से हर एक अपने भीतरी मामलों के नियमन में स्वतंत्र था।

ये सब सूचनाएं बहुत अधूरी हैं, लेकिन इनसे और बहुत-से और जरियों से पता चलता है कि शहरों और गांवों में मुकामी-स्वराज की व्यापक व्यवस्था थी और जबतक उसे अपना कर का हिस्सा मिलता रहे, केंद्रीय सरकार इसमें बहुत ही कम दखल देती थी। कानून में रिवाज पर बड़ा जोर दिया जाता था और रिवाज के जरिये कायम हकों में सियासी या फौजी ताकत शायद ही कभी दखल देती रही हो। शुरू में खेती की प्रथा की बुनियाद सह-

कारिता या सारे गांव के मिल-जुलकर काम करने पर भी। व्यक्तियों और वर्गों के कुछ अधिकार थे और कुछ कर्तव्य भी थे और दोनों की हिफ़ाज़त रिवाजी क़ानून के ज़रिये होती थी।

हिंदुस्तान में कोई मर्यादाहीन राजतंत्र नहीं था। हिंदुस्तान की राज पद्धति के अनुसार अगर राजा अन्यायी या अत्याचारी हो तो उसके ख़िलाफ़ विद्रोह करने का अधिकार माना हुआ अधिकार था। दो हज़ार साल पहले चीनी फ़िलसूफ़ मेंसियस ने जो कहा था वह हिंदुस्तान पर भी लागू होता है— "जब शासक अपनी प्रजा को घास और कूड़े की तरह समझे तब प्रजा को उसे लुटेरे और दुश्मन की तरह समझना चाहिए। यहां राजकीय अधिकारों की सारी कल्पना यूरोप की सामंती कल्पना से जुदा थी जिसमें राजा को अपने राज्य के सब लोगों और वस्तुओं पर अधिकार हासिल था। यह अधिकार वहां राजा अपने सामंतों (लार्डों और बैरनों) को दे देता था और ये लोग राज-निष्ठा की प्रतिज्ञा करते थे। इस तरह अधिकार की एक सीढ़ी तैयार हो जाती थी। जमीन और उससे संबंध रखनेवाले लोग सामंती लार्ड की और उसके ज़रिये राजा की प्रजा हो जाते थे। रोमन अधिकार (डोमिनियम) की कल्पना की यह तरक़्क़ीयाफ़्ता शक्ल थी। हिंदुस्तान में इस तरह की कोई चीज़ नहीं थी राजा को जमीन से कुछ कर उगाहने का हक़ था और कर उगाहने के इस हक़ को ही वह दूसरों को दे सकता था। हिंदुस्तान में किसान सामंतों का गुलाम नहीं होता था। जमीन की कोई कमी न थी इसलिए किसान को बेदख़ल करने में कोई फ़ायदा भी न था। इस तरह हिंदुस्तान में ज़मींदारी की जैसी प्रथा न थी जैसी पच्छिम में थी न किसान व्यक्तिगत रूप से अपनी ज़मीन का मालिक हुआ करता था। ये दोनों ख़याल बहुत बाद में अंग्रेज़ों के ज़रिये पैदा हुए हैं और इनके भयंकर नतीजे हुए हैं।

विदेशियों की चढ़ाइयों के साथ-साथ मुल्क में लड़ाइयां और तबाहियां आईं विद्रोह हुए और उनका दमन हुआ और नये हाकिमों ने अपने हथियारों के ज़ोर पर भरोसा किया। मुल्क के रिवाजी क़ानून की बंदिशों को ये हाकिम अकसर तोड़ सकते थे। इसके अहम नतीजे हुए और ख़ुदमुख़्तार गांवों की आज़ादी में कमी आई और बाद में मालगुज़ारी की वसूलयाबी के तरीक़ों में बहुत-सी तब्दीलियां पैदा हुईं। ताहम अफ़ग़ान और मुग़ल हाकिमों ने इस बात का ख़ास ध्यान रखा कि पुराने रीति-रिवाजों में दख़ल न दिया जाय और कोई बुनियादी अदल-बदल न किये जायं और हिंदुस्तानी ज़िंदगी का समाजी और आर्थिक ढांचा पहले जैसा बना रहा। ग़यासुद्दीन तुग़लक़ ने अपने हुक्कामों को इस बात की ख़ास हिदायतें दे रखी थीं कि रिवाजी क़ानून

की हिफ़ाज़त होनी चाहिए और रियासती मामलों को मज़हब से जो ज़ाती पसंद की चीज़ है अलग रखना चाहिए। लेकिन ज़माने की गर्दिश और लड़ाइयों के कारण और इस वजह से कि सरकार में केंद्रीयता बढ़ती जा रही थी रिवाजी क़ानून का सिद्धांत कम होता गया। फिर भी गाँवों की खुदमुख़्तारी बनी रही। इसका टूटना अंग्रेज़ी हुकूमत में आकर शुरू हुआ।

## ८ वर्ण-व्यवस्था के उसूल और अमल सम्मिलित कुटुंब

हैवेल का कहना है कि 'हिंदुस्तान में वर्ण इख़्तियार की हैसियत नहीं रखता बल्कि आत्मिक तरक्की और ज़िंदगी की मुख़्तलिफ़ हालतों का बयान करते हुए मानवाचार का एक चालू सिद्धांत है।' पुराने ज़माने में जब भारतीय-आर्य संस्कृति की रूप-रेखा बन रही थी उस वक़्त धर्म को ऐसे लोगों की ज़रूरतों का लिहाज़ रखना पड़ा था जो दिमाग़ी और आत्मिक विकास की नज़र से इतने मुख़्तलिफ़ थे जितने कि हो सकते हैं। एक तो बन में रहनेवाले आदिम लोग थे फिर जादू-टोने और आत्माओं में विश्वास करनेवाले और प्रतीक-पूजक लोग थे और सभी तरह के अंधविश्वासी आदमी थे दूसरे ऐसे लोग भी थे जो आध्यात्मिक विचार की सबसे ऊँची सीढ़ियों तक पहुँच सके थे। इन दोनों छोरों के बीच विश्वास और आचार की अनेक सतहें थीं। कुछ लोग तो ऊँचे-से-ऊँचे विचारों में लगे हुए थे। लेकिन ऐसे विचार ज़्यादातर लोगों की पहुँच से बाहर थे। ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन ने तरक्की की विश्वासों में कुछ समानताएँ भी पैदा हुईं फिर भी संस्कृति और व्यक्तिगत मिज़ाज के भेदों के कारण बहुत-से फ़र्क़ बाक़ी रह गये। भारतीय-आर्य नज़रिया तो यह था कि किसी भी विश्वास को बलपूर्वक न दबाया जाय और किसी दावे को रद्द न किया जाय। हर एक वर्ग को आज़ादी थी कि वह अपने आदर्शों की अपनी-अपनी समझ और दिमाग़ी सतह के अनुसार पूर्ति करने में लगे। समन्वय की कोशिशें होती थीं लेकिन किसी विश्वास का विरोध नहीं किया जाता था न उसे दबाया जाता था।

सामाजिक संगठन के बारे में और भी कठिन समस्या का सामना करना पड़ा था। इन बिलकुल जुदा-जुदा वर्गों को किस तरह एक सामाजिक संगठन के अंदर लाया जाय जिसमें कि ये एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हुए अपनी-अपनी आज़ाद ज़िंदगी बसर कर सकें और अपनी तरक्की कर सकें ? एक मानी में—अगरचे यह दूर का मुक़ाबला होगा—इस स्थिति का मुक़ाबला आजकल के अल्पसंख्यक लोगों की समस्याओं से किया जा सकता है, जो आज अनेक देशों में फैली है और जिनका हल पाना मुश्किल हो रहा है। संयुक्त राज्य

अमरीका ने अपने अल्पसंख्यकों के मसले का हल हर एक नागरिक को सौ फ़ी-सदी अमरीकी स्वीकार करके किया है—वह हर एक से एक निश्चित नमूने की पाबंदी कराना चाहता है। दूसरे मुल्कों में जिनका इतिहास ज्यादा पुराना और जटिल है, यह सुविधा मुमकिन नहीं है। कनाडा तक में जो फ्रेंच वर्ग है उसे अपनी जाति धर्म और भाषा की गहरी चेतना है। यूरोप में रुकावट डालनेवाली दीवारें और भी ऊंची और गहरी हैं। ये सब बातें यूरोपीयों पर, या उन लोगों पर, जो यूरोप से फैले हुए हैं लागू होती हैं अगरचे उनके पीछे संस्कृति की समानता है और उनकी एक-सी भूमिका है। जहां ग़ैर-यूरोपीय आ जाते हैं वे इस चित्र में ठीक-ठीक बैठ नहीं पाते। संयुक्त राज्य अमरीका में हब्शी लोग चाहे वे सौ फ़ी-सदी अमरीकी हों जाति की दृष्टि से अलग-अलग ही हैं। वे बहुत-से ऐसे अवसरों और सुविधाओं से वंचित रखे जाते हैं जो दूसरों को साधारणतया हासिल हैं। दूसरी जगहों में इससे भी बुरी मिसालें मिलेंगी। सिर्फ़ सोवियत रूस ने कहा जाता है कि अपनी अल्पसंख्यकों और जातियों की समस्या का हल एक अनेक जातियों का मिला-जुला राज्य क़ायम करके किया है।

अगर ये कठिनाइयां और समस्याएं आज भी हमारे पीछे लगी हुई हैं जब हम इतनी तरक्की कर गये हैं और हमारा ज्ञान इतना बढ़ा हुआ है, तो उस क़दीम ज़माने में जब भारतीय-आर्य अपनी सभ्यता और सामाजिक ढांचे का विकास एक ऐसे देश में जहां लोगों में इतनी विभिन्नता हो कर रहे थे ये कठिनाइयां और समस्याएं कितनी ज्यादा रही होंगी? इन समस्याओं को दूर करने का साधारण तरीक़ा उस वक़्त और बाद के ज़माने में यह रहा है कि विजित लोगों को या तो गुलाम बना लिया जाय या उन्हें नेस्त-नाबूद कर दिया जाय। हिंदुस्तान में यह तरीक़ा नहीं बरता गया लेकिन यह साफ़ ज़ाहिर है कि ऊंचे वर्णवालों के पद को बनाये रखने के बारे में पूरी सतर्कता रखी गई। इस तरह ऊंचे पद को सुरक्षित करते हुए एक ऐसी राज-व्यवस्था बनाई गई कि उसमें बहुत से वर्णों का समावेश रह सके और कुछ हदों के भीतर और कुछ आम क़ायदों को मानते हुए एक वर्ग को अपने ढंग में रहने और अपनी इच्छा और रीति-रिवाजों के अनुसार अपनी अलग-अलग ज़िंदगी बिताने का अवसर मिले। एक ही ख़ास रुकावट रही थी और वह यह थी कि किसी वर्ग को दूसरे वर्गों के साथ संघर्ष में न आना चाहिए। यह एक लचीली और फैलनेवाली व्यवस्था थी जिसमें नये वर्ग बराबर बन सकते थे और इनमें या तो नये आनेवाले लोग या पुराने वर्गों से अलग होनेवाले शरीक हो सकते थे—अगर वे तादाद में काफ़ी हों। हर एक वर्ग के भीतर बराबरी और भाई-

संघ के सिद्धांत बरते जाते थे—और उनके चुने नेता वर्ग का नियंत्रण करते थे और जब खास सवाल उठते थे तो सारे वर्ग के लोगों से मशविरा किया जाता था।

ये वर्ग प्रायः हमेशा धंधों के आधार पर बने होते थे। हर एक अपने खास हुनर या व्यवसाय में विशेषता रखनेवाला होता था। इस तरह से वे एक प्रकार के व्यवसाय-संघ या शिल्प-संघ का रूप ले लेते थे। हर एक वर्ग में एक का भाव प्रबल होता था और यह भाव न केवल वर्ग की औरों के मुकाबले में रक्षा करता था, बल्कि आपस में अगर कोई व्यक्ति संकट में हो या आर्थिक तंगी में हो, तो उसकी सहायता के लिए बिरादरीवालों को उकसाता था। हर एक जात या वर्ग के लोगों के बच्चों का ताल्लुक दूसरे वर्ग या जात के लोगों के बच्चों से लगा हुआ था और ऐसा खयाल किया जाता था कि अगर हर एक वर्ग अपने-अपने धंधे को पूरी तरह अंजाम देता रहे, तो सारे समाज का काम सहूलियत से चलता रहेगा। इन सब बातों से ऊपर इसकी जोरदार और काफी कामयाब कोशिश रही है कि एक आम क़ौमी रिश्ता पैदा किया जाय या मुख्तलिफ गिरोहों को मिला-जुला रख सके—मिली-जुली संस्कृति और मिली-जुली परंपरा का भाव उपजाया गया था, नेता और संत सबके आम होते थे और जिसका यह भाव भी था कि सबका एक ही मुल्क है, जिसके चारों कोनों पर सभी लोग तीर्थ-यात्रा के लिए पहुंचा करते थे। उस जमाने का क़ौमी लगाव आजकल की राष्ट्रीयता से बहुत ज्यादा था। सियासी लिहाज से यह कमजोर था, लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक लिहाज से यह मजबूत था। चूंकि राजनैतिक संगठन की कमजोरी थी, इसलिए विदेशियों की विजयें हो सकीं; चूंकि सामाजिक संगठन मजबूत था, इसलिए लोग फिर उठ खड़े होते थे और नये आनेवालों को अपने में जज्ब कर लेते थे। यह संगठन इतना सिरवाला था कि सबको काटा नहीं जा सकता था और विजय और तबाहियों के बावजूद बहुत-से सिर जिंदा रहते थे।

वर्ण-व्यवस्था लेवाओं और धंधों की बुनियाद पर बनी हुई एक वर्ग-व्यवस्था थी। समान नियम लागू किये बगैर और हर एक वर्ग को पूरी आजादी देते हुए इसका मकसद सभी वर्गों को एक व्यवस्था के अंदर ले आना था। इसके भिन्न दायरे के भीतर एक पत्नी रखने, एक से ज्यादा पत्नी रखने और ब्रह्मचर्य की सभी प्रथाएं थीं, जिस तरह और रीति-रिवाजों, विश्वासों और आचरण के साथ रवादारी बरती जाती थी, उसी तरह इन सबसे रवादारी बरती जाती थी। हर एक सतह पर जिंदगी कायम रखी गई थी। किसी भी अल्पसंख्यक दल को बहुसंख्यक दल की अधीनता कबूल करने

की ज़रूरत न थी। शर्त यही थी कि लोग इतने काफ़ी हो जायें कि उनका एक खास वर्ग कहला सके और वह वर्ग की हैसियत से क़ायम रह सके। दो वर्गों के बीच जाति धर्म रस्म संस्कृति और मानसिक विकास के पार भेद हो सकते थे।

व्यक्ति का ख़याल एक वर्ग के सदस्य के रूप में ही किया जाता था अगर वह वर्ग के अस्तित्व में बाधक नहीं है तो जो चाहे वह करने के लिए आज़ाद था। उसे अपने वर्ग के ढांचे में बाधा डालने का कोई हक नहीं था। हां अगर वह इतना मज़बूत हो और इतने साथी इकट्ठा कर सके कि उसका एक अलग वर्ग बन सके तो वह एक नया वर्ग खुशी से क़ायम कर सकता था। अगर वह किसी वर्ग में बैठ नहीं सकता तो इसके यह मानी होते कि जहांतक दुनिया के सामाजिक व्यवहार हैं वह उनके क़ाबिल नहीं। ऐसी हालत में वह सन्यासी हो सकता था और वर्ण को हर एक धर्म को और कार्य-क्षेत्र को छोड़ सकता था और घूमता-फिरता रहकर जो चाहे कर सकता था।

यह याद रखना चाहिए कि जहां हिंदुस्तानी सामाजिक प्रवृत्ति यह थी कि व्यक्ति के मुक़ाबले में वर्ग या समाज के दावे को ऊंचा समझा जाय वहां धार्मिक विचार और आध्यात्मिक खोज के मामलों में व्यक्ति की आज़ादी पर ज़ोर दिया गया है। मुक्ति और ब्रह्म-ज्ञान के दरवाज़े सबके लिए खुले थे—हर वर्ग के लिए, चाहे वह ऊंचा हो चाहे नीचा। यह मुक्ति या ज्ञान वर्ग के लिए नहीं हो सकते थे बल्कि पूरी तौर पर व्यक्ति के लिए होते इस मुक्ति की खोज के बारे में कोई हठवादी नियम नहीं थे और समझा यह जाता था कि सभी मार्गों से इस तक पहुंचा जा सकता है।

अग चे समाज के संगठन में वर्ग-व्यवस्था को प्रधानता दी गई थी जिससे जात-पात ज़ोर पकड़ते थे फिर भी हिंदुस्तान में सदा से एक व्यक्तिवादी रुझान रहा है। दोनों नज़रियों के बीच अकसर आपस का संघर्ष भी देखने में आता है। कुछ हद तक यह व्यक्तिवाद वर्ग के उसूलों का जो व्यक्ति पर ज़ोर देता नतीजा होता। समाज-सुधारक लोग जो वर्ण-व्यवस्था की आलोचना करते या उसकी निंदा करते आमतौर पर धार्मिक-सुधारक हुआ करते और उनकी खास दलील यह होती कि वर्गों के भेद आत्मिक उन्नति और उस गहरे व्यक्तिवाद के रास्ते में बाधक होते हैं जिसकी ओर धर्म का संकेत है। इस वर्ग-धर्म के आदर्श से हटकर एक तरह के व्यक्तिवाद और साथ ही सार्वभौमिकता की ओर बौद्ध-धर्म का रुझान हुआ। लेकिन इस व्यक्तिवाद ने साधारण सामाजिक पंथों से विराग का रूप ले लिया। वर्ण-व्यवस्था की जगह लेनेवाले किसी दूसरे सामाजिक ढांचे को यह पेश न

कर सका। इसीसे उस वक्त और बाद में भी वर्ण-व्यवस्था चलती रही।

खास-खास वर्ण कौन थे? अगर हम क्षण-भर के लिए उन लोगों को छोड़ दें, जिन्हें वर्ण से बाहर समझा जाता था, यानी अछूतों को, तो फिर ब्राह्मण थे, जो पुरोहित, गुरु और विचारक होते थे; क्षत्रिय, जो शासक और युद्ध करनेवाले लोग थे; वैश्य, सौदागरी, तिजारत, महाजनी वगैरह करते थे; और शूद्र थे, जो किसानी और दूसरे काम किया करते थे। इन सब में शायद एक ही वर्ण खूब संगठित और अलग-थलग रहनेवाला था, यानी ब्राह्मणों का। क्षत्रिय अपने वर्ण में विदेशों से आनेवाले लोगों और मुल्क में ताकत और पद हासिल कर लेनेवाले लोगों, दोनों के ही आदमियों को लेकर अपनी तादाद बढ़ाते रहते थे। वैश्य लोग खासतौर पर तिजारत और महाजनी करते थे और कुछ और पेशों में भी थे। खेती-बाड़ी और घरेलू नौकरी-चाकरी शूद्रों के खास धंधे थे। ज्यों-ज्यों नये धंधे निकलते थे या दूसरे कारणों से नई जातों के बनने का सिलसिला बराबर जारी रहता था, त्यों-त्यों पुरानी जातों का दर्जा समाज के भीतर तरक्की करता जाता था। यह सिलसिला हमारे जमाने तक चला आया है। कभी-कभी नीची जातवाले जनेऊ पहन लेने लग जाते हैं, जो सिर्फ ऊंची जातवालों के लिए ही बना समझा जाता है। इन सब बातों से ज्यादा फ़र्क न पैदा होता, क्योंकि जात का एक दायरा मुकर्रर था और हर जात का धंधा या पेशा अलग होता। यह सिर्फ इज्जत का सवाल हुआ करता। कभी-कभी नीचे वर्णों के लोग अपनी योग्यता के कारण राज्य में ऊंचे ओहदों तक तरक्की करके पहुंच जाते थे, लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।

समाज का संगठन ऐसा था, जिसमें साधारण तरीके पर धन बटोरने पर ज्यादा जोर न दिया जाता था, न आपस में ज्यादा होड़ होती थी। इसलिए उसके जातों में इस तौर पर बंटने से उतना फ़र्क न पैदा होता था, जितना यों होता। ब्राह्मणों को, जो सबसे ऊपर थे, अपनी विद्या और बुद्धि का गुमान हुआ था और दूसरे उनकी इज्जत किया करते थे, दुनिया की धन-दौलत उनके पास बहुत कम हो पाती थी। व्यापार करनेवाले अमीर और समृद्ध जरूर होते थे, लेकिन कुल मिलाकर समाज में उनका बहुत बड़ा दर्जा न था।

बाशिंदों की ज्यादा तादाद किसानों की थी। न तो जमींदारी की प्रथा थी, न जमीन पर किसानों की ही मिल्कियत थी। यह कहना मुश्किल है कि कानून से जमीन का मालिक कौन था। आजकल का जैसा मिल्कियत का-सा सिद्धांत न था। किसान को अपनी जमीन पर खेती करने का अख्तियार था और

जो असल सवाल था वह यह था कि पैदावार का बंटवारा कैसे हो। पैदावार का ज्यादा हिस्सा किसान के पास जाता राजा का या राज का भी हिस्सा होता (आमतौर पर छठा हिस्सा) और गांव के हर एक और पेशेवाले का हिस्सा लगता—जैसे ब्राह्मण पुरोहित का पढ़ानेवाले गुरु का ब्यापारी का लोहार का बढ़ई का चमार का कुम्हार, धोबी, नाई, मेहतर वग़ैरह का। इस तरह राज्य से लेकर मेहतर तक सभी का पैदावार में हिस्सा हुआ करता था।

दलित जाति के और अछूत लोग कौन होते थे? 'दलित जाति' एक नया नामकरण है और एक अस्पष्ट ढंग से समाज के बिलकुल नीचे के तल की कुछ जातों पर लागू होता है। इनके और औरों के बीच कोई निश्चित विभाजक-रेखा नहीं है। उत्तरी हिंदुस्तान में बहुत थोड़े-से लोग जो भंगी या मेहतर का काम करते हैं अछूत समझे जाते हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में इनकी गिनती कहीं बड़ी है। इनकी शुरुआत कैसे हुई और गिनती में ये इतने बड़ कैसे गये यह बता सकना बड़ा कठिन है। शायद वे लोग जो गंदे समझे जानेवाले पेशों में लगे थे पहले ऐसे समझे जाते थे और बाद में उनके साथ ऐसे किसानी करने वाले मजदूर जुड़ गये जिनकी अपनी ज़मीन न थी।

हिंदुओं में आचार की शुद्धता का बेहद कड़ा विचार रहा है। इसका एक अच्छा नतीजा रहा और बहुत-से बुरे नतीजे भी हुए। अच्छा नतीजा तो जिस्म की सफ़ाई थी। रोज का नहाना हिंदुओं की जिंदगी का एक खास अंग रहा है इसमें ज्यादातर दलित-वर्ग भी शरीक हैं। हिंदुस्तान से ही यह आदत इंग्लिस्तान और दूसरी जगहों में फैली। साधारण हिंदू और ग़रीब-से-ग़रीब किसान को अपने बरतनों को साफ़ और चमकता हुआ रखने में गर्व का अनुभव होता है। सफ़ाई का यह विचार वैज्ञानिक न समझना चाहिए, क्योंकि वही आदमी जो दिन में दो बार स्नान करेगा बिना संकोच के ऐसा पानी पी लेगा जो साफ़ नहीं है और जिसमें कीटाणु भरे पड़े हैं। नया विचार सामूहिक है—कम-से-कम यह अब नहीं रहा है। वही शख्स जो अपने झोंपड़े में काफ़ी सफ़ाई रखेगा सारा कूड़ा-करकट गांव की गलियों में या अपने पड़ोसी के घर के आगे डाल देगा। गांव आमतौर पर बड़े गंदे होते हैं और जगह-जगह कूड़ा करकट के ढेर लगे हुए मिलते हैं। यह भी देखने में आयगा कि सफ़ाई का खुद कोई ख़याल नहीं पैदा होता बल्कि इसलिए उसका ख़याल किया जाता है कि इसे धर्म की आज्ञा का रूप दिया गया है। जहां यह धर्म की आज्ञा का ख़याल नहीं वहां सफ़ाई का दर्जा मामूली तौर पर गिरा हुआ होता है।

आचार-विचार संबंधी शुद्धता का बुरा नतीजा यह हुआ कि अलग रहने की प्रवृत्ति और छूत-छात ने तरक्क़ी की और ग़ैर-बिरादरीवालों के

कर सका इसीसे उस वक्त और बाद में भी वर्ण-व्यवस्था चलती रही।

खास-खास वर्ण कौन थे ? अगर हम क्षण-भर के लिए उन लोगों को छोड़ दें जिन्हें वर्ण से बाहर समझा जाता था यानी अछूतों को तो फिर ब्राह्मण थे जो पुरोहित गुरु और विचारक होते थे क्षत्रिय जो शासक और युद्ध करनेवाले लोग थे वैश्य सौदागरी तिजारत महाजनी वगैरह करते थे और शूद्र थे जो किसानी और दूसरे काम किया करते थे। इन सब में शायद एक ही वर्ण खूब संगठित और अलग-अलग रहनेवाला था यानी ब्राह्मणों का। क्षत्रिय अपने वर्ग मे विदेशों से आनेवाले लोगों और मुल्क में ताकत और पद हासिल कर लेनेवाले लोगों दोनों के ही आदमियों को लेकर अपनी तादाद बढ़ाते रहते थे। वैश्य लोग खासतौर पर तिजारत और महाजनी करते थे और कुछ और पेशो में भी थे। खेती-बाड़ी और घरेलू नौकरी चाकरी शूद्रो के खास धंधे थे। ज्यों ज्यो नये धंधे निकलते थे या दूसरे कारणों से नई जातो के ब ने का सिलसिला बराबर जारी रहता था त्यों-त्यों पुरानी जातो का दर्जा समाज के भीतर तरक्की करता जाता था। यह सिलसिला हमारे जमाने तक चला आया है। कभी-कभी नीची जातवाले जनेऊ पहन लेने लग जाते हैं जो सिर्फ ऊंची जातवालों के लिए ही बना समझा जाता है। इन सब बातो से ज्यादा फ़र्क न पैदा होता क्योंकि बात का एक दायरा मुकर्रिर था और हर बात का बढ़ा या घटा असम होता। यह सिर्फ़ इज्जत का सवाल हुआ करता। कभी-कभी नीचे वर्गों के लोग अपनी योग्यता के कारण राज्य में ऊंचे ओहदा तक तरक्की करके पहुंच जाते थे लेकिन ऐसा होता बहुत कम था।

समाज का संगठन ऐसा था जिसमें साधारण तरीक़े पर धन बटोरने पर ज्यादा जोर न दिया जाता था न आपस में ज्यादा होड़ होती थी इसलिए उसके जातो में इस तौर पर बंटने से उतना फ़र्क न पैदा होता था जितना यों होता। ब्राह्मणो को जो सबसे ऊपर थे अपनी विद्या और बुद्धि का गुमान हुआ था और दूसरे उनकी इज्जत किया करते थे दुनिया की धन-दौलत उनके पास बहुत कम हो पाती थी। व्यापार करनेवाले अमीर और समृद्ध जरूर होते थे लेकिन कुल मिलाकर समाज में उनका बहुत बड़ा रुतबा न था।

बाशिंदों की ज्यादा तादाद किसानों की थी। न तो ज़मींदारी की प्रथा थी न जमीन पर किसानो की ही मिल्कियत थी। यह कहना मुश्किल है कि कानून से जमीन का मालिक कौन था आजकल का जैसा मिल्कियत का-सा सिद्धांत न था। किसान को अपनी जमीन पर खेती करने का अख्तियार था और

की प्रमुख सवाल था वह यह था कि पैदावार का बंटवारा कैसे हो। पैदावार का ज्यादा हिस्सा किसान के पास जाता। राजा का या राज का भी हिस्सा होता (आमतौर पर छठा हिस्सा) और गांव के हर एक और पेशेवाले का हिस्सा लगता—जैसे ब्राह्मण पुरोहित का, पढ़ानेवाले गुरु का, व्यापारी का, लोहार का, बढ़ई का, चमार का, कुम्हार, धबई, नाई, मेहतर वगैरह का। इस तरह राज्य से लेकर मेहतर तक सभी का पैदावार में हिस्सा हुआ करता था।

दलित जाति के और अछूत लोग कौन होते थे? 'दलित जाति' एक नया नामकरण है और एक अस्पष्ट ढंग से समाज के बिलकुल नीचे के तल की कुछ जातों पर लागू होता है। इनके और औरों के बीच कोई निश्चित विभाजक-रेखा नहीं है। उत्तरी हिंदुस्तान में बहुत थोड़े-से लोग जो भंगी या मेहतर का काम करते हैं, अछूत समझे जाते हैं। दक्खिन हिंदुस्तान में इनकी गिनती कहीं बड़ी है। इनकी शुरुआत कैसे हुई और गिनती में ये इतने बड़ कैसे गये यह बता सकना बड़ा कठिन है। शायद वे लोग जो गंदे समझे जानेवाले पेशों में लगे थे पहले ऐसे समझे जाते थे और बाद में उनके साथ ऐसे किसानी करने वाले मजदूर जुड़ गये जिनकी अपनी जमीन न थी।

हिंदुओं में आचार की शुद्धता का बेहद कड़ा विचार रहा है। इसका एक अच्छा नतीजा रहा और बहुत-से बुरे नतीजे भी हुए। अच्छा नतीजा तो जिस्म की सफ़ाई थी। रोज़ का नहाना हिंदुओं की जिंदगी का एक खास ढंग रहा है; इसमें ज्यादातर दलित-वर्ग भी शरीक है। हिंदुस्तान से ही यह आदत इंग्लिस्तान और दूसरी जगहों में फैली। साधारण हिंदू और ग़रीब-से-ग़रीब किसान को अपने बरतनों को साफ़ और चमकता हुआ रखने में गर्व का अनुभव होता है। सफ़ाई का यह विचार वैज्ञानिक न समझना चाहिए, क्योंकि वही आदमी जो दिन में दो बार स्नान करेगा बिना संकोच के ऐसा पानी पी लेगा जो साफ़ नहीं है और जिसमें कीटाणु भरे पड़े हैं। न यह विचार सामूहिक है—कम-से-कम यह अब नहीं रहा है। वही शख्स जो अपने झोंपड़े में काफ़ी सफ़ाई रखेगा सारा कूड़ा-करकट गांव की गलियों में या अपने पड़ोसी के घर के आगे डाल देगा। गांव आमतौर पर बड़े गंदे होते हैं और जगह-जगह कूड़ा करकट के ढेर लगे हुए मिलते हैं। यह भी देखने में आयगा कि सफ़ाई का खुद कोई खयाल नहीं पैदा होता बल्कि इसलिए उसका खयाल किया जाता है कि इसे धर्म की आज्ञा का रूप दिया गया है। जहां यह धर्म की आज्ञा का खयाल नहीं वहां सफ़ाई का दर्जा नुमायां तौर पर गिरा हुआ होता है।

आचार-विचार सबकी शुद्धता का बुरा नतीजा यह हुआ कि अलग रहने की प्रवृत्ति और छूत-छात ने तरक्क़ी की और ग़ैर-बिरादरीवालों के

साथ बैठकर खाना-पीना मना किया गया और यह बात इतनी बढ़ी कि दुनिया-भर में ऐसी मिसाल और कहीं नहीं मिलती। इसका नतीजा यह भी हुआ कि कुछ खास पातोंवाले इसलिए अछूत समझे जाने लगे कि उन्हें ऐसे धन्धों में लगना पड़ता था जो गंदे समझे जाते हैं। आमतौर पर अपने ही जातवालों के साथ खाने का रिवाज सभी जातों में फैला। यह समाज में एक खास पद का निशान बन गया और ऊंची जातों के मुकाबले में नीची जातवाले ज्यादा कट्टरपन के साथ इसे बरतते। यह रिवाज ऊंची जातवालों के यहां से उठ रहा है। लेकिन नीची जातवालों में जिनमें दलित जातियां भी हैं यह अब भी चल रहा है।

जब आपस में खाने-पीने की इतनी मनाही रही तो मुख्तलिफ़ जातवालों के बीच शादी-ब्याह के बारे में क्या कहना है! कुछ मिली-जुली शादियों का होना तो लाजिमी था लेकिन सब-कुछ लेकर यह बड़े हैरत की बात है कि हर एक जात ने अपनी ही हद के अंदर शादी-ब्याह क़ायम रखा। जमाने के लंबे दौर में जातियां की विशुद्धता बनी रह सके यह एक गलत खयाल है फिर भी हिंदुस्तान की वर्ण-व्यवस्था ने कुछ हदतक खासतौर पर ऊंची जातों में खास नमूने कायम रखने में मदद दी है।

नीचे के स्तर के कुछ वर्गों के बारे में कभी-कभी कहा जाता है कि ये जात से बाहर के हैं। दरअसल कोई भी वर्ग यहांतक कि अछूत लोग भी वर्ण-व्यवस्था के चौखटे के बाहर नहीं है। दलित वर्ग और अछूत लोगों की अपनी अलग जातें हैं उनकी पंचायतें अलग हैं जो उनकी बिरादरी के लोगों की हैं और उनके आपस के मामलों को तय करती रहती हैं। लेकिन इनमें से बहुतों को गांव की आम जिंदगी से बाहर करके बेरहमी से सताया गया है।

इस तरह पुराने हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन की दो खास बातें थीं एक खु़दमुख्तार गांवों का होना और दूसरी वर्ण-व्यवस्था। तीसरी बात थी मिले-जुले खानदान की प्रथा जिसके सभी लोग आम जायदाद के मिले-जुले हिस्सेदार होते थे और जो साथ रहते थे वे सभी रियासत के मालिक होते थे। बाप या कोई और बुजुर्ग खानदान का कर्त्ता हुआ करता था लेकिन उसका काम प्रबन्धकर्त्ता का होता था। क़दीम रोम में 'पैटर फ़ैमिलियस' की जो हैसियत होती थी वह उसकी न थी। किन्हीं हालतों में अगर शरीक चाहें तो जायदाद का बंटवारा हो सकता था। इस मिली-जुली जायदाद में खानदान के सभी लोगों का हिस्सा समझा जाता था—चाहे वे कमाते हों चाहे न कमाते हों। लाजिमी तौर पर इसके ये मानी होते कि सभी को थोड़ा-थोड़ा निश्चित कम

से मिल जाता और कुल को बहुत ज्यादा हिस्सा मिले ऐसा न होता था। यह एक किस्म का बीमा था जिससे वे लोग भी फ़ायदा उठा लेते थे जो शरीर से अपंग होते या जिनके दिमाग में फ़र्क होता। इस तरह पर जहां एक तरफ़ सबके गुज़र-बसर का इंतज़ाम हो जाता था वहां चूंकि काम करने की पाबंदी न थी इसलिए काम भी धीमे तरीक़े पर होता और उसका मुआ-वज़ा भी थोड़ा ही हो पाता। शख्सी फ़ायदे या हौसले पर ज़ोर न दिया जाता बल्कि इस बात पर कि वर्ग और ख़ानदान का क्या नफ़ा है। एक बड़े कुटुंब में पलने और रहने का नतीजा यह असर होता कि अपने को बड़ा समझने का ख़याल ख़त्म पड़ जाता और उसमें समाजी हमदर्दी का ख़याल पैदा हो जाता।

ये सब बातें उसके बिलकुल बर-अक्स हैं जो घोर व्यक्तिवादी पच्छिमी सभ्यता में और ख़ासतौर पर अमरीका में होता है, जहां शख्सी हौसले को बढ़ावा दिया जाता है और ज़ाती नफ़ा एक ख़ास मक़सद मान लिया गया है और जहां तेज़-तर्रार और दूसरों को धक्का देकर आगे बढ़ने वालों के लिए सभी नफ़े हैं और कमज़ोरों और धर्मनिष्ठ लोगों या कोरों के गुज़र की गुंजाइश नहीं। हिंदुस्तान में मिले-जुले कुटुंब का रिवाज तेज़ी से टूट रहा है और शख्सी नज़रिये पैदा हो रहे हैं और इसका नतीजा यह हो रहा है कि न महज़ ज़िंदगी की आर्थिक पृष्ठभूमि में तब्दीलियां हो रही हैं, बल्कि आपस के व्यवहार के सिलसिले में नये मसले खड़े हो रहे हैं।

इस तरह हिंदुस्तानी समाजी ढांचे के तीनों खंभों की बुनियाद वर्ग के ऊपर क़ायम थी न कि व्यक्ति पर। मक़सद यह था कि वर्ग में यानी समाज में पायदारी आवे उसकी हिफ़ाज़त हो सके और वह जारी रह सके। तरक़्क़ी का मक़सद न था इसलिए तरक़्क़ी में रुकावट आती। हर एक वर्ग के भीतर, चाहे वह गांव हो चाहे कोई जात या बड़ा या खानदान हो लोग एक आम ज़िंदगी में हिस्सा लेते थे आपस में बराबरी की हैसियत रखते थे और लोकतंत्री तरीक़े बरते जाते थे। आज भी जातों की पंचायतें लोकतंत्री ढंग पर चलती हैं। एक बक़्त मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि देहातियों में जिनमें अकसर अनपढ़ भी थे चुनाववाली राजनैतिक और दूसरी समितियों में जाने की उत्सुकता थी। वह इनके तरीक़ों से ख़ूब वाक़िफ़ हो जाते थे और जब कभी उनकी ज़िंदगी से ताल्लुक़ रखनेवाले मसले पेश होते तो वे मुफ़ीद मेंबर साबित होते और उन्हें दबाना आसान न होता। लेकिन छोटे-छोटे वर्गों में फ़िरक़ापरस्ती से फूट और आपस में झगड़ा करने की प्रवृत्ति देखी गई है।

लोकतंत्री तरीके से लोग अच्छी तरह वाक़िफ़ ही न थे बल्कि उसे समाजी ज़िंदगी में मुक़ामी हुकूमत में पेशेवरों के संघों में धार्मिक जमातों वग़ैरह में आमतौर पर बरतते थे। वर्ण-व्यवस्था की और जो भी बुराइयां हों उसने हर एक वर्ण के भीतर यह लोकतंत्री ढंग क़ायम रखा। कार्य-संचालन चुनाव और बहस के लंबे नियम होते थे। बुद्ध-युग की बौद्ध-सभाओं के बारे में लिखते हुए मार्क्विस ऑव ज़ेटलैंड ने कहा है—"बहुतों को यह जानकर ताज्जुब होगा कि हिंदुस्तान में दो हज़ार या इससे भी ज़्यादा साल पहले बौद्धों की सभाओं में हमारी अपनी आजकल की पार्लमेंट के दस्तूर-अमल मिलते हैं। सभा के गौरव का निबाह करने की ख़ातिर एक ख़ास पदाधिकारी मुक़र्रर किया जाता था—यह हाउस ऑव कामन्स के 'मिस्टर स्पीकर' का पूर्व रूप था। एक और पदाधिकारी इसलिए मुक़र्रर होता था कि जब ज़रूरत हो एक निश्चित 'कोरम' का प्रबंध करे—यह हमारी व्यवस्था के 'पार्लमेंटरी चीफ़ ह्विप' के जवाब का पदाधिकारी होता था। सदस्य लोग कोई भी विषय पेश करने के लिए प्रस्ताव ले आते थे फिर इस पर बहस होती थी। कुछ हालतों में एक ही बार बहस का होना काफ़ी होता था दूसरी हालतों में इसका तीन बार होना लाज़िमी होता यह पार्लमेंट के इस दस्तूर की पेशबंदी थी कि किसी भी बिल को क़ानून के रूप में आने से पहले उसे पार्लमेंट के सामने तीन बार पढ़ा जाना चाहिए। अगर विचारणीय विषय पर मतभेद होता तो उसे बहुमत से तय किया जाता और 'बैलट' या गुप्त परची के ज़रिये मत पड़ते थे।"[1]

इस तरह हिंदुस्तान के पुराने सामाजिक ढांचे में कुछ गुण थे और अगर उसमें ये गुण न रहे होते तो वह इतने दिनों तक क़ायम न रह पाता। इसके पीछे हिंदुस्तानी संस्कृति का फ़िलसफ़ियाना आदर्श था—इन्सानी एकता का और इसमें धन-दौलत हासिल करने पर नहीं बल्कि भलाई, सौंदर्य और सचाई पर ज़ोर दिया गया था। इस बात की कोशिश की गई थी कि इज़्ज़त ताक़त और दौलत एक ही जगह न इकट्ठा हों। व्यक्ति और वर्ग के कर्तव्यों पर ज़ोर दिया गया था अधिकार पर नहीं। स्मृतियों में अलग-अलग वर्णों के धर्म-कर्तव्यों का बयान किया गया है इनमें से किसी में उनके अधिकारों की सूची नहीं दी गई है। मक़सद यह होता था कि वर्ण के भीतर, ख़ासतौर पर गांवों में और एक दूसरे ही मानी में जात के भीतर भी ऐसी हालत रहे कि उसे बाहर की मदद की ज़रूरत न हो वह अपने में पूर्ण हों। यह एक बंधी

---

[1] प्रोफ़ेसर रालिन्सन की पुस्तक 'दि लिगेसी ऑव इंडिया' (१९३७) में पृष्ठ ११ (भूमिका) पर उद्धृत।

हुई व्यवस्था थी जिसमें अपने चौखटे के भीतर तो तबदीली की आजादी थी और अपने को ठीक-ठाक बिठा लेने की गुंजाइश थी लेकिन जो लाजिमी तौर पर बराबर ज्यादा अलग-अलग और सख्त पाबंदियों की तरफ ले जानेवाली थी। रफ्ता-रफ्ता इसमें फँसने की और नये गुणों के ग्रहण करने की ताकत जाती रही। मजबूत निहित स्वार्थों ने बड़ी तबदीलियों को और शिक्षा को फैलने से रोक रखा। पुराने अंधविश्वास जिन्हें ऊपर के वर्ग के लोग अंधविश्वास समझते थे कायम रहे और उनमें नये जुड़ते गये। कौमी अर्थतंत्र ही नहीं बंध गया बल्कि विचार भी स्थिर हो गया और यह पुरानी लकीर का पाबंद सख्त न फैलनेवाला और न तरक्की करनेवाला हो गया।

वर्णों की कल्पना और अमल में बड़प्पन के आदर्श ने जगह कर ली थी और जाहिर है कि यह लोकतंत्री विचारों के खिलाफ पड़ता था। इसे अपने उदार कर्तव्यों का खूब एहसास था लेकिन शर्त यह थी कि लोग स्थापित व्यवस्था को चुनौती न दें और अपनी-अपनी पैतृक जगहों पर कायम रहें। हिंदुस्तान के कारनामे और उसकी कामयाबियां बहुत करके ऊंचे वर्ग के लोगों तक महदूद थीं। नीचे स्तर के लोगों को बहुत कम मौके हासिल थे और उनकी तरक्की पर सख्त पाबंदियां लगी थीं। ये ऊंचे वर्ग के लोग छोटे-छोटे भी मत गिरोहों में बंटे हुए नहीं थे ये बड़े-बड़े थे और ताकत अधिकार और प्रभाव उनमें खूब था। इसलिए ये कामयाबी के साथ एक लंबे जमाने तक इस तरह बने चले आये। लेकिन वर्ण-व्यवस्था और हिंदुस्तानी सामाजिक संगठन की जिस कमजोरी और कमी पर बात जाकर टूटती थी वह यह थी कि इसने बहुत बड़ी जनता को गिरा रखा और उसे उठने शिक्षा संस्कृति और धन-दौलत के मामले में तरक्की करने का मौका न दिया। इस पस्ती की वजह से सभी तरफ तनज्जुली फैली और इसके असर से ऊंचे वर्ग के लोग भी न बच पाये। इससे वह जड़ता पैदा हुई, जो हिंदुस्तान की जिंदगी और अर्थ-तंत्र पर अपना असर जमाये रही। समाज के इस ढांचे में और इस जमाने के दुनिया के और हिस्सों के ढांचों में ज्यादा फर्क न था लेकिन पिछली कुछ पीढ़ियों में दुनिया में जो तबदीलियां हुई हैं, उनकी वजह से यह फर्क बहुत नुमायां हो गया है। आज के समाज में वर्ण-व्यवस्था और उसके साथ लगी हुई बहुत-सी चीजें बेमानी रुकावट डालनेवाली प्रतिक्रिया पैदा करनेवाली और तरक्की में बाधक हैं। इसके चौखटे के भीतर अब बराबरी नहीं कायम रह सकती न तरक्की के मौके मिल सकते हैं न इसमें राजनैतिक लोकतंत्र की गुंजाइश है और आर्थिक लोकतंत्र तो उससे भी कम है। इन दो विचारों के बीच संघर्ष छिड़ा हुआ है और इनमें से सिर्फ एक जिंदा रह सकता है।

## ९ बाबर और अकबर   हिंदुस्तानी बनने का सिलसिला

अब फिर पीछे वापस चलिये। अफ़ग़ान लोग हिंदुस्तान में बस गये थे और हिंदुस्तानी बन गये थे। उनके हाकिमों के सामने पहले यह सवाल था कि लोगों के विरोध को किस तरह कम किया जाय फिर उनको अपने पक्ष में कैसे किया जाय। इसलिए उनकी निश्चित नीति यह रही कि अपने शुरू के निर्दय ढंग को नरम किया जाय और उन्होंने बाहरी विजेताओं की हैसियत से नहीं बल्कि हिंदुस्तान में जन्मे और पले हुए लोगों की हैसियत से हुकूमत करने की कोशिश की। जो बात शुरू-शुरू में नीति के ढंग पर बरती गई, वह ज्यों-ज्यों इन पश्चिमोत्तरी लोगों पर हिंदुस्तान के वातावरण का असर पड़ा और उसने इन्हें जज्ब किया त्यों-त्यों एक लाजिमी प्रकृति बनती गई। ऊपर से तो यह सिलसिला चलता ही रहा जनता में भी खुद-ब-खुद ऐसे जबरदस्त सोते फूट निकले जिनका मकसद विचारों और रहन-सहन के ढंग में एक समन्वय पैदा करना था। एक मिली-जुली संस्कृति जाहिर होने लग गई और ऐसी बुनियाद पड़ गई, जिस पर अकबर ने बाद में इमारत खड़ी की।

अकबर हिंदुस्तान के मुग़ल खानदान का तीसरा बादशाह था फिर भी दरअसल इसीने सल्तनत की बुनियाद पक्की की। उसके दादा बाबर ने १५२६ में दिल्ली के तख्त पर क़ब्ज़ा किया था लेकिन वह हिंदुस्तान के लिए परदेसी था और बराबर अपने को परदेसी समझता रहा। वह उत्तर से एक ऐसी जगह से आया था जहां उसने अपने मध्य-एशियाई देश में तैमूरियों की नई जागृति देखी थी और जहां ईरान की कला और संस्कृति का गहरा असर पड़ा था। अपने साथी-संगियों से मिलने की वहां की सोहबतों की और जिंदगी की उन आसाइशों की जो बगदाद और ईरान से वहां फैली थीं उसे बराबर चाह बनी रही। उन उत्तरी पर्वत-प्रदेशों के बर्फ़िस्तान की और फ़रग़ाना के अच्छे मौसम और फल-फूलों की उसे गहरी ख्वाहिश होती थी। जो कुछ उसने यहां देखा उससे चाहे जैसी मायूसी उसे हुई हो वह कहता है कि हिंदुस्तान एक बहुत ही बढ़िया मुल्क है। हिंदुस्तान में आने के चार साल बाद बाबर मर गया और उसका बहुत-सा वक्त लड़ाई में और आगरा की राजधानी को सजाने में बीता और इस काम के लिए उसने कुस्तुंतुनिया के एक मशहूर मेमार को बुलाया और काम पर लगाया था। कुस्तुंतुनिया में यह सुलेमान का आलीशान जमाना था और उस शहर में शानदार इमारतें खड़ी हो रही थीं।

बाबर ने हिंदुस्तान बहुत कम देखा और चूंकि वह चारों तरफ़ से विरोधी

लोगों से घिरा हुआ था, इसलिए बहुत-कुछ चीजें उसके देखने से रह गईं। लेकिन उसके बयान से इस बात का पता चलता है कि उत्तरी हिंदुस्तान का बहुत-कुछ सांस्कृतिक ह्रास हो चुका था। कुछ तो इसकी वजह थी तैमूर का किया हुआ विध्वंस, कुछ यह कि बहुत-से विद्वान और कलाकार और मशहूर कारीगर दक्खिन हिंदुस्तान में चले गये थे। बाबर का कहना है कि हाथियार काम करनेवालों और कारीगरों की कमी न थी, लेकिन कारीगरी में ईजाद का कौशल न रह गया था। यह भी जान पड़ता है कि जिंदगी की आसाइशों और आराम की चीजों में हिंदुस्तान ईरान के मुकाबले में बहुत पिछड़ा हुआ था। मैं नहीं कह सकता कि इसकी वजह क्या थी, यह कि हिंदुस्तानी दिमाग जिंदगी के इस पहलू की ओर से लापरवाह था, या यह कि बाद में कुछ ऐसी घटनाएं घटीं, जिनका यह नतीजा हुआ। शायद ईरानियों के मुकाबले में उन दिनों हिंदुस्तानी ऐशो-आराम और आसाइशों की तरफ इतना नहीं खिंचते थे। अगर इन्हें इन चीजों की काफी परवाह होती, तो आसानी से वे इन्हें ईरान से हासिल कर सकते थे, क्योंकि दोनों मुल्कों के बीच अक्सर आना-जाना लगा रहता था। लेकिन ज्यादा संभव यह है कि यह सूरत बाद में पैदा हुई और यह हिंदुस्तान के ह्रास और सांस्कृतिक कट्टरपन का एक और चिह्न था। पहले के जमानों में, जैसाकि संस्कृत-काल के साहित्य और चित्रों से पता लगता है, लोगों की रुचि के परिमार्जन में कमी न थी और उन जमानों को देखते हुए रहन-सहन का मान बहुत ऊंचा और आडंबरवाला था। उस वक्त भी जब बाबर हिंदुस्तान में आया, दक्खिन के विजयनगर के बारे में बहुत-से यूरोपीय यात्रियों ने बयान किया है कि कला, संस्कृति, सुरुचि और ऐशो-आराम का वहां का दर्जा बहुत ऊंचा था।

लेकिन उत्तरी हिंदुस्तान में सांस्कृतिक ह्रास बहुत नुमायां है। बंधे-तुले विश्वासों और एक कट्टर सामाजिक संगठन ने समाजी कोशिशों और तरक्की में रुकावट डाली। इस्लाम के और बाहर के बहुत-से लोगों के जिनके रहन-सहन जुदा थे, आने से इन विश्वासों और इस संगठन पर असर पड़ा। विदेशी की विजय के और जो कुछ बुरे नतीजे हों, उससे एक फायदा होता है—यह लोगों के मानसिक क्षितिज को विस्तृत कर देता है और उन्हें इस बात के लिए मजबूर करता है कि वे अपनी लकीरों से बाहर निकलें। वे इस बात का अनुभव करने लगते हैं कि जैसा उन्होंने समझ रखा था, दुनिया उससे कहीं बड़ी और विविध है। अफगानों की विजय का भी यही असर पड़ा था और इसकी वजह से बहुत-सी तबदीलियां हुई थीं। मुगलों की विजय का इससे भी ज्यादा असर पड़ा, क्योंकि ये लोग अफगानों

से कहीं ज्यादा तहज़ीब-याफ्ता थे और रहन-सहन के तरीक़ों में आगे बढ़े हुए थे। और भी तब्दीलियां हुईं। खासतौर पर उन्होंने वे खासाइयें पेश कीं जिनके लिए कि ईरान मशहूर था। यहांतक कि वहां की दरबारी ज़िन्दगी के बहुत बने-चुने शिष्टाचार भी यहां आये। दक्खिन की बहमनी रियासत का कमिसन्ट के ज़रिये ईरान से सीधा संपर्क था।

हिन्दुस्तान में बहुत-सी तब्दीलियां हुईं और कला और इमारतों और दूसरी सांस्कृतिक दिशाओं में नई प्रेरणाएं देखने में आईं। लेकिन यह सब इस बात का नतीजा था कि पुरानी दुनिया की ऐसी दो क़ौमियों का आपस में संपर्क हुआ जो अपनी उठान के दिनों की जीवनी-शक्ति और रचनात्मक शक्ति खो चुकी थीं और जो कट्टरपन के चौखटों में घिरी हुई थीं। हिन्दुस्तानी संस्कृति बहुत क़दीम और थकी हुई थी, अरब-ईरान की मिली-जुली संस्कृति की सुनहरी भी कब की ढल चुकी थी और उसका पुराना कौतूहल का भाव और मानसिक साहस जिसके लिए अरबवाले मशहूर थे अब न दिखते थे।

बाबर की शख्सियत दिलकश है। वह नई जागृति की ठीक-ठीक नुमाइन्दगी करनेवाला शहज़ादा है, जो साहसी और बहादुर है और कला, साहित्य और रहन-सहन का प्रेमी है। उसके पोते अकबर में और भी आकर्षण है और गुणों में भी वह उससे कहीं बढ़कर है। योग्य सेनापति की हैसियत से वह साहसी और दिलेर है, फिर भी उसमें बड़ी दया और कोमलता भी है। वह आदर्शवादी और सपनों का देखनेवाला है, फिर भी वह काम-काज का आदमी है, लोगों का ऐसा नेता है कि अपने अनुयायियों में गहरी स्वामिभक्ति उपजा सके। योद्धा की हैसियत से उसने हिन्दुस्तान के बड़े हिस्से पर फ़तह हासिल की, लेकिन उसकी निगाहें एक दूसरी ही तरह की विजय पर लगी हुई थीं। वह लोगों के दिलों और दिमाग़ों पर फ़तह हासिल करना चाहता था। उसकी इन मजबूर कर देनेवाली आंखों में, जैसाकि उसके दरबार के एक पुर्तगाली जेसुइट ने हमें बताया है, 'धूप में दमकते हुए समुन्दर' की-सी चमक थी। अकबर हिन्दुस्तान के पुराने स्वप्न ने उसमें नया रूप ग्रहण किया, और यह एकता महज सियासी एकता न थी, बल्कि ऐसी थी कि सब लोगों को एक चेतना में ढालनेवाली थी। सन् १५५६ से लेकर अपने राज्य-काल के क़रीब पचास साल तक उसने बराबर यही कोशिश की। बहुत-से राजपूत सरदारों को, जो किसी तरह दूसरे के क़ाबू में आनेवाले न थे, उसने अपनी तरफ़ मिला लिया। उसने एक राजपूत राजकुमारी से ब्याह किया और इस तरह उसका बेटा जहांगीर आधा

मुग़ल और आधा राजपूत हिंदू था। जहांगीर का बेटा शाहजहां भी एक राजपूत माता की कोख से पैदा हुआ था। इस तरह यह तुर्क-मंगोल वंश तुर्क या मंगोल होने की बनिस्बत कहीं ज्यादा हिंदुस्तानी था। अकबर राजपूतों का बड़ा प्रशंसक था और उनसे अपना संबंध मानता था और अपनी ब्याह-संबंधी और दूसरी नीति से उसने राजपूत राजाओं से दोस्ती पैदा कर ली थी उसकी वजह से उसकी सल्तनत में बड़ी पायदारी आई। मुग़लों और राजपूतों के इस सहयोग ने जो बाद के शहंशाहों के जमाने में भी बना रहा, न महज सरकारी हुकूमत और फ़ौज पर असर डाला बल्कि कला संस्कृति और रहने के तरीक़ों पर भी। मुग़ल अमीर रफ्ता-रफ्ता और भी ज्यादा हिंदुस्तानी होते गये और राजपूतों पर ईरानी संस्कृति का असर पड़ा।

अकबर ने बहुत-से लोगों को अपनी तरफ़ कर लिया और साथ ही रखा। लेकिन वह राजपूताना में मेवाड़ के राणा प्रताप की स्वाभिमानी और अदम्य आत्मा का दमन करने में कामयाब न हुआ और राणा प्रताप ने एक ऐसे व्यक्ति से जिसे वह विदेशी विजेता समझता था रिश्ता जोड़ने की अपेक्षा जंगल में मारा-मारा फिरना अच्छा समझा।

अकबर ने अपने आस पास बहुत-से शानदार लोगों को इकट्ठा कर लिया था जो उसके आदर्शों के समर्थक थे। इनमें अबुलफ़ज़ल और फ़ैज़ी नाम के दो मशहूर भाई थे और बीरबल राजा मानसिंह और अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना थे। उसका दरबार नये-नये मज़हबों के लोगों के और उन लोगों के जिनके पास नये विचार थे या नई ईजादें थीं मिलने की जगह बन गया। उसकी सब तरह के विचारों की रवादारी और उसका सब तरह के विश्वासों और मतों को प्रोत्साहन इस हद तक पहुंचा कि कुछ ज्यादा कट्टर मुसलमान उससे नाराज़ हो गये। उसने एक ऐसे समन्वित धर्म का प्रचार करने की भी कोशिश की जो सबको मान्य होता। इसीसे राज्य में उत्तर हिंदुस्तान में हिंदुओं और मुसलमानों के सांस्कृतिक मेल-जोल मे एक क़दम आगे बढ़ाया। ख़ुद अकबर जितना मुसलमानों में लोकप्रिय था उतना ही हिंदुओं में भी। मुग़ल वंश की स्थापना ऐसी मज़बूती से हो गई मानो वह हिंदुस्तान का अपना वंश हो।

## १० यंत्रों की तरक्की और रचनात्मक स्फूर्ति में एशिया और यूरोप के बीच में अंतर

अकबर में जानकारी हासिल करने का ग़ैर-मामूली शौक़ भरा हुआ था यह जानकारी चाहे रूहानी बातों की हो चाहे दुनियावी मामलों

थी। यंत्रों में उसकी दिलचस्पी थी; इसी तरह युद्ध-विज्ञान में भी थी। लड़ाई के हाथियों की वह बड़ी क़द्र करता था और ये उसकी फ़ौज का एक खास अंग थे। उसके दरबार के पुर्तगाली जेसुइट बताते हैं कि 'उसकी दिलचस्पी बहुत-सी बातों में थी और वह उन सबके बारे में जानकारी हासिल करने का यत्न करता था। उसे न सिर्फ़ सियासी और फ़ौजी मामलों का पूरा-पूरा ज्ञान था बल्कि बहुत-सी यांत्रिक कलाओं का भी। अपने ज्ञान के शौक़' में वह 'सभी चीज़ों को एक साथ सीख लेना चाहता था—इस तरह जैसे कोई भूखा आदमी अपना खाना एक ही निवाले में खा लेना चाहता है।'

फिर भी यह ताज्जुब की बात है कि यह कौतूहल एक मुक़ाम तक पहुंचकर रुक गया और इसने उसे उन रास्तों को टटोलने के लिए नहीं उकसाया जो उसके सामने खुले हुए थे। महान मुग़ल के रूप में उसकी प्रतिष्ठा बड़ी ज़बर थी और ख़ुश्की पर फ़ौजी ताक़त भी बढ़-चढ़कर थी लेकिन समुद्री शक्ति उसकी कुछ भी न थी। १४९८ में केप के रास्ते वास्को डि-गामा कालिकट तट पहुंचा था। १५११ में अलबुकर्क ने मलाका पर क़ब्ज़ा करके हिंद-महासागर में पुर्तगाली समुद्री शक्ति क़ायम कर ली थी। पच्छिमी तट पर गोआ पुर्तगाल के क़ब्ज़े में आ चुका था। इन सब बातों ने अकबर और पुर्तगालियों के बीच कोई सीधा संघर्ष नहीं पैदा किया। लेकिन समुंदर के रास्ते मक्का जानेवाले यात्रियों को—और इनमें कभी-कभी शाही घराने के लोग भी होते थे—पुर्तगाली लोग मुक्तिधन वसूल करने के लिए पकड़ लिया करते थे। यह ज़ाहिर था कि ज़मीन पर अकबर की जो भी ताक़त रही हो समुंदर के मालिक पुर्तगाली ही रहे। इसके समझने में दिक्क़त न होनी चाहिए कि ख़ुश्की की एक ताक़त जो सारे महाद्वीप पर छाई हो समुद्री ताक़त को ज़्यादा अहमियत न देगी मगरचे दरअसल हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने में बड़प्पन की एक वजह यह भी रही है कि समुंदरी रास्तों पर उसका क़ाबू रहा है। अकबर को एक बड़े महाद्वीप पर विजय पानी थी और पुर्तगालियों से भिड़ने के लिए उसके पास वक़्त न था और यद्यपि ये पुर्तगाली अक्सर डंक मार दिया करते थे फिर भी अकबर उन्हें ज़्यादा अहमियत न देता था। एक बार उसने जहाज़ों के बनवाने का विचार किया भी लेकिन वह ज़्यादातर सिर्फ़ वहबूद के लिए था, समुद्री शक्ति की तरक़्क़ी देने के ख़याल से उतना न था।

इसके अलावा तोपख़ाने के बारे में मुग़लों की फ़ौजें और उस ज़माने की हिंदुस्तान की और रियासतों की फ़ौजें भी आमतौर पर आटोमान

सल्तनत से आये हुए तुर्कों पर भरोसा करती थी। तोपखाने के सबसे बड़े पदाधिकारी का नाम रूमी खाँ पड़ गया—रूम—यूरोप रोम यानी कुस्तुंतुनिया को कहते हैं। ये विदेशी विशेषज्ञ मुकामी लोगों को काम सिखा सिखा करते थे लेकिन अकबर ने या किसी दूसरे ने ही अपने आदमियों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाहर क्यों नहीं भेजा या इस काम में खोज के जरिये तरक्की करने में दिलचस्पी क्यों न ली?

एक और भी विचार करने की बात है। जेसुइटों ने अकबर को एक छपी हुई इंजील भेंट की थी और शायद एक या दो और छपी हुई किताबें भी दी थीं। उसे छपाई के बारे में कौतूहल क्यों न हुआ जिससे सरकारी कामों में और दूसरे बड़े उद्देश्यों में भी उसे बे-अंदाजा मदद मिलती?

फिर घड़ियों को ले लीजिये। मुगल अमीरों में इनका बड़ा रिवाज था और इन्हें पुर्तगाली और बाद में अंग्रेज यूरोप से ले आया करते थे। अमीरों की आरायश की चीजों में इनकी गिनती होती थी आम लोग धूप-घड़ियों या बालू या पानी की घड़ियों से अपना संतोष करते थे। इस बात को जानने की कोई कोशिश न हुई कि कमानी की ये घड़ियाँ कैसे बनती थीं न उनके यहाँ बनवाने की ही कोई कोशिश हुई। यंत्रों की तरफ ध्यान की यह कमी गौर के काबिल है, खासतौर पर ऐसी हालत में जबकि हिंदुस्तान में दस्तकारी और कारीगरी में होशियार लोगों की कोई कमी न थी।

इस जमाने में हिंदुस्तान ही में ऐसा नहीं हुआ कि यह रचनात्मक स्फूर्ति और ईजाद की शक्ति अपंग हो गई थी। यही बल्कि इससे भी गिरी हुई दशा सारे पच्छिमी और मध्य-एशिया की हो रही थी। चीन के बारे में मैं कह नहीं सकता लेकिन मेरा खयाल है कि इसी तरह की पस्ती वहाँ भी आ गई थी। यह बात ध्यान में रखने की है कि चीन और हिंदुस्तान दोनों ही मुल्कों में इससे पहले के जमानों में विज्ञान के अनेक महकमों में काफ़ी तरक्की हुई थी। जहाज के बनाने और दूर-दूर देशों से समुद्र के रास्ते व्यापार करने के कारण यंत्र-संबंधी तरक्की के लिए बराबर प्रोत्साहन मिलता रहता था। यह सही है कि इन दोनों मुल्कों में या कहीं और ही उस जमाने में कल-पुर्जों में कोई बहुत बड़ी तरक्की न हुई। इस नजर से पंद्रहवीं सदी की दुनिया उस वक्त से हजार-दो-हजार साल पहले की दुनिया से बहुत मुख्तलिफ न थी।

अरब लोग जिन्होंने कुछ हद तक व्यावहारिक विज्ञान की शुरूआत में मदद दी थी और इल्म को उस वक्त तरक्की दी थी जब यूरोप के बीच के युगों में अंधकार फैला हुआ था अब पिछड़ गये थे और उनकी

अहमियत जाती रही थी। कहा जाता है कि सातवीं सदी में सबसे पहले बननेवाली घड़ियों में कुछ घड़ियां अरबवालों की बनाई हुई थीं। दमिश्क में एक मशहूर घड़ी थी और इसी तरह हारूं-अल-रशीद के जमाने में बगदाद में भी। लेकिन अरबों की तनज्जुली के साथ-साथ इन मुल्कों से घड़ियां बनाने का हुनर भी उठ गया अगरचे यूरोप के कुछ मुल्कों में यह तरक्की कर रहा था और घड़ियां वहां मुश्किल से मिलनेवाली चीजों में नहीं समझी जाती थीं।

कैक्सटन[1] से बहुत पहले स्पेन के अरबी मूर लकड़ी के ठप्पों से छपाई किया करते थे[2]। यह काम खुसूसन सरकारी हुक्मों की नकलें करने के लिए किया करती थी। ठप्पे की छपाई से आगे वहां तरक्की न हुई, और यह भी बाद में रफ्ता-रफ्ता उठ गई। आटोमान तुर्कों की यूरोप और पच्छिमी एशिया में बहुत दिनों तक सबसे बड़ी मुसलमानी ताकत रही है लेकिन कई सदियों तक उन्होंने छापेखाने के काम की ओर ध्यान न दिया अगरचे यूरोप में उनकी सल्तनत से मिले हुए मुल्कों में बहुत बड़ी तादाद में किताबें छपती रहती थीं। इसकी जानकारी उन्हें जरूर रही होगी लेकिन इस ईजाद से फायदा उठाने की उनकी कोशिश न हुई। कुछ हद तक मजहबी जज्बा इसके खिलाफ पड़ता था: कुरान-जैसी पवित्र किताब का छापना बेअदबी में शुमार किया जाता था क्योंकि छपे हुए तख्तों का ब्रश इस्तेमाल हो सकता था या उन पर पैर पड़ सकता था या वे कूड़े में फेंके जा सकते थे। यह नेपोलियन था जिसने छापेखाने का मिस्र में सबसे पहले प्रचार किया और वहां से यह रफ्ता रफ्ता और अरब मुल्कों में फैला।

जब एशिया मूर्छित और अपनी पुरानी कोशिशों की वजह से थक गया था उस वक्त यूरोप में जो बहुत-सी बातों में पिछड़ा हुआ था तरक्कियों के आसार दिख रहे थे। वहां एक नई चेतना पैदा हो गई थी एक नया जोश काम कर रहा था जो वहां के साहसियों को समुंदर-पार भेज रहा था और वहां के विचारकों के दिमागों को नई-नई दिशाओं में ले जा रहा

[1] इसने इंगलिस्तान में सबसे पहले छापेखाने का प्रचार किया।
—सं

[2] मैं नहीं कह सकता कि इस तरह की छपाई का काम स्पेन के अरबों ने कैसे सीखा। शायद यह मंगोलों के जरिये उन तक चीन से पहुंचा था और उत्तरी और पच्छिमी यूरोप में पहुंचने से बहुत पहले यह आम हुई थी। मंगोलों के मैदान में आने से पहले भी कारडोवा से काहिरा तक और दमिश्क से बगदाद तक की अरबी दुनिया के चीन से अक्सर संपर्क होते रहे थे।

था। नई जागृति (रिनेसां) ने विज्ञान की तरक्की में ज्यादा मदद न दी कुछ हद तक इसने लोगों को विज्ञान से विमुख किया और विश्व विद्यालयों में इसने जिस तरह की फ़िलसफ़ियाना और दकियानूसी शिक्षा शुरू की उसने एक तरह से उन वैज्ञानिक विचारों के प्रचार को रोका जिनसे लोग खूब वाक़िफ़ हो चुके थे। कहा जाता है कि अठारहवीं सदी तक आधे से ज्यादा पढ़े-लिखे अंग्रेज यह मानने से इन्कार करते थे कि ज़मीन अपनी धुरी पर घूमती रहती है या सूर्य के चारों तरफ़ परिक्रमा करती है बावजूद इसके कि कोपर्निकस, गैलिलियो और न्यूटन सामने आ चुके थे और अच्छी दूरबीनें भी इस्तेमाल में आ रही थीं। यूनानी और लातीनी साहित्य को पढ़कर बतलीमूस के इस सिद्धांत में उनका अब भी विश्वास था कि धरती के आस-पास विश्व घूमता है। उन्नीसवीं सदी का मशहूर राजनीतिज्ञ ग्लैड्स्टन अच्छा विद्वान होने के बावजूद न विज्ञान को समझता था और न उसके लिए उसे आकर्षण था। आज भी शायद बहुत-से राजनीतिज्ञ हैं (सिर्फ़ हिंदुस्तान में ही नहीं) जो विज्ञान और उसके तरीक़ों की बहुत कम जानकारी रखते हैं अगरचे वे ऐसी दुनिया में रहते हैं, जहां विज्ञान बराबर अमल में लाया जा रहा है और वे खूब बड़े पैमाने पर विनाश और हत्या के लिए उसे इस्तेमाल में लाते हैं।

फिर भी 'रिनेसां' ने यूरोप के दिमाग़ को बहुत-से पुराने बंधनों से छुड़ा दिया था और जिन सूत्रों में वह मुब्तिला था उनमें से बहुतों को तोड़ दिया था। यह बात चाहे 'रिनेसां' की वजह से कुछ अंशों में और घुमाव के साथ पैदा हुई हो चाहे उसके बावजूद चीज़ों की जांच-पड़ताल की एक नई भावना अपना असर दिखला रही थी और यह भावना न महज़ पुराने क़ायमशुदा प्रमाणों का विरोध करती थी बल्कि हवाई और अस्पष्ट क़यासों का भी। फ्रान्सिस बेकन ने लिखा था कि 'इन्सानी ताक़त और इन्सानी ज्ञान के रास्ते मिले-जुले चलते हैं बल्कि क़रीब-क़रीब एक हैं फिर भी चूंकि हवाई बातों में पड़ने की लोगों में एक बुरी आदत-सी पड़ गई है इसलिए महफ़ूज़ यह होगा कि हम विज्ञान को उन बुनियादों पर खड़ा करें जिनका अमल से ताल्लुक़ है और क़यासी हिस्से पर क्रियात्मक हिस्से की मुहर लगा दें। बाद में सत्रहवीं सदी में सर टामस ब्राउन ने लिखा था—"लेकिन ज्ञान का सबसे बड़ा दुश्मन जिसने सत्य का सबसे ज्यादा खून किया है, प्रमाणों में अंधविश्वास रहा है खासतौर पर प्राचीन ग्रंथों में विश्वास। क्योंकि (जैसाकि सभी देख सकते हैं) मौजूदा ज़माने के ज़्यादातर

अकबर का साम्राज्य

लोग गुजरे हुए जमानों को ऐसे अंधविश्वास के साथ देखते हैं कि एक के प्रमाण दूसरे की अक्ल को दबा लेते हैं। जो लोग हमारे जमाने से दूर हैं, उनकी रचनाएं, जो शायद ही समकालीनों या बाद के लोगों की टीका-टिप्पणी से बची हों अब ऐसी हो गई हैं, मानो हमारे काबू से परे हैं और जितनी ही वे पुरानी हों उतनी ही परम सत्य के नजदीक जान पड़ती हैं। मेरी समझ में यह खुले तौर पर अपने को धोखा देना है और सचाई के रास्ते से बहुत दूर जाना है।

अकबर सोलहवीं सदी का आदमी था। इस सदी ने यूरोप में गति विज्ञान का जन्म देखा जो इन्सानी जिंदगी में इन्कलाबी तरक्की पैदा करनेवाला था। इस नई तलाश को लेकर यूरोप आगे बढ़ा पहले तो इसकी रफ्तार धीमी थी लेकिन यह बराबर बढ़ती गई, यहांतक कि उसी सदी में इसने जाकर एक नई दुनिया तैयार कर ली। जब यूरोप कुदरती ताकतों से फायदा उठा रहा था और उन्हें अपने काम में ला रहा था तब एशिया बेहोश और गतिहीन हो रहा था और आदमी की मजदूरी और मशक्कत पर भरोसा करते हुए पुरानी लीक पीटता चला आ रहा था।

ऐसा यह क्यों था ? एशिया इतना बड़ा प्रदेश है और इसके हिस्से इतने जुदा-जुदा हैं कि किसी एक जवाब से काम नहीं चल सकता। हर एक मुल्क पर, खासतौर पर चीन और हिंदुस्तान-जैसे बड़े मुल्कों पर, अलग-अलग विचार करने की जरूरत है। उस जमाने में और बाद में भी चीन यकीनी तौर पर यूरोप से ज्यादा संस्कृत था और वहां के लोग यूरोप के किसी मुल्क के लोगों के मुकाबले में ज्यादा सभ्य जिंदगी बसर करते थे। हिंदुस्तान में भी जाहिरा तौर पर हमें एक तड़क-भड़कवाले दरबार का और पनपते हुए व्यापार, तिजारत कारीगरी और दस्तकारी का दृश्य देखने में आता है। उस जमाने में अगर कोई हिंदुस्तानी यात्री यूरोप जाता तो उसे बहुत-सी बातों में यूरोप पिछड़ा हुआ और अनपढ़ दिखाता। लेकिन जो गतिशीलता का गुण वहां पैदा हो गया था वह हिंदुस्तान में क़रीब-क़रीब ग़ायब था।

किसी सभ्यता का ह्रास बाहरी हमलों से उतना नहीं होता जितना भीतरी नाकामियों से। वह इसलिए खत्म हो सकती है कि कुछ मानों में उसका काम पूरा हो चुका है और उसे बदलती हुई दुनिया के सामने कोई नई चीज नहीं पेश करनी है या इसलिए कि जो लोग इसकी नुमाइंदगी करते हैं उनके गुणों में छीज आ गई है और अब वे योग्यता के साथ उसका बोझ नहीं संभाल सकते। यह हो सकता है कि समाजी संस्कृति ऐसी है कि एक हद से आगे वह तरक्की करने में बाधा डालती है और आगे तरक्की

तभी हो सकती है जब यह बाधा दूर हो जाय या संस्कृति के गुणों में कोई खास फर्क पैदा किया जा सके। तुर्की और अफ़ग़ानी हमलों से पहले भी हिंदुस्तानी सभ्यता का ह्रास काफ़ी ज़ाहिर है। क्या इन हमलावरों के आने ने और उनके विचारों ने प्राचीन हिंदुस्तान से टक्कर लेकर एक नई समाजी हालत पैदा कर दी और इस तरह उसके दिमाग़ी बंधन टूट गये और उसमें नई शक्ति आ गई है?

कुछ हद तक ऐसा हुआ और कला इमारतों के बनाने चित्रकारी और संगीत पर असर पड़ा। लेकिन ये असर काफ़ी गहरे नहीं थे ये कमो-बेश सतही थे और समाजी संस्कृति बहुत-कुछ पहले जैसी बनी रही। किन्हीं बातों में तो यह और भी कड़ी पड़ गई। अफ़ग़ान लोग तरक्की के कोई सामान नहीं लाये वे एक पिछड़े हुए सामंती और क़बाइली निज़ाम की नुमाइंदगी करते थे। हिंदुस्तान में यूरोप के क़िस्म की सामंती प्रथा न थी लेकिन राजपूतों का जिन पर हिंदुस्तान की रक्षा का दारमदार था कुछ सामंती ढंग का संगठन था। मुग़लों में भी आधी सामंती व्यवस्था थी लेकिन इनकी मरकज़ी शाही हुकूमत मज़बूत थी। इस शाही हुकूमत ने राजपूतों की अस्पष्ट सामंती व्यवस्था पर विजय पाई।

अकबर ऐसा खोजी दिमाग़वाला था कि अगर उसने इस तरफ़ ध्यान दिया होता और दुनिया के और हिस्सों में क्या हो रहा है इसे जानने की कोशिश की होती तो उसके लिए यह मुमकिन था कि एक समाजी तब्दीली की बुनियाद क़ायम कर देता। लेकिन वह अपनी सल्तनत को मज़बूत करने में लगा हुआ था और उसके सामने मसला यह था कि इस्लाम-जैसे तबलीगी मज़हब का क़ौमी मज़हब और लोगों के रिवाजों से कैसे मेल बनाया जाय और इस तरह क़ौमी एकता क़ायम की जाय। उसने मज़हब की विवेक के साथ व्याख्या करने की कोशिश की थी और कुछ वक्त के लिए हिंदुस्तान की फ़िज़ा में हैरतअंगेज़ तब्दीली पैदा कर दी। लेकिन यह सीधा हल कामयाब न हुआ और शायद ही कहीं दूसरी जगह भी यह कामयाब हुआ हो।

इस तरह हिंदुस्तान की समाजी रूपरेखा में अकबर ने भी कोई बुनियादी फ़र्क़ न पैदा किया और उसके बाद जो तब्दीली और दिमाग़ी साहस की जो हवा उठी थी वह दब गई और हिंदुस्तान ने अपनी पुरानी न बदलने वाली और गतिहीन ज़िंदगी अख़्तियार कर ली।

अबुलफ़ज़ल बताता है कि अकबर ने कोलंबस की अमरीका की तलाश का हाल सुना था। उसके बाद के यानी जहाँगीर के राज्य-काल

## ११ : एक मिली-जुली संस्कृति का विकास

अकबर ने इमारत ऐसी मजबूत खड़ी की थी कि वह बावजूद कुछ ढीले उत्तराधिकारियों के एक सौ साल तक और क़ायम रही। मुग़लों के क़रीब-क़रीब हर एक राज्य-काल के बाद तख़्त के लिए शहज़ादों में आपस की लड़ाइयां हुईं, जिनसे मरकज़ी ताक़त कमज़ोर पड़ती गई। लेकिन दरबार की तड़क-भड़क बनी रही और आलीशान मुग़ल बादशाहों की शोहरत सारे एशिया और यूरोप में फैल गई। आगरा और दिल्ली में ख़ूबसूरत इमारतें तैयार हुईं, जिनमें पुराने हिंदुस्तानी आदर्शों के साथ एक नई सादगी और ऊंचे दर्जे का सुडौलपन मिलता है। यह भारतीय मुग़ल-कला उत्तरी और दक्खिनी हिंदुस्तान के मंदिरों की और दूसरी इमारतों की पस्त और बहुत रंगी-चुनी विस्तृत सजावटवाली कला से नुमायां तौर पर जुदा है। चोटी के मेमारों और कलावंतों ने मुहब्बत के हाथों से आगरे में ताजमहल खड़ा किया।

आलीशान मुग़लों में से आख़िरी यानी औरंगज़ेब ने घड़ी को उलटा चलाने की कोशिश की और इस कोशिश में उसे रोक ही दिया। जबतक

में हिंदुस्तान में अमरीका से यूरोप के रास्ते तंबाकू पहुंच गया था। बावजूद जहांगीर के इसे दबाने की कोशिशों के, इसका जल्दी से और हैरत-अंगेज ढंग से चलन हो गया था।

मुग़ल ज़माने में बराबर हिंदुस्तान का मध्य-एशिया से नज़दीकी संपर्क रहा है। यह संपर्क रूस तक पहुंच चुका था और तिजारती और सियासी दूतों के आमद-रफ़्त के हवाले मिलते हैं। एक रूसी मित्र ने मेरा ध्यान रूसी तारीख़ों के ऐसे हवालों की तरफ़ दिलाया है। १५१२ में ख़ोजा हुसैन नाम का बाबर बादशाह का एक एलची दोस्ती का संबंध क़ायम करने के लिए मास्को पहुंचा। ज़ार मिखायल फ़ेदोरोविच (१६१३-१६४५) के ज़माने में हिंदुस्तानी व्यापारी वोल्गा के तट पर बस गये थे। सन १६२५ में रूसी हाकिम की आज्ञा से अस्तराख़ान में एक हिंदुस्तानी सराय बनी थी। हिंदुस्तानी दस्तकार और ख़ासतौर पर कपड़ा बुननेवाले मास्को बुलाये गये थे। १६९५ में सिमियन मैलेंकी नाम का एक रूसी गुमाश्ता दिल्ली आया था और औरंगज़ेब उससे मिला था। १७२२ में महान पीतर अस्तराख़ान पहुंचा था और उसने हिंदुस्तानी व्यापारियों से भेंट की थी। १७४१ में हिंदुस्तानी साधुओं का एक दल, जिन्हें फ़क़ीर बताया गया अस्तराख़ान पहुंचा। इनमें से दो साधु रूस में बस गये और रूसी प्रजा बन गये।

मुग़ल बादशाहों ने क़ौमी रविश का साथ दिया और जबतक वे एक मिली-जुली क़ौमियत को तैयार करने और मुल्क के मुख़्तलिफ़ अनासिरों का समन्वय करने की कोशिश में रहे, तबतक उनकी मज़बूती बनी रही। जब औरंगज़ेब ने इस तहरीक का विरोध किया और उसे दबाना शुरू किया और हिंदुस्तानी हाकिम की हैसियत से नहीं बल्कि मुसलमान हाकिम की हैसियत राज्य करना चाहा तब मुग़ल सल्तनत टूटने लगी। अकबर और कुछ हद तक उसके उत्तराधिकारियों के काम पर पानी फिर गया और बहुत-सी ताक़तें जिन्हें अकबर की नीति ने क़ाबू में कर रखा था फिर आज़ाद हो गईं और उन्होंने सल्तनत को चुनौती दी। नये आंदोलन उठ खड़े हुए, जिनके नज़रिये तंग ज़रूर थे लेकिन जो उभरती हुई क़ौमियत की नुमाइंदगी करते थे और अगरचे वे इतने मज़बूत नहीं थे कि पायदार हुकूमत क़ायम कर सकें फिर भी ऐसे ज़रूर थे कि मुग़ल सल्तनत को तोड़-फोड़ दें।

पच्छिमोत्तर से आनेवाले हमलावरों और इस्लाम ने हिंदुस्तान को काफ़ी ज़ोरदार टक्कर दी थी। इसने हिंदू-समाज में पैठी हुई बुराइयों को खोलकर दिखा दिया था यानी जात-पांत की छटाव को, अछूतपने को और अलग-थलग रहने के रवैये को एक बेतुकी हद तक पहुंचा देने को। इस्लाम के भाई-पने के और इस मज़हब के माननेवालों की उसूली बराबरी के ख़याल ने उन लोगों पर ज़बरदस्त असर ख़ासतौर पर डाला जिन्हें हिंदू समाज के भीतर बराबरी का दर्जा देने से इन्कार किया गया था। विचारों के इस संघर्ष से बहुत-से नये आंदोलन उठे जिनका मक़सद एक धार्मिक समन्वय क़ायम करना था। बहुतों ने मज़हब बदला लेकिन इनमें से ज़्यादातर नीची जाति के लोग थे और ख़ासकर बंगाल के। कुछ ऊंची जात के लोगों ने भी नये मज़हब को क़बूल किया था तो इसलिए कि दरअसल उसमें यक़ीन लाये लेकिन ज़्यादातर सियासी और आर्थिक कारणों से। हुक्मरानों के मज़हब को क़बूल करने में ज़ाहिरा फ़ायदे थे।

इस व्यापक मत-परिवर्तन के बावजूद हिंदू-धर्म अपने विविध रूपों में मुल्क का ख़ास मज़हब बना रहा—यह ठोस अलग-थलग रहनेवाला अपने में पूर्ण और अपनी जगह पर पक्का था। ऊंचे वर्ण के लोगों में विचारों के मैदान में अपने बड़प्पन में कोई संदेह न पैदा हुआ और फ़िलसफ़े और अध्यात्म के मसलों का हल हासिल करने के लिहाज़ से वे इस्लाम के नज़रिये को अनगढ़-सा समझते रहे। इस्लाम का एकेश्वरवाद भी उन्हें अपने धर्म में मिलता था और साथ ही अद्वैतवाद था जो उनके ज़्यादातर फ़िलसफ़े की बुनियाद में था। हर एक को आज़ादी थी कि वह चाहे इन सिद्धांतों को

कबूल करे, चाहे पूजा के ज्यादा सादे और प्रचलित तरीक़ों को अपनाये। वह वैष्णव होकर व्यक्ति-रूप ईश्वर में आस्था रख सकता था और उसे अपनी भक्ति समर्पित कर सकता था या अगर फ़िलसफ़ियाना विचारों का आदमी हो तो वह अध्यात्म और गूढ़ दर्शन के बारीक ख़यालों की सैर कर सकता था। अलबत्ता उनका समाजी संगठन वर्ण के आधार पर हुआ था। मज़हब के मामले में हिंदू बड़े व्यक्तिवादी थे; धर्म-प्रचार में न उनका विश्वास था और अगर कोई मज़हब बदल लेता था तो न इसकी उन्हें परवाह थी। जिस बात पर उन्हें एतराज़ होता था वह यह थी कि उनके समाजी संगठन से छेड़-छाड़ की जाय। अगर कोई दूसरा गिरोह अपने ढंग पर चलना चाहता था तो इससे उन्हें बहस न थी; वह ऐसा करने के लिए आज़ाद था। यह बात ग़ौर करने की है कि जिन्होंने इस्लाम मज़हब अख़्तियार किया उन्होंने सामूहिक रूप से अपने वर्ण के साथ-साथ ऐसा किया—वर्ण की भावना का इतना ज़ोर था। ऊपर के वर्ण के लोग इक्के-दुक्के ख़ास तौर पर मज़हब भले ही बदलें अक्सर नीचे वर्ण के लोग दल-के-दल या गाँव-के-गाँव मिलकर नया मज़हब कबूल करते थे। इस तरह से जहाँ तक वर्ग का ताल्लुक़ है उनकी ज़िंदगी में और उसके कामों में फ़र्क़ न आया था; वे पहले जैसे चलते रहते थे। पूजा के तरीक़ों में छोटी-मोटी तबदीलियाँ ज़रूर पैदा हो जाती थीं। इसी वजह से आज देखते हैं कि कुछ ख़ास पेशे या हुनर ऐसे हैं, जो बिल्कुल मुसलमानों के हाथ में हैं। इस तरह कपड़ा बुनने का काम ज़्यादातर, और बहुत हिस्सों में तो अकेले मुसलमान ही करते हैं। यही कैफ़ियत जूते के सौदागरों और क़स्साबों की भी है। दर्ज़ी क़रीब-क़रीब मुसलमान ही मिलेंगे। वर्ण की व्यवस्था टूट रही है, इसलिए बहुत-से लोग दूसरे पेशे भी अख़्तियार करने लगे हैं। इसने पेशेवरों के वर्ग को बाँटनेवाली लकीर कुछ-कुछ मिटा दी है। दस्तकारी और देहाती उद्योग-धंधों का अंग्रेज़ी हुकूमत के शुरू में जो जान-बूझकर विनाश किया गया था उसने और बाद में एक नये औद्योगिक अर्थ-तंत्र ने, बहुत-से पेशेवरों और दस्तकारों की ख़ासतौर पर जुलाहों की रोज़ी छीन ली। जो इस मुसीबत से बच रहे, वे या तो किसानी करनेवाले मज़दूर बन गये या अपने संबंधियों के साथ छोटे-मोटे खेतों के खेतिहर हो गये।

उस ज़माने में मज़हब बदलकर इस्लामी मत कबूल कर लेने पर, शायद कोई ख़ास विरोध नहीं होता था—ये लोग चाहे इक्के-दुक्के हों चाहे गिरोह-के-गिरोह—सिवाय इसके कि जब किसी तरह की ज़बरदस्ती की जाती हो। इस धर्म-परिवर्तन को दोस्त और रिश्तेदार भले ही न पसंद

करते लेकिन हिंदू जाहिरा तौर पर इसे महत्त्व न देते थे। उस ज़माने की इस लापरवाही के मुक़ाबले में आज की हालत बिल्कुल उलटी है, आज मज़हब की तबदीली पर बड़ा शोर मचता है और यह तबदीली चाहे इस्लाम के हक़ में हो चाहे ईसाई मत के हक़ में इसे बहुत नापसंद किया जाता है। ज़्यादातर इसके राजनैतिक कारण हैं और इनमें ख़ासकर मज़हब की बिनाह पर निर्वाचन-क्षेत्रों का बन जाना है। हर एक मज़हब बदलनेवाले आदमी के बारे में यह ख़याल किया जाता है कि उसने एक मज़हबी गिरोह की गिनती बढ़ाई और इस तरह आख़िरकार उसकी नुमाइंदगी और सियासी ताक़त में तरक़्क़ी की। इस मक़सद से मर्दुमशुमारी में भी हेर-फेर करने की कोशिश की जाती है। लेकिन सियासी वजहों से हटकर भी हिंदू-धर्म में दूसरे मज़हब-वालों को दीक्षा देने की और जो मज़हब से अलहदा हो गये हैं, उन्हें वापस ले लेने की रुचि पैदा हो गई। हिंदू-धर्म पर इस्लाम के जो असर पड़े हैं, उनमें यह भी एक है अगरचे अमली तौर पर इसकी वजह से हिंदुस्तान में दोनों में संघर्ष पैदा होते हैं। कट्टर हिंदू इसे अब भी नहीं पसंद करते।

काश्मीर में मुसलमान बनाने का एक लंबा सिलसिला रहा है जिससे वहां की ९५ फ़ी-सदी आबादी आज मुस्लिम है अगरचे इसने बहुत-से अपने पुराने हिंदू रिवाजों को क़ायम रखा है। उन्नीसवीं सदी के बीच में इस रियासत के हिंदू शासक ने यह पाया कि इनमें से बहुत ज़्यादा तादाद में लोग एक साथ हिंदू-धर्म में वापस आने के लिए राज़ी या ख़्वाहिशमंद हैं। उसने बनारस के पंडितों के पास अपने आदमियों को भेजकर पुछवाया कि ऐसा किया जा सकता है या नहीं। पंडितों ने इस तरह के मत-परिवर्तन के ख़िलाफ़ व्यवस्था दी और मामला वहीं पर ख़त्म हो गया।

हिंदुस्तान में बाहर से आनेवाले मुसलमान कोई नया तर्ज़-अमल या राजनैतिक और आर्थिक ढांचा अपने साथ नहीं लाये। बावजूद इसके कि इस्लाम सभी मज़हब के लोगों को भाई मानता है, उनमें गिरोहबंदियां थीं और उनका नज़रिया सामंतवादी था। कारीगरी और उद्योग-धंधों के संगठन के लिहाज़ से उस वक़्त हिंदुस्तान में जो हालत थी उससे वे पिछड़े हुए थे। इस तरह हिंदुस्तान के समाजी संगठन और आर्थिक ज़िंदगी पर बहुत कम असर पड़ा। यह ज़िंदगी अपनी पुरानी रफ़्तार से जारी रही और सभी लोग वे चाहे हिंदू हों चाहे मुसलमान इसके भीतर अपनी-अपनी जगह पर जम गये थे।

औरतों के दर्जे में तनज़्ज़ुली हुई। पुराने क़ानूनों में भी विरासत के मामले में और घर में उनके दर्जे के बारे में इन्साफ़ नहीं बरता गया था

फिर भी उन्नीसवीं सदी के इंगलिस्तान के क़ानून के मुक़ाबले में इन पुराने क़ानूनों में औरतों का ज़्यादा लिहाज़ रखा गया था। ये विरासत संबंधी क़ानून हिंदुओं की सम्मिलित कुटुंब-प्रथा का ख़याल रखकर बनाये गये थे और मुश्तरका जायदाद दूसरे ख़ानदान में न चली जाय इसका बचाव करते थे। शादी के बाद औरत दूसरे ख़ानदान की हो जाती थी। आर्थिक दृष्टि से वह अपने बाप या पति या बेटे की आश्रित समझी जाती थी लेकिन उसकी अपनी जायदाद हो सकती थी और होती थी। बहुत तरह से उसकी आदर-प्रतिष्ठा होती थी और उसे समाजी और सांस्कृतिक कामों में हिस्सा लेने की काफ़ी आज़ादी थी। हिंदुस्तानी इतिहास में मशहूर औरतों के नाम भरे पड़े हैं जिनमें विचारक और फ़िलसूफ़ भी हैं और हाकिम और लड़ाई में हिस्सा लेनेवाली भी हुई हैं। यह आज़ादी बराबर कम होती रही। विरासत के बारे में इस्लामी क़ानून औरतों के हक़ में ज़्यादा इन्साफ़-पसंद था लेकिन वह हिंदू औरतों पर लागू न होता था। जो तब्दीली उनके सामने आई, वह उनके ख़िलाफ़ पड़नेवाली थी—यानी परदे का रिवाज बहुत कड़ा हो गया—मुसलमान औरतों में यह और भी कड़ा था। यह रिवाज उत्तर में सब जगह और बंगाल में भी फैल गया लेकिन दक्खिन और पच्छिम इस बुरी प्रथा से बचे रहे। उत्तर में भी यह रिवाज ऊँचे वर्ग के लोगों में ही रहा और खुश-क़िस्मती से आम जनता इससे बची रही। औरतों को अब शिक्षा के कम मौक़े हासिल होते थे और अब वे ज़्यादातर अपनी गिरस्ती में घिर गई थीं।[1] आगे बढ़ने के बहुत-से रास्तों को बंद करके और एक पाबंद ज़िंदगी में घेर कर, उन्हें यह बतलाया गया कि सतीत्व की रक्षा उनका परम धर्म है और इसका नाश परम पाप है। यह था मर्दों का बनाया हुआ सिद्धांत लेकिन मर्द इसे अपने ऊपर लागू नहीं करते थे। तुलसीदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य हिंदी रामायण में जिसका आदर उचित ही है और जो जहांगीर के ज़माने में रचा गया था औरतों की जो तस्वीर खींची है वह हर दर्जे की ग़ैर-इन्साफ़ी और पक्षपात ज़ाहिर करनेवाली है।

कुछ तो यों कि हिंदुस्तान के ज़्यादातर मुसलमान हिंदू-धर्म से मत परिवर्तन किये हुए लोग थे और कुछ इसलिए कि हिंदू-मुसलमानों का बहुत लंबे ज़माने तक ख़ासतौर पर उत्तरी हिंदुस्तान में साथ रहा दोनों के

[1] फिर भी मशहूर स्त्रियों की बहुत-सी मिसालें उस ज़माने में और बाद में भी मिलती हैं जिनमें विदुषी भी हैं और शासन करनेवाली भी। अठारहवीं सदी में लखमीदेवी ने 'मिताक्षरा' पर, जो मध्य-युग का मशहूर क़ानूनी ग्रंथ है बड़ी टीका तैयार की।

बीच बहुत-सी आम बातें आदतें रहन-सहन के ढंग और रुचियां पैदा हो गई थीं जो संगीत चित्रकारी इमारतों खाने कपड़े और एक-सी परंपरा में दिखाई देती हैं। वे मिल-जुलकर शांति के साथ एक क़ौम के लोगों की तरह रहा करते थे एक-दूसरे के जलसों और त्योहारों में शरीक होते थे एक बोली बोलते थे और बहुत-कुछ एक ही ढंग से रहते थे और जिन आर्थिक मसलों का उन्हें सामना करना पड़ता वे भी एक-से थे। अमीर लोग और वे लोग जिनके पास ज़मीनें थीं और उनके पिछलग्गे दरबार का स्वप्न देखते थे। (ये लोग ज़मींदार या ज़मीन के मालिक न होते थे। वे लगान वसूल न करते थे बल्कि उन्हें सरकारी मालगुज़ारी वसूल करने और उसे अपने काम में लाने की आज्ञा मिली रहती थी। यह हक़ आमतौर पर हीन हयाती हुआ करता था।) इनकी एक पेचीदा और आडंबरवाली और रंगी-चुनी आम तहज़ीब अलग तैयार हो गई। ये एक-से कपड़े पहनते, एक-सा खाना खाते एक-सी कलाओं में दिलचस्पी लेते थे। इनके दिल-बहलाव फ़ौजी थे शिकार और मर्दानगी के खेल। इनकी पसंद का खास खेल चौगान (पोलो) होता और हाथियों की लड़ाई भी इनके यहां बहुत आम-पसंद थी।

यह सब रहन-रस्म और एक-सी ज़िंदगी उस हालत में क़ायम हुई, जब वर्ण-व्यवस्था मौजूद थी और वह दोनों के मिलकर एक हो जाने में अड़ंगा डालनेवाली थी। आपस के शादी-ब्याह भी ही कभी हो जाते हों, और उस वक्त भी दोनों पक्ष मिलकर एक नहीं होते थे बल्कि होता यह था कि हिंदू औरत मुसलमान बनने की हो रहती थी। आपस में खान-पान नहीं होता था लेकिन इस मामले में बहुत कड़ाई न थी। औरतों के परदे में अलग-अलग रहने ने समाजी ज़िंदगी की तरक्क़ी में रुकावट पैदा की। यह बात मुसलमानों पर ज़्यादा लागू होती थी क्योंकि उनमें परदा ज़्यादा कड़ा था। अगरचे हिंदू और मुसलमान मर्द आपस में अक्सर मिलते रहते थे पर दोनों ही तरफ़ की औरतों को ये मौक़े न मिल पाते थे। अमीर और बड़े घरानों की औरतें इस तरह ज़्यादा अलग-अलग ज़िंदगी बिताती थीं और आपस में एक-दूसरे से नावाक़िफ़ रहते हुए इन्होंने जुदा-जुदा ख़याल रखनेवाले दल बना लिये थे।

गांव के आम लोगों की और इसके मानी होते हैं कि आबादी के ज़्यादातर हिस्से की ज़िंदगी ज़्यादा गठी हुई थी और मिले-जुले आधार पर क़ायम थी। गांव के महदूद घेरे के अंदर हिंदुओं और मुसलमानों के गहरे संबंध हो गए थे। वर्ण-व्यवस्था यहां कोई रुकावट नहीं डालती थी और हिंदुओं ने मुसलमानों को भी एक जात मान ली थी। ज़्यादातर मुसलमान

ऐसे थे जिन्होंने अपना पुराना मजहब बदल लिया था और पुरानी परंपरा को अब भी भूले न थे। वे हिंदू विचारों कथाओं और पुराणों की कहानियों से वाकिफ होते थे वे एक तरह का काम करते एक-सी जिंदगी बिताते एक-से कपड़े पहनते और एक ही बोली बोलते थे। वे एक-दूसरे के त्योहारों में शरीक होते और कुछ नीम-मजहबी त्यौहार ऐसे भी होते जो दोनों के लिए आम थे। इनके लोक-गीत एक ही थे। इनमें से ज्यादातर किसान दस्तकारी करनेवाले या देहाती धंधे करनेवाले लोग होते थे।

एक तीसरा बड़ा गिरोह जो अमीरों और किसानों व दस्तकारों के बीच का था व्यापारियों और तिजारत-पेशा लोगों का था। यह ज्यादा-तर हिंदुओं का था और अगरचे इसे कोई सियासी ताकत हासिल न थी फिर भी आर्थिक संगठन बहुत-कुछ इसीके काबू में था। इस वर्ग के लोगों के मुसलमानों से संपर्क ऊपर और नीचे के दोनों ही वर्गों के लोगों के मुकाबले में कम थे। बाहर से आये हुए मुसलमानों का वर्ग सामंतवादी था और तिजारत की तरफ वे मुखातिब न होते थे। इस्लाम की यह मनाही भी कि सूद न खाना चाहिए, उनके तिजारत के रास्ते में अड़चन पैदा करने वाली थी। वे अपने को शासक-वर्ग का और अमीर समझते थे और सरकारी ओहदेदार, जागीरदार या फौजी अफ़सर हुआ करते थे। बहुत-से आलिम भी थे जिनका दरबार से लगाव रहता था या जो मजहबी या दूसरी अकादेमियों की देख-रेख करते थे।

मुगलों के जमाने में बहुत-से हिंदुओं ने दरबार की भाषा फ़ारसी में किताबें लिखीं। इनमें से कुछ अपने ढंग की किताबों में बानगी की रचनाएं मानी जाती हैं। साथ-ही-साथ मुस्लिम आलिमों ने संस्कृत से पुस्तकों के फ़ारसी में तरजुमे किये और हिंदी में भी किताबें लिखीं। हिंदी के सबसे मशहूर कवियों में दो मुसलमान हैं—मलिक मुहम्मद जायसी जिसने 'पद्मावत' लिखा और अब्दुल रहीम खानखाना जो अकबरी दरबार के अमीरों में था और जिस पर अकबर के बेटे की देख-रेख की जिम्मेदारी थी। खानखाना अरबी फ़ारसी और संस्कृत का विद्वान था और उसकी हिंदी कविता ऊंचे दर्जे की है। कुछ वक्त तक वह शाही फ़ौज का सिपहसालार भी था फिर भी उसने मेवाड़ के राणा प्रताप की प्रशंसा की है, जो बराबर अकबर से लड़ता रहा और जिसने अकबर के आगे कभी हथियार नहीं डाले। खानखाना युद्ध में अपने दुश्मन की बहादुरी और देश-भक्ति और आत्म-सम्मान की सराहना करता है और उसे मिसाल के क़ाबिल बताता है।

अकबर ने भी इसी बहादुरी और दोस्ती की बुनियाद पर अपनी नीति कायम की थी और उसके बहुत-से वज़ीरों और सलाहकारों ने भी यह नीति सीख ली थी। खासतौर पर वह राजपूतों से मेल रखता था क्योंकि उनके जिन गुणों की वह तारीफ़ करता था वे उसमें भी थे यानी तातारशाही की हद तक पहुंची हुई दिलेरी बहादुरी और आत्म-सम्मान और अपने वचन से कभी न डिगने की बात। उसने राजपूतों को अपना तरफ़दार बना लिया था लेकिन अपने तारीफ़ के क़ाबिल गुणों के बावजूद राजपूत एक ऐसे मध्ययुगीन समाज की नुमाइंदगी करनेवाले थे जो नई ताक़तों के उठ खड़े होने के साथ-साथ पुराना पड़ रहा था। अकबर को इन नई ताक़तों का खूब एहसास न था क्योंकि वह भी अपनी समाजी विरासत के घेरे में क़ैद था।

अकबर को हैरतअंगेज़ कामयाबी हासिल हुई, क्योंकि उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के मुख्तलिफ़ लोगों के बीच उसने एकता की भावना पैदा कर दी। एक विदेशी शासक-वर्ग की मौजूदगी इसमें रुकावट डालती थी फिर मज़हब और जात-पांत की रुकावटें थीं और एक स्थिर और मज़बूत व्यवस्था के मुक़ाबले में तब्लीगी मज़हब की मौजूदगी ने रुकावटें पैदा कर रखी थीं। ये रुकावटें दूर नहीं हुईं, लेकिन उनके बावजूद एकता की भावना ने तरक्की की। लोगों का यह आकर्षण उसके व्यक्तित्व के लिए न था बल्कि जिस ढांचे का उसने निर्माण किया था उसके लिए था। उसके बेटे और पोते जहांगीर और शाहजहां ने उस ढांचे को क़बूल किया और उसकी हदों के भीतर काम करते रहे। ये बहुत खास योग्यता के लोग न थे लेकिन उन्हें अपने राज्य-काल में सफलता मिली। यह इसलिए कि जो रास्ता अकबर ने मज़बूती के साथ क़ायम कर दिया था उस पर वे चलते रहे। इनके बाद औरंगज़ेब आया जो इनसे कहीं ज़्यादा क़ाबिल था लेकिन जो दूसरे ही ढांचे का आदमी था। वह इस बने हुए रास्ते से हटकर चला और इस तरह उसने अकबर के काम पर पानी फेर दिया। फिर भी वह उसे बिलकुल न मिटा सका। यह बड़ी हैरतअंगेज़ बात है कि बावजूद उसके और उसके कमज़ोर और निकम्मे उत्तराधिकारियों के अकबर के तैयार किये हुए ढांचे की इज़्ज़त लोगों के दिलों में क़ायम रही। यह भावना ज़्यादातर उत्तर और मध्य हिंदुस्तान में रही दक्खिन और पच्छिम में नहीं थी। इसलिए अब पच्छिमी हिंदुस्तान से इसके खिलाफ़ चुनौती आई।

## १२ औरंगज़ेब उलटी गंगा बहाता है हिंदू राष्ट्रीयता की तरक़्क़ी शिवाजी

शाहजहां फ्रान्स के 'शानदार बादशाह' चौदहवें लुई का समकालीन था और उस वक्त मध्य यूरोप में तीस साला जंग हो रही थी। उधर जब वरसाई का महल तैयार हो रहा था यहां आगरे में ताजमहल और मोती मस्जिद और दिल्ली में जुम्मा मस्जिद और शाही महल के दीवाने आम और दीवाने-खास तैयार हुए। परियों-जैसी वर्णनीय ये सुंदर इमारतें मुग़ल शान-शौकत की चरम सीमा की नुमाइंदगी करती हैं। दिल्ली के दरबार और तख्ते-ताऊस की शान वरसाई से कहीं बढ़-चढ़कर थी। लेकिन वरसाई की तरह ये भी ग़रीब और दलित लोगों के आधार पर क़ायम थीं। गुजरात और दक्खिन में भयानक अकाल पड़ा हुआ था।

इस बीच इंग्लिस्तान की समुद्री ताक़त बढ़ और फैल रही थी। यूरोपियों में सिर्फ़ पुर्तगालियों को अकबर ने देखा था। उसके बेटे जहांगीर के ज़माने में अंग्रेज़ी जहाज़ी बेड़े ने हिंद-महासागर में पुर्तगालियों को हराया और पहले जेम्स का राजदूत सर टामस रो १६१५ में जहांगीर के दरबार में हाज़िर हुआ। उसे कारखाने क़ायम करने की इजाज़त मिल गई। सूरत में कारखाना शुरू किया गया और १६३९ में मदरास की नींव पड़ी। सौ साल से ज़्यादा अरसे तक हिंदुस्तान में किसीने अंग्रेज़ों को कोई महत्त्व न दिया। समुद्री रास्तों के मालिक अब अंग्रेज़ बन बैठे थे और उन्होंने पुर्तगालियों को क़रीब-क़रीब हटा दिया था। इस वाक़ये की मुग़ल बादशाहों या उनके सलाहकारों के लिए कोई अहमियत न थी। जब औरंगज़ेब के ज़माने में मुग़ल साम्राज्य साफ़ तौर पर कमज़ोर पड़ रहा था उस वक्त अंग्रेज़ों ने लड़कर अपना क़ब्ज़ा बढ़ाने की एक संगठित कोशिश की। यह १६८६ की घटना है। औरंगज़ेब अगरचे कमज़ोर हो रहा था और दुश्मनों से घिरा था अंग्रेज़ों को हटाने में कामयाब हुआ। इस वक्त से पहले ही फ़्रान्सीसी भी हिंदुस्तान में पैर जमाने की जगह पा चुके थे। ठीक उस वक्त जबकि हिंदुस्तान की राजनैतिक और आर्थिक हालत बिगड़ रही थी यूरोप की बढ़ती हुई शक्तियां हिंदुस्तान और पूरबी मुल्कों में फैल रही थीं।

फ्रान्स में चौदहवें लुई का लंबा राज्य-काल चल रहा था और यह आनेवाली क्रांति के बीज बो रहा था। इंग्लिस्तान में तरक़्क़ी करते हुए मध्य-वर्ग ने अपने राजा का सिर काट दिया था। क्रामवेल का थोड़े ज़माने का गणराज्य चमक दिखा चुका था दूसरा चार्ल्स आ और जा चुका था और

दूसरा जेम्स भाग चुका था। बहुत-कुछ नये व्यापारी-वर्ग की नुमाइंदगी करनेवाली पार्लामेंट राजा को दबाकर शक्तिशाली बन बैठी थी।

यह वह जमाना था जब एक घरेलू युद्ध के बाद अपने बाप शाह-जहां को कैद करके औरंगजेब मुगलों के तख्त पर बैठा। अकबर की ही एक ऐसी शख्सियत थी जो इस परिस्थिति का अंदाजा लगा सकती थी और उन नई ताक़तों को जो उठ रही थीं क़ाबू में ला सकती थी। शायद वह भी इस सल्तनत के विनाश को थोड़े वक्त के लिए ही रोक सकता था, उसे बचा न सकता था। हां, यह बात दूसरी थी कि अपने कौतूहल और ज्ञान और प्यास की वजह से वह उन नये 'तरक़्क़ीयों' के महत्त्व को समझता, जो उठ रहे थे और मार्थिक हालत में पैदा होनेवाली तब्दीलियों की अटकल लगाता। औरंगजेब अपने मौजूदा जमाने को भी अच्छी तरह समझ न पाया। वह उल्टी चाल चलनेवाला आदमी था और अपनी सारी क़ाब-लियत और उत्साह के बावजूद उसने अपने पूर्वजों के काम को मिटाने की कोशिश की। वह धर्मांध और नीरस आदमी था और उसे कला या साहित्य से कोई प्रेम न था। हिंदुओं पर पुराना और घृणित 'जज़िया' कर लगाकर और उनके बहुत-से मंदिरों को तुड़वाकर उसने अपनी बहुत बड़ी प्रजा को बुरी तरह नाराज कर दिया। उसने घमंडी राजपूतों को भी जो मुगल सल्तनत के थंभे थे नाराज कर दिया। उत्तर में सिख उठ खड़े हुए जो हिंदू और मुसलमानी विचारों के एक प्रकार के समन्वय की नुमाइंदगी करनेवाले लोग थे लेकिन जिन्होंने दमन से बचने के लिए एक फौजी बिरादरी बना ली थी। हिंदुस्तान के पश्चिमी समुद्र-तट के क़रीब के योद्धा मराठों को भी उसने नाराज कर दिया जो प्राचीन राष्ट्रकूटों के वंशज थे और जिनके यहां उस वक्त एक चमत्कारी सेनानायक पैदा हो चुका था।

सारी मुग़ल सल्तनत में एक बदअमन-सी छाई हुई थी और नई जागृति की भावना तरक्की कर रही थी जिसमें धर्म और जातीयता का मेल था। यह जरूर है कि इस जातीयता को हम जमाने-हाल की मज़हब से अलग थलग रहनेवाली जातीयता नहीं कह सकते न यह ऐसी थी कि इसका संबंध सारे देश से रहा हो। इसमें सामंतवादी रंग था और मुक़ामी जज़्बे और धार्मिक भावनाओं का पुट था। राजपूत जो औरों से ज्यादा सामंतवादी थे अपने-अपने वंशों का ध्यान करते थे। सिख जिनका औरों के मुक़ाबले में एक छोटा दल पंजाब में था पंजाब के बाहर की न सोचते थे। लेकिन खुद मज़हब की एक गहरी

क़ौमी भूमिका थी और उसकी सभी परंपराएं हिंदुस्तान से ताल्लुक़ रखनेवाली थीं। प्रोफ़ेसर मैक्डानेल ने लिखा है कि "हिंदी-यूरोपीय-कुल के लोगों में हिंदुस्तानी ही एक ऐसे हैं, जिन्होंने एक बड़ा क़ौमी धर्म—यानी ब्राह्मण धर्म—तैयार किया और एक लोक-व्यापी धर्म—यानी बौद्ध धर्म—को जन्म दिया। और सभी ऐसे हैं, जिन्होंने इस दिशा में मौलिकता दिखाना तो दूर रहा दरअसल बाहरी मज़हबों को अख़्तियार किया है।" मज़हब और राष्ट्रीयता के इस मेल ने दोनों ही तत्वों से ज़ोर और ताक़त हासिल की लेकिन इस मेल में उसकी कमज़ोरी भी समाई हुई थी क्योंकि इस तरह की जातीयता सिर्फ़ एक अंश में जातीयता कहला सकती थी और यह हिंदुस्तान के उन सभी लोगों को जो इस मज़हबी दायरे से बाहर थे एक में मिलानेवाली नहीं थी। हिंदू-राष्ट्रीयता हिंदुस्तान की ज़मीन की एक स्वाभाविक उपज थी लेकिन यह लाज़िमी तौर पर उस बड़ी राष्ट्रीयता के रास्ते में रुकावट डालती थी, जो मज़हबी भेद-भावों से ऊपर उठ जाना चाहती है।

यह सही है कि ऐसे ज़माने में जब एक बड़ी सल्तनत टूट रही थी और बहुत-से हिंदुस्तानी और विदेशी साहसी अपने-अपने वास्ते छोटी-छोटी हुकूमतें क़ायम कर लेने की कोशिश में थे आजकल के अर्थ में जातीयता का अस्तित्व मुश्किल से हो सकता था। हर एक साहसी अपनी ताक़त बढ़ाना चाहता था हर एक गिरोह अपनी-अपनी फ़िक्र में था। जो इति-हास इस वक़्त हमारे सामने आता है, उसमें ज़्यादा इन साहसियों का बयान है और वह इन साहसियों के कारनामों को जितना आगे लाता है, उतना उन महत्त्वशाली घटनाओं को नहीं जो सतह के नीचे-नीचे घट रही थीं। फिर भी हमें इस बात की झलक मिल जाती है कि यद्यपि बहुत-से साहसी इस वक़्त मैदान में थे सब लुटेरे ही न थे। ख़ासतौर पर मराठों की एक ज़्यादा विस्तृत कल्पना थी और ज्यों-ज्यों उनकी ताक़त बढ़ी इस कल्पना ने भी विस्तार पाया। वारेन हेस्टिंग्स ने १७८४ में लिखा था—"हिंदुस्तान और दक्खिन के सब लोगों में मराठे ही एक ऐसे हैं, जिनमें राष्ट्रीयता का सिद्धांत मिलता है और उनकी क़ौम के हर एक व्यक्ति पर छाप है, और अगर उनके राज्य पर कोई ख़तरा गुज़रा तो यह शायद उनके सरदारों में आम मक़सद के हक़ में एका पैदा कर दे।" शायद उनकी यह राष्ट्रीय भावना उन इलाक़ों तक महदूद थी जहां मराठी भाषा बोली जाती है। फिर भी मराठे अपनी राजनैतिक और फ़ौजी व्यवस्था और आदर्शों में उदार थे और उनके भीतर आपस में जम्हूरियत की भावना थी। इन सब बातों से उनमें मज़बूती

ताक़त या अपनी अहमियत न थी सिवाय इसके कि वे ताक़त के साथ दावेदारों की मदद कर सकते थे या उनके रास्ते में रुकावटें पैदा कर सकते थे। दक्खिन में अपनी फ़ौजी स्थिति के कारण शुरू में हैदराबाद के निज़ाम की एक ख़ास अहमियत जान पड़ती थी लेकिन जल्द ही यह मालूम पड़ गया कि यह अहमियत बिलकुल बनावटी है और बाहरी ताक़तों ने इसे "भुस भरकर फुलाकर खड़ा कर रखा है"। जोखिम और ख़तरे से अपने को बचाते हुए, दूसरों की मुसीबतों से फ़ायदा उठाने की और धोखेबाज़ी की इसमें ख़ास क़ाबिलियत थी। सर जॉन शोर ने इसे 'हद दर्जे का गया-गुज़रा शक्तिहीन और इसलिए गुलामी में डूबने की तरफ़ झुका हुआ' बताया है।[1] मराठे निज़ाम को अपने मातहत खिराज देनेवाले सरदारों में से एक समझते थे। इससे बचने की और आज़ादी बचाने की कोशिश निज़ाम ने की नहीं कि उसे मराठे फ़ौरन दबा देते थे और उसकी कमज़ोर और बड़ी सेना को मार भगाते थे। उसने ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की बढ़ती हुई ताक़त की शरण ली और अपनी इस ताबेदारी के ज़रिये रियासत क़ायम रखी। और जब अंग्रेज़ों की मैसूर के टीपू सुल्तान के ख़िलाफ़ जीत हुई, तब दरअसल हैदराबाद रियासत ने बग़ैर किसी ख़ास कोशिश के अपना क्षेत्र बहुत बढ़ा लिया।

सन १७८४ में हैदराबाद के निज़ाम के बारे में लिखते हुए वारेन हेस्टिंग्स कहता है—"उसकी रियासत छोटी है और थोड़ी मालगुज़ारी वाली है उसकी फ़ौजी ताक़त बहुत-ही तुच्छ है और वह खुद कभी भी बहादुरी या साहस के लिए मशहूर नहीं रहा है, बल्कि इसके ख़िलाफ़ उसका ख़ास उसूल यह रहा जान पड़ता है कि पड़ोसियों में लड़ाई भड़काई जाय और खुद उसमें हिस्सा लिये बग़ैर उनके झगड़ों और कमज़ोरियों से फ़ायदा उठाया जाय और लड़ाई से बचने की ख़ातिर चाहे जैसा नीचा देखना पड़े देख लिया जाय।"

अठारहवीं सदी में हिंदुस्तान में अधिकार के चार दावेदार थे—दो उनमें से हिंदुस्तानी थे और दो विदेशी। हिंदुस्तानी थे मराठे और दक्खिन में हैदरअली और उसका बेटा टीपू सुल्तान विदेशी थे अंग्रेज़ और फ्रांसीसी। सदी के पहले आधे हिस्से में ऐसा जान पड़ता था कि इनमें से मराठे सारे हिंदुस्तान पर हुकूमत क़ायम कर लेंगे और मुग़ल सल्तनत के उत्तराधिकारी बन जायेंगे। सन १७३७ में ही उनकी फ़ौजें दिल्ली के दरवाज़े तक पहुंच

---

[1] टॉम्पसन की पुस्तक 'दि मेकिंग ऑफ दि इंडियन प्रिंसेज़' (१९४३) से पृ. १ पर उद्धृत।

गई थी और कोई ताकत इतनी मजबूत न रह गई थी कि उनका मुकाबला कर सके।

ठीक उसी वक्त (१७३९ में) एक नई बला आई। पश्चिमोत्तर से ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा उसने बड़ी मार-काट और लूट-मार मचाई और यहां से बेशुमार खजाना और 'तख्ते ताऊस' ले गया। उसके लिए यह धावा कोई मुश्किल काम न था क्योंकि दिल्ली के हाकिम कमजोर और नामर्द हो चुके थे और लड़ाई के आदी न रह गये थे और मराठों से नादिरशाह का सामना नहीं हुआ। एक मानी में उसके धावे ने मराठों का काम आसान कर दिया जो बाद के सालों में पंजाब में भी फैल गये। दुबारा ऐसा जान पड़ा कि हिंदुस्तान मराठों के हाथ में चला जायगा।

नादिरशाह के हमले के दो नतीजे हुए। एक तो यह कि दिल्ली के मुगल हाकिमों का अधिकार का रहा-सहा दावा खत्म हो गया अब वे यह नकली परछाई-जैसे और नाम के हाकिम बन गये और जिस किसीके हाथ में ताकत होती वे उसकी कठपुतली होते। बहुत हद तक नादिरशाह के आने से पहले भी उनकी यह हालत हो चुकी थी उसने इस सिलसिले को पूरा कर दिया। फिर भी परंपरा और कायम-शुदा रिवाजों का ऐसा जोर होता है कि अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी उनके पास प्लासी की लड़ाई के पहले तक नजर और खिराज भेजते रहे और उसके बाद भी बहुत दिनों तक कंपनी अपनी हैसियत दिल्ली के बादशाह के मुख्तार की समझती रही और १८३५ तक उसीके नाम के सिक्के ढलते रहे।

नादिरशाह के हमले का दूसरा नतीजा यह हुआ कि अफ़गानिस्तान हिंदुस्तान से अलहदा हो गया। अफ़गानिस्तान जो मुद्दतों से हिंदुस्तान का हिस्सा रह चुका था अब जुदा होकर नादिरशाह की सल्तनत का हिस्सा बन गया। कुछ दिनों बाद एक मुकामी विद्रोह की वजह से नादिरशाह को उसीके अफसरों ने कत्ल कर दिया और अफ़गानिस्तान खुदमुख्तार रियासत बन गया।

नादिरशाह की वजह से मराठों पर कोई आंच न आई थी और वे पंजाब में फैलते रहे। लेकिन १७६१ में एक दूसरे अफ़गान हमलावर, अहमद शाह दुर्रानी ने उन्हें बुरी तरह से हराया। यह उस वक्त अफ़गानिस्तान का हाकिम था। इस वाक़िए में मराठों की फ़ौज के चुने हुए लोग काम आये और कुछ वक्त के लिए उनका सल्तनत कायम करने का सपना मिट गया। रफ्ता-रफ्ता उन्होंने अपने को संभाला और मराठों की सल्तनत कई खुदमुख्तार रियासतों में बंट गई। पूना के पेशवा की सरपरस्ती में इनका

गई थी और कोई ताकत इतनी मजबूत न रह गई थी कि उसका मुकाबला कर सके।

ठीक उसी वक्त (१७३९ में) एक नई बला आई। पच्छिमोत्तर से ईरान का नादिरशाह दिल्ली पर टूट पड़ा उसने बड़ी मार-काट और लूट-मार मचाई और यहां से बेशुमार खजाना और 'तख्ते ताऊस' ले गया। उसके लिए यह भारी कोई मुश्किल काम न था क्योंकि दिल्ली के हाकिम कमजोर और नामर्द हो चुके थे और लड़ाई के आदी न रह गये थे और मराठों से नादिरशाह का सामना नहीं हुआ। एक मानी में उसके धावे ने मराठों का काम आसान कर दिया जो बाद के सालों में पंजाब में भी फैल गये। दुबारा ऐसा जान पड़ा कि हिंदुस्तान मराठों के हाथ में चला जायगा।

नादिरशाह के हमले के दो नतीजे हुए। एक तो यह कि दिल्ली के मुगल हाकिमों का अधिकार का रहा-सहा दावा खत्म हो गया जब से वह धुंधली परछाईं-जैसे और नाम के हाकिम बन गये और जिस किसीके हाथ में ताकत होती वह उसकी कठपुतली होते। बहुत हद तक नादिरशाह के आने से पहले भी उनकी यह हालत हो चुकी थी उसने इस सिलसिले को पूरा कर दिया। फिर भी परंपरा और कायम-शुदा रिवाजों का ऐसा जोर होता है कि अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी और दूसरे लोग भी इनके पास प्लासी की लड़ाई के पहले तक नजर और खिराज भेजते रहे और उसके बाद भी बहुत दिनों तक कंपनी अपनी हैसियत दिल्ली के बादशाह के मुख्तार की समझती रही और १८३५ तक उसीके नाम के सिक्के ढलते रहे।

नादिरशाह के हमले का दूसरा नतीजा यह हुआ कि अफ़ग़ानिस्तान हिंदुस्तान से अलहदा हो गया। अफ़ग़ानिस्तान जो सदियों से हिंदुस्तान का हिस्सा रह चुका था अब जुदा होकर नादिरशाह की सल्तनत का हिस्सा बन गया। कुछ दिनों बाद एक मुकामी विद्रोह की वजह से नादिरशाह को उसीके अफसरों ने क़त्ल कर दिया और अफ़ग़ानिस्तान खुदमुख्तार रियासत बन गया।

नादिरशाह की वजह से मराठों पर कोई आंच न आई थी और वे पंजाब में फैलते रहे। लेकिन १७६१ में एक दूसरे अफ़ग़ान हमलावर, अहमद शाह दुर्रानी ने उन्हें बुरी तरह से हराया। यह इस वक्त अफ़ग़ानिस्तान का हाकिम था। इस वाक़ये में मराठों की फ़ौज के चुने हुए लोग काम आये और कुछ वक्त के लिए उनका सल्तनत क़ायम करने का सपना मिट गया। रफ्ता-रफ्ता उन्होंने अपने को संभाला और मराठों की सल्तनत कई खुदमुख्तार रियासतों में बंट गई। पूना के पेशवा की सरपरस्ती में इनका

एक गुट बदस्तूर क़ायम रहा। बड़ी रियासतों के सरदारों में ग्वालियर के सिंधिया, इंदौर के होल्कर और बड़ौदा के गायकवाड़ थे। पच्छिमी और मध्य हिंदुस्तान के एक बड़े हिस्से पर इस गुट का अब भी प्रभाव था लेकिन पानीपत में अहमदशाह के हाथों मराठों की हार ने उन्हें बहुत कमज़ोर कर दिया था और ठीक उसी वक्त अंग्रेज़ी कंपनी हिंदुस्तान में एक महत्त्वपूर्ण क्षत्रीय ताक़त की हैसियत से सिर उठा रही थी।

बंगाल में क्लाइव ने जालसाज़ी और बग़ावत को बढ़ावा देकर, और बहुत कम लड़ाई लड़कर, १७५७ में प्लासी का युद्ध जीत लिया। यह ऐसी तारीख़ है, जिससे अक्सर हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी साम्राज्य की शुरुआत मानी जाती है। यह एक बदमज़ा शुरुआत थी और उसका यह कड़ुआ जायका कुछ बराबर ही बना रहा। जल्द ही सारा बंगाल और बिहार अंग्रेज़ों के हाथ में आ गया और उनकी हुकूमत के शुरू के नतीजों में यह भी था कि सन १७७० में दोनों सूबों में एक भयानक अकाल पड़ा जिसने इस हरे-भरे और खूब आबाद इलाक़े की तिहाई आबादी साफ़ कर दी।

दक्खिन में अंग्रेज़ों और फ़ान्सीसियों के बीच जो लड़ाई हो रही थी वह उन दोनों के बीच होनेवाले विश्व-व्यापी युद्ध का हिस्सा थी। इसमें अंग्रेज़ कामयाब हुए और फ़ान्सीसी क़रीब-क़रीब हिंदुस्तान से अलग कर दिये गये।

फ़ान्सीसियों के खतम हो जाने से अब तीन ताक़तें बाक़ी रहीं जिनमें हिंदुस्तान में अधिकार हासिल करने के लिए झगड़ा था—यानी मराठों का गुट, दक्खिन में हैदरअली और अंग्रेज़। बावजूद इसके कि प्लासी में अंग्रेज़ों जीत हुई थी और बंगाल और बिहार में वे फैल गये थे हिंदुस्तान में शायद ही कोई यह खयाल करता रहा हो कि ब्रिटिश यहां की सबसे बड़ी ताक़त बन जायेंगे। देखनेवाला अब भी मराठों को पहली जगह देता। ये लोग पच्छिमी और मध्य हिंदुस्तान में सब जगह, यहांतक कि दिल्ली तक, फैले हुए थे और इनके साहस और युद्ध करने के गुणों की शोहरत थी। हैदरअली और टीपू सुल्तान ज़बरदस्त विरोधी थे जिन्होंने अंग्रेज़ों को बुरी तरह हराया और ईस्ट इंडिया कंपनी की ताक़त को क़रीब-क़रीब खतम कर दिया। लेकिन ये लोग दक्खिन तक महदूद रहे और सारे हिंदुस्तान में जो कुछ होता था उस पर उनका कोई सीधा असर न था। हैदरअली एक अद्भुत आदमी और हिंदुस्तान के इतिहास का एक क़ाबिले-ज़िक्र व्यक्ति था। उसका एक तरह का क़ौमी आदर्श था और उसमें कल्पनाशील नेता के गुण थे। बराबर एक तकलीफ़-देह बीमारी का शिकार रहते हुए भी उसने

आत्म-संयम और मेहनत करने की अद्भुत शक्ति दिखाई। औरों के मुकाबले में उसने बहुत पहले अनुभव यह किया कि समुंदरी ताकत का बड़ा महत्त्व है और इस ताकत के आधार पर अंग्रेजों जैसा और बन सकता है। उसने मिल-जुलकर इन्हें मुल्क से निकाल बाहर करने के लिए एक संगठन तैयार करने की भी कोशिश की और इस सिलसिले में मराठों निज़ाम और अवध के शुजाउद्दौला के पास पैग़ाम भेजे। लेकिन इसका नतीजा कुछ न रहा। उसने अपना समुद्री बेड़ा तैयार करना शुरू किया और मालद्वीप टापू पर कब्जा कर लिया और उसे बहुत बनाने और समुद्री कार्रवाइयों का अड्डा बनाया। अपनी फ़ौज के साथ कूच करते हुए वह रास्ते में एक मुकाम पर मर गया। उसके बेटे टीपू ने बाहरी बेड़े को मजबूत करने के काम को जारी रखा। टीपू ने नेपोलियन और कुस्तुंतुनिया के सुल्तान के पास भी पैग़ाम भेजे थे।

उत्तर में रणजीतसिंह की अधीनता में पंजाब में एक सिख रियासत तैयार हो रही थी जो बाद में काश्मीर और पश्चिमोत्तर के सरहदी सूबे तक फैली। लेकिन वह भी एक किनारे की रियासत थी और हिंदुस्तान पर कब्जा पाने के लिए जो लड़ाई हो रही थी उस पर उसका ज्यादा असर न था। ज्यों-ज्यों अठारहवीं सदी खत्म होने पर आई यह साफ़ ज़ाहिर हो गया कि लड़ाई सिर्फ दो ताकतों में है यानी मराठों और अंग्रेज़ों में। और सभी रियासतें और इलाके इन दोनों के मातहत या इनसे जुड़े हुए थे।

मैसूर के टीपू सुल्तान को अंग्रेज़ों ने आखिरकार १७९९ में हरा दिया और इससे अब मराठों और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच लड़ाई के लिए मैदान खाली हो गया। चार्ल्स मेटकाफ़ ने जो हिंदुस्तान के सबसे काबिल अंग्रेज़ अफ़सरों में से एक था १८०६ में लिखा था—'हिंदुस्तान में दो से ज्यादा बड़ी ताकतें नहीं हैं ब्रिटिश और मराठे और बाकी रियासतें में से हर एक इन दोनों में से एक के असर में है। जितने इंच हम पीछे हटेंगे वे इनके कब्जे में आयेंगे।' लेकिन मराठा सरदारों में आपस में बैर चल रहा था और अंग्रेज़ों ने इनसे अलग-अलग लड़कर इन्हें हराया। इन्होंने कुछ मार्के की लड़ाइयां जीती थीं खासतौर पर १८०४ में आगरे के पास इन्होंने अंग्रेज़ों को बुरी तरह परास्त किया। लेकिन १८१८ में मराठा-शक्ति आखिरकार कुचल दी गई और मध्य हिंदुस्तान में उनकी नुमाइंदगी करनेवाले बड़े-बड़े सरदारों ने हार मानकर ईस्ट इंडिया कंपनी की सरपरस्ती कबूल कर ली। उस वक्त अंग्रेज़ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े हिस्से के बराक हाकिम बन गये जो मुल्क पर सीधे या अपने कठपुतली

और मातहत राजाओं की मारफ़त हुकूमत करते थे। पंजाब और कुछ दूर के हिस्से अब भी उनके क़ाबू से बाहर थे लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी सल्तनत जम चुकी थी और बाद में सिक्खों गोरखों और बरमियों से इनकी जो लड़ाइयां हुईं उन्होंने नक़्शा भर दिया।

## १४ संगठन और युद्ध-कला में अंग्रेज़ों की श्रेष्ठता और हिंदुस्तान का पिछड़ा होना

इस ज़माने पर जब नज़र डालते हुए क़रीब-क़रीब ऐसा जान पड़ता है कि इत्तिफ़ाक़िया हालत के एक सिलसिले और भाग्य के सबब से हिंदुस्तान पर अधिकार कर सकने में अंग्रेज़ कामयाब हुए। जो शानदार इनाम उन्हें हासिल हुआ है उसे देखते हुए अद्भुत रूप से थोड़ी कोशिशों से उन्होंने एक बड़ी सल्तनत जीत ली और अपार दौलत पाई और इस तरह दुनिया की इनी-गिनी ताक़तों में गिने जाने लगे। ऐसा जान पड़ता है कि कोई छोटी-सी घटना ऐसी घट सकती थी जिससे उनकी उम्मीदों पर पानी फिर जाता और उनके हौसले ख़तम हो जाते। कई मौक़ों पर उन्हें हैदरअली टीपू, मराठों सिक्खों और गोरखों ने हराया। क़िस्मत ने इतना साथ न दिया होता तो हिंदुस्तान से उनके पैर उखड़ जाते या ज़्यादा-से-ज़्यादा वे समुद्री-तट के कुछ इलाक़ों में बने रहते।

फिर भी अगर उस ज़माने के हालात को ग़ौर से देखा जाय तो मालूम पड़ेगा कि जो कुछ हुआ वह एक तरह से लाज़िमी था। ख़ुशक़िस्मती ज़रूर थी लेकिन ख़ुशक़िस्मती से फ़ायदा उठाने के लिए क़ाबलियत भी होनी चाहिए। हिंदुस्तान उस वक़्त मुग़ल सल्तनत के टूट जाने के बाद एक उथल-पुथल की कैफ़ियत में था। कई सदियों को देखा जाय तो वह इतना कमज़ोर और बेबस कभी नहीं हुआ था। संगठित शक्ति के टूट जाने से साहसियों और सल्तनत के नये दावेदारों के लिए रास्ता खुल गया था। इन साहसियों और दावेदारों में अंग्रेज़ ही ऐसे थे जिनमें वे गुण थे जो कामयाबी के लिए ज़रूरी होते हैं। एक बड़ी बात जो उनके ख़िलाफ़ पड़ती थी वह यह थी कि वे विदेशी थे और एक दूर देश से आये हुए थे। लेकिन यही बात जो उनके ख़िलाफ़ पड़ती थी उनके माफ़िक़ भी आई, क्योंकि किसीने उनकी तरफ़ ज़्यादा ध्यान न दिया और न उनको हिंदुस्तान के अधिकार का भावी दावेदार समझा। यह अचरज की बात है कि यह धोखा प्लासी की लड़ाई के बहुत बाद तक क़ायम रहा और आपस की बातों में उनका दिल्ली के कठपुतली बादशाह के मुख़्तार की हैसियत से पेश आना

इस बोझे को चलाता रहा। बंगाल का जो ये माल लूटकर ले गये और उनके व्यापार के तरीक़ों ने यह यक़ीन पैदा किया था कि ये विदेशी धन-दौलत के चाहनेवाले हैं, राज अधिकार नहीं चाहते और अगरचे ये तकलीफ़-देह लोग हैं फिर भी थोड़े वक़्त के हैं—कुछ तैमूर और नादिरशाह-जैसे जो आये और लूट का माल लेकर फिर अपने घर को वापस चले गये।

ईस्ट इंडिया कंपनी शुरू में व्यापार के लिए क़ायम हुई थी और उसका फ़ौजी अमला सिर्फ़ इस व्यापार की हिफ़ाज़त करना था। रफ़्ता-रफ़्ता करीब-करीब इस तरह कि लोगों को पता भी न चला इसने अपना इलाक़ा बढ़ा लिया था और जो ख़ास तरीक़ा इसने अख़्तियार किया वह यह था कि मुक़ामी झगड़ों में विरोधी दलों में से किसी एक को मदद देना। कंपनी की फ़ौजें ज्यादा अच्छी सिखाई गई थीं और जिसकी तरफ़ भी ये मदद देतीं उसे फ़ायदा पहुंचता और कंपनी अपनी सहायता के लिए भारी क़ीमत वसूल करती। इस तरह कंपनी की ताक़त बढ़ी और उसके फ़ौजी अमल ने तरक़्क़ी की। लोग इन फ़ौजों को इस तरह देखने लगे कि ये किराये पर भी आ सकती हैं। जब लोगों को इस बात का पता चला कि अंग्रेज़ किसीकी मदद करनेवाले नहीं थे बल्कि वे तो अपना ही खेल खेल रहे थे और वह था हिंदुस्तान में सियासी ताक़त क़ायम करना उस वक़्त तक ये मुल्क में अपने को मज़बूती से क़ायम कर चुके थे।

विदेशियों के ख़िलाफ़ एक भावना यक़ीनी तौर पर मौजूद थी और यह बाद के सालों में और भी बढ़ी। लेकिन एक आम और व्यापक क़ौमी भावना से यह बहुत दूर की चीज़ थी। पृष्ठभूमि में सामंतवाद था और लोग मुक़ामी सरदारों की वफ़ादारी बजाते थे। जैसाकि चीन के जंगी सरदारों के ज़माने में हुआ था मुल्क की व्यापक मुसीबतों ने लोगों को इस बात पर मजबूर किया कि जो भी फ़ौजी सरदार क़ायदे से तनख़्वाह दे सकता हो और लूट के मौक़े देता हो उसके यहां नौकरी कर ली जाय। ईस्ट इंडिया कंपनी की फ़ौजों में ज्यादातर हिंदुस्तानी सिपाही होते थे। सिर्फ़ मराठों में कुछ क़ौमी भावना थी और वह भावना मुक़ामी सरदारों की वफ़ादारी पर नहीं थी फिर भी यह क़ौमी भावना तंग और महदूद था। उन्होंने अपने बरताव से बहादुर राजपूतों को अपने ख़िलाफ़ कर लिया। बजाय इसके कि वे उनकी दोस्ती हासिल करते उन्हें अपना दुश्मन बना बैठे या ज्यादा-से-ज्यादा असंतुष्ट जागीरदार। ख़ुद मराठा सरदारों में तीखा वैमनस्य था और बावजूद इसके कि पेशवा के मातहत उनका एक गुट-सा था उनमें कभी-कभी खाना-जंगी हुआ करती थी। नाज़ुक मौक़ों पर

वे एक-दूसरे के काम न आते और अलग-अलग लड़कर वे हरा दिये जाते थे।

फिर भी मराठों ने बहुत-से क़ाबिल लोग पैदा किये जो राजनीतिज्ञ भी थे और योद्धा भी। इनमें नाना फड़नवीस पेशवा बाजीराव (प्रथम) ग्वालियर के महादाजी सिंधिया और इंदौर के यशवंतराव होल्कर की गिनती होनी चाहिए। और उस अद्भुत औरत को यानी इंदौर की रानी अहिल्याबाई को भी न भूलना चाहिए। उनके सैनिक अच्छे होते थे अपनी जगह पर डटे रहनेवाले और मौत का बहादुरी से सामना करनेवाले थे। लेकिन इस सब बहादुरी के पीछे युद्ध के जमाने में और शांति के जमाने में भी अकसर महज़ एक जां-बाज़ी और बताईपन होता जो एक हैरत की बात है। दुनिया के बारे में उनका अज्ञान हद दर्जे का था और उनकी हिंदुस्तान के भूगोल की भी जानकारी बड़ी महदूद थी। जो बात और भी बुरी थी वह यह थी कि वे इस बात का पता लगाने का भी कष्ट नहीं उठाना चाहते थे कि बाहर क्या हो रहा है और उनके दुश्मन क्या करने में लगे हुए हैं। इन हालतों में दूरदेशीवाली राजनीतिज्ञता और कार-आमद अमल की क्या गुंजाइश हो सकती थी? उनकी तेजी और रफ्तार से अकसर दुश्मन ताज्जुब में आकर घबरा उठते थे लेकिन युद्ध को वे महज़ कुछ बहादुरी के धावे समझते और इससे ज्यादा कुछ नहीं। छापामार लड़ाई में वे बे-जोड़ थे। बाद में उन्होंने अपनी फ़ौजों को ज्यादा नियमित ढंग से संगठित किया। नतीजा यह हुआ कि एक तरफ़ वे ज़िरह-बख्तर से बोझिल हुए, दूसरी तरफ़ उनकी तेज रफ्तार जाती रही और वे इन नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को आसानी से न बना पाये। वे अपने को होशियार समझते थे और थे भी लेकिन सुलह की हालत में या युद्ध में उन्हें धोखा दे सकना मुश्किल न था क्योंकि वे एक पुराने और दक़ियानूसी चौखटे में घिरे हुए थे और उसके बाहर निकलना न चाहते थे।

हिंदुस्तानी शासकों ने शुरू में ही विदेशियों की सिखाई हुई फ़ौजों की तरतीब और कायदे की बरतरी देख ली थी। वे फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी अफ़सरों को अपनी फ़ौजों को क़वायद कराने के लिए रखने लगे थे और इन दोनों के मुक़ाबले से हिंदुस्तानी फ़ौजों की तैयारी में मदद पहुंचाई। हैदरअली और टीपू को समुंदरी ताक़त की अहमियत का भी कुछ ख़याल था और उन्होंने अंग्रेज़ों को चुनौती देने के लिए एक जहाज़ी बेड़ा तैयार करने की कोशिश भी की लेकिन यह काम उन्होंने देर में शुरू किया और इस कारण कामयाब न रहा। मराठों ने भी इस दिशा में एक हलकी-सी कोशिश की थी। हिंदुस्तान में

तोड़कर अलग हो जानेवाले थे। अंग्रेज उनसे घबड़ाया गया जा गये लेकिन हिंदुस्तान की खास लड़ाई में इनकी वजह से कोई फ़र्क न पैदा हुआ।

मराठों ने उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के उन बड़े प्रदेशों में जहां वे फैल गये थे अपने को मजबूत नहीं बनाया। वे आये और चले गये उन्होंने जड़ नहीं पकड़ी। शायद ठीक उस जमाने में लड़ाई की जीत और हार की वजह से कोई भी जड़ नहीं पकड़ सकता था और दरअसल अंग्रेजी अधिकार के या अंग्रेजी सरपरस्ती में आये हुए इलाकों की हालत कहीं बुरी थी और अंग्रेजों ने या उनकी हुकूमत ने भी वहां जड़ नहीं पकड़ी थी।

एक तरफ़ मराठे थे (और उनसे भी ज्यादा दूसरी हिंदुस्तानी ताक़तें थीं) जो लड़ाईपन और चाल-बाजी के तरीक़ों पर अमल करते थे दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान में आये हुए अंग्रेज थे जो पूरी तरह चुस्त थे। बहुत-से ब्रिटिश नेता काफ़ी साहसी थे लेकिन उनकी नीति में कोई चाल-बाजी न थी और इसके लिए सभी अपने-अपने दायरों में मुस्तैदी से काम किया करते थे। एडवर्ड टामसन लिखते हैं—"देशी रियासतों के दरबारों में ईस्ट इंडिया कंपनी के सचिवालय की खिदमत ऐसे लोगों की पीढ़ियों और क़ाबलियत करती थीं जैसी शायद ही किसी और वक़्त में ब्रिटिश सल्तनत को एक साथ हासिल हुई हों।" इन दरबारों में ब्रिटिश रेजीडेंटों का एक खास काम यह होता था कि वज़ीरों और हुक्कामों को रिश्वतें दे-देकर उन्हें बिगाड़ते रहें। एक इतिहासकार का कहना है कि उनका खुफ़िया इंतजाम पक्का था। उन्हें दरबारी बातों की और दुश्मनों की फ़ौजों की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी जबकि इन मुकाबला करनेवालों को यह पता न होता कि अंग्रेज क्या कर रहे हैं या क्या करनेवाले हैं। अंग्रेजों के मददगार पाचवें दस्ते के लोग बराबर काम करते रहते थे और नाजुक वक़्तों पर, या जब लड़ाई सरगरमी पर होती तब अपने दलों को छोड़कर उनसे आ मिलते और इससे बड़ा फ़र्क पैदा हो जाता। लड़ाई शुरू होने से पहले ही वे लड़ाइयां जीते होते थे। यही बात प्लासी में हुई और यही बात बार-बार सिख-लड़ाइयों के वक़्त तक होती रही। विश्वासघात की एक मार्के की मिसाल ग्वालियर के सिंधिया के एक ऊंचे अफ़सर की थी जिसने चुपके से अंग्रेजों से समझौता कर लिया था और जो ठीक लड़ाई के वक़्त अपनी सारी फ़ौज के साथ अंग्रेजों की तरफ़ चला गया। इसका इनाम उसे इस तरह मिला कि सिंधिया (जिसके साथ विश्वासघात हुआ) की रियासत से ही एक टुकड़ा अलग करके उसे एक नई रियासत बनाकर, उसका शासक बना दिया गया। यह रियासत अब भी है, लेकिन उस

उस ज़माने में जहाज़ बना करते थे लेकिन थोड़े वक्त में एक बेड़ा खड़ा कर देना आसान न था खासतौर से तब जबकि बराबर मुकाबले का सामना करना पड़े। जब फ्रान्सीसी ताकत खत्म हुई, तो बहुत-से फ्रान्सीसी अफ़सरों को भी जो हिंदुस्तानी हुकूमतों की फ़ौजों में थे जाना पड़ा। जो विदेशी अफ़सर बच रहे थे यानी अंग्रेज़ वे अक्सर नाज़ुक मौकों पर अपने मालिकों का साथ छोड़ देते थे और कुछ मौकों पर दगा देकर उन्हें फ़ौज और खज़ाने के साथ दुश्मनों के (अंग्रेज़ों के) सुपुर्द कर देते थे। हिंदुस्तानी ताकतों का विदेशी अफ़सरों पर भरोसा करना न महज़ उनके फ़ौजी संगठन का पिछड़ापन ज़ाहिर करता है बल्कि ऐसा भी था कि इससे उन्हें अक्सर धोखा खाना पड़ता था और इन अफ़सरों के एतबार के क़ाबिल न होने की वजह से उन्हें सदा खतरा रहता था। हिंदुस्तानी राज्यों के हुक्कामों में और फ़ौज में कुछ लोग अक्सर अंग्रेज़ों को गुप्त रूप से मदद पहुंचाने-वाले हुआ करते थे।

मगर मराठे अपने गुण और गिरोहवार क़ौमियत के बावजूद दीवानी और फ़ौजी संगठन में पिछड़े हुए थे तो दूसरी हिंदुस्तानी ताकतें तो और भी पिछड़ी हुई थीं। राजपूत दिलेर ज़रूर थे लेकिन उनके ढंग सामन्तवादी थे। वीर होते हुए भी वे नाकारा थे और आपस की फूट में मुब्तिला रहते थे। उनमें से बहुतेरे सामंतवादी स्वामिभक्ति की भावना से और कुछ अंशों में अकबर की पुरानी नीति के फलस्वरूप मिटती हुई दिल्ली की हुकूमत के तरफ़दार बने रहे। लेकिन दिल्ली की हुकूमत इतनी कमज़ोर हो चुकी थी कि वह इससे फ़ायदा न उठा सकी और राजपूतों का ह्रास होता रहा और वे दूसरों के हाथों के खिलौने बनते गये और आखिरकार मराठा सिंधिया के प्रभाव में आ गये। उनके कुछ सरदारों ने अपनी हिफ़ाज़त करने के लिए होशियारी से जोड़-तोड़ लगाने की कोशिशें कीं। उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के बहुत-से मुस्लिम हाकिम और सरदार अपने-ही सामंतवादी और ख़यालों में उतने ही पिछड़े हुए थे जितने कि राजपूत लोग। उनका होना-न-होना बराबर था सिवाय इसके कि आम लोगों की मुसीबतों और झगड़ों को वे और बढ़ाते रहते थे। इनमें से कुछ ने मराठों की सरपरस्ती कबूल कर ली।

नेपाल के गोरखे बड़े ऊँचे दर्जे के वीर और जाँबाज़ सिपाही थे और ईस्ट इंडिया कंपनी की किसी भी फ़ौज से अच्छे नहीं तो बराबरी के तो ज़रूर थे। अगरचे उनका संगठन पूरी तरह से सामंतवादी था फिर भी उन्हें अपने देश से ऐसा गहरा प्रेम था कि वे उसकी हिफ़ाज़त के लिए जी

छोड़कर भगनेवाले थे। अंग्रेज उनसे बहुतात ला गये लेकिन हिंदुस्तान की खास लड़ाई में इनकी वजह से कोई फ़र्क न पैदा हुआ।

मराठों ने उत्तरी और मध्य हिंदुस्तान के उन बड़े प्रदेशों में जहां वे फैल गये थे अपने को मज़बूत नहीं बनाया। वे आये और चले गये उन्होंने जड़ नहीं पकड़ी। शायद ठीक उस ज़माने में लड़ाई की जीत और हार की वजह से कोई भी जड़ नहीं पकड़ सकता था और दरअसल अंग्रेज़ी अधिकार में या अंग्रेज़ी सरपरस्ती में आये हुए इलाक़ों की हालत बड़ी बुरी थी और अंग्रेज़ों ने या उनकी हुकूमत ने भी वहां जड़ नहीं पकड़ी थी।

एक तरफ़ मराठे थे (और उनसे भी ज़्यादा दूसरी हिंदुस्तानी ताक़तें थीं) जो बढ़ाईपन और धो-बाज़ी के तरीक़ों पर अमल करते थे दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान में आये हुए अंग्रेज़ थे जो पूरी तरह चुस्त थे। बहुत-से ब्रिटिश नेता काफ़ी साहसी थे लेकिन उनकी नीति में कोई धो-बाज़ी न थी और इसके लिए सभी अपने-अपने दायरों में मुस्तैदी से काम किया करते थे। एडवर्ड टामसन लिखते हैं—"देशी रियासतों के दरबारों में ईस्ट इंडिया कंपनी के सचिवालय की खिदमत ऐसे लोगों की पीढ़ियां और क़ाबलियत करती थीं वैसी शायद ही किसी और वक्त में ब्रिटिश सल्तनत को एक साथ हासिल हुई हों।" इन दरबारों में ब्रिटिश रेज़ीडेंटों का एक खास काम यह होता था कि वज़ीरों और हुक्कामों को रिश्वतें दे-देकर उन्हें बिगाड़ते रहें। एक इतिहासकार का कहना है कि इनका खुफ़िया इंतज़ाम पक्का था। उन्हें दरबारी बातों की और दुश्मनों की फ़ौजों की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी जबकि इन मुक़ाबला करनेवालों को यह पता न होता कि अंग्रेज़ क्या कर रहे हैं या क्या करनेवाले हैं। अंग्रेज़ों के मददगार पांचवें दस्ते के लोग बराबर काम करते रहते थे और नाज़ुक वक्तों पर, या जब लड़ाई सरगर्मी पर होती तब अपने दलों को छोड़कर उनसे जा मिलते और इससे बड़ा फ़र्क पैदा हो जाता। लड़ाई शुरू होने से पहले ही वे लड़ाइयां जीते होते थे। यही बात प्लासी में हुई और यही बात बार-बार सिख-लड़ाइयों के वक्त तक होती रही। विश्वासघात की एक मार्के की मिसाल ग्वालियर के सिंधिया के एक ऊंचे अफ़सर की थी जिसने चुपके से अंग्रेज़ों से समझौता कर लिया था और जो ठीक लड़ाई के वक्त अपनी सारी फ़ौज के साथ अंग्रेज़ों की तरफ़ चला गया। इसका इनाम उसे इस तरह मिला कि सिंधिया (जिसके साथ विश्वासघात हुआ) की रियासत से ही एक टुकड़ा अलग करके उसे एक नई रियासत बना कर, उसका शासक बना दिया गया। यह रियासत अब भी है, लेकिन उस

आदमी का नाम विश्वासघात और दग़ाबाज़ी का पर्याय हो गया है, उसी तरह जिस तरह कि हाल में क्विसलिंग का नाम बन गया है।

इस तरह अंग्रेज़ एक ऊँचे दर्जे के सियासी और फ़ौजी संगठन की नुमाइंदगी करते थे जो खूब मज़बूत था और उनके यहाँ बड़े क़ाबिल नेता थे। अपने दुश्मनों के मुक़ाबले में उनकी जानकारी कहीं बढ़ी चढ़ी थी और वे हिंदुस्तान की फूट और यहाँ की ताक़तों के आपस के झगड़ों का पूरा फ़ायदा उठाते थे। समुंदरों पर उनका क़ब्ज़ा था इसलिए उन्हें महफ़ूज़ फ़ौजी रसद कैंप भी मिले हुए थे और मदद हासिल करने के ज़रिये उनके लिए खुले थे। थोड़े वक़्त के लिए हार भी गये, तो वे फिर ताक़त इकट्ठी करके दुबारा हमला शुरू कर सकते थे। प्लासी की लड़ाई के बाद बंगाल के हाथ में आ जाने से उन्हें बड़ी दौलत मिली थी और इस तरीक़े पर मराठों से और दूसरों से भी लड़ाई जारी रखने के ज़रिये उन्हें हासिल हो गये थे और हर नई जीत के साथ-साथ ये ज़रिये बढ़ते ही जाते थे। मगर हिंदुस्तानी ताक़तें हारती थीं तो उनके लिए तबाही आ जाती थी और इसका वे कोई इलाज न कर पाती थीं।

जंग और जीत और लूटमार के इस ज़माने ने मध्य हिंदुस्तान और राजपूताना और दक्खिन और पच्छिम में यह हालत कर दी थी कि बहुत-से इलाक़ों में हुकूमत ही न रह गई थी और वहाँ मार-धाड़ और बेबसी और मुसीबत का आलम था। उन पर से फ़ौजें गुज़र जाती थीं और उनके पीछे लुटेरे आते थे और वहाँ के मुसीबत के मारे लोगों की कोई ख़बर लेने-वाला न होता था। जो आता वह उनके माल-असबाब को लूटने के लिए ही आता। हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों की हालत क़रीब-क़रीब वैसी हो गई थी जैसी तीस साल की लड़ाई के ज़माने में मध्य-यूरोप की हुई थी। हालत आमतौर पर सभी जगह बिगड़ी हुई थी लेकिन सबसे ज़्यादा बिगड़ी हालत उन इलाक़ों की थी जहाँ अंग्रेज़ों का अधिकार था या उनकी सरपरस्ती थी। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि 'जो तस्वीर मद्रास में या अवध और हैदराबाद की मातहत रियासतों में हमें देखने में आती है, उससे ज़्यादा दहशतनाक तस्वीर का ख़याल नहीं किया जा सकता। इन जगहों में मुसीबत की बाढ़ आई हुई थी। इनके मुक़ाबले में वे प्रदेश, जहाँ नाना फड़नवीस की हुकूमत थी अमन-चैन के नख़लिस्तान-जैसे थे।

इस ज़माने से ठीक पहले हिंदुस्तान के बड़े हिस्से बादस्तूर मुग़लों की हुकूमत के टूट जाने के बद-अमनी से एकदम भरे थे। बंगाल में

एक हद तक आजाद मुगल सूबेदार मुर्शिदकुली के लंबे राज्य-काल में अमन की हुकूमत थी और व्यापार और तिजारत तरक्की पर थे जिससे सूबे की दौलत बढ़ रही थी। मुर्शिदकुली की मौत के कुछ अर्से बाद प्लासी की लड़ाई (१७५७) हुई और ईस्ट इंडिया कंपनी दिल्ली के बादशाह की मुख्तार बन बैठी जो वह दरअसल बिलकुल आजाद थी और जो चाहती थी कर सकती थी। इसके बाद कंपनी और उसके गुमाश्तों और मुख्तारों ने बंगाल की लूट-खसोट शुरू की। प्लासी के कुछ साल बाद मध्य-हिंदुस्तान में इंदौर की अहिल्याबाई का राज्य-काल शुरू हुआ और यह तीस साल (१७६५ १७९५) तक क़ायम रहा। यह बात कहावत की तरह मशहूर हो गई है कि इस जमाने में पूरा-पूरा अमन-चैन रहा अच्छी हुकूमत क़ायम थी और लोगों में खुशहाली फैली। वह एक बड़ी योग्य शासक और संगठन करने वाली स्त्री थी और अपने जीवन-काल में उसने लोगों से बड़ा आदर पाया और मरने के बाद उसकी हजारा प्रजा ने उसे धार्मिक प्रतिष्ठा दी। इस तरह उस जमाने में जबकि बंगाल और बिहार ईस्ट इंडिया कंपनी की नई हुकूमत में पस्ती की हालत में थे और संगठित लूट की वजह से तबाह हो रहे थे -और जहां राजनैतिक और आर्थिक दुर्व्यवस्था फैली हुई थी जिसकी वजह से भयानक अकाल पड़ रहे थे मध्य-हिंदुस्तान में और मुल्क के बहुत-से और हिस्सों में लोग खुशहाल थे।

अंग्रेजों ने ताक़त और दौलत जरूर हासिल कर ली थी लेकिन वे अच्छी हुकूमत या किसी तरह की हुकूमत के अपने को जिम्मेदार नहीं समझते थे। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारियों की दिलचस्पी नफ़े और खजाने में थी अपने मातहत आये हुए लोगों की हालत सुधारने या उनकी हिफ़ाजत भी करने में नहीं थी। खासतौर पर उनकी मातहत रियासतों में ताक़त और जिम्मेदारी के बीच कोई ताल्लुक न रह गया था।

हमें अक्सर बताया जाता है—जिससे हम भूल न जायें—कि अंग्रेजों ने हिंदुस्तान को अराजकता और अंधकार से बचाया। यह बात इस हद तक सही है कि इस जमाने के बाद जिसे मराठों ने 'आतंक का जमाना' बताया है उन्होंने व्यवस्थित हुकूमत क़ायम की। लेकिन जो अराजकता और अंधकार फैला उसकी कम-से-कम कुछ जिम्मेदारी ईस्ट इंडिया कंपनी की नीति और हिंदुस्तान में उस कंपनी के गुमाश्तों पर जरूर है। इस बात की भी कल्पना की जा सकती है कि बिना अंग्रेजों की सहायता के भी जिसे वे देने के लिए इतने तुले हुए थे हिंदुस्तान में अधिकार पाने के लिए लड़ी गई लड़ाई के अंत में शांति और व्यवस्थित हुकूमत क़ायम

हो जाती। ऐसी सूरतें हिंदुस्तान में उसकी पाँच हजार साल की तारीख में और दूसरी जगहों में पहले भी पैदा हो चुकी हैं।

## १५ रंजीतसिंह और जयसिंह

यह जाहिर है कि हिंदुस्तान विदेशियों की विजय का शिकार इसलिए हुआ कि उसके लोगों में कमियाँ थीं और अंग्रेज एक ऊँची और तरक्की करती हुई समाजी व्यवस्था की नुमाइंदगी करनेवाले थे। दोनों तरफ के नेताओं के बीच नुमायाँ फर्क था। हिंदुस्तानी—वे चाहे जितने काबिल हों—खयाल और अमल के तंग दायरे में रहनेवाले लोग थे और उन्हें इस बात का पता न था कि दूसरी जगहों में क्या हो रहा है और इसलिए वे तब्दील होती हुई हालतों में अपने को ठीक-ठीक बिठा न पाये। अगर कुछ दायरों में बातों को जानने का शौक पैदा भी हुआ तो वे उन घेरों को तोड़ न पाये थे जिनमें वे बँधे हुए और कैद थे। इसके बर-अक्स अंग्रेज बहुत दुनियासाज लोग थे और उनके मुल्क और फ्रांस और अमरीका में होनेवाली घटनाओं ने उन्हें जगा दिया था। दो बड़ी क्रांतियाँ गुजर चुकी थीं। फ्रांसीसी इन्कलाबी फौजों के और नेपोलियन के धावों ने सारे युद्ध की कला बदल दी थी। अनजान-से-अनजान अंग्रेज अपनी हिंदुस्तान-यात्रा के बीच में दुनिया के कई हिस्सों को देख चुका होता था। खुद इंग्लिस्तान में मार्के की जाग हो चुकी थी जिसका नतीजा यह हुआ था कि वहाँ औद्योगिक क्रांति हो गई थी, अगरचे शायद बहुत ही थोड़े लोग ऐसे थे जो इसके दूर तक पहुँचनेवाले असर का अंदाजा लगा सकते थे। लेकिन तब्दीली का खमीर जनता में काम कर रहा था और लोगों पर असर डाल रहा था। इन सबके पीछे वह प्रभावशील स्फूर्ति थी जिसने अंग्रेजों को दूर-दराज मुल्कों में भेजा।

रही थीं लेकिन बदनामी की बाढ़ में वे आ गये थे और उन पर असर न डाल सके।

इन व्यक्तियों में जिनमें जिज्ञासा भरी हुई थी एक महाराजा रणजीतसिंह था जो एक जाट सिख था और जिसने पंजाब में एक राज्य बना लिया था। यह राज्य बाद में काश्मीर और सरहदी सूबे तक फैला। उसमें कमजोरियाँ थीं और बुरी आदतें भी थीं फिर भी वह एक अद्भुत आदमी था। जैकमों नाम का फ्रांसीसी उसे 'हद दर्जे का बहादुर' बताता है और कहता है कि 'यह करीब-करीब पहला हिंदुस्तानी है जिसमें मैंने जिज्ञासा का भाव देखा है। लेकिन उसकी जिज्ञासा ऐसी थी कि वह सारी क़ौम की उदासीनता की कमी को पूरा करनेवाली थी। उसकी बातचीत से हमेशा डर लगता है।"[1] इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हिंदुस्तानी हमेशा अलग-अलग रहनेवाले होते हैं, इनमें भी खासतौर पर आला दिमाग लोग। इनमें से बहुत कम ने हिंदुस्तान में आनेवाले विदेशी फ़ौजी नेताओं और साहसियों से राह रस्म रखना पसंद किया होगा क्योंकि इनके बहुत-से कारनामों ने इनमें नफ़रत पैदा की होगी। इस तरह विचारशील लोग विदेशियों से जहाँतक होता बचकर अपनी प्रतिष्ठा बचाये रखते और उनसे सिर्फ़ रस्मी मौक़ों पर मुलाक़ात करते या उस वक्त जब मिलना लाज़िम हो जाता। जिन हिंदुस्तानियों से अंग्रेज़ मिलते वे आमतौर पर या तो ओहदापरस्त लोग होते या जी-हुज़ूरीवाले जो उन्हें और वज़ीरों को घेरे रहते और अक्सर घूसखोर और पक्षपाती हिंदुस्तानी दरबारी होते।

रणजीतसिंह मानसिक जिज्ञासावाला आदमी ही न था उसमें बड़ी मानवता भी थी। उस वक्त जब हिंदुस्तान और सारी दुनिया में बेदर्दी और पाशविकता छाई हुई थी उसने एक राज्य बनाया और ज़बरदस्त फ़ौज खड़ी कर ली फिर भी वह ख़ून-ख़राबी पसंद नहीं करता था। प्रिंसेप ने लिखा है कि "एक अकेले आदमी ने इतनी बड़ी सल्तनत इतनी कम गुनहगारी के साथ कभी न क़ायम की थी। चाहे जैसा भी जुर्म हो उसने मौत की सज़ा नहीं दी थी—उस वक्त जब इंगलिस्तान में छोटी-छोटी चोरियों के लिए भी मौत की सज़ाएं दी जाती थीं। ओसबार्न जो उससे मिला था लिखता है—"जंग के मौक़ों को छोड़कर उसने कभी किसी की जान न ली अगरचे ख़ुद उसकी ज़िंदगी पर कई बार हमले हुए थे और उसका राज्य बहुत-से ज़्यादा अन्य बादशाहों के मुक़ाबले में निर्दयता और दमन के कामों से मुक्त पाया जायेगा।[2]

---

[1] एडवर्ड थॉम्पसन 'दि मेकिंग ऑफ इंडियन प्रिंसेज़'। पृ १५७ १५८।

एक दूसरा और और ही ढंग का हिंदुस्तानी राजनीतिज्ञ राजपूताना में जयपुर का सवाई जयसिंह था। उसका ज़माना कुछ और पहले का है। १७४३ में उसकी मृत्यु हुई। औरंगज़ेब के मरने के बाद के ज़माने में जो टूट-फूट हुई उस वक्त यह हुआ है। वह इतना होशियार और मौक़ापरस्त था कि एक के बाद एक तेज़ी से आनेवाले अफ़सरों से और तब्दीलियों से अपने को बचाए रख सका। उसने दिल्ली के बादशाह की सरपरस्ती क़बूल कर ली। जब उसने देखा कि आगे बढ़ते हुए मराठे इतने मज़बूत हैं कि उन्हें रोका नहीं जा सकता तो उसने बादशाह की तरफ़ से उनसे समझौता कर लिया। लेकिन उसके राजनैतिक और फ़ौजी कार नामों में मेरी दिलचस्पी नहीं है। वह एक बहादुर योद्धा और पक्का राज नीतिज्ञ था लेकिन वह इससे कहीं बढ़कर था। वह गणितज्ञ था और ज्यो तिषिद था। वह वैज्ञानिक था और नगर-निर्माण करनेवाला था और इति हास के अध्ययन में उसकी दिलचस्पी थी।

जयसिंह ने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस और मथुरा में बड़ी-बड़ी वेधशालाएं तैयार कराईं। पुर्तगाली पादरियों से यह जानकर कि पुर्तगाल में ज्योतिर्विद्या तरक्की पर है, उसने एक पादरी के साथ अपना एक आदमी पुर्तगाल के राजा इमानुएल के दरबार में भेजा। इमानुएल ने अपने दूत ज़ेवियर डि सिल्वा को डि ला हायर की तालिकाओं के साथ जयसिंह के पास भेजा। इन तालिकाओं का अपनी तालिकाओं से मिलान करने पर वह इस नतीजे पर पहुंचा कि पुर्तगाली तालिकाएं कम दुरुस्त थीं और उनमें कई ग़लतियां थीं। इन ग़लतियों का कारण उसने यह बताया कि जिन यंत्रों का उपयोग किया गया था उनके 'व्यास घटिया' थे। जयसिंह हिंदुस्तानी गणित का पूरा जानकार तो था ही, उसने पुरानी यूनानी किताबें भी देखी थीं और यूरोप में उसके ज़माने में गणित में जो तरक्की हुई थी उसे भी जानता था। उसने युक्लीडिस आदि कुछ यूनानी किताबों के और सम तथा गोलीय त्रिकोणमिति और लघुगणकों के निर्माण और व्यवहार पर यूरोपीय ग्रंथों के संस्कृत में तरजुमे कराये थे। उसने ज्योतिर्विद्या की अरबी किताबों के भी तरजुमे कराये थे।

उसने जयपुर शहर की स्थापना की। नगर-निर्माण में दिलचस्पी रखने के कारण उसने अपने समय के बहुत-से यूरोपीय शहरों के नक़्शे इकट्ठे किये और फिर अपना नक़्शा तैयार किया। जयपुर के अजायबघर में पुराने यूरोपीय शहरों के इन नक़्शों में से कई अब भी सुरक्षित हैं। जयपुर के शहर की आयोजना इतनी अच्छी और बुद्धिमत्तापूर्ण थी कि वह

हवामहल जयपुर

अब भी नगर-निर्माण की एक मिसाल पेश करता है।

थोड़ी ही उम्र के भीतर भीतर, और युद्धों और दरबारी षड्यंत्रों में फंसे रहते हुए भी जयसिंह ने यह सब और बहुत-कुछ और भी किया। जयसिंह की मृत्यु से ठीक चार साल पहले नादिरशाह का हमला हुआ था। किसी भी जमाने में और कहीं भी जयसिंह एक मार्के का आदमी हुआ होता। राजपूताने के सामंतवादी वातावरण में पैदा होने और हिंदुस्तान के इतिहास के एक इतने अंधियारे जमाने में भी जबकि टूट-फूट, युद्ध और हंगामे ही दिखाई पड़ते थे, उसके वैज्ञानिक कारनामे बड़े महत्व के हैं। इससे यह पता चलता है कि हिंदुस्तान में वैज्ञानिक जिज्ञासा का लोप नहीं हुआ था और कोई ऐसा खमीर काम कर रहा था कि अगर उसे मौका दिया जाता तो वह बड़े कीमती नतीजे सामने लाता। यह बात नहीं कि जयसिंह अपने जमाने का एक अनोखा आदमी रहा हो और एक अप्रिय और अनुपयुक्त वातावरण में उत्पन्न हुआ अकेला विचारक रहा हो। वह अपने युग की ही उपज था और अपने साथ काम करनेवाले बहुत-से विज्ञानवेत्ताओं को उसने इकट्ठा कर लिया था। इनमें से कुछ को उसने समाज के रिवाज और रोक-टोक की परवाह न करके पच्छिम में ज्योतिषी बनाकर भेजा था। ऐसा साफ जान पड़ता है कि समाज में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों तरह के वैज्ञानिक काम के लिए अच्छी-खासी सामग्री मौजूद थी। लेकिन उसे विकास का अवसर न मिला। अव्यवस्था और हंगामा के खत्म हो जाने के बाद भी वैज्ञानिक कामों के लिए अधिकारियों से कोई बढ़ावा न मिला।

## २ : हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि : इंगलिस्तान के दो रूप

जिस वक्त में सब दूर तक असर करनेवाले राजनैतिक उलट-फेर [illegible] हिंदुस्तान की आर्थिक पृष्ठभूमि क्या थी? वी० एन्स्टे ने लिखा [illegible] अठारहवीं सदी तक [illegible] पैदावार और औद्योगिक और व्यापारिक [illegible] हिंदुस्तानी [illegible] दुनिया के किसी हिस्से में [illegible] तरीकों [illegible] हिंदुस्तान विलासिता की माल पैदा करनेवाला [illegible] और [illegible] में तैयार किया हुआ [illegible]। उसकी महाजनी की व्यवस्था [illegible] रोजगारियों की [illegible] हिंदुस्तान ही क्या, [illegible] में भी मशहूर [illegible] समाजों [illegible] किया

हुआ था। जहाज बनाने का धंधा जोरों पर था और नेपोलियन से जमाने की लड़ाइयों में एक अंग्रेज एडमिरल का खास जहाज (फ़्लैग-शिप) हिंदुस्तान के एक कारखाने का बना हुआ था। दरअसल तिजारत और व्यापार और माली मामलों में औद्योगिक क्रांति (इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन) के जमाने से पहले तक हिंदुस्तान किसी भी मुल्क के मुकाबले में तरक्की कर चुका था। अगर मुल्क में शांति और पायदार हुकूमत के सबब और न गुजरे होते और आमद-रफ़्त के रास्ते आने-जाने और तिजारत के लिए महफ़ूज न होते तो ऐसी तरक्की नामुमकिन होती।

विदेशी साहसिक शुरू में हिंदुस्तानी तिजारती माल की खूबियों से खिचकर यहां आये क्योंकि इस माल की यूरोप में बड़ी खपत थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का शुरू के दिनों में खास धंधा ही हिंदुस्तानी माल का यूरोप में रोजगार करना था और यह तिजारत कंपनी के लिए बड़े फ़ायदे की साबित हुई, और कंपनी के हिस्सेदारों को लंबे नफ़े मिलते रहे। चीजों की तैयारी के तरीके हिंदुस्तान में ऐसे कारगर और संगठित थे और हिंदुस्तान के कारीगरों और मिस्त्रियों की हुनरमंदी इस दर्जे की थी कि वे तैयारी के ज्यादा ऊंचे तरीकों से जो उस वक्त इंगलिस्तान में क़ायम हो रहा था बड़ी कामयाबी से मुकाबला कर सकते थे। जिस वक्त इंगलिस्तान में बड़ी मशीनों का युग शुरू हुआ उस वक्त हिंदुस्तानी माल वहां पटा पड़ता था और उसे भारी चुंगी लगाकर और कुछ चीजों का आना तो क़तई बंद करके रोकना पड़ा।

सन १७५७ में यानी उसी साल जबकि प्लासी की लड़ाई हुई, क्लाइव ने बंगाल के मुर्शिदाबाद को "लंदन के इतना विस्तृत आबाद और संपन्न शहर" बताया है "फ़र्क इतना है कि इनमें से पहले—मुर्शिदाबाद—में ऐसे लोग हैं जो दूसरे—लंदन—के मुकाबले में बे-इंतिहा मालामाल हैं। पूरबी बंगाल में ढाका का शहर अपनी बारीक मलमल के लिए मशहूर था। ये दो शहर, महत्त्व के होते हुए भी हिंदुस्तान के बाहरी छोर के करीब के थे। इस विस्तृत देश में सभी जगह और भी बड़े शहर, और बहुत बड़े व्यापार और तिजारत के मरकज थे और तेजी से समाचार और व्यापार माल की जानकारी पहुंचाने के लिए बड़ी होशियारी से व्यवस्था की गई थी। बड़े-बड़े व्यापारियों के यहां अकसर लड़ाई तक के समाचार ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों के पास आये समाचारों से बहुत पहले पहुंच जाते थे। इस तरह हिंदुस्तान का अर्थ-तंत्र औद्योगिक क्रांति से पहले जितनी तरक्की मुमकिन थी उतनी तरक्की कर चुका था। उसमें और भी

तरक्की की गुंजाइश थी या यह अपने समाजी ढांचे की वजह से बहुत बंध गया था यह बता सकना कठिन है। फिर भी यह बहुत संभव जान पड़ता है कि सामान्य हालतों में इसमें वह तबदीली पैदा हो जाती जिससे यह अपने को अपने ही तरीके पर नई औद्योगिक परिस्थितियों के माफ़िक ढाल लेता। अगरचे यह तबदीली के लिए तैयार हो चुका था फिर भी इस तबदीली के लिए खुद उसकी व्यवस्था में एक क्रांति के आने की ज़रूरत थी। इस तबदीली के पैदा करने के लिए शायद एक प्रवर्तक की ज़रूरत थी। यह ज़ाहिर था कि कल-कारखानों से पहले का इसका अर्थ-तंत्र चाहे जितना तरक्की कर चुका हो उन मुल्कों के माल से जहां कल-कारखाने क़ायम हो चुके थे यह ज़्यादा दिनों तक मुक़ाबला नहीं कर सकता था। यह लाज़िमी था कि या तो यह अपने कल-कारखाने खड़े करे या यह विदेशी आर्थिक पैठ के आगे झुक जाये जो सियासी दखलंदाज़ी का रास्ता खोल देती। जो कुछ हुआ वह यह था कि विदेशियों की सियासी हुकूमत यहां पहले आई, और इसके ज़रिये उस अर्थ-तंत्र का बड़ी तेज़ी से नाश हुआ जो क़ायम हो चुका था और उसकी जगह पर कोई निश्चित या रचनात्मक चीज़ आई नहीं। ईस्ट इंडिया कंपनी अंग्रेज़ी राजनैतिक शक्ति और अंग्रेज़ निहित स्वार्थों तथा आर्थिक शक्ति दोनों की नुमाइंदगी करती थी। यह सियासी ताक़त रखनेवाली थी और चूंकि यह तिजारतियों की कंपनी थी यह धन कमाने पर भी तुली हुई थी। ठीक उस वक़्त जब यह बड़ी तेज़ी से और अपार धन कमा रही थी सन १७७६ में एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक 'वेल्थ ऑफ़ नेशन्स' में लिखा था—"एक मात्र व्यापारियों की कंपनी की हुकूमत किसी भी देश के लिए शायद सबसे बुरी हुकूमत है।

अगरचे हिंदुस्तानी व्यापारियों और माल तैयार करनेवालों के वर्ग अमीर थे और सारे देश में फैले हुए थे और उनका आर्थिक व्यवस्था पर क़ाबू था फिर भी उनमें राजनैतिक शक्ति नहीं थी। हुकूमत स्वेच्छाचारी और अब भी बहुत हद तक सामंतवादी थी। दरअसल यह शायद जितनी सामंतवादी इस ज़माने में थी उतनी हिंदुस्तान के इतिहास में और कभी भी पहले नहीं रही थी। इस वजह से कोई मज़बूत मध्य-वर्ग नहीं था या ऐसा वर्ग भी जो ताक़त अपने हाथ में कर लेने के लिए सचेत हो जैसा पश्चिमी देशों में था। आमतौर से लोग पराधीन और गुलामी की मनोवृत्ति रखनेवाले हो गए थे। इस तरह एक खाई पैदा हो गई थी जिसका भरना इन्क़लाबी तबदीली लाने के लिए ज़रूरी था। शायद यह खाई हिंदुस्तानी समाज की स्थिर प्रकृति के कारण पैदा हुई थी क्योंकि यह समाज

एक बदलती हुई दुनिया में तब्दीली से इन्कार करता था और जो भी सभ्यता तब्दीली की राह में रुकावट डालती है उसका ह्रास होता है। यह समाज जिस ढंग का भी था अब उसका रचनात्मक काम खत्म हो चुका था। तब्दीली को आना ही था।

उस जमाने में अंग्रेज सियासी नजर से कहीं ज्यादा तरक्कीयाफ्ता थे। उनके यहां राजनैतिक क्रांति हो चुकी थी और उन्होंने अपने राजा की ताकत से ऊपर पार्लामेंट की ताकत कायम कर ली थी। उनके मध्य-वर्ग के लोग अपनी नई शक्ति की चेतना रखते हुए खूब फैलना चाहते थे। यह जीवनी-शक्ति और स्फूर्ति जो तरक्की करनेवाले और प्रगतिशील समाज के लक्षण हैं इंगलिस्तान में साफ तौर पर दिखाई देते हैं। ये कई तरीक़े पर सामने आते हैं, सबसे ज्यादा उन ईजादों और खोजों में सामने आते हैं जिन्होंने औद्योगिक क्रांति का आवाहन किया।

यह सब होते हुए भी अंग्रेजी शासक-वर्ग कैसा था? अमरीका के मशहूर इतिहासकार, चार्ल्स और मेरी बेयर्ड ने हमें बताया है कि अमरीका की क्रांति की कामयाबी ने अमरीका के शाही सूबों से किस तरह अंग्रेजी शासक-वर्ग को अचानक दूर कर दिया—'यह वर्ग एक बहुसिमाना बाज़ाब्ता फ़ौजदारी का आदी था और आदी था एक तंग ग़ैर-रवादार शिक्षण की व्यवस्था का नौकरियों और विशेषाधिकारों के एक बड़े समूह के रूप में कल्पित हुकूमत का खेतों और दुकानों में मेहनत करनेवाले मर्दों और औरतों को हिकारत से देखने का जनता को शिक्षा देने से इन्कार का एक क़ायमशुदा मज़हब को मुनकिरों और कैथलिकों पर लादने का देहातों और गांवों में जमींदारों और पादरियों के राज का फ़ौज और जहाज़ी नौकरियों में बेरहमी और अत्याचार का जमींदारों की हुकूमत की रोक-थाम करनेवाली उस प्रथा का जिसमें जेठे बेटे को विरासत का हक़दार माना जाता है पदों निठल्ले ओहदों और पेन्शनों की ख़ातिर राजा की चापलूसी में लगे हुए मुड़-के-झुंड मुफ़्तख़ोर लोगों का और मज़हब और राज की ऐसी व्यवस्था का जो दमन और लूट के इस बड़े ढेर के बोझ को जनता पर लादती है। अंग्रेजी राजा की नौ-आबादियों की प्रजा को इस बोझ के पहाड़ से अमरीका के क्रांतिकारियों ने रक्षा की। इस मुक्ति के दस-बीस साल के भीतर उन्होंने क़ानून और नीति में वे सुधार कर लिये जिनके लिए मातृ-देश (इंगलिस्तान) में सौ या इससे ज्यादा साल के बराबर आंदोलन की ज़रूरत पड़ी—और जिनकी बदौलत इन सुधारों के लिए आंदोलन करनेवाले राजनीतिज्ञों को अंग्रेजी

इतिहास में अमर स्थान दिया गया।[1]

अमरीकी आज़ादी के ऐलान पर, जो आज़ादी के इतिहास की एक उल्लेखनीय घटना है, १७७६ में दस्तख़त हुए थे और इसके ख़ास बाद नौ-आबादियां इंग्लिस्तान से अलग हो गईं। तब उनकी असली मानसिक आर्थिक और समाजी शक्ति मुक्त हुई। अंग्रेज़ों की प्रेरणा से इंग्लिस्तान के नमूने पर ज़मीन की जो व्यवस्था क़ायम हो गई थी वह बिलकुल बदल दी गई। बहुत-से विशेषाधिकार ख़त्म किये गये और बड़ी ज़मींदारियों को ज़ब्त करके उन्हें टुकड़ों में बांट दिया गया। व्यापार और दिमाग़ी और आर्थिक सरगर्मी और उद्योग का एक जोशीला ज़माना आया। सामंतवादी निशानियों से और विदेशी अधिकार से मुक्त होकर आज़ाद अमरीका न तरक़्क़ी के कदम उठ गए।

फ़्रान्स में बड़ी क्रान्ति ने बैस्तील के क़ैदख़ाने को, जो पुरानी व्यवस्था का प्रतीक था, तोड़ डाला और राजा और सामंतवाद को हटाकर दुनिया के सामने इन्सानी हक़ों का एलान किया।

फिर इस वक़्त इंग्लिस्तान में क्या हुआ? अमरीका और फ़्रान्स की इन इन्क़लाबी तब्दीलियों से दहशत खाकर, इंग्लिस्तान और भी प्रतिक्रिया-वादी हो गया और उसका भयानक और बर्बर ज़ाब्ता फ़ौजदारी और भी वहशियाना बन गया। जब १७६० में जब तीसरा जार्ज गद्दी पर बैठा तब १६० ऐसे जुर्म थे जिनके लिए मर्दों औरतों और बच्चों को मौत की सज़ा मिल सकती थी। जब १८२० में उसका राज्य-काल ख़त्म हुआ तब इस भयानक सूची में क़रीब सौ ऐसे जुर्म और जुड़ चुके थे जिनके लिए मौत की सज़ा क़रार दी गई थी। ब्रिटिश फ़ौज के आम सिपाही के साथ ऐसा बरताव किया जाता था जैसा जानवरों के साथ भी न होता हो। ऐसी बेदर्दी और बेरहमी बरती जाती थी कि रोंगटे खड़े होते हैं। मौत की सज़ाएं आम थीं और उसमें भी ज़्यादा आम था सरे-आम कोड़े लगाने का रिवाज। सैकड़ों कोड़े तक लगाये जाते थे, यहांतक कि या तो मौत ही हो जाती थी या ज्यों-त्यों बच गये तो सज़ा पानेवाला के कुचले हुए जिस्म मरने के दिन तक इस बद की कहानी कहते रहते थे।

इन मामलों में और बहुत-सी और बातों में, जिनका इन्सानियत और व्यक्ति की प्रतिष्ठा से संबंध है, हिंदुस्तान कहीं आगे था और उसकी तहज़ीब कहीं ऊंची थी। उस ज़माने में हिंदुस्तान में इंग्लैंड या यूरोप के

[1] 'दि राइज़ ऑव अमेरिकन सिविलिज़ेशन' (१९२८) जिल्द १ पृ० २९२।

मुक़ाबले में ज़्यादा साक्षरता थी अगरचे तालीम का ढर्रा पुराना था। शायद नागरिक सुविधाएं भी ज़्यादा थीं। यूरोप में आम जनता की दशा बहुत पिछड़ी हुई थी और हिंदुस्तान की जनता की हालत के मुक़ाबले में अच्छी न थी। लेकिन सबसे भारी फ़र्क़ यह था कि पश्चिमी यूरोप में नई ताक़तें और विचार-धाराएं साफ़ तौर पर काम कर रही थीं और उनके साथ-साथ तब्दीलियां पैदा हो रही थीं हिंदुस्तान में स्थिति कहीं ज़्यादा स्थिर और गतिहीन थी।

इंग्लिस्तान का हिंदुस्तान में आगमन हुआ। १६   में जब रानी एलिज़ाबेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को परवाना दिया उस वक़्त शेक्सपियर ज़िंदा था और उसका लिखना जारी था। १६११ में इंजील का मंज़ूरशुदा अंग्रेज़ी तर्जुमा निकला १६ ८ में मिल्टन का जन्म हुआ उसके बाद हैम्पडेन और क्रामवेल सामने आये और राजनैतिक क्रांति हुई। १६६  में इंग्लिस्तान की रायल सोसायटी क़ायम हुई, जिसने विज्ञान को तरक़्क़ी देने में इतना हिस्सा लिया। सौ साल बाद १७६  में कपड़ा बुनने की तेज़ ढरकी की ईजाद हुई, उसके बाद जल्दी-जल्दी एक-एक करके कातने की कल भाप के इंजन और मशीन के करघे निकले।

इंग्लिस्तान के इन दो रूपों में कौनसा इंग्लिस्तान हिंदुस्तान में आया? शेक्सपियर और मिल्टनवाला उदार बातों और लेखों और बहादुरी के कारनामोंवाला राजनैतिक क्रांति और आज़ादी के हक़ में लड़ाई करनेवाला विज्ञान और उद्योग की तरक़्क़ी को आगे बढ़ानेवाला इंग्लिस्तान यहां आया या बहशियाना ज़ाब्ता फ़ौजदारीवाला बर्बर व्यवहार करनेवाला और सामंतवादी और प्रतिक्रियावादी इंग्लिस्तान आया?—क्योंकि इंग्लिस्तान के दो रूप रहे हैं जिस तरह हर एक मुल्क में जातीय चरित्र और तहज़ीब के दो पहलू होते हैं। एडवर्ड टामसन ने लिखा है—'हमारी सभ्यता की सबसे ऊंची और आम सतहों के बीच इंग्लिस्तान में हमेशा एक बड़ा फ़र्क़ रहा है मुझे बड़ा शक है कि इस तरह की खाई और भी किसी मुल्क में—जिससे हम अपना मुक़ाबला करना चाहेंगे—है या नहीं और यह फ़र्क़ इतनी धीमी रफ़्तार से घट रहा है कि अकसर यह जान पड़ता है कि यह घट ही नहीं रहा है।[1]

दोनों इंग्लिस्तान एक-दूसरे पर असर डालते हुए साथ-साथ चल रहे हैं और एक-दूसरे से जुदा नहीं किये जा सकते न यही हो सकता था कि इनमें से एक दूसरे को बिलकुल भुलाकर हिंदुस्तान में आये। फिर भी हर

---

[1] 'मेकिंग ऑव इंडियन प्रिंसेज़' (१९४३) पृ. २६४।

बड़े अमल में एक ही आगे आता है और दूसरे पर हावी रहता है और यह लाज़िमी था कि हिंदुस्तान में यह ग़लत क़िस्म का इंग्लिस्तान अपना खेल खेले और इस रविश में ग़लत क़िस्म के हिंदुस्तान से उसका संपर्क हो और इसे बढ़ावा मिले।

संयुक्त राज्य अमरीका की आबादी का क़रीब-क़रीब वही ज़माना है जो हिंदुस्तान का आबादी खोने का है। पिछली डेढ़ सदियों पर नज़र डालते हुए एक हिंदुस्तानी किसी क़दर लालच-भरी और ख़्वाहिश-भरी निगाहों से उस बड़ी तरक़्क़ी को देखता है जो अमरीका ने इस ज़माने में कर ली है और इसका मुक़ाबला उन बातों से करता है जो हिंदुस्तान में हुई हैं या नहीं हो पाई हैं। बिला शक यह सही है कि अमरीकियों में बहुत-से गुण हैं और हममें बहुत-सी कमज़ोरियां हैं और अमरीका में बिलकुल नया मैदान था और उन्हें बिलकुल आरंभ से ही शुरुआत करनी थी जबकि हम पुरानी यादों और परंपराओं से जकड़े हुए थे। शायद फिर भी यह बात कल्पना में आनेवाली नहीं है कि अगर ब्रिटेन ने (उसीके शब्दों में) हिंदुस्तान का यह भारी बोझ न संभाला होता और हमें इतने लंबे अरसे तक खुदमुख़्तारी की मुश्किल कला जिससे हम इतने ग़ैर-वाक़िफ़ थे सिखाने की कोशिश न की होती तो हिंदुस्तान न महज़ ज़्यादा आज़ाद और खुशहाल होता बल्कि विज्ञान और कला में और उन सभी बातों में जो ज़िंदगी को जीने के क़ाबिल बनाती हैं, कहीं ज़्यादा तरक़्क़ी कर चुका होता।

## ७

# आखिरी पहलू—१

## ब्रिटिश शासन का मजबूत पड़ना और राष्ट्रीय-आंदोलन का उदय

### १ साम्राज्य की विचारधारा नई जाति

एक अंग्रेज ने जो हिंदुस्तान से और उसके इतिहास से खूब वाक़िफ़ है, यह लिखा है कि "शायद और किसी चीज़ के मुक़ाबले या हमले की हो हमारा हिंदुस्तान के इतिहास को लिखना ज़्यादा खलता है।" हिंदुस्तान की ब्रिटिश हुकूमत के इतिहास में हिंदुस्तान को सबसे ज़्यादा बुरा क्या लगता है यह कहना मुश्किल है। फ़ेहरिस्त लंबी है और उसमें कई तरह की बातें हैं। लेकिन यह सच है कि हिंदुस्तान के इतिहास का और ख़ासतौर से ब्रिटिश-युग का अंग्रेज़ों द्वारा बयान बेहद बुरा लगता है। क़रीब-क़रीब हमेशा ही इतिहास विजेताओं द्वारा लिखा जाता है और उसमें उनका नज़रिया मिलता है या कम-से-कम विजेता के बयान को प्रधानता दी जाती है और वही सबसे ऊपर माना जाता है। बहुत मुमकिन है कि हिंदुस्तान में आर्यों के बारे में शुरू के जो बयान मिलते हैं उनमें यानी पुराणों और परंपराओं में आर्यों की बड़ाई की गई हो और विजित जनता के प्रति बेइन्साफ़ी हुई हो। कोई शख्स अपने आपको जातीय दृष्टिकोण या सांस्कृतिक पाबंदियों से बिलकुल बचा नहीं सकता और जिस वक्त जातियों या देशों के बीच झगड़ा होता है उस वक्त ग़ैर-तरफ़दारी की कोशिश को भी अपनी जनता के प्रति विश्वासघात समझा जाता है। इस झगड़े की एक हद दर्जे की मिसाल है लड़ाई। उसमें जहाँतक दुश्मन क़ौम का सवाल है सारी ग़ैर जानिबदारी और सारा इन्साफ़ उठाकर ताक़ में रख दिया जाता है। दिमाग़ संकुचित होता जाता है और सिवाय एक चीज़ के उसमें और हर एक चीज़ के लिए दरवाज़ा बंद हो जाता है। उस वक्त की सबसे बड़ी ज़रूरत है अपने कामों का ठीक ठहराना और दुश्मन के कामों की निंदा करना और उनको बुरा करके सामने लाना। किसी बहुत ही गहरे कुएँ के तले में सत्य छिपा रहता है और झूठ को खुल्लम-खुल्ला और बेशर्मी से अहमियत दी जाती है।

उस वक्त भी, जबकि खुले तौर पर लड़ाई जारी नहीं होती, मुखालिफ़ दलों और स्वार्थों में अक्सर छिपा हुआ युद्ध और संघर्ष चलता रहता है। और उस देश में, जहां हुकूमत विदेशी हो, यह संघर्ष तो जन्म-जात होता है और बराबर चलता रहता है। जनता के दिमाग पर उसका असर होता है और उसके विचारों और काम-काज की धारा बदल जाती है। युद्ध की यह स्थिति कभी भी बिलकुल गायब नहीं होती। पुराने वक्तों में जब युद्ध और उसके नतीजों का—यानी किसी भी जनता की हार, उसकी गुलामी और उसके प्रति नफ़रत का—घटना चक्र की एक स्वाभाविक-सी बात समझा जाता था, तब उनको ढकने या किसी दूसरे दृष्टिकोण से उचित ठहराने की कोई खास ज़रूरत नहीं थी। ऊंचे मापदंड की तरक्की के साथ चीज़ों को न्याय्य ठहराने की ज़रूरत पैदा हो गई है और इसकी वजह से कभी-कभी तो जान-बूझकर लेकिन ज़्यादातर अनजान में चीज़ों को तोड़-मरोड़ा जाता है, इस तरह पाखंड नेकी को सराहता है और एक कोफ़्त पैदा करनेवाले सदाचार का और बुरे कामों का मेल-जोल दिखता है।

किसी भी देश में, खासतौर से हिंदुस्तान-जैसे बड़े देश में, जहां का इतिहास जटिल है और जहां मिली-जुली संस्कृतियां हैं, यह हमेशा मुमकिन है कि ऐसे तथ्य और ऐसी प्रवृत्तियां निकल आवें, जिनसे कोई एक निश्चित मत तर्कसंगत मालूम पड़े और तब वहां नई दलील के लिए उसको बुनियाद मान लिया जाता है। अपनी समानताओं और निश्चित मापदंड के बावजूद भी अमरीका विरोधात्मक बातों का देश कहा जाता है। फिर हिंदुस्तान में ये विरोधात्मक बातें और विषमताएं कितनी ज़्यादा भरी होंगी! किसी भी दूसरी जगह की तरह हमको यहां वह चीज़ मिल जायेगी जिसकी हमको तलाश है, और तब हम पूर्व-निश्चित आधार पर हम सम्मतियों और धारणाओं की एक इमारत तैयार कर सकते हैं। लेकिन फिर भी उस इमारत की बुनियाद झूठी होगी और असलियत की सही तस्वीर सामने नहीं आयेगी।

मौजूदा ज़माने का हिंदुस्तान का इतिहास, यानी ब्रिटिश-युग का इतिहास, आजकल की घटनाओं से इतना ज़्यादा जुड़ा हुआ है कि उसका मतलब लगाने में हमारे ऊपर आजकल की तरफ़दारियों और जज़्बों का एक ज़बरदस्त असर होता है। इस बात की संभावना है कि अंग्रेज़ और हिंदुस्तानी दोनों ही गलती करें, हालांकि यकीनी तौर पर उनकी गलतियां विरोधी दिशाओं में होंगी। उन कागज़ातों और दस्तावेज़ों का ज़्यादातर हिस्सा, जिससे इतिहास की शक्ल तैयार होती है और वह लिखा जाता है

ब्रिटिश जरिया से आता है और उसमें लाजिमी तौर पर ब्रिटिश नजरिया होता है। ठीक उन्हीं परिस्थितियों ने जिनसे हार और फूट हुई इस कहानी के हिंदुस्तानी पक्ष का उचित बयान होने से रोक दिया और जो कुछ भी कागजात थे उनको १८५७ के महान विद्रोह में नष्ट कर डाला गया। जो कुछ कागजात बच रहे, वे घरों में छिपा दिये गये और इस डर से कि नुकसान पहुंच सकता है वे प्रकाशित न हो सके। वे कागजात अलग-अलग बिखरे रहे उनके बारे में किसीको खबर भी नहीं थी और उनमें से ज्यादातर उन कीड़े-मकोड़ों के हमले की वजह से जिनकी देश में कोई कमी नहीं है, हस्तलिखित हालत में ही बरबाद हो गये। एक बाद के जमाने में जब इनमें से कुछ कागजात पाये गए तो उन्होंने कितनी ही ऐतिहासिक घटनाओं पर एक नई रोशनी डाली यहांतक कि अंग्रेजों के लिखे हिंदुस्तानी इतिहास में भी कुछ रद्दो-बदल हुई और हिंदुस्तानी धारणाएं, जो अकसर ब्रिटिश धारणाओं से जुदा होती थीं बनीं। इन धारणाओं के पीछे उन स्मृतियों और परंपराओं का भंडार था जो बहुत गुजरे जमाने का नहीं था बल्कि उस वक्त का था जब हमारे दादा और परदादा उन घटनाओं के साक्षी और कभी-कभी शिकार थे। इतिहास के रूप में इस परंपरा की कीमत चाहे न हो फिर भी उसका महत्त्व है क्योंकि उससे आज के हिंदुस्तानी दिमाग की पृष्ठभूमि समझने में मदद मिलती है। हिंदुस्तान में अंग्रेजों की निगाह में जो बदमाश था वह हिंदुस्तानियों के लिए अकसर एक नायक होता था और वे लोग जिनको अंग्रेजों ने खुश होकर इज्जत बख्शी ज्यादातर हिंदुस्तानियों की निगाह में देशद्रोही रहे और वह धब्बा उनके वारिसों पर लगा रहता है।

अमरीका के इन्कलाब का हाल अंग्रेजों और अमरीकियों ने अलग अलग ढंग से लिखा है और आज भी जब पुराना आवेश ठंडा पड़ गया है और जब दोनों राष्ट्रों में दोस्ती है हर एक पक्ष का बयान दूसरे पक्ष को बुरा मालूम देता है। खुद हमारे ही वक्त में बहुत-से मशहूर अंग्रेज राजनीतिज्ञों के लिए लेनिन एक राक्षस और लुटेरा था फिर भी करोड़ों आदमियों ने उसको एक उद्धार करनेवाला माना है और वे उसको इस युग का सबसे बड़ा आदमी कहते हैं। इस मुकाबले में हमको हिंदुस्तानियों की भावनाओं की हलकी-सी झलक मिल जायगी जो उनको उस वक्त होती है जब उन्हें स्कूलों और कालेजों में उस इतिहास को पढ़ने के लिए मजबूर किया जाता है, जो हिंदुस्तान के गुजरे जमाने को हर तरह से लिखा करता है जो उन लोगों पर कलंक लगाता है, जिनकी याद इन लोगों को प्रिय और गुणव

है और जो हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के लाभों की बड़ाई करता है और उसका आदर करता है।

एक बार अपने शिष्ट व्यंग्यपूर्ण ढंग से गोपाल कृष्ण गोखले ने विधाता की उस अगम्य बुद्धि की चर्चा की जिसने हिंदुस्तान का अंग्रेजों से संपर्क रखा। चाहे यह उस अगम्य बुद्धि की वजह से हो, चाहे यह ऐतिहासिक भाग्य की किसी प्रक्रिया की वजह से हो, या सिर्फ एक संयोग हो, हिंदुस्तान में अंग्रेजों के आने की वजह से बिलकुल मुख्तलिफ जातियां एक-दूसरे के पास आ गईं, या यों कहिये कि उन दोनों को पास आना चाहिए था, लेकिन जो-कुछ हुआ वह यह था कि वे शायद ही एक-दूसरे की तरफ बढ़ी हों और उनके आपसी संपर्क सीधे नहीं थे, बल्कि घुमा-फिराकर पैदा हुए थे। उन थोड़े-से आदमियों पर, जिन्होंने अंग्रेजी पढ़ ली थी, अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजी राजनैतिक विचारों का असर हुआ। हालांकि इन राजनैतिक विचारों का अपनी जगह जोर था, फिर भी उस वक्त हिंदुस्तान में इनकी कोई असलियत नहीं थी। जो अंग्रेज हिंदुस्तान में आये थे, वे राजनैतिक या सामाजिक क्रांतिकारी नहीं थे। वे लोग तो अनुदार और रूढ़िवादी थे और वे इंग्लैंड के सबसे ज्यादा प्रतिक्रियावादी सामाजिक वर्ग की नुमाइंदगी करते थे, और कुछ मानों में तो इंग्लैंड खुद यूरोप के देशों में सबसे ज्यादा अनुदार था।

हिंदुस्तान पर पच्छिमी तहजीब का आघात एक गतिशील समाज और आधुनिक चेतना का एक ऐसे गतिहीन समाज पर आघात था जो मध्य-युगीन विचारधारा से बंधा हुआ था और जो अपने ढंग से कितना ही तरक्की याफ्ता या रंगा-चुना हो, अपनी जमी-जमाई आदतों की वजह से तरक्की नहीं कर सकता था। और फिर भी यह एक अजीब-सी बात है कि इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के नुमाइंदे हिंदुस्तान में अपने इस उद्देश्य से बिलकुल बेखबर ही नहीं थे, बल्कि एक वर्ग के रूप में उनमें ऐसी किसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व ही सबसे कम था। इंग्लैंड में इनके वर्ग ने ऐतिहासिक प्रक्रिया का विरोध किया, लेकिन विरोधी ताकतें बहुत जबरदस्त थीं और उनको रोका नहीं जा सका। हिंदुस्तान में इनके लिए खुला मैदान था और वे उस तरक्की और परिवर्तन पर रोक लगाने में कामयाब हुए, जिसकी एक बड़े दायरे में के समर्थक रहे थे। हिंदुस्तान में सामाजिक प्रतिक्रियावादी समुदायों का इन्होंने बढ़ावा दिया और उनकी स्थिति को मजबूत किया और उन सब लोगों का, जो राजनैतिक और सामाजिक रद्दोबदल चाहते थे, विरोध किया। जो कुछ रद्दोबदल हुई भी वह या तो उनके बावजूद थी या वह उनकी

दूसरी कार्रवाइयों के आकस्मिक नतीजे की तरह थी। भाप के इंजन और रेल की शुरुआत मध्ययुगीन ढांचे में रद्दो-बदल की तरफ़ एक बड़ा क़दम था लेकिन उसमें अंग्रेज़ों का इरादा अपने राज्य को सुदृढ़ करने का था और वे उससे देश के अंदरूनी हिस्सों को अपने फ़ायदे के लिए और चूसने में सुविधा चाहते थे। हिंदुस्तान में ब्रिटिश अधिकारियों की नीति और उसके कुछ आकस्मिक नतीजों में एक विरोध है और उससे उलझन पैदा होती है और कुछ वह नीति ढंक जाती है। पश्चिम के इस आघात की वजह से हिंदुस्तान में रद्दो-बदल तो हुई, लेकिन यह हिंदुस्तान के अंग्रेज़ों के बावजूद हुई। वे लोग उस रद्दो-बदल की रफ़्तार को धीमा करने में कामयाब हुए और इस हद तक कि आज भी यह रद्दो-बदल पूरी नहीं हो पाई है।

सामंतवादी ज़मींदार और उनके भाई-बंद जो इंग्लैंड से हिंदुस्तान में हुकूमत करने के लिए आये दुनिया के ऊपर एक सामंतवादी नज़र रखते थे। उनके लिए हिंदुस्तान एक बहुत बड़ी जागीर थी जिसकी मालिक ईस्ट इंडिया कंपनी थी और ज़मींदार अपनी जागीर और अपने काश्तकारों का सबसे अच्छा और स्वाभाविक नुमाइंदा था। जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने हिंदुस्तान की अपनी इस जागीर को ब्रिटिश बादशाह को सौंप दिया तो हिंदुस्तान के ख़र्चे पर उसे एक बहुत बड़ी रक़म हरजाने के तौर पर दी गई, लेकिन यह नज़रिया उसके बाद भी बराबर बना रहा। (और उस वक़्त से हिंदुस्तान कर्ज़दार बना। यह हिंदुस्तान की ख़रीद की क़ीमत थी जो ख़ुद हिंदुस्तान ने दी थी) और तब हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार ज़मींदार (या ज़मींदार का कारिंदा) बन गई। हर अमली व्यवहार में यह सरकार अपने-आपको हिंदुस्तान समझती ठीक उसी तरह से जैसे ड्यूक ऑव बैकिंघम को उसके साथी 'बैकिंघम' समझ सकते हैं। वे करोड़ों आदमी जो हिंदुस्तान में रहते थे और काम करते थे वे तो सिर्फ़ ज़मींदार के किसी-न-किसी ढंग के काश्तकार थे जिनको अपना किराया या कर देना होता था और जिनको स्वाभाविक सामंतवादी ढांचे में अपनी जगह रखनी होती थी। उस ढांचे को चुनौती देना उनके लिए विश्व के नैतिक आधार के ख़िलाफ़ एक गुनाह था। उसके मानी थे दैवी विधान से इन्कार।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत के बारे में ऐसी धारणा बुनियादी तौर पर बदली नहीं है हालांकि अब उसको दूसरे ढंग से ज़ाहिर किया जाता है। वह पुराना तरीक़ा जिसमें खुले तौर पर मनमाना कर वसूल किया जाता था अब ख़त्म गया है और उसकी जगह टेढ़े और होशियार तरीक़ों ने ले ली है। यह बात मानी गई कि ज़मींदारों को अपने किसानों का हितैषी होना

चाहिए और उनके हितों को लाभ पहुंचाने की कोशिश करनी चाहिए। यह बात भी मान ली गई कि ज़्यादा सच्चे और समझदार काश्तकार को तरक़्क़ी देकर जागीर के दफ़्तर में जगह देनी चाहिए। लेकिन ज़मींदारी प्रथा के लिए कोई चुनौती बरदाश्त नहीं की जा सकती थी। जागीर का काम पहले ही की तरह चलता रहना चाहिए, चाहे उसमें कुछ काम करनेवाले लोग बदल जायें। जब जनता के दबाव ने किसी रद्दो-बदल को लाज़िमी बना दिया, तो इस बात की शर्त लगाई गई कि जागीर के दफ़्तर के सब समझदार नौकरों की जगह बराबर बनी रहे, ज़मींदार के पुराने और नये दोस्तों, साथियों और अनुयायियों के लिए इन्तज़ाम हो, पुराने नौकरों को पेन्शनें बराबर मिलती रहें और पुराना ज़मींदार खुद अब जागीर के कृपालु पालक और सलाहकार की तरह काम करे और इस तरह बुनियादी रद्दो-बदल ला सकनेवाली कोशिशों पर ही पानी फिर जाय।

हिन्दुस्तान के हितों को अपने हितों से एक करके दिखाने की भावना ऊंची प्रशासनिक सेवाओं में, जो पूरी तरह ब्रिटिश हाथों में थीं, सबसे ज़्यादा तेज़ थी। बाद के बरसों में ये सेवाएं उस चुनी हुई और सुसंगठित संस्था में परिणत हो गईं, जिसे इंडियन सिविल सर्विस का नाम मिला है। एक अंग्रेज़ लेखक के शब्दों में यह "दुनिया की सबसे ज़्यादा मज़बूत ट्रेड यूनियन है।" ये हिन्दुस्तान का संचालन करते थे, ये ख़ुद हिन्दुस्तान थे, और कोई भी चीज़ जो उनके हितों को चोट पहुंचाती थी लाज़िमी तौर पर हिन्दुस्तान के लिए घातक होनी चाहिए। इंडियन सिविल सर्विस के ज़रिये से और उस इतिहास से जो ब्रिटिश जनता के सामने रखा गया, उसके अलग-अलग स्तरों में यही धारणा अलग-अलग हद तक फैल गई। हुकूमती-वर्ग तो क़ुदरती तौर पर बिलकुल इसी तरह सोचता था, लेकिन मज़दूरों और किसानों पर भी कुछ हद तक इसका असर हुआ, और हालांकि अपने ही देश में उनकी एक नीची जगह थी, फिर भी उन्होंने हुकूमत और साम्राज्य का घमंड महसूस किया। वही मज़दूर और किसान जब हिन्दुस्तान में आता तो वह अपने आप लाज़िमी तौर पर हुकूमती वर्ग का हो जाता। हिन्दुस्तान के इतिहास और उसकी संस्कृति से वह बिलकुल अनजान होता और वह हिन्दुस्तान के अंग्रेज़ों में प्रचलित विचारधारा को ही मंज़ूर कर लेता, क्योंकि जानने या [illegible] कोई दूसरा साधन नहीं होता था। ज़्यादा-से [illegible] तरक़्क़ीपसन्द [illegible] भी उस ढांचे के अन्दर [illegible]। सौ साल तक यह विचारधारा ब्रिटिश जनता [illegible] और धीरे-धीरे [illegible] गई। यह

एक निश्चित और अविचल धारणा थी, जो हिन्दुस्तान के सिलसिले में उनके दृष्टिकोण का संचालन करती और उसने एक अस्पष्ट तरीक़े से उनके घरेलू नज़रिये पर भी असर डाला। ख़ुद हमारे ही मुल्क में वह विचित्र समुदाय जिसके पास कोई निश्चित मापदंड या सिद्धान्त नहीं है और जिसकी बाहरी दुनिया की ज़्यादा जानकारी नहीं है, यानी ब्रिटिश मज़दूर पार्टी के नेतागण हिन्दुस्तान की मौजूदा व्यवस्था के सबसे ज़्यादा कट्टर समर्थक रहे हैं। कभी-कभी उन्हें अपनी घरेलू और औपनिवेशिक नीति में, अपनी बातों और अपने व्यवहार में विरोध दिखाई देता और उसमें एक धुंधली-सी बेचैनी भर जाती है। लेकिन चूंकि वे अपने को आमतौर से सहज बुद्धि वाला व्यावहारिक आदमी समझते हैं, अपने अंतरतम की सारी उथल-पुथल को वे सख़्ती से दबा देते हैं। व्यावहारिक आदमियों को आख़िरी तौर पर अपने-आपको किसी परिचित या स्थापित परिपाटी की बुनियाद पर ही खड़ा करना चाहिए, किसी ऐसे सिद्धान्त या नियम के लिए, जिसकी जांच पड़ताल न हुई हो—उन्हें अंधेरे में छलांग न मारनी चाहिए।

वाइसराय को, जो हिन्दुस्तान में इंग्लैंड से सीधे ही आते हैं, इंडियन सिविल सर्विस के ढांचे से मेल मिलाना होता है और उन्हीं पर निर्भर रहना पड़ता है। इंग्लैंड के अभिजात और शासक-वर्ग का होने की वजह से उनको प्रचलित आई० सी० एस० दृष्टिकोण को अपनाने में कोई दिक्कत नहीं होती और निरंकुश सत्ता, जिसकी कहीं और मिसाल नहीं मिलती, उनके तरीक़ों और अभिव्यक्ति के ढंग में बारीक रद्दो-बदल पैदा करती है। अधिकार आदमी को बिगाड़ देता है, लेकिन निरंकुश अधिकार तो बिलकुल ही बिगाड़ देता है, और आज की विस्तृत दुनिया में न तो किसी आदमी को इतनी बड़ी जनता पर ऐसा निरंकुश अधिकार मिला है और न मिलता है, जैसा हिन्दुस्तान के ब्रिटिश वाइसराय को है। वाइसराय एक ऐसे ढंग से बातचीत करता है, जिसको न तो इंग्लैंड के प्रधान मंत्री और न संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति ही अपना सकते हैं। अगर उसकी कोई दूसरी मुमकिन मिसाल हो सकती है तो वह हिटलर की है। और यह बात सिर्फ़ वाइसराय में ही नहीं है, बल्कि उसकी कौंसिल के अंग्रेज़ सदस्यों में, गवर्नरों में, यहांतक कि उन छुटभइयों में भी है, जो मजिस्ट्रेट या महकमों के सेक्रेटरियों की हैसियत से काम करते हैं। वे एक ऐसी ऊंची चोटी से बातचीत करते हैं, जहां पहुंचा नहीं जा सकता और उनको सिर्फ़ इस बात का ही पक्का यक़ीन नहीं होता कि जो कुछ वे कहते या करते हैं, वह सही है, बल्कि इस बात का भी कि जो-कुछ वे कहते या करते हैं उसके बारे में मृत्युलोक के सब प्राणी चाहे

कुछ भी सोचें उनको उसे सही मानना होगा क्योंकि ताक़त और ज्ञान उन्हीं को है।

वाइसराय की कौन्सिल के कुछ मेंबरों की नियुक्ति सीधे इंग्लैंड से ही होती है और वे इंडियन सिविल सर्विस के मेंबर नहीं होते। आमतौर पर उनके तरीक़ों में और सिविल सर्विसवालों के तरीक़ों में एक फ़र्क़ होता है। उस ढांचे में वे काम तो काफ़ी आसानी से करते हैं, लेकिन उनमें पूरी तरह से सुनिश्चित सत्ता की श्रेष्ठ और आत्म-संतोषी भावना नहीं होती। कौन्सिल के हिंदुस्तानी मेंबरों में (जो अभी हाल ही में जोड़े गये हैं) जो ज़ाहिरा बड़े लोग हैं चाहे जितने या जैसे अक्लमंद हों यह बात और भी कम होती है। चाहे उनका ओहदा कितना ही बड़ा क्यों न हो जो हिंदुस्तानी सिविल सर्विस में हैं वे उस विशेष दायरे में नहीं होते। उनमें से कुछ अपने हाकिमों की नक़ल करने की कोशिश करते हैं लेकिन कोई ज़्यादा कामयाबी के साथ नहीं। उनमें एक ऐसा दिखावा आ जाता है कि वे हंसी के पात्र हो जाते हैं।

मेरा ऐसा ख़याल है कि इंडियन सिविल सर्विस के अंग्रेज़ मेंबरों की नई पीढ़ी पिछले लोगों से विचारों और चरित्र में कुछ दूसरे ढंग की है। पुराने ढांचे से वे आसानी से मेल नहीं बिठा पाते लेकिन सारी ताक़त और नीति का इजारेदार पुराने बड़े मेंबरों पर होता है, इसलिए इन नये लोगों की वजह से कोई फ़र्क़ नहीं होता। उनको या तो स्थापित व्यवस्था को मंज़ूर करना होता है और या जैसाकि कभी-कभी हुआ भी है उनको इस्तीफ़ा देकर अपने घर वापस जाना होता है।

मुझे याद है कि जब मैं लड़का था उन दिनों हिंदुस्तान के ब्रिटिश-संचालित अख़बार सरकारी ख़बरों—नौकरी तबादला और तरक़्क़ी की ख़बरों—से भरे रहते थे। उनमें यहां के अंग्रेज़-समुदाय के कार्यक्रम का पोलो घुड़-दौड़ नाच और नाटकों का ही ज़िक्र होता था। हिंदुस्तान की जनता के बारे में उसके राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक या सांस्कृतिक जीवन के बारे में शायद ही कोई बात होती। इन अख़बारों के पढ़ने से तो इस बात का अंदाज़ भी नहीं होता था कि यहां हिंदुस्तानियों का भी अस्तित्व है।

बंबई में चार टीमों में—हिंदू, मुस्लिम पारसी और यूरोपीयों में—चतुर्दली (क्वाडरैंगुलर) क्रिकेट मैच हुआ करते थे। यूरोपीय टीम को बंबई प्रेसीडेंसी के नाम से पुकारा जाता था बाक़ी सब टीमें हिंदू, मुस्लिम या पारसी थीं। इस तरह बंबई का प्रतिनिधित्व यूरोपीयों से होता था और ऐसा मालूम पड़ता कि और टीमें तो बाहरी हैं, जिनको क्रिकेट मैच की ख़ातिर

मान्यता दी है। ये चतुरंगी मैच अब भी हुआ करते हैं और उन पर काफ़ी बहस होती है और अब इस बात की मांग की जाती है कि क्रिकेट टीम का चुनाव धार्मिक बुनियाद पर नहीं होना चाहिए। मेरा ऐसा ख़याल है कि बंबई 'प्रेसीडेंसी टीम' को अब 'यूरोपियन टीम' कहा जाता है।

हिंदुस्तान में अंग्रेज़ी क्लब आमतौर पर प्रादेशिक नामों से पुकारे जाते हैं—मसलन बंगाल क्लब इलाहाबाद क्लब वग़ैरह। ये अंग्रेज़ों या यूरोपीयों तक ही सीमित होते हैं। उनका प्रादेशिक नाम होने पर या इस बात पर कि इनमें प्रवेश एक ख़ास समुदाय का ही होता है और वे बाहरवालों को शामिल करना पसंद नहीं करते कोई आपत्ति नहीं हो सकती। लेकिन इन नामों की बुनियाद उस ब्रिटिश ख़याल पर है कि वे ही असली हिंदुस्तान हैं वे ही असली बंगाल या असली इलाहाबाद हैं और सब तो सिर्फ़ फ़ालतू लोग हैं, जो अपनी जगह पहचानें तो उनकी कुछ क़ीमत भी है, नहीं तो उनसे सिर्फ़ परेशानी ही बढ़ती है। ग़ैर-यूरोपीयों का बहिष्कार एक जातीय कारण से ज़्यादा होता है बनिस्बत इस वजह के कि वे लोग जिनकी संस्कृति एक-सी है अपनी फ़ुरसत के वक़्त में मनोरंजन या सामाजिक मेल जोल के मौक़े पर बाहरी लोगों का दख़ल नहीं चाहते। मुझे ख़ुद इस बात में कोई आपत्ति नहीं कि विशुद्ध अंग्रेज़ी या यूरोपीय क्लब हों और शायद ही कोई हिंदुस्तानी उनमें घुसना चाहे। लेकिन जब इस सामाजिक बहिष्कार की बुनियाद साफ़ तौर से जातीयता पर होती है और जब शासक-वर्ग अपनी श्रेष्ठता का दिखावा करता है, तो इसका दूसरा पहलू हो जाता है। बंबई में एक मशहूर क्लब है, जिसमें (सिवाय एक नौकर की हैसियत से) किसी भी हिंदुस्तानी को चाहे वह किसी देशी रियासत का राजा ही क्यों न हो या बड़ा उद्योगपति ही क्यों न हो दर्शकों के कमरे तक में जाने पर प्रतिबंध था। जहांतक मुझे पता है, उस क्लब में इस तरह का प्रतिबंध अब भी है।

हिंदुस्तान में भेद-भाव अंग्रेज़ बनाम हिंदुस्तानी के रूप में नहीं है। यह ऐसा है कि एक तरफ़ यूरोपीय हैं और दूसरी तरफ़ एशियाई। हिंदुस्तान में हर एक यूरोपीय चाहे वह जर्मन हो पोल हो या रूमानियन ख़ुद-ब-ख़ुद शासक जाति का मेंबर बन जाता है। रेल के डिब्बों पर स्टेशन पर ठहरने के कमरों पर, पार्कों में बेंचों पर लिखा होता है—"सिर्फ़ यूरोपीयों के लिए।" दक्षिण अफ़्रीका में या दूसरी जगहों में ही यह कोई कम बुरी चीज़ नहीं है लेकिन ख़ुद अपने ही देश में यह चीज़ बहुत ज़्यादा अपमानजनक है और अपनी ग़ुलामी की याद दिलाती है।

यह सच है कि जातीय श्रेष्ठता और शाही अहंकार के इस ऊपरी दिखावे में धीरे-धीरे तबदीली होती जा रही है, लेकिन रफ्तार बहुत धीमी है और अकसर ऐसी घटनाएं होती रहती हैं जिनसे पता लगता है कि यह तबदीली सतही है। राजनैतिक दबाव और लड़ाकू राष्ट्रीयता के उत्थान से लाज़िमी तौर पर तबदीली होती है और पुराने भेद-भावों और रुकावटों को दरअसल कम करने की कोशिश होती है लेकिन फिर जब यह राजनैतिक आंदोलन एक विकट स्थिति में पहुंच जाता है और जब उसको कुचला जाता है तो फिर वही पुराना साम्राज्यवादी और जातीय अक्खड़पन पूरे तौर पर उभर पड़ता है।

अंग्रेज सज्जन और समझदार होते हैं लेकिन जब वे दूसरे देशों में जाते हैं तो उनमें अपने चारों तरफ की जानकारी का एक विचित्र अभाव होता है। हिंदुस्तान में यहां शासक-शासित संबंध की वजह से असली समझदारी मुश्किल होती है इस जानकारी का अभाव खासतौर से दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि यह सब इरादतन है, ताकि सिर्फ वही दिखें जो वे देखना चाहते हैं और बाकी उनके लिए आंखें बंद रखें। लेकिन निगाह बचाने से सच्चाई गायब तो हो नहीं जाती और जब यह जबरदस्ती ध्यान खींचती है, तो इस अप्रत्याशित घटना से इस तरह नाराजगी और झुंझलाहट होती है मानो कोई चाल चली गई हो।

इस वर्ण-व्यवस्था के देश में अंग्रेजों ने खासतौर से इंडियन सिविल सर्विसवालों ने एक नई जाति बनाई, जो बहुत सख्त है और सबसे अलग-थलग रहनेवाली है यहांतक कि उस जाति में सिविल सर्विस के हिंदुस्तानी सदस्य भी असलियत में शामिल नहीं हैं, हालांकि वे उसीका बिल्ला पहने रहते हैं और उसके नियमों का पालन करते हैं। इस जाति में अपनी निजी जबरदस्त अहमियत के बारे में धार्मिक निष्ठा की-सी भावना बन गई है और इस निष्ठा के आस-पास अपना एक पुराण तैयार हो गया है जो इसे बनाये रखता है। निहित स्वार्थों और निष्ठा का गठ-बंधन बहुत ताकतवर होता है और अगर उसे कोई चुनौती दी जाय तो उससे बड़ी तीखी नफ़रत और नाराजगी पैदा हो जाती है।

## ५ : बंगाल की लूट से इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति को मदद

सत्रहवीं सदी के शुरू में ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगल सम्राट से सूरत में एक फ़ैक्टरी चालू करने की इजाज़त मिल गई थी। कुछ साल बाद उन्होंने दक्खिन में कुछ जमीन खरीदी और मद्रास की बुनियाद डाली। सन १६६२ में पुर्तगाल की तरफ से दहेज की शक्ल में इंग्लैंड के चार्ल्स

द्वितीय को बंबई का टापू भेंट किया गया और उसने उसे कंपनी को दे दिया। सन १६९ में कलकत्ते की बुनियाद पड़ी। इस तरह सत्रहवीं सदी के आखिर तक अंग्रेजों को हिंदुस्तान में पैर रखने की कई जगहें मिल गई थीं और उन्होंने हिंदुस्तानी समुद्र-तट पर अपने कई अड्डे कायम कर लिये थे। वे अंदर की तरफ धीरे-धीरे बढ़े। सन १७५७ में प्लासी की लड़ाई से पहली बार उनके कब्जे में एक बहुत बड़ा प्रदेश आया और कुछ ही बरसों में बंगाल बिहार, उड़ीसा और पूर्वी तट उनके कब्जे में आ गये। दूसरा बड़ा कदम करीब चालीस साल बाद उन्नीसवीं सदी के शुरू में उठाया गया और इससे वे दिल्ली के दरवाजे तक आ पहुंचे। तीसरा अगला बड़ा कदम १८१८ में मराठों की आखिरी हार के बाद था और सिख-युद्ध के बाद १८४९ में चौथे कदम से तस्वीर ही पूरी हो गई।

इस तरह अंग्रेज मद्रास के शहर में २ बरसों से हैं, बंगाल बिहार वगैरह पर उनकी हुकूमत को १८७ बरस हो गये, दक्खिन की तरफ उन्होंने अपना राज्य करीब १४५ बरस पहले बढ़ाया। संयुक्त प्रांत मध्य-हिंदुस्तान और पच्छिमी हिंदुस्तान में जमे हुए उन्हें करीब १२५ साल हुए और पंजाब में वे ९५ बरस पहले जमे। (यह हिसाब सन १९४४ से जब यह किताब लिखी जा रही है, लगाया गया है) मद्रास का शहर एक बहुत छोटा-सा हिस्सा है और अगर उसे छोड़ दें तो बंगाल और पंजाब के कब्जे के बीच में सिर्फ १ साल का फर्क है। इस दौरान में ब्रिटिश नीति और हुकूमती ढंग में बार-बार तब्दीलियां होती रहीं। ये रद्दोबदल इंग्लैंड की नई तब्दीलियों और हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के पुनर्संगठन को ख्याल में रखते हुए हुई। हर नये जीते हुए हिस्से के साथ व्यवहार इन तब्दीलियों के मुताबिक अलग-अलग होता और साथ ही यह इस बात पर भी निर्भर होता कि जिस शासक-समुदाय को अंग्रेजों ने हराया था वह किस ढंग का था। इस तरह बंगाल में जहां जीत बहुत आसानी से हुई मुस्लिम जमींदारों को शासक-वर्ग समझा गया और ऐसी नीति अपनाई गई कि उनकी ताकत टूट जाय। दूसरी तरफ पंजाब में ताकत सिखों से छीनी गई थी और वहां अंग्रेजों और मुसलमानों में कोई बुनियादी झगड़ा नहीं था। हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से में अंग्रेजों के विरोधी मराठे रहे थे।

एक खास ध्यान देने की बात यह है कि हिंदुस्तान के वे हिस्से जो अंग्रेजों के कब्जे में सबसे ज्यादा अरसे से रहे हैं, आज सबसे ज्यादा गरीब हैं। असल में एक ऐसा नक्शा तैयार किया जा सकता है, जिससे ब्रिटिश राज्य-काल के फैलाव और क्रमिक निर्धनता की वृद्धि का घनिष्ठ संबंध प्रकट हो। कुछ बड़े

शहरों से या कुछ नये औद्योगिक प्रदेशों से इस बोझ में कोई बुनियादी फ़र्क नहीं आता। जो बात ध्यान देने की है वह यह है कि कुल मिलाकर आम जनता की हालत क्या है, और इस बात में कोई शक नहीं है कि हिंदुस्तान के सबसे ज्यादा गरीब हिस्से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से हैं। रहन-सहन का सबसे अच्छा मापदंड पंजाब में है। अंग्रेजों के आने से पहले बंगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रांत था। इन विषमताओं के कई कारण हो सकते हैं। लेकिन यह बात समझ पाना मुश्किल है कि बंगाल, जो इतना धनी और समृद्धिशाली था, ब्रिटिश-शासन के १८७ वर्षों में अंग्रेजों द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहां की जनता को खुदमुख्तारी की कला सिखाने की जबरदस्त कोशिशों के बावजूद आज गरीब, भूखे और मरते हुए लोगों का अभागा समूह है।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश-शासन का पहला पूरा तजुरबा बंगाल को हुआ। उस राज्य की शुरुआत खुल्लम-खुल्ला लूट-मार से हुई, और उसमें ज्यादा-से-ज्यादा जमीन का लगान सिर्फ जिंदा किसान से ही नहीं बल्कि उसके मरने पर भी वसूल किया जाता था। हिंदुस्तान के अंग्रेज इतिहासकार एडवर्ड टामसन और जी० टी० गैरट हमको बताते हैं कि "अंग्रेजों के दिमाग में दौलत के लिए इतना जबरदस्त लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज और पिजारो के युग के स्पेनवासियों के समय से लेकर आजतक उसकी मिसाल नहीं मिल सकती। खासतौर से बंगाल में तो उस वक्त तक शांति नहीं हो सकती थी जबतक कि वह चूसते-चूसते खोखला न रह जाय।" "इसके बाद कितने ही वर्षों तक अंग्रेजी व्यवहार की भयंकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव खासतौर से जिम्मेदार था"[1]—वही क्लाइव, वही साम्राज्य निर्माता जिसकी मूर्ति लंदन में इंडिया आफिस के सामने खड़ी है। यह तो खुली हुई लूट थी। 'पैगोडा वृक्ष' को बार बार हिलाया गया। यहांतक कि वह वक्त आया कि बंगाल को अत्यंत भयंकर अकालों ने बरबाद कर दिया। बाद में इस ढर्रे को तिजारत बताया गया लेकिन उससे क्या असर होता है? इस तिजारत को सरकार का नाम दिया गया और तिजारत क्या थी, खुली लूट थी। इस ढंग की मिसाल इतिहास में नहीं है। और यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि यह चीज अलग-अलग नामों में और अलग-अलग शक्लों में कुछ वर्षों तक ही नहीं बल्कि कई पीढ़ियों तक चलती रही। खुली और सीधी लूट-मार की जगह कानूनी हुलिया में शोषण ने ले ली और

---

[1] एडवर्ड टामसन और जी० टी० गैरेट: 'राइज एंड फुलफिलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (लंदन १९३४)।

हालांकि उसकी वजह से कुलापन कम हो गया लेकिन हालत बदतर हो गई। हिंदुस्तान में शुरू की पीढ़ियों में ब्रिटिश राज्य में जो हिंसा धन लोलुपता पक्षपात और अनैतिकता थी उसका अंदाज भी लगाना मुश्किल है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिंदुस्तानी शब्द जो अंग्रेजी भाषा में शामिल हो गया है, 'लूट' है। एडवर्ड टामसन ने कहा है और यह बात सिर्फ बंगाल के हवाले में ही नहीं कही गई है कि "ब्रिटिश हिंदुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है, जो शायद दुनिया भर में राजनैतिक लूट की सबसे बड़ी मिसाल है।

इस सबका नतीजा यहांतक कि शुरू के बरसों में ही इसका नतीजा यह हुआ कि १७७० का अकाल पड़ा जिसने बंगाल और बिहार की क़रीब एक-तिहाई आबादी का खात्मा कर दिया। लेकिन यह सब प्रगति के हक़ में हुआ था और बगाल इस बात पर घमंड कर सकता है कि इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की। अमरीकी लेखक ब्रुक ऐडम्स हमको बताते हैं कि यह किस तरह हुआ—'हिंदुस्तानी दौलत के (इंग्लैंड में) आने से और राष्ट्र की पूंजी में बहुत बड़ी बढ़वार हो जाने से सिर्फ उसकी ताक़त का भंडार ही नहीं बढ़ा बल्कि उससे उसकी गति में लचीलेपन के साथ-साथ बहुत तेजी भी आई। प्लासी के बाद बहुत जल्दी ही बंगाल की लूट लंदन में पहुंचने लगी और तुरंत ही उसका असर हुआ मालूम देता है, क्योंकि सब प्रामाणिक लेखक इस बात से सहमत हैं कि औद्योगिक क्रांति सन १७७० से शुरू हुई। प्लासी की लड़ाई १७५७ में हुई और उसके बाद जिस तेजी से तब्दीली हुई उसकी बराबरी की शायद कहीं भी मिसाल नहीं है। सन १७३३ में 'फ्लाइंग शटल' का आविष्कार हुआ और लकड़ी की जगह कोयले का इस्तेमाल शुरू हुआ। सन १७६४ में हारग्रीव्स ने 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार किया सन १७७९ में क्रॉम्पटन ने कातने की अपनी मशीन निकाली सन १७८५ में कार्टराइट ने शक्ति-संचालित करघा पेटेंट कराया और १७६८ में वाट ने अपना भाप का इंजन पूरा किया। हालांकि इन मशीनों से उस समय के गतिशील आंदोलनों की निकासी का रास्ता मिला लेकिन वह गति और तीव्रता उनकी वजह से नहीं थी। आविष्कार खुद तो गतिहीन होते हैं वे उस पर्याप्त शक्ति भंडार के इकट्ठा होने की प्रतीक्षा करते हैं जो उन्हें चालू करे। उस भंडार की शक्ति हमेशा ही रुपये के रूप में होगी—तिजोरी में इकट्ठा रुपया नहीं बल्कि फेर में पड़ा हुआ रुपया। हिंदुस्तान के खजाने के आने और उसके बाद जो रुपये की लेन-देन फैली उसके

यह सच है कि जातीय श्रेष्ठता और शाही अहंकार के इस ऊपरी दिखावे में धीरे-धीरे तबदीली होती जा रही है, लेकिन रफ्तार बहुत धीमी है और अक्सर ऐसी घटनाएं होती रहती हैं, जिनसे पता लगता है कि यह तबदीली सतही है। राजनैतिक दबाव और बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के उत्थान से लाजिमी तौर पर तबदीली होती है और पुराने भेद-भावों और रुकावटों को इरादतन कम करने की कोशिश होती है लेकिन फिर जब यह राज-नैतिक आंदोलन एक विकट स्थिति में पहुंच जाता है और जब उसको कुचला जाता है तो फिर वही पुराना साम्राज्यवादी और जातीय अक्खड़पन पूरे तौर पर उभर पड़ता है।

अंग्रेज सजग और समझदार होते हैं लेकिन जब वे दूसरे देशों में जाते हैं तो उनमें अपने चारों तरफ की जानकारी का एक विचित्र अभाव होता है। हिंदुस्तान में जहां शासक-शासित संबंध की वजह से असली समझदारी मुश्किल होती है इस जानकारी का अभाव खासतौर से दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि यह सब इरादतन है ताकि सिर्फ वही देखें जो वे देखना चाहते हैं और बाकी सबके लिए आंखें बंद रखें। लेकिन निगाह बचाने से सचाई गायब तो हो नहीं जाती और जब यह जबर-दस्ती ध्यान खींचती है तो इस अप्रत्याशित घटना से इस तरह नाराजगी और झुंझलाहट होती है मानो कोई चाल चली गई हो।

इस वर्ण-व्यवस्था के देश में अंग्रेजों ने खासतौर से इंडियन सिविल सर्विसवालों ने एक नई जाति बनाई, जो बहुत सख्त है और सबसे अलग-अलग रहनेवाली है यहांतक कि उस जाति में सिविल सर्विस के हिंदुस्तानी सदस्य भी असलियत में शामिल नहीं हैं, हालांकि वे तरीका विल्ला पहने रहते हैं और उसके नियमों का पालन करते हैं। उस जाति में अपनी निजी जबरदस्त अहमियत के बारे में धार्मिक निष्ठा की-सी भावना बन गई है और उस निष्ठा के आस-पास अपना एक पुराण तैयार हो गया है जो उसे बनाये रखता है। निहित स्वार्थों और निष्ठा का गठ-बंधन बहुत ताकतवर होता है और अगर उसे कोई चुनौती दी जाय तो उससे बड़ी तीखी नफरत और नाराजगी पैदा हो जाती है।

## २ बंगाल की लूट से इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति को मदद

सत्रहवीं सदी के शुरू में ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगल सम्राट से सूरत में एक फैक्टरी चालू करने की इजाजत मिल गई थी। कुछ साल बाद उन्होंने दक्खिन में कुछ जमीन खरीदी और मद्रास की बुनियाद डाली। सन १६६२ में पुर्तगाल की तरफ से दहेज की शक्ल में इंग्लैंड के चार्ल्स

द्वितीय को बंबई का टापू भेंट किया गया और उसने उसे कंपनी को दे दिया। सन १६९० में कलकत्ते की बुनियाद पड़ी। इस तरह सत्रहवीं सदी के आखिर तक अंग्रेजों को हिंदुस्तान में पैर रखने की कई जगहें मिल गई थीं और उन्होंने हिंदुस्तानी समुद्र-तट पर अपने कई अड्डे कायम कर लिये थे। वे अंदर की तरफ धीरे-धीरे बढ़े। सन १७५७ में प्लासी की लड़ाई से पहली बार उनके कब्जे में एक बहुत बड़ा प्रदेश आया और कुछ ही बरसों में बंगाल, बिहार, उड़ीसा और पूर्वी तट उनके कब्जे में आ गये। दूसरा बड़ा क़दम करीब चालीस साल बाद उन्नीसवीं सदी के शुरू में उठाया गया और इससे वे दिल्ली के दरवाजे तक आ पहुंचे। तीसरा अगला बड़ा क़दम १८१८ में मराठों की आखिरी हार के बाद था और सिक्ख-युद्ध के बाद १८४९ में चौथे क़दम से तस्वीर ही पूरी हो गई।

इस तरह अंग्रेज मद्रास के शहर में २ बरसों से हैं, बंगाल बिहार वग़ैरह पर उनकी हुकूमत को १८७ बरस हो गये, दक्खिन की तरफ़ उन्होंने अपना राज्य करीब १४१ बरस पहले बढ़ाया। संयुक्त प्रांत मध्य-हिंदुस्तान और पच्छिमी हिंदुस्तान में जमे हुए उन्हें करीब १२५ साल हुए और पंजाब में वे ९५ बरस पहले जमे। (यह हिसाब सन १९४४ से जब यह किताब लिखी जा रही है लगाया गया है) मद्रास का शहर एक बहुत छोटा-सा हिस्सा है और अगर उसे छोड़ दें तो बंगाल और पंजाब के क़ब्जे के बीच में सिर्फ़ १ साल का फ़र्क़ है। इस दौरान में ब्रिटिश नीति और हुकूमती ढंग में बार-बार तब्दीलियां होती रहीं। ये रद्दो-बदल इंग्लैंड की नई तब्दीलियों और हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के गठन को ख्याल में रखते हुए हुई। हर नये जीते हुए हिस्से के साथ व्यवहार इन तब्दीलियों के मुताबिक़ अलग-अलग होता और साथ ही यह इस बात पर भी निर्भर होता कि किस शासक-समुदाय को अंग्रेजों ने हराया था वह किस ढंग का था। इस तरह बंगाल में जहां जीत बहुत आसानी से हुई मुस्लिम जमींदारों को शासक-वर्ग समझा गया और ऐसी नीति अपनाई गई कि उनकी ताक़त टूट जाय। दूसरी तरफ़ पंजाब में ताक़त सिक्खों से छीनी गई थी और वहां अंग्रेजों और मुसलमानों में कोई बुनियादी झगड़ा नहीं था। हिंदुस्तान के ज्यादातर हिस्से में अंग्रेजों के विरोधी मराठे रहे थे।

एक खास ध्यान देने की बात यह है कि हिंदुस्तान के वे हिस्से जो अंग्रेजों के क़ब्जे में सबसे ज्यादा अरसे से रहे हैं, आज सबसे ज्यादा ग़रीब हैं। असल में एक ऐसा नक्शा तैयार किया जा सकता है, जिससे ब्रिटिश राज्य-काल के फैलाव और क्रमिक निर्धनता की वृद्धि का घनिष्ठ संबंध प्रकट हो। कुछ बड़े

यह सच है कि जातीय श्रेष्ठता और शाही अहंकार के इस ऊपरी दिखावे में धीरे-धीरे तबदीली होती जा रही है, लेकिन रफ्तार बहुत धीमी है और अक्सर ऐसी घटनाएं होती रहती हैं, जिनसे पता लगता है कि यह तबदीली सतही है। राजनैतिक दबाव और लड़ाकू राष्ट्रीयता के उत्थान से लाजिमी तौर पर तबदीली होती है और पुराने भेद-भावों और रुकावटों को इस्तेमाल कम करने की कोशिश होती है, लेकिन फिर जब यह राजनैतिक आंदोलन एक विकट स्थिति में पहुंच जाता है और जब उसको कुचला जाता है तो फिर वही पुराना साम्राज्यवादी और जातीय अक्खड़पन पूरे तौर पर उभर पड़ता है।

अंग्रेज सजग और समझदार होते हैं, लेकिन जब वे दूसरे देशों में जाते हैं, तो उनमें अपने चारों तरफ की जानकारी का एक विचित्र अभाव होता है। हिंदुस्तान में शासक-शासित संबंध की वजह से असली समझदारी मुश्किल होती है। इस जानकारी का अभाव खासतौर से दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि यह सब इरादतन है, ताकि सिर्फ वही देखें जो वे देखना चाहते हैं और बाकी सबके लिए आंखें बंद रखें। लेकिन निगाह बचाने से सचाई गायब तो हो नहीं जाती और जब यह अकसर उनका ध्यान खींचती है तो इस अप्रत्याशित घटना से इस तरह नाराजगी और झुंझलाहट होती है, मानो कोई चाल चली गई हो।

इस वर्ण-व्यवस्था के देश में अंग्रेजों ने खासतौर से इंडियन सिविल सर्विसवालों ने एक नई जाति बनाई, जो बहुत सख्त है और सबसे अलग अलग रहनेवाली है, यहां तक कि उस जाति में सिविल सर्विस के हिंदुस्तानी सदस्य भी असलियत में शामिल नहीं हैं, हालांकि वे उसीका लिबास पहने रहते हैं और उसके नियमों का पालन करते हैं। उस जाति में अपनी निजी जबरदस्त अहमियत के बारे में धार्मिक निष्ठा की-सी भावना बन गई है और उस निष्ठा के आस-पास अपना एक पुराण तैयार हो गया है, जो इसे बनाये रखता है। निहित स्वार्थों और निष्ठा का गठ-बंधन बहुत ताकतवर होता है और अगर उसे कोई चुनौती दी जाय तो उससे बड़ी तीखी नफरत और नाराजगी पैदा हो जाती है।

## २ बंगाल की लूट से इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति को मदद

सत्रहवीं सदी के शुरू में ईस्ट इंडिया कंपनी को मुगल सम्राट से सूरत में एक फैक्टरी चालू करने की इजाजत मिल गई थी। कुछ साल बाद उन्होंने दक्खिन में कुछ जमीन खरीदी और मद्रास की बुनियाद डाली। सन १६६२ में पुर्तगाल की तरफ से दहेज की शक्ल में इंग्लैंड के चार्ल्स

हालांकि उसकी वजह से बहशीपन कम हो गया लेकिन हालत बदतर हो गई। हिंदुस्तान में शुरू की पीढ़ियों में ब्रिटिश राज्य में जो हिंसा, धन-लोलुपता, पक्षपात और अनैतिकता थी उसका अंदाज भी लगाना मुश्किल है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिंदुस्तानी शब्द जो अंग्रेजी भाषा में शामिल हो गया है, 'लूट' है। एडवर्ड टामसन ने कहा है और यह बात सिर्फ बंगाल के हवाले में ही नहीं कही गई है कि "ब्रिटिश हिंदुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है, जो शायद दुनिया भर में राजनैतिक छल की सबसे बड़ी मिसाल है।

इस सबका नतीजा यहांतक कि शुरू के बरसों में ही इसका नतीजा यह हुआ कि १७७ का अकाल पड़ा जिसने बंगाल और बिहार की करीब एक-तिहाई आबादी को खत्म कर दिया। लेकिन यह सब प्रगति के हक में हुआ था और बंगाल इस बात पर घमंड कर सकता है कि इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की। अमरीकी लेखक ब्रुक ऐडम्स हमको बताते हैं कि यह किस तरह हुआ—"हिंदुस्तानी दौलत के (इंग्लैंड में) आने से और राष्ट्र की पूंजी में बहुत बड़ी बढ़वार हो जाने से सिर्फ उसकी ताकत का भंडार ही नहीं बढ़ा बल्कि उससे उसकी गति में लचीलेपन के साथ-साथ बहुत तेजी भी आई। प्लासी के बाद बहुत जल्दी ही बंगाल की लूट लंदन में पहुंचने लगी और फौरन ही उसका असर हुआ मालूम देता है, क्योंकि सब प्रामाणिक लेखक इस बात से सहमत हैं कि औद्योगिक क्रांति सन १७७ से शुरू हुई। प्लासी की लड़ाई १७५७ में हुई और उसके बाद जिस तेजी से तब्दीली हुई, उसकी बराबरी की शायद कहीं भी मिसाल नहीं है। सन १७६ में 'फ्लाइंग शटल' का आविष्कार हुआ और लकड़ी की जगह कोयले का इस्तेमाल शुरू हुआ। सन १७६४ में हारग्रीव्स ने 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार किया सन १७७६ में क्रांपटन ने कातने की अपनी मशीन निकाली सन १७८५ में कार्टराइट ने शक्ति-संचालित करघा पेटेंट कराया और १७६८ में वाट ने अपना भाप का इंजन पूरा किया। हालांकि इन मशीनों से उस समय के गतिशील आंदोलनों को निकलने का रास्ता मिला लेकिन वह गति और तीव्रता उनकी वजह से नहीं थी। आविष्कार खुद तो गतिहीन होते हैं; वे उस पर्याप्त शक्ति भंडार के इकट्ठा होने की प्रतीक्षा करते हैं, जो उन्हें चालू करे। उस भंडार की शक्ति हमेशा ही रुपये के रूप में होगी—तिजोरी में इकट्ठा रुपया नहीं बल्कि फेर में पड़ा हुआ रुपया। हिंदुस्तान के खजाने के आने और उसके बाद की रुपये की लेन-देन फैली उसके

शहरों से या कुछ नये औद्योगिक प्रदेशों से इस जांच में कोई बुनियादी फ़र्क़ नहीं आता। जो बात ध्यान देने की है, वह यह है कि कुल मिलाकर आम जनता की हालत क्या है और इस बात में कोई शक नहीं है कि हिंदुस्तान के सबसे ज्यादा गरीब हिस्से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से हैं। रहन-सहन का सबसे अच्छा मापदंड पंजाब में है। अंग्रेज़ों के आने से पहले *बंगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रांत था।* इन विषमताओं के कई कारण हो सकते हैं। लेकिन यह बात समझ पाना मुश्किल है कि बंगाल, जो इतना धनी और समृद्धिशाली था, ब्रिटिश-शासन के १ ७ वर्षों में अंग्रेज़ों द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहां की जनता को खुशहाली की दशा सिखाने की ज़बरदस्त कोशिशों के बावजूद आज गरीब, भूखे और मरते हुए लोगों का भयानक समूह है।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश-शासन का पहला पूरा तजुरबा बंगाल को हुआ। उस राज्य की शुरुआत खुल्लम-खुल्ला लूट-मार से हुई, और उसमें ज्यादा-से-ज्यादा ज़मीन का लगान सिर्फ़ ज़िंदा किसान से ही नहीं, बल्कि उसके मरने पर भी वसूल किया जाता था। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ इतिहासकार *एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरट* हमको बताते हैं कि *"अंग्रेज़ों के दिमाग में दौलत के लिए इतना ज़बरदस्त लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज़ और पिज़ारो के युग के स्पेनवासियों के समय से लेकर आजतक उसकी मिसाल नहीं मिल सकती। खासतौर से बंगाल में तो उस वक्त तक शांति नहीं हो सकती थी जबतक कि वह चूसते-चूसते खोखला न रह जाय।"* *"इसके बाद कितने ही वर्षों तक अंग्रेज़ी व्यवहार की भयंकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव खासतौर से ज़िम्मेदार था"*[1]—*वही क्लाइव वही साम्राज्य* निर्माता, जिसकी मूर्ति लंदन में इंडिया आफ़िस के सामने खड़ी है। यह तो खुली हुई लूट थी। 'पैगोडा वृक्ष' को बार-बार हिलाया गया। यहांतक कि वह वक्त आया कि बंगाल को अत्यंत भयंकर अकालों ने बरबाद कर दिया। बाद में इस ढर्रे को तिजारत बताया गया, लेकिन उससे क्या अंतर होता है? इस तिजारत को सरकार का नाम दिया गया और तिजारत क्या थी, खुली लूट थी। इस ढंग की मिसाल इतिहास में नहीं है। और यहां यह बात ध्यान में रखने की है, यह चीज़ अलग-अलग नामों में और अलग-अलग शक्लों में कुछ वर्षों तक ही नहीं, बल्कि कई पीढ़ियों तक चलती रही। खुली और सीधी लूट-मार की जगह क़ानूनी दुनिया में शोषण ने ले ली, और

[1] एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरेट : 'राइज़ एंड फुलफ़िल्मेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (लंदन १९३४)।

हालांकि उसकी वजह से सूनापन कम हो गया लेकिन हालत बदतर हो गई। हिंदुस्तान में शुरू की पीढ़ियों में ब्रिटिश राज्य में जो हिंसा धन-लोलुपता पक्षपात और अनैतिकता थी उसका अंदाज भी लगाना मुश्किल है। एक बात ध्यान देने की है कि एक हिंदुस्तानी शब्द जो अंग्रेजी भाषा में दाखिल हो गया है 'लूट' है। एडवर्ड टामसन ने कहा है और यह बात सिर्फ बंगाल के हवाले में ही नहीं कही गई है कि 'ब्रिटिश हिंदुस्तान के शुरू के इतिहास का ध्यान आता है, जो शायद दुनिया भर में राजनैतिक लूट की सबसे बड़ी मिसाल है।"

इस सबका नतीजा यहांतक कि शुरू के बरसों में ही इसका नतीजा यह हुआ कि १७७० का अकाल पड़ा जिसने बंगाल और बिहार की क़रीब एक-तिहाई आबादी को खत्म कर दिया। लेकिन यह सब प्रगति के शुरू में हुआ था और बंगाल इस बात पर घमंड कर सकता है कि इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति को जन्म देने में उसने बहुत मदद की। अमरीकी लेखक ब्रुक ऐडम्स हमको बताते हैं कि यह किस तरह हुआ— 'हिंदुस्तानी दौलत के (इंग्लैंड में) आने से और राष्ट्र की पूंजी में बहुत बड़ी बढ़वार हो जाने से सिर्फ उसकी ताक़त का भंडार ही नहीं बढ़ा बल्कि उससे उसकी गति में लचीलेपन के साथ-साथ बहुत तेजी भी आई। प्लासी के बाद बहुत जल्दी ही बंगाल की लूट लंदन में पहुंचने लगी और तुरंत ही उसका असर हुआ मालूम देता है क्योंकि सब प्रामाणिक लेखक इस बात से सहमत हैं कि औद्योगिक क्रांति सन् १७७० से शुरू हुई। प्लासी की लड़ाई १७५७ में हुई और उसके बाद जिस तेजी से तब्दीली हुई, उसकी बराबरी भी शायद कहीं भी मिसाल नहीं है। सन् १७६० में 'फ्लाइंग शटल' का आविष्कार हुआ और लकड़ी की जगह कोयले का इस्तेमाल शुरू हुआ। सन् १७६४ में हारग्रीव्स ने 'स्पिनिंग जेनी' का आविष्कार किया सन् १७७६ में क्रॉम्पटन ने कातने की अपनी मशीन निकाली सन् १७८५ में कार्टराइट ने शक्ति-संचालित करघा पेटेंट कराया और १७६८ में वाट ने अपना भाप का इंजन पूरा किया। हालांकि इन मशीनों से उस समय के गतिशील बारोबारों की निकासी का रास्ता मिला लेकिन वह गति और तीव्रता उनकी वजह से नहीं थी। आविष्कार खुद तो गतिहीन होते हैं वे उस पर्याप्त शक्ति भंडार के इकट्ठा होने की प्रतीक्षा करते हैं, जो उन्हें चालू करे। उस भंडार की शक्ति हमेशा ही रुपये के रूप में होगी— तिजोरी में इकट्ठा रुपया नहीं बल्कि फेर में पड़ा हुआ रुपया। हिंदुस्तान के खजाने के आने और उसके बाद जो रुपये की लेन-देन फैली उसके

पहरों से भी कुछ नये औद्योगिक प्रदेशों से इस बोझ में कोई बुनियादी फ़र्क नहीं आया। जो बात ध्यान देने की है, वह यह है कि कुल मिलाकर आम जनता की हालत क्या है और इस बात में कोई शक नहीं है कि हिंदुस्तान के सबसे ज्यादा गरीब हिस्से बंगाल, बिहार, उड़ीसा और मद्रास प्रेसीडेंसी के हिस्से हैं। रहन-सहन का सबसे अच्छा मापदंड पंजाब में है। अंग्रेजों के आने से पहले बंगाल निश्चित रूप से एक धनी और समृद्धिशाली प्रांत था। इन विषमताओं के कई कारण हो सकते हैं। लेकिन यह बात समझ पाना मुश्किल है कि बंगाल जो इतना धनी और समृद्धिशाली था ब्रिटिश-शासन के १ ३ वर्षों में अंग्रेजों द्वारा उसकी दशा सुधारने और वहां की जनता को खुशहाली की कला सिखाने की जबरदस्त कोशिशों के बावजूद आज गरीब, भूखे और मरते हुए लोगों का भयानक समूह है।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश-शासन का पहला पूरा तजुरबा बंगाल को हुआ। उस राज्य की शुरुआत खुल्लम-खुल्ला लूट-मार से हुई, और उसमें ज्यादा-से-ज्यादा जमीन का लगान सिर्फ जिंदा किसान से ही नहीं बल्कि उसके मरने पर भी वसूल किया जाता था। हिंदुस्तान के अंग्रेज इतिहासकार एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरट हमको बताते हैं कि "अंग्रेजों के दिमाग में दौलत के लिए इतना जबरदस्त लालच भरा हुआ था कि कोर्टेज और पिजारो के युग के स्पेनवासियों के समय से लेकर आजतक उसकी मिसाल नहीं मिल सकती। खासतौर से बंगाल में तो उस वक्त तक शांति नहीं हो सकती थी जबतक कि वह चूसते-चूसते खोखला न हो जाय।" "इसके बाद कितने ही वर्षों तक अंग्रेजी व्यवहार की भयंकर आर्थिक अनैतिकता के लिए क्लाइव खासतौर से जिम्मेदार था"[1]—यही क्लाइव वही साम्राज्य-निर्माता जिसकी मूर्ति लंदन में इंडिया आफिस के सामने खड़ी है। यह तो खुली हुई लूट थी। 'पैगोडा वृक्ष' को बार बार हिलाया गया। यहांतक कि वह वक्त आया कि बंगाल को अत्यंत भयंकर अकालों ने बरबाद कर दिया। बाद में इस ढर्रे को तिजारत बताया गया लेकिन उससे क्या अंतर होता है? इस तिजारत को सरकार का नाम दिया गया और तिजारत क्या थी, खुली लूट थी। इस ढंग की मिसाल इतिहास में नहीं है। और यहां यह बात ध्यान में रखने की है यह चीज़ अलग-अलग नामों में और अलग-अलग शक्लों में कुछ वर्षों तक ही नहीं बल्कि कई पीढ़ियों तक चलती रही। खुली और सीधी लूट-मार की जगह क़ानूनी हुलिया में शोषण ने ले ली और

[1] एडवर्ड टामसन और जी. टी. गैरेट: 'राइज एंड फुलफिलमेंट ऑफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया' (लंदन १९३४)।

प्रक्रिया से संघर्ष हुआ। लेकिन राजनैतिक और आर्थिक दबाव से इसकी रफ़्तार तेज़ कर दी गई और नये तरीक़ों को हिंदुस्तान में काम में लाने की कोई कोशिश नहीं हुई। दरअसल कोशिश तो इस बात की हुई कि ऐसा होने न पावे और इस तरह हिंदुस्तान की आर्थिक तरक़्क़ी को रोक दिया गया। हिंदुस्तान में मशीनें बाहर से मंगाई नहीं जा सकती थीं। एक ऐसी ख़ाली जगह पैदा हो गई थी जिसका सिर्फ़ विलायती माल से भरा जा सकता था और इसकी वजह से बड़ी तेज़ी से बेकारी और ग़रीबी बढ़ी। आधुनिक औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था क़ायम हुई और हिंदुस्तान औद्योगिक इंग्लैंड का एक खेतिहर उपनिवेश बन गया जो कच्चा माल देता और इंग्लैंड के तैयार माल को अपने यहाँ खपाता।

कारीगर-पेशा लोगों के ख़त्म हो जाने की वजह से बहुत बड़े पैमाने पर बेकारी फैली। ये करोड़ों आदमी जो अबतक तरह-तरह के सामान तैयार करने के काम में और अलग-अलग धंधों में लगे हुए थे अब क्या करते? ये कहाँ जाते? अब उनका पुराना पेशा खुला हुआ नहीं था और नये पेशे के लिए रास्ता रोका हुआ था। हाँ, वे मर सकते थे। असह्य हालत से बचने का यह रास्ता तो हमेशा खुला होता ही है और वे लाखों करोड़ों की तादाद में मरे भी। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ गवर्नर जनरल लार्ड बैंटिंक ने १८३४ में कहा— व्यापार के इतिहास में तकलीफ़ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है। जुलाहों की हड्डियाँ हिंदुस्तान के मैदानों को सफ़ेद किये हुए हैं।’’

फिर भी उनमें से बहुत बड़ी तादाद में लोग बच रहे और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश नीति देश के अंदरूनी हिस्सों में फैलती गई और बेकारी पैदा हुई, ऐसे लोगों की तादाद बढ़ती गई। इन झुंड-के-झुंड कारीगरों के पास कोई काम नहीं था और उनकी सारी पुरानी कारीगरी बेकार थी। इन लोगों ने ज़मीन की तरफ़ निगाह उठाई क्योंकि ज़मीन अब भी मौजूद थी। लेकिन ज़मीन पूरी तरह से घिरी हुई थी वह उनको फ़ायदे के साथ खपा नहीं सकती थी। इस तरह ये ज़मीन पर एक बोझ बन गए और यह बोझ बढ़ता गया और इसके साथ ही देश की ग़रीबी बढ़ती गई है और रहन-सहन का मापदंड बेहद गिर गया। हुनरवरों और कारीगरों के ज़मीन पर ज़बरदस्ती वापस जाने की हलचल से कृषि और उद्योग-धंधों का संतुलन बिगड़ता गया। धीरे-धीरे लोगों के लिए खेती ही अकेला धंधा रह गया क्योंकि और कोई ऐसा धंधा या काम नहीं था जिससे पैसा पैदा किया जा सके।

हिंदुस्तान का अधिकाधिक देहातीकरण होता गया। हर प्रगतिशील देश में

पहले इस काम के लिए काफ़ी शक्ति नहीं थी।

'शायद जब से दुनिया शुरू हुई है, किसी भी पूंजी से कभी भी इतना मुनाफ़ा नहीं हुआ जितना कि हिंदुस्तान की लूट से, क्योंकि क़रीब-क़रीब पचास बरस तक ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी मुक़ाबला करनेवाला नहीं था।'[1]

## ३ हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों और खेती की बरबादी

शुरू के ज़माने में ईस्ट इंडिया कंपनी का ख़ास काम और वह उद्देश्य जिसके लिए उसकी स्थापना हुई थी, यह था कि हिंदुस्तान से तैयार माल जैसे कपड़ा वग़ैरह और साथ ही मसालों को पूरब से यूरोप ले जाकर बेचा जाय, जहां इन चीज़ों की बहुत मांग थी। इंग्लैंड में औद्योगिक प्रक्रिया में उन्नति के साथ ही उद्योगपति पूंजीपतियों का एक नया वर्ग बना और इसने इस नीति में रद्दो-बदल की मांग पेश की। अब हिंदुस्तानी चीज़ों के लिए ब्रिटिश बाज़ार बंद करना और ब्रिटिश माल के लिए हिंदुस्तानी बाज़ार खोलना था। इस नये वर्ग का ब्रिटिश पार्लमेंट पर असर हुआ और वह हिंदुस्तान में और ईस्ट इंडिया कंपनी के कामकाज में ज़्यादा दिलचस्पी लेने लगा। शुरू में क़ानून के ज़रिये ब्रिटेन में हिंदुस्तानी माल पर रोक लगा दी गई और चूंकि हिंदुस्तान के निर्यात-व्यापार में ईस्ट इंडिया कंपनी का एकाधिकार था, इसलिए इस रोक का असर विदेशी बाज़ारों पर भी पड़ा। इसके बाद इस बात की ज़बरदस्त कोशिश हुई कि देश के अंदर ही ऐसे टैक्स वग़ैरह लगाये जायं कि हिंदुस्तानी माल कम जगह पहुंचे और महंगा पड़े और इस देश के अंदर ख़ुद हिंदुस्तानी माल का चलन रोका गया। दूसरी तरफ़ ब्रिटिश माल पर कोई रोक नहीं थी। हिंदुस्तानी कपड़े का कारबार नष्ट हो गया और जुलाहों व दूसरे लोगों की बहुत बड़ी तादाद पर इसका असर हुआ। बंगाल और बिहार में यह प्रक्रिया तेज़ थी और दूसरी जगहों में जैसे जैसे ब्रिटिश राज्य फैलता गया और रेलें बनती गईं, इसका धीरे धीरे असर हुआ। पूरी उन्नीसवीं सदी में यह सिलसिला जारी रहा और साथ ही कई पुराने धंधे भी बरबाद हो गये। इनमें पानी के जहाज़ बनाने का धंधा था, शीशे का, कागज़ का, धातुओं के काम करनेवालों का धंधा था और कई दूसरी तरह के धंधे थे।

कुछ हद तक यह लाज़िमी था, क्योंकि पुराने ढंग का नई औद्योगिक

---

ब्रुक ऐडम्स : 'दी लॉ ऑव सिविलिज़ेशन ऐंड डिके' (१८९८) पृष्ठ २५९-६०। मेज मिचेल द्वारा 'इंडिया' (१९४१) में उद्धृत।

प्रतिक्रिया से संघर्ष हुआ। लेकिन राजनैतिक और आर्थिक दबाव से इसकी रफ़्तार तेज कर दी गई और नये तरीक़ों को हिंदुस्तान में काम में लाने की कोई कोशिश नहीं हुई। दरअसल कोशिश तो इस बात की हुई कि ऐसा होने न पाये और इस तरह हिंदुस्तान की आर्थिक तरक्क़ी को रोक दिया गया। हिंदुस्तान में मशीनें बाहर से मंगाई नहीं जा सकती थीं। एक ऐसी खाली जगह पैदा हो गई थी जिसको सिर्फ़ ब्रिटिश माल से भरा जा सकता था और इसकी वजह से बड़ी तेज़ी से बेकारी और ग़रीबी बढ़ी। आधुनिक औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था क़ायम हुई और हिंदुस्तान औद्योगिक इंग्लैंड का एक खेतिहर उपनिवेश बन गया जो कच्चा माल देता और इंग्लैंड के तैयार माल को अपने यहां खपाता।

कारीगर-पेशा लोगों के ख़त्म हो जाने की वजह से बहुत बड़े पैमाने पर बेकारी फैली। वे करोड़ों आदमी जो अबतक तरह-तरह के सामान तैयार करने के काम में और अलग-अलग धंधों में लगे हुए थे अब क्या करते? वे कहां जाते? अब उनका पुराना पेशा खुला हुआ नहीं था और नये पेशे के लिए रास्ता रोका हुआ था। हां वे मर सकते थे असह्य हालत से बचने का यह रास्ता तो हमेशा खुला होता ही है और वे लोग करोड़ों की तादाद में मरे भी। हिंदुस्तान के अंग्रेज़ गवर्नर जनरल लार्ड बेंटिक ने १८३४ में कहा— व्यापार के इतिहास में तकलीफ़ की ऐसी दूसरी मिसाल पाना मुश्किल है। जुलाहों की हड्डियां हिंदुस्तान के मैदानों को सफ़ेद किये हुए हैं।'

फिर भी उनमें से बहुत बड़ी तादाद में लोग बच रहे और ज्यों-ज्यों ब्रिटिश नीति देश के अंदरूनी हिस्सों में फैलती गई और बेकारी पैदा हुई, ऐसे लोगों की तादाद बढ़ती गई। इन झुंड-के-झुंड कारीगरों के पास कोई काम नहीं था और उनकी सारी पुरानी कारीगरी बेकार थी। उन लोगों ने ज़मीन की तरफ़ निगाह उठाई, क्योंकि ज़मीन अब भी मौजूद थी। लेकिन ज़मीन पूरी तरह से घिरी हुई थी वह उनको फ़ायदे के साथ खपा नहीं सकती थी। इस तरह वे ज़मीन पर एक बोझा बन गये और यह बोझ बढ़ता गया और इसके साथ ही देश की ग़रीबी बढ़ती गई है और रहन-सहन का मापदंड बेहद गिर गया। दस्तकारों और कारीगरों के ज़मीन पर ज़बरदस्ती वापस आने की हलचल से कृषि और उद्योग-धंधों का संतुलन बिगड़ता गया। धीरे-धीरे लोगों के लिए खेती ही अकेला धंधा रह गया क्योंकि और कोई ऐसा धंधा या काम नहीं था जिससे पैसा पैदा किया जा सके।

हिंदुस्तान का अधिकाधिक देहातीकरण होता गया। हर प्रगतिशील देश में

शुरू नहीं हुआ था फिर भी उस अर्थ-व्यवस्था में से कई एक ऐसी चीजें निकली हुई थीं जिनसे पैसा पैदा किया जा सकता था। हिंदुस्तान आधुनिक औद्योगिक पूंजीवाद का बबस एजेंट बन गया जिसमें उसकी सारी बुराइयां तो थीं लेकिन फ़ायदा एक भी नहीं था।

जब यूरोप-वर्गों से पहले की अर्थ-व्यवस्था बदलकर पूंजीवादी औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था आती है, तो जन-साधारण को अपनी तकनीक़ की शक्ल में एक बहुत बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ती है और उसमें बहुत मुश्किलें होती हैं। शुरू में तो यह बात ख़ासतौर से थी जब ऐसी रद्दो-बदल के लिए या उसके दुष्परिणामों को कम करने के लिए कोई योजना नहीं बनाई जाती थी और हर एक चीज़ व्यक्तिगत सूझ और व्यक्तिगत प्रयत्न पर छोड़ दी जाती थी। इस रद्दो-बदल के दौरान में इंग्लैंड में भी यही मुश्किल थी लेकिन कुल मिलाकर यह बहुत ज़्यादा नहीं थी क्योंकि रद्दो-बदल बड़ी तेज़ी से हुई और जो कुछ बेकारी हुई, वह फ़ौरन ही नये कार-बार में खप गई। लेकिन इसके मानी यह नहीं है कि इंग्लैंड की तकनीक़ की शक्ल में उसकी क़ीमत अदा नहीं की गई। असलियत में उसका पूरा-पूरा भुगतान हुआ, लेकिन वह हुआ दूसरे लोगों के ज़रिये ख़ासतौर से हिंदुस्तान की जनता के ज़रिये। उसकी शक्ल थी अकाल मौत बेकारी। यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी यूरोप में औद्योगीकरण के सिलसिले में ज़्यादातर क़ीमत हिंदुस्तान ने चीन ने और दूसरे उपनिवेशों ने दी जिनकी अर्थ-व्यवस्था के संचालन पर यूरोपीय ताक़तों का असर था।

यह बात ज़ाहिर है कि औद्योगिक तरक़्क़ी के लिए हिंदुस्तान में बराबर साधन रहे हैं। यहां संगठन-सामर्थ्य है तकनीकी योग्यता है, हुनरदार काम करनेवाले हैं और हिंदुस्तान के लगातार शोषण के बाद भी कुछ पूंजी बच रही है। ब्रिटिश पार्लामेंट की जांच कमेटी के सामने सन् १८४० में गवाही देते हुए इतिहासकार मांटगुमरी मार्टिन ने कहा—"हिंदुस्तान की औद्योगिक सामर्थ्य उतनी ही है जितनी कि उसकी कृषि सामर्थ्य। और वह शख़्स जो उसे खेतिहर देश की ही हैसियत में लाना चाहता है वह उसे सभ्यता के पैमाने में गिराना चाहता है।" और हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों ने ठीक यही चीज़ करने की जी-जान से बराबर कोशिश की और हिंदुस्तान में एक सौ पचास बरस की हुकूमत के बाद उनको कितनी कामयाबी मिली है, इसका अंदाज़ हिंदुस्तान की मौजूदा हालत से हो सकता है। तबसे हिंदुस्तान में आधुनिक उद्योग-धंधों को बढ़ाने की मांग हुई है (और मेरा ऐसा ख़याल है कि यह मांग कम-से-कम १ बरस पुरानी है) इससे यह कहा जाता

है कि हिंदुस्तान तो खासतौर से खेतिहर देश है और यह उसके (हिंदुस्तान के) ही हित में है कि वह खेती से चिपका रहे। औद्योगिक बढ़वार से संतुलन बिगड़ सकता है और उससे उसके खास व्यवसाय—खेती को नुकसान हो सकता है। ब्रिटिश उद्योगपतियों और अर्थशास्त्रियों ने हिंदुस्तान के किसान के लिए जो चिंता प्रकट की है, वह तो सचमुच सहृदयता की चीज है। इस बात को ध्यान में रखते हुए, साथ ही हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार ने जो उसके लिए बड़ा भारी फिक्र दिखाया है उसका ध्यान में रखते हुए, कोई भी व्यक्ति सिर्फ इस नतीजे पर पहुंचेगा कि किसी सर्वशक्तिमान दुर्भाग्य ने किसी मानवोपरि शक्ति से उनके इरादों और उपायों को उलट दिया है और उस किसान को पृथ्वीतल के सबसे ज्यादा गरीब और सबसे ज्यादा दुखी प्राणियों में से एक बना दिया है।

अब किसी भी शख्स के लिए हिंदुस्तान की औद्योगिक तरक्की को रोकना मुश्किल है, लेकिन अब भी जब कभी कोई विस्तृत और व्यापक योजना तैयार की जाती है, तो हमारे ब्रिटिश दोस्त, जो हम पर अब भी अपनी सलाह की बौछार करते रहते हैं, इस बात की चेतावनी देते हैं कि खेती की अवहेलना न की जाय और उसको पहली जगह दी जाय। मानो कोई भी हिंदुस्तानी, जिसमें रत्ती भर भी अक्ल है, खेती की अवहेलना कर सकता है और किसान को भूला सकता है! हिंदुस्तानी किसान से ही हिंदुस्तान नहीं है तो और किससे है? उसकी ही तरक्की और बेहतरी पर हिंदुस्तान की तरक्की निर्भर होगी। लेकिन खेती-बारी का हमारा संकट, जो बहुत गंभीर है, असल में उद्योग के संकट से जिससे वह पैदा हुआ, जुड़ा हुआ है। दोनों का विच्छेद नहीं हो सकता और न उनका अलग-अलग निबटारा किया जा सकता है। उनके बीच जो असंतुलन है, उसको दूर करना जरूरी है।

आधुनिक उद्योग धंधों में पनपने की हिंदुस्तान की सामर्थ्य का अंदाज उस कामयाबी से हो सकता है जो आगे बढ़ने का मौका मिलने पर उसने दिखाई है। दरअसल यह कामयाबी हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार और ब्रिटेन के निहित स्वार्थों के जबरदस्त विरोध के बावजूद हुई है। उसको पहला असली मौका १९१४-१८ की लड़ाई के दौरान में मिला जब ब्रिटिश माल के आने में रुकावट हो गई। हिंदुस्तान ने उसका फायदा उठाया तो, लेकिन ब्रिटिश नीति की वजह से वह फायदा अपेक्षाकृत बहुत कम हद तक ही उठाया जा सका। तब से सरकार पर बराबर दबाव रहा है कि हिंदुस्तानी उद्योग-धंधों की तरक्की के लिए सारी रुकावटों और उन निहित स्वार्थों को जो रास्ता रोकते हैं दूर करके सुविधा दी जाय। जाहिरा तौर पर तो

सरकार ने इसे अपनी नीति के रूप में मंजूर कर लिया है लेकिन वैसे सरकार ने हर असली तरक्की का और खासतौर से बुनियादी धंधों की तरक्की को रोका है। खुद सन १९३५ के संविधान में यह बात खासतौर से साफ़ कर दी गई थी कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश उद्योग के निहित स्वार्थों के सिलसिले में हिंदुस्तानी विधानमंडल कोई दखल नहीं दे सकते थे। लड़ाई से पहले के सालों में बार-बार और बड़ी जोरदार कोशिशें हुईं कि बुनियादी और बड़े धंधे शुरू हो जायं लेकिन सबको सरकारी नीति ने मिटा दिया। लेकिन सरकारी रोक की सबसे ज्यादा आश्चर्यजनक मिसालें लड़ाई के दौरान में जब उत्पादन के लिए लड़ाई की जरूरत सबसे बड़ी थी देखने को मिली। हिंदुस्तानी उद्योग के प्रति ब्रिटिश अरुचि को पार कर सकने के लिए ये अहम जरूरतें भी काफ़ी नहीं हुईं। घटनाओं के वेग में उस उद्योग की तरक्की हुई है लेकिन दूसरे देशों के उद्योग की तरक्की के मुकाबले में या उस तरक्की के मुकाबले में जो यहां पर मुमकिन थी यह तरक्की नहीं के बराबर है।

हिंदुस्तानी उद्योग की तरक्की का शुरू में खुला विरोध था और बाद में उसकी जगह छिपे विरोध ने ले ली और वह भी उतना ही कारगर रहा है। यह सब ठीक उसी तरह था जैसे खुले नजराने की जगह चुंगी आबकारी और उत्पादन-कर ने ली और आर्थिक तथा मुद्रा नीतियां बनीं जिनसे हिंदुस्तान के खर्च पर ब्रिटेन का लाभ होता था।

बहुत अरसे तक गुलामी में रहने से और आजादी के अभाव से कई बुराइयां होती हैं और शायद इनमें सबसे बड़ी मानसिक क्षेत्र में होती है। नैतिक गिरावट होता है और जनता का उत्साह खत्म हो जाता है। चाहे यह स्पष्ट ही हो लेकिन इसको नापना मुश्किल है। किसी राष्ट्र के आर्थिक ह्रास के क्रम को देखना या उसको नापना ज्यादा आसान है। जब हम हिंदुस्तान में ब्रिटिश आर्थिक नीति को पीछे फिरकर देखते हैं तो यह मालूम होता है कि हिंदुस्तान की जनता की मौजूदा गरीबी इस नीति का लाजिमी नतीजा है। इस गरीबी के बारे में कोई रहस्य नहीं है हम उसकी वजहें देख सकते हैं और उन तरीक़ों को भी देख सकते हैं जिनसे मौजूदा हालत आई है।

## ४ राजनैतिक और आर्थिक हैसियत से हिंदुस्तान पहली बार एक दूसरे देश का पुछल्ला बनता है

हिंदुस्तान के लिए यहां पर ब्रिटिश राज्य की स्थापना एक बिलकुल नई चीज थी और उसका किसी दूसरे हमले से या राजनैतिक और आर्थिक

रहो-बदम से मिमान नहीं किया जा सकता था। "हिंदुस्तान पहले भी जीता जा चुका था लेकिन उन लोगों द्वारा जो उसकी सीमाओं के ही अंदर बस गये और जिन्होंने अपने-आपको उसकी जिंदगी में शामिल कर लिया। (ठीक उसी तरह जैसे नार्मन लोगों ने इंग्लैंड को और मंचू लोगों ने चीन को जीता)। उसने (हिंदुस्तान ने) अपनी आजादी कभी भी नहीं खोई थी और वह कभी भी गुलाम नहीं बना था। कहने का मतलब यह है कि वह कभी भी ऐसे आर्थिक या राजनैतिक ढांचे में नहीं बंधा था जिसका संचालन-केंद्र उसकी सीमाओं के बाहर था और वह कभी भी किसी ऐसे शासक-वर्ग के मातहत नहीं रहा था जो हर तरह से स्थायी रूप से विदेशी था।"[1] पहले सारे शासक-वर्ग चाहे वे देश से बाहर से आये हों या देश के अंदर के ही रहे हों हिंदुस्तान के सामाजिक और आर्थिक जीवन की बनावट के ढंग को मंजूर करते और उन्होंने उस ढांचे से अपना मेल बिठाने की कोशिश की। उस शासक-वर्ग ने हिंदुस्तानियत अपना ली और उसकी जड़ें इस देश में ही गहरी जम गयीं। ये नये शासक बिलकुल दूसरे ढंग के थे,जिनकी बुनियाद दूसरी जगह थी और उनमें और औसत हिंदुस्तानियों में एक बड़ी खाई थी जिसका भरना कठिन था। उनकी परंपरा में उनके दृष्टिकोण में उनकी आमदनी में और उनके रहन-सहन के तरीकों में फ़र्क था। हिंदुस्तान में आनेवाले एक के अपेक्षा ने इंग्लैंड से अलग हो जाने पर हिंदुस्तान के रहने के ढंग-से दूर अपना लिये। लेकिन यह सिर्फ एक ऊपरी चीज थी और जब हिंदुस्तान और इंग्लैंड में आने-जाने की सुविधाएं बढ़ गईं तो इसको भी इरादतन छोड़ दिया गया। यह महसूस किया गया कि ब्रिटिश शासक-वर्ग को हिंदुस्तानियों से बिलकुल अलग एक अपनी ही ऊंची दुनिया में रहते हुए अपनी शान बनाये रखनी चाहिए। दो दुनियाएं थीं एक अंग्रेज अफसरों की दुनिया और दूसरी हिंदुस्तान के करोड़ों आदमियों की दुनिया और उन दोनों में सिवाय एक-दूसरे को नफरत के और कोई एक-सी बात नहीं थी। पहले जातियां एक-दूसरे में घुल गई थीं या कम-से कम ऐसे ढांचे में बैठ गई थीं जिसमें लोग एक-दूसरे पर भरोसा करते थे। अब भेद भाव का बोल-बाला था और यह इस बात से और बढ़ गया कि अधिपति-जाति के पास राजनैतिक और आर्थिक शक्ति थी और उसमें किसी तरह की रुकावट नहीं थी और न उस पर कोई प्रतिबंध था।

नया पूंजीवाद सारी दुनिया में जो बाजार तैयार कर रहा था उससे

[1] के एस शेलवंकर: 'दि प्रॉबलम ऑव इंडिया' (पेंग्विन स्पेशल, लंदन १९४ )।

हर सूरत में हिंदुस्तान के आर्थिक ढांचे पर असर होता। ऐसे गांव जहां बाहरी मदद की जरूरत न थी और जहां परंपरा से धंधे आपस में बंटे हुए थे अब अपनी पुरानी शक्ल में बच नहीं सकते थे। लेकिन जो तबदीली हुई वह स्वाभाविक क्रम में नहीं थी और उसने हिंदुस्तानी समाज की सारी आर्थिक बुनियाद को तहस-नहस कर दिया। एक ऐसा ढांचा जिसके पीछे सामाजिक अनुमति और नियंत्रण था और जो जनता की सांस्कृतिक विरासत का हिस्सा था अचानक ही अपने-आप बदल दिया गया और एक दूसरा ढांचा जिसका संचालन बाहर से होता था लाद दिया गया। हिंदुस्तान दुनिया के बाजार में नहीं आया बल्कि वह ब्रिटिश ढांचे की एक नौआबादी और खेतिहरी की हैसियत रखनेवाला पुछल्ला बन गया।

गांवों का संगठन जो अबतक हिंदुस्तानी अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद में रहा था छिन्न-भिन्न हो गया और उसके आर्थिक और व्यवस्था-संबंधी काम दोनों ही जाते रहे। सन १८३१ में सर चार्ल्स मेटकाफ ने जो हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों में सबसे काबिल लोगों में था इन गांवों के संगठनों के बारे में जो शब्द कहे हैं, वे अकसर दुहराये गये हैं— 'ग्राम्य जातियां छोटे छोटे गणराज्यों की तरह हैं, जिनके पास अपनी जरूरत की करीब-करीब सभी चीजें हैं। वे बाहरी रिश्तों से करीब-करीब आजाद हैं। ऐसा मालूम होता है कि उनका स्थायित्व वहां भी है जहां और चीजों का नहीं है। इन ग्राम्य जातियों के जिनमें हर एक की एक अलग आजाद सत्ता है, इस संघ से बहुत ऊंचे दर्जे का सुख और सुविधाएं प्राप्त हैं और बहुत हद तक आजादी और स्वावलंबन का उपयोग होता है।

गांवों के धंधों की बरबादी से इन लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन बिगड़ गया श्रम का परंपरा से चला आता विभाजन टूट गया और अलग-अलग कामवाले आदमियों की इस बहुत बड़ी तादाद को किसी समुदाय के काम में आसानी से नहीं लगाया जा सकता था। जमींदारी प्रथा के जारी करने से जमीन की मिल्कियत के बारे एक बिलकुल नई धारणा बनी और उससे इन लोगों पर एक और जबरदस्त चोट हुई। अबतक जो धारणा थी उसमें जमीन पर तो इतना नहीं बल्कि जमीन की उपज पर खासतौर से सामूहिक स्वामित्व था। शायद अंग्रेज अफसर इसको पूरी-पूरी तरह समझ नहीं पाये लेकिन शायद कुछ अपनी वजहों से उन्होंने खासतौर पर इरादतन अंग्रेजी व्यवस्था जारी की। वे खुद भी तो अंग्रेजों के जमींदार-वर्ग के प्रतिनिधि थे। शुरू में तो उन्होंने छोटे-छोटे अरसों के लिए मालगुजार नियुक्त किये यानी वे लोग जिन पर जमीन का लगान

या मालगुजारी वसूल करने और उसको सरकार को अदा करने की जिम्मेदारी थी। बाद में यही लोग बढ़कर जमींदार हो गये। जमीन और उसकी उपज पर से गांवपंचायत का काबू हटा दिया गया। अबतक उस समूची जाति के लिए जो विशेष हित या विशेष स्वार्थ था अब वह इस नये जमीन के मालिक की निजी संपत्ति हो गई। इससे ग्राम्य जाति की मिली-जुली और सहयोगपूर्ण जिन्दगी की व्यवस्था टूट गई और धीरे-धीरे सहयोगपूर्ण काम और पंचायत का ढांचा भी गायब होने लगा।

जमीन को इस ढंग से जायदाद बना देने से सिर्फ एक बड़ा आर्थिक परिवर्तन ही नहीं हुआ बल्कि उसका असर ज्यादा गहरा हुआ और उसने सहयोगपूर्ण सामुदायिक सामाजिक ढांचे की सारी हिंदुस्तानी धारणा पर ही चोट की। जमीन के मालिकों का एक नया वर्ग सामने आया एक ऐसा वर्ग जिसको ब्रिटिश सरकार ने खड़ा किया था और जो बहुत हद तक उस सरकार से मिला-जुला था। पुराने ढांचे के टूटने से नई समस्याएं पैदा हुई और शायद इस नई हिंदू-मुस्लिम समस्या की शुरुआत यहीं पर पाई जा सकती है। जमींदारी प्रथा पहले-पहल बंगाल और बिहार में जारी की गई जहां उस ढांचे में जो स्थायी बंदोबस्त के नाम से मशहूर है, बड़े बड़े जमींदार बनाये गये बाद में यह महसूस किया गया कि यह व्यवस्था सरकार के लिए फायदेमंद नहीं है क्योंकि मालगुजारी कम थी और बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इसलिए हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में कुछ निश्चित समय के ही लिए नया बंदोबस्त किया गया। यहां समय-समय पर मालगुजारी बढ़ती रही। कुछ सूबों में किसानों को ही मालिक बनाया गया। मालगुजारी की वसूलयाबी में बेहद सख्ती की वजह से सभी जगह और खासतौर से बंगाल में यह नतीजा हुआ कि पुराने जमीन के मालिक बरबाद हो गये और उनकी जगह नये मालदार व्यापारियों ने ले ली। इस तरह से बंगाल खासतौर से हिंदू जमींदारों का सूबा हो गया और हालांकि उनके काश्तकार हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे लेकिन उनमें ज्यादातर मुसलमान ही थे।

अंग्रेजों ने अपने अंग्रेजी नमूने के बड़े-बड़े जमींदार बनाये और इसकी खास वजह यह थी कि कुछ थोड़े-से आदमियों से बरतना और निबटना कहीं ज्यादा आसान था बनिस्बत इसके कि काश्तकारों की एक बहुत बड़ी तादाद से सीधा व्यवहार किया जाय। मकसद तो यह था कि लगान की शक्ल में ज्यादा से ज्यादा रुपया जल्दी-से जल्दी वसूल किया जाय। अगर जमीन का मालिक ठीक समय में काम न कर पाता तो फौरन उसको निकाल दिया जाता

और उसकी जगह दूसरे को दे दी जाती। साथ ही यह बात भी जरूरी समझी गई कि एक ऐसा वर्ग भी पैदा कर लिया जाय जिसके स्वार्थ और अंग्रेजों के स्वार्थ एक हों। हिंदुस्तान के ब्रिटिश अधिकारियों के दिमाग में विद्रोह का डर भरा हुआ था और उन्होंने अपने कामकाज में इसका बार-बार जिक्र किया। गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने १८२९ में कहा था—"अगर व्यापक सार्वजनिक उपद्रव या क्रांति के खिलाफ़ सुरक्षा का भाव था तो मैं यह कहूंगा कि हालांकि स्थायी बंदोबस्त कई ढंग से खराब रहा है लेकिन उसमें कम-से-कम यह फ़ायदा जरूर है कि उसने मालदार जमींदारों का एक ऐसा बहुत बड़ा समुदाय यकीनी तौर पर पैदा कर दिया है, जिसका ब्रिटिश राज्य के जारी रखने में बहुत बड़ा स्वार्थ है और जिसका आम जनता पर पूरा क़ाबू है।"

इस तरह से ब्रिटिश राज्य ने ऐसे वर्ग बनाये और निहित स्वार्थ क़ायम किये जो उस राज्य से बंधे हुए थे और ऐसी रियायतों या विशेषाधिकार लिये जो उस राज्य के बने रहने पर ही निर्भर थे और उनके जरिये उसने (ब्रिटिश राज्य ने) अपने-आपको मुदृढ़ किया। जमींदार थे राजा और नवाब लोग थे और साथ ही सरकार के विभिन्न महकमों में पटवारी और गांव के मुखिया से लेकर और बड़े-बड़े अहलकार और नौकर थे। सरकार के दो खास महकमे थे एक मालगुजारी का दूसरा पुलिस का। इन दोनों महकमों के सिर पर हर जिले में कलक्टर या जिला मजिस्ट्रेट होता था जो हुकूमत की धुरी था। अपने जिले में वह निरंकुश रूप से काम करता और उसके हाथों में पुलिस न्याय मालगुजारी और हुकूमत के सारे कामों की बागडोर होती। अगर उसके इलाक़े से लगी हुई कोई छोटी-सी देसी रियासत होती तो वह उसके लिए ब्रिटिश एजेंट का काम देता।

इसके अलावा हिंदुस्तानी फ़ौज थी जिसमें अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों सिपाही होते लेकिन अफ़सर सिर्फ़ अंग्रेज ही होते। इसका बराबर खास तौर से १८५७ के विद्रोह के बाद पुनर्संगठन किया गया और आखिरकार यह संगठन के लिहाज से ब्रिटिश फ़ौज से ही जोड़ दी गई। इसका इंतजाम इस तरह किया गया कि उसके मुख्तलिफ़ हिस्सों में एक समतौल बना रहे और बड़ी चाबी अंग्रेजों के पास रहे। "मुख्य बात तो यह है कि काफ़ी यूरोपीय फ़ौजों के जरिये स्थिति पर क़ाबू रहे, नहीं तो मुल्क के लोगों का एक-दूसरे के खिलाफ़ जोड़-तोड़ लगाया जाय।" यही बात १८५८ की फ़ौजी पुनर्संगठन के सिलसिले में सरकारी रिपोर्ट में कही गई है। इस फ़ौज का सबसे पहला काम यह था जो एक क़ब्जा जमाये रखनेवाली फ़ौज का होता है। इसकी

अंदरूनी-सुरक्षा-फ़ौज' कहा जाता था और इसका ज्यादा हिस्सा ब्रिटिश था। सरहदी सूबे में हिंदुस्तानी खर्चे पर अंग्रेजी फ़ौजों के सीखने का मैदान क़ायम रखा था। 'फ़ील्ड आर्मी' जिसमें ज्यादातर हिंदुस्तानी थे विदेशों में लड़ने के लिए थी और उसने कई ब्रिटिश साम्राज्यवादी लड़ाइयों में हिस्सा लिया और उसके खर्चे का बोझ हिंदुस्तान पर डाला गया। इस बात का भी इंतजाम किया गया कि हिंदुस्तानी फ़ौज बाक़ी आबादी से अलग रहे।

इस तरह हिंदुस्तान को (अंग्रेजों द्वारा) अपने जीते जाने का फिर ईस्ट-इंडिया कंपनी से ब्रिटिश ताज के हाथों में पहुंचने का ब्रिटिश साम्राज्य का बरमा आदि दूसरी जगहों में फैलने का अफ़रीका फ़ारस आदि पर चढ़ाई का और खुद हिंदुस्तानियों से ही अपनी हिफ़ाजत का खर्च भुगतना पड़ा। साम्राज्यवादी अफ़सरों के लिए इसे सिर्फ़ फ़ौजों के अड्डे की तरह ही नहीं बरता गया और उसके लिए इसे कुछ देना तो दूर रहा बल्कि इसके अलावा ब्रिटिश फ़ौज की इंग्लैंड में शिक्षा के लिए भी उसका खर्च देना होता था। इस रकम को 'कैपिटेशन' शीर्षक में लिखा जाता था। असल में ब्रिटेन के हर ढंग के कामों का मसलन चीन और फ़ारस में कूटनीतिक या राजनैतिक प्रतिनिधियों के रखने का खर्च हिंदुस्तान से इंग्लैंड तक की टेलीग्राफ़ लाइन का पूरा खर्च भूमध्य सागर में जहाजी बेड़े को रखने के खर्च का एक हिस्सा और यहांतक कि लंदन में तुर्की के सुल्तान के स्वागत करने तक का खर्च हिंदुस्तान को ही देना होता था।

यक़ीनी तौर पर हिंदुस्तान में रेलों का बनाना बहुत जरूरी और अच्छा था लेकिन उसमें बेहद फ़िजूलखर्ची की गई। हिंदुस्तानी सरकार ने इस सारी पूंजी पर जो उसमें लगी ५ प्रतिशत ब्याज देने की गारंटी कर दी और कितने खर्चे की वाजिब ढंग से जरूरत थी उसका अंदाज या इसकी जांच करना भी जरूरी नहीं समझा। सारी खरीदारियां इंग्लैंड में हुईं।

सरकार का मुल्की ढांचा भी फ़िजूलखर्ची से भरा हुआ था और उसमें ऊंची तनख्वाहोंवाली जगहें यूरोपियों के लिए सुरक्षित थीं। हुकूमती मशीन के हिंदुस्तानी बनाने की रफ़्तार बहुत धीमी थी और वह भी सिर्फ़ बीसवीं सदी में ही नजर आई। यह प्रक्रिया हिंदुस्तानी हाथों में ताक़त लाने की बजाय ब्रिटिश राज्य को मजबूत करने का एक और दूसरा तरीक़ा साबित हुई। अहमी मार्के की जगहें ब्रिटिश हाथों में रहीं और हुकूमत में हिंदुस्तानी ब्रिटिश राज्य के एजेंटों की तरह ही काम कर सकते थे।

इन सब तरीक़ों के अलावा यह नीति थी जो ब्रिटिश राज्य के युग में बराबर जान बूझ कर बरती गई जिसमें हिंदुस्तानियों में फूट डाली गई

और एक गिरोह को दूसरे गिरोह की क़ीमत पर बढ़ावा दिया गया। ब्रिटिश राज्य के शुरू के ज़माने में इस नीति को खुले तौर पर मंज़ूर किया गया और असल में एक साम्राज्यवादी ताक़त के लिए यह नीति स्वाभाविक थी। राष्ट्रीय आंदोलन की तरक़्क़ी के साथ उस नीति ने एक फ़िक्रवाली और ज़्यादा ख़तरनाक शक्ल ले ली और हालांकि इस नीति की मौजूदगी को माना नहीं गया लेकिन उसको पहले से भी ज़्यादा तेज़ी के साथ बरता गया।

हमारी आज की क़रीब-क़रीब सारी बड़ी समस्याएं, मसलन राजा और नवाब, अल्पसंख्यक समस्या, विभिन्न देशी और विदेशी निहित स्वार्थ, उद्योग-धंधों का अभाव और खेती की अवहेलना, सामाजिक सेवाओं का बेहद पिछड़ापन और जनता की भयंकर ग़रीबी ब्रिटिश राज्य के दौरान में ही और ब्रिटिश नीति के परिणामस्वरूप ही पैदा हुई हैं। शिक्षा की तरफ़ एक ख़ास ढंग का रुख़ रहा है। केये की 'लाइफ़ ऑव मेटकाफ़' में कहा गया है कि "ज्ञान के विस्तार का यह डर एक बड़ा रोग बन गया जो सरकारी अधिकारियों को हर तरह की चिंता में डालकर बेहद परेशान करता और छापेखानों और बाइबिलों की बाबत सोचकर उनके रोंगटे खड़े हो जाते। उन दिनों हमारी यह नीति थी कि हिंदुस्तान के रहनेवालों को ज़्यादा-से-ज़्यादा बर्बरतापूर्ण हालत में और अंधेरे में रखा जाय और उनमें किसी भी ढंग से ज्ञान का प्रकाश फैलाने की कोशिश का, चाहे वह हमारी तरफ़ से होती या और किसी तरफ़ से, ज़ोरदार विरोध किया जाता।"[1]

साम्राज्यवाद को इसी ढंग से काम करना होता है, नहीं तो वह साम्राज्यवाद नहीं रहता। आधुनिक ढंग के आर्थिक साम्राज्यवाद से नये ढंग का आर्थिक शोषण शुरू हुआ, जो पहले युगों में प्रचलित नहीं था। उन्नीसवीं सदी में हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के इतिहास से एक हिंदुस्तानी को लाज़िमी तौर पर मायूसी और नाराज़गी होगी, फिर भी कितने ही क्षेत्रों में अंग्रेज़ों की श्रेष्ठता का और यहां तक कि हमारी कमज़ोरियों और फूट का भी फ़ायदा उठाने की उनकी सामर्थ्य का पता लगता है। वह जनता जो कमज़ोर होती है और जो समय की चाल में पीछे रह जाती है, परेशानियों को न्योता देती है, और अंत में वह खुद ही दोषी होती है। अगर उन परिस्थितियों में घटनाओं के स्वाभाविक क्रम में ब्रिटिश साम्राज्यवाद और उसके नतीजों की आशा की जा सकती थी तो साथ ही उसका विरोध भी लाज़िमी था और उन दिनों में अंतिम संघर्ष भी लाज़िमी था।

---

[1] एडवर्ड थामसन द्वारा उद्धृत।

## ५ हिंदुस्तानी रियासतें

आज हिंदुस्तान में हमारी एक बहुत बड़ी समस्या रजवाड़ों या देसी रियासतों की है। ये रियासतें दुनिया-भर में अपने ढंग की अनोखी हैं और उनमें आपस में राजनैतिक और सामाजिक हालतों में और लंबाई-चौड़ाई में बहुत बड़ा फ़र्क है। गिनती में ये ६ १ हैं। इनमें से क़रीब १५ काफ़ी बड़ी समझी जा सकती हैं और इनमें सबसे बड़ी रियासतें हैं—हैदराबाद काश्मीर, मैसूर ट्रावनकोर बड़ौदा ग्वालियर, इंदौर, कोचीन जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, भोपाल और पटियाला। कुछ मझोली रियासतें हैं और फिर कई सौ छोटी-छोटी रियासतें हैं जिनके रक़बे बहुत कम हैं, यहांतक कि इनमें से कुछ तो नक़्शे में सुई की नोक से भी ज़्यादा बड़ी नहीं हैं। ये छोटी रियासतें ज़्यादातर काठियावाड़ पच्छिमी हिंदुस्तान और पंजाब में हैं।

इनमें से कुछ रियासतें इतनी बड़ी हैं जितना फ़ांस है, और कुछ एक औसत किसान के खेत के ही बराबर है। लेकिन उनमें इसके अलावा और भी कितने ही ढंग के फ़र्क हैं। उद्योग-धंधों के लिहाज़ से मैसूर सबसे ज़्यादा उन्नत है शिक्षा के लिहाज़ से मैसूर ट्रावनकोर और कोचीन ब्रिटिश भारत से बहुत आगे हैं।[1] वैसे ज़्यादातर रियासतें बहुत ज़्यादा पिछड़ी हुई हैं और कुछ तो बिलकुल सामंती हैं। ये सभी निरंकुश हैं हालांकि उनमें से कुछ में आम लोगों के ज़रिये चुनी हुई कौंसिलें क़ायम कर दी गई हैं जिनके अधिकार बहुत ज़्यादा सीमित हैं। हैदराबाद में जो सबसे बड़ी रियासत है, एक अजीब ढंग की सामंती हुकूमत है और वहां पर नागरिक स्वतंत्रता तो नहीं के बराबर है। यही दशा राजपूताना और पंजाब की ज़्यादातर रियासतों की है। नागरिक स्वतंत्रता का अभाव तो सभी रियासतों में दिखाई देता है।

ये रियासतें इकट्ठी नहीं हैं। ये सारे हिंदुस्तान में फैली हुई हैं और टापुओं की तरह हैं और ग़ैर-रियासती हिस्सों से घिरी हुई हैं। इनकी बहुत बड़ी तादाद एक अर्ध-स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था को भी क़ायम रखनी

[1] सार्वजनिक शिक्षा के लिहाज़ से ट्रावनकोर, कोचीन मैसूर और बड़ौदा ब्रिटिश भारत से बहुत आगे हैं। यह एक बड़ी दिलचस्प बात है कि ट्रावनकोर में सार्वजनिक शिक्षा का संगठन सन १८ १ से शुरू हुआ, (इंग्लैंड में यह सन १८७ से शुरू हुआ।) इस वक़्त ट्रावनकोर में पुरुषों की साक्षरता ५८ प्रतिशत है और स्त्रियों की साक्षरता ४१ प्रतिशत है। ब्रिटिश भारत की साक्षरता से यह चौगुनी से भी ज़्यादा है। ट्रावनकोर में सार्वजनिक स्वास्थ्य का भी संगठन ज़्यादा अच्छा है। ट्रावनकोर में सार्वजनिक सभाओं और कार्रवाइयों में स्त्रियां एक अहम हिस्सा लेती हैं।

में असमर्थ हैं यहाँतक कि उनमें से सबसे बड़ी रियासत भी अपनी स्थिति की वजह से और अपने पड़ोसी हिस्सों के पूरे-पूरे सहयोग के बिना अपनी अर्थ-व्यवस्था नहीं चला सकतीं। अगर रियासती और ग़ैर-रियासती हिंदुस्तान में आर्थिक संघर्ष हो तो रियासतों को आर्थिक प्रतिबंधों और टैक्स वग़ैरह के ज़रिये झुकाया जा सकता है। यह बात बिलकुल साफ़ है कि राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही दृष्टि से ये रियासतें यहाँतक कि उनमें से सबसे बड़ी रियासतें भी अलग नहीं रह सकतीं और उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रह सकता। इस तरह उनकी गाड़ी चल नहीं सकती और साथ ही इसकी वजह से बाक़ी हिंदुस्तान को भी बहुत बड़ा नुक़सान होगा। सारे हिंदुस्तान में ये विरोधी प्रदेश हो जायेंगे और अगर उन्होंने हिफ़ाज़त के लिए विदेशी ताक़त का सहारा लिया, तो यह बात ख़ास आज़ाद हिंदुस्तान के लिए ख़तरनाक होगी। असल में अगर सारा ही हिंदुस्तान जिसमें रियासतें भी शामिल हैं राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से एक ऐसी सत्ता के अधीन न होता जो उनकी रक्षा करती है, तो ये रियासतें आज ज़िंदा भी न होतीं। उस मुमकिन संघर्ष के अलावा जो रियासती और ग़ैर-रियासती हिंदुस्तान में होता रहता यह बात याद रखने की है कि रियासत के निरंकुश शासक पर, उसकी ही प्रजा द्वारा जो स्वतंत्र संस्थाओं की मांग करती दबाव पड़ता। इस आज़ादी के हासिल करने की कोशिशें ब्रिटिश ताक़त की मदद से दबा दी गई हैं या रोक रखी गई हैं।

अपनी बनावट की वजह से ख़ुद उन्नीसवीं सदी में ही ये रियासतें उन परिस्थितियों में बेमेल हो गईं। आज की हालतों में हिंदुस्तान को सैकड़ों पृथक और स्वतंत्र इकाइयों में बाँटने की योजना भी नामुमकिन है। इससे सिर्फ़ हमेशा का संघर्ष ही नहीं पैदा होगा बल्कि सारी योजना-बद्ध आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति भी नामुमकिन हो जायेगी। यहाँ हमको यह बात याद रखनी चाहिए कि जब ये रियासतें बनीं और जब इन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी से संधियाँ कीं उस वक़्त उन्नीसवीं सदी के शुरुआत में यूरोप बहुत-से छोटे छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। तब से कई लड़ाइयों और कई क्रांतियों ने यूरोप की शक्ल बदल दी है और अब भी इसकी शक्ल बदल रही है, लेकिन बाहरी दबाव से हिंदुस्तान की शक्ल तो पत्थर की तरह जड़ रखी गई और उसको बदलने नहीं दिया गया। यह बात बिलकुल वाहियात मालूम होती है कि हम १४ बरस पहले की किसी संधि को उस शक्ल में जो आमतौर पर लड़ाई के मैदान में या उसके फ़ौरन बाद दो प्रतिद्वंद्वी सेनापतियों में तय हुई और यह कहें कि यह अस्थायी समझौता तो हमेशा चलेगा। उन सुलहनामों में रियासती

जनता को कुछ कहने का मौक़ा नहीं मिला था और उस वक्त एक तरफ़ एक ऐसी व्यापारी संस्था थी जिसका सिर्फ़ अपने स्वार्थों से या अपने मुनाफ़े से ही ताल्लुक था। इस व्यापारिक संस्था ने ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट के एजेंट की तरह काम नहीं किया बल्कि सिद्धांत रूप में उसने उस दिल्ली के सम्राट के एजेंटों की तरह काम किया जो शक्ति और अधिकार का स्रोत समझा जाता था हालांकि वैसे ख़ुद वह बिलकुल असमर्थ था। ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट का इन सुलहनामों से कोई भी ताल्लुक नहीं था। समय-समय पर जब ईस्ट इंडिया कंपनी की सनद फिर से चालू की जाती सिर्फ़ उसी वक्त पार्लमेंट हिंदुस्तानी मामलों पर सोच-विचार करती थी। इस बात से कि ईस्ट इंडिया कंपनी हिंदुस्तान में उस अधिकार के बल-बूते पर काम कर रही थी जो मुग़ल सम्राट ने दीवानी के रूप में दिया था वह ब्रिटिश ताज या पार्लमेंट के सीधे हस्तक्षेप से मुक्त थी। हां एक दूसरे ढंग से अगर पार्लमेंट चाहती तो चार्टर को रद्द कर सकती थी या उसे फिर से जारी करते वक्त नई शर्तें लगा सकती थी। यह ख़याल कि इंग्लैंड का बादशाह या पार्लमेंट उसूली तौर पर नाममात्र के दिल्ली के सम्राट के एजेंट या मातहत की तरह काम करे इंग्लैंड में पसंद नहीं किया गया और इसलिए ये बराबर ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम से अलहदा रहे। हिंदुस्तानी लड़ाइयों में जो रुपया ख़र्च हुआ वह हिंदुस्तानी रुपया था और उसको ईस्ट इंडिया कंपनी ने ही वसूल किया और उसीने उसको ख़र्च किया।

इस तरह बुनियादी देसी रियासतों का सवाल है ब्रिटिश ताज तो उस तस्वीर में मौजूद ही नहीं था। यह तो सिर्फ़ हाल के ही बरसों की बात है कि रियासतों की तरफ़ से किसी ढंग की आज़ादी का हक़ बताया गया है और यह कहा गया है कि हिंदुस्तान की सरकार के अलावा उनका ब्रिटिश ताज से विशेष संबंध है। यहां एक ध्यान देने की बात यह है कि ये सुलहनामे तो सिर्फ़ कुछ रियासतों के साथ हैं सिर्फ़ चालीस रियासतें ही संधियों से ताल्लुक़ रखती हैं और बाक़ियों को तो सनदें मिली हुई हैं। हिंदुस्तानी रियासतों की आबादी का तीन-चौथाई इन चालीस रियासतों में है और उनमें से छः में इस आबादी का हिस्सा एक-तिहाई से भी ज़्यादा है।[1]

सन १९३५ के गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट में पहली बार ब्रिटिश पार्लमेंट का रियासतों और बाक़ी हिंदुस्तान के साथ संबंध में कुछ भेद भाव किया गया। रियासतों को हिंदुस्तान की सरकार के निरीक्षण और नियंत्रण से हटाकर वाइसराय के मातहत कर दिया गया और उसको इस सिलसिले में ताज का प्रतिनिधि (क्राउन रेप्रेज़ेंटेटिव) कहा गया। साथ ही वाइसराय हिंदुस्तानी सरकार का अध्यक्ष भी था। हिंदुस्तानी सरकार का राजनैतिक विभाग जिस पर रियासतों की ज़िम्मेदारी थी अब वाइसराय की एक्ज़ीक्यूटिव कौंसिल के नीचे से हटकर सिर्फ़ वाइसराय के ही मातहत कर दिया गया।

इन रियासतों की सत्ता कैसे शुरू हुई? कुछ तो बिलकुल नई हैं, जिनको अंग्रेज़ों ने ही बनाया है और कुछ मुग़ल सम्राट की बनाई हुई हैं और अंग्रेज़ों ने उनको सामंती शासक के रूप में बने रहने दिया लेकिन कुछ को ख़ासतौर से मराठा सरदारों को अंग्रेज़ी फ़ौजों ने हराया और फिर उनको सामंत पद दिया। क़रीब-क़रीब इन सभी का आरंभ ब्रिटिश-राज्य के आदिकाल में मिल सकता है उनका इतिहास इससे ज़्यादा पुराना नहीं है। अगर कुछ वक़्त के लिए उनकी स्वतंत्र सत्ता रही भी तो वह आज़ादी सिर्फ़ थोड़े-से अरसे के लिए ही रही और वह आज़ादी लड़ाई से या लड़ाई की धमकी से ख़त्म भी हो गई। इनमें से कुछ रियासतें—और ये रियासतें ख़ासतौर से राजपूताने में हैं—मुग़लों के वक़्त से पहले की हैं। ट्रावनकोर का एक

[1] ये छः रियासतें हैं—हैदराबाद (एक करोड़ बीस लाख और एक करोड़ तीस लाख के बीच में); मैसूर (सिहत्तर लाख) ट्रावनकोर (साढ़े बासठ लाख) बड़ौदा (चालीस लाख) काश्मीर (तीस लाख) ग्वालियर (तीस लाख) कुल मिलाकर तीन करोड़ साठ लाख। सारी हिंदुस्तानी रियासतों की आबादी नौ करोड़ है।

बहुत पुराना करीब १    बरस का इतिहास है। कुछ राजपूत वंश ऐतिहासिक काल से भी पहले के बताये जाते हैं। उदयपुर के महाराणा सूर्यवंशी हैं और उनका वंश-वृक्ष उसी तरह है, जैसे जापान के मिकाडो का। लेकिन ये राजपूत-सरदार मुगल-सामंत बन गये, बाद में मराठों के मातहत हुए और आखिर में अंग्रेजों के मातहत हो गये। एडवर्ड टॉमसन ने लिखा है कि ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधियों ने इन राजाओं को अपनी ठीक जगह पर ला दिया और उस अव्यवस्था से जिसमें वे डूबे हुए थे उनको ऊपर उठा लिया। जब उनको इस तरह उठाकर फिर से स्थापित किया तो ये राजे इतने असहाय और बेबस थे कि जितनी दुनिया के शुरू वक्त से आजतक कोई भी ताकत रही होगी। अगर ब्रिटिश सरकार ने दखल न दिया होता तो राजपूत रियासतें गायब हो गई होतीं और मराठा रियासतें टूट फूट गई होतीं। जहाँतक अवध या निजाम के राज्यों का सवाल है, उनका तो कोई अस्तित्व ही नहीं था। वे तो जिंदा ही सिर्फ इसी वजह से मालूम देती थीं कि उनकी रक्षक शक्ति उनमें सांस फूंकती जाती थी।[1]

आज की प्रमुख रियासत हैदराबाद शुरू में छोटी-सी थी। उसकी सीमाएं टीपू सुल्तान की हार के बाद और मराठा युद्ध के बाद बढ़ाई गईं। यह बढ़ती अंग्रेजों की वजह से हुई और इस खुली शर्त पर कि निजाम उनकी मातहती में काम करेगा। असल में टीपू की हार के बाद उसके राज्य का हिस्सा पहले मराठा नेता पेशवा को नजर किया गया था, लेकिन उसने इन शर्तों पर लेने से इन्कार कर दिया।

दूसरी सबसे बड़ी रियासत काश्मीर को सिख-युद्ध के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने मौजूदा महाराजा के परदादा को बेच दिया था। बाद में हुकूमत में बद-इन्तजामी का बहाना लेकर उसको ब्रिटिश नियंत्रण में ले लिया गया। बाद में महाराजा के अधिकार उसको वापस लौटा दिये गये। मैसूर की मौजूदा रियासत को टीपू से साथ लड़ाइयों के बाद अंग्रेजों ने बनाया। बहुत अरसे तक यह खुद ब्रिटिश हुकूमत में ही रही।

---

[1] 'दि मेकिंग ऑफ दि इंडियन प्रिंसेज' पृष्ठ २७०–७१। इस किताब में और टॉमसन की 'लाइफ ऑफ लॉर्ड मेटकाफ' में हैदराबाद में ब्रिटिश नियंत्रण और दमन का स्पष्ट चित्रण है। हिंदुस्तानी रियासतों के मसले पर गौर करने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त की हुई बटलर कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा— 'यह ऐतिहासिक सचाई नहीं है कि जब हिंदुस्तानी रियासतें ब्रिटिश ताकत के संपर्क में आईं तो वे आजाद थीं। कुछ को अंग्रेजों ने बचा लिया और कुछ रियासतों को उन्होंने बनाया भी।'

अगर हिंदुस्तान में सचमुच ही कोई आजाद राज्य है, तो वह है नेपाल जो उत्तरी-पूर्वी सीमा पर है और उसकी स्थिति अफ़ग़ानिस्तान से मिलती जुलती है। हां एक तरह से वह सारे हिंदुस्तान से अलहदा है। और सब रियासतें तो उस घेरे में आ गईं, जिसको 'सहायक संधि' के नाम से पुकारा जाता है, जिसमें सारी असली ताक़त ब्रिटिश सरकार के हाथों में होती और वह रेज़ीडेंट या एजेंट के जरिये काम करती। अकसर राजा के वजीर भी ब्रिटिश पदाधिकारी होते जिनको उनके ऊपर जबरदस्ती लाद दिया जाता। लेकिन सुशासन और सुधार की सारी जिम्मेदारी उस शासक पर ही होती जो इन परिस्थितियों में दुनिया में सबसे ज्यादा खुद निश्चयी होने पर भी कुछ नहीं कर सकता था (और आमतौर से उस शासक में न तो कोई निश्चय ही होता और न कोई योग्यता ही)। हिंदुस्तानी रजवाड़ों के बारे में सन १८४६ में हेनरी लॉरेंस ने लिखा था— अगर निश्चित रूप से बद-अमली क़ायम करने की कोई तरकीब थी, तो वह देशी राजा और वज़ीर की उस हुकूमत में थी जो विदेशी संगीनों की मदद पर निर्भर था और जिसका निर्देशन ब्रिटिश रेज़ीडेंट के जरिये होता था। अगर ये सब योग्य और समझदार होते और साथ ही भले भी होते तो भी सरकारी गाड़ी के पहिये शायद ही आसानी से चल सकते। अगर एक ही इन्साफ़पसंद हाकिम चाहे वह यूरोपीय हो या हिंदुस्तानी ढूंढ पाना मुश्किल है तब ऐसे तीन आदमी जो एक साथ मिल-कर काम कर सकें कहां मिल सकते हैं? तीनों बेहद शैतानी कर सकते हैं, लेकिन उनमें से एक शख्स भी अगर दूसरा रुकावटें डाले तो भलाई कर ही नहीं सकता।

इससे भी पहले सन १८१७ में सर टामस मनरो ने गवर्नर जनरल को लिखा था— 'सहायक फ़ौजों को काम में लाने के सिलसिले में कई बहुत बड़ी आपत्तियां हैं। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति यह होती है कि हर ऐसे देश की सरकार, जहां उस फ़ौज का इस्तेमाल होता है कमज़ोर और अत्याचारी हो जाती है, वहां समाज के उच्च वर्गों में आत्म-सम्मान की भावना गायब हो जाती है और वहां की सारी जनता का पतन होता है और ग़रीबी बहुत बढ़ जाती है। हिंदुस्तान में कुशासन का आमतौर पर इलाज यह है कि महलों में शांतिपूर्ण क्रांति हो या खुला हिंसात्मक विद्रोह हो या विदेशी आक्रमण और आधिपत्य हो। लेकिन ब्रिटिश फ़ौज की मौजूदगी से उस इलाज का कोई मौका नहीं रहता क्योंकि वह फ़ौज घरेलू और बाहरी दुश्मनों के बावजूद उस राजा को तख्त पर बिठाये ही रखती है। वह उसको आलसी बना देती है क्योंकि वह अपनी हिफ़ाज़त के लिए ग़ैर-आदमियों पर

भरोसा करता है। वह शासक ज़ालिम और लालची बन जाता है, क्योंकि उसे यह दिखाया जाता है कि अब उसे अपनी प्रजा की नफ़रत का कोई डर नहीं है। जहां कहीं इस 'सहायक संधि' की प्रथा को अपनाया जाता है वहीं पर अगर शासक असाधारण योग्यता का आदमी हो तो शायद बात दूसरी हो लेकिन वैसे तो उस संधि की छाप गांवों की बरबादी और घटती हुई आबादी में दिखाई देती है। अगर खुद वह राजा उस (ब्रिटिश) संधि का पूरी-पूरी तरह पालन करने को तैयार भी हो तो उसके कुछ खास ऐसे पदाधिकारी ज़रूर निकल आयेंगे जो उसको उस संधि को तोड़ने को मजबूर करेंगे। जबतक देश में कहीं भी ऊंचे दर्जे की आबादी है जो विदेशियों के नियन्त्रण को हटा देना चाहती है तबतक ऐसे सलाहकार भी मिल जायेंगे। हिंदुस्तान के निवासियों के बारे में मेरी अच्छी राय है और मैं नहीं समझता कि यह भावना कभी बिलकुल ही ग़ायब हो पायेगी। और इसलिए मुझे इस बात में कोई शक नहीं है कि यह प्रथा हर जगह अपना पूरा असर दिखायेगी और हर राज्य को जिसकी रक्षा की यह ज़िम्मेदारी लेती है बरबाद कर देगी।

ऐसी शिकायतों के बावजूद हिंदुस्तानी रियासतों के सिलसिले में यह नीति बनी और उसका नतीजा लाज़िमी तौर पर यह हुआ कि अत्याचार और अनीति की बढ़ती हुई। इन रियासतों की सरकारें अक्सर खराब होती थीं लेकिन हर सूरत में वे बिलकुल लाचार भी होती थीं। इन रियासतों में कुछ ब्रिटिश रेज़ीडेंट या एजेंट मेटकाफ़ की तरह ईमानदार और सच्चे हुए थे लेकिन आमतौर पर उनमें इन बातों में से एक भी बात नहीं थी और वे बिना किसी ज़िम्मेदारी के अपने विशेषाधिकारों का इस्तेमाल करते थे। इन अंग्रेज़ अफ़सरों ने या अपनी कौमियत और सरकारी मदद की वजह से अपने को महफ़ूज़ समझने वाले रियासती खज़ानों में घोटाला किया। उन्नीसवीं सदी के पहले पचास बरसों में इन रियासतों में और खासतौर से अवध और हैदराबाद में जो कुछ हुआ उस पर यकीन करना मुश्किल है। सन् १८५६ में गदर से कुछ ही पहले अवध ब्रिटिश भारत में शामिल कर लिया गया।

उस वक्त ब्रिटिश नीति इस तरह कब्ज़ा करने के पक्ष में थी और ब्रिटिश हुकूमत के द्वारा रियासत को हथियाने के लिए हर बहाने का फ़ायदा उठाया जाता। लेकिन १८५७ के गदर और महाविद्रोह ने रियासती

टामसन द्वारा 'दि मेकिंग ऑव दि इंडियन प्रिंसेज़' (१९४३) में पृष्ठ २ २ पर उद्धृत।

मामलों में उस नीति की क़ीमत ब्रिटिश सरकार को चुका दी। कुछ छोटे छोटे अपवादों को छोड़कर हिंदुस्तानी रजवाड़े उस विद्रोह से अलग ही नहीं रहे बल्कि उन्होंने कुछ जगहों में अंग्रेज़ों को उसे कुचलने में मदद दी। इससे ब्रिटिश नीति का रियासतों की तरफ़ रुख बदल गया और यह तय किया गया कि उनको बनाये रखा जाय और यही नहीं बल्कि उनको और ज़्यादा मज़बूत किया जाय।

ब्रिटिश 'सर्वपरिता' के सिद्धांत की घोषणा की गई, और अमली तौर पर हिंदुस्तान की सरकार के राजनैतिक विभाग का रियासतों पर बराबर और सख्त नियंत्रण रहा है। राजाओं को हटा दिया गया है और उनके अधिकार छीन लिये गये हैं। ब्रिटिश सेवाओं में से लिये गये मंत्री उन पर लाद दिये गये हैं। रियासतों में ऐसे बहुत-से मंत्री काम कर रहे हैं और वे अपनी ज़िम्मेदारी अपने नाम-मात्र के अध्यक्ष उस राजा के मुक़ाबले में ब्रिटिश सत्ता के प्रति कहीं ज़्यादा समझते हैं।

कुछ राजा अच्छे हैं, कुछ बुरे हैं, लेकिन अच्छे राजाओं को हर क़दम पर रोक दिया जाता है। वर्ग के रूप में वे पिछड़े हुए हैं, उनका दृष्टिकोण सामंतवादी है, और ब्रिटिश सरकार के साथ तालुक़ात को छोड़कर, जब वे खासतौर से मदद से पेश आते हैं, उनके ढंग तानाशाही के हैं। थोर्स्कर ने हिंदुस्तानी रियासतों के बारे में सही ही कहा है कि "वे हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों का पाँचवाँ दस्ता हैं।

## ६ हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की परस्पर विरोधी बातें

### राममोहन राय समाचार पत्र

### सर विलियम जोन्स बंगाल में अंग्रेज़ी शिक्षा

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के इतिहास पर ग़ौर करते हुए हमको पग पग पर एक ख़ास विरोधाभास दिखाई देता है। अंग्रेज़ों का हिंदुस्तान में इसलिए आधिपत्य हुआ और वे दुनिया की एक प्रमुख शक्ति इसलिए बन गये कि वे नयी मशीनों की नई औद्योगिक संस्कृति के अगुवा थे। वे एक ऐसी नई ऐतिहासिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करते थे जो दुनिया को बदलने जा रही थी और हालाँकि उनको पता नहीं था वे परिवर्तन और क्रांति के प्रतिनिधि थे। फिर भी सिवाय उस रद्दो-बदल के जो उन्हें अपनी स्थिति सुदृढ़ करने और देश और जनता का अपने फ़ायदे के लिए शोषण करने के सिलसिले में ज़रूरी मालूम हुई, उन्होंने हर तरह की रद्दो-बदल

को जान-बूझकर रोका। उनका उद्देश्य और दृष्टिकोण प्रतिक्रियावादी था। कुछ हदतक तो उसकी वजह उस सामाजिक वर्ग की पृष्ठभूमि थी जिसके वे सदस्य थे लेकिन खासतौर से उसकी वजह यह थी कि वे जान-बूझकर प्रगतिशील दिशा में रहो-बदल को रोकना चाहते थे क्योंकि उस रद्दो-बदल से हिंदुस्तानी जनता मजबूत होती और उसका नतीजा यह होता कि हिंदुस्तान पर अंग्रेजी प्रभुत्व घट जाय। जनता का डर उनकी सारी विचारधारा और सारी नीति में समाया हुआ था क्योंकि न तो वे उस जनता में घुलना-मिलना ही चाहते थे और न वे ऐसा कर ही सकते थे। उनको तो एक विदेशी शासक-समुदाय की तरह अलग और एक बिलकुल जुदा और विरोधी जनता से घिरा रहना था। परिवर्तन हुए और कुछ तो प्रगतिशील दिशाओं में भी हुए, लेकिन वे ब्रिटिश नीति के बावजूद हुए, हालांकि उनको उत्तेजना पश्चिम के संपर्क में आने से अंग्रेजों द्वारा ही मिली।

व्यक्तिगत रूप से अंग्रेजों ने जिनमें शिक्षा-प्रसार में दिलचस्पी रखने-वाले लोग भी थे पूर्व में दिलचस्पी रखनेवाले लोग थे, संपादक थे और मिशनरी लोग थे और साथ ही और दूसरे आदमियों ने हिंदुस्तान में पश्चिमी संस्कृति लाने में एक अहम हिस्सा लिया और अपनी इस कोशिश में उनको अक्सर खुद अपनी सरकार से झगड़ना पड़ा। उस सरकार को आधुनिक शिक्षा प्रसार के असर का डर था और इसीसे उसने उसके रास्ते में बहुत-सी अड़चन डाली फिर भी हिंदुस्तान में अंग्रेजी विचार, साहित्य और राजनैतिक परंपरा का प्रवेश करा देने का श्रेय उन योग्य और उत्सुक

इंग्लैंड से बड़ी तादाद में आदमियों को लाकर रखना उसकी बिसात के बाहर था। इस तरह धीरे-धीरे शिक्षा का प्रसार हुआ और हालांकि वह बहुत सीमित थी और गलत ढंग की थी फिर भी उसने नये और सक्रिय विचारों के लिए दिमाग को खोल दिया।

छापने की मशीन को और असल में हर एक मशीन को ही हिंदुस्तानी दिमाग के लिए भड़कीला और खतरनाक समझा गया। उसका किसी भी ढंग से बढ़ावा नहीं देना था क्योंकि उससे औद्योगिक तरक्की हो सकती थी और राजद्रोह फैल सकता था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार हैदराबाद के निज़ाम ने विलायती मशीनें देखने की इच्छा प्रकट की तो इस पर वहां के रेज़ीडेंट ने उसके लिए एक छापने की मशीन और एक हवा भरने का पंप मंगा दिया। निज़ाम की क्षणिक उत्सुकता के शांत हो जाने के बाद ये चीज़ें एक तरफ रख दी गईं। लेकिन जब कलकत्ते की सरकार ने यह सुना तो उसने रेज़ीडेंट के प्रति अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की और एक हिंदुस्तानी रियासत में छापने की मशीन चलाने पर तो उसको खासतौर से फटकारा गया। इस पर रेज़ीडेंट ने कहा कि अगर सरकार चाहे, तो वह उस मशीन को खुफिया तौर पर तुड़वा सकता है।

लेकिन बहुत दिनों तक निजी छापेखानों को बढ़ावा नहीं दिया गया वहां साथ ही सरकार का काम बिना छपाई के चल नहीं सकता था और इसलिए कलकत्ता मद्रास और दूसरी जगहों में सरकारी छापेखाने खोले गये। पहला निजी छापाखाना बैप्टिस्ट पादरियों ने श्रीरामपुर में चलाया और पहला अखबार एक अंग्रेज़ ने कलकत्ते में सन १७८ में निकाला।

ये और ऐसी ही और दूसरी तब्दीलियां धीरे-धीरे हुईं और हिंदुस्तानी दिमाग पर उनका असर हुआ। उनसे 'आधुनिक' चेतना फैली। सीधे तौर पर तो यूरोप के विचारों से हिंदुस्तान का एक बहुत छोटा-सा ही समुदाय प्रभावित हुआ क्योंकि हिंदुस्तान तो अपनी निजी दार्शनिक पृष्ठभूमि से चिपका रहा जिसको वह पश्चिमी पृष्ठभूमि से अच्छा समझता था। पश्चिम का असली असर और आघात तो ज़िंदगी के अमली पहलू पर हुआ जो साफ़ तौर पर पूर्व से बेहतर था। नये तरीक़ों की—रेल छापेखानों दूसरी मशीनों और लड़ाई के ज़्यादा होशियारी के तरीक़ों की—अवहेलना नहीं की जा सकती थी। ये तरीक़े परोक्ष रूप से पुराने तरीक़ों को धकेलकर ऊपर आ गये और हिंदुस्तान के दिमाग में संघर्ष पैदा हुआ। सबसे ज़्यादा स्पष्ट और गहरी रद्दोबदल यह थी कि पुरानी खेतिहरी की व्यवस्था टूट गई और उसकी जगह व्यक्तिगत संपत्ति और ज़मींदारी की विचारधारा

में भी अर्थ-व्यवस्था में रुपये का चलन हुआ और जमीन एक खरीदारी की चीज हो गई। जो चीज पहले रिवाज से मजबूती से जमी हुई थी अब रुपये से उखड़ गई।

नयी-नयी शिक्षा-संबंधी, तकनीकी और विचारों—ये सभी तब्दीलियां हिंदुस्तान के और दूसरे बड़े हिस्सों से बहुत पहले बंगाल में देखने में आईं। इसकी वजह यह थी कि बंगाल में और दूसरे प्रदेशों के मुकाबले ब्रिटिश राज्य ५० बरस पहले कायम हो चुका था। इसीसे अठारहवीं सदी के पिछले पचास बरसों में और उन्नीसवीं सदी के पहले पचास बरसों में बंगाल ने ब्रिटिश भारतीय जीवन में एक प्रमुख भाग लिया। बंगाल सिर्फ ब्रिटिश हुकूमत का ही केंद्र नहीं था बल्कि उसने अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिंदुस्तानियों के पहले दल को तैयार किया जो ब्रिटिश ताकत की छाया में ही हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में फैल गया। बंगाल में उन्नीसवीं सदी में कितने ही महापुरुष पैदा हुए जिन्होंने बाकी हिंदुस्तान का सांस्कृतिक और राजनीतिक मामलों में पथ-प्रदर्शन किया और उन्हीं की कोशिशों से आगे चलकर नया राष्ट्रीय आंदोलन साकार हुआ। बंगाल को ब्रिटिश राज्य की ज्यादा लंबी जान-कारी ही नहीं थी बल्कि उसको ब्रिटिश राज्य के उस शुरू के वक्त का भी तजरबा था जब वह बहुत ज्यादा सख्त और जहरीला दोनों था। उसने इस राज्य को मंजूर कर लिया था और उत्तरी और मध्य-भारत के सिर झुकाने के बहुत पहले ही उसने उस राज्य से अपना मेल बिठा लिया था। सन १८५७ के महाविद्रोह का बंगाल में करीब-करीब नहीं के बराबर असर था वैसे इस विद्रोह की पहली चिनगारी संयोग से कलकत्ते के पास दमदम में ही प्रकट हुई थी।

ब्रिटिश राज्य से पहले बंगाल मुगल-साम्राज्य का एक बाहरी सूबा था। उसकी अहमियत थी लेकिन वह केंद्र से कटा हुआ-सा था। मध्य युग के शुरू-शुरू में वहां के हिंदुओं में कई गंदे ढंग की पूजाएं और तांत्रिक रस्में चालू थीं। तब हिंदू-सुधार आंदोलन शुरू हुआ और उसका सामाजिक रीतियों और कानूनों पर असर हुआ यहां तक कि कुछ दूसरी जगहों में भी विरासत के कुछ मान्य नियम कुछ हद तक बदल गये। चैतन्य ने जो एक बड़े विद्वान थे और बड़ी निष्ठा और भावना के व्यक्ति थे श्रद्धा की बुनियाद पर एक ढंग का वैष्णववाद स्थापित किया और बंगाल की जनता पर बहुत प्रभाव डाला। बंगालियों में ऊंची बौद्धिक प्रतिभा और उतनी ही दृढ़ भावुकता का एक विचित्र सम्मिश्रण हुआ। उन्नीसवीं सदी के पिछले बरसों में प्रेम और मानव-सेवा की निष्ठा की इस परंपरा के एक दूसरे

संत-स्वभाव के व्यक्ति रामकृष्ण परमहंस थे। उनके नाम पर एक सेवा की संस्था स्थापित हुई, जिसकी सामाजिक सेवाओं का लेखा बेजोड़ है। रामकृष्ण मिशन के सदस्य पुराने फ्रेन्सिस्कनों की तरह धैर्य और प्रेम के साथ सेवा करने के आदर्श से भरे हुए हैं और क्वेकरों की तरह वे कुशल हैं और उनमें दिखावा नहीं है। वे लोग अस्पताल और शिक्षा-संबंधी संस्थाएं चलाते हैं और जब कभी हिंदुस्तान में कहीं भी और कभी-कभी विदेशों में कोई व्यापक दुर्घटना होती है तो वे वहां की पीड़ित जनता को सहारा देने में और उनकी सेवा करने में लग जाते हैं।

रामकृष्ण पुरानी हिंदुस्तानी परंपरा के प्रतिनिधि थे। उनसे पहले अट्ठारहवीं सदी में ही बंगाल में एक और प्रमुख व्यक्ति हो चुके थे। वह थे राजा राममोहन राय। वह एक नये ढंग के आदमी थे। उनमें पुरानी और नई, दोनों ही तरह की शिक्षा का मेल था। वह हिंदुस्तानी विचारधारा और हिंदुस्तानी दर्शन-शास्त्र से सुपरिचित थे और साथ ही वह संस्कृत अरबी और फ़ारसी के विद्वान थे। वह उस हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की उपज थे जो उस समय हिंदुस्तान के सांस्कृतिक वर्ग के लोगों में फैली थी। हिंदुस्तान में अंग्रेजों के आने से और साथ ही उसकी कई तरह की श्रेष्ठता की वजह से राममोहन राय के जिज्ञासु और साहसी मस्तिष्क ने उनकी संस्कृति के आधारों को जानना चाहा। उन्होंने अंग्रेजी पढ़ी लेकिन इतना काफ़ी न था उन्होंने पश्चिम के धर्म और वहां की संस्कृति के स्रोत को खोज पाने के लिए यूनानी लातीनी और इब्रानी भाषाएं पढ़ीं। हालांकि उस वक्त तकनीकी परिवर्तन इतने जाहिर नहीं थे जितने कि वे बाद में हुए, फिर भी पश्चिमी सभ्यता के तकनीकी पहलू और विज्ञान की तरफ़ उनका खिंचाव हुआ। दार्शनिक और विद्वत्तापूर्ण रुचि की वजह से राममोहन राय लाज़िमी तौर पर पुराने साहित्य की ओर झुके। उनका जिक्र करते हुए पूर्वीय विषयों के जानकार मोनियर विलियम्स ने कहा है—"दुनिया के वह पहले आदमी हैं जिन्होंने धर्मों का आपस में मिलान करते हुए अध्ययन करने की परिपाटी की खोज की। फिर भी साथ-ही-साथ वह शिक्षा को आधुनिक ढांचे में ढालने के लिए उत्सुक थे और वह उसे पुरानी परिपाटी के चंगुल से निकालना चाहते थे। उस शुरू के दिनों में भी वह वैज्ञानिक तरीक़ों के पक्ष में थे और उन्होंने गवर्नर जनरल को गणित भौतिक विज्ञान रसायन शास्त्र जीव-विज्ञान आदि दूसरी उपयोगी विद्याओं की शिक्षा की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए लिखा।

वह केवल एक विद्वान और अन्वेषक ही नहीं थे उसके ऊपर वह एक

सुधारक थे। शुरू के दिनों में उन पर इस्लाम का असर हुआ था और बाद में कुछ हद तक ईसाई-धर्म का, लेकिन फिर भी वह अपने धर्म में दृढ़ता के साथ जमे रहे। हां, उस धर्म को उन्होंने उन कुरीतियों और कुप्रथाओं से जो उस वक्त उससे जुड़ गई थीं, छुड़ाने की कोशिश की। सती-प्रथा को बंद करने के लिए उन्हीं के आंदोलन की वजह से खासतौर से सरकार ने उस पर रोक लगाई। यह सती-प्रथा, जिसमें स्त्रियों को पति के साथ चिता पर जलाया जाता था, कभी भी व्यापक नहीं थी। ऊंचे वर्ग में कभी-कभी ऐसी घटनाएं हो जाया करती थीं। शायद यह रिवाज हिंदुस्तान में तातारों के साथ आया। उनमें यह रिवाज था कि मालिक के मरने के बाद उसके नौकर अपने आपको मार डालते। शुरू के संस्कृत-साहित्य में सती-प्रथा को बुरा कहा गया है। अकबर ने उसे रोकने की कोशिश की और मराठे भी उसके खिलाफ थे।

राममोहन राय हिंदुस्तानी अखबारों के कायम करनेवालों में एक थे। सन १७८० के बाद हिंदुस्तान के अंग्रेजों ने कई अखबार निकाले। ये आमतौर पर सरकार की कड़ी आलोचना करते और सरकार से अक्सर उनका झगड़ा होता और उन पर सेंसर रहता। हिंदुस्तान में अखबारों की आजादी के लिए सबसे पहले अंग्रेजों ने आवाज उठाई। इन अंग्रेजों में से एक जेम्स सिल्क बकिंघम थे, जिनकी अब भी याद की जाती है। सरकार की वजह से इनको हिंदुस्तान छोड़कर बाहर जाना पड़ा। पहला अखबार, जिस पर हिंदुस्तानी नियंत्रण था और जिसका संपादन भी हिंदुस्तानियों ने किया, सन १८१८ में (अंग्रेजी भाषा में) निकला। और इसी साल श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट पादरियों ने बंगला में दो पत्र—एक मासिक और एक साप्ताहिक निकाले। हिंदुस्तानी भाषा में सामयिक रूप से निकलनेवाले ये पहले पत्र थे। उसके बाद अंग्रेजी में और हिंदुस्तानी भाषाओं में कई अखबार और कई सामयिक पत्र कलकत्ता, बंबई और मद्रास से कुछ ही समय के अंदर निकलने लगे।

इसी बीच में अखबारों की आजादी के लिए लड़ाई शुरू हो चुकी थी, जो कितने ही उतार-चढ़ाव के साथ अबतक जारी है। सन १८१८ में मशहूर रेगुलेशन नं० ३ का जन्म हुआ, जिसके मुताबिक किसी शख्स को बिना मुकदमा चलाये नजरबंद किया जा सकता था। यह रेगुलेशन आज भी अमल में लाया जाता है और बहुत-से आदमी इस १२५ बरस पहले की धारा के अनुसार जेल में रखे जाते हैं।

राममोहन राय का कई अखबारों से संबंध था। उन्होंने अंग्रेजी और

बंगला इन दो भाषाओं की मिली-जुली एक पत्रिका निकाली और बाद में उन्होंने एक साप्ताहिक पत्र फ़ारसी भाषा में इस कारण प्रकाशित किया कि सारे हिंदुस्तान में उसका चलन हो सके। उस वक्त हिंदुस्तान में फ़ारसी ही सारे सभ्य-समाज की भाषा थी। लेकिन १८२१ में प्रेस-नियंत्रण के लिए नये क़ानून बनने पर इसको बंद होना पड़ा। राममोहन राय ने और दूसरे आदमियों ने इन क़ानूनों का ज़ोरदार विरोध किया यहांतक कि उन्होंने इंग्लैंड में मंत्रिमंडल के पास एक अर्ज़ी भेजी।

राममोहन राय के संपादकीय काम का ख़ासतौर से उनके सुधार आंदोलन से संबंध था। कट्टर समुदायों को उनका समन्वयकारी और विश्वबंधुत्व का दृष्टि-बिंदु बहुत नापसंद था और वे उनके बहुत-से सुधारों का भी विरोध करते थे। लेकिन उनके अपने भी कट्टर समर्थक थे। इन्हीं में ठाकुर-कुटुंब भी था जिसने बाद में बंगाल की नई जागृति में एक ख़ास हिस्सा लिया। राममोहन राय दिल्ली-सम्राट की ओर से इंग्लैंड गये और वहीं ब्रिस्टल में ही उनकी मृत्यु हो गई।

राममोहन राय ने और ठाकुर-कुटुंब ने अंग्रेज़ी पर ज़ोर दिया। कोई अंग्रेज़ी स्कूल या कालेज उस वक्त नहीं थे और सरकारी नीति हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी सिखाने के सख्त ख़िलाफ़ थी। सन १७८१ में सरकार ने कलकत्ते में हिंदू कालेज और कलकत्ता मदरसा क़ायम किया। पहली संस्था संस्कृत की पढ़ाई के लिए थी और दूसरी संस्था अरबी की पढ़ाई के लिए। सन १७९१ में बनारस में एक संस्कृत कालेज खोला गया। शायद १८१ के बाद ईसाई पादरियों की तरफ़ से अंग्रेज़ी सिखाने के लिए कुछ स्कूल खुले। सन १८१ के बाद सरकारी हल्क़ों में भी ऐसे ख़याल के लोग हुए, जो अंग्रेज़ी पढ़ाने के तरफ़दार थे लेकिन उनके मत का विरोध किया गया। जो भी हो, तजुरबे के तौर पर, दिल्ली के अरबी स्कूल में अंग्रेज़ी दर्जे भी शुरू किये गये और ऐसे दर्जे कलकत्ते की कुछ संस्थाओं में भी खोले गये। अंग्रेज़ी पढ़ाने के पक्ष में अंतिम निर्णय सन १८३५ की फ़रवरी के मैकॉले के शिक्षा-संबंधी नोट से हुआ। बाद में कलकत्ते में प्रेसीडेंसी कालेज क़ायम हुआ। सन १८५७ में कलकत्ता, बंबई और मद्रास की यूनिवर्सिटियों का काम शुरू हुआ।

अगर एक तरफ़ हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तानियों को अंग्रेज़ी पढ़ाने के ख़िलाफ़ थी तो दूसरी तरफ़ ब्राह्मण विद्वान कुछ दूसरे ही कारणों से अंग्रेज़ों को संस्कृत पढ़ाने के और भी ज़्यादा ख़िलाफ़ थे। जब सर विलियम जोन्स जो पहले से ही कई भाषाएं जानते थे और जो एक बड़े विद्वान थे हिंदुस्तान के सुप्रीम कोर्ट के जज बनकर आये तो उन्होंने संस्कृत

सीखने की अपनी इच्छा प्रकट की। और हालांकि बहुत बड़ा पारितोषिक देने को कहा गया लेकिन कोई भी ब्राह्मण एक विदेशी और विधर्मी को देववाणी सिखाने को तैयार नहीं हुआ। जोन्स को आखिर बहुत मुश्किलों से एक अ-ब्राह्मण वैद्य मिले जो अपनी खास शर्तों पर ही संस्कृत पढ़ाने को तैयार थे। हिंदुस्तान की प्राचीन भाषा को सीखने के लिए जोन्स इतने ज्यादा उत्सुक थे कि उन्होंने सारी शर्तें मान लीं। संस्कृत ने और खासतौर से पुराने भारतीय नाटकों ने उनको मोह लिया। उन्हींके लेखों और अनुवादों से यूरोप को पहली बार संस्कृत-साहित्य के भंडार की झलक मिली। सन १७८४ में जोन्स ने बंगाल की एसियाटिक सोसाइटी क़ायम की जो बाद में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कहलाई। हिंदुस्तान अपने प्राचीन-साहित्य की खोज के लिए जोन्स और दूसरे यूरोपीय विद्वानों का बहुत एहसानमंद है। यह सही है कि हर युग में उस साहित्य के ज्यादा हिस्से से लोग परिचित थे, लेकिन उनकी जानकारी कुछ खास समुदायों तक ही सीमित थी और सांस्कृतिक क्षेत्र में फ़ारसी का आधिपत्य हो जाने से लोगों का ध्यान उधर से हट गया था। हस्तलिखित ग्रंथों की तलाश से बहुत-से अपरिचित ग्रंथ सामने आये और आधुनिक आलोचनापूर्ण ढंग के अपनाने से इस विस्तृत साहित्य को जो सामने आया एक नई पृष्ठभूमि मिली।

छापने की मशीन के चलन और उपयोग से प्रचलित हिंदुस्तानी भाषाओं की वृद्धि को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला। इनमें से कुछ भाषाएं, मसलन हिंदी बंगला गुजराती मराठी उर्दू तमिळ और तेलगू बहुत अरसे से सिर्फ प्रचलित ही नहीं थीं बल्कि उनमें साहित्य निर्माण हो चुका था। उनकी बहुत-सी किताबें आम जनता में खूब प्रचलित थीं। ज्यादातर ये महाकाव्य या कथनाएं या गीतों और भजनों के संग्रह के रूप में होतीं जिनको आसानी से याद रखा जा सकता था। उनमें उस वक्त करीब-करीब गद्य साहित्य बिलकुल न था। ज्यादा गंभीर लेख संस्कृत और फ़ारसी में होते थे और हर मुसलमान आदमी के लिए उनमें से किसी एक को जानना जरूरी था। इन दो प्राचीन भाषाओं का एक प्रभाव स्थान रहा और उनसे आम लोगों की प्रांतीय भाषाओं की तरक्की में बाधा हुई। किताबों की छपाई से और अख़बारों से इन प्राचीन भाषाओं का गढ़ टूटा और फ़ौरन ही प्रांतीय भाषाओं में गद्य-साहित्य की तरक्की हुई। उस वक्त के ईसाई पादरियों ने खासतौर से श्रीरामपुर के बैप्टिस्ट मिशनरियों ने इस काम में बहुत मदद की। गैर-सरकारी तौर पर पहले पहल इन्होंने ही छापेखाने कायम किये थे और बाइबिल का हिंदुस्तानी भाषाओं में गद्य में अनुवाद करने

भी उनकी कोशिशों को काफ़ी कामयाबी मिली।

सुपरिचित भाषाओं से काम लेने में कोई मुश्किल नहीं थी। लेकिन ईसाई पादरी और भी आगे बढ़े और उन्होंने कुछ छोटी और अविकसित भाषाओं को भी अपनाया और उनको स्वरूप दिया। उन भाषाओं के लिए उन्होंने व्याकरण बनाये और शब्द-कोष तैयार किये। यहांतक कि उन्होंने पहाड़ियों और जंगल के आदिवासियों की बोल-चाल की भाषा को सीखा और उनके लिए लिपि भी निकाली। इस तरह हालांकि ईसाई धर्म प्रचारकों का काम हिंदुस्तान में हमेशा ही प्रशंसनीय नहीं रहा लेकिन इस मामले में और साथ ही लोक-साहित्य के संकलन के सिलसिले में उन्होंने सचमुच ही हिंदुस्तान की बहुत सेवा की है।

शिक्षा-प्रसार के सिलसिले में ईस्ट इंडिया कंपनी को था शिक्षक भी यह सही साबित हुई क्योंकि सन १८१ में कलकत्ते के हिंदू कालेज के विद्यार्थियों की एक टोली ने कुछ सुधारों की मांग की। (इस कालेज में सिर्फ़ संस्कृत ही पढ़ाई जाती थी और अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं पढ़ाई जाती थी।) उन्होंने कंपनी की राजनैतिक ताक़त को सीमित करने और अनिवार्य रूप से मुफ़्त शिक्षा देने की मांग की। हिंदुस्तान में निःशुल्क शिक्षा अति प्राचीन समय से प्रचलित थी। यह शिक्षा पुरानी लकीर की थी और कोई बहुत अच्छी या लाभदायक नहीं थी लेकिन यह बिना किसी खर्च के ग़रीब विद्यार्थी को भी मिलती थी। उसमें शिक्षक की कुछ व्यक्तिगत सेवा करनी पड़ती थी। इस मामले में हिंदू और मुस्लिम परंपराएं एक-सी थीं।

जहां एक ओर इस नई शिक्षा के प्रचार को जान-बूझकर रोका गया वहां बंगाल में पुरानी शिक्षा बहुत हद तक ख़तम कर दी गई थी। जब बंगाल में अंग्रेज़ अधिकारी बन बैठे तब मुआफ़ी की ज़मीनें बहुत बड़ी तादाद में थीं यानी उन ज़मीनों का सरकार को कोई टैक्स नहीं दिया जाता था। इनमें से बहुत-सी व्यक्तिगत थीं लेकिन ज़्यादातर शिक्षा-संबंधी संस्थाओं के लिए दान के रूप में थीं। उन पर पुराने ढंग के प्रारंभिक स्कूलों की एक बहुत बड़ी तादाद गुज़र करती थी। इनके अलावा कुछ ऊंची शिक्षा की फ़ारसी की संस्थाएं थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी इस बात के लिए उत्सुक थी कि ज़्यादा से ज़्यादा रुपया बनाया जाय ताकि इंग्लैंड में हिस्सेदारों को डिविडेंड दिये जा सकें। डाइरेक्टरों का बराबर तक़ाज़ा बना रहता था। इसलिए जान-बूझकर यह नीति बरती गई कि इन मुआफ़ी की ज़मीनों को ज़ब्त कर लिया जाय। उनकी मुआफ़ी के असली सबूत मांगे गये लेकिन वे पुरानी सनदें या तो खो गई थीं या उनको दीमक खा गई थीं इसलिए वे मुआफ़ियां रद्द कर दी गईं, उन

लोगों से कब्ज़ा छीन लिया गया और स्कूलों और कालेजों की गुज़र की आमदनी ख़त्म हो गई। इस तरह एक बहुत बड़ा रकबा छीना गया और बहुत-से पुराने घराने बरबाद हो गये। वे शिक्षण-संस्थाएं, जो इन मुआफ़ियों पर गुज़र करती थीं ख़त्म हो गईं और उनसे ताल्लुक रखनेवाले अध्यापकों की एक बहुत बड़ी तादाद बेकार हो गई।

इस तरीके से बंगाल की पुरानी सामंतवादी जमात जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही थे और ख़ास ही वे लोग जो इनके सहारे गुज़र करते थे बरबाद हुए। एक वर्ग के रूप में मुसलमान ज़्यादा सामंतवादी थे और मुआफ़ियों का फ़ायदा उठानेवाले भी ज़्यादातर वही थे इसलिए हिंदुओं के मुकाबले में उनको ज़्यादा हानि हुई। हिंदुओं में मध्यम वर्ग के लोगों की मुसलमानों के मुकाबले में कहीं ज़्यादा बड़ी तादाद थी जो व्यापार और व्यवसाय में या दूसरे पेशों में लगी हुई थी। ये लोग दूसरी चीज़ों से ज़्यादा आसानी से मेल बिठा सकते थे और उन्होंने तेज़ी से अंग्रेज़ी शिक्षा को अपनाया। साथ ही वे अंग्रेज़ों के लिए छोटी नौकरियों में ज़्यादा उपयोगी थे। मुसलमान अंग्रेज़ी शिक्षा से अलग रहे और बंगाल में ख़ुद अंग्रेज़ शासक उनके ख़िलाफ़ थे। उनको यह डर था कि पुराने शासक-वर्ग के बचे हुए ये लोग कहीं उपद्रव न करें। इस तरह शुरू में बंगाली हिंदुओं को छोटी सरकारी नौकरियों में एकाधिपत्य मिल गया और ये लोग उत्तरी सूबों में भी भर गये। बाद में पुराने घरानों के कुछ बचे हुए मुसलमानों को भी इन नौकरियों में शामिल कर लिया गया।

अंग्रेज़ी शिक्षा से हिंदुस्तानी क्षितिज विस्तृत हुआ, अंग्रेज़ी साहित्य और संस्थाओं के लिए दिल में इज़्ज़त हुई, हिंदुस्तानी ज़िंदगी के कुछ पहलुओं और उसकी कुछ रीतियों के ख़िलाफ़ विद्रोह हुआ और राजनैतिक सुधार की मांग बढ़ी। इस नई पेशेवर जमात ने राजनैतिक हलचल में नेतृत्व किया और सरकार के सामने अपने पक्ष को रखा। असल में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे इन पेशेवर लोगों का एक नया वर्ग बन गया जो आगे चलकर सारे ही हिंदुस्तान में फैलनेवाला था। यह एक ऐसा वर्ग था जिस पर पच्छिमी विचारों और तरीकों का असर था और जो आम लोगों से अलग रहा करता था। सन १८    में कलकत्ते में ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन कायम हुआ। यह इंडियन नेशनल कांग्रेस का पूर्वाभास था लेकिन अभी सन १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की शुरुआत तक तो एक पीढ़ी का अरसा पड़ा था। इसी अरसे में १८५७-५८ का विद्रोह हुआ, उसका दमन हुआ और उसके नतीजे सामने आये। उस सदी के बीच में बंगाल में और उत्तरी और मध्य

हिंदुस्तान में जो फ़र्क था वह यह था कि यहाँ एक तरफ़ बंगाल में नये पढ़े-लिखे (खासतौर से हिंदू लोग) अंग्रेज़ी साहित्य और विचारों से प्रभावित हो चुके थे और राजनैतिक-सामाजिक सुधार के लिए इंग्लैंड की तरफ़ आँखें उठाये हुए थे वहाँ दूसरी तरफ़ ये दूसरे हिस्से विद्रोह की भावनाओं से जोश रहे थे।

और जगहों के मुक़ाबले में बंगाल में ब्रिटिश राज्य का और पश्चिम का असर ज्यादा साफ़ दिखाई देता है। देहाती अर्थ-व्यवस्था बिल्कुल टूट गई थी और पुराना सामंतवादी वर्ग ख़त्म कर दिया गया था। उनकी जगह ज़मीन के नये मालिक आ गये थे जिनका ज़मीन से परंपरा का लगाव बहुत ही कम था और जिनमें पुराने सामंतवादी ज़मींदारों के गुण तो क़रीब-क़रीब कोई भी नहीं थे लेकिन जिनमें उनकी ज्यादातर बुराइयाँ ज़रूर थीं। किसानों को अकाल और लूट का सामना करना पड़ा और वे बेहद ग़रीब हो गये। तरह-तरह के कारीगर लोगों की जमात तो क़रीब क़रीब मिट ही थी गई। इन टूटी-फूटी बुनियादों पर ऐसे नये समुदाय और नये वर्ग खड़े हुए, जो ब्रिटिश राज्य की उपज थे और जो उससे कितने ही रूपों में संबंधित थे। साथ ही वे सौदागर लोग थे जो ब्रिटिश कार-बार और तिजारत के दलाल थे और जो उसकी जूठन से फ़ायदा उठाते थे। इनके अलावा छोटी नौकरियों में और विद्वतापूर्ण व्यवसायों में वे पढ़े-लिखे लोग थे जो विभिन्न परिमाण में अंग्रेज़ी विचारों से प्रभावित हुए थे और जो प्रगति के लिए ब्रिटिश ताक़त की तरफ़ आशा से आँखें लगाये हुए थे। इनमें हिंदू समाज के सामाजिक ढाँचे और उसकी कट्टर रीतियों के ख़िलाफ़ विद्रोह हुआ। उन्होंने प्रेरणा के लिए अंग्रेज़ी उदारता और संस्थाओं की तरफ़ आँखें उठाईं।

बंगाल के हिंदुओं के ऊपरी दर्जे पर यह असर हुआ। साधारण हिंदुओं जनता पर कोई ज़ाहिरा असर नहीं हुआ और शायद वहाँ के हिंदू नेताओं ने भी आम जनता के बारे में कुछ नहीं सोचा। कुछ गिने चुने आदमियों को छोड़कर, मुसलमानों पर कोई असर नहीं हुआ और वे जान-बूझकर इस नई शिक्षा से अलहदा रहे। वे पहले भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे अब और भी ज्यादा पिछड़ गये। उन्नीसवीं सदी में बंगाल में कितने ही प्रतिभाशाली हिंदू हुए, लेकिन उस दौरान में बंगाल में उस प्रतिभा का शायद एक भी मुसलमान नेता नहीं हुआ। जहाँतक आम जनता का सवाल है हिंदुओं और मुसलमानों में कोई भी ख़ास फ़र्क नहीं था। उन दोनों में आदतों का रहन-सहन का भाषा का ग़रीबी और तकलीफ़ का एक-सा

पन था। असलियत में हिंदुस्तान भर में कहीं भी हिंदुओं और मुसलमानों में इतना कम अंतर नहीं था जितना बंगाल में था। शायद ९८ फ़ी-सदी मुसलमान पहले हिंदू थे और अब उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया था और वे आमतौर पर समाज के सबसे निचले वर्ग के थे। जनसंख्या के लिहाज़ से शायद मुसलमान हिंदुओं के मुकाबले में कुछ ज्यादा थे। (आजकल बंगाल में आबादी का अनुपात यह है ५३ फ़ी-सदी मुसलमान ४६ फ़ी-सदी हिंदू १ फ़ी-सदी और दूसरे लोग।)

ब्रिटिश शासन के शुरू के ये सब नतीजे और विभिन्न आर्थिक सामाजिक बौद्धिक और राजनैतिक आंदोलन जो उनकी वजह बंगाल में हुए हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी दिखाई देते हैं लेकिन कम और अलग अलग परिमाण में। दूसरी जगहों में सामंतवादी ढांचे का और पुरानी अर्थ-व्यवस्था का खात्मा धीरे-धीरे हुआ और मुकाबले में कम हद तक हुआ। असलियत में उस ढांचे ने विद्रोह किया और यहांतक कि कुचले जाने के बाद भी वह थोड़ा-बहुत बच रहा। उत्तरी हिंदुस्तान के मुसलमान बंगाल के अपने धर्म भाइयों के मुकाबले में सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से ऊंचे थे लेकिन पश्चिमी शिक्षा से वे भी अलहदा रहे। हिंदुओं ने इस शिक्षा को ज्यादा आसानी से अपनाया और वे पश्चिमी विचारों से ज्यादा प्रभावित हुए। छोटी सरकारी नौकरियों में और दूसरे अच्छे पेशों में मुसलमानों के मुकाबले में हिंदू कहीं ज्यादा थे। सिर्फ पंजाब में ही यह फ़र्क इतना ज्यादा नहीं था।

सन १८५७-५८ में विद्रोह भड़का और उसे कुचल दिया गया लेकिन बंगाल करीब-करीब उससे अछूता रहा। पूरी उन्नीसवीं सदी में वहां अंग्रेजी पढ़ी लिखी जमात ने इंग्लैंड की तरफ श्रद्धा से देखा और उन्होंने इंग्लैंड की मदद से और उसके सहयोग से आगे बढ़ने की आशा की। संस्कृति के मैदान में एक नई जागृति हुई और बंगला भाषा की असाधारण उन्नति हुई और बंगाल के नेता राजनैतिक हिंदुस्तान के नेता के रूप में सामने आये।

उन दिनों बंगाल के दिमाग में इंग्लैंड के प्रति जो आदर और विश्वास भरा हुआ था उसकी और साथ ही सुदृढ़ सामाजिक रीतियों के खिलाफ विद्रोह की झलक उस हृदय स्पर्शी संदेश से मिलती है जो अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले अपनी अस्सीवीं वर्ष-गांठ पर (मई १९४१) में भी रवींद्रनाथ ठाकुर ने दिया। उन्होंने कहा— "अब मैं पीछे मुड़कर अपने जीवन के युग को देखता हूं और अपने बचपन की बढ़वार के इतिहास को स्पष्टता से

देखता हूं तो उस परिवर्तन को देखकर, जो मेरे रुख में हुआ और जो मेरे देशवासियों की मनोवृत्ति में हुआ है—एक ऐसा परिवर्तन जिसके अंदर एक अत्यंत दुख का कारण निहित है—तो मैं चकित रह जाता हूं।

"मानव के बृहत्तर संसार से हमारा सीधा संपर्क उस अंग्रेज जनता के तत्कालीन इतिहास से जुड़ा हुआ है जिससे उन शुरू के दिनों में हमारा परिचय हुआ। विशेष रूप से उन्हींके विस्तृत साहित्य के द्वारा हमने अपने हिंदुस्तानी तटों पर आनेवाले इन आगंतुकों के बारे में अपने विचार बनाये। उन दिनों हमको जिस ढंग की शिक्षा दी जाती थी न तो वह काफी थी और न वह कई तरह की थी और उसमें वैज्ञानिक जिज्ञासा की भावना भी जाहिर नहीं होती थी। इस तरह उसका क्षेत्र खासतौर से सीमित होने की वजह से उन दिनों के पढ़े-लिखे आदमी अंग्रेजी भाषा और साहित्य की ओर जाते। उनके दिन और रात बर्क के ओजस्वी भाषणों से मैकॉले के लंबे-लंबे वाक्यों से शेक्सपियर के ड्रामा बायरन के काव्य और खासतौर से उन्नीसवीं सदी की अंग्रेजी राजनीति की उदारता की विवेचना से जगमगाते रहते।

"हालांकि उस समय अपनी राष्ट्रीय आजादी पाने की कुछ दूसरी कोशिशें की जा रही थीं लेकिन दिल में अंग्रेज-जाति की उदारता में हमारा विश्वास लुप्त नहीं हुआ था। हमारे नेताओं के दिलों में यह यकीन इतना पक्का जमा हुआ था कि उनको यह आशा थी कि विजेता अपनी ही मेहरबानी से विजित जनता की आजादी का रास्ता खोल देगा। इस विश्वास की बुनियाद इस बात पर थी कि उस वक्त इंग्लैंड में उन सब लोगों को शरण मिल जाती थी जिनको सरकारी कोप की वजह से अपने देश को छोड़कर भागना होता था। उन राजनैतिक शरणार्थियों का जिन्होंने अपनी जनता की इज्जत के लिए मुसीबतें उठाई थीं इंग्लैंड में खुला स्वागत होता था। अंग्रेजों के स्वभाव में इस प्रकार मानवता की अभिव्यक्ति से मैं प्रभावित हुआ और इस तरह मैंने उनको अपने सर्वोच्च सम्मान का आसन दिया। उनके राष्ट्रीय स्वभाव की यह उदारता साम्राज्यवादी अहंकार से अभी कलुषित नहीं हुई थी। करीब इसी वक्त जब मैं लड़का ही था इंग्लैंड में मुझे पार्लमेंट में और बाहर भी जॉन ब्राइट के भाषण सुनने के अवसर मिले। उन व्याख्यानों की जबरदस्त उदारता ने जो सारी संकरी राष्ट्रीय सीमाओं को पार किये हुए थी मेरे दिमाग पर इतनी गहरी छाप डाली कि आज भी जब सारा भाव जाल टूट गया है, उसका थोड़ा-सा असर बना हुआ है।

'सचमुच ही अपने शासकों की दया पर कृपास्पद निर्भरता की भावना कोई अभिमान की चीज नहीं थी। हां, जो बात खास थी वह यह थी कि हमने मानवीय महानता को, चाहे उसकी अभिव्यक्ति एक विदेशी आदमी में ही क्यों न हुई हो, जी-जान से मंजूर किया। मानवता के सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ उपहारों पर किसी विशेष जाति या विशेष देश का एकाधिपत्य नहीं हो सकता। उनके क्षेत्र को न तो सीमित ही किया जा सकता है और न वे कंजूस के जमीन में गड़े हुए धन की तरह हो सकते हैं। यही वजह है कि अंग्रेजी साहित्य, जिसने गुजरे हुए जमाने में हमारे दिमाग का पोषण किया, अब भी हमारे अंतरतम में गूंजता है।

आगे चलकर भी रवीन्द्रनाथ शास्त्रीय-परंपरा से निर्धारित उचित व्यवहार के भारतीय आदर्श की चर्चा करते हैं—"स्वयं-संकीर्ण और दीर्घ काल से सम्मानित इन सामाजिक रीतियों का जन्म उस सीमित भौगोलिक प्रदेश में हुआ और वहीं पर इनका चलन रहा जो सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच में था और उसको ब्रह्मावर्त कहा जाता था। इस तरह आडंबरपूर्ण व्यवहारवाद धीरे-धीरे स्वतंत्र विचार पर छा गया और 'उचित व्यवहार' का वह विचार जो मनु को ब्रह्मावर्त में सुस्थापित मिला धीरे-धीरे सामाजिक अत्याचार के रूप में परिणत हो गया।

मेरे बचपन के दिनों में बंगाल के संस्कृत और पढ़े-लिखे समुदाय में, जो अंग्रेजी शिक्षा में पला था, समाज के इन कठोर नियमों के विरुद्ध विद्रोह की भावना भरी हुई थी। उन्होंने व्यवहार के इन निश्चित नियमों के स्थान पर अंग्रेजी अर्थ में सभ्यता के आदर्श को मंजूर कर लिया।

खुद हमारे ही घराने में केवल उसके तार्किक और नैतिक वेग के कारण इस भावना-परिवर्तन का स्वागत किया गया और उसका प्रभाव हमारे जीवन के हर एक क्षेत्र में महसूस हुआ। उस वातावरण के जन्म लेने की वजह से और साहित्य में हमारा एक आंतरिक पक्षपात होने के कारण मैंने अंग्रेजों को अपने हृदयासन पर बिठा दिया। इस तरह मेरे जीवन के प्रथम अध्याय समाप्त हुए। तब वह समय आया, जब हमारी दिशाएं भिन्न हुईं, और उस वक्त धोखे को जानकर बड़ी तकलीफ हुई। उसके बाद मुझे दिन-ब-दिन यह देखने को ज्यादा मिला कि वे लोग जो सभ्यता की सर्वोत्तम सचाइयों का मजाक करते हैं, राष्ट्रीय स्वार्थ का सवाल आने पर कितनी आसानी से अपने-आपको उनसे अलग कर लेते हैं।

### ७ सन १८५७ का महा विद्रोह जातीय अहंकार

करीब एक सदी तक ब्रिटिश हुकूमत में रहकर बंगाल ने उससे अपना मेल बिठा लिया था। किसान अकाल से बरबाद हो गये थे और नये आर्थिक बोझों से पिस रहे थे। नये पढ़े-लिखे लोग पश्चिम की तरफ देख रहे थे और यह उम्मीद कर रहे थे कि अंग्रेजी उदारता के जरिये तरक्की होगी। यही बात कमो-बेश दक्खिनी और पश्चिमी हिंदुस्तान में मद्रास और बंबई में थी। लेकिन उत्तरी सूबों में इस तरह का कोई भी झुकाव या फ़रमाबरदारी नहीं थी और विद्रोह की भावना आम जनता में और खासतौर से सामंतवादी सरदारों और उनके अनुयायियों में बढ़ रही थी। जनता में भी असंतोष और जोरदार ब्रिटिश विरोधी भावनाएं खूब फैली थीं। ऊंचे वर्ग के लोगों को इन विदेशियों की अकड़ और उनका अपमानजनक व्यवहार बहुत अखरता। जनता को ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों के लालच या अनजानपन की वजह से बहुत मुसीबतें उठानी पड़तीं। ये अफ़सर उनकी बहुत अरसे से प्रचलित रीतियों की अवहेलना करते और देशवासियों के विचारों का कोई ध्यान ही नहीं देते। एक बहुत बड़ी आबादी पर मनमानी करने की ताक़त से उनके दिमाग़ फिर गये थे और उन्हें कोई भी रोक या लगाम बरदाश्त नहीं थी। यहांतक कि नई न्याय-प्रणाली जो उन्होंने क़ायम की वह भी एक आतंक की चीज बन गई, क्योंकि एक तो उसमें बहुत-सी उलझनें थीं और दूसरे न्यायाधीश देश की भाषा और प्रथाओं से अपरिचित थे।

सन १८१७ में ही सर टॉमस मुनरो ने गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिग्ज को ब्रिटिश हुकूमत के फ़ायदे बताने के बाद कहा— "लेकिन ये फ़ायदे बहुत महंगे पड़े हैं। जनता की आज़ादी राष्ट्रीय स्वभाव और जनता को जो चीज भी सम्माननीय बनाती है उसके बलिदान की क़ीमत पर ये फ़ायदे खरीदे गये हैं। इसलिए अंग्रेजी ताक़त से हिंदुस्तान को जीतने का नतीजा यहां की जनता को उठाने की जगह उसको गिराना होगा। शायद जीत की ऐसी कोई भी मिसाल नहीं है जिसमें देशवासियों को सरकारी काम से इतना ज्यादा अलग कर दिया गया है, जितना कि ब्रिटिश भारत में।

इस तरह मुनरो ने हुकूमती ढांचे में हिंदुस्तानियों को शामिल करने के लिए कहा। एक साल बाद मुनरो ने फिर कहा—"विदेशी विजेताओं ने देशवासियों के साथ हिंसा का और अक्सर बहुत ज्यादा बेरहमी का बरताव किया है लेकिन किसीने भी उनसे इतनी नफ़रत का बरताव नहीं

किया जितना हमने किया है। किसीने भी सारी जनता को अविश्वसनीय बताकर ईमानदारी के लिए असमर्थ बताकर, इतना कलंकित नहीं किया जितना हमने किया है। हमने सिर्फ़ उसी जगह उनको भरती करना ठीक समझा जहां हमारा काम उनके बिना चल नहीं सकता था। यह बात सिर्फ़ अनुदार ही नहीं मालूम देती बल्कि बेजा है कि हम विजित जनता के चरित्र को ही कलंकित कर दें।'[1]

दो सिख लड़ाइयों के बाद सन १८५० तक ब्रिटिश हुकूमत पंजाब में फैला दी गई। महाराजा रंजीतसिंह जिसने पंजाब की सिख हुकूमत को बनाया और फैलाया रक्खा था सन १८३९ में मर गया। सन १८५६ में अवध को छीन लिया गया। वैसे तो करीब पचास बरसों से अवध ब्रिटिश हुकूमत में ही था क्योंकि यह एक अधीन राज्य था जहां का नाममात्र का शासक बेबस था और बहुत बिगड़ा हुआ था और जहां पर ब्रिटिश रेज़िडेंट सर्वशक्तिमान था। उससे मुसीबतों की हद हो गई थी और उसमें सहायक संधि के ढांचे की सारी बुराइयां दिखाई देती थीं।

मई, सन १८५७ में मेरठ की हिंदुस्तानी फ़ौज ने बगावत की। विद्रोह का खुफ़िया तौर पर बहुत अच्छा संगठन किया गया था लेकिन नियत समय से पहले ही इस उभार से नेताओं की सारी योजना ही बिगड़ गई। यह सिर्फ़ एक फ़ौजी बगावत से कहीं ज्यादा बड़ी चीज़ थी। उसने बड़ी तेज़ी से विद्रोह का रूप ले लिया और वह हिंदुस्तानी आज़ादी की लड़ाई हो गई। आम जनता के लोकप्रिय विद्रोह के रूप में यह लड़ाई दिल्ली, संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) बिहार और मध्य-हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों तक ही सीमित थी। खासतौर से तो यह एक सामंतवादी विद्रोह था जिसके अगुआ सामंतवादी सरदार या उनके साथी थे और जिसमें विदेशी-विरोधी व्यापक भावनाओं से सहायता मिली। कानूनी तौर पर इसकी निगाह बचे-खुचे मुग़ल राजवंश पर थी जो अब भी दिल्ली के महलों में था लेकिन दुर्बल अशक्त और बूढ़ा हो गया था। इस विद्रोह में हिंदुओं और मुसलमानों दोनों ने ही हिस्सा लिया।

इस विद्रोह में ब्रिटिश हुकूमत को अपना पूरा-पूरा ज़ोर लगाना पड़ा। लेकिन आख़िर में उसका दमन *हिंदुस्तानी मदद से हुआ। पुरानी हुकूमत* की सारी पैदायशी कमज़ोरियां ऊपर आ गईं। यह हुकूमत विदेशी राज्य

---

एडवर्ड टामसन द्वारा 'दि मेकिंग ऑव दि इंडियन प्रिंसेज़' (१९४३) में उद्धृत। पृष्ठ २७३ २७४।

को उखाड़ फेंकने की अपनी आखिरी जी-तोड़ कोशिश कर रही थी। सामंतवादी सरदारों को विस्तृत प्रदेशों में आम जनता की सहानुभूति प्राप्त थी लेकिन वे लाचार थे असंगठित थे और उनके सामने कोई रचनात्मक आदर्श या सामूहिक हितकर मकसद नहीं था। इतिहास में वे अपना काम पूरा कर चुके थे और आगे उनके लिए कोई जगह नहीं थी। उनमें ऐसे भी बहुत-से लोग थे जिनकी विदेशी राज्य के खिलाफ़ होनेवाले विद्रोह से सहानुभूति तो थी लेकिन जिन्होंने सयानेपन से काम लिया और अलग खड़े हुए इस बात को देखते रहे कि कौनसा पक्ष अधिक सबल है और किसकी जीत की संभावना है। बहुत-से लोगों ने देशद्रोहियों का काम किया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रजवाड़े या तो अलग रहे या उन्होंने अंग्रेजों की मदद की क्योंकि जो कुछ भी उनके पास था उसे जोखिम में डालने में उन्हें डर लगता था। नेताओं में कोई भी क़ौमी एकता लानेवाली भावना नहीं थी सिर्फ़ एक विदेशी-विरोधी भावना थी और उसके साथ अपने सामंतवादी विशेषाधिकारों को कायम रखने की इच्छा थी और यह उस राष्ट्रीय भावना की जगह नहीं ले सकती थी।

अंग्रेजों को गुरखों की मदद मिली लेकिन उससे भी ज्यादा ताज्जुब की बात यह है कि उन्हें सिखों की मदद मिली। सिख उनके दुश्मन रहे थे और अंग्रेजों ने कुछ ही बरस पहले उनको हराया था। यह सचमुच ही अंग्रेजों के लिए एक तारीफ़ की बात थी या बुराई की यह अपने-अपने खयाल की बात है। हाँ यह जरूर जाहिर है कि उस वक्त हिंदुस्तानी जनता को एक सूत्र में बाँधनेवाली क़ौमी भावना की कमी थी। आजकल जैसी क़ौमियत तो अभी आने को थी अभी हिंदुस्तान को बहुत तकलीफ़ और मुसीबतें सहनी थीं इसके पहले कि वह उस सबक को सीखता जो उसे सच्ची आजादी देता। किसी पराजित आदर्श के लिए, यानी सामंतवादी ढाँचे के लिए, लड़ने से आजादी हासिल नहीं हो सकती थी।

विद्रोह में छापामार लड़ाई करनेवाले कुछ मार्के के नेता सामने आये। उनमें एक तो फीरोजशाह था जो दिल्ली के बहादुरशाह का रिश्तेदार था। लेकिन उनमें सबसे ज्यादा प्रतिभावान नेता था तात्या टोपी जिसने अंग्रेजों को उस वक्त भी कितने ही महीनों तक परेशान किया जबकि हार उसके सामने साफ़ तौर पर दिखाई दे रही थी। आखिर में जब वह नर्मदा को पार करके मराठा प्रदेशों में अपने ही आदमियों से स्वागत और सहायता पाने की आशा से पहुँचा तो सिर्फ़ उसका स्वागत ही नहीं हुआ बल्कि उसके साथ दगा भी की गई। इन सबके ऊपर एक नाम और है, जिसके लिए

आम जनता में अब भी इज्जत है और वह नाम है लक्ष्मीबाई का जो झांसी की रानी थी, जिसकी उम्र बीस बरस की थी और जो लड़ते-लड़ते मारी गई। उन अंग्रेज सेनापतियों ने जिन्होंने उसका मुकाबला किया उसके बारे में यह कहा कि वह बागी नेताओं में 'सर्वोत्तम और सबसे ज्यादा बहादुर' थी।

गदर के अंग्रेजी स्मारक कानपुर में और दूसरी जगह में बना दिये गये हैं। उन हिंदुस्तानियों के जिन्होंने अपनी जानें दीं कोई स्मारक नहीं हैं। कभी-कभी बिद्रोही हिंदुस्तानियों ने बड़ा क्रूर और बर्बरतापूर्ण व्यवहार किया; वे लोग असंगठित थे, दबे हुए थे और वे अक्सर ब्रिटिश अत्याचारों की खबरों से नाराज हो उठते थे। लेकिन इस तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है जिसने हिंदुस्तान के दिमाग पर अपनी छाप डाली और मेरे सूबे में तो खासतौर से गांवों और कस्बों में उसकी याद बनी हुई है। हर शख्स उसको भूल जाना चाहेगा क्योंकि वह एक बड़ी भयानक और घृणास्पद तस्वीर है और अगरचे वर्तमान युद्ध में नाज़ियों द्वारा बर्बरता के नये मापदंड बन गए हैं, फिर भी यह कहा जा सकता है कि उसमें इन्सान अपनी बुरी-से बुरी शक्ल में सामने आता है। लेकिन उसको सिर्फ उस वक्त ही भुलाया जा सकता है और उसके बाद उस वक्त ही वह अनासक्तिपूर्ण और अव्यक्तिगत हो सकती है जब वह सचमुच ही गुज़रे ज़माने की चीज़ हो जाय और उसका मौजूदा वक्त से कोई ताल्लुक न रहे। लेकिन जब याद दिलानेवाली चीज़ें मौजूद हैं और जब उन घटनाओं के पीछे की भावना बनी रहती है और दिखाई देती है तो हमारी जनता में उसकी याद भी बनी रहेगी और उसका असर दिखाई देगा। तस्वीर को ढक देने की कोशिश से वह मिट नहीं जाती, बल्कि वह दिमाग में और भी ज्यादा गड़ जाती है। सिर्फ स्वाभाविक ढंग से उसमें बदलने पर ही उसका असर कम किया जा सकता है।

थी। केये और मैलीसन की 'हिस्टरी ऑव दि म्यूटिनी' में और टामसन और गैरेट की 'राइज एंड फुलफ़िलमेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में जो बयान दिये गये हैं उनकी भयंकरता से आदमी बेचैन हो उठता है। 'हर एक हिंदुस्तानी जो अंग्रेजों की तरफ़ से लड़ नहीं रहा था औरतों और बच्चों का हत्यारा माना गया। दिल्ली के रहनेवालों का (और उनमें ऐसे भी लोग थे जो हमारी सफलता की खुले तौर पर अपनी इच्छा प्रकट करते थे) क़त्ले-आम करने का हुक्म दे दिया गया।' तैमूर और नादिरशाह के दिन याद आ गये लेकिन यह नया आतंक तो इतने ज्यादा वक्त तक रहा और इतने बड़े हिस्सों में कि उनके कारनामे भी फीके पड़ गये। लूट-मार की सरकारी तौर पर एक हफ्ते के लिए इजाजत मिली और वह क़रीब एक महीने तक जारी रही। उसके साथ क़त्ले-आम भी जारी था।

खुद इलाहाबाद के मेरे ही शहर और जिले में और उसके पड़ोस में जनरल नील ने अपने खूनी मुकदमे किये। "सिपाही और ग़ैर-सिपाही सभी खूनी मुकदमे कर रहे थे और वे उम्र या स्त्री-पुरुष का लिहाज किये बग़ैर बिना मुकदमे के ही देसी आदमियों को क़त्ल कर रहे थे। हमारी ब्रिटिश पार्लमेंट के पुराने कागज़ों में गवर्नर जनरल की रिपोर्टों में यह बात दर्ज है कि बाग़ियों की तरह बूढ़ी औरतों और बच्चों का भी बलिदान कर दिया जाता है। उनको इरादतन फांसी नहीं दी गई, बल्कि गांवों में आग लगाकर ही उनको मार डाला गया और जो बच रहे उनको गोली मार दी गई। "फांसी देनेवाले स्वयंसेवकों के दल जिले में गये और उस वक्त शौक़िया फांसी देनेवालों की कमी नहीं थी। एक शख्स ने तो बड़ी तारीफ़ के साथ उन लोगों की गिनती बताई जिनको उसने एक 'कलात्मक ढंग' से खत्म कर दिया था। कुछ को उसने आम के पेड़ों पर लटकाकर फांसी दे दी थी कुछ को उसने हाथी की पीठ पर से पटक दिया था और इस जंगली न्याय के शिकार हुए लोगों को तफ़रीह के लिए आठ के अंक की शक्ल में एक साथ बांधा गया था। यही बात कानपुर में हुई, लखनऊ में हुई और दूसरी जगहों में हुई।

जनरल नील की उसके कृतज्ञ देशवासियों द्वारा मूर्ति खड़ी की गई—हिंदुस्तान के खर्चे से। वह मूर्ति तो ब्रिटिश राज्य की सच्ची प्रतीक है जैसी वह उस वक्त थी और बाद में रही। निकल्सन की मूर्ति पुरानी दिल्ली में अब भी नंगी तलवार ताने खड़ी है।[1]

इस पुराने इतिहास का जिक्र करना बुरा है, लेकिन उन घटनाओं के

---

[1] यह अब हटा दी गई है। —सं

पीछे जो भावना थी वह उन घटनाओं के साथ ही खत्म नहीं हुई। वह बाकी बच रही और अब भी जब कभी कोई संकट आता है, तो वही चीज फिर दिखाई देती है। अमृतसर और जलियांवाले बाग के बारे में दुनिया जानती है लेकिन गदर के बाद जो कुछ हुआ है, उसका उसको पता नहीं है, यहांतक कि उसका भी जो हमारे ही जमाने में हुआ है और जिसने नई पीढ़ी में कड़ुआहट भर दी है। साम्राज्यवाद और एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र पर राज्य बुरा होता है। यही बात जातीय अहंकार के साथ है। लेकिन अगर साम्राज्यवाद और जातीय अहंकार जुड़ जायें तो उससे तो एक बहुत ही भयंकर हालत होगी और आखिर में उससे संबंधित सभी लोगों में गिरावट आयेगी। इंग्लैंड के भविष्य के इतिहासकारों को इस बात पर गौर करना होगा कि इंग्लैंड के पतन में उसके साम्राज्यवाद और उसके जातीय अहंकार का कितना असर रहा—उन चीजों का असर, जिन्होंने उसके सार्वजनिक जीवन को दूषित कर दिया था और जिन्होंने उसे अपने ही इतिहास और साहित्य के पाठों का विस्मरण करा दिया था।

जब से हिटलर मशहूर हुआ और जर्मनी का डिक्टेटर बना हमको जातीय अहंकार के बारे में बहुत-कुछ सुनने को मिला है। उन सिद्धांतों की निंदा की गई है, और आज भी संयुक्त राष्ट्रों के नेता उनकी निंदा करते हैं। जीव-विज्ञान के विशेषज्ञ बताते हैं कि जातीयता एक कोरी काल्पनिक चीज है और अधिपति-जाति जैसी कोई चीज नहीं है। लेकिन जब से ब्रिटिश राज्य शुरू हुआ है, हमको हिंदुस्तान में जातीय अहंकार की सारी शक्लें देखने को मिली हैं। इस हुकूमत का सारा आदर्शवाद उस अधिपति-जाति के सिद्धांत पर था और सरकारी ढांचा उसीकी बुनियाद पर खड़ा था। असलियत में अधिपति-जाति की भावना तो साम्राज्यवाद में अन्तर्गत है। उसमें कोई धोखा नहीं था जो लोग हुकूमत कर रहे थे उन्होंने इसकी स्पष्ट शब्दों में घोषणा की। शब्दों से ज्यादा ताकत उस बरताव में थी, जो जनता के साथ किया जाता था। पीढ़ी-के-बाद-पीढ़ी में एक-के-बाद दूसरे साल में हिंदुस्तान के साथ एक राष्ट्र के रूप में और हिंदुस्तानियों के साथ व्यक्तिगत रूप में बेइज्जती और नफरत से भरा हुआ बरताव किया गया है। हमको बताया जाता था कि अंग्रेजों की एक शाही जाति थी जिसको हम पर हुकूमत करने का और हमको गुलामी में रखने का दैवी अधिकार मिला हुआ था जब हम विरोध करते थे तो हमको शाही जाति के सिंह स्वभाव की बात दिखाई जाती। एक हिंदुस्तानी की तरह यह लिखते हुए मुझे शर्म महसूस होती है, क्योंकि उसकी याद से तकलीफ पहुंचती है और

जिस बात से और भी ज्यादा तकलीफ़ होती है वह यह है कि इस बेइज्जती के सामने हमने इतने अरसे तक सिर झुकाया और उसको बरदाश्त किया। इसके खिलाफ़ मैंने तो किसी भी ढंग से विरोध को पसंद किया होता चाहे उसका नतीजा कुछ ही क्यों न आता। और फिर भी यह अच्छा है कि अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों ही उसको जान लें क्योंकि यह तो इंग्लैंड के हिंदुस्तान के साथ संबंध की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि है। मनोवृत्ति की अहमियत होती है और बातीम स्मृतियां गहरी होती हैं।

एक उदाहरण स्वरूप उद्धरण से हम यह महसूस कर सकेंगे कि हिंदुस्तान में ज्यादातर अंग्रेजों के क्या ख़यालात हैं और वे किस तरह बरताव करते हैं। सन १८८३ में इल्बर्ट बिल आंदोलन के समय सेटन केर ने जो हिंदुस्तानी सरकार के विदेश-सचिव रह चुके थे, एलान किया कि 'यह बिल उस प्रिय विश्वास के विरुद्ध जाता है जो हिंदुस्तान में हर अंग्रेज के दिल में है, चाहे वह कितनी ही बड़ी जगह पर हो या छोटी जगह पर हो चाहे वह चीफ़ कमिश्नर हो या वाइसराय हो या चाय बग़ान के मालिक का सहायक हो—कि वह उस जाति का सदस्य है जिसको ईश्वर ने जीतने और हुकूमत करने के लिए बनाया है।'[1]

## ८ ब्रिटिश हुकूमत की तरकीब संतुलन

सन १८५७-५८ का विद्रोह खासतौर से एक सामंतवादी उठान था हालांकि वैसे उसमें कुछ राष्ट्रीयता से प्रेरित हिस्से भी थे। फिर भी साथ-ही-साथ रजवाड़ों की और दूसरे सामंतवादी सरदारों की मदद से अंग्रेज उसको कुचलने में कामयाब हुए। जो लोग विद्रोह में शामिल हुए, वे आम तौर पर वे थे जिनके विशेष अधिकारों को या जिनकी ताक़त को ब्रिटिश हुकूमत ने छीन लिया था या वे लोग थे जिनको इस बात का डर था कि कहीं उनकी क़िस्मत दूसरे सरदारों की-सी न हो। ब्रिटिश नीति ने कुछ हिचक के बाद इस पक्ष में फ़ैसला किया था कि धीरे-धीरे राजा और नवाबों की हुकूमत ख़त्म कर दी जाय और सारे देश में सीधे ब्रिटिश राज्य को क़ायम कर लिया जाय। विद्रोह से इस नीति में रद्दो-बदल हुई, सिर्फ़ राजा और नवाबों के ही पक्ष में नहीं बल्कि ताल्लुक़ेदारों और बड़े ज़मींदारों के भी पक्ष में। यह महसूस किया गया कि इन सामंती या अर्ध-सामंती सरदारों के ज़रिये आम जनता पर क़ाबू करना ज़्यादा आसान है। अलग

---

[1] एडवर्ड टामसन द्वारा 'राइज एंड फुलफ़िल्मेंट ऑव ब्रिटिश रूल इन इंडिया' में उद्धरित।

के ये ताल्लुकेदार मुगलों के मालगुजार काश्तकार रहे थे लेकिन केंद्रीय हुकूमत के कमज़ोर हो जाने से ये लोग सामंतवादी ज़मींदारों की तरह काम करने लगे थे। करीब-करीब वे सभी विद्रोह में शामिल हुए। हां उनमें से कुछ ऐसे होशियार लोग भी थे जिन्होंने अपनी बचत का रास्ता बनाये रखा। उनकी बगावत के बावजूद ब्रिटिश हुकूमत ने उनको (कुछ अपवादों को छोड़कर) फिर से कायम करना चाहा और अच्छी सेवा और वफ़ादारी की शर्त पर उनको फिर से उनकी जागीरें लौटाने का फ़ैसला किया। इस तरह से ये ताल्लुकेदार जो अपने-आपको अवध के सामंत कहने में फ़ख महसूस करते हैं ब्रिटिश हुकूमत के खंभे बन गये।

हालांकि विद्रोह का सीधा असर तो देश के कुछ हिस्सों पर ही हुआ, लेकिन उसने सारे हिंदुस्तान को और खासतौर से ब्रिटिश हुकूमत को झकझोर दिया। सरकार ने फिर से सारे ढांचे का संगठन किया। ब्रिटिश ताज ने यानी पार्लामेंट ने देश को ईस्ट इंडिया कंपनी से अपने हाथों में ले लिया। हिंदुस्तानी फ़ौज जिसने गदर की शुरुआत की थी नये सिरे से संगठित हुई। ब्रिटिश राज्य जो अब अच्छी तरह कायम हो चुका था की बुनियादी नीति अब साफ़ की गई मुक़र्रर की गई और उसके अनुसार काम किया जाने लगा। उसकी बुनियादी बातें ये थीं—ऐसे निहित स्वार्थों को कायम करना और उनकी हिफ़ाज़त करना जो ब्रिटिश हुकूमत से बंधे हुए थे और यहां के विभिन्न हिस्सों में संतुलन बनाये रखने की नीति और फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों का बढ़ावा देना।

राजे और बड़े ज़मींदार वे बुनियादी निहित स्वार्थ थे जो इस तरह पैदा किये गये और जिनको बढ़ावा दिया गया। लेकिन एक नया वर्ग और था जो ब्रिटिश हुकूमत से बना हुआ था और अब उसकी अहमियत बढ़ी। यह वर्ग उन हिंदुस्तानियों का था जो नौकरियों में और खासतौर से छोटी जगहों पर थे। पहले तो जहांतक मुमकिन हो सकता था हिंदुस्तानियों को भरती नहीं किया जाता था और मुतरों में उनकी भरती के लिए ज़ोर दिया था। अब तजुर्बे से यह बात ज़ाहिर हो गई कि भरती किये हुए हिंदुस्तानी ब्रिटिश हुकूमत पर इतने ज़्यादा निर्भर होते थे कि उन पर भरोसा किया जा सकता था और उनको हुकूमत के एजेंट की तरह बरता जा सकता था। गदर से पहले के दिनों में छोटी नौकरियों के ज़्यादातर हिंदुस्तानी सदस्य बंगाली रहे थे। ये लोग उत्तरी सूबों में जहां कहीं भी ब्रिटिश हुकूमत के सिविल या फ़ौजी दफ़्तरों में क्लर्कों की ज़रूरत होती भेज दिये जाते और इस तरह ये सब जगह फैल गये थे। संयुक्त प्रांत, दिल्ली और

यहांतक कि पंजाब में जहां-जहां हुकूमती या फ़ौजी अड्डे थे इन लोगों की नौ-आबादियां बस गईं। ये बंगाली [illegible] बिटिश फ़ौजों के साथ रहते और उनके बड़े वफ़ादार नौकर साबित हुए। विद्रोह करनेवालों ने [illegible] अंग्रेज़ी ताक़त से लगाव मान लिया था और विद्रोही उनसे बहुत ज़्यादा नफ़रत करते थे और उनको गालियां देते थे।

इस तरह पर नीचे की नौकरियों में हिंदुस्तानीपने का सिलसिला शुरू हो गया था अगरचे सभी असली ताक़त अंग्रेज़ों के हाथ में थी। ज्यों-ज्यों अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रसार हुआ नौकरियों में बंगालियों का एकाधिपत्य कम हुआ और हुकूमत के न्याय और व्यवस्था-संबंधी दोनों ही महकमों में और दूसरे हिंदुस्तानी भी आये। यह भारतीयकरण ब्रिटिश राज्य को मज़बूत करने का सबसे ज़्यादा कारगर तरीक़ा हो गया। इस तरह हर जगह एक ऐसी सिविल फ़ौज या एक ऐसा सिविल अड्डा बन गया जो क़ब्ज़ा करनेवाली हथियारबंद फ़ौज से भी ज़्यादा अहम था। इस सिविल फ़ौज में कुछ ऐसे लोग थे जो लायक़ थे और जिनमें देशभक्ति और राष्ट्रीय प्रवृत्ति थी लेकिन सिपाही की तरह जो व्यक्तिगत हैसियत से बेअसर हो जाता था वे नियम और अनुशासन से बंधे हुए थे और हुक्म-उदूली विश्वासघात और विद्रोह का दंड बहुत कठोर था। सिर्फ़ यह सिविल फ़ौज ही नहीं बनी बल्कि उसमें भरती होने की उम्मीद का एक बहुत बड़ी तादाद पर, जो दिनों-दिन बढ़ रही थी असर हुआ और उस असर ने उन लोगों को बिगाड़ दिया। उसमें एक ढंग का रोब था एक ढंग की सुरक्षा थी और नौकरी ख़त्म होने के बाद पेन्शन का इंतज़ाम था और अगर अपने अफ़सरों के सामने काफ़ी अदब दिखलाया जाता तो और दूसरी ख़ामियों के होने पर भी कोई ख़तरा नहीं था। ये सिविल नौकर ब्रिटिश हुकूमत और जनता के बीच में बिचौलिये थे। और अगर उनको अपने अफ़सरों का अदब करना पड़ता था तो वे भी अपनी जगह पर अपने मातहतों से और आम जनता से अदब करा सकते थे।

आमदनी के दूसरे ज़रियों के अभाव में सरकारी नौकरियों की अह-मियत और भी ज़्यादा हो गई। कुछ लोग वकील या डाक्टर हो सकते थे लेकिन सिर्फ़ उसीकी वजह से कामयाबी होना कोई ज़रूरी नहीं था। उद्योग-धंधे तो नहीं के बराबर थे। तिजारत कुछ ख़ास वर्गों के हाथों में थी और उनमें उसके लिए एक ख़ास सूझ थी। वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन्हीं लोगों के हाथों में रहती और वे लोग एक-दूसरे की मदद करते। नई शिक्षा तिजारत या उद्योग-धंधे के लिए कोई योग्यता नहीं साबित होती थी उसकी निगाह

तो खासतौर से सरकारी नौकरी पर थी। शिक्षा इतनी संकरी थी कि किसी दूसरे पेशे की उसमें गुंजायश नहीं थी। समाज-संबंधी नौकरियों का करीब-करीब कोई अस्तित्व ही नहीं था। इस तरह सिर्फ सरकारी नौकरी ही बाकी बची। लेकिन ज्यों-ज्यों कालेजों से ग्रेजुएट निकलते गये, इन सरकारी नौकरियों में भी उन लोगों का खपना मुश्किल हो गया और इनमें पहुंचने के लिए भयंकर प्रतियोगिता होने लगी। बेकार ग्रेजुएटों का एक ऐसा गिरोह हो गया, जिसमें से सरकार हमेशा ही अपने लिए आदमी ले सकती थी। जो लोग नौकरियों में थे, उनकी सुरक्षा के लिए ये लोग एक खतरा बन गये। इस तरह ब्रिटिश सरकार हिंदुस्तान में सबसे बड़ी नौकरी देनेवाली संस्था ही नहीं थी, बल्कि नौकरी देनेवाली (रेलों की नौकरियां भी इसमें शामिल हैं) सिर्फ वही एक बड़ी संस्था थी। इस तरह एक बहुत बड़ा नौकरशाही ढांचा तैयार हो गया, जिसकी व्यवस्था और जिसका नियंत्रण बाहरी आदमियों के जरिये होता था। यह महत्त्वशाली देश पर ब्रिटिश पंजा कसने के लिए की गई, जिसके जरिये उसे अपने विरोधी तत्त्वों को कुचलना था और साथ ही उन लोगों में, जो सरकारी नौकरियों की तरफ आस लगाये हुए थे, फूट और होड़ पैदा करना था। उसकी वजह से नैतिक गिरावट आई, संघर्ष हुआ, क्योंकि सरकार विभिन्न समुदायों को आपस में लड़ा सकती थी।

संतुलन और प्रतिसंतुलन की नीति को हिंदुस्तानी फौज में इरादतन बढ़ावा दिया गया। विभिन्न समुदायों को इस तरह रखा कि उनमें राष्ट्रीय ऐक्य की भावना न उठ सके। प्रांतीय और साम्प्रदायिक पक्षपातों को बढ़ावा दिया गया। फौज को आम जनता से बिलकुल अलग रखने की हर एक कोशिश की गई, यहांतक कि मामूली अखबार भी हिंदुस्तानी सिपाहियों तक पहुंचने नहीं दिये जाते थे। सारी खास-खास जगहें अंग्रेजों के हाथों में रखी जातीं और किसी भी हिंदुस्तानी को शाही कमीशन नहीं मिल सकता था। एक गैर-अफसरवाला अंग्रेज फौजी ज्यादा-से-ज्यादा तजुर्बेकार और पुराने हिंदुस्तानी गैर-कमीशन अफसर से या वाइसराय कमीशनवाले अफसर से बड़ा होता। फौजी हेडक्वार्टर्स में सिवाय हिसाब के महकमे में एक मामूली-से क्लर्क की जगह के हिंदुस्तानियों को और कोई जगह नहीं दी जाती थी। और ज्यादा सुरक्षा के लिए यह नीति थी कि लड़ाई के ज्यादा असरदार हथियार हिंदुस्तानियों को दिये ही नहीं जाते, वे तो हिंदुस्तान की ब्रिटिश फौजों के लिए ही होते। हिंदुस्तान के हर महत्त्वपूर्ण केंद्र में हिंदुस्तानी पलटन के साथ इन ब्रिटिश टुकड़ियों को, जिन्हें अंदरूनी सुरक्षा फौज

कहा जाता था बढ़कर रखा जाता। इनका काम था बगावत का दमन करना और जनता को आतंकित करना। एक ओर तो यह अंग्रेजी फ़ौज थी जिसमें अंग्रेजों की प्रधानता थी और यह फ़ौज देश में कब्ज़ा कायम रखने का काम करती। दूसरी ओर हिंदुस्तानी फ़ौज का ज्यादातर हिस्सा 'फ़ील्ड आर्मी' की तरह काम करता यानी उसका संगठन देश के बाहर लड़ाई लड़ने के लिए होता। हिंदुस्तानी सिपाहियों की भरती कुछ खास जमातों से ही की जाती थी जो खासतौर से उत्तरी हिंदुस्तान में थीं और जिनको लड़ाकू जातियां कहा जाता था।

एक बार फिर हमको हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य का बुनियादी विरोधाभास दिखाई देता है। उन्होंने सारे देश को एक राजनैतिक सूत्र में बांधा और इस तरह से नई सक्रिय शक्तियां फूट पड़ीं जिन्होंने सिर्फ़ उस ऐक्य की ही बाबत नहीं सोचा बल्कि उन्होंने हिंदुस्तान की आज़ादी पर लक्ष्य किया। दूसरी तरफ़ ब्रिटिश हुकूमत ने उसी एके को जो उसीने खुद ही पैदा किया था, तोड़-फोड़ देने की कोशिश की। उस वक्त राजनैतिक दृष्टि से उस फूट के मानी हिंदुस्तान के बंटवारे के नहीं थे। उसका मक़सद तो राष्ट्रवादी तत्त्वों को कमज़ोर करना था ताकि सारे देश पर ब्रिटिश राज्य बना रहे। फिर भी विच्छेद के लिए यह एक कोशिश तो थी ही क्योंकि हिंदुस्तानी रियासतों को इतनी ज्यादा अहमियत दे दी गई, जितनी उन्हें पहले कभी भी नहीं मिली थी। इसके लिए प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को बढ़ावा दिया गया और उनकी सहायता की आशा की गई। विभाजन को और हर एक समुदाय को हर दूसरे समुदाय के खिलाफ़ प्रोत्साहन दिया गया। धार्मिक या प्रांतीय बुनियाद पर एके को मिटानेवाली प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दिया गया और देशद्रोहियों के वर्ग का जो अपने पर असर डालने वाली हर रद्दो-बदल से घबराता था संगठन किया गया। एक विदेशी साम्राज्यवादी ताक़त के लिए यह एक स्वाभाविक नीति थी और हालांकि हिंदुस्तानी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से यह बहुत ज्यादा नुक़सान पहुंचानेवाली थी फिर भी उस पर ताज्जुब करना एक नासमझी होगी। लेकिन इस सचाई को जान लेना भी ज़रूरी है, क्योंकि उसके बिना हम बाद की घटनाओं को समझ नहीं सकते। इसी भांति से हिंदुस्तान की राष्ट्रीय ज़िंदगी में वे बहुत तत्त्व पैदा हुए, जिनको आजकल हमको अक्सर याद दिलाई जाती है। उनको इसीलिए पैदा किया गया था और उनको इसीलिए बढ़ावा दिया गया था कि उनमें मतभेद हो और फूट हो और अब यह कहा जाता है कि वे पहले आपस में एका करें।

ब्रिटिश ताकत के हिंदुस्तान के प्रतिक्रियावादियों के साथ इस स्वाभाविक गठबंधन से यह ताकत उनके प्रतिक्रियावादियों की हिमायती हो गई और उसमें उन बहुत-सी प्रथाओं को बने रहने में सहारा दिया जिनको वह वैसे निंदा ही करती थी। जिस वक्त अंग्रेज आये हिंदुस्तान रिवाजों से बंधा हुआ था और पुराने रिवाजों का अत्याचार अक्सर एक भयंकर चीज होती है। फिर भी रिवाज बदलते हैं और उन्हें मजबूरन बदलते हुए वातावरण से कुछ-न-कुछ हद तक मेल बिठाना होता है। रिवाज ही ज्यादातर हिंदू क़ानून थे और ज्यों-ज्यों रिवाज बदलते गये क़ानून में भी तब्दीली होती गई। असलियत में हिंदू क़ानून में ऐसी कोई बात ही नहीं थी जिसको रिवाज से बदला न जा सके। अंग्रेजों ने इस रिवाजी लचीले क़ानून की जगह उन अदालती फ़ैसलों को दे दी जिनकी बुनियाद पुराने ग्रंथों पर थी। ये फ़ैसले नमूने बन गये और इनका सख्ती से पालन करना होता था। सिद्धांत रूप से तो यह एक फ़ायदे की बात थी क्योंकि इससे ज्यादा यक-सां-पन आ गया और निश्चितता भी ज्यादा हो गई। लेकिन जिस ढंग से यह किया गया था उसका नतीजा यह हुआ कि बाद के रिवाजों का ध्यान रखे बिना प्राचीन क़ानून को स्थायी बना दिया गया। इस तरह पुराना क़ानून जो बहुत-सी जगहों पर कुछ हद तक रिवाजों से बदल दिया गया था और इस तरह जिसका जीवन शेष हो गया था पत्थर की तरह अचल कर दिया गया और उसमें सुपरिचित पारंपरिक ढंग से परिवर्तन लानेवाली हर एक प्रवृत्ति का दमन किया गया। वैसे हर एक समुदाय के लिए अब भी इस बात का मौका था कि वह इस बात को साबित करे कि कोई खास रिवाज क़ानून से भी बढ़कर है, लेकिन अदालती अदालतों में यह बात साबित करना बेहद मुश्किल था। रद्दो-बदल सिर्फ़ नये क़ानून से ही हो सकती थी लेकिन ब्रिटिश सरकार की जिसको क़ानून बनाने का अधिकार था अपने सहायक अनुदार हिस्सों को विरोधी बनाने की कोई इच्छा नहीं थी। बाद में जब आंशिक रूप में निर्वाचित असेंबलियों को क़ानून बनाने के कुछ अधिकार दिये गये तो हर ऐसी कोशिश पर जिससे समाज-सुधार संबंधी क़ानून बन सकते थे अधिकारियों ने नाराजगी जाहिर की और उन कोशिशों को सख्ती से दबाया गया।

## ९ उद्योग-धंधों की तरक्की प्रांतीय भेद-भाव

सन १८५७-५८ के विद्रोह के असर से हिंदुस्तान धीरे-धीरे पनपा। ब्रिटिश नीति के बावजूद जबरदस्त ताकतें काम कर रही थीं और हिंदुस्तान को बदल रही थीं और एक नई सामाजिक सजगता आ रही थी। हिंदू

स्तान के राजनैतिक एके से पच्छिम के साथ संपर्क से विज्ञान और मशीनों में तरक़्क़ी की वजह से यहांतक कि सारे देश में उसी गुलामी के दुर्भाग्य से नई विचारधाराएं बनीं धीरे-धीरे उद्योग-धंधों की तरक़्क़ी हुई और क़ौमी आज़ादी के लिए एक नया आंदोलन खड़ा हुआ। हिंदुस्तान की जागृति दोहरी थी—उसने पच्छिम की तरफ़ निगाह की और साथ ही उसने अपनी तरफ़ अपने गुज़रे हुए ज़माने की तरफ़ भी निगाह की।

हिंदुस्तान में रेलों के आने से औद्योगिक युग का सकारात्मक पहलू सामने आया अबतक ब्रिटेन के तैयार माल की शक्ल में उसका नकारात्मक पहलू ही सामने आया था। सन १८६१ में हिंदुस्तान में औद्योगीकरण रोकने की गरज से मशीन के आयात पर जो चुंगी लगी हुई थी हटा दी गई और बड़े पैमाने के उद्योग-धंधे की शुरुआत हुई। इनमें खासतौर से ब्रिटिश पूंजी लगी थी। सबसे पहले बंगाल का जूट उद्योग शुरू हुआ और इसका संचालन-केंद्र स्काटलैंड में डंडी में था। उसके बहुत बाद अहमदाबाद और बंबई में कपड़े की मिलें चालू हुईं। इनमें ज्यादातर हिंदुस्तानी पूंजी थी और इन पर हिंदुस्तानी नियंत्रण था। इसके बाद खानों का नंबर आया। हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बराबर अड़चनें डालती रही। हिंदुस्तानी कपड़े के माल पर एक उत्पादन-कर लगाया गया ताकि वह हिंदुस्तान में भी लंकाशायर के सूती माल से मुक़ाबला न कर सके। हिंदुस्तानी-सरकार की नीति एक पुलिस सरकार की नीति थी। यह बात इस तथ्य से सबसे ज़्यादा ज़ाहिर होती है कि बीसवीं सदी तक उसमें खेती उद्योग-धंधों और व्यापार से ताल्लुक़ रखनेवाला कोई महक़मा ही नहीं था। जहांतक मेरा ख़याल है, केंद्रीय सरकार में खेती का महक़मा खासतौर से उस दान से चालू किया गया जो एक अमरीकी यात्री ने हिंदुस्तान में खेती की तरक़्क़ी के लिए दिया। (यह महक़मा अब भी बहुत छोटा है।) उसके कुछ ही बाद सन १९ ५ में उद्योग और व्यापार के लिए एक महक़मा खोला गया। लेकिन ये महक़मे बहुत थोड़ा काम करते थे। उद्योग-धंधों की तरक़्क़ी को जान-बूझकर रोका गया और हिंदुस्तान के स्वाभाविक आर्थिक विकास को बांध दिया गया।

हालांकि हिंदुस्तान की आम जनता बेहद ग़रीब थी और उसकी ग़रीबी बढ़ती जा रही थी, लेकिन चोटी पर के थोड़े-से आदमी इन नई हालतों में खुब समृद्ध हो रहे थे और पूंजी इकट्ठी कर रहे थे। इन्हीं लोगों ने राजनैतिक सुधारों की और पूंजी लगाने के मौक़ों की मांग की। राजनैतिक क्षेत्र में सन १८८५ में इंडियन नैशनल कांग्रेस क़ायम हुई। उद्योग-धंधे

और व्यवसाय धीरे-धीरे बढ़े। और यहां एक बड़ी दिलचस्प बात यह है कि जिन लोगों ने इस काम को शुरू किया वे वही लोग थे जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी सैकड़ों बरस से उद्योग-धंधों में और व्यवसाय में लगे हुए थे। कपड़े के कारबार का नया केंद्र अहमदाबाद मुगलों के जमाने में बल्कि उससे भी पहले से एक मशहूर माल तैयार करनेवाला तिजारती केंद्र था और उसका तैयार माल विदेशों में जाता था। अफ्रीका और फ़ारस की खाड़ी के देशों से व्यापार करने के लिए अहमदाबाद के इन पुराने सौदागरों के पास अपने निजी जहाज थे। पास ही में भड़ौच नाम का बंदरगाह यूनान और रोम के दिनों में भी मशहूर था।

गुजरात काठियावाड़ और कच्छ के आदमी बहुत पुराने जमाने से माल तैयार करते थे तिजारत और सौदागरी करते थे और समुद्र पार कर दूसरी जगहों को आने-जाने रहते थे। हिंदुस्तान में बहुत-सी परिवर्तन हुए लेकिन नई हालतों में अपना मेल बिठाते हुए वे अपना तिजारती काम बराबर करते रहे। आजकल वे उद्योग और व्यवसाय के काम में सबसे ज्यादा आगे बढ़े हुए लोगों में से हैं। पारसी लोग जो तेरह सौ बरस पहले गुजरात में आकर बसे इस सिलसिले में गुजराती कहे जा सकते हैं। (उनकी भाषा बहुत समय से गुजराती है।) मुसलमानों में उद्योग और तिजारत में सबसे ज्यादा बढ़े हुए लोग खोजा मैमन और बोहरा वर्ग के हैं। ये सब हिंदू थे बाद में इन्होंने इस्लाम को अपनाया और ये सब शुरू में गुजरात काठियावाड़ या कच्छ के ही रहनेवाले थे। इन गुजरातियों की हिंदुस्तानी उद्योग और कारबार में ही प्रधानता नहीं है, बल्कि वे बरमा लंका पूरबी अफ्रीका दक्षिण अमरीका आदि दूसरे देशों में भी फैल गये हैं।

राजपूताने के मारवाड़ियों का अवलम्बी तिजारत पर निर्भर रहता और वे हिंदुस्तान के सारे सभ्यालय केंद्रों में पाये जाते। वे लोग बड़ी-बड़ी पूंजीवाले थे और साथ ही देहाती साहूकार थे। सुपरिचित मारवाड़ी कोठी के रुक्के की हिंदुस्तान में हर जगह और यहांतक कि विदेशों में भी साख होती। हिंदुस्तान में मारवाड़ी अब भी बड़ी पूंजी के प्रतिनिधि हैं और इधर तो उद्योग-धंधों को भी उन्होंने अपने हाथों में ले लिया है।

उत्तर-पश्चिम के सिंधियों की भी एक पुरानी व्यावसायिक परंपरा है। शिकारपुर या हैदराबाद में उसका प्रधान केंद्र था और वे मध्य-एशिया में और दूसरी जगहों में आते जाते रहते। आज (लड़ाई छिड़ने से पहले) दुनिया भर में शायद ही कोई ऐसा बंदरगाह होगा जहां कम-से-कम एक-दो सिंधी दूकानें न हों। कुछ पंजाबियों की भी एक नयी व्यापारी परंपरा है।

मद्रास के चेट्टी लोग भी बहुत पुराने जमाने से व्यवसाय में खासतौर से साहूकारी में, बड़े चढ़े रहे हैं। 'चेट्टी' शब्द संस्कृत के 'श्रेष्ठी' से बना है जिसके मानी हैं सौदागरी समुदाय का नेता। प्रचलित 'सेठ' शब्द भी श्रेष्ठी से बना है। मद्रास के चेट्टियों ने सिर्फ़ दक्खिन हिंदुस्तान में ही एक महत्वपूर्ण हिस्सा नहीं लिया बल्कि वे सारे बरमा में यहांतक कि उसके देहातों में भी फैले हुए हैं।

साथ ही हर सूबे में व्यापार और व्यवसाय ज्यादातर पुराने वैश्य वर्ग के हाथों में था। ये लोग व्यापार में बहुत पुराने जमाने से लगे हुए थे। वे लोग थोक माल बेचते फुटकर माल बेचते और साहूकारी करते। हर गांव में एक बनिये की दूकान होती जो देहाती जिंदगी की जरूरत की चीजें बेचता और गांववालों को काफ़ी सूद पर कर्ज देता। देहाती कर्ज का ढांचा क़रीब-क़रीब पूरी तरह से इन बनियों के ही हाथों में था। उत्तर पच्छिम के आबाद प्रदेश में भी ये लोग बस गये और इन्होंने महत्वपूर्ण काम किये। ज्यों-ज्यों गरीबी बढ़ी देहाती कर्ज भी तेजी से बढ़ा और साहूकारों ने जमीन को गिरवी रखना लिया और आगे चलकर उसमें से ज्यादातर पर अपना क़ब्ज़ा कर लिया। इस तरह साहूकार जमींदार भी बन गये।

ज्यों-ज्यों नये लोग विभिन्न व्यापारों में घुसे व्यावसायिक व्यापारी और साहूकारी वर्गों की अलग सत्ता धुंधली होने लगी। लेकिन वह सत्ता बनी बराबर रही और आज भी वह दिखाई देती है। इसकी वजह वर्ण व्यवस्था है या परंपरा का बंधन है, या विरासत में पाई हुई योग्यता है या ये सब बातें मिलकर ही इसका कारण हैं यह ठीक-ठीक कहना मुश्किल है। बेशक ब्राह्मणों में और क्षत्रियों में व्यापार को एक नीची नजर से देखा गया। यहांतक कि धन-संग्रह को भी अच्छा नहीं समझा गया। सामंतवादी युग की तरह जमीन के क़ब्ज़े को सामाजिक हैसियत का प्रतीक समझा जाता था। इल्म की चाहे उसके साथ जमीन पर अधिकार न भी हो सब जगह इज्जत की जाती थी। ब्रिटिश हुकूमत के जमाने में सरकारी नौकरी में अमन था रुतबा था और शान थी। बाद में जब हिंदुस्तानियों को इंडियन सिविल सर्विस में घुसने की छूट मिली तो यह नौकरी जिसको 'स्वर्गीय' बताया जाता था—जिसका स्वर्ग लंदन का व्हाइट हाल था—अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगों के लिए इंद्र-लोक की तरह हो गई। आलिम पेशों के लिए भी इज्जत थी लेकिन इनमें खासतौर से कुछ वकीलों ने नई अदालतों में बड़ा रुपया कमाया था और उनका बहुत रौब-दाब था और उनकी बहुत ऊंची हैसियत थी इसलिए नौजवानों का वकालत की तरफ़ खिंचाव हुआ।

खासतौर पर राजनैतिक और समाज-सुधार आंदोलनों में इन वकीलों ने खास हिस्सा लिया।

सबसे पहले बंगालियों ने वकालत शुरू की और उनमें से कुछ लोग बहुत ज्यादा कामयाब हुए और उन्होंने वकालत पर जादू-सा कर दिया। ये लोग राजनैतिक नेता भी थे। रुझान न होने से या दूसरी वजहों से वे बढ़ते हुए उद्योग-धंधों में अपना मेल नहीं बिठा सके। उसका नतीजा यह हुआ कि जब देश की जिंदगी में उद्योग-धंधे एक अहम हिस्सा लेने लगे और राजनीति पर गहरा असर डालने लगे तो राजनीति के मैदान में बंगाल की पहले की अहमियत घटने लगी। पहले सरकारी कर्मचारियों के नाते में या और दूसरी हैसियत से बंगाली अपने सूबे के बाहर जाते थे। अब यह धारा उलटी हो गई और दूसरे सूबों के आदमी बंगाल में और खासतौर से कलकत्ते में आने लगे और वे वहां की तिजारती और व्यावसायिक जिंदगी में समा गए। कलकत्ता ब्रिटिश पूंजी और उद्योग का खास केंद्र रहा है और अब भी है और वहां के कारबार में अंग्रेज और स्काटलैंडवालों का आधिपत्य है। लेकिन अब मारवाड़ी और गुजराती भी उनकी बराबरी पर पहुंच रहे हैं, यहांतक कि कलकत्ते में छोटे-मोटे काम भी गैर बंगालियों के हाथों में हैं। कलकत्ते के हजारों टैक्सी ड्राइवर करीब-करीब बिना किसी अपवाद के सभी पंजाब के सिख हैं।

बंबई हिंदुस्तानियों के हाथ में उद्योग व्यवसाय बैंकिंग बीमा आदि का प्रधान केंद्र बन गया। इन सब कामों में पारसी, गुजराती और मारवाड़ी अगुआ थे। यहां एक खास बात यह है कि महाराष्ट्रियों या मराठों ने इन कामों में करीब-करीब कोई हिस्सा नहीं लिया। बंबई अब एक बहुत बड़ा शहर है, जहां सब जगह के लोग रहते हैं, लेकिन वहां की ज्यादातर आबादी गुजराती और महाराष्ट्रीय है। मराठों ने पांडित्य और बड़े पेशों में प्रतिभा दिखाई है और उनसे आशा की जा सकती है। वे अच्छे सिपाही हैं। उनमें बहुत-से बड़ी तादाद में माल बनाने की मिलों में मजदूरों की तरह भी काम करते हैं। वे लोग मेहनती होते हैं और मजबूत होते हैं और ज्यादातर गरीब हैं। उनको शिवाजी की परंपरा का और अपने पुराने संघर्षों का अभिमान है। गुजरातियों का शरीर कोमल होता है, वे [illegible] और धनी होते हैं और व्यापार और व्यवसाय तो मानो उनका पुश्तैनी काम है। इस प्रकार आमतौर से भौगोलिक [illegible] मराठे [illegible] और गुजराती धनी हैं और [illegible] [illegible]

हिंदुस्तान के जुदा-जुदा हिस्सों में ये और ऐसे ही और दूसरे फ़र्क़ दिखाई देते हैं। ये फ़र्क़ अब भी बने हुए हैं हालांकि वैसे धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। मद्रास बड़े मेधावियों का सूबा है। उसने बड़े-बड़े दार्शनिक गणितज्ञ और वैज्ञानिक पैदा किये हैं। बंबई अब क़रीब-क़रीब पूरी तरह से अपनी सारी बुराइयों और बुराइयों के साथ व्यापार में रमा हुआ है। बंगाल उद्योग और व्यापार में पिछड़ा हुआ है लेकिन उसने कुछ बढ़िया वैज्ञानिकों को पैदा किया है। उसकी प्रतिभा ख़ासतौर से कला और साहित्य में प्रकट हुई है। पंजाब में कोई प्रमुख व्यक्ति नहीं हुआ लेकिन यह एक आगे बढ़नेवाला सूबा है और कई क्षेत्रों में उन्नति कर रहा है। वहां के लोग होशियार होते हैं और अच्छे मिस्त्री बन सकते हैं और वे छोटे व्यापार या छोटे धंधों में कामयाब होते हैं। संयुक्त प्रांत और दिल्ली में एक अजीब खिचड़ी है और कुछ लिहाज़ से ये सब हिंदुस्तान का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये पुरानी संस्कृति के केंद्र हैं और साथ ही उस ईरानी संस्कृति के भी जो मुग़ल और अफ़ग़ान युग में यहां आई। इसीलिए इन दोनों का मेल-जोल यहां सबसे ज़्यादा दिखाई देता है और उसमें पश्चिमी संस्कृति भी आकर मिल गई है। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों के मुक़ाबले यहां सबसे कम प्रांतीयता है। बहुत अरसे से उन्होंने अपने को हिंदुस्तान का दिल समझा है और दूसरे लोगों ने भी उसको इसी तरह देखा है। आम बातचीत में उनको अक्सर हिंदुस्तानी कहा जाता है।

यह बात ध्यान रखने की है कि ये फ़र्क़ भौगोलिक हैं, धार्मिक नहीं। एक बंगाली मुसलमान पंजाबी मुसलमान के मुक़ाबले बंगाली हिंदू से ज़्यादा मिलता-जुलता है। यही बात दूसरे लोगों के साथ है। अगर हिंदुस्तान में या और कहीं बहुत-से बंगाली मुसलमान और हिंदू एक साथ मिलें तो फ़ौरन ही एक जगह इकट्ठे हो जायंगे और बड़ा अपनापन-सा महसूस करेंगे। पंजाबी भी चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान या सिख यही करेंगे। बंबई प्रेसीडेंसी के मुसलमानों (खोजा मैमन और बोहरों) में बहुत-से हिंदू रिवाज हैं। खोजों को (जो आग़ा ख़ां के अनुयायी हैं) और बोहरों को उत्तर के मुसलमान कट्टर मुसलमान नहीं मानते।

वैसे तो सभी मुसलमान लेकिन ख़ासतौर से बंगाल और उत्तर के मुसलमान बहुत अरसे तक सिर्फ़ अंग्रेज़ी शिक्षा से ही दूर नहीं रहे, बल्कि उन्होंने उद्योग-धंधों की तरक़्क़ी में भी बहुत कम हिस्सा लिया। कुछ हद तक तो इसकी वजह उनकी सामंतवादी विचारधारा थी और कुछ हद तक इसकी वजह (रोमन कैथलिक-धर्म की तरह) इस्लाम की सूद लेने के

लिए मनाही थी। लेकिन अजीब-सी बात है कि सबसे ज्यादा नुकसान सरहद पार पठानों की एक खास जाति के लोग हैं जो सरहद के रहनेवाले हैं। इस तरह उन्नीसवीं सदी के पिछले पचास बरसों में मुसलमान अंग्रेजी शिक्षा में पिछड़े हुए थे और इसी वजह से पच्छिमी विचारों में साथ ही सरकारी नौकरी और उद्योग-धंधों में भी पिछड़े हुए थे।

हिंदुस्तान में उद्योग-धंधों की तरक्की ने हालांकि वह बहुत धीमी और रुकी हुई थी प्रकट दिखाई और अपनी तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित किया। फिर भी आम जनता की गरीबी के मसले पर या बढ़ती के भार पर कोई भी फ़र्क नहीं पड़ा। उन करोड़ों आदमियों में से जो बेकार थे या अध-बेकार थे कुछ लाख आदमी उद्योग-धंधों में चले गये। लेकिन यह तबदीली इतनी जरा-सी थी कि हिंदुस्तान के बढ़ते देहातीकरण पर इसका कोई असर नहीं हुआ। व्यापक बेकारी और जमीन पर दबाव का नतीजा यह हुआ कि मजदूर बहुत बड़ी तादाद में अपमानजनक हालतों में भी काम करने के लिए विदेशों में गये। वे दक्षिण अफ़्रीका फ़ीजी ट्रिनिडाड जमैका गिनी मौरीशस लंका बरमा और मलाया गये। वे छोटे-छोटे समुदाय या व्यक्ति जिनको यहां पर विदेशी राज्य में तरक्की और बेहतरी का मौका मिला आम जनता से अलग कर दिये गये और आम जनता की हालत बदतर होती गई। इन समुदायों के पास थोड़ी-सी पूंजी इकट्ठी हुई और आगे उन्नति के लिए ठीक वातावरण तैयार किया गया। लेकिन गरीबी और बेकारी के बुनियादी मसले ज्यों-के-त्यों बने रहे।

## १० हिंदुओं और मुसलमानों में सुधारवादी और दूसरे आंदोलन

तकनीकी तबदीलियों और उनके जोरदार नतीजों की शक्ल में पच्छिम की असली टक्कर हिंदुस्तान से उन्नीसवीं सदी में हुई। विचारों के मैदान में भी धक्का लगा और रद्दो-बदल हुई और वह क्षितिज जो बहुत अरसे से एक संकरे घेरे में घिरा हुआ था विस्तृत हुआ। पहली प्रतिक्रिया अल्पसंख्यक अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग तक ही सीमित थी और उसमें करीब-करीब हर पच्छिमी चीज के लिए तारीफ़ थी और स्वीकृति थी। हिंदू-धर्म की कुछ सामाजिक प्रथाओं और रीतियों से नाराजगी की वजह से बहुत-से हिंदू ईसाई-धर्म की ओर खिंचे और बंगाल में कुछ मशहूर आदमियों ने भी अपना धर्म बदल लिया। इसलिए राजा राममोहन राय ने इस बात की कोशिश की कि हिंदू-धर्म को इस नये वातावरण के अनुरूप किया जाय

और उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की जिसकी बुनियाद समाज-सुधार पर थी और जिसे अक्सर क़ुबूल कर सकती थी। उनके उत्तराधिकारी केशवचंद्र सेन ने उसमें ईसाई-दृष्टिकोण को बढ़ा दिया। ब्रह्म समाज का बंगाल के नये बढ़ते हुए मध्यम वर्ग पर असर हुआ लेकिन एक धार्मिक विश्वास के रूप में वह बहुत थोड़े लोगों तक ही सीमित रहा। हां इन लोगों में कुछ प्रमुख व्यक्ति थे और कुछ प्रमुख घराने थे। ये घराने भी हालांकि इनकी धार्मिक और सामाजिक सुधार में बेहद दिलचस्पी थी धीरे-धीरे वेदांत के पुराने हिंदुस्तानी दार्शनिक आदर्शों की तरफ़ लौटते हुए दिखाई दिये।

हिंदुस्तान में और दूसरी जगहों में भी ऐसे ही प्रयत्न काम कर रहे थे और हिंदू-धर्म के उस समय प्रचलित सख़्त सामाजिक ढांचे और बहुरूपिया स्वभाव के खिलाफ़ असंतोष था। उन्नीसवीं सदी के पिछले आधे हिस्से में एक बहुत बड़ा सुधार-आंदोलन शुरू किया गया। इसको शुरू करनेवाले स्वामी दयानंद सरस्वती गुजरात के रहनेवाले थे लेकिन इस आंदोलन का सबसे ज्यादा असर पंजाब के हिंदुओं पर हुआ। यह सुधार आंदोलन था आर्य समाज का और इसकी पुकार थी—"वेदों की ओर चलो।" इस पुकार के असलियत में ये मानी थे कि वेदों के समय के आर्य-धर्म में बाद में जो कुछ बातें जुड़ गई थी उनको अलग कर दिया जाय। बाद में वेदांत दर्शन जिस स्वरूप में उन्नत हुआ उसकी अद्वैतवाद की केंद्रीय विचारधारा की 'सर्व ब्रह्ममयं जगत्' के दृष्टिकोण की और साथ ही और बहुत-सी तब्दीलियों की ज़ोरदार निंदा की गई, यहांतक कि वेदों की भी एक खास ढंग से व्याख्या की गई। आर्य समाज इस्लाम और ईसाई-धर्म की ख़ासतौर से इस्लाम की प्रतिक्रिया के रूप में था। यह भीतरी सुधार का और एक जिहादी आंदोलन था और साथ ही बाहरी हमलों के खिलाफ़ हिफ़ाज़त के लिए यह एक सुरक्षा संगठन था। इसने हिंदू-धर्म में विधर्मियों की शुद्धि करके अपनाने की प्रथा डाली और इस तरह अपने बीच में शामिल करनेवाले दूसरे धर्मों से उसके झगड़ों की संभावना हो गई। आर्य समाज जिसमें बहुत-सी बातें इस्लाम से मिलती-जुलती थीं हर हिंदू चीज का हिमायती हो गया। उसे दूसरे धर्मों का हिंदू-धर्म पर संक्रमण बरदाश्त नहीं था। यहां पर एक खास बात है कि खासतौर से पंजाब और संयुक्त प्रांत के मध्यम वर्ग के हिंदुओं में यह फैला। एक वक़्त ऐसा भी था जब सरकार इसको राजनैतिक-क्रांतिकारी आंदोलन समझती थी लेकिन सरकारी नौकरों की बहुत बड़ी तादाद ने इसको बिलकुल मान्य बना

किया। लड़के-लड़कियों के शिक्षा प्रसार में इसने बहुत अच्छा काम किया है। साथ ही स्त्रियों की हालत सुधारने में और दलित जातियों की हैसियत और मान्यता को उठाने में भी इसने बहुत अच्छा काम किया है।

करीब-करीब स्वामी दयानन्द के ही ज़माने में बंगाल में एक दूसरे ही ढंग की शख्सियत सामने आई और उसकी जिंदगी ने बहुत-से नये अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों पर असर डाला। यह शख्सियत थी श्री रामकृष्ण परमहंस की। वह बहुत सादा आदमी थे, कोई विद्वान भी नहीं थे और वैसे उन्हें समाज-सुधार में भी कोई दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन वह निष्ठावाले आदमी थे। वह चैतन्य और दूसरे भारतीय संतों की ही परंपरा में थे। खासतौर से तो वह धार्मिक थे लेकिन बहुत ही उदार थे और आत्म-साक्षात्कार की अपनी खोज में वह मुसलमान और ईसाई रहस्यवादियों के पास गये और उनके पास बरसों तक रह और उनके कठोर नियम-अनुशासन का पालन किया। कलकत्ते में कालीघाट में वह बसे और उनके असाधारण व्यक्तित्व और चरित्र ने धीरे-धीरे लोगों का ध्यान अपनी तरफ खींचा। जो लोग उनको देखने गये—यहां तक कि वे लोग भी जो उन पर हंसा करते थे जब उनके पास गये—तो उनसे बहुत ज्यादा प्रभावित हुए और ऐसे बहुत-से लोगों ने जो पश्चिमी रंग में पूरी तरह रंग गये थे, वहां पहुंचकर यह महसूस किया कि कोई एक ऐसी चीज़ भी थी, जो उनसे छूट गई थी। धार्मिक विश्वास की बुनियादी बातों पर ज़ोर देते हुए उन्होंने हिंदू-धर्म और दर्शन के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] एक-दूसरे के साथ जोड़ दिया। ऐसा जान पड़ता था कि उनके व्यक्तित्व में उन सबकी गुंजाइश होती थी। [illegible] में उनके धर्म में दूसरे धर्म भी सम्मिलित थे। वह हर तरह की साम्प्रदायिकता के खिलाफ थे और उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि सभी रास्ते सचाई की तरफ ले जाते हैं। वह दूध उन संतों की तरह थे जिनके बारे में [illegible] और [illegible] के पुराने इतिहास में हमेशा पढ़ने को मिलता है। आधुनिक जीवन के संदर्भ में उनको समझना कठिन है, फिर भी वह हिंदुस्तान के [illegible] [illegible] से अलग थे और यहां के बहुत-से आदमियों के हृदय में उनके प्रति [illegible] और [illegible] थी, और उनके व्यक्तित्व के बारे में एक [illegible] [illegible] था। जिन लोगों ने उनको देखा उन पर उनके व्यक्तित्व ने असर डाला और [illegible] लोगों पर जिन्होंने उनको नहीं देखा उनकी [illegible] [illegible] [illegible] का असर [illegible] है। इन दूसरी तरह के लोगों में [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भी और उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द [illegible] [illegible]।

विवेकानंद ने अपने गुरुभाइयों के साथ सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसमें सांप्रदायिकता नहीं है। विवेकानंद का आधार पुराने जमाने में था और उनमें हिंदुस्तान की देन का अभिमान था लेकिन साथ ही जिंदगी के मसलों को हल करने का उनका ढंग इस जमाने का था और वह हिंदुस्तान के गुजरे हुए और मौजूदा जमाने की खाई पर एक पुल की तरह थे। बंगला और अंग्रेजी में वह एक ओजस्वी वक्ता थे और बंगला पद्य और काव्य के एक सुंदर लेखक थे। वह एक खूब सूरत और रोबीले आदमी थे और उनमें शान और गंभीरता भरी हुई थी उनको अपने में और अपने मिशन में भरोसा था साथ ही वह सक्रिय और तीव्र शक्ति से भरपूर थे और हिंदुस्तान को आगे बढ़ाने की उनमें गहरी लगन थी। बेबस और गिरे हुए हिंदू दिमाग के लिए वह एक जीवनौषधि के रूप में आये और इसको उन्होंने अपने पर भरोसा करना सिखाया और अपने पुराने जमाने की जानकारी कराई। सन १८९३ में शिकागो में वह दुनिया-भर के धर्म-सम्मेलन में शामिल हुए। एक साल उन्होंने संयुक्त राज्य अमरीका में बिताया यूरोप की यात्रा एथेंस और कुस्तुनतुनिया तक की और मिस्र चीन और जापान भी गये। जहां कहीं भी वह गये उन्होंने सिर्फ अपनी मौजूदगी से ही नहीं बल्कि जो कुछ कहा उससे और अपने कहने के ढंग से एक हलचल मचा दी। एक बार इस हिंदू संन्यासी को देख लेने के बाद उसे और उसके संदेश को भुला देना मुश्किल था। अमरीका में विवेकानंद को 'तूफानी हिंदू' कहा गया। पश्चिमी देशों की अपनी यात्रा का खुद उन पर बहुत असर पड़ा। उन्होंने अंग्रेजों की लगन की और अम रीकी जनता की दृढ़ता और बराबरी की भावना की तारीफ की। हिंदु स्तान में अपने एक दोस्त का उन्होंने लिखा— 'किसी भी नये विचार के प्रचार के लिए अमरीका सर्वोत्तम क्षेत्र है। लेकिन पश्चिम के धर्म के स्वरूप ने उनको प्रभावित नहीं किया और भारतीय दार्शनिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में उनका विश्वास और भी मजबूत हो गया। उनके लिहाज से हिंदुस्तान अपने पतन के बावजूद अब भी 'प्रकाश' की नुमाइंदगी करता था।

उन्होंने वेदांत दर्शन के अद्वैतवाद का प्रचार किया और उन्हें इस बात का पक्का यकीन था कि विचारशील मानव जाति के लिए आगे चल कर सिर्फ वेदांत ही धर्म हो सकता है—वजह यह है कि वेदांत सिर्फ आध्यात्मिक ही नहीं है बल्कि तर्क-संगत है और साथ ही उसका बाहरी दुनिया की वैज्ञानिक खोजों से भी सामंजस्य है। इस विश्व का सृजन

किसी विश्वोपरि ईश्वर ने नहीं किया और न वह किसी बाहरी विभाव की कृति है। वह स्वयं-भू, स्वयं-संहारक स्वयं-पोषक एक अनंत अस्तित्व वाला है। वेदांत का आदर्श आदमी और उसकी सहज दैवी प्रकृति की एकता का था मानव में ईश्वर-दर्शन ही सच्चा ईश्वर-दर्शन है प्राणियों में मनुष्य सबसे बड़ा है लेकिन अमूर्त वेदांत को दैनिक जीवन में सजीव-काव्यमय हो जाना चाहिए, बेहद उलझी हुई पौराणिक गाथाओं में से निकलकर उसका साफ नैतिक स्वरूप सामने आना चाहिए, और रहस्य पूर्ण योगीपने के भीतर से एक वैज्ञानिक और अमली मनोविज्ञान सामने आना चाहिए। हिंदुस्तान इसलिए गिर गया था कि उसने अपने-आपको संकरा कर लिया था और उसने अपने को एक खोल में बंद कर लिया था। इस तरह दूसरे राष्ट्रों से उसका संपर्क छूट गया और उसकी हालत एक बद सभ्यता की-सी हो गई। वर्ण-व्यवस्था जो अपनी शुरू की हालत में जरूरी और प्रशंसनीय थी और जिसका उद्देश्य व्यक्तित्व और आजादी को बढ़ाना था बेहद गिर गई और अपने मकसद से ठीक उलटी चलने लगी और उसने आम जनता को कुचला। वर्ण-व्यवस्था एक ढंग का सामाजिक संगठन है जिसको धर्म से अलग रखना चाहिए था। सामाजिक संगठन में तो समय के साथ परिवर्तन होना चाहिए। विवेकानंद ने कर्म-कांड की बेमानी गूढ़-विवेचना की और खासतौर से ऊंचे वर्ण के लोगों की छुआछूत की बहुत जोरों से निंदा की। "हमारा धर्म रसोईघर में है, हमारा ईश्वर खाना बनाने का बर्तन है और हमारा धर्म है 'मुझे न छूओ मैं पवित्र हूं'।

वह राजनीति से अलग रहे और उन्हें अपने वक्त के राजनीतिज्ञ नापसंद थे। लेकिन उन्होंने आजादी बराबरी और जनता को उठाने की जरूरत पर बार-बार जोर दिया। "सिर्फ सोच-विचार और काम-काज की आजादी ही जिंदगी तरक्की और खुशहाली की शर्त है। जहां यह आजादी नहीं है वहां उस आदमी को उस जाति को उस राष्ट्र को जिंदा नहीं रखा जा सकता। हिंदुस्तान के लिए अगर कोई आशा है, तो वह वहां की आम जनता में है। ऊपरी वर्ग के लोग भौतिक और नैतिक दृष्टि से मुर्दा हैं। वह पश्चिमी प्रगति और हिंदुस्तान की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को मिला देना चाहते थे। "यूरोपीय समाज हो और हिंदुस्तान का धर्म हो। 'बराबरी आजादी काम और शक्ति में तुम्हारी भावनाएं ज्यादा-से-ज्यादा पश्चिमी हों और साथ ही धर्म संस्कृति और संस्कारों में तुम्हारे नख-शिख हिंदुत्व से भरी हो। दिन-ब-दिन विवेकानंद का अंतर्राष्ट्रीय

दृष्टिकोण बढ़ता गया। 'खुद राजनीति और समाज-विज्ञान में जो समस्याएं बीस बरस पहले सिर्फ राष्ट्रीय थीं अब सिर्फ राष्ट्रीय आधार पर हल नहीं की जा सकतीं। उनका आकार और परिमाण बेहद बढ़ रहा है। उनका हल सिर्फ उसी वक्त हो सकता है जब उनको अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सुलझाया जाय। आज की आवाज है अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग अंतर्राष्ट्रीय क़ानून। इससे एकता जाहिर होती है। उसी तरह पदार्थ के बारे में विज्ञान का नजरिया दिन-ब-दिन ज्यादा विस्तृत हो रहा है। और फिर—"अगर सारी दुनिया साथ न दे तो तरक्की हो भी नहीं सकती यह चीज दिन-ब-दिन ज्यादा साफ होती जा रही है कि कोई भी समस्या जातीय राष्ट्रीय या और दूसरी संकरी बुनियाद पर हल नहीं हो सकती। हर विचार को इतना बढ़ना होता है कि वह सारी दुनिया में छा जाय और हर मक़सद को इतना ज्यादा फैलना होता है कि उसके घेरे में सारा मानव जगत यहांतक कि सारी जिंदगी ही समा जाय। ये सब बातें विवेकानंद के वेदांत दर्शन के दृष्टिकोण के अनुरूप थीं और हिंदुस्तान में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक उन्होंने इसका प्रचार किया। "मुझे इस बात का पक्का यक़ीन है कि कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र अपने को दूसरों से अलहदा करके नहीं रह सकता और जहां कहीं भी महानता नीति या पवित्रता के झूठे ख्यालों की वजह से ऐसी कोशिश की गई है, वहां अलहदा होनेवाले के लिए नतीजा हमेशा ही विनाशकारी रहा है। "दुनिया के दूसरे राष्ट्रों से हमारी अलहदगी हमारी गिरावट का कारण है और उसका इलाज सिर्फ यही है कि हम फिर से बाक़ी दुनिया की धारा में शामिल हो जायें। गतिशीलता जीवन का चिह्न है।"

उन्होंने एक जगह लिखा है—"मैं समाजवादी हूं लेकिन इसलिए नहीं कि मैं उसे एक पूर्ण (दोषहीन) व्यवस्था समझता हूं बल्कि इसलिए कि पूरी रोटी न मिलने से आधी रोटी मिलना ही बेहतर है। दूसरी व्यवस्थाएं आजमाई जा चुकी हैं और उनमें कमी पाई गई है। इसको भी आजमाने दो—और कुछ नहीं तो सिर्फ इसके नयेपन के ही लिए।

विवेकानंद ने बहुत-सी बातें कहीं लेकिन एक चीज जिसको उन्होंने अपने व्याख्यानों और लेखों में बराबर कहा है, 'अभय' है। उनकी निगाह में आदमी तत्त्व के लिहाज से पापी नहीं है, बल्कि उसमें ईश्वर का अंश है। तब उसे किसी चीज का डर काहे को हो ? "अगर दुनिया में कोई पाप है, तो वह है दुर्बलता दुर्बलता को दूर करो दुर्बलता पाप है, दुर्बलता

मृत्यु है। यह उपनिषदों का महान उपदेश था। भय से बुराई और दुख और पछतावा होता है। ये सब चीज़ें बहुत हो चुकीं और कोमलता भी बहुत हो चुकी। अब हमारे देश को जिन चीज़ों की ज़रूरत है, वे हैं लोहे के पुट्ठे, फौलाद की नाड़ियां और ऐसी प्रबल मनःशक्ति जिसको रोका न जा सके। ये सब चीज़ें हों जो विश्व के रहस्य और भेद के अंदर भी पैठ जायं और जैसे भी हो अपना काम पूरा करें, चाहे उसके लिए समुद्र के तले जाकर मौत का भी सामना करना पड़े। उन्होंने जादू-टोने और रहस्य-वाद की निंदा की और कहा कि "ये गिलगिली चीज़ें हैं, उनमें बड़ी सचाई हो सकती है, लेकिन उन्होंने हमको बरबाद कर दिया है। और सत्य की कसौटी यह है—कोई भी चीज़ जो तुम्हें शारीरिक, बौद्धिक या आध्यात्मिक रूप से कमज़ोर बनाती है, उसको ज़हर की तरह छोड़ दो। उसमें कोई ज़िंदगी नहीं है, वह सत्य नहीं हो सकती। सत्य मज़बूती लाता है। सत्य पवित्रता है, ज्ञान है। ये रहस्यवाद चाहे उनमें थोड़ा-सा सत्य का अंश हो लेकिन आमतौर पर कमज़ोर बनाते हैं। अपने उप-निषदों पर ध्यान दो जिनमें चमक है, शक्ति है और आभा है। इन रहस्य-वादी चीज़ों से इन कमज़ोर बनानेवाली चीज़ों से अलग हो जाओ। इस फ़िलसफ़े को उभारो सबसे बड़ा सत्य दुनिया में सबसे ज़्यादा सरल भी है, उतना सरल जितना तुम्हारा निजी अस्तित्व।" "अंधविश्वास से सावधान रहो। अंधविश्वासी मूर्ख की जगह अगर तुम कट्टर नास्तिक हो तो मैं ज़्यादा पसंद करूं। नास्तिक ज़िंदा होता है, उससे कुछ बन पड़ सकता है। लेकिन जब अंधविश्वास हममें समा जाता है तो दिमाग़ ग़ायब हो जाता है और सब ज़िंदगी का ख़ात्मा शुरू हो जाता है।" "जादू-टोना और अंधविश्वास हमेशा ही कमज़ोरी की निशानी है।"

---

इनमें से ज़्यादातर उद्धरण 'स्वामी विवेकानंद के लेक्चर्स फ्रॉम कोलंबो टु अल्मोड़ा' से और 'लेटर्स फ्रॉम स्वामी विवेकानंद' से लिये गये हैं। ये दोनों ही किताबें अद्वैत आश्रम मायावती, अल्मोड़ा (हिमालय) से प्रकाशित हुई हैं। दूसरी किताब के सन १९४८ के संस्करण में पृष्ठ १९० पर एक ख़त छपा है जो विवेकानंद ने एक मुसलमान दोस्त को लिखा था। उसमें वह लिखते हैं :

हम उसे चाहे वेदांतवाद कहें या और कोई नाम दें, लेकिन सच यह है कि धर्म और विचार में अद्वैतवाद आख़िरी चीज़ है और यही सिर्फ़ एक ऐसी स्थिति है जहां से कोई आदमी दूसरे धर्मों को भी प्रेम से देख सकता है। हमारा ऐसा विश्वास है कि भविष्य में प्रबुद्ध मानव-जाति का

इस तरह हिंदुस्तान के दक्खिनी सिरे के कन्याकुमारी अंतरीप से लेकर हिमालय तक विवेकानंद ने यात्रा की और उन्होंने इस काम में अपने-आपको खपा डाला यहांतक कि सन १९ २ में जब वह सिर्फ उन्तालीस बरस के ही थे उनकी मृत्यु हो गई।

विवेकानंद के ही समकालीन थे रवींद्रनाथ ठाकुर। वैसे वह एक बाद की पीढ़ी के थे। ठाकुर-परिवार ने उन्नीसवीं सदी में बंगाल में कई सुधार आंदोलनों में खास हिस्सा लिया था। उस घराने में आध्यात्मिक रूप से बहुत उन्नत लोग थे बढ़िया लेखक और कलाकार थे लेकिन इनमें रवींद्रनाथ सबसे बढ़कर हुए। और दरअसल वह रफ्ता-रफ्ता इस दर्जे पर पहुंच गये कि हिंदुस्तान-भर में उनका कोई सानी न रह गया। रचनात्मक काम के उनके लंबे जीवन ने दो पीढ़ियों को ढक लिया और हमको ऐसा महसूस होता है, मानो वह हमारे ही जमाने के हों। वह राजनीतिज्ञ नहीं थे लेकिन वह हिंदुस्तानी जनता की आजादी के प्रति इतने सचेत और इतने आसक्त थे कि वह हमेशा ही अपने काव्य और संगीत के शीशमहल में नहीं रह सकते थे। जब-जब वह किसी घटनाक्रम को बरदाश्त नहीं कर सके वह बार-बार बाहर आये और उन्होंने ब्रिटिश सरकार को या अपनी ही जनता को चेत

---

धर्म नहीं होगा। इसाइयों और अरबों के मुकाबले ज्यादा पुरानी जाति होने की वजह से हिंदुओं को और जातियों की अपेक्षा इस सत्य पर जल्दी पहुंचने का श्रेय मिल सकता है लेकिन व्यवहार-रूप में अद्वैतवाद जिसमें सारे मानव समाज को आत्मवत बरता जाता है अभी व्यापक रूप से हिंदुओं में आना बाकी है।

"दूसरी तरफ हमारा अनुभव यह है कि अगर कभी भी किसी धर्म के अनुयायी इस साम्य पर रोजाना की अमली जिंदगी में कुछ दूर तक पहुंच पाये हैं तो वे इस्लाम के और सिर्फ इस्लाम के ही अनुयायी हैं। हां यह बात दूसरी है कि इस बरताव के ज्यादा गहरे सिद्धांतों को, जिन्हें हिंदू आमतौर पर स्पष्ट रूप से देखते हैं वे लोग न जानते हों और न समझ पाते हों।

"हमारे यहां के लिए इन दो महाधर्मों का, हिंदू और इस्लाम का सम्मिलन—वेदांती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर—ही एकमात्र आशा है।

"मेरे दिमाग के सामने भविष्य के उस पूर्ण भारत की तस्वीर है, जो इस अवस्था और संघर्ष से ऊपर उठेगा और जो प्रतिभावान और अजेय होगा और जिसमें वेदांती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर होगा।" यह पत्र अल्मोड़ा से १ जून १८९८ को लिखा गया था।

दूसरी-जैसी भाषा में चेतावनी दी। बीसवीं सदी के शुरू के सालों में बंगाल में जो स्वदेशी आंदोलन चला उसमें उन्होंने एक खास हिस्सा लिया और बाद में उस वक्त भी जब उन्होंने अमृतसर के हत्याकांड के समय अपनी 'सर' की पदवी का परित्याग किया। शिक्षा के मैदान में उनका जो रचनात्मक काम खामोशी से शुरू हुआ उसने 'शांतिनिकेतन' को भारतीय संस्कृति का एक प्रधान केंद्र ही बना दिया है। हिंदुस्तान के दिमाग पर, और खास-तौर से बाद की नई पीढ़ियों पर उनका बेहद असर हुआ है। सिर्फ बंगला ही नहीं जिसमें वह खुद लिखते थे बल्कि हिंदुस्तान की सभी आधुनिक भाषाएं कुछ हद तक उनकी रचनाओं से प्रभावित हुई हैं। पूर्व और पश्चिम के आदर्शों में सामंजस्य स्थापित करने में उन्होंने और किसी भी हिंदुस्तानी के मुकाबले ज्यादा मदद की है और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता के आधार को चौड़ा किया है। वह हिंदुस्तान के सबसे बड़े अंतर्राष्ट्रीयतावादी रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में उन्होंने विश्वास किया है और उसके लिए काम किया है और वह हिंदुस्तान का संदेश दूसरे देशों को ले गये हैं और दूसरे देशों का संदेश अपनी जनता के लिए लाये हैं। फिर भी इस अंत-र्राष्ट्रीयता के होते हुए भी उनके पैर हिंदुस्तान की जमीन पर ही मजबूती से जमे रहे हैं और उनका मस्तिष्क उपनिषदों के ज्ञान से ओत-प्रोत रहा है। आम ढर्रे के खिलाफ ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई, उनका नजरिया ज्यादा इन्कलाबी होता गया। घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी रूसी इन्कलाब के बड़े कारनामों के वह प्रशंसक थे खासतौर पर शिक्षा संस्कृति स्वास्थ्य और साम्य भावना के। राष्ट्रवाद के प्रति निष्ठा मनुष्य के विचारों को संकीर्ण बना देती है और जब राष्ट्रवाद की घातक साम्राज्यवाद से टक्कर होती है तब हर तरह की निराशाएं और मानसिक उलझनें पैदा हो जाती हैं। जिस तरह एक दूसरे स्तर पर गांधीजी ने हिंदुस्तान की बेहद सेवा की है उसी तरह ठाकुर ने भी इस रूप में बड़ी भारी सेवा की है कि उन्होंने जनता को कुछ हद तक उसके सोच-विचार के संकीर्ण घेरे से धकेल बाहर निकाला और उसके दृष्टिकोण को ज्यादा विस्तृत और व्यापक बनाया। रवींद्रनाथ हिंदुस्तान के एक बहुत बड़े मानव-हितैषी थे।

बीसवीं सदी के पहले आधे हिस्से में ठाकुर और गांधी यकीनी तौर पर हिंदुस्तान के दो खास और मार्के के पुरुष रहे हैं। उनकी सम और विषम बातों का मिलान शिक्षाप्रद है। कोई भी दो व्यक्ति अपने स्वभाव या मान-सिक गठन में एक-दूसरे से इतने ज्यादा जुदा नहीं हो सकते। रवीन्द्रनाथ एक अभिजात कलाकार थे जो आम जनता से सहानुभूति रखने की वजह से

लोकतंत्रवादी बन गये थे। वह खासतौर से हिंदुस्तान की सांस्कृतिक परंपरा के नुमाइंदे थे—उस परंपरा के जो जिंदगी को उसके पूरे रूप में अंगीकार करती है और जिसमें नाच और गाने के लिए जगह है। गांधीजी खासतौर से आम जनता के आदमी थे और क़रीब-क़रीब हिंदुस्तानी किसान का ही स्वरूप थे और वह हिंदुस्तान की दूसरी पुरानी परंपरा के नुमाइंदे थे। यह परंपरा थी संन्यास और त्याग की। फिर भी रवींद्रनाथ खासतौर से विचार-जगत के आदमी थे और गांधीजी अनवरत कर्मण्यता के। दोनों का ही अपने-अपने ढंग से विश्व-व्यापी दृष्टिकोण था और साथ ही दोनों ही पूरी तरह हिंदुस्तानी थे। ऐसा प्रतीत होता था कि वे हिंदुस्तान के जुदा-जुदा लेकिन आपस में मेल रखनेवाले पहलुओं की नुमाइंदगी करते थे और एक-दूसरे के पूरक थे।

रवींद्रनाथ और गांधीजी पर विचार करते हुए हम अपने मौजूदा जमाने तक आ जाते हैं। लेकिन हम तो एक पहले युग पर विचार कर रहे थे। हम तो यह देख रहे थे कि विवेकानंद ने और दूसरे लोगों ने हिंदुस्तान की विगतकालीन महानता पर जो जोर दिया और उस पर अपना जो अभिमान प्रकट किया उसका आम जनता पर और खासतौर से हिंदुओं पर क्या असर हुआ। विवेकानंद खुद सावधान थे और उन्होंने जनता को भी इस बात से सचेत कर दिया कि वह विगत काल में ही न विचरती रहे और उन्होंने उससे भविष्य की तरफ़ निगाह उठाने को कहा। उन्होंने लिखा—'हे ईश्वर, हमारा यह देश भूतकाल में अपने लगातार विचरण से कब मुक्त होगा?' लेकिन खुद उन्होंने और साथ ही दूसरे लोगों ने उस भूतकाल को आमंत्रित किया था और उसमें एक सम्मोहन था और उससे छुटकारा नहीं था।

गुजरे हुए जमाने की ओर निगाह उठाने और वहां शांति और पोषण पाने के काम में प्राचीन साहित्य और इतिहास के फिर से अध्ययन से मदद मिली। बाद में पूर्वी समुद्रों में हिंदुस्तानी उपनिवेशों की कहानियों से भी इसमें मदद मिली। हिंदू मध्यम वर्ग में फिर से अपनी आध्यात्मिक और राष्ट्रीय विरासत में विश्वास बढ़ाने में श्रीमती एनी बेसेंट का जबरदस्त हाथ रहा। इस सबमें एक आध्यात्मिक और धार्मिक भावना मिली हुई थी लेकिन साथ ही इसमें एक मुदृढ़ राजनैतिक पृष्ठभूमि भी थी। उठता हुआ मध्यम वर्ग राजनैतिक प्रवृत्तिवाला था और उसे धर्म की कोई खास तलाश नहीं थी। उसे एक सांस्कृतिक नींव की जरूरत थी जिसे वह पकड़ सकता और जिससे उसे अपनी क्षमता में विश्वास होता एक ऐसी चीज़

जो उस सारी मायूसी और हीनता को दूर करती, जिसको विदेशी जीत और विदेशी हुकूमत ने पैदा किया था। हर देश में राष्ट्रीयता की तरक्की के साथ धर्म के अलावा एक ऐसी तलाश होती है, और गुज़रे ज़माने पर ध्यान देने का रुझान होता है। ईरान जान-बूझकर इस्लाम से पहले की अपनी महानता के युग में पैठ है और इससे उसकी धार्मिक निष्ठा में किसी तरह की कमी नहीं हुई। उस युग में जाने का मक़सद उस वक्त की याद को ताज़ा करना था। ईरान में मौजूदा राष्ट्रीयता को मज़बूत करने के लिए उस याद का उपयोग किया गया है। यही बात और दूसरे देशों में भी है। हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने में कितने ही सांस्कृतिक पहलू हैं और उसकी महानता सारी हिंदुस्तानी जनता की चाहे वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई कुछ भी हो एक मिली-जुली विरासत है और उन लोगों के पुरखों ने ही तो उसका निर्माण किया था। यह बात कि बाद में उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया उनकी इस विरासत को मिटा नहीं देती—ठीक उसी तरह जैसे यूनानी जब ईसाई हो गये तब भी उनका अपने पुरखों की महान उपलब्धियों के लिए अभिमान कम नहीं हुआ और न इटलीवाले रोमन गणराज्य या रोमन साम्राज्य के दिनों को ही अपने धर्म-परिवर्तन के बाद भूले। अगर हिंदुस्तान की सारी जनता ने भी इस्लाम या ईसाई मत को अपना लिया होता तब भी यह सांस्कृतिक विरासत उसको उकसाने के लिए बनी रहती और उसको उससे वह गंभीरता और शान मिलती, जो सांस्कृतिक अनुभव और जीवन की समस्याओं में होकर निकले हुए एक सभ्य अस्तित्व के लंबे इतिहास से उसकी जनता को मिलती है।

भी उठ खड़े हुए, जो पहले सामंती और अर्ध-सामंती वर्ग में और आम जनता में या तो थे ही नहीं या अगर थे तो बहुत कम थे। हिंदू और मुसलमान आम जनता में एक-दूसरे में छांट करना मुश्किल था और ऊपरी वर्ग में ढंग-ढर्रे हिंदू और मुसलमान दोनों में ही एक थे। यही नहीं उनकी एक-सी संस्कृति थी एक-से रिवाज थे और एक-से त्योहार थे। मध्यम वर्ग मनोवैज्ञानिक ढंग से अलग-अलग हुए और बाद में और दूसरी तरह के फ़र्क भी आ गये।

पहली बात तो यह है कि शुरू में मुसलमानों में यह बीच का वर्ग क़रीब-क़रीब था ही नहीं। उनके पच्छिमी शिक्षा उद्योग और व्यवसाय से अलग रहने की वजह से और सामंती ढर्रे से चिपके रहने की वजह से हिंदू आगे निकल गये क्योंकि उन्होंने इन सब चीज़ों से फ़ायदा उठाया। ब्रिटिश नीति का झुकाव हिंदुओं के पक्ष में था और मुसलमानों के ख़िलाफ़ था। यह बात पंजाब में नहीं थी और इसीलिए और जगहों के मुक़ाबले वहां के मुसलमानों ने पच्छिमी तालीम को आसानी से अपनाया। लेकिन पंजाब में अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा होने से पहले ही हिंदू बहुत आगे बढ़ गये थे। इसलिए पंजाब में भी जहां हिंदुओं और मुसलमानों के लिए एक-सी हालतें थीं हिंदू माली हालत के लिहाज़ से आगे थे। विदेशी-विरोधी भावनाएं हिंदू और मुसलमान आम जनता और ऊंचे वर्ग में बराबर थीं। सन १८५७ के ग़दर में दोनों ही शामिल थे लेकिन उसका दमन मुसलमानों को ज़्यादा महसूस हुआ। यह सही भी था क्योंकि दोनों के मुक़ाबले में उन्हें ज़्यादा नुक़सान उठाना पड़ा। इस विद्रोह से दिल्ली की सल्तनत के बने रहने के सपने बिल्कुल ख़त्म हो गये। वह सल्तनत तो बहुत पहले यहां तक कि अंग्रेज़ों के रंगमंच पर आने के पहले ही ख़त्म हो चुकी थी। मराठों ने उसे ख़त्म कर दिया था और ख़ुद दिल्ली पर भी उनका नियंत्रण था। पंजाब में रंजीतसिंह का राज्य था। अंग्रेज़ों के दख़ल दिये बिना ही उत्तर में मुग़ल साम्राज्य ख़त्म हो चुका था और दक्खिन में भी वह तितर-बितर हो चुका था। फिर भी नाममात्र का सम्राट दिल्ली के महलों में था और हालांकि पहले उसे मराठों से और बाद में अंग्रेज़ों से पेन्शन मिलती थी फिर भी वह मुग़ल वंश का प्रतीक तो था ही। लाज़िमी तौर पर ग़दर के दौरान में बाग़ियों ने इस प्रतीक से फ़ायदा उठाने की कोशिश की अगरचे वह ख़ुद कमज़ोर था और इसके लिए तैयार नहीं था। इस ग़दर के ख़ात्मे के मानी ये हुए कि यह प्रतीक भी ख़त्म हो गया।

ज्यों-ज्यों ग़दर के धमाके के बाद लोग धीरे-धीरे पनपे उनके दिमाग़

जो उस सारी मायूसी और हीनता को दूर करती जिसको विदेशी जीत और विदेशी हुकूमत ने पैदा किया था। हर देश में राष्ट्रीयता की तरक्की के साथ धर्म के अलावा एक ऐसी तलाश होती है, और गुज़रे ज़माने पर ध्यान देने का रुझान होता है। ईरान जान-बूझकर इस्लाम से पहले की अपनी महानता के युग में पैठा है और इससे उसकी धार्मिक निष्ठा में किसी तरह की कमी नहीं हुई। उस युग में जाने का मक़सद उस वक्त की याद को ताज़ा करना था। ईरान में मौजूदा राष्ट्रीयता को मज़बूत करने के लिए उस याद का उपयोग किया गया है। यही बात और दूसरे देशों में भी है। हिंदुस्तान के गुज़रे ज़माने में कितने ही सांस्कृतिक पहलू हैं और उसकी महानता सारी हिंदुस्तानी जनता की चाहे वह हिंदू, मुसलमान या ईसाई कुछ भी हो एक मिली-जुली विरासत है और उन लोगों के पुरखों ने ही तो उसका निर्माण किया था। यह बात कि बाद में उन्होंने धर्म-परिवर्तन कर लिया उनकी इस विरासत को मिटा नहीं देती—ठीक उसी तरह जैसे यूनानी जब ईसाई हो गये तब भी उनका अपने पुरखों की महान उपलब्धियों के लिए अभिमान कम नहीं हुआ और न इटलीवाले रोमन गणराज्य या रोमन साम्राज्य के दिनों को ही अपने धर्म-परिवर्तन के बाद भूले। अगर हिंदुस्तान की सारी जनता ने भी इस्लाम या ईसाई मत को अपना लिया होता तब भी वह सांस्कृतिक विरासत उसको उकसाने के लिए बनी रहती और उसको उससे वह गंभीरता और शान मिलती जो मानसिक संघर्ष और जीवन की समस्याओं में होकर निकले हुए एक सभ्य अस्तित्व के लंबे इतिहास से उसकी जनता को मिलती है।

अगर हम एक आज़ाद राष्ट्र रहे होते और देश में मौजूदा वक्त में सब मिल-जुलकर सामूहिक भविष्य के लिए काम कर रहे होते तो हम सबने इस गुज़रे वक्त को बराबर अभिमान के साथ देखा होता। दरअसल मुग़ल ज़माने में बादशाह और उनके खास साथी नये होने के नाते इस गुज़रे ज़माने के साथ अपने को मिलाना चाहते थे और दूसरों की तरह उस पर अभिमान महसूस करना चाहते थे। लेकिन इतिहास के संयोग ने और उसकी रविश ने दूसरे ही ढंग से काम किया और जो तब्दीलियां हुईं, उन्होंने स्वाभाविक तरक्की को रोक दिया। इसमें कुछ हद तक मानवीय नीति और दुर्भावनाओं की भी मदद थी। जहां यह उम्मीद की जा सकती है कि पश्चिम के आघात से और वैज्ञानिक और आर्थिक तब्दीली से जो नया मध्यम वर्ग पैदा हुआ उसमें हिंदुओं और मुसलमानों में एक-सी ही पृष्ठ-भूमि रहती। कुछ हद तक ऐसा हुआ भी लेकिन कुछ हद तक ऐसे और

भी उठ खड़े हुए, जो पहले सामंती और अर्ध-सामंती वर्ग में और आम जनता में या तो थे ही नहीं या अगर थे तो बहुत कम थे। हिंदू और मुसलमान आम जनता में एक-दूसरे में छांट करना मुश्किल था और ऊपरी वर्ग में ढंग-ढर्रे हिंदू और मुसलमान दोनों में ही एक थे। यही नहीं उनकी एक-सी संस्कृति थी एक-से रिवाज थे और एक-से त्योहार थे। मध्यम वर्ग मनोवैज्ञानिक रूप से अलग-अलग हुए और बाद में और दूसरी तरह के फ़र्क भी आ गये।

पहली बात तो यह है कि शुरू में मुसलमानों में यह बीच का वर्ग क़रीब-क़रीब था ही नहीं। उनके पश्चिमी शिक्षा उद्योग और व्यवसाय से अलग रहने की वजह से और सामंती ढर्रे से चिपके रहने की वजह से हिंदू आगे निकल गये क्योंकि उन्होंने इन सब चीज़ों से फ़ायदा उठाया। ब्रिटिश नीति का झुकाव हिंदुओं के पक्ष में था और मुसलमानों के खिलाफ़ था। यह बात पंजाब में नहीं थी और इसीलिए और जगहों के मुक़ाबले वहां के मुसलमानों ने पश्चिमी तालीम को आसानी से अपनाया। लेकिन पंजाब में अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा होने से पहले ही हिंदू बहुत आगे बढ़ गये थे। इसलिए पंजाब में भी जहां हिंदुओं और मुसलमानों के लिए एक-सी हालतें थीं हिंदू माली हालत के लिहाज़ से आगे थे। विदेशी-विरोधी भावनाएं हिंदू और मुसलमान आम जनता और ऊंचे वर्ग में बराबर थीं। सन १८५७ के बलवे में दोनों ही शामिल थे लेकिन उसका दमन मुसलमानों को ज्यादा महसूस हुआ। यह सही भी था क्योंकि दोनों के मुक़ाबले में उन्हें ज्यादा नुक़सान उठाना पड़ा। इस विद्रोह से दिल्ली की सल्तनत के बने रहने के सपने बिल्कुल ख़त्म हो गये। यह सल्तनत तो बहुत पहले यहांतक कि अंग्रेज़ों के रंगमंच पर आने के पहले ही ख़त्म हो चुकी थी। मराठों ने उसे ख़त्म कर दिया था और खुद दिल्ली पर भी उनका नियंत्रण था। पंजाब में रंजीतसिंह का राज्य था। अंग्रेज़ों के दखल दिये बिना ही उत्तर में मुग़ल साम्राज्य ख़त्म हो चुका था और दक्खिन में भी वह तितर-बितर हो चुका था। फिर भी नाममात्र का सम्राट दिल्ली के महलों में था और हालांकि पहले उसे मराठों से और बाद में अंग्रेज़ों से पेन्शन मिलती थी फिर भी वह मुग़ल वंश का प्रतीक तो था ही। क़ुदरती तौर पर ग़दर के दौरान में बाग़ियों ने इस प्रतीक से फ़ायदा उठाने की कोशिश की अगरचे वह खुद कमज़ोर था और इसके लिए तैयार नहीं था। उस ग़दर के ख़ात्मे के मानी ये हुए कि यह प्रतीक भी ख़त्म हो गया।

ज्यों-ज्यों ग़दर के आतंक के बाद लोग धीरे-धीरे पनपे उनके दिमाग़

में एक खोखलापन आया और खाली जगह को भरने के लिए किसी चीज़ की ज़रूरत थी। लाज़िमी तौर पर ब्रिटिश हुकूमत को तो मंज़ूर करना ही था लेकिन भूतकाल से विच्छेद से सिर्फ़ एक नई सरकार ही सामने नहीं आई बल्कि उसके साथ उलझन और घबराहट आई और आत्म-विश्वास जाता रहा। असल में यह विच्छेद तो ग़दर से बहुत पहले हो चुका था और जैसाकि मैं ज़िक्र कर चुका हूं उसकी वजह से बंगाल में और दूसरी जगहों में कई आंदोलन हुए। लेकिन हिंदुओं के मुक़ाबले में मुसलमान ज़्यादातर अपने खोल में समाये हुए थे और पच्छिमी तालीम से बचते थे। वे बराबर इस बात का सपना देखते थे कि पुरानी हालत फिर से वापस आयेगी। अब ग़दर के बाद इस तरह के सपने नहीं देखे जा सकते थे लेकिन सहारे के लिए किसी चीज़ की ज़रूरत थी। नई तालीम से वे अब भी अलग थे। धीरे धीरे बहुत मुश्किल और बहस-मुबाहसे के बाद सर सैयद अहमद ख़ां ने उनके दिमाग़ को अंग्रेज़ी शिक्षा की तरफ़ मोड़ा और अलीगढ़ कालेज क़ायम किया। सरकारी नौकरी के लिए सिर्फ़ यही एक रास्ता था और इस नौकरी का लालच इतना ज़बरदस्त साबित हुआ कि पुरानी नाराज़ी और पुरानी धारणाएं ठहर न सकीं। यह बात कि हिंदू शिक्षा में और नौकरियों में बहुत आगे निकल गये थे नापसंद की गई और ख़ुद वैसा ही करने के लिए एक ज़बरदस्त दलील साबित हुई। पारसी और हिंदू तो उद्योग-धंधों में भी आगे बढ़ रहे थे लेकिन मुसलमानों की निगाह सिर्फ़ सरकारी नौक-रियों की तरफ़ थी।

लेकिन काम-काज में इस नये रुझान ने जो असल में कुछ थोड़े-से ही लोगों तक महदूद था उनके दिमाग़ के शक और उलझन को दूर नहीं किया। हिंदुओं ने ऐसी ही हालत में पीछे निगाह डाली थी और प्राचीन युग में शांति की तलाश की थी। पुराने फ़िलसफ़े पुरानी कला और पुराने साहित्य और इतिहास से कुछ सकून मिला। राममोहन राय दयानंद विवेकानंद और दूसरे लोगों ने नई विचारधारा के आंदोलन चलाये थे। जहां एक तरफ़ तो उन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य के भरे-पूरे भंडार से लाभ उठाया था दूसरी ओर उनका दिमाग़ प्राचीन संतों और शूरवीरों से भरा हुआ था। उनके दिमाग़ में इनके विचार और काम थे और वे गाथाएं और दंतकथाएं थीं जिनको उन्होंने अपने बचपन से बराबर सीखा था।

[illegible] की बहुत सी बातों का मुसलमानों से भी इतना ही मतलब था क्योंकि वे इन परंपराओं में शामिल थे लेकिन यह बात महसूस की गई और ख़ासतौर से मुसलमानों के ऊंचे तबक़े में ही महसूस की गई कि उन

के लिए अपने-आपको इन अर्ध-धार्मिक परंपराओं के साथ मिलाना ठीक नहीं था और उनको किसी तरह का भी बढ़ावा देना इस्लाम की भावना के ख़िलाफ़ होगा। उन्होंने अपनी क़ौमी बुनियाद की दूसरी जगह तलाश की। कुछ हद तक उन्हें यह हिंदुस्तान के अफ़ग़ान और मुग़ल-युग में मिली लेकिन उस खाली जगह को भरने के लिए यह काफ़ी नहीं थी। वे युग हिंदू और मुसलमानों के लिए एक-से थे और हिंदुओं के दिमाग़ से विदेशी हस्तक्षेप की भावना ग़ायब हो गई थी। मुग़ल शासकों को हिंदुस्तानी राष्ट्रीय शासकों की तरह देखा गया। हां, औरंगज़ेब के बारे में अलग-अलग रायें थीं। यहां एक ध्यान देने की बात यह है कि अकबर को जिसकी हिंदू ख़ासतौर से तारीफ़ करते थे इधर कुछ मुसलमानों ने नापसंद किया है। पिछले साल हिंदुस्तान में उसके जन्म दिन का ४ वां वार्षिकोत्सव मनाया गया। हर जमात के लोग (और इनमें कुछ मुसलमान भी थे) इस जलसे में शामिल हुए, लेकिन मुस्लिम लीग अलहदा रही क्योंकि अकबर तो हिंदुस्तान की एकता का प्रतीक था।

सांस्कृतिक बुनियाद की तलाश में हिंदुस्तानी मुसलमान (यानी उनमें बीच के तबक़े के कुछ लोग) इस्लामी इतिहास की तरफ़ गये और वे उस ज़माने में पहुंचे जब इस्लाम बग़दाद स्पेन कुस्तुंतुनिया मध्य एशिया आदि में विजेता के रूप में छाया हुआ था। इस इतिहास में दिलचस्पी हमेशा से रही है और पड़ोसी इस्लामी देशों से कुछ ताल्लुक़ात भी रहे थे। मक्का में हज के लिए यात्री जाते थे और वहां दूसरे देश के मुसलमानों से मुलाक़ात होती थी। लेकिन ये सब ताल्लुक़ महदूद थे और सतही थे और इसका हिंदुस्तानी मुसलमानों के आम नज़रिये पर कोई ख़ास असर नहीं हुआ। यह तो सिर्फ़ हिंदुस्तान तक महदूद था। दिल्ली के अफ़ग़ान बादशाहों ने ख़ासतौर से मुहम्मद तुग़लक़ ने क़ाहिरा के ख़लीफ़ा को अपना सरपरस्त माना था। बाद में कुस्तुंतुनिया के आटोमन बादशाह ख़लीफ़ा बन गये लेकिन उनको हिंदुस्तान में माना नहीं जाता था। हिंदुस्तान के मुग़ल बादशाहों ने किसी ख़लीफ़ा को या हिंदुस्तान के बाहर के किसी मज़हबी नेता को अपना सरपरस्त नहीं माना। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में मुग़ल ताक़त के ख़त्म होने के बाद ही हिंदुस्तान की मस्जिदों में तुर्की के सुल्तान का नाम लिया जाना शुरू हुआ। ग़दर के बाद यह आम रवैया हो गया।

इस तरह हिंदुस्तान के मुसलमानों ने इस्लाम के उस पुराने बड़प्पन से कुछ मनोवैज्ञानिक संतोष पाना चाहा जो ख़ासतौर से दूसरे देशों में था। तुर्की के आज़ाद मुस्लिम ताक़त बने रहने पर (और इस वक़्त तुर्की

ही एकमात्र आज़ाद मुस्लिम ताक़त थी) उन्होंने अभिमान किया। इस भावना का हिंदुस्तानी क़ौमियत से कोई संघर्ष या विरोध नहीं था। असल में खुद बहुत-से हिंदू इस्लामी इतिहास से सुपरिचित थे और वे उसके प्रशंसक थे। उन्होंने तुर्की के साथ सहानुभूति प्रकट की क्योंकि उन्होंने उसे यूरोपीय ज़्यादतियों का एशियाई शिकार समझा। फिर भी एक भेद था, और हिंदुओं के लिए इस भावना ने वह मनोवैज्ञानिक ज़रूरत पूरी नहीं की, जो मुसलमानों के लिए पूरी हुई।

ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमान इस झिझक में थे कि किस रास्ते को अपनायें। ब्रिटिश सरकार ने जान-बूझकर उनका हिंदुओं से भी ज़्यादा दमन किया था। इस दमन से ख़ासतौर से मुसलमानों के उस हिस्से पर असर पड़ा था जिससे नया बीच का तबक़ा या 'बूर्ज्वा' वर्ग पैदा होता। उन्होंने बहुत मायूसी महसूस की और वे बहुत ज़्यादा ब्रिटिश विरोधी थे और साथ ही रूढ़िवादी और अनुदार थे। सन १८७० के बाद उनकी तरफ़ ब्रिटिश नीति में धीरे-धीरे तब्दीली आई और वह उनके मुआफ़िक़ हुई। इस तब्दीली की ख़ास वजह ब्रिटिश सरकार की संतुलन की नीति थी जिसको बराबर बरता जा रहा था। फिर भी इस सिलसिले में सर सैयद अहमद ख़ां का भी बहुत बड़ा हाथ था। उनको इस बात का पक्का यक़ीन था कि ब्रिटिश सरकार के सहयोग से ही वह मुसलमानों को ऊपर उठा सकते हैं। वह उन्हें अंग्रेज़ी तालीम के पक्ष में करने के लिए फ़िक्रमंद थे और उनके कट्टरपन को दूर करना चाहते थे। उन्होंने जो यूरोपीय सभ्यता देखी थी उससे वह बहुत प्रभावित थे। असल में उनके यूरोप से लिखे हुए कुछ ख़तों से यह बात ज़ाहिर होती है कि उस सभ्यता से वह इतने चकाचौंध थे कि उनकी संतुलन की बुद्धि जाती रही थी।

सर सैयद एक जोशीले सुधारक थे और वह इस ज़माने के वैज्ञानिक विचार और इस्लाम में मेल बिठाना चाहते थे। इसके करने के मानी ये नहीं थे कि किसी बुनियादी धारणा पर चोट की जाय बल्कि वह यह चाहते थे कि धर्म-ग्रंथ की तर्क-संगत व्याख्या की जाय। उन्होंने इस्लाम और ईसाई-धर्म के बुनियादी एकरूपपन की तरफ़ इशारा किया। उन्होंने मुसलमानों में परदा-प्रथा की आलोचना की। तुर्की के ख़लीफ़ा के प्रति वफ़ादारी या उसकी मातहती के वह ख़िलाफ़ थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि वह नई शिक्षा को मुसलमानों में फैलाना चाहते थे। क़ौमी तहरीक की शुरूआत ने उनको डरा दिया क्योंकि उनका यह ख़याल था कि ब्रिटिश अधिकारियों के विरोध से उन्हें अपने तालीमी कामों में अंग्रेज़ों की मदद नहीं

मिल सकेगी। उनकी मदद सर सैयद को जरूरी मालूम पड़ी। इसलिए उन्होंने मुसलमानों की ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को घटाने की कोशिश की और उनको नेशनल कांग्रेस से भी जो उस वक्त बन रही थी अलग रखने की कोशिश की। अलीगढ़ कालेज का एक जाहिरा मकसद यह भी था कि वह "हिंदुस्तान के मुसलमानों को ब्रिटिश ताज की योग्य और उपयोगी प्रजा बनाये। वह राष्ट्रीय कांग्रेस के खिलाफ इसलिए नहीं थे कि वह एक ऐसी संस्था थी जिसमें हिंदुओं की प्रधानता थी बल्कि इसलिए कि उनके लिहाज से वह राजनैतिक दृष्टि से बहुत ज्यादा तेज थी (हालांकि उन दिनों कांग्रेस बहुत नरम विचारों की ही संस्था थी) और वह ब्रिटिश सहायता और सहयोग चाहते थे। उन्होंने यह बात दिखाने की कोशिश की कि कुल मिलाकर मुसलमानों ने ग़दर में हिस्सा नहीं लिया था और बहुत-से लोग ब्रिटिश ताकत के प्रति वफ़ादार रहे थे। वह किसी भी लिहाज से हिंदू-विरोधी नहीं थे और न वह सांप्रदायिक अलहदगी चाहते थे। उन्होंने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि धार्मिक मतभेदों का कोई भी क़ौमी या राजनैतिक महत्त्व नहीं होना चाहिए। उन्होंने कहा—"क्या तुम सब एक ही देश के रहनेवाले नहीं हो? "याद रखो हिंदू और मुसलमान शब्द तो धार्मिक बांट के लिए हैं वरना सब लोग हिंदू, मुसलमान और यहांतक कि ईसाई भी जो इस देश में रहते हैं इस लिहाज से सिर्फ़ एक ही क़ौम के लोग हैं।"

सर सैयद अहमद खां का असर मुसलमानों के ऊंचे तबक़े के कुछ हिस्सों तक ही महदूद था। उनका देहाती या शहरी आम जनता से वास्ता नहीं था। यह आम जनता अपने ऊंचे तबक़े से क़रीब-क़रीब बिलकुल अलहदा थी और वह हिंदू आम जनता के कहीं ज्यादा क़रीब थी। जहां मुस्लिम ऊंचे वर्ग के कुछ लोग मुग़ल जमाने के शासक समुदायों की औलाद थे वहां आम जनता की ऐसी कोई पृष्ठ-भूमि या परंपरा नहीं थी। उनमें से ज्यादातर सबसे निचले दर्जे के हिंदुओं से मुसलमान बने थे और उनकी बहुत बुरी हालत थी। वे सबसे ज्यादा गरीब थे और सबसे ज्यादा सताये हुए थे।

सर सैयद के कई क़ाबिल और मशहूर साथी थे। उनके तर्कसंगत काम में उन्हें बहुत-से लोगों ने सहयोग दिया। इन सहयोग देनेवालों में सैयद चिराग़ अली और नवाब मोहसिन-उल-मुल्क थे। उनके तालीमी कामों की तरफ़ मुंशी करामत अली दिल्ली के मुंशी ज़काउल्ला डा० नज़ीर अहमद मौलाना शिबली नुमानी और शायर हाली जो उर्दू साहित्य

में एक खास जगह रखते हैं जिसे। जहांतक मुसलमानों में अंग्रेजी तालीम शुरू करने का और मुस्लिम दिमाग को राजनैतिक आंदोलन से अलग करने का सवाल था सर सैयद कामयाब हुए। एक मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस शुरू की गई और मुसलमानों के बढ़ते हुए बीच के तबके का ध्यान नौकरियों या दूसरे पेशों में था इसकी तरफ ध्यान गया।

फिर भी बहुत-से मशहूर मुसलमान कांग्रेस में शामिल हुए। ब्रिटिश नीति अब निश्चित रूप से मुसलमानों की या यों कहा जाय मुसलमानों के उन हिस्सों की तरफदार हो गई जो कौमी आंदोलन के खिलाफ थे। लेकिन बीसवीं सदी के शुरू में मुसलमानों की नई पीढ़ी में कौमियत और राजनैतिक कार्रवाई के लिए झुकाव मालूम पड़ा। इस तरफ से ध्यान हटाकर उसके लिए एक निकासी देने की गरज से सन १९०६ में ब्रिटिश प्रेरणा से और मदद से एक खास मददगार आगा खां के नेतृत्व में मुस्लिम लीग चालू हुई। लीग के दो खास मकसद थे। एक तो ब्रिटिश सरकार के प्रति वफादारी और दूसरे मुस्लिम हितों की हिफाजत।

एक बात ध्यान देने की है कि गदर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों में जितने भी खास आदमी थे (और इनमें ही सर सैयद थे) वे सब पुरानी पारंपरिक शिक्षा की ही उपज थे। हां बाद में इन लोगों ने अंग्रेजी भी सीखी और वे नये विचारों के असर में आये। नई पश्चिमी तालीम ने इनमें कोई बड़ी शख्सियत नहीं पैदा की। गालिब उर्दू के मशहूर शायर थे और हिंदुस्तान में उस सदी के खास लेखकों में से एक थे। वह गदर से पहले के जमाने के थे।

बीसवीं सदी के शुरू के सालों में पढ़े-लिखे मुसलमानों में दो धाराएं थीं—एक जो खासतौर से कम उम्रवालों में थी कौमियत की तरफ थी और दूसरी हिंदुस्तान के गुजरे हुए जमाने से और कुछ हदतक मौजूदा जमाने से अलग रहती थी और इस्लामी देशों में खासतौर से तुर्की में जहां खलीफा रहता था उसकी ज्यादा दिलचस्पी थी। इस्लामी मुल्कों की तरफदार जिस तहरीक को तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद ने आगे बढ़ाया था उसके कुछ मददगार ऊंचे तबके के मुसलमानों में मिले लेकिन सर सैयद ने इसका विरोध किया और उन्होंने तुर्की और सुल्तान में दिलचस्पी लेने के लिए हिंदुस्तानियों को मना किया। इस नये तुर्क-आंदोलन की कई प्रतिक्रियाएं हुईं। हिंदुस्तान के ज्यादातर मुसलमानों ने शुरू में इसको कुछ शक भरी निगाह से देखा और सुल्तान के लिए आमतौर पर हमदर्दी थी। उसका तुर्की में यूरोपीय ताकतों की चालबाजियों के खिलाफ एक रोक की

में एक खास जगह रखते हैं, लिये। जहां तक मुसलमानों में अंग्रेज़ी तालीम शुरू करने का और मुस्लिम दिमाग़ को राजनैतिक आंदोलन से अलग करने का सवाल था सर सैयद कामयाब हुए। एक मुस्लिम एजुकेशनल कान्फ्रेंस शुरू की गई और मुसलमानों के बढ़ते हुए बीच के तबक़े का जो नौकरियों या दूसरे पेशों में था इसकी तरफ़ ध्यान गया।

फिर भी बहुत-से मशहूर मुसलमान कांग्रेस में शामिल हुए। ब्रिटिश नीति जब निश्चित रूप से मुसलमानों की या यों कहा जाय मुसलमानों के उन हिस्सों की तरफ़दार हो गई,जो क़ौमी आंदोलन के ख़िलाफ़ थे। लेकिन बीसवीं सदी के शुरू में मुसलमानों की नई पीढ़ी में क़ौमियत और राजनैतिक कार्रवाई के लिए झुकाव मालूम पड़ा। इस तरफ़ से ध्यान हटाकर उसके लिए एक *निकासी देने की गरज से सन १९ ६ में ब्रिटिश प्रेरणा से* और अंग्रेज़ों के एक खास मददगार आग़ा ख़ां के नेतृत्व में मुस्लिम लीग चालू हुई। लीग के दो खास मक़सद थे। एक तो ब्रिटिश सरकार के प्रति वफ़ादारी और दूसरे मुस्लिम हितों की हिफ़ाज़त।

एक बात ध्यान देने की है कि ग़दर के बाद हिंदुस्तानी मुसलमानों में जितने भी खास आदमी थे (और इनमें ही सर सैयद थे) वे सब पुरानी पारंपरिक शिक्षा की ही उपज थे। हां बाद में उन लोगों ने अंग्रेज़ी भी सीखी और वे नये विचारों के असर में आये। नई पश्चिमी तालीम ने उनमें कोई बड़ी शख़्सियत नहीं पैदा की। ग़ालिब उर्दू के मशहूर शायर थे और हिंदु-स्तान में उस सदी के खास लेखकों में से एक थे। वह ग़दर से पहले के ज़माने के थे।

बीसवीं सदी के शुरू के सालों में पढ़े-लिखे मुसलमानों में दो धाराएं थीं—एक जो खासतौर से कम उम्रवालों में थी क़ौमियत की तरफ़ थी और दूसरी हिंदुस्तान के गुज़रे हुए ज़माने से और कुछ हद तक मौजूदा ज़माने से अलग रहती थी और इस्लामी देशों में खासतौर से तुर्की में जहां ख़लीफ़ा रहता था उसकी ज़्यादा दिलचस्पी थी। इस्लामी मुल्कों की तरफ़दार जिस तहरीक को तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद ने आगे बढ़ाया था, उसके कुछ मददगार ऊंचे तबक़े के मुसलमानों में मिले लेकिन सर सैयद ने इसका विरोध किया और उन्होंने तुर्की और सुल्तान में दिलचस्पी लेने के लिए हिंदुस्तानियों को मना किया। इस नये तुर्क-आंदोलन की कई प्रतिक्रियाएं हुईं। हिंदुस्तान के ज़्यादातर मुसलमानों ने शुरू में इसको कुछ शक-भरी निगाह से देखा और सुल्तान के लिए आमतौर पर हमदर्दी थी। उनको तुर्की में यूरोपीय ताक़तों की ज़्यादतियों के ख़िलाफ़ एक रोक थी

चीज समझा जाता था। लेकिन कुछ दूसरे लोग भी थे और उन्हींमें मौलाना अबुल कलाम आज़ाद थे जिन्होंने नौजवान तुर्कों का स्वागत किया और उनके साथ संवैधानिक और सामाजिक सुधार का जो भविष्य था उसको पसंद किया। जब त्रिपोली के बंध में सन १९११ में इटली ने तुर्की पर अचानक हमला किया और बाद में सन १९१२ १३ में बाल्कन का युद्ध हुआ उस वक्त हिंदुस्तानी मुसलमानों में तुर्की के लिए हमदर्दी की एक हैरतअंगेज लहर उठी। वैसे तो यह हमदर्दी सभी हिंदुस्तानियों को थी लेकिन मुसलमानों में यह बहुत ज्यादा थी और ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो यह उनका अपना सवाल है। आखिरी बची हुई मुस्लिम ताक़त के खात्मे का अंदेशा था भविष्य के लिए उनके विश्वास का सबसे बड़ा लंगर बरबाद हो रहा था। डा एम ए अन्सारी तुर्की के लिए एक ज़बरदस्त मेडीकल मिशन ले गये और उसके लिए गरीबों तक ने चंदा दिया खुद मुसलमानों की बेहतरी की किसी तहरीक के लिए इतनी जल्दी रुपया नहीं इकट्ठा हुआ जितना कि इस वक्त तुर्की के लिए हुआ। पहली बड़ी जंग मुसलमानों के लिए एक इम्तिहान के तौर पर थी क्योंकि तुर्की दूसरी तरफ़ था। उन्होंने अपनी बेबसी महसूस की वे कुछ कर ही नहीं सकते थे। जब लड़ाई खत्म हुई, तो उनके दबे हुए जज़्बे खिलाफ़त आंदोलन के रूप में फूट पड़े।

हिंदुस्तान के मुसलमानी दिमाग़ की तरक्की में सन १९१२ भी एक खास साल है क्योंकि उसमें दो नये साप्ताहिक निकलने शुरू हुए। उनमें से एक तो 'अल हिलाल' था जो उर्दू में था और दूसरा अंग्रेजी में 'दि कामरेड' था। 'अल हिलाल' को मौलाना अबुल कलाम आज़ाद (वर्तमान कांग्रेस सभापति) ने चलाया था। वह एक चौबीस बरस के नौजवान थे। उनकी शुरू की पढ़ाई-लिखाई क़ाहिरा में अल-अज़हर विश्वविद्यालय में हुई थी और जिस वक्त वह पंद्रह और बीस बरस के ही बीच में थे उसी वक्त वह अपनी अरबी और फ़ारसी की क़ाबलियत के लिए मशहूर हो गये थे। इसके अलावा उनको हिंदुस्तान से बाहर की इस्लामी दुनिया की अच्छी जानकारी थी और उन्हें उन सुधार आंदोलनों का पूरा पता था जो वहां पर चल रहे थे। साथ ही उन्हें यूरोपीय मामलों की भी जानकारी थी। उनका नज़रिया बुद्धिवादी था और साथ ही इस्लामी साहित्य और इतिहास की उन्हें पूरी जानकारी थी। उन्होंने इस्लामी धर्म-ग्रंथों की बुद्धिवादी नज़रिये से व्याख्या की। इस्लामी परंपरा से वह छके हुए थे और उनके मिस्र तुर्की सीरिया फ़िलिस्तीन इराक़ और ईरान के मशहूर मुस्लिम नेताओं और सुधारकों से ज़ाती ताल्लुक़ात थे। इन देशों के इलाक़ाई और राजनैतिक

घूमकर आये थे और जो अलीगढ़ कालेज के सिलसिले में सर सैयद अहमद खां के साथ थे। जो भी हो अलीगढ़ कालेज की परंपरा बिलकुल जुदा और राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही नजरों से अनुदार थी। उसके ट्रस्टी नवाब और जमींदार थे जो सामंती ढांचे के ही नुमाइंदे थे। एक के बाद दूसरे ऐसे अंग्रेज प्रिंसिपलों के अधीन रहकर, जो सरकारी हलकों से नजदीकी ताल्लुक रखते थे इसमें अलहदगी के रुझान ने तरक्की की और क़ौमियत के खिलाफ और कांग्रेस के खिलाफ नजरिया क़ायम हो गया। वहां के विद्यार्थियों के सामने जो खास मक़सद रखा गया वह सरकारी नौकरियों में जगह पाने का था। उसके लिए सरकारी मदद करने का रुख जरूरी था और उसमें क़ौमियत और बग़ावत की गुंजाइश नहीं थी। अलीगढ़ कालेज का समुदाय अब नये पढ़े-लिखे मुसलमानों का नेतृत्व कर रहा था और उसने कभी-कभी खुले आम लेकिन ज्यादातर परदे के पीछे से क़रीब-क़रीब हर मुस्लिम आंदोलन पर असर डाला। बहुत-कुछ उन्हींकी कोशिशों का नतीजा था कि मुस्लिम लीग का जन्म हुआ।

अबुल कलाम आज़ाद ने कट्टरता के और क़ौमियत के विरोधी इस गढ़ पर हमला किया। सीधे तौर पर नहीं बल्कि ऐसे विचारों का प्रचार करके जो अलीगढ़ की परंपरा को ही खोखला कर देते। मुसलमानों के बुद्धिजीवी लोगों के दायरे में इस नौजवान लेखक और संपादक ने हलचल मचा दी। नई पीढ़ी के दिमाग़ में उनके शब्दों से एक उबाल पैदा हुआ। यह उबाल तुर्की मिस्र ईरान और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन की घटनाओं से पहले ही शुरू हो चुका था। आज़ाद ने उसको एक निश्चित धारा दी और उन्होंने यह बताया कि इस्लाम और इस्लामी देशों से सहानुभूति में और हिंदुस्तानी क़ौमियत में कोई संघर्ष नहीं था। इससे मुस्लिम लीग को कांग्रेस के पास लाने में मदद मिली। आज़ाद खुद भी १९ ६ में लीग के पहले ही जलसे में जब वह लड़के ही थे शरीक हुए थे।

ब्रिटिश सरकार के नुमाइंदों ने 'अल हिलाल' को पसंद नहीं किया। प्रेस एक्ट के मातहत उससे ज़मानत मांगी गई और आखिर सन १९१४ में उसका प्रेस जब्त कर लिया गया। इस तरह दो साल की छोटी-सी ज़िंदगी के बाद 'अल हिलाल' खत्म हो गया। इसके बाद आज़ाद ने एक दूसरा साप्ताहिक 'अल-बलाग़' निकाला लेकिन ब्रिटिश सरकार द्वारा आज़ाद के क़ैद किये जाने पर यह भी सन १९१६ में खत्म हो गया। चार साल तक वह क़ैद में रखे गये और जब वह बाहर आये तो उन्होंने फ़ौरन ही नेशनल कांग्रेस के नेताओं में अपनी जगह हासिल कर ली। तब से वह बराबर कांग्रेस

हालात का उन पर बहुत ज्यादा असर था। अपने लेखों की वजह से इस्लामी देशों में और किसी हिंदुस्तानी मुसलमान की अपेक्षा वह ज्यादा परिचित थे। उन लड़ाइयों में जिनमें तुर्की फंस गया उनकी बेहद दिलचस्पी हुई, और उनकी हमदर्दी तुर्की के लिए सामने आई। लेकिन उनके ढंग में और नजरिये में और दूसरे बुजुर्ग मुसलमान नेताओं के नजरिये में फ़र्क था। उनका नजरिया ज्यादा विस्तृत और तर्क-सम्मत था और इसकी वजह से न तो उसमें सामंतवाद था और न संकरी धार्मिकता और न सांप्रदायिक अलहदगी। इसने उनको लाजिमी तौर पर हिंदुस्तानी क़ौमियत का हामी बना दिया। उन्होंने तुर्की में और दूसरे इस्लामी देशों में क़ौमियत की तरक्की को खुद देखा था। उस जानकारी का उन्होंने हिंदुस्तान में इस्तेमाल किया और उसे *हिंदुस्तानी क़ौमी आंदोलन पर सही ढंग से लागू किया।* हिंदुस्तान के दूसरे मुसलमानों को इन देशों के आंदोलनों की शायद ही जानकारी रही हो और वे अपने सामंती वातावरण में घिरे रहे। वे सिर्फ़ मजहबी नजर से चीजों को देखते थे और तुर्की के साथ उनकी हमदर्दी सिर्फ़ धर्म के नाते थी। इस जबरदस्त हमदर्दी के बावजूद वे तुर्की की क़ौमी और ग़ैर मजहबी तहरीकों के साथ न थे।

अबुल कलाम आजाद ने अपने हफ्तेवार रिसाले 'अल-हिलाल' में एक नई भाषा में बात की। वह भाषा सिर्फ़ विचार या नजरिये के लिहाज से ही नई नहीं थी बल्कि उसका गठन भी दूसरे ढंग का था। इसकी वजह यह थी कि आजाद की शैली में जोर था, मर्दानगी थी और अपनी फ़ारसी पृष्ठभूमि के कारण कभी-कभी वह समझने में कुछ मुश्किल होती थी। उन्होंने नये विचारों के लिए नई शब्दावली का इस्तेमाल किया और उर्दू भाषा आज जैसी भी है उसको बनाने में एक निश्चित असर डाला। मुसलमानों के पुराने कट्टरपंथी नेताओं में इस सबके लिए अनुकूल प्रति-क्रिया नहीं हुई और उन्होंने आजाद के विचारों और उनके नजरिये की आलोचना की। लेकिन उनमें से क़ाबिल-से-क़ाबिल लोग भी आजाद से बहस या दलील में, यहां तक कि धर्म-ग्रंथों और पुरानी परंपराओं की बुनि-याद पर भी आसानी से टक्कर नहीं ले सकते थे। वजह यह थी कि इन चीजों के बारे में उनके मुकाबले में आजाद की जानकारी ज्यादा थी। उनमें मध्य-युग के इल्म अठारहवीं सदी के तर्कवाद और मौजूदा जमाने के नजरिये का एक अजीब मेल था।

पुरानी पीढ़ी के कुछ ऐसे लोग थे जिन्होंने आजाद के लेखों को पसंद किया। इनमें एक तो विद्वान मौलाना शिबली नुमानी थे जो खुद

तुर्की घूमकर आये थे और जो अलीगढ़ कालेज के सिलसिले में सर सैयद अहमद खां के साथ थे। जो भी हो अलीगढ़ कालेज की परंपरा बिलकुल जुदा और राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही नजरों से अनुदार थी। उसके ट्रस्टी नवाब और जमींदार थे जो सामन्ती ढांचे के ही नुमाइंदे थे। एक के बाद दूसरे ऐसे अंग्रेज प्रिंसिपलों के अधीन रहकर, जो सरकारी हलकों से नजदीकी ताल्लुक रखते थे इसमें अलहदगी के रुझान ने तरक्की की और क़ौमियत के खिलाफ़ और कांग्रेस के खिलाफ़ नजरिया क़ायम हो गया। वहां के विद्यार्थियों के सामने जो खास मक़सद रखा गया वह सरकारी नौकरियों में जगह पाने का था। उसके लिए सरकारी मदद करने का रुख जरूरी था और उसमें क़ौमियत और बग़ावत की गुंजाइश नहीं थी। अलीगढ़ कालेज का समुदाय अब नये पढ़े-लिखे मुसलमानों का नेतृत्व कर रहा था और उसने कभी-कभी खुले आम लेकिन ज्यादातर परदे के पीछे से करीब-करीब हर मुस्लिम आंदोलन पर असर डाला। बहुत-कुछ उन्हींकी कोशिशों का नतीजा था कि मुस्लिम लीग का जन्म हुआ।

अबुल कलाम आजाद ने कट्टरता के और क़ौमियत के विरोधी इस गढ़ पर हमला किया। सीधे तौर पर नहीं बल्कि ऐसे विचारों का प्रचार करके जो अलीगढ़ की परंपरा को ही खोखला कर देते। मुसलमानों के बुद्धिजीवी लोगों के दायरे में इस नौजवान लेखक और संपादक ने हलचल मचा दी। नई पीढ़ी के दिमाग में उनके शब्दों से एक उबाल पैदा हुआ। वह उबाल तुर्की मिस्र ईरान और साथ ही हिंदुस्तानी राष्ट्रीय आंदोलन की घटनाओं से पहले ही शुरू हो चुका था। आजाद ने उसको एक निश्चित धारा दी और उन्होंने यह बताया कि इस्लाम और इस्लामी देशों से सहानुभूति में और हिंदुस्तानी क़ौमियत में कोई संघर्ष नहीं था। इससे मुस्लिम लीग को कांग्रेस के पास लाने में मदद मिली। आजाद खुद भी १९ ६ में लीग के पहले ही जलसे में जब वह लड़के ही थे शरीक हुए थे।

ब्रिटिश सरकार के नुमाइंदों ने 'अल हिलाल' को पसंद नहीं किया। प्रेस एक्ट के मातहत उससे जमानत मांगी गई और आखिर सन १९१४ में उसका प्रेस जब्त कर लिया गया। इस तरह दो साल की छोटी-सी जिंदगी के बाद 'अल हिलाल' खत्म हो गया। इसके बाद आजाद ने एक दूसरा साप्ताहिक 'अल-बलाग़' निकाला लेकिन ब्रिटिश सरकार द्वारा आजाद के क़ैद किये जाने पर यह भी सन १९१६ में खत्म हो गया। चार साल तक वह क़ैद में रखे गये और जब वह बाहर आये तो उन्होंने फ़ौरन ही नेशनल कांग्रेस के नेताओं में अपनी जगह हासिल कर ली। तब से वह बराबर कांग्रेस

की सबसे ऊंची कार्यकारिणी में रहे और उस वक्त भी अपनी कम उम्र के होते हुए भी वह कांग्रेस के बड़ों में गिने गये। क़ौमी और राजनैतिक मामलों में और साथ ही साम्प्रदायिक या अल्पसंख्यक समस्या के सिलसिले में उनकी सलाह की बहुत क़द्र की जाती है। दो बार वह कांग्रेस के सभापति रहे हैं और कई बार उन्होंने लंबी मुद्दतें जेल में बिताई हैं।

दूसरा साप्ताहिक जो सन १९१२ में 'अल हिलाल' से कुछ महीने पहले शुरू किया गया वह था 'दि कामरेड'। यह अंग्रेज़ी में था और इसने खासतौर से अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे मुसलमानों की नई पीढ़ी पर असर डाला। इसके संपादक थे मौलाना मुहम्मद अली जिनमें इस्लामी परंपरा और आक्सफोर्ड की शिक्षा का एक अजीब मेल था। शुरू में वह अलीगढ़-परंपरा के समर्थक थे और उस राजनीति के खिलाफ थे। लेकिन उनकी शख्सियत और भाषा में ओज था। सन १९११ में बंग-भंग के रद्द हो जाने से उनको धक्का पहुंचा और ब्रिटिश सरकार के बारे में उनका यक़ीन हिल गया था। बाल्कन लड़ाई के समय वह चुप न रह सके और उन्होंने तुर्की और उसकी इस्लामी परंपरा की तरफ़दारी में ज़ोरों से लिखा। धीरे-धीरे उनकी ब्रिटिश-विरोधी भावना बढ़ती गई और पहले बड़े युद्ध में तुर्की के शामिल होने पर यह भावना अपने शिखर पर पहुंच गई। 'कामरेड' में एक मशहूर और बेहद लंबा लेख तुर्कों का निश्चय ('दि चाइस ऑफ दि टर्क्स') शीर्षक उन्होंने लिखा। (उनके लेख और व्याख्यान छोटे नहीं होते थे)। इस लेख की वजह से 'कामरेड' की ज़िन्दगी ख़त्म हो गई सरकार ने उस पर रोक लगा दी। उसके कुछ ही दिन बाद सरकार ने उनको और उनके भाई शौकत अली को गिरफ़्तार कर लिया और उनको लड़ाई ख़त्म होने के एक साल बाद तक क़ैद में रखा। सन १९१९ के आख़िर में वे छोड़े गये और वे दोनों फ़ौरन ही कांग्रेस में शरीक हो गये। सन १९   के बाद में कुछ बरसों तक अली भाइयों ने ख़िलाफ़त आंदोलन और कांग्रेसी राजनीति में एक अहम हिस्सा लिया और उसके लिए जेल भी गये। मुहम्मद अली कांग्रेस के एक सालाना जलसे में सभापति रहे और कई बरसों तक वह उसकी कार्यकारिणी के मेंबर रहे। सन १९३१ में उनकी मृत्यु हो गई।

मुहम्मद अली में जो तब्दीली हुई वह हिंदुस्तानी मुसलमानों की बदलती हुई मनोवृत्ति की प्रतीक थी। यहांतक कि मुस्लिम लीग भी जिसकी स्थापना मुसलमानों को क़ौमी धारा से अलग रखने को हुई थी और जिसका नियंत्रण पूरी तरह अर्ध-सामंती और प्रतिक्रियावादी लोगों के हाथ में था, नई पीढ़ी के दबाव को मानने को मजबूर हुई। हालांकि

वह रज़ामंद तो नहीं थी लेकिन फिर भी वह राष्ट्रीयता के बहाव में बह रही थी और वह कांग्रेस के नज़दीक आती जा रही थी। सन १९१३ में उसने सरकार के प्रति अपनी वफ़ादारी की नीति बदली और हिंदुस्तान के लिए खुदमुख्तारी की मांग की। मौलाना आज़ाद ने 'अल हिलाल' में अपने तेजस्वी लेखों से इस परिवर्तन के पक्ष में वकालत की थी।

## ११ कमाल पाशा एशिया में राष्ट्रीयता इक़बाल

हिंदुस्तान के मुसलमान और हिंदुओं दोनों में ही कमाल पाशा खूब रही तौर पर बहुत प्रिय था। उसने तुर्की को विदेशी आधिपत्य और अन्दरूनी फूट से ही नहीं बचाया था बल्कि उसने यूरोप की साम्राज्यवादी ताक़तों को और ख़ासतौर से इंग्लिस्तान की चालों को बेकार कर दिया था। लेकिन ज्यों-ज्यों अतातुर्क की नीति सामने आई, और उसने मज़हब को हटाया और सुल्तान-पद और ख़िलाफ़त को ख़त्म किया और एक ग़ैर-मज़हबी सरकार क़ायम की—जहांतक ज़्यादा कट्टर मुसलमानों का सवाल है, वह प्रशंसा घट गई, और उनमें आधुनिकवाद की नीति के ख़िलाफ़ एक नाराज़ी पैदा हुई। लेकिन दूसरी तरफ़ इसी नीति ने उसे हिंदू और मुसलमान दोनों ही की नई पीढ़ी में ज़्यादा प्रिय बना दिया। हिंदुस्तानी मुसलमानों के दिमाग़ में ग़दर के बाद धीरे-धीरे जो अपने-पैसा ढांचा तैयार हुआ था उसे अतातुर्क ने कुछ हद तक मिटा दिया। फिर एक ढंग का खोखलापन पैदा हुआ। बहुत-से मुसलमानों ने इस ख़ाली जगह को क़ौमी आंदोलन में शरीक होकर भरा और बहुत-से लोग उसमें पहले ही शरीक हो चुके थे दूसरे लोग अलग रहे और वे झिझकते रहे और संशय में पड़े रहे। असली संघर्ष तो सामंती विचारधारा में और मौजूदा ज़माने के रुझानों में था। व्यापक ख़िलाफ़त आंदोलन ने उस वक़्त सामंती नेतृत्व को एक ओर हटा दिया था लेकिन खुद उस आंदोलन की आम जनता की ज़रूरतों में और सामाजिक और आर्थिक हालतों में कोई ठोस बुनियाद न थी। उसका केंद्र दूसरी जगह था और जब अतातुर्क ने उस बुनियाद को ही ख़त्म कर दिया तो ऊपरी ढांचा गिर पड़ा। तब आम मुस्लिम जनता भौंचक्की रह गई और उसकी किसी राजनैतिक कार्रवाई के लिए इच्छा नहीं रही। पुराने सामंती नेता जो पीछे चले गये थे फिर ब्रिटिश नीति की मदद से जो उन्हें हमेशा ही सहारा देती रहती है सामने आये। लेकिन वे निर्विवाद नेतृत्व की अपनी पुरानी स्थिति पर फिर नहीं पहुंच सके क्योंकि अब हालतें बदल गई थीं। देर में सही लेकिन अब मुसलमानों में

एक बीच का वर्ग ऊपर आ रहा था और राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में लोक-व्यापी राजनैतिक आंदोलन के अनुभव से भी एक बहुत बड़ा फ़र्क पैदा हो गया था।

अगरचे आम मुस्लिम जनता और नये मध्यम वर्ग के उत्थान के बनाने में खासतौर से घटना-प्रवाह का हाथ था फिर भी मध्यम वर्ग को और खासतौर से उसकी नई पीढ़ी को प्रभावित करने में सर मुहम्मद इक़बाल का एक महत्त्वपूर्ण भाग था। आम जनता पर उसका शायद ही असर हुआ हो। इक़बाल ने उर्दू में जोशीली राष्ट्रीय कविताएं लिखना शुरू किया और ये कविताएं बहुत प्रचलित हो गईं। बाल्कन युद्ध के दौरान में उन्होंने इस्लामी विषयों की तरफ़ ध्यान दिया। तत्कालीन परिस्थितियों से और मुसलमानों की सामूहिक भावना से वह प्रभावित हुए थे और उन्होंने खुद इन भावनाओं पर असर डाला और उनकी तेज़ी को बढ़ाया। फिर भी वह कोई लोक-नेता नहीं थे वह एक शायर थे एक बुद्धिजीवी आदमी और फ़िलसूफ़ थे और पुराने सामंती ढांचे से उनका लगाव था। उनका घराना मूल में काश्मीरी ब्राह्मण था। फ़ारसी और उर्दू दोनों की ही शायरी में उन्होंने मुसलमान पढ़े-लिखे लोगों को एक दार्शनिक पृष्ठभूमि दी और इस तरह उनके दिमाग़ को अलहदगी की दिशा में हटाया। इसमें शक नहीं कि उनकी लोकप्रियता उनकी शायरी की वजह से थी लेकिन इससे भी ज़्यादा बड़ी वजह यह थी कि उस वक्त जबकि मुस्लिम दिमाग़ सहारे के लिए किसी लंगर की तलाश में था उन्होंने उसकी ज़रूरत को पूरा किया। पुराने इस्लामी विश्व के आदर्शों में अब कोई मानी नहीं रहे थे अब ख़िलाफ़त नहीं थी और सभी इस्लामी देश और खासतौर से तुर्की बहुत ज़्यादा कामी विचार के थे और उन्हें दूसरे देशों की इस्लामी जनता की परवा भी फिर नहीं थी और दूसरी जगहों की तरह एशिया में भी राष्ट्रीयता का ज़ोर था। हिंदुस्तान में राष्ट्रीय आंदोलन ताक़तवर हो गया था और उसने ब्रिटिश दुश्मन को बराबर चुनौती दी। उस राष्ट्रीयता ने हिंदुस्तान के मुस्लिम दिमाग़ को खूब लुभाया। आज़ादी की लड़ाई में मुसलमानों की बड़ी तादाद ने खास हिस्सा लिया था। फिर भी हिंदुस्तानी क़ौमियत पर हिंदू भारी थे और उसका स्वरूप में हिंदूपन था। इससे मुस्लिम दिमाग़ में ... पैदा हुआ। बहुत-से लोगों ने उस क़ौमियत को मंज़ूर किया और ... अपनी वाक़िफ़ियत दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश की। बहुत-से लोगों की उसके साथ सहानुभूति थी लेकिन वे अनिश्चितता से अलग थे। ... फिर भी बहुत भी बहुत-से लोग थे जो उस अलहदगी की दिशा

में बहने लगे, जिसके लिए इक़बाल के काव्यमय और फ़िलसफ़ियाना नज़रिये ने उनको तैयार किया था।

जहाँतक मेरा ख़याल है, यही वह पृष्ठभूमि है जिसमें से इधर हाल के बरसों में हिंदुस्तान के बंटवारे की आवाज़ उठी है। और बहुत-सी वजहें थी और हर तरह की जमातियाँ थीं साथ ही ख़ासतौर से ब्रिटिश सरकार की अलहदगी पैदा करने की वह नीति थी जो जान-बूझकर बरती गई थी। लेकिन इस सबके पीछे यह मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि थी जो और दूसरे ऐतिहासिक कारणों के अतिरिक्त हिंदुस्तान में मुस्लिम मध्यम वर्ग के देर से जन्म लेने के कारण पैदा हुई थी। विदेशी हुकूमत के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय संघर्ष के अलावा हिंदुस्तान में जो अंदरूनी संघर्ष है, वह असल में सामंती ढाँचे के बचे हुए हिस्सों में और आधुनिक विचार और संस्थाओं में है। यह संघर्ष राष्ट्रीय स्तर पर है और साथ ही हर बड़े समुदाय में मसलन हिंदू, मुसलमान आदि में है। राष्ट्रीय आंदोलन जिसकी नुमाइंदगी ख़ासतौर से राष्ट्रीय कांग्रेस करती है, यक़ीनी तौर पर विचारों और संस्थाओं से मेल बिठाने की ऐतिहासिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति करता है। हाँ उसमें कुछ पुरानी बुनियादों से भी मेल बिठाने की कोशिश है। इसी वजह से उसकी ओर सभी तरह के लोग आकर्षित हुए वैसे उनमें आपस में बहुत फ़र्क़ है। जहाँतक हिंदुओं का सवाल है एक कड़े सामाजिक ढाँचे ने तरक़्क़ी के रास्ते में रुकावट डाली है और यही नहीं बल्कि दूसरे समुदायों को डरा दिया है। लेकिन यह सामाजिक ढाँचा ख़ुद खोखला हो गया है और इसका कड़ापन तेज़ी से ग़ायब हो रहा है। जो भी हो अब यह इतना ताक़तवर नहीं है कि व्यापक राजनैतिक और सामाजिक मांगों में उस राष्ट्रीय आंदोलन की बढ़ती का रोक सके जिसमें अब इतना वेग पैदा हो गया है कि वह सब अड़चनों के बावजूद अपने रास्ते पर आगे बढ़ता जाता है। मुसलमानों में सामंती हिस्से ताक़तवर बने रहे हैं और वे आम मुस्लिम जनता पर आमतौर से अपना नेतापन बनाये रखने में कामयाब हुए हैं। हिंदू और मुसलमान मध्यम वर्ग की तरक़्क़ी में क़रीब-क़रीब एक पीढ़ी का फ़र्क़ है, और यह फ़र्क़ राजनैतिक आर्थिक और कई दूसरी दिशाओं में ज़ाहिर होता है। इसी पिछड़ेपन की वजह से मुसलमानों में डर की मनोवृत्ति पैदा होती है।

पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बंटवारे का प्रस्ताव इस पिछड़ेपन का नहीं है। यह बात दूसरी है कि कुछ लोगों की भावुकता को यह प्रस्ताव बहुत रुचिकर हो। उससे तो इस बात की संभावना ज़्यादा है कि कुछ वक़्त

के लिए सामनी मसालिरों का पक्ष और ज्यादा मजबूत हो जाय और उसमें मुसलमानों की आर्थिक प्रगति में देरी हो। इकबाल पाकिस्तान की सबसे पहले सलाह देनेवालों में से एक थे फिर भी ऐसा मालूम पड़ता था कि उन्होंने उसके जन्म-जात खतरे और उसके निकम्मेपन को महसूस कर लिया था। एडवर्ड टामसन ने लिखा है कि बातचीत के सिलसिले में इकबाल ने उनको बताया कि उन्होंने मुस्लिम लीग के अधिवेशन के सभापति होने के नाते पाकिस्तान की सलाह दी थी लेकिन उन्हें इस बात का यकीन था कि पाकिस्तान कुल मिलाकर सारे हिंदुस्तान के ही लिए और खासतौर से मुसलमानों के लिए घातक होगा। शायद उनके विचार बदल गये थे या शायद पहले उन्होंने इस मामले पर ज्यादा गौर ही नहीं किया था क्योंकि उस वक्त उसकी कोई अहमियत नहीं थी। पाकिस्तान या हिंदुस्तान के बटवारे की बाद में पैदा हुई शक्ल से जिंदगी के उनके नजरिये का मेल ही नहीं बैठता।

अपने आखिरी बरसों में इकबाल समाजवाद की तरफ दिन-ब-दिन ज्यादा झुके। सोवियत रूस की जबरदस्त तरक्की ने उनको आकर्षित किया। यहांतक कि उनकी शायरी की दिशा भी बदली। अपनी मृत्यु से कुछ महीने पहले जब वह रोग-शैया पर पड़े थे उन्होंने मुझे बुलाया और मैंने खुशी से उनके बुलावे की तामील की। ज्यों-ज्यों हम दोनों ने बहुत-सी चीजों पर बातचीत की मैंने यह महसूस किया कि बहुत-से भेदों के बावजूद हम दोनों में बहुत-सी बातें एक-सी थीं और हमारे लिए एक साथ काम करना आसान होगा। वह पुरानी बातों को याद कर रहे थे और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ जाते। मैं उनकी बात चुपचाप सुनता रहा और खुद बहुत कम बोला। मैंने उनकी और उनकी शायरी की तारीफ की और मुझे यह महसूस करके बहुत खुशी हुई कि वह मुझे पसंद करते थे और मेरे बारे में उनकी अच्छी राय थी। बिछुड़ने से पहले उन्होंने मुझसे कहा—"तुममें और जिन्ना में क्या बात एक-सी है? वह एक राजनीतिज्ञ है और तुम देशभक्त हो।" मेरी ऐसी आशा है कि अब फिर मेरे और मि० जिन्ना के अंदर बहुत-सी एक-सी बातें हैं। यहांतक मेरे देशभक्त होने का सवाल है मुझे नहीं मालूम कि इन दिनों में कम-से-कम इस शब्द के संकुचित मानों में यह कोई एक विशेषता की बात है। हिंदुस्तान से मुझे बहुत लगाव है और मैंने बहुत बरसों से ऐसा महसूस किया है कि अपनी समस्याओं को समझने और सुलझाने के लिए राष्ट्र-प्रेम के अलावा और किसी चीज की भी जरूरत है। सारी दुनिया की समस्याओं को सुलझाने के लिए तो यह

और भी ज्यादा जरूरी है। लेकिन इस बात में इत्मीनान रहो कि मैं कोई राजनीतिज्ञ नहीं हूं, अगरचे मैं राजनीति के शिकंजे में आ फंसा हूं और उसका शिकार बन गया हूं।

## १२ : भारी उद्योग-धंधों की शुरुआत  तिलक और गोखले पृथक निर्वाचन-पद्धति

हिंदू-मुस्लिम समस्याओं की और पाकिस्तान और बंटवारे की नई मांग की पृष्ठभूमि को समझ पाने की ख्वाहिश से मैं करीब आधी सदी पीछे चला आया। इस अरसे में बहुत-सी तब्दीलियां हुईं। ये तब्दीलियां सरकार के ऊपरी ढांचे में उतनी नहीं हुईं, जितनी जनता के दिमाग में। कुछ मामूली वैधानिक सुधार जरूर हुए और अक्सर इनका दिखावा होता है, लेकिन उनसे ब्रिटिश राज्य के हुकूमतपरस्ती के ढंग में कोई फर्क नहीं आया न उन्होंने गरीबी और बेकारी के मसलों को ही छुआ। सन १९११ में जमशेदजी टाटा ने लोहे और फौलाद का कारखाना उस जगह पर कायम करके जो बाद में जमशेदपुर कहलाया हिंदुस्तान में भारी उद्योग-धंधों की नींव डाली। सरकार ने इस कारखाने को और दूसरे उद्योग धंधों को शुरू करने की कोशिशों को नापसंदगी की निगाह से देखा और उनको किसी भी ढंग से प्रोत्साहन नहीं दिया। अमरीकी विशेषज्ञों की ही मदद से यह लोहे और फौलाद का उद्योग शुरू हुआ। उसका बचपन बड़ी डांवांडोल हालत में बीता किंतु बाद में १९१४-१८ का महायुद्ध उसकी मदद को आगया। बाद में फिर यह मुरझाने लगा और ऐसा खतरा मालूम दिया कि यह अंग्रेज साहूकारों के हाथ में पहुंच जायेगा लेकिन कौमी दबाव ने इसको बचा लिया।

हिंदुस्तान में कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की जमात बढ़ रही थी। यह असंगठित थी और बेबस थी और यह जमात उन किसानों में से ही तैयार हुई थी जिनका रहन-सहन का मापदंड बेहद नीचा था और इस बात से उनकी मजदूरी की बढ़ती में या उनकी दशा-सुधार में रुकावट हुई। जहांतक बे-हुनर मजदूरों का सवाल है, करोड़ों बेकार आदमी थे और उनमें से काम करनेवाले आदमियों को रखा जा सकता था और ऐसी हालत में कोई हड़ताल कामयाब नहीं हो सकती थी। सबसे पहली ट्रेड यूनियन कांग्रेस सन १९२  के आस-पास संगठित की गई। इस उद्योग-वर्ग की तादाद इतनी काफी नहीं थी कि उससे हिंदुस्तानी राजनैतिक मैदान में कोई असर पड़ता। किसानों और जमीन के मजदूरों के मुकाबले में वे नहीं के बराबर थे। सन १९२  के बाद कारखानों के मजदूरों की आवाज सुनाई पड़ने लगी लेकिन वह बहुत कमजोर थी। अगर कभी

अगर इन लोगों को कारखानों के मजदूरों को अहमियत देने के लिए मजबूर न किया होता, तो शायद उसकी अवहेलना कर दी जाती। कुछ बड़ी और सुसंगठित हड़तालों की तरफ़ भी ध्यान गया।

किसान, अगरचे वे सभी जगह थे और उनकी समस्या हिंदुस्तान में सबसे बड़ी थी, इससे भी ज्यादा खामोश थे और उनको राजनैतिक नेताओं और सरकार दोनों ने ही भुला दिया था। राजनीतिक आंदोलन में शुरू में ऊपरी मध्यम वर्ग के आदर्शवादी रुझानों का और खासतौर से पेशेवर जमात का और उन लोगों का, जो नई हुकूमती मशीन में जगह पाना चाहते थे, ज़ोर था। जब राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसको सन १८८५ में कायम किया गया था, शामिल हुई, तो एक नया नेतृत्व सामने आया, जो पिछले के मुकाबले में ज्यादा ज़ोरदार और जिसमें मध्यम वर्ग के लोगों, विद्यार्थियों और नौजवानों की ज्यादा बड़ी तादाद की नुमाइंदगी करने-वाला था। बंग-भंग के खिलाफ़ जबरदस्त आंदोलन में इस तरह के कई काबिल और ज़ोरदार नेता सामने आये, लेकिन नये युग के सच्चे प्रतीक महाराष्ट्र के बाल गंगाधर तिलक थे। पुराने नेतृत्व का प्रतिनिधित्व भी एक महाराष्ट्रीय सज्जन करते थे। इनका नाम था गोपाल कृष्ण गोखले। इनकी उम्र तो ज्यादा नहीं थी, लेकिन वह थे बड़े योग्य। क्रांतिकारी नारे हवा में गूंज रहे थे। मिजाज बिगड़े हुए थे और संघर्ष लाजिमी था। इस संघर्ष को बचाने की गरज़ से कांग्रेस के बुज़ुर्ग दादाभाई नौरोजी, जिनकी सब इज्जत करते थे और जिनको सारे देश का ही बुज़ुर्ग माना जाता था और जो अपनी उम्र की वजह से इस काम से अलग हो गये थे, फिर सामने आये। लेकिन यह बचाव थोड़े दिनों को ही हुआ और सन १९०७ में संघर्ष हुआ और उसमें जाहिरा तौर पर पुराने उदार दल की जीत हुई। लेकिन इसकी जीत इस वजह से हुई कि संस्था के संगठन पर उसका नियंत्रण था और कांग्रेस में मताधिकार बहुत संकरा था। इस बात में कोई भी शक नहीं था कि हिंदुस्तान में राजनैतिक दृष्टि से जगे हुए लोगों का ज्यादातर हिस्सा तिलक और उनके समुदाय की तरफ था। कांग्रेस की अहमियत काफी घट गई और उसकी दिलचस्पी दूसरे मामलों में हो गई। बंगाल में आतंकवादी काम सामने आया। रूसी और आयरिश क्रांतिकारियों का अनुकरण किया जा रहा था।

इन क्रांतिकारी विचारों का मुसलमान नौजवानों पर भी असर हो रहा था। अलीगढ़ कालेज ने इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए और इसी वक्त सरकारी प्रेरणा से आगा खां ने और दूसरे लोगों ने मुसलमानों के लिए एक राजनैतिक मंच बनाने और इस तरह उनको कांग्रेस से अलग रखने

के लिए मुस्लिम लीग को शुरू किया। इससे भी ज्यादा अहमियत की बात यह थी कि मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्रों का फ़ैसला किया गया। हिंदुस्तान के भविष्य पर यह एक असर डालनेवाली चीज थी। भविष्य में मुसलमान सिर्फ चुने मुसलमान निर्वाचन-क्षेत्रों से ही खड़े हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारों तरफ एक राजनैतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाकी हिंदुस्तान से अलहदा कर दिया गया। इस तरह आपस में घुल-मिलकर एक हो जाने की वह प्रक्रिया जो सदियों से चल रही थी और जो स्वाभाविक प्रगति से लाजिमी तौर पर तेज हो रही थी अब उलट दी गई। यह दीवार शुरू में छोटी-सी थी क्योंकि निर्वाचन का क्षेत्र संकुचित था लेकिन हर बार मताधिकार के बढ़ने से यह दीवार बढ़ती गई और इससे सार्वजनिक और सामाजिक जीवन के सारे ढांचे पर इस तरह असर पड़ा मानो सारे ढांचे में घुन लग गया हो। इससे म्युनिसिपल और स्थानिक स्वराजी संस्थाओं में जहर फैला जिससे आखिर में बेहूद ग़लत ढंग के विभाजन करने पड़े। काफ़ी बाद में पृथक मुस्लिम ट्रेड यूनियनें बनीं अलग विद्यार्थी-संगठन बने और अलग व्यापार चेंबर क़ायम हुए। चूंकि मुसलमान इन सारे कामों में पिछड़े हुए थे इसलिए ये संस्थाएं खुद-ब-खुद पैदा नहीं हुईं, बल्कि इनको ऊपर से कृत्रिम रूप से बनाया गया और उनका नेतृत्व पुराने ढंग से अर्ध-सामंती लोगों के हाथों में रहा। इस तरह कुछ हद तक मुस्लिम मध्यम वर्ग यहांतक कि आम मुस्लिम लोग भी तरक्की की उन धाराओं से अलग हो गये जो बाकी हिंदुस्तान पर असर डाल रही थीं। हिंदुस्तान में ऐसे बहुत-से निहित स्वार्थ थे जिनको ब्रिटिश सरकार ने पैदा किया था या जिनकी उसने हिफ़ाज़त की थी। अब पृथक-निर्वाचन क्षेत्रों का एक नया और जबरदस्त निहित स्वार्थ पैदा किया गया।

यह कोई ऐसी अस्थायी बुराई नहीं थी जो बढ़ती हुई राजनैतिक चेतना के साथ खत्म हो जाती। सरकारी नीति से पोषण पाकर यह बढ़ी और चारों तरफ फैली यहांतक कि इसने देश की सारी असली समस्याओं को चाहे वे राजनैतिक हों या सामाजिक या आर्थिक ढंक लिया। इससे बंटवारे पैदा हुए और भय पैदा हुए और वे भी ऐसी जगहों में जहां पहले उनका नाम भी नहीं था। इससे असलियत में संरक्षित समुदाय ही कमजोर हो गया क्योंकि उसमें कृत्रिम सहारे पर खड़ा होने की प्रवृत्ति बढ़ी और वहां आत्मनिर्भरता की बात सोची ही नहीं गई।

ऐसे समुदायों और अल्पसंख्यकों से जो शिक्षा की दृष्टि से और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए थे व्यवहार की स्पष्ट नीति यह थी कि उनको

अपनी कमी पूरी करने में हर ढंग से मदद की जाती। खासतौर से इस काम में एक प्रगतिशील शिक्षण-नीति से मदद मिलती। मुसलमानों के लिए और दूसरे अल्पसंख्यकों के लिए, या दलित वर्ग के लिए, जिसको इसकी सबसे ज्यादा जरूरत थी ऐसी कोई भी चीज नहीं की गई। सारी दलील नौकरियों में छोटी-छोटी जगहों के लिए थी और बजाय मापदंड ऊंचा उठाने के अक्सर योग्यता का बलिदान किया जाता।

इस तरह पृथक निर्वाचन से वे समुदाय जो कमजोर थे या पिछड़े हुए थे और ज्यादा कमजोर हो गये। उससे अलहदगी की भावना को बढ़ावा मिला और राष्ट्रीय एके की तरक्की में रुकावट पड़ी। पृथक निर्वाचन के मानी थे लोकतन्त्र से इन्कार। उससे बरतरफ प्रतिक्रियावादी ढंग के नये निहित स्वार्थ पैदा किये उससे मापदंड नीचे हो गये और उसने सारे ही देश के सामने जो असली आर्थिक समस्याएं थीं उनसे ध्यान हटा दिया। ये पृथक-निर्वाचन-क्षेत्र मुसलमानों से शुरू हुए और बाद में ये दूसरे अल्पसंख्यकों और दूसरे समुदायों में भी फैल गये। यहांतक कि हिंदुस्तान इस अलग-अलग तत्त्वों का एक जमघट बन गया। शायद उन्होंने कुछ वक्त के लिए थोड़ा-सा फायदा किया भी हो वैसे मुझे खुद तो ऐसा कोई फ़ायदा नज़र नहीं आता। लेकिन हिंदुस्तानी जिंदगी के हर महकमे को उन्होंने निस्संदेह एक जबरदस्त चोट पहुंचाई है। उनसे हर ढंग की अलहदगी की प्रवृत्तियां पैदा हुई हैं और आखिर में हिंदुस्तान के बंटवारे की ही मांग की गई है।

ये पृथक निर्वाचन-क्षेत्र शुरू करने के वक्त लॉर्ड मार्ले भारत-सचिव थे। इन्होंने पहले तो इसका विरोध किया लेकिन आगे चलकर वाइसराय के दबाव की वजह से वह इसके लिए रजामंद हो गए। इस ढंग के अंदर जो खतरात छिपे हुए हैं उनका उन्होंने अपनी डायरी में जिक्र किया है और यह बताया है कि उससे प्रतिनिधि संस्थाओं की तरक्की में लाजिमी तौर से देर होगी। शायद इसी चीज को वाइसराय और उनके साथी चाहते थे। हिंदुस्तानी सवैधानिक सुधारों पर माटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों के खतरों पर फिर जोर दिया गया है। संप्रदायों और वर्गों के आधार पर बटवारे के मानी ऐसे राजनैतिक दल तैयार करना है जो एक-दूसरे के खिलाफ संगठित हैं। उससे लोग चीजों को नागरिक की दृष्टि से नहीं बल्कि बटवारे की दृष्टि से देखते हैं। इसीलिए हमारी निगाह में साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्र का एक बाधा स्व-शासन के सिद्धांत की तरक्की के लिए एक बहुत जबरदस्त रुकावट है।

# ८

# आखिरी पहलू—२

## राष्ट्रीयता बनाम साम्राज्यवाद

### १  मध्यम वर्ग की बेबसी : गांधीजी का आगमन

पहला महायुद्ध शुरू हुआ। राजनीति उतार पर थी। इसकी खास वजह यह थी कि कांग्रेस दो हिस्सों—नरम दल और गरम दल—में बंटी हुई थी। साथ ही इसकी वजह युद्ध के जमाने की रुकावटें और पाबंदियां भी थीं। फिर भी एक प्रवृत्ति खासतौर से नजर आ रही थी। मुसलमानों में बढ़ते हुए मध्यम वर्ग की विचारधारा अधिकाधिक राष्ट्रवादी होती जा रही थी और यह मध्यम वर्ग मुस्लिम लीग को कांग्रेस की तरफ धकेल रहा था यहांतक कि इन दोनों ने हाथ भी मिला लिये।

लड़ाई के दौरान में उद्योग-धंधे बढ़े और उनमें बहुत ज्यादा मुनाफ़ा हुआ। बंगाल की जूट की मिलों में १ फ़ी-सदी से लेकर २ फ़ी-सदी तक सालाना मुनाफ़ा हुआ। इस मुनाफ़े का कुछ हिस्सा तो लंदन और डंडी में विदेशी पूंजी के मालिकों के पास चला गया और कुछ हिस्से से हिंदुस्तानी करोड़पति और भी मालदार हुए। फिर भी उन मजदूरों की जिनकी बदौलत यह मुनाफ़ा हुआ था रहन-सहन की हैसियत इतनी गिरी हुई थी कि उस पर यकीन नहीं हो सकता। उनके रहने की कोठरियां बेहद गंदी और बीमारी पैदा करनेवाली थीं। उनमें न तो कोई खिड़की होती और न कोई धुआं निकलने का रास्ता ही होता। वहां न कोई रोशनी का इंतजाम था न पानी का और न वहां पर सफ़ाई का ही कोई इंतजाम था। और यह सब उस कल-कत्ते के नजदीक ही था जिसको महलों का शहर कहा जाता था और जिस पर विदेशी पूंजी का आधिपत्य था। बंबई में हिंदुस्तानी पूंजी ज्यादा नजर आती थी। एक जांच कमीशन के मुताबिक़ वहां १५ फ़ुट लंबे और १२ फ़ुट चौड़े एक कमरे में ६ कुटुंब यानी कुल मिलाकर ३ बड़े और छोटे प्राणी एक साथ गुजर करते थे। इनमें से तीन औरतों का प्रसव-काल नजदीक था और उस अकेले कमरे में हर कुटुंब का अलग-अलग चूल्हा था। यह एक विशेष उदाहरण है किन्तु यह कोई बहुत असाधारण अपवाद नहीं है। उन्नीस सौ बीस

और तीस के बीच के जबकि कुछ सुधार भी हो चुके थे इन उदाहरणों से उस वक्त की हालत का पता लगता है। इन सुधारों के पहले क्या हालत रही होगी यह सोचकर कल्पना भी ठिठककर रह जाती है।[1]

कारखानों में मजदूरों की ये अंधेरी कोठरियां मैंने देखी हैं। मुझे याद है कि मैं वहां सांस लेने के लिए छटपटाने लगा था और जब बाहर आया तो गुस्से और नफरत से भरा हुआ था। मुझे यह भी याद है कि एक बार मैं झरिया की कोयले की खान में अंदर घुसा था और मैंने वहां मजदूर औरतों की हालत देखी थी। इस तस्वीर को मैं कभी भी भुला नहीं सकता और न मैं उस चोट को ही भुला सकता हूं जो इन्सानों को इस तरह काम करते देखकर मुझे लगी। बाद में औरतों के जमीन के अंदर काम करने पर रोक लगा दी गई। लेकिन अब फिर यह रोक हट गई है, चूंकि कहा यह जाता है कि लड़ाई की जरूरतों की वजह से और ज्यादा मजदूरों की जरूरत हो गई है। इतने पर भी लाखों आदमी भूखे रहते हैं और बेकार हैं। आदमियों की कोई कमी नहीं है। लेकिन मजदूरी इतनी कम है और काम करने की शर्तें इतनी बुरी हैं कि काम की तरफ कोई खिंचाव नहीं होता।

सन १९२८ में ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस का भेजा हुआ एक शिष्ट मंडल हिंदुस्तान आया। अपनी रिपोर्ट में उसने कहा कि "आसाम की चाय में साल-ब-साल दस लाख हिंदुस्तानियों का पसीना, खून और मायूसी शामिल होती है।" सन १९२७-२ की रिपोर्ट में बंगाल के तंदुरुस्ती के महकमे के डायरेक्टर ने कहा कि उस सूबे का किसान वर्ग 'एक ऐसी खुराक पर गुजर कर रहा है जिस पर चूहे भी पांच हफ्ते से ज्यादा जिंदा नहीं रह सकते।'

आखिर पहला महायुद्ध खत्म हुआ और शांति के साथ चैन और तरक्की आने के बजाय दमनकारी कानून और पंजाब में फौजी कानून आये। हमारी जनता में बेइज्जती की तीखी भावना और बेहद नाराजी भरी हुई थी। उस वक्त जबकि देश की मर्दानगी को कुचला जा रहा था और लगातार शोषण की निश्चय प्रक्रिया से हमारी गरीबी बढ़ रही थी और हमारी शक्ति क्षीण हो रही थी, सुधारों और नौकरियों के भारतीयकरण की लंबी-चौड़ी बातचीत करना हमारी हंसी उड़ाना और अपमान करना था। हम लोग एक बेबस कौम बन गये थे।

१ यह उद्धरण और बयान डी० एच० बुकानन की 'दि डेवलपमेंट आफ कैपिटलिस्ट एंटरप्राइज इन इंडिया' (न्यूयार्क, १९३४) से लिया गया है। इसमें हिंदुस्तान के मजदूरों के हालात और उनके रहने की हालतों पर गौर किया गया है।

लेकिन हम कर क्या सकते थे और इस कुटिल तरीक़े को कैसे रोकते ? ऐसा मालूम पड़ता था कि किसी सर्वशक्तिमान राक्षस के चंगुल में हम बेबस हैं, हमारे जिस्म के हिस्सों को लकवा मार गया है और हमारे दिमाग़ मुर्दा हो गये हैं। किसान वर्ग दब्बू था और उसमें डर समाया हुआ था। कारख़ाने के मज़दूरों की हालत भी कोई बेहतर न थी। मध्य-वर्ग के और पढ़े-लिखे लोग जो इस अंधेरे वातावरण में रोशनी दिखा सकते थे ख़ुद ही इस अंधेर में डूबे हुए थे। कुछ हद तक तो उनकी हालत किसानों से भी ज़्यादा दयनीय थी। असंगठित दिमाग़ी लोगों की एक बड़ी तादाद किसी क़िस्म का हाथ का काम या वैज्ञानिक हुनर नहीं जानती थी और वह खेती से अनभिज्ञ थी। उन लोगों ने भी मायूस बेबस और बेकार लोगों की जमात की गिनती को बढ़ाया और वे लोग दलदल में दिन-ब-दिन ज़्यादा नीचे धसते गये। कुछ मुट्ठी भर कामयाब वकीलों डाक्टरों इंजीनियरों या क्लर्कों से आम जनता में क्या फ़र्क़ आ सकता था ? किसान भूखे रहते थे लेकिन अपने वातावरण के ख़िलाफ़ सदियों से एक कमज़ोर संघर्ष करते-करते उनको बरदाश्त करना आ गया था यहाँतक कि ग़रीब और भूखे होने पर भी उनमें एक ख़ास ढंग की ख़ामोशी की शान थी और सर्वशक्तिमान भाग्य के आगे सिर झुकाने की भावना थी। यह बात मध्यम वर्ग में और ख़ासतौर से नये छोटे से बूर्ज़ुआ वर्ग में नहीं थी क्योंकि इनकी पृष्ठभूमि उनकी जैसी नहीं थी। वे लोग पूरी तरह पनप भी नहीं पाये थे कि पाला फिर गया। उनकी समझ में ही नहीं आता था कि किधर नज़र डालें क्योंकि उनको पुराने या नये किसी में भी उम्मीद दिखाई नहीं दे रही थी। हालांकि तकलीफ़ थी लेकिन उनका सामाजिक उद्देश्य से कोई मेल नहीं था कोई सार्थक काम करने का संतोष भी उन्हें हासिल न था। रिवाजों के भार से दबे होने के नाते वे जन्म से पुराने तो थे किन्तु उनमें पुरानी संस्कृति का अभाव था। आधुनिक विचार उन्हें आकर्षित करता था लेकिन उनमें उसके अंदरूनी तत्त्व आधुनिक सामाजिक और वैज्ञानिक चेतना की कमी थी। कुछ लोगों ने तो गुज़रे ज़माने के मुर्दा ढांचे को मज़बूती से पकड़े रखने की कोशिश की और उससे मौजूदा तकलीफ़ से राहत पाने की उम्मीद की। किन्तु वहां चैन कैसे मिल सकता था क्योंकि जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है, हमको अपने भीतर मुर्दा चीज़ों को नहीं पालना चाहिए, क्योंकि मुर्दा तो मुर्दघिन्न करनेवाला है! दूसरे लोगों ने पश्चिम की अधकच्ची और फीकी नक़ल की। इस तरह मन और शरीर की सुरक्षा के लिए पागलों की तरह कहीं पैर रखने की जगह तलाश करते रहे, पर उसे पा न सकने के कारण वे लोग हिंदुस्तानी ज़िन्दगी के अंधेरे

सागर में बे-सहारा लोगों की तरह बिना मकसद के तैरते रहे।

हम क्या कर सकते थे? गरीबी और पस्तहिम्मती की इस दलदल से जो हिंदुस्तान को अपने अंदर खींचे जाती थी हम उसे किस तरह बाहर ला सकते थे? उत्तेजना, तकलीफ़ और उलझन के कुछ बरसों से ही नहीं बल्कि लंबी पीढ़ियों से हमारी जनता ने अपने खून और मेहनत, आंसू और पसीने की भेंट दी थी। हिंदुस्तान के शरीर और आत्मा में यह प्रक्रिया बहुत गहरी घुस गई थी और उसने हमारे सामाजिक जीवन के हर एक पहलू में ज़हर डाल दिया था। यह सब उस बीमारी की तरह था जो नसों नाड़ियों और फेफड़ों का क्षय करती है और जिसमें मौत धीरे-धीरे (लेकिन यकीनी तौर पर) होती है। कभी-कभी हम यह सोचते थे कि कोई ज़ाहिरा और ज़्यादा तेज़ तरीका मसलन हैजा या प्लेग बेहतर होता। लेकिन यह एक आया-गया ख्याल था। वजह यह है कि सिर्फ़ साहसिकता से हम कहीं नहीं पहुंच सकते और गहरी पैठी हुई बीमारियों के ऊपरी इलाज से कोई नतीजा नहीं होता।

और तब गांधीजी का आना हुआ। गांधीजी ताज़ी हवा के उस प्रबल प्रवाह की तरह थे जिसने हमारे लिए पूरी तरह फैलना और गहरी सांस लेना संभव बनाया। वह रोशनी की उस किरण की तरह थे जो अंधकार में पैठ गई और जिसने हमारी आंखों के सामने से परदे को हटा दिया। वह उस बवंडर की तरह से थे जिसने बहुत-सी चीज़ों को खासतौर से मज़दूरों के दिमाग को उलट-पुलट दिया। गांधीजी ऊपर से उतरे हुए नहीं थे बल्कि हिंदुस्तान के करोड़ों आदमियों की आबादी में से ही उपजे थे। उनकी भाषा वही थी जो आम लोगों की थी और वह बराबर उस जनता की ओर और उसकी दयनीय हालत की ओर ध्यान आकर्षित करते थे। उन्होंने कहा कि तुम लोग जो किसानों और मज़दूरों के शोषण पर गुज़र करते हो, उनके ऊपर से हट जाओ उस व्यवस्था को जो ग़रीबी और तकलीफ़ की जड़ है दूर करो। तब राजनैतिक आज़ादी की एक नई शक्ल सामने आई और उसमें एक नया अर्थ पैदा हुआ। उनकी ज़्यादातर बातों को हमने आंशिक रूप में माना और कभी-कभी तो बिलकुल ही नहीं माना। लेकिन यह सब एक गौण बात थी। उनकी सीख का सार था निर्भयता और सत्य और इन दोनों के साथ सक्रियता मिली हुई थी और उसमें हमेशा आम लोगों की बेहतरी का ख्याल था। हमारी प्राचीन पुस्तकों में यह कहा गया था कि किसी आदमी या किसी राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा उपहार है अभय—निर्भयता—सिर्फ़ शारीरिक हिम्मत ही नहीं बल्कि दिमाग से डर का हट जाना। हमारे इतिहास के ही प्रभात में जनक और याज्ञवल्क्य ने कहा था कि जनता के

नेताओं का काम उसको (जनता को) निर्भय बनाना है। लेकिन ब्रिटिश राज्य के अंदर हिंदुस्तान में जो सबसे अहम लहर थी उसमें डर—कुचलने वाला, दम घोटनेवाला, मिटा देनेवाला—डर था—फ़ौज का, पुलिस का, चारों तरफ़ फैले हुए खुफ़िया विभाग का डर था; अफ़सरों की जमात का डर था; कुचलनेवाले क़ानूनों और जेल का डर था; ज़मींदार के कारिंदे का डर था; साहूकार का डर था; बेकारी और भूखे मरने का डर था, जो हमेशा ही नज़दीक बने रहते थे। चारों तरफ़ समाये हुए इस डर के ही खिलाफ़ गांधी की शांत किंतु दृढ़ आवाज़ उठी—"डरो मत!" क्या यह ऐसी आसान बात थी? नहीं। फिर भी डर के अपने कल्पना-चित्र होते हैं और वे असलियत से भी ज्यादा डरावने रहते हैं और अगर ठंडे दिमाग से असलियत का विश्लेषण किया जाय और उसके नतीजों को खुशी से भुगतने को तैयार रहा जाय तो उसका बहुत-सा आतंक अपने-आप खत्म हो जाता है।

इस तरह मानो अचानक ही लोगों के ऊपर से डर का काला लबादा हटा दिया गया; यह नहीं कि वह पूरी तरह हटा दिया गया, लेकिन फिर भी एक बहुत बड़ी, एक हैरतअंगेज़ हद तक तो हटा ही दिया गया। चूंकि डर झूठ का करीबी दोस्त है, इसलिए निडरता के साथ सच आता ही है। हिंदुस्तान की जनता जैसी भी थी उससे कोई बहुत ज्यादा सच बोलनेवाली नहीं बन गई, और न उस जनता ने रातों-रात अपने बुनियादी स्वभाव को ही बदल लिया। फिर भी एक बड़ी तबदीली दिखाई पड़ी, क्योंकि झूठ और छुप-छिपकर काम करने की ज़रूरत कम हो गई। यह तबदीली मानो वैज्ञानिक थी—ठीक इस ढंग से मानो कोई मनोविश्लेषक प्रक्रिया का विशेषज्ञ रोगी के भूतकाल में गहरा घुस गया हो और उसने उस रोगी की मानसिक विकृति के कारण को जानकर उसे रोगी के सामने खोल दिया हो और इस तरह उसको उसके बोझ से छुटकारा दिला दिया हो।

साथ ही यह मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया भी थी जिसमें उस विदेशी राज्य के सामने बड़े अरसे से सिर झुकाये रखने पर शर्म महसूस हुई, जिसने हमें गिरा दिया था और जिसने हमारी बेइज़्ज़ती की थी। इसमें यह इरादा भी मिला हुआ था कि चाहे नतीजा कुछ भी हो अब आगे सिर न झुकाया जाय।

जैसे हम पहले थे उसके मुकाबले हम कोई बहुत ज्यादा सच्चे नहीं बन गये, लेकिन अटल सत्य के प्रतीक गांधीजी बराबर हमारे सामने थे जो हमको ऊपर खींचते थे और जो सत्य पर डटे रहने का हमें रास्ता दिखाते

थे। सत्य क्या है? पक्के तौर पर मैं यह नहीं जानता और शायद हमारे सत्य सापेक्षिक हैं और पूरे-के-पूरे हमारी पहुंच के परे हैं। अलग-अलग आदमी सत्य को अलग-अलग तरह से लेते हैं और हर आदमी पर अपनी-अपनी पृष्ठभूमि शिक्षा और प्रवृत्तियों का बड़ा असर होता है। यही बात गांधीजी के साथ लागू है। लेकिन आदमी के लिए कम-से-कम वह तो सत्य है ही जो वह खुद महसूस करता है और जो वह खुद समझता है। इस परिभाषा के अनुसार गांधीजी की तरह सत्य की धारणा रखनेवाले किसी भी शख्स को मैं नहीं जानता। राजनीतिज्ञ के लिए यह गुण बहुत खतरनाक है क्योंकि इस तरह तो वह अपने दिमाग को खोलकर सामने रख देता है और जनता को भी उस दिमाग के बदलते हुए पहलुओं को देखने देता है।

हिंदुस्तान में अलग-अलग हद तक गांधीजी ने करोड़ों आदमियों पर असर डाला। कुछ लोगों ने तो अपनी जिंदगी का ताना-बाना पूरी तरह बदल दिया, दूसरे लोगों पर थोड़ा-सा असर हुआ और वह असर पूरी तरह तो नहीं लेकिन फिर भी मिट गया। वजह यह थी कि उसका कुछ हिस्सा पूरी तरह हज़म भी नहीं किया जा सकता था। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं और हर एक आदमी इस सवाल का अपना अलग जवाब देगा। कुछ लोग तो शायद करीब-करीब एल्सिबियेडीज के शब्दों में कहें— इसके अलावा जब हम किसीको बात करते देखते हैं तो चाहे वह कितना ही ओजस्वी वक्ता क्यों न हो हम उसकी बात की रत्ती-भर भी परवाह नहीं करते। लेकिन जब हम तुमको सुनते हैं या किसीको तुम्हारी बात दोहराते हुए सुनते हैं तो चाहे उसके कहने का ढंग कितना ही भद्दा क्यों न हो और चाहे सुननेवाला मर्द औरत या बच्चा हो हम चौंकके रह जाते हैं और ऐसा मालूम होता है कि हम पर जादू कर दिया गया हो। और सज्जनो अगरचे मेरा अपना सवाल है, अगर मुझे यह डर न हो कि आप यह कहेंगे कि मैं बिलकुल पागल हो गया हूं तो मैं कसम खाकर यह कह सकता हूं कि उनके शब्दों ने मेरे ऊपर कैसा असाधारण असर डाला—और अगर फिर वे दोहराये जायं तो आज भी उनका वही असर होगा। ठीक उस वक्त जब मैं उन्हें दोहराते हुए सुनता हूं तो मैं एक ढंग के पवित्र आवेश में उत्तेजित हो उठता हूं जो कारीबैंट की उत्तेजना से भी बदतर है और मेरा दिल फौरन जबान पर आ जाता है और मेरी आंखों में आंसू आ जाते हैं—ओह! यह सिर्फ मेरे साथ ही नहीं होता बल्कि यही हाल और बहुत-से लोगों का भी होता है।

हां, मैंने पेरिक्लीज और दूसरे बड़े ओजस्वी वक्ताओं को भी सुना

है और मेरा खयाल था कि वे सब बहुत ओजस्वी हैं लेकिन उनमें से किसी-का भी मेरे ऊपर असर नहीं हुआ मेरी समूची आत्मा को वे कभी उलट नहीं पाये और न उनके असर से मैंने ऐसा ही महसूस किया कि मैं हीनतम से भी हीन हूं लेकिन इधर इस पिछले दिन से मेरे दिमाग की हालत ऐसी हो गई है कि मैं महसूस करता हूं कि मैं अबतक जिस ढंग से रहता आया हूं अब आगे उसी तरह मैं नहीं रह सकता।

"और एक चीज मैंने किसी और के साथ महसूस नहीं की—एक ऐसी चीज जिसकी तुम मुझमें उम्मीद ही नहीं कर सकते हो और वह है एक तरह की शर्मिन्दगी। दुनिया में सिर्फ सुकरात ही ऐसा आदमी है जो मुझे शर्मिंदा महसूस करा सकता है। क्योंकि उससे बचने की कोई तरकीब नहीं है इसलिए मैं जानता हूं कि मुझे काम को उसी तरह करना चाहिए, जैसे वह करने को कहता है। फिर भी ज्यों ही मैं उसकी नजर से हट जाता हूं तो मैं इस बात की परवाह नहीं करता कि मैं भेड़-चाल चलने के लिए क्या करता हूं। इसलिए मैं फरार की तरह भाग जाता हूं और जबतक मुमकिन हो सकता है उसकी पकड़ के बाहर रहता हूं। और जब मैं फिर दूसरी बार मिलता हूं तो मुझे वे सब बातें याद आ जाती हैं जो मुझे पहली बार मंजूर करनी पड़ती थीं और तब दरअसल मैं अपने को शर्मिंदा महसूस करता हूं।

"यही कि मैं सांप से भी ज्यादा जहरीली चीज का काटा हुआ हूं दर असल इससे ज्यादा पीड़ा पहुंचानेवाली कोई चीज हो ही नहीं सकती। मैं दिल में या दिमाग में या उसे तुम चाहे जो कुछ कहो उसमें डस लिया गया हूं।[1]

## २ गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस गतिशील संस्था बन जाती है

कांग्रेस में गांधीजी पहली बार दाखिल हुए और फौरन ही उस संस्था के संविधान में पूरी तरह तबदीली आई। उन्होंने कांग्रेस को एक लोकतंत्री और लोक संगठन बना दिया। वैसे तो पहले भी वह लोकतंत्री थी लेकिन पहले उसके मतदाताओं का क्षेत्र संकुचित था और वह केवल बड़े लोगों तक ही सीमित थी। अब उसमें किसान भी आये और अपनी नई शकल में अब वह किसानों की एक बहुत बड़ी संस्था मालूम पड़ने लगी और उसमें मध्यम वर्ग के लोगों का हालांकि उनकी तादाद थोड़ी थी काफी जोर था। कांग्रेस का यह खेतिहर प्रधान स्वरूप बढ़नेवाला था। औद्योगिक

१ 'दि प्राइव डाइलौग्स ऑव प्लेटो' (एवरीमैन्स लाइब्रेरी)।

मजदूर भी उसमें आये लेकिन सिर्फ़ अपनी व्यक्तिगत हैसियत में न कि अपने पृथक और संगठित रूप में।

इस संस्था का मक़सद और उसकी बुनियाद थी सक्रियता। ऐसी सक्रियता जिसकी बुनियाद शांतिपूर्ण ढंग पर थी। अबतक जो रवैया था वह था सिर्फ़ बात करना और प्रस्ताव पास करना या आतंकवादी काम करना। इन दोनों को ही अलग हटा दिया और आतंकवाद की तो खासतौर से निंदा की गई, क्योंकि वह तो कांग्रेस की बुनियादी नीति के खिलाफ़ था। काम करने का एक नया तरीका निकाला गया जो वैसे तो बिलकुल शांतिपूर्ण था लेकिन साथ ही उसमें जिस चीज को गलत समझा जाता था उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि तरीके में जो तकलीफ़ और मुसीबतें थी उनको बरदाश्त करने की रजामंदी थी। गांधीजी एक अजीब किस्म के शांत आदमी थे क्योंकि वह तो सक्रिय थे और उनमें गतिशीन शक्ति भरी हुई थी। किस्मत या जो कुछ वह बुरा समझते थे उसके सामने सिर झुकाने की भावना उनमें नहीं थी। उनमें मुकाबला करने की ताकत भरी हुई थी। हां, उनका ढंग शांतिपूर्ण और मीठा था।

सक्रियता की पुकार दोहरी थी। जाहिर है, विदेशी राज्य को चुनौती देने और उसका मुकाबला करने की सक्रियता तो थी ही, साथ ही अपनी निजी सामाजिक कुरीतियों का मुकाबला करने की सक्रियता भी थी। कांग्रेस के बुनियादी मकसद—हिंदुस्तान की आजादी—के अलावा और शांतिपूर्ण सक्रियता के साथ कांग्रेस के खास आधार थे क़ौमी एकता, जिसमें अल्पसंख्यकों के मसला को हल करना शामिल था और दलित जातियों का ऊपर उठाकर छूत छात के अभिशाप को ख़त्म करना।

ब्रिटिश राज्य की असली बुनियाद डर, रोब और उस सहयोग पर थी जो वे लोग मन या बेमन से देते थे जिनके निहित स्वार्थ ब्रिटिश राज्य में पड़िन थे। गांधीजी ने इन बुनियादों पर चोट की। उन्होंने कहा कि खिताबों का त्याग हो और अगरचे बहुत थोड़े लोगों ने खिताब नहीं छोड़े फिर भी अंग्रेजों द्वारा दिए हुए खिताबों की आम इज्जत गायब हो गई और वे गिरावट के प्रतीक बन गए। नया मापदंड बना और नया मूल्यांकन हुआ और वाइसराय के दरबार और रजवाड़ों की शान और सजावटें जो इतना असर डाला करती थीं अब जनता की इस दर्जे की ग़रीबी और तकलीफ़ के वातावरण में बहुत भद्दी नापसंदीदा यहां तक कि लज्जाजनक मालूम पड़ने लगीं। अमीर आदमी अपनी दौलत का शानदार दिखावा करने के लिए

ताल्लुक नहीं थे। कम-से-कम ऊपरी तौर पर उनमें से बहुत-से लोगों ने अपना रहन-सहन सादा बनाया और सिर्फ उनकी पोशाक से उनमें और मुकाबले में मामूली आदमियों में कोई फ़र्क नहीं मालूम पड़ सकता था।

कांग्रेस के पुराने नेता जो एक अलग और ज्यादा निष्क्रिय परंपरा में पले हुए थे इस नई रद्दो-बदल को आसानी से अपना नहीं सके और आम जनता के उभार से उन्हें परेशानी हुई। फिर भी विचारों और भावनाओं की जो लहर देश में आई वह इतनी जबरदस्त थी कि वे लोग भी कुछ हद तक उनके असर से भर गये। बहुत थोड़े-से लोग बाहर निकल गये और उनमें एक मी एम ए जिन्ना भी थे। उन्होंने कांग्रेस को हिंदू-मुस्लिम सवाल पर किसी राय के फ़र्क की वजह से नहीं छोड़ा बल्कि कांग्रेस को इस वजह से छोड़ा कि वह उसकी नई और अधिक उन्नत विचारधारा से मेल नहीं बिठा सके। इससे भी ज्यादा बड़ी वजह यह थी कि उनको हिंदुस्तानी में बोलनेवाले सादगी से रहनेवाले लोगों से जिनकी कांग्रेस में भीड़ बढ़ रही थी नफ़रत थी। राजनीति के संबंध में उनका खयाल उस ऊंचे ढंग का था जो विधान सभाओं के कमरों या कमेटी के कमरों के अनुरूप ही होता है। कुछ बरसों तक तो वह मैदान से बिलकुल अलग मालूम दिये यहांतक कि उन्होंने हमेशा के लिए हिंदुस्तान छोड़ने का इरादा कर लिया। वह इंग्लैंड में बस गये और वहां उन्होंने कई बरस बिताये।

यह कहा जाता है और मेरे खयाल से यह सच भी है कि हिंदुस्तानी स्वभाव खासतौर से खामोशी का है। शायद पुरानी जातियों का जिंदगी की तरफ़ यही रुख बन जाता है फ़िलसफ़े की लंबी परंपरा भी शायद उसी तरफ़ ले जाती है। फिर भी गांधीजी जो बिलकुल हिंदुस्तानी सांचे में ढले हुए हैं इस खामोशी से बिलकुल उलटे हैं। शक्ति और सक्रियता के तो वह महारथी रहे हैं और वह एक ऐसे शख्स हैं, जो अपने-आपको ही आगे नहीं बढ़ाते बल्कि दूसरों को भी आगे बढ़ाते हैं। जहांतक मैं जानता हूं, हिंदुस्तानी जनता की निष्क्रियता से लड़ने और उसे दूर करने की जितनी कोशिश उन्होंने की है उतनी और किसीने नहीं की।

उन्होंने हमको गांवों में भेजा और सक्रियता के नये संदेश को ले चलने वाले अनगिनत दूतों के काम-काज से देहात में चहल-पहल मच गई। किसान को झकझोरा गया और वह अपनी निष्क्रियता की खोल से बाहर निकलने लगा। हम लोगों पर असर दूसरा था लेकिन कम गहरा नहीं था क्योंकि असलियत यह है कि हमने पहली बार ग्रामीण को कच्ची झोंपड़ी और भूख की उस छाया से जो उसका हमेशा पीछा करती रहती थी लिपटे हुए देखा।

हमने किताबों और विद्वत्तापूर्ण भाषणों के मुकाबले अपना हिंदुस्तानी अर्थशास्त्र इन सस्ता देसी हालतों से ज्यादा जाना। वह भावनात्मक अनुभव जो हमको पहले हो चुका था वह अब पक्का हुआ और उसके सबूत सामने आये। इसलिए आगे चलकर हमारे विचारों में और चाहे जो रद्दो-बदल होती अब अपनी जिंदगी के पुराने ढर्रे और पुराने मापदंड को वापस नहीं लौटा जा सकता था।

आर्थिक सामाजिक और दूसरे मामलों में गांधीजी के विचार बहुत सख्त थे। उन्होंने इन सबको कांग्रेस पर लादने की कोशिश नहीं की। हां उन्होंने अपनी विचारधारा का बराबर पोषण किया और इस प्रक्रिया में कभी-कभी अपने लेखों के द्वारा उसमें रद्दो-बदल भी की लेकिन कुछ विचारों को उन्होंने कांग्रेस में फैलाने की कोशिश की। वह बड़ी सावधानी से आगे बढ़े क्योंकि वह जनता को अपने साथ ले चलना चाहते थे। कभी वह कांग्रेस के लिहाज से बहुत आगे बढ़ जाते और उनको पीछे आना होता। उनके विचारों का अधिकांश तो बहुत लोगों ने नहीं माना और कुछ लोगों का तो उनके बुनियादी दृष्टिकोण से ही मतभेद था। लेकिन उस वक्त की मौजूदा परिस्थितियों के अनुकूल होने की वजह से वह जिस बदली हुई सूरत में कांग्रेस में आये उस तरह बहुत लोगों ने उनको मंजूर कर लिया। दो तरह से उनके विचारों की पृष्ठभूमि का धुंधला लेकिन बहुत काफी असर हुआ। एक तो यह कि हर चीज की बुनियादी कसौटी यह थी कि वह आम जनता को किस हद तक फायदा पहुंचाती है और दूसरी यह कि चाहे उद्देश्य सही ही क्यों न हो लेकिन साधनों का हमेशा खयाल होना चाहिए और उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती क्योंकि साधन का असर उद्देश्य पर पड़ता है और वे उद्देश्य में तब्दीली पैदा कर सकते हैं।

गांधीजी खासतौर से एक धार्मिक आदमी थे जो अपने अस्तित्व के अंतरतम से भी हिंदू थे फिर भी धर्म के उनके दृष्टिकोण का किसी परंपरा किसी मत वाद या किसी प्रचलित धारणा से कोई भी संबंध नहीं था।

---

१ जनवरी १९२८ में फेडरेशन ऑव इंटरनेशनल फ्रेलोशिप में गांधीजी ने बताया कि 'लंबे अध्ययन और तजुर्बे के बाद मैं इन नतीजों पर पहुंचा हूं कि (१) सब धर्म सच्चे हैं (२) सब धर्मों में थोड़ी-बहुत गलतियां भी हैं (३) सभी धर्म मुझको इतने ही प्यारे हैं जितना खुद मेरा हिंदू धर्म। दूसरे धर्मों के लिए भी मेरी उतनी ही श्रद्धा है जितनी खुद अपने धर्म के लिए है। इसलिए धर्म-परिवर्तन का खयाल नामुमकिन है दूसरों के लिए हमारी प्रार्थना यह कभी नहीं होनी चाहिए—'प्रभो! दूसरों को भी

बुनियादी तौर पर उनका ताल्लुक़ तो उस नैतिक क़ानून से था जिसको उन्होंने प्रेम या सत्य के क़ानून का नाम दिया है। सत्य और अहिंसा उनको एक ही चीज़ या एक ही चीज़ के अलग-अलग पहलू मालूम देते हैं और उसके लिए दोनों में से एक ही लफ़्ज़ में दोनों के मानी आ जाते हैं। हिंदू-धर्म की बुनियादी भावना को समझने का दावा करते हुए भी वह ऐसी हर क्रिया और हर चीज़ को नामंज़ूर कर देते हैं जो उनकी आदर्शवादी व्याख्या से मेल नहीं खाती। उनका कहना है कि ये चीज़ें या तो बाद में जोड़ दी गई हैं या बिगड़ी हुई शक्लों में हैं। गांधीजी ने कहा है—'उस प्रचलित ढंग या रीति का जिसको मैं समझ नहीं सकता हूं या नैतिक बुनियाद पर मैं जिसकी हिमायत नहीं कर सकता हूं मैं गुलाम होने को तैयार नहीं हूं।' और इस तरह असली तौर पर अपनी पसंद का रास्ता अपनाने के लिए वह असाधारण रूप में स्वतंत्र हैं। उस रास्ते के बदलने के लिए, उससे अपना मेल बिठाने के लिए और ज़िंदगी और काम के अपने फ़िलसफ़े में तरक़्क़ी करने के लिए वह आज़ाद हैं। लेकिन जिस चीज़ में बुनियाद पर फ़ैसला होता है वह तो वह नैतिक क़ानून है, जो उनकी समझ में आया है। वह फ़िलसफ़ा सही है या ग़लत है इस पर बहस की जा सकती है लेकिन वह उस बुनियादी पैमाने को हर चीज़ के लिए और खासतौर से अपने लिए इस्तेमाल करने पर ज़ोर देते हैं। औसत आदमी के लिए राजनीति में और ज़िंदगी के दूसरे पहलुओं में इससे परेशानी होती है और अकसर ग़लतफ़हमियां होती हैं। लेकिन किसी भी परेशानी की वजह से वह अपनी पसंद के सीधे रास्ते से नहीं हटते। हां एक खास हद तक वह बदलती हुई हालत से बराबर अपना मेल बिठाते रहते हैं। जिस सुधार और जिस नसीहत की वह दूसरों को सलाह देते हैं उस पर वह पहले खुद अमल करते हैं। वह हमेशा चीज़ों को अपने-आप से शुरू करते हैं और उनके लफ़्ज़ों और कामों में इस तरह का मेल होता है, जैसा हाथ में और दस्ताने में होता है। और इसलिए चाहे जो कुछ होता रहे, उनका समूचा व्यक्तित्व कभी भी ग़ायब नहीं होता और उनकी ज़िंदगी और कामों में हमेशा ही एक सजीव पूर्णता दिखाई देती है। अपनी नाकामियों में भी वह ऊंचे उठते दिखते हैं।

अपनी इच्छाओं और आदर्शों के अनुसार जिस सांचे में वह हिंदुस्तान को ढालने जा रहे थे वह क्या था? "मैं उस हिंदुस्तान के लिए काम करूंगा

---

तू वही ज्ञान-ज्योति है, जो तूने मुझको दी है।' बल्कि 'उनकी सर्वोच्च उन्नति के लिए उन्हें जितने भी सत्य और प्रकाश की ज़रूरत है, वह सब तू उनको दे'।"

जिसमें गरीब-से-गरीब भी यह महसूस करेगा कि यह उसका देश है और जिसके निर्माण में उसकी कूबत की कारगर आवाज है। ऐसा हिंदुस्तान जिसमें सारी जातियां आपसी मुहब्बत के साथ रहेंगी। ऐसे हिंदुस्तान में छुआछूत या नशे के अभिशाप के लिए कोई भी जगह नहीं हो सकती। स्त्रियों को भी वही अधिकार प्राप्त होंगे जो पुरुषों को हैं। जिस हिंदुस्तान का मैं सपना देखता हूं वह यह है।" जहां एक तरफ उन्हें अपनी हिंदू विरासत का अभिमान था वहां साथ ही उन्होंने हिंदू-धर्म को एक सार्वलौकिक बाना पहनाने की कोशिश की और सत्य के घेरे में सब धर्मों को शामिल किया। अपनी सांस्कृतिक विरासत को सकरा करने से उन्होंने इन्कार किया। उन्होंने लिखा है—"हिंदुस्तानी संस्कृति न तो बिलकुल हिंदू ही है और न बिलकुल मुसलमानी।" आगे चलकर वह कहते हैं—"मैं चाहता हूं मेरे घर में सब देशों की संस्कृति ज्यादा-से-ज्यादा आजादी के साथ फैले। लेकिन उनमें से कोई भी मुझे वहां ले जाय यह मैं न चाहूंगा। दूसरे लोगों के मकानों में एक भिखारी या गुलाम या अनचाहे आदमी की तरह रहने को मैं तैयार नहीं हूं।" आधुनिक विचारधारा का उन पर असर तो हुआ है लेकिन उन्होंने अपनी जड़ों को कटने नहीं दिया और वह उनको मजबूती से पकड़े रहे हैं।

और इस तरह उन्होंने पश्चिमी ढंग से प्रभावित चोटी के मुट्ठी-भर लोगों में और जनता में दीवारों को तोड़ने की और फिर से अंदरूनी मेल कायम करने की कोशिश की। उन्होंने पुरानी जड़ों के सजीव हिस्सों को जानकर उनके ऊपर नई इमारत को खड़ी करने और आम जनता को उनकी नींद और निष्क्रिय दशा से सचेत करके सक्रिय बनाने की कोशिश की। उनका एक निश्चित रास्ता था फिर भी उनकी प्रकृति के कई पहलू थे। इसमें दूसरों पर जिस चीज की खासतौर से छाप पड़ती थी वह यह थी कि गांधीजी ने सर्वसाधारण से अपने-आपको एकाकार कर दिया था और अपनी और जनता की भावनाओं को एकरूप कर लिया था और हिंदुस्तान के ही नहीं बल्कि दुनिया-भर के गरीब और लुटे हुए लोगों के साथ उनकी हर-अगेज हमदर्दी थी। इन घिरे हुए लोगों को उठाने की लगन के सामने और दूसरी चीजों की तरह धर्म का भी गौण स्थान था। "एक अध-भूखे राष्ट्र का न तो धर्म हो सकता है न कला और न संगठन।" "करोड़ों भूखे आदमियों को जो चीज भी काम की हो सकती है वही मेरे दिमाग में खूबसूरत चीज है। आज हम सबसे पहले जिंदगी देनेवाली चीजों को महत्त्व दें और उसके बाद जिंदगी के सारे चमत्कार और उसकी सारी परिष्कृतियां अपने-आप आ जायंगी।" "मैं उस कला और साहित्य को चाहता हूं जो करोड़ों आदमियों

के लिए काम का हो। इन दुखी और अपाहिज आदमियों के मसले उनके दिमाग को घेरे रहे और सारी चीजें इन्हींके चारों तरफ घूमती हुई मालूम दीं। "करोड़ों आदमियों के लिए यह एक शाश्वत चौकीदारी है। एक शाश्वत मूर्च्छा है।" गांधीजी ने कहा है कि उनकी आकांक्षा यह है कि "हर आंख से हर एक आंसू पोंछ लिया जाय।"

यह कोई अचंभे की बात नहीं है कि इस आश्चर्यजनक रूप से सबल आदमी ने जिसमें आत्म-विश्वास है और एक असाधारण ढंग की ताकत भरी हुई है और जो हर इन्सान की बराबरी का और आजादी का हिमायती है और जिसके पैमाने में गरीब-से-गरीब आदमी का खयाल है, हिन्दुस्तान की जनता को मोहित किया और एक चुंबक की तरह उसको अपनी तरफ खींचा। उसको यह ऐसा महसूस हुआ कि यह विगत और भविष्य को जोड़ने वाली कड़ी है और जिसकी वजह से ऐसा महसूस हुआ कि दुख-भरा वर्तमान भविष्य के लिए सीढ़ी की तरह है। यह बात सिर्फ सर्वसाधारण में ही नहीं पैदा हुई, बल्कि बुद्धिजीवियों और दूसरे लोगों में हुई। हां यह जरूर है कि इन लोगों के दिमाग में अक्सर परेशानी और उलझन हुई और अपनी जिंदगी भर की आदतों में रद्दो-बदल करने में उनको ज्यादा मुश्किल मालूम दी। इस तरह उन्होंने न सिर्फ अपने अनुयायियों में बल्कि अपने विरोधियों में भी और उन बहुत-से गैर-तरफदार लोगों में जो सोचने और काम करने के बारे में कोई फैसला नहीं कर सके एक मनोवैज्ञानिक क्रांति पैदा की।

कांग्रेस गांधीजी के कब्जे में थी लेकिन यह एक अजीब ढंग का काबू था क्योंकि कांग्रेस सक्रिय थी, अधिकारी थी और कई पहलुओंवाली ऐसी संस्था थी जिसमें तरह-तरह की रायें थीं और वह आसानी से इस या उस तरफ नहीं ले जाई जा सकती थी। अक्सर गांधीजी ने ऐसी स्थिति को झुककर स्वीकार कर लिया कि दूसरों की इच्छा पूरी हो सके। कभी-कभी तो उन्होंने अपने खिलाफ फैसलों को भी मंजूर कर लिया। अपने लिए कुछ अहम मामलों में गांधीजी जिद्दी थे और कई मौकों पर उनमें और कांग्रेस में नाता टूट गया। लेकिन हमेशा ही वह हिन्दुस्तान की आजादी और जोशीली कौमियत के प्रतीक थे। हिन्दुस्तान को गुलाम बनानेवाले सभी लोगों के वह कभी न झुकनेवाले विपक्षी थे। इस प्रतीक होने के नाते ही लोग उनको घेरते थे और उनके नेतृत्व को मंजूर करते थे—जैसे चाहे वे बहुत-से मामलों में गांधीजी से सहमत न रहते हों। जिस वक्त कोई सक्रिय संघर्ष छिड़ा हुआ न हो उस वक्त लोगों ने उनके नेतृत्व को हमेशा मंजूर नहीं किया लेकिन जब संघर्ष

जाहिरी हुआ तो यह प्रतीक सबसे ज्यादा अहम बन गया और बाक़ी सब चीज़ें गौण हो गईं।

इस तरह १९२ में राष्ट्रीय कांग्रेस और बहुत हद तक सारे देश ने इस नये अनदेखे रास्ते को अपनाया और उसकी ब्रिटिश ताक़त के साथ बार बार लड़ाई हुई। इस नये ढंग में और उस हालत में जो पैदा हो गई थी संघर्ष का बीज था। लेकिन इसके पीछे राजनैतिक चालें या पैंतरे नहीं थे बल्कि हिंदुस्तानी जनता को मज़बूत बनाने की ख़्वाहिश थी क्योंकि उस ताक़त के ही बूते पर वे आज़ादी हासिल कर सकते थे और उसको क़ायम रख सकते थे। एक के बाद दूसरा सविनय अवज्ञा आंदोलन हुआ और उसमें बेहद मुसीबतें उठानी पड़ीं। लेकिन उन मुसीबतों को ख़ुद न्योता दिया गया था और इसलिए उनसे ताक़त मिलती थी। ये मुसीबतें उस क़िस्म की नहीं थीं, जो ग़ैर रज़ामंद आदमी को दबोच लेती हैं और जिनका नतीजा होता है मायूसी और पस्त-हिम्मती। सरकारी दमन के भयानक विस्तृत जाल में पकड़े जाने की वजह से ग़ैर-रज़ामंद आदमियों को भी मुसीबतें उठानी पड़ीं और कभी-कभी तो रज़ामंद आदमी भी हार मान गये और झुक गये। लेकिन बहुत-से लोग सच्चे और मज़बूत बने रहे और उन सारे तजुरबों की वजह से और भी ज़्यादा पक्के हो गये। किसी वक़्त भी यहाँतक कि अपने बुरे दिनों में भी कांग्रेस किसी बड़ी ताक़त या विरोधी हुकूमत के सामने झुकी नहीं। हिंदुस्तान की आज़ादी की तड़पन और विदेशी हुकूमत की मुख़ालफ़त की यह प्रतीक बनी रही। यही वजह थी कि ज़्यादातर हिंदुस्तानियों की उसके साथ हमदर्दी थी। चाहे उनमें से बहुत-से आदमी बहुत कमज़ोर रहे हों या अपनी परिस्थितियों में वे ख़ुद कुछ भी न करने के लिए मजबूर रहे हों फिर भी नेतृत्व के लिए उनकी निगाह कांग्रेस की तरफ़ थी। कुछ लिहाज़ से कांग्रेस एक पार्टी थी साथ ही यह कई पार्टियों के लिए एक मिला-जुला प्लेटफ़ार्म रही है लेकिन ख़ासतौर से यह सिर्फ़ इतने से कुछ ज़्यादा माने रखती है, क्योंकि यह तो हमारी जनता की बहुत बड़ी तादाद की सबसे भीतरी ख़्वाहिश की नुमाइंदगी करती है। हालाँकि उसकी फ़ेहरिस्त में मेंबरों की गिनती बहुत बड़ी थी फिर भी उसकी व्यापकता की उस गिनती से बहुत कम झलक मिलती है। मेंबर होना लोगों की शामिल होने की मरज़ी पर नहीं, बल्कि दूर-दूर के गाँवों में हमारे पहुँचने पर निर्भर था। अक्सर (आजकल की तरह) हम एक ग़ैर-क़ानूनी संस्था रहे हैं—क़ानून की निगाह में हमारा कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है और पुलिस हमारी किताबों और काग़ज़ों को उठा ले गई है।

उस वक्त भी जब सविनय अवज्ञा आंदोलन जारी नहीं था हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकारी मशीन से असहयोग का भाव सब बराबर बना रहा। हां उस वक्त उसका आक्रमक पहलू हट गया। इसके मानी ये नहीं है कि अंग्रेजों से असहयोग हो। जब बहुत-से सूबों में कांग्रेसी सरकारें कायम हुईं, तो लाजिमी तौर पर सरकारी और इंतजामी मामलों में काफ़ी सहयोग हुआ लेकिन इतने पर भी यह पृष्ठभूमि ज्यादा नहीं बदली और सरकारी कामों के अलावा कांग्रेसियों का क्या व्यवहार हो इस बारे में हिदायतें दी गई थीं। हालांकि कभी-कभी अस्थायी समझौता या मेल लाजिमी हो जाता था लेकिन फिर भी हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता और विदेशी साम्राज्यवाद में कोई स्थायी शांति नहीं हो सकती थी। आजाद हिंदुस्तान इंग्लैंड को सिर्फ़ बराबरी के दर्जे पर ही सहयोग दे सकता था।

## ६ सूबों में कांग्रेसी सरकारें

ब्रिटिश पार्लमेंट ने कई साल तक कमीशनों और कमेटियों के काम के बाद और साथ ही बहसों के बाद सन १९३५ में एक गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट पास किया। इस एक्ट में एक तरह का प्रांतीय स्वशासन और संघीय ढांचा रखा गया था लेकिन इसमें इतने रोक और पेंच थे कि राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह की सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथों में ज्यों-की-त्यों बनी रही। सच तो यह है कि कई ढंग से उस एक्जीक्यूटिव कौन्सिल की ताकत को जो ब्रिटिश सरकार के सामने ही जवाबदेह थी बढ़ा दिया था और उसकी बुनियाद को मजबूत कर दिया था। संघीय ढांचा एक ऐसी शक्ल में था कि असली तरक्की नामुमकिन थी। ब्रिटिश सत्ता से संचालित उस हुकूमती ढांचे में दखल देने या उसमें सुधार करने के लिए हिंदुस्तानी जनता के नुमाइंदों के लिए कोई रास्ता ही नहीं था। उसमें किसी ढंग की तब्दीली या तरमीमी सिर्फ़ ब्रिटिश पार्लमेंट के जरिये हो सकती थी। इस तरह इस ढांचे के प्रतिक्रियावादी होने के साथ ही उसमें स्व-विकास का तो कोई भी बीज नहीं था ताकि किसी क्रांतिकारी परिवर्तन की नौबत न आवे। इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाड़ों से जमींदारों से और हिंदुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातों से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई। पृथक निर्वाचन-पद्धति को इससे बढ़ावा दिया गया और इस तरह अलग होनेवाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। इस एक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग बैंकिंग और जहाजी व्यापार को जिनका पहले से ही आधिपत्य था अब और ज्यादा पुख्ता कर दिया। इस एक्ट में ऐसी धाराएं साफ़ तौर पर रख दी गईं कि उनकी इस हैसियत पर कोई रोक या पाबंदी नहीं

लगाई जा सकती थी। इस प्रतिबंध की परिभाषा यह की गई कि कोई भेद-भाव नहीं बरता जायगा। इस क़ानून के मुताबिक़ भारतीय रक्षा फ़ौज और विदेश नीति के सारे मामलों में पूरा नियंत्रण ब्रिटिश हाथों में ज्यों-का-त्यों बना रहा। इसमें वाइसराय को पहले से भी कहीं ज़्यादा ताक़त सौंप दी।

प्रांतीय स्वशासन के सीमित क्षेत्र में ज़्यादा अधिकार हस्तांतरित किये गये या कम-से-कम ऐसा मालूम तो पड़ा ही। ताहम एक लोकप्रिय सरकार की स्थिति बड़ी विचित्र थी। उस पर ग़ैर-ज़िम्मेदार केंद्रीय हुकूमत और वाइसराय की ताक़तों की रोक-थाम लगी हुई थी। वाइसराय की तरह प्रांतीय गवर्नर भी दख़ल दे सकते थे किसी क़ानून को रोक सकते थे और अपने निजी हुक्म से और अधिकार के बल पर जनता के नुमाइंदे मंत्रियों और सूबों की असेंबलियों के साफ़ विरोध के होते हुए भी कोई नया क़ानून जारी कर सकते थे। सरकारी आमदनी का एक बहुत बड़ा हिस्सा कुछ निहित स्वार्थों के लिए तय था और उसमें हाथ भी नहीं लगाया जा सकता था। बड़ी नौकरियों और पुलिस का बचाव किया गया था और मंत्री लोग उनको छू भी नहीं सकते थे। उनका नज़रिया एकदम तानाशाही का था और अपने पथ-निर्देश के लिए पहले की ही तरह मंत्रियों की जगह उनकी निगाह गवर्नर की तरफ़ रहती थी। लेकिन फिर भी ये ही लोग थे जिनके ज़रिये लोकप्रिय सरकारों को काम करना था। सरकार का सारा आर्थिक ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहा ऊपर गवर्नर से लेकर मामूली अहलकार और पुलिस के आदमी तक उस ढांचे में कोई भी तब्दीली नहीं हुई। बस सिर्फ़ उसके बीच में किसी जगह पर चुनी हुई असेंबली के प्रति ज़िम्मेदार कुछ मंत्री बिठा दिये

---

हिंदुस्तान में ब्रिटिश उद्योग और व्यापार के प्रतिनिधि इन प्रतिबंधी धाराओं को हटाने का अब भी भयंकर विरोध करते हैं। ब्रिटिश विरोध के होते हुए भी अप्रैल १९४५ में केंद्रीय असेंबली में इन प्रतिबंधों को हटाने का प्रस्ताव पास किया गया। हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता और सारी हिंदुस्तानी जमातें इनको हटाने की ज़बरदस्त पक्षपाती हैं और हिंदुस्तानी उद्योगपति तो इस सिलसिले में ज़्यादा व्यग्र हैं। फिर भी यह बात ख़्याल देने की है कि लंका में कुछ हिंदुस्तानी व्यापारी अपने लिए वैसा ही संरक्षण मांग रहे हैं जो खुद अपने देश में ब्रिटिश व्यवसायियों को दे दिये जाने पर बरसते हैं। निजी लाभ के मामले में आदमी न्याय और इंसाफ़ के लिए ही सिर्फ़ अंधा ही नहीं हो जाता बल्कि मामूली अक़्ल की बात और सीधी-सादी दलील भी उसे नज़र नहीं आती।

गये थे जो अपनी शक्ति भर काम करते थे। अगर गवर्नर (जो ब्रिटिश सत्ता का प्रतिनिधि था) और उसके नीचे काम करनेवाले सरकारी नौकर मंत्रियों का पूरा-पूरा साथ देते तो सरकारी मशीन आसानी से चल सकती थी। वरना—और इसकी संभावना भी बहुत ज्यादा थी चूंकि पुरानी तानाशाही पुलिस-सरकार और लोकप्रिय सरकार के रवैये में बहुत बड़ा फ़र्क होता है—उनमें बराबर कशा-म-कश और संघर्ष होना लाज़िमी था। यहांतक कि उस वक्त भी जबकि गवर्नर और सेवाओं और लोकप्रिय सरकार की नीति में कोई साफ़ मतभेद न हो, वे लोग उस सरकार के कार्य में रुकावट डाल सकते थे देर कर सकते थे उसको तोड़-मरोड़ सकते थे और उस पर पानी तक फेर सकते थे। क़ानूनी तौर पर ऐसी कोई चीज़ नहीं थी जो गवर्नर या वाइसराय को अपने मनमाने ढंग से काम करने से रोक सकती और इसमें चाहे मंत्रियों और असेंबली का सक्रिय विरोध ही क्यों न हो संघर्ष का डर ही सिर्फ़ एक कारगर रोक थी। मंत्री लोग इस्तीफ़ा दे सकते थे और असेंबली में और कोई वर्ग बहुमत को अपनी ओर कर नहीं सकता था और तब सार्वजनिक आंदोलन हो सकते थे। यह तो वही पुराना संवैधानिक संघर्ष था जो निरंकुश राजा और पार्लमेंट में दूसरे देशों में अक्सर होता आया है और जिससे क्रांतियां हुई हैं और राजा को दबना पड़ा है। और सब बातों के साथ ही यहां पर तो राजा एक विदेशी सत्ता थी जिसको विदेशी फ़ौज और आर्थिक ताक़त का सहारा था और जिसको विशेष हितोंवाले समुदायों और उन बीच-दूसरों से जिनको उसने इस देश में पैदा किया था मदद मिलती थी।

इसी वक्त हिंदुस्तान से बरमा अलहदा किया गया। बरमा में ब्रिटिश और हिंदुस्तानी और कुछ हद तक चीनी आर्थिक और व्यावसायिक स्वार्थों में संघर्ष चल रहा था। इसीलिए ब्रिटिश नीति यह रही थी कि बरमावासियों में भारतीय-विरोधी और चीनी-विरोधी भावनाओं को बढ़ावा दिया जाय। कुछ वक्त तक तो इस नीति से मदद मिली लेकिन जब यह आज़ादी से इन्कार के साथ जुड़ गई, तो उसका नतीजा यह हुआ कि बरमा में एक ज़बर-दस्त आंदोलन जापानियों के पक्ष में शुरू हो गया और जब १९४२ में जापानियों ने हमला किया तो यह ऊपर सतह पर आ गया।

हिंदुस्तानी विचारधारा के हर एक हिस्से ने १९३५ के एक्ट का सख्त विरोध किया। उसमें उस हिस्से की जो प्रांतीय स्वशासन से संबंधित था तीखी आलोचना की गई क्योंकि उसमें बहुत-से रोक-थाम थे और उसमें गवर्नर और वाइसराय को विशेषाधिकार दिये गये थे। उसमें संघीय

भारत १९३५ में

ढांचे से ताल्लुक रखनेवाला हिस्सा और भी ज्यादा खला। स्वयं संघीय हिस्से का विरोध नहीं किया गया क्योंकि यह तो आमतौर पर माना जाता था कि हिंदुस्तान के लिए संघीय ढांचा मौजूं था लेकिन जिस संघीय ढांचे का प्रस्ताव किया गया था उसमें ब्रिटिश राज्य और हिंदुस्तान में निहित स्वार्थों को मजबूत किया गया था। सिर्फ प्रांतीय स्वशासन से ताल्लुक रखनेवाला हिस्सा अमल में लाया गया और कांग्रेस ने चुनाव लड़ने का फ़ैसला किया। लेकिन इस सवाल पर कि उक्त एक्ट की सीमाओं के अंदर ही प्रांतीय हुकूमत की जिम्मेदारी ली जाय या नहीं कांग्रेस के अंदर बड़ी तीखी बहस हुई। ज्यादातर सूबों में चुनाव में कांग्रेस की जबरदस्त कामयाबी हुई, फिर भी जबतक यह बात साफ़ न हो जाय कि गवर्नर या वाइसराय का हस्तक्षेप नहीं होगा मंत्रिमंडल की जिम्मेदारी लेने में झिझक थी। कुछ महीनों के बाद कुछ अस्पष्ट आश्वासन इस संबंध में दिये गये और जुलाई १९३७ में कांग्रेसी सरकारें क़ायम हुई। आखिर में ग्यारह में से आठ सूबा में ऐसी सरकारें बनीं और जो सूबे बाक़ी बचे वे थे बंगाल सिंध और पंजाब। सिंध का सूबा हाल ही में बनाया गया था छोटा-सा और एक ढंग से ग़ैर-मुस्तक़िल था। बंगाल में जहांतक विधानमंडल का सवाल है कांग्रेस अकेले में तो सबसे बड़ी पार्टी थी लेकिन कुल मिलाकर वह बहुसंख्यक नहीं थी इसलिए वह शासन-कार्य में शामिल नहीं हुई। हिंदुस्तान में ब्रिटिश पूंजी का बंगाल (या कलकत्ता कहना ज्यादा सही होगा) प्रधान केंद्र होने की वजह से यूरोपीय व्यवसायी वर्गों को हैरतअंगेज ढंग से ज्यादा नुमाइंदगी दी गई थी। गिनती में वे सिर्फ़ मुट्ठी-भर हैं (शायद कुछ हजार हों) फिर भी उनको २५ जगहें दी गई हैं, जबकि सारे सूबे की आम गैर मुसलमान आबादी को जो एक करोड़ सत्तर लाख है ५० जगहें दी गई हैं। इस गिनती में अनुसूचित जातियों की आबादी शामिल नहीं है। बंगाल की राजनीति में विधानमंडल में इस ब्रिटिश दल की एक अहम जगह है और वह मंत्रिमंडल को बना-बिगाड़ सकता है।

यह बात साफ़ है कि हिंदुस्तानी मसले के अस्थायी हल की हालत में भी कांग्रेस १९३५ के एक्ट को मंजूर नहीं कर सकती थी। उसकी प्रतिज्ञा आजादी के लिए थी और उसे इस एक्ट से लड़ना था। फिर भी अधिकांश ने यही तय किया कि प्रांतीय स्वशासन के कार्यक्रम को चलाया जाय। इस तरह उसकी दुहरी नीति थी—एक तो आजादी की लड़ाई को जारी रखना और दूसरे विधानमंडलों के जरिये रचनात्मक काम और सुधार करना। देहिहर जनता के सवाल पर खासतौर से फ़ौरन ही ध्यान देना जरूरी था।

हालांकि कांग्रेस का शुमार के लिहाज से बहुमत था और इसलिए एक तरह से जरूरी न होते हुए भी इस सवाल पर भी गौर किया गया कि कांग्रेसी दूसरे दलों को अपने साथ मिलाकर संयुक्त सरकार बनायें। फिर भी सरकारी काम में ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को अपने साथ ले लेना ज्यादा अच्छा था। हमेशा ही कैसी भी मिली-जुली सरकार बनाने में कोई लिखित बाधा नहीं है और असल में सरहदी सूबे में और आसाम में ऐसी सरकार बनाने की बात मान भी ली गई। सच तो यह है कि कांग्रेस खुद एक ढंग की सम्मिलित संस्था या संयुक्त मोर्चा थी जिसमें बहुत-से दल थे और वे हिंदुस्तान की आजादी की लगन से एक साथ बंधे हुए थे। अपने अंदर इस ढंग की भिन्नता के होते हुए भी उसमें एक अनुशासन और एक सामाजिक दृष्टिकोण था और एक अपने शांतिपूर्ण ढंग से लड़ने की सामर्थ्य थी। इससे ज्यादा बड़े सम्मेलन के मानी थे ऐसे लोगों के साथ मिलना जिनका राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण बिलकुल जुदा था और जिनकी खासतौर से दफ्तरों में या मंत्री-पद में दिलचस्पी थी। इस हालत में संघर्ष तो शुरू से था—ब्रिटिश हितों के प्रतिनिधियों से संघर्ष वाइसराय और गवर्नर से और दूसरे बड़े-बड़े अफसरों से साथ ही जमीन में और उद्योग-धंधों में निहित स्वार्थों से किसानों के मामलों में या मजदूरों की हालतों पर संघर्ष था। गैर-कांग्रेसी अनासिर आमतौर पर राजनैतिक और सामाजिक दृष्टि से अनुदार थे और उनमें से कुछ तो विशुद्ध पदलोलुप थे। अगर ऐसे अनासिर सरकार में शामिल होते तो वे हमारे सारे सामाजिक कार्यक्रम को रद्द कर देते या कम-से-कम अड़चनें डालते और उसमें देर करते। यही नहीं दूसरे मंत्रियों की पीठ पीछे गवर्नर के साथ षड्यंत्र भी हो सकते थे। ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ संयुक्त मोर्चा जरूरी था। इसमें किसी तरह की भी फूट हमारे मकसद के लिए नुकसान पहुंचानेवाली होती। न आपस में बांधने वाला कोई मसाला ही होता और न कोई परस्पर मान्य निष्ठा ही होती और न कोई एक आदर्श होता और मंत्रियों के व्यक्तिगत रूप में अलग अलग दृष्टिकोण होते और वे अलग-अलग दिशाओं में चलते।

स्वाभाविक तौर पर हमारे सार्वजनिक जीवन में ऐसे बहुत-से लोग शामिल थे जो सिर्फ राजनीतिज्ञ थे और उससे ज्यादा कुछ नहीं थे और वे अच्छे और बुरे दोनों ही मानों में अपना हित साधनेवाले पदलोलुप लोग थे। कांग्रेस में और साथ ही और जमातों में भी और दूसरे कामिल और बेसमझ स्त्री-पुरुष और साथ ही मतलबी और पदलोलुप लोग भी थे। लेकिन १९२० के बाद से कांग्रेस एक वैधानिक राजनैतिक संस्था से कहीं ज्यादा बड़ी

चीज रही थी और वास्तविक अथवा निहित क्रांतिकारी काम का वायुमंडल उसे घेरे रहता था और वह अक्सर कानून के दायरे से बाहर हो जाती थी। महज इसलिए कि इस काम का हिंसा, गुप्त-मंत्रणा या षड्यंत्र या क्रांतिकारी काम की अन्य साधारण बातों से कोई ताल्लुक नहीं था, कांग्रेस कुछ कम क्रांतिकारी नहीं थी। यह बात दूसरी है कि उसकी नीति सही थी या ग़लत, कारगर थी या नहीं—इस पर बहस की जा सकती है। लेकिन यह बात साफ़ है कि उसमें होश-भरा जोश था और एक बहुत ऊंचे दर्जे की सहनशीलता थी। शायद हिम्मत से थोड़ी देर के लिए हिंसात्मक काम के उफ़ान में शामिल होना आसान है और उसमें मौत तक का स्वागत हो सकता है। लेकिन इसके मुक़ाबले में दिन-प्रति-दिन, माह-प्रति-माह, साल-ब-साल महज अपनी ही इच्छा से जीवन के उपहारों को छोड़कर जीवन को बसाना ज्यादा मुश्किल है। यह एक ऐसा इमतिहान है, जिसमें किसी भी जगह शायद गिने-चुने आदमी ही कामयाब हो सकें और यह एक अचंभे की बात है कि हिंदुस्तान में इतने आदमी कामयाब हुए।

विधानमंडलों में कांग्रेस-पार्टियां इस बात के लिए चिंतित थीं कि किसी संकट के घिरने से पहले मजदूरों और किसानों के पक्ष में नये क़ानून पास कर दें। किसी मंडराते हुए संकट की भावना बराबर मौजूद थी—संकट तो उसमें बीज रूप से था ही। क़रीब-क़रीब हर सूबे में एक और सदन था जो बहुत सीमित निर्वाचन पर निर्भर था और इस तरह उसमें जमीन या उद्योग से संबंधित स्वार्थों की नुमाइंदगी थी। प्रगतिशील क़ानून बनाने पर और दूसरे ढंग की रोक थी। मिली-जुली सरकारों में ये सारी परेशानियां और बढ़ जातीं और यह तय किया गया कि सिवाय सरहदी सूबे और आसाम के सूबे में ऐसा न किया जाय।

किसी भी सूरत से यह फ़ैसला आखिरी फ़ैसला नहीं था और तब्दीली की गुंजाइश बराबर ध्यान में रखी गई, लेकिन तभी से बदलती हुई हालतों ने इस तब्दीली को ज्यादा मुश्किल बना दिया और सूबों की कांग्रेसी सरकारें उन बहुत-से मसलों में, जिन पर फ़ौरन ही ध्यान देने की जरूरत थी, फंस गईं। बाद के बरसों में उस फ़ैसले की अक्लमंदी पर बहुत बहस हुई है और उस पर अलग-अलग रायें हैं। किसी घटना के समाप्त होने पर अक्लमंद होना ज्यादा आसान है, लेकिन अब भी मेरा अपना खयाल यही है कि राजनैतिक नजर से और परिस्थितियों के लिहाज से हमारे लिए वह फ़ैसला कुदरती था और तर्कसंगत था। फिर भी यह सच है कि फ़िरक़ेवार सवाल पर उसका बहुत बुरा असर पड़ा और उसकी वजह से बहुत-से मुसलमानों

में शिकायत और बदहज़मी का एहसास पैदा हुआ। इससे बहुत-से प्रतिक्रिया-वादी तत्त्वों ने फ़ायदा उठाया और उन्होंने कुछ ख़ास गिरोहों में अपनी स्थिति मज़बूत कर ली।

राजनैतिक या सवैधानिक नज़र से इस नये एक्ट से और सूबों में कांग्रेसी सरकारों के क़ायम होने से सरकारी ब्रिटिश ढांचे में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं हुआ। असली ताक़त वहीं रही जहां वह एक लंबे अरसे से थी लेकिन मनोवैज्ञानिक नज़रिये से एक बहुत बड़ा फ़र्क़ हुआ और ऐसा मालूम पड़ा मानो देश में बिजली दौड़ गई हो। शहरों के मुक़ाबले देहात में यह तबदीली ज़्यादा नज़र आई। हां, शहरों के औद्योगिक केंद्रों के मज़दूरों में भी यही प्रतिक्रिया हुई। एक इस ढंग की भावना थी मानो जनता को कुचलनेवाला बहुत बड़ा बोझ हट गया हो और बहुत चैन हो बहुत अरसे से दबी हुई सामूहिक शक्ति को छुटकारा मिला और यह बात चारों तरफ़ नज़र आती थी। कम-से-कम कुछ वक़्त के लिए पुलिस और ख़ुफ़िया विभाग का डर गायब हो गया यहांतक कि ग़रीब-से-ग़रीब किसान में भी आत्म सम्मान और आत्म-विश्वास की भावना बढ़ी। पहली बार उसने यह महसूस किया कि उसकी भी अहमियत है और उसको नज़रंदाज़ नहीं या सकता। अब सरकार कोई अनजान दैत्य की तरह नहीं रही थी जिसे ऐसे सरकारी अफ़सरों की अनगिनती तहों ने उससे अलग कर रखा हो और जिस पर असर डालना तो दूर रहा जिस तक आसानी से पहुंचा भी नहीं जा सकता था और जिसके अफ़सर उसको ज़्यादा-से-ज़्यादा चूसने पर तुले हुए थे। सत्ता के आसन पर अब उन लोगों का क़ब्ज़ा था जिनको उसने अक्सर देखा था सुना था और जिनसे उसने बातचीत की थी कभी-कभी ये लोग साथ-साथ जेल में भी रहे थे और उनमें आपस में साथियों की-सी भावना थी।

सूबों की सरकारों के ख़ास केंद्रों में पुरानी हुकूमत के गढ़ों में कई प्रतीकात्मक दृश्य देखे गये। प्रांतीय सचिवालय इनका नाम था और वहीं सारे बड़े-बड़े दफ़्तर थे और यह जगह बहुत ऊंची और लोगों की पहुंच से परे समझी जाती थी। यहां से ऐसे हुक्म हुक्म निकलते थे जिनको कोई चुनौती नहीं दे सकता था। पुलिस के आदमी या लाल वर्दीवाले अरदली जिनकी कमर की पटरियों में चमकती हुई कटारें लटकती थीं इन पर पहरा देते थे और सिर्फ़ वे लोग जो ख़ुशक़िस्मत थे या बहुत साहसी थे और या जो बहुत बड़ी सिफ़ारिशोंवाले थे इनको पारकर अंदर पहुंच सकते थे। अब अचानक ही गांव के और शहर के झुंड-के-झुंड लोग इन पवित्र हॉलों में घुसने और जहां मन चाहा घूमते। उनकी हर एक चीज़ में

दिलचस्पी थी वे असेंबली चेंबर में गये जहां मेंबर लोग काम-काज करते थे उन्होंने मंत्रियों के कमरों में भी नजर डाली। उनको रोकना मुश्किल था क्योंकि वे अपने-आपको बाहर का नहीं समझते थे और हालांकि यह उनके लिए बहुत जटिल था और उनको समझना मुश्किल था फिर भी उनमें एक स्वामित्व की भावना थी। पुलिस के आदमी और चमकती हुई स्टारोंवाले अरदली पहरूए थे पुराने मापदंड गिर गये थे यूरोपीय पोशाक की जो ओहदे और हुकूमत की निशानी थी अब अहमियत नहीं थी। असेंबली के मेंबरों और शहर और देहात से आने वाले आदमियों में छांट करना मुश्किल था। अक्सर उन लोगों की पोशाक एक-सी ही होती थी। आमतौर पर हाथ का कता-बुना हुआ कपड़ा होता था और सिर पर सुपरिचित गांधी-टोपी होती थी।

पंजाब और बंगाल में जहां मंत्रिमंडल कई महीने पहले बन चुके थे दूसरी ही हालत थी। वहां की रफ्तार में कोई रुकावट नहीं पैदा हुई और तबदीली बिलकुल खामोशी से हुई थी और जिंदगी के ढंग में कोई भी फर्क नहीं हुआ था। खासतौर से पंजाब में पुराना रवैया जारी था और ज्यादातर मंत्री नये नहीं थे। वे पहले भी ऊंचे अफसर रह चुके थे और अब भी थे। उनमें और ब्रिटिश हुकूमत में कोई भी संघर्ष या तनातनी नहीं थी क्योंकि राजनैतिक नजर से वही हुकूमत सबसे ऊंची थी।

नागरिक स्वतंत्रता और राजनैतिक क़ैदियों के सिलसिले में कांग्रेसी सूबों और पंजाब और बंगाल में जो फ़र्क़ था वह फ़ौरन ही जाहिर हो गया। पंजाब और बंगाल दोनों ही सूबों में पुलिस और खुफ़िया विभाग के राज में किसी तरह की ढील नहीं हुई और न राजनैतिक क़ैदियों को छुटकारा ही मिला। बंगाल में जहां मंत्रिमंडल अक्सर यूरोपीय वोटों के सहारे चलता था इन सबके अलावा हज़ारों नज़रबंद थे यानी ऐसे स्त्री और पुरुष जिनको अनिश्चित काल के लिए बिना मुकदमा चलाये ही जेल में बरसों से बंद कर रखा गया था। इसके बर-अक्स कांग्रेसी सूबों में जो सबसे पहला क़दम उठाया गया उससे राजनैतिक क़ैदियों की रिहाई हुई। इनमें से कुछ लोगों के मामलों में जो हिंसात्मक कार्रवाइयों के लिए क़ैद किये गये थे गवर्नरों के अ-सहमत होने की वजह से देरी हुई। इसी मामले पर १९३८ के शुरू में बात बहुत बढ़ गई, और दो कांग्रेसी सरकारों ने (संयुक्त प्रांत और बिहार में) अपने इस्तीफे भी पेश कर दिये। इस पर गवर्नर ने अपना विरोध वापस लिया और क़ैदी छोड़ दिये गये।

## ४ हिंदुस्तान में ब्रिटिश-अनुदारता बनाम भारतीय गतिशीलता

नई प्रांतीय असेंबलियों में देहाती हलकों की नुमाइंदगी बहुत ज्यादा थी और इसका लाज़िमी नतीजा यह हुआ कि उन सब में कृषि-संबंधी सुधारों की मांग हुई। स्थायी बंदोबस्त और दूसरे कारणों से बंगाल में काश्तकारों की हालत सब जगह से ज्यादा खराब थी। उनके बाद उन सब बड़े बड़े सूबों का नंबर था जहां ज़मींदारी-प्रथा थी। इनमें खास सूबे थे बिहार और संयुक्त प्रांत। उसके बाद वे सूबे थे जहां शुरू में काश्तकार को खुद ज़मीन का मालिक बनाया गया था लेकिन जहां बड़ी-बड़ी ज़मींदारियां भी बन गई थीं। ये सूबे थे मद्रास बंबई और पंजाब। बंगाल में हर कारगर सुधार के रास्ते में स्थायी बंदोबस्त की अड़चन थी। करीब-करीब सभी आदमी इस मामले में एकमत हैं कि स्थायी बंदोबस्त खत्म हो जाना चाहिए यहां तक कि एक सरकारी कमीशन ने भी इसको खत्म करने की सिफारिश की है लेकिन निहित स्वार्थोंवाले ऐसा इंतज़ाम करते हैं कि यह तब्दीली रुक जाती है या उसमें देर हो जाती है। इस मामले में पंजाब खुशकिस्मत रहा क्योंकि उसके पास नई ज़मीन थी।

कर्ज़ की समस्या पर भी प्रहार किया गया। इसी तरह कारखानों में मज़दूरों की हालत, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफ़ाई, स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं, प्रारंभिक और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा, दस्तकारी, उद्योग, ग्रामोन्नति आदि दूसरे मसलों को सुलझाया गया। पहली सरकारों ने इन सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं को भुला दिया था और ध्यान से उतार दिया था। उनका काम तो पुलिस और कर-वसूली विभाग को कुशल बनाना था और वे बाक़ी विभागों को अपने ढंग से चलने की इजाज़त देती थीं। कभी-कभी थोड़ी-सी कोशिश की गई थी और कमीशनों और जांच-कमेटियों की नियुक्ति की गई थी और ये बरसों के सफ़र और मशक्कत के बाद लंबी-चौड़ी रिपोर्टें तैयार करतीं। तब ये रिपोर्टें अपनी-अपनी दराज़ों में रख दी जातीं और उन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाती। यही नहीं बल्कि बार-बार सार्वजनिक मांग के होते हुए भी सही और पूरे आंकड़े भी इकट्ठे नहीं किये गए थे। किसी भी दिशा में प्रगति करने के मामले में इन आंकड़ों की कमी और पूरी-पूरी ख़बर के अभाव से बड़ी भारी रुकावट रही है। इस तरह आम हुकूमती काम के अलावा प्रांतीय सरकारों के सामने काम का पहाड़ था जो बरसों की लापरवाही का नतीजा था और हर तरफ़ ऐसी समस्याएं थीं जिन पर फ़ौरन ध्यान देना ज़रूरी था। पुलिस सरकार को बदलकर जन-निर्वाचित सरकार बनाना था। एक तो वैसे ही यह काम कोई आसान काम नहीं था फिर उनके महदूद अधिकारों की वजह से लोगों की ग़रीबी की वजह से और प्रांतीय और केंद्रीय सरकार के (जो वाइसराय के मातहत पूरी तरह स्वेच्छाचारी और तानाशाही थी) जुदा दृष्टिकोण होने की वजह से यह काम और भी ज़्यादा मुश्किल हो गया।

इन सब ख़ामियों और रुकावटों को हम जानते थे और हम अपने दिल में यह महसूस करते थे कि जबतक हालतों में जड़ से तबदीली न आये तबतक हम ज़्यादा बड़ा काम नहीं कर सकते थे और इसीलिए आज़ादी की प्रबल इच्छा थी फिर भी आगे बढ़ने की लालसा हममें भरी हुई थी और हमारी ख़्वाहिश थी कि दूसरे देशों को जो कई रूप से आगे बढ़े हुए थे हम दौड़कर पकड़ लें। संयुक्त राज्य अमरीका हमारे सामने था और यही नहीं कुछ पूर्वी देश भी थे जो तेज़ी से आगे बढ़ रहे थे। लेकिन हमारे सामने जो सबसे बड़ी मिसाल थी वह थी सोवियत संघ की जिसने लड़ाई, आंतरिक संघर्ष और असम्भव प्रतीत होनेवाली कठिनाइयों से भरे बीस बरसों के अंदर ही बड़ी भारी तरक्क़ी की थी। साम्यवाद की तरफ़ कुछ लोग खिंचे और कुछ लोग नहीं भी खिंचे थे लेकिन सब लोग

## ४ हिंदुस्तान में ब्रिटिश-अनुदारता बनाम भारतीय गतिशीलता

नई प्रांतीय असेंबलियों में देहाती इलाकों की नुमाइंदगी बहुत ज्यादा थी और इसका लाजिमी नतीजा यह हुआ कि इन सब में कृषि-संबंधी सुधारों की मांग हुई। स्थायी बंदोबस्त और दूसरे कारणों से बंगाल में काश्तकारों की हालत सब जगह से ज्यादा खराब थी। इसके बाद इन सब बड़े बड़े सूबों का नंबर था जहां जमींदारी-प्रथा थी। इनमें खास सूबे थे बिहार और संयुक्त प्रांत। इसके बाद वे सूबे थे जहां मूल में काश्तकार को खुद जमीन का मालिक बनाया गया था लेकिन जहां बड़ी-बड़ी जमींदारियां भी बन गई थीं। ये सूबे थे मद्रास बंबई और पंजाब। बंगाल में हर कारगर सुधार के रास्ते में स्थायी बंदोबस्त की अड़चन थी। करीब-करीब सभी आदमी इस मामले में एकमत हैं कि स्थायी बंदोबस्त खत्म हो जाना चाहिए यहांतक कि एक सरकारी कमीशन ने भी इसको खत्म करने की सिफारिश की है लेकिन निहित स्वार्थोंवाले ऐसा इंतजाम करते हैं कि यह तब्दीली रुक जाती है या उसमें देर हो जाती है। इस मामले में पंजाब खुशकिस्मत रहा क्योंकि उसके पास नई जमीन थी।

कर्ज की समस्या पर भी प्रहार किया गया। इसी तरह कारखानों में मजदूरों की हालत सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई, स्थानीय स्वराज्य-संस्थाओं प्रारंभिक और विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा साक्षरता उद्योग ग्रामोन्नति आदि दूसरे मसलों को सुलझाया गया। पहली सरकारों ने इन सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं को भुला दिया था और ध्यान से उतार दिया था उनका काम तो पुलिस और कर-वसूली विभाग को कुशल बनाना था और वे बाकी विभागों का अपने ढंग से चलने की इजाजत देती थीं। कभी-कभी थोड़ी-सी कोशिश की गई थी और कमीशनों और जांच-कमेटियों की नियुक्ति की गई थी और ये बरसों के सफ़र और मेहनत के बाद लंबी चौड़ी रिपोर्टें तैयार करतीं। तब वे रिपोर्टें अपनी-अपनी दराजों में रख दी जातीं और उन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाती। यही नहीं बल्कि बार-बार सार्वजनिक मांग के होते हुए भी सही और पूरे आंकड़े भी इकट्ठे नहीं किये गये थे। किसी भी दिशा में प्रगति करने के मामले में इन आंकड़ों की कमी और पूरी-पूरी खबर के अभाव से बड़ी भारी रुकावट रही है। इस तरह आम हुकूमती काम के अलावा प्रांतीय सरकारों के सामने काम का पहाड़ था जो बरसों की लापरवाही का नतीजा था और हर तरफ़ ऐसी समस्याएं थीं जिन पर फ़ौरन ध्यान देना जरूरी था। पुलिस-सरकार को बदलकर जन-निर्वाचित सरकार बनाना था। एक तो वैसे ही यह काम कोई आसान काम नहीं था फिर उनके महदूद अधिकारों की वजह से लोगों की गरीबी की वजह से और प्रांतीय और केंद्रीय सरकार के (जो वाइसराय के मातहत पूरी तरह स्वेच्छाचारी और तानाशाही थी) जुदा दृष्टिकोण होने की वजह से यह काम और भी ज्यादा मुश्किल हो गया।

इन सब खामियों और रुकावटों को हम जानते थे और हम अपने दिल में यह महसूस करते थे कि जबतक हालतों में जड़ से तबदीली न आये तबतक हम ज्यादा बड़ा काम नहीं कर सकते थे और इसीलिए आजादी की प्रबल इच्छा थी फिर भी आगे बढ़ने की लालसा हममें भरी हुई थी और हमारी ख्वाहिश थी कि दूसरे देशों को जो कई ढंग से आगे बढ़े हुए थे हम दौड़कर पकड़ लें। संयुक्त राज्य अमरीका हमारे सामने था और यही नहीं कुछ पुराने देश भी थे जो तेजी से आगे बढ़ रहे थे। लेकिन हमारे सामने जो सबसे बड़ी मिसाल थी वह थी सोवियत संघ की जिसने लड़ाई, आंतरिक संघर्ष और अजय्य प्रतीत होनेवाली कठिनाइयों से भरे बीस बरसों के अंदर ही बड़ी भारी तरक्की की थी। साम्यवाद की तरफ़ कुछ लोग खिंचे और कुछ लोग नहीं भी खिंचे थे लेकिन सब लोग

शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य-प्रबंध, शरीर-रक्षा और राष्ट्रीयताओं के मसलों के हल के बारे में सोवियत संघ की प्रगति से वाक़िफ़ हुए थे। वे लोग पुराने पचड़ों से, सोवियत संघ के एक नये संसार बनाने के आश्चर्य-पूर्ण भगीरथ प्रयत्न से प्रभावित थे। यहांतक कि भी रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जो बहुत ज़्यादा व्यक्तिवादी थे और जो साम्यवाद के कुछ पहलुओं से खुश नहीं थे, इस नई सभ्यता के प्रशंसक बन गये और उन्होंने अपने देश की मौजूदा अवस्था के साथ उसका मिलान किया। अपने आख़िरी संदेश में जो उन्होंने मृत्यु-शैया से दिया था, उन्होंने सोवियत रूस की उस लगन और उसकी बाग़हा कोशिशों की चर्चा की "जिससे उसने रोग और निरक्षरता का मुक़ाबला किया और अज्ञान और निर्धनता को मिटाने में कामयाबी हासिल की और एक महादेश के मुंह पर से हीनता की भावना को मिटा दिया। उसकी सभ्यता वर्गों और मतों के आपस के भेद-भावों से बिलकुल मुक्त है। उसकी तेज़ और आश्चर्यपूर्ण प्रगति से मुझे एक साथ ही प्रसन्नता और ईर्ष्या दोनों हुई। जब मैं दूसरी जगह दो ऐसी राष्ट्रीयताएं देखता हूं, जो कुछ बरस पहले ही विकास के जुदा-जुदा स्तरों पर थीं और जो अब एक साथ प्रेमपूर्वक आगे बढ़ रही हैं, और जब मैं अपने देश की तरफ़ देखता हूं, जहां विकसित और बुद्धिमान मनुष्य बर्बरता के बहाव में बह रहे हैं, तो मुझे विवश होकर दोनों जगहों की सरकारों का फ़र्क़ दिखाई देता है—एक सहयोग के सहारे चलती है और दूसरी की बुनियाद शोषण पर है और इसी वजह से यह भेद-भाव मुमकिन है।"

अगर दूसरे लोग यह कर सकते हैं तो हम क्यों नहीं कर सकते? हमें अपनी सामर्थ्य में, अपनी बुद्धि में, अपनी लगन में, अपनी सहनशीलता में और सफलता में भरोसा था। हम अपनी मुश्किलों को, अपनी ग़रीबी और पिछड़ेपन को, अपने प्रतिक्रियावादी दलों और वर्गों को और आपसी फ़र्क़ों को जानते थे, फिर भी हम उनका सामना कर उन्हें जीत सकते थे। हम जानते थे कि क़ीमत बहुत महंगी है, फिर भी हम उसे देने के लिए तैयार थे, क्योंकि अपनी मौजूदा हालत में जो क़ीमत हम रोज़ाना चुका रहे थे, उससे ज़्यादा और कोई क़ीमत नहीं हो सकती थी। लेकिन हम अपनी नई समस्याओं का हल किस तरह शुरू करते, जब हर क़दम पर ब्रिटिश राज्य और ब्रिटिश आधिपत्य की समस्या का हमको सामना करना पड़ता और जो हमारे हर प्रयत्न का बहिष्कार कर देता?

फिर भी चूंकि इन सूबों की सरकारों में हमारे लिए अवसर था (चाहे वह कितना ही सीमित और संकुचित क्यों न हो) हम उससे पूरा-पूरा

फ़ायदा उठाना चाहते थे। लेकिन हमारे मंत्रियों के लिए यह बड़ा ही तोड़नेवाला काम था। वे बेहद काम और जिम्मेदारी से घिरे हुए थे क्योंकि न तो उनमें सामंजस्य था और न समान दृष्टिकोण था। बदकिस्मती से इन मंत्रियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। उनसे यह उम्मीद की जाती थी कि वे सादा रहन-सहन की और सार्वजनिक खर्च में किफ़ायत की मिसाल पेश करेंगे। उनकी तनख्वाहें थोड़ी थीं और एक विचित्र दृश्य दिखाई देता कि उस मंत्री के सेक्रेटरी या दूसरे मातहत लोग जो इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य थे तनख्वाह और भत्ता मिलाकर इतना रुपया पाते थे जो मंत्रियों के वेतन से चार या पांच गुना था। हम लोग सिविल सर्विसवालों की तन ख्वाह में हाथ भी नहीं लगा सकते थे। यहीं नहीं रेल से मंत्री दूसरे या कभी कभी तीसरे दरजे में सफ़र करता जबकि उसका सहकारी उसी गाड़ी में पहले दरजे में या ठाठ के साथ रिज़र्व डिब्बे में सफ़र करता!

अक्सर यह कहा गया है कि केंद्रीय कांग्रेस-कार्यकारिणी ने ऊपर से हुक्म जारी करके इन सूबों की सरकारों के काम में बराबर दखल दिया। यह बिलकुल ग़लत बात है। अंदरूनी इंतज़ाम में कोई भी हस्तक्षेप नहीं था। कांग्रेस-कार्यकारिणी जो चीज़ चाहती थी वह यह थी कि सारे बुनियादी राजनैतिक मामलों में सब सूबों की सरकारों की एक-सी नीति हो और वह कांग्रेसी कार्यक्रम जो चुनाव के घोषणा-पत्र में रखा गया था जहांतक मुमकिन हो आगे बढ़ाया जाय। खासतौर से गवर्नरों और हिंदुस्तान सरकार के प्रति इनकी नीति एक-सी होती थी।

केंद्रीय सरकार में जो अब भी बिलकुल ग़ैर-जिम्मेदार और ताना शाही थी कोई रद्दो-बदल किये बिना प्रांतीय स्वशासन का कार्यक्रम चालू करने का एक स्वाभाविक नतीजा यह था कि प्रांतीयता और भेद की तरक्की हो और इस तरह हिंदुस्तानी एकता की भावना कम हो। तोड़-फोड़वाले हिस्सों और प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने की अपनी नीति को आगे बढ़ाते वक्त शायद यह बात ब्रिटिश सरकार के ध्यान में थी। हिंदुस्तान-सरकार, जो न तो हटाई जा सकती थी और जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की पुरानी परिपाटी की नुमाइंदगी करती थी अब चट्टान की तरह मज़बूती के साथ जमी हुई थी और हर सूबे की सरकार के साथ उसकी एक-सी नीति थी। नई दिल्ली और शिमला की हिदायतों के मुताबिक़ गवर्नर भी उसी तरह काम करते थे। यदि कांग्रेसी सूबों की सरकारों की प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई होती और सबकी अपनी निजी नीति होती तो उनका क़िस्सा अलग-अलग खतम कर दिया जाता। इसलिए यह लाज़िमी था कि

ये सूबों की सरकारें एक साथ रहें और हिंदुस्तान-सरकार के सामने एक मिला-जुला मोर्चा लें। दूसरी तरफ खुद हिंदुस्तान-सरकार भी इस बात की फ़िक्र में थी कि इनका आपसी सहयोग टूट जाय और वह हर सूबे की सरकार से अलग-अलग निबटना चाहती थी और वह दूसरी जगह मिलते-जुलते मसलों का ज़िक्र भी नहीं उठाना चाहती थी।

अगस्त १९३७ में सूबों की कांग्रेसी सरकारों के क़ायम होने के बाद फ़ौरन ही कांग्रेस-कार्य समिति ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया

'कार्य-समिति कांग्रेसी मंत्रियों से इस बात की सिफ़ारिश करती है कि वे विशेषज्ञों की एक कमेटी नियुक्त करें जो उन ज़रूरी और अहम मसलों पर ग़ौर करे जिनका हल राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और सामाजिक आयोजन की किसी भी योजना के लिए ज़रूरी है। इस हल के लिए व्यापक सर्वे करनी होगी और आंकड़े इकट्ठे करने होंगे और साथ ही एक सुस्पष्ट और सुनिश्चित सामाजिक आदर्श ज़रूरी होगा। इनमें से बहुत-से मसलों का प्रांतीय आधार पर पूरा-पूरा हल नहीं होगा क्योंकि एक-दूसरे से लगे हुए प्रांतों के हित आपस में गुथे-मिले हैं। नदियों की विस्तृत सर्वे करना है ताकि ऐसी नीति निर्धारित हो सके कि विनाशकारी बाढ़ें रोकी जा सकें और उनके पानी से सिंचाई के काम में फ़ायदा उठाया जा सके, ज़मीन के कटाव का मसला सोचा जा सके, मलेरिया रोका जा सके और पानी से बिजली पैदा करने की या ऐसी ही और दूसरी योजनाओं पर ग़ौर हो सके। इस मकसद के लिए सारी नदी-घाटी की जांच और सर्वे हो और बड़े पैमाने पर सरकारी तौर से योजना बने। उद्योग-धंधों की तरक्की और नियंत्रण के लिए कितने ही सूबों का मिल-जुलकर एक साथ काम करना ज़रूरी है। इसलिए कार्य-समिति यह सलाह देती है कि पहले विशेषज्ञों की अन्तर्प्रांतीय कमेटी नियुक्त की जाय जो समस्याओं की साधारण प्रकृति पर ग़ौर करे और वह अपनी राय ज़ाहिर करे कि किस तरह और किस ढंग से उनको हल करने के लिए आगे बढ़ा जाय। विशेषज्ञों की यह कमेटी अलग-अलग समस्याओं के लिए अलग-अलग कमेटी या बोर्ड नियुक्त करने की सलाह दे सकती है और ये कमेटियां सम्बन्धित प्रांतीय सरकारों को मिल-जुलकर काम करने और कार्यक्रम के सबंध में सलाह दे सकती हैं।'

इस प्रस्ताव से उस सलाह की झलक मिलती है जो किसी वक्त सूबों की सरकारों को दी गई थी। इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में सूबों की सरकारों में आपसी सहयोग

बढ़ाने के लिए कांग्रेस-कार्यसमिति कितनी ख्वाहिशमंद थी। हालांकि सलाह कांग्रेसी सरकारों के नाम दी गई थी फिर भी वह सिर्फ उन्हीं तक सीमित नहीं थी। नदियों की विस्तृत सर्वे में सूबों की सीमाएं टूट जाती थीं गंगा नदी की घाटी की सर्वे और गंगा-नदी-कमीशन नियुक्त करना उसी वक्त संभव था जब तीन प्रांतीय सरकारें, यानी संयुक्त प्रांत बिहार और बंगाल एक-दूसरी का साथ दें। इस काम का बहुत महत्त्व है और आज भी यह करना बाकी है।

इस प्रस्ताव से यह भी जाहिर है कि कांग्रेस बड़े पैमाने पर उठाई गई सरकारी योजना को कितना महत्त्व देती है। जबतक केंद्रीय सरकार लोक-प्रिय नियंत्रण में नहीं थी और जबतक सूबों की सरकारों पर से बेड़ियां नहीं हटती थीं तबतक इस तरह की योजना बनाना असंभव था। फिर भी हमें ऐसी उम्मीद थी कि कुछ जरूरी प्रारंभिक कार्य किया जा सकता है और भविष्य की योजनाओं की बुनियाद रखी जा सकती है। १९३८ के आखिरी महीनों में नेशनल प्लानिंग कमेटी (राष्ट्रीय आयोजना समिति) बनी और मैं उसका सभापति हुआ।

मैं अकसर कांग्रेसी सरकारों के काम की आलोचना करता और उनकी प्रगति के धीमेपन पर झुंझलाता। लेकिन अब सिंहावलोकन करते हुए, उनके कारनामों पर, जो उन्होंने सवा दो साल के छोटे-से अरसे में दिखाये मैं आश्चर्य में पड़ जाता हूं। उनके ये कारनामे उन अनगिनत मुश्किलों के बावजूद थे जो उन्हें बराबर घेरे रहती थीं। बदकिस्मती से उनके कुछ अहम कामों का नतीजा नहीं निकल पाया क्योंकि जिस वक्त वह पूरा होने को था उन लोगों ने इस्तीफा दे दिया और बाद में उनके वारिस से यानी ब्रिटिश गवर्नर ने उस काम को ढहा दिया। खेतिहर और मजदूर दोनों ही तरह की जनता को फायदा हुआ और उनकी ताकत बढ़ गई। एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और गहरी उपलब्धि यह थी कि बुनियादी शिक्षा नाम की एक व्यापक शिक्षा-प्रणाली को शुरू कर दिया गया। इसकी बुनियाद सिर्फ शिक्षा के नवीनतम सिद्धांत पर ही नहीं थी बल्कि हिंदुस्तानी हालतों के लिए यह खासतौर से मौजूं थी।

हर एक निहित स्वार्थ ने प्रगतिशील परिवर्तन के रास्ते में अड़चनें डालीं। कानपुर के सूती कपड़े के कारखानों में मजदूरों की हालतों के सिलसिले में जांच करने के लिए संयुक्त प्रांतीय सरकार ने एक कमेटी मुकर्रर की। इस कमेटी के साथ मिल-मालिकों ने (खासकर यूरोपीय लोगों ने वैसे तो उनमें कुछ हिंदुस्तानी भी शामिल थे) ज्यादा-से-ज्यादा अशिष्ट

बरताव किया और उन्होंने बहुत-सी बातें और आंकड़े बताने से इन्कार कर दिया। मजदूरों को बहुत अरसे से मिल-मालिकों और सरकार के संगठित विरोध का सामना करना पड़ा था और पुलिस मिल-मालिकों की मदद को हमेशा तैयार रहती थी। इसलिए इस नीति में कांग्रेसी सरकारों ने जो रद्दो-बदल की वह मिल-मालिकों को नागवार मालूम हुई। श्री बी० शिवराव जिन्हें हिंदुस्तान में मजदूर आंदोलन का लंबा तजुरबा है और जो उसके उदार पक्ष के हैं हिंदुस्तान में मिल-मालिकों की बाबत के बारे में लिखते हैं—'हड़ताल के मौक़ों पर मिल-मालिकों में जो औचित्य-अभाव और कार्य-क्षमता दिखाई देती है और जिस तरह पुलिस की मदद ली जाती है, उस पर उन लोगों को जो हिंदुस्तानी परिस्थितियों से अपरिचित हैं, विश्वास नहीं होगा। ज्यादातर देशों की सरकार, अपने गठन के कारण मिल-मालिकों की तरफ़ झुकी हुई है।श्री शिवराव बताते हैं कि हिंदुस्तान में इसकी एक खास वजह और है—"व्यक्तिगत पक्षपात के अलावा कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदुस्तान में हाकिमों में इस बात का डर सवार रहता है कि यदि ट्रेड यूनियनों को बढ़ने का मौक़ा दिया जाय, तो यह लोकव्यापी जागृति में सहायक होगा और भारत में राजनीतिक संघर्ष के समय-समय पर असहयोग तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन की शक्ल में उभरते रहने की वजह से उन लोगों ने शायद यह महसूस किया कि इस हालत में जन संगठन के सिलसिले में कोई जोखिम उठाना मुनासिब नहीं है।

सरकार नीति निश्चित करती है विधानमंडल क़ानून बनाते हैं लेकिन इस नीति को अमल में लाना और इन क़ानूनों को लागू करना आखिर में स्थायी सेवाओं और इंतजामी महकमों पर निर्भर होता है। प्रांतीय सरकारों को इस तरह लाजिमी तौर पर स्थायी सेवाओं और खास तौर से इंडियन सिविल सर्विस और पुलिस पर भरोसा करना पड़ता था। ये सेवाएं एक तानाशाही की और जुदा परंपरा में पली थीं और व इस नये वातावरण को और जनता की अपने अधिकारों पर जोर देने की प्रवृत्ति को नापसंद करती थीं। उन्हें यह बात नापसंद थी कि उनकी निजी अहमियत कम हो और वे उन लोगों के मातहत हों जिनको वे गिर फ्तार करने और जेल भेजने के आदी थे। शुरू-शुरू में तो उनमें शंकाएं उपजीं कि न जाने क्या होगा। लेकिन कोई खास क्रांतिकारी बात नहीं हुई, और धीरे-धीरे वे अपने पुराने ढर्रे पर जम गये। मंत्रियों के लिए उन लोगों

---

बी० शिवराव : 'दि इंडस्ट्रियल वर्कर इन इंडिया' (लंदन १९३९)

के काम में दखल देना आसान नहीं था और कुछ खास हालतों में साफ़ सबूत होने पर ही वे ऐसा कर सकते थे। सेवाओं का एक घनिष्ठ संगठन था और अगर किसी आदमी का तबादला किया जाता तो उसकी जगह आनेवाला आदमी भी संभवतः उसी ढंग से काम करता। सेवाओं की पुरानी प्रतिक्रियावादी और निरंकुश मनोवृत्ति को अचानक ही पूरी तरह बदलना नामुमकिन था। कुछ लोग बदल सकते थे कुछ नई हालतों से मेल बिठाने की कोशिश कर सकते थे लेकिन उनकी एक बहुत ही बड़ी तादाद दूसरे ही ढंग से सोचती थी और हमेशा एक दूसरे ही ढंग से काम करती आई थी। उनमें अचानक ही ऐसा महान परिवर्तन कैसे हो सकता था और वे एकदम एक नई परंपरा के कट्टर हामी कैसे हो सकते थे? ज्यादा-से-ज्यादा उनकी एक जड़ और निश्चेष्ट निष्ठा हो सकती थी मसमियत के बमूजिब इस नये काम में उनका कोई खास उत्साह हो ही नहीं सकता था क्योंकि एक तो उनका उसमें विश्वास ही नहीं था और दूसरे, उससे उनके निजी निहित स्वार्थों को भी धक्का लगता था। बदकिस्मती से आमतौर पर इस निश्चेष्ट निष्ठा का भी अभाव था।

सिविल सर्विस के बड़े सदस्यों में जो अरसे से तानाशाही के ढंग और निरंकुश शासन के आदी थे एक ऐसी भावना थी कि ये मंत्री लोग और असेंबली के मेंबर एक ऐसे मैदान में दखल देनेवाले हैं जो बिलकुल उन्हीं (सिविल सर्विसवालों) के लिए रिज़र्व हो चुका है। यह पुरानी धारणा कि ये स्थायी सेवाएं और खासतौर से उनका ब्रिटिश अंग ही हिंदुस्तान था और बाकी सब तो महत्वहीन और फालतू था गहरी जमी हुई थी। इन नये आदमियों को बरदाश्त करना आसान नहीं था और फिर उनसे हुक्म लेना तो और भी ज्यादा मुश्किल था। उनको ऐसा महसूस हुआ जैसा किसी कट्टर हिंदू को उस वक्त महसूस होता है, जब अछूत उसके निजी मंदिर के पवित्र स्थानों में जबरदस्ती घुस आते हैं। जातीय बड़प्पन और धाक की इमारत जो इतनी मेहनत से तैयार की गई थी और जो उनके लिए मज़हब-जैसी चीज बन गई थी अब चटक रही थी। ऐसा कहा जाता है कि चीनियों का 'चेहरे' में बहुत विश्वास होता है फिर भी मुझे इस बात में शक है कि 'चेहरे' के प्रति उनकी इतनी ममता होगी जितनी हिंदुस्तान में रहनेवाले ब्रिटिश लोगों की है। इन लोगों के लिए यह व्यक्तिगत जातीय या राष्ट्रीय शान की ही चीज नहीं है उसका उनके राज्य और निहित स्वार्थों से भी घनिष्ठ संबंध है।

फिर भी इन हस्तक्षेप करनेवालों को उन्हें बरदाश्त करना था लेकिन

ज्यों-ज्यों खतरे की भावना दूर हटती गई वह सहनशीलता भी धीरे धीरे कम होती गई। हुकूमत के हर विभाग में यह रुख समाया हुआ था और राजधानी से दूर जिलों में तो यह खासतौर से जाहिर था—खास तौर से उन महकमों में जो शांति और व्यवस्था से संबंधित थे और जिनके सिलसिले में जिला मजिस्ट्रेट और पुलिस को खास हक हासिल थे। नाग-रिक स्वतंत्रता पर कांग्रेसी सरकारों के जोर देने की वजह से मुकामी हाकिमों को बहाना मिल गया और उन्होंने ऐसी चीजें होने दीं जिनके लिए आम-तौर पर कोई भी सरकार इजाजत नहीं देती। असल में मुझे तो इस बात का पक्का यकीन है कि मौकों पर तो इन अवांछनीय घटनाओं के लिए मुकामी हाकिमों या पुलिस से बढ़ावा मिला। जो बहुत-से फिरकेवार झगड़े हुए उनकी बहुत-सी वजहें थीं लेकिन यह बात है कि हर मौके पर मजिस्ट्रेट और पुलिस निर्दोष नहीं थे। तजुरबे से यह बात मालूम हुई कि मौके पर कुशलता से और फुर्ती से काम लेने से झगड़ा खत्म हो गया। जो चीज हमको बार-बार देखने को मिली वह एक हैरतअंगेज काहिली थी। उन मौकों पर जान-बूझकर अपने फर्ज की अदायगी को टाल दिया जाता था। यह बात साफ हो गई कि उनका उद्देश्य कांग्रेसी सरकारों को बदनाम करना था। संयुक्त प्रांत के औद्योगिक नगर कानपुर में मुकामी हाकिमों की बद-इंतजामी और निकम्मेपन की एक खास मिसाल सामने आई और यह बात इत्तफाकन ही हो सकती थी। फिरकेवार झगड़े जिनसे कभी-कभी मुकामी दंगे हो जाया करते थे १९१९ के कुछ पहले के और कुछ बाद के बरसों में नजर आते थे। कांग्रेसी सरकारों के दफ्तर संभालने के बाद कई ढंग से ये बहुत कम हुए। उसकी शक्ल बदल गई, और अब यह निश्चित रूप से राजनैतिक थी और अब जान-बूझकर उसको बढ़ावा दिया जाता था और उसका संगठन किया जाता था।

सिविल सर्विस की एक खास खोहरत थी जिसे खूब उसने फैला रखा था यानी यह कि वह बहुत कार्य-कुशल है। लेकिन यह बात साफ हो गई कि उस सकरे दायरे के काम के अलावा जिसके लिए वह अभ्यस्त थी वह बेबस और निकम्मी थी। लोकतंत्री ढंग से काम करने की उसको शिक्षा नहीं मिली थी और उसको जनता का सहयोग और उसकी सद्भावनाएं नहीं मिल सकती थीं और साथ ही उसे जनता से डर भी था और नफरत भी थी। सामाजिक प्रगति की तीव्रगामी बड़ी योजनाओं का उसको कोई अंदाज नहीं था और वह अपनी कल्पनाहीनता और अपने साहबी ढंग से उनमें सिर्फ अड़चन ही डाल सकती थी। कुछ लोगों को छोड़कर, ऊंचे

तर सेवाओं के अंग्रेज़ों और हिंदुस्तानियों दोनों पर ही यह बात लागू थी। उन नये कामों के लिए, जो उनके सामने थे वे एकदम से गैर-मौजू थे।

वैसे तो जन प्रतिनिधियों में भी बहुत असमानता और बहुत-सी खामियां थीं लेकिन शक्ति और उत्साह से जन-साधारण के संपर्क में यह कमी पूरी हो जाती थी। उन लोगों की ख्वाहिश थी और उनमें यह ताकत थी कि अपनी निजी ग़लतियों से आगे के लिए सबक सीखते। उनमें शक्ति थी छलकती हुई जिंदगी थी समाज का ध्यान था काम को किसी-न-किसी तरह पूरा करने की ख्वाहिश थी। ब्रिटिश शासक-वर्ग और उनके साथियों की उपेक्षा और मनहूसियत से मिलान करते हुए एक विचित्र असाम्य दिखाई देता था। इस तरह हिंदुस्तान में जो परंपराओं का देश था एक व्यंग्य चित्र दिखाई दिया। अंग्रेज़ जो एक सक्रिय समाज के नुमाइंदे की हैसियत से यहां आये थे वे अब निष्क्रिय समाज की अपरिवर्तनशील परंपरा के खास खंभे बन गये थे। हिंदुस्तानियों में ऐसे बहुत-से लोग थे जो नई सक्रिय परंपरा की नुमाइंदगी करते थे और जो सिर्फ़ राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी परिवर्तन करने के लिए उत्सुक थे। हां उन हिंदुस्तानियों के पीछे बड़ी-बड़ी ताकतें काम कर रही थीं जिनका शायद खुद उनको भी पता नहीं था। अभिनय के इस व्यंग्य से यह सचाई ज़रूर ज़ाहिर होती थी कि गुज़रे हुए ज़माने में हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों ने चाहे जो भी रचनात्मक और प्रगतिशील काम किया हो लेकिन अब बहुत अरसे से वह खत्म हो गया है और अब यह हर तरह की तरक्की के लिए रुकावट डालनेवाला है। उनकी अफ़सरी ज़िंदगी का रवैया धीमा था और वे हिंदुस्तान के सामने जो अहम मसले थे उनका हल करने में असमर्थ थे। उनके कथन तक जिनमें कुछ स्पष्टता और दृढ़ता थी अब अस्तित्वहीन अनुपयुक्त और खोखले हुए थे।

एक इस प्रकार का कथन प्रचलित है, जिसका ब्रिटिश अधिकारियों ने प्रचार किया है कि अपनी उच्चतर सेवाओं के ज़रिये ब्रिटिश सरकार हमको स्व-शासन की कठिन और जटिल कला सिखाती रही है। अंग्रेज़ों के यहां आने और हमको शिक्षा देने के हज़ारों बरस पहले हम अपना काम खुद और वह भी काफ़ी कामयाबी के साथ करते आये थे। बेशक हममें कुछ अच्छे गुणों की कमी है जो हममें होने चाहिएं। लेकिन कुछ भूले हुए लोग तो यहांतक कहते हैं कि हमारे अंदर ये कमियां ब्रिटिश हुकूमत के ही दौरान में आ गई हैं। हमारी खामियां चाहे जो हों हमको यह बात साफ़ मालूम देती

थी कि यहां की स्थायी सेवाएं हिंदुस्तान को किसी भी तरक्की की दिशा में ले जाने के लिए बिलकुल असमर्थ हैं। ठीक उन्हीं गुणों ने जो उनमें थे उनको निकम्मा बना दिया था क्योंकि पुलिस राज में जिन गुणों की जरूरत होती है वे उन गुणों से जिनकी प्रगतिशील लोकतंत्री समाज में जरूरत होती है बिलकुल जुदा होते हैं। इससे पहले कि दूसरों को सिखाने की सोचें उनके लिए अपनी शिक्षा को भूल जाना जरूरी था और उनको लेथ[1] नदी में नहाना था ताकि वे अपने विगत काल को बिलकुल भूल जायें।

निरंकुश केंद्रीय सरकारों के नीचे सूबों की लोकप्रिय सरकारों की अजीब स्थिति थी और इस वजह से तरह-तरह की असाम्य स्थिति देखने को मिली। कांग्रेसी सरकारें नागरिक स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए उत्सुक थीं और उन्होंने सूबों के खुफिया विभाग की व्यापक कार्रवाइयों को रोका। इस खुफिया विभाग का खास काम राजनीतिज्ञों का और उन लोगों का जिनको सरकार-विरोधी विचारों का समझा जाता था पीछा करना था। जहां एक तरफ ये कार्रवाइयां रोक दी गईं, वहां शाही (केंद्रीय) खुफिया विभाग बराबर और शायद पहले से भी ज्यादा जोरों के साथ काम करता रहा। सिर्फ हमारे ही खतों पर सेंसर नहीं होता था बल्कि मंत्रियों तक के पत्र-व्यवहार का भी सेंसर होता था लेकिन यह सब चुपचाप होता था और सरकारी-तौर पर मंजूर नहीं किया जाता था। पिछले पच्चीस या इससे भी ज्यादा बरसों से मैंने ऐसा एक भी खत नहीं लिखा जिसको मैंने हिंदुस्तान में डाला हो फिर चाहे उसे हिंदुस्तान भेजना हो या विदेश जिसको लिखते वक्त मुझे यह ध्यान न रहा हो कि यह देखा जायेगा और शायद इसकी नकल भी की जायेगी। टेलीफोन पर बात करते हुए भी मुझे इस बात का ध्यान रहता है कि संभवतः मेरी बातचीत बीच में सुनी जाय। जो खत मेरे पास आते हैं उनको भी सेंसर से गुजरना पड़ा है। इसके मानी ये नहीं हैं कि हमेशा ही और हर खत का सेंसर होता है कभी-कभी सब खतों को देखा गया है और कभी-कभी कुछ चुने हुए खतों को ही। इसका लड़ाई से कोई ताल्लुक नहीं है उस वक्त तो दोहरा सेंसर होता है।

खुशकिस्मती से हम लोगों ने हमेशा खुले में काम किया और हमारी राजनैतिक कार्रवाइयों में छिपाने की कोई भी चीज नहीं रही। फिर भी इस खयाल का बराबर बना रहना कि हमको सुना जायेगा हमारा पीछा किया जायगा और हमारे पत्र-व्यवहार का सेंसर किया जायेगा अच्छा

---

[1] यूनानी गाथाओं में वर्णित नरक की वह नदी, जिसमें नहाने से मृतात्माओं को पिछली बातें भूल जाती हैं।—सं

नहीं लगता उससे झुंझलाहट पैदा होती है और एक तरह की रोक रखनी होती है, जिससे कभी-कभी आपसी रिश्तों पर भी बुरा असर पड़ता है। सेंसर ऊपर से झांक रहा हो तो मन की बात लिखना आसान नहीं होता।

मंत्रियों को बहुत मेहनत करनी होती थी और कुछ की तो तंदुरुस्ती ने साथ छोड़ दिया। उनका स्वास्थ्य गिर गया और उनकी सारी ताक़त ग़ायब हो गई और उनका बिलकुल थका हुआ और मुरझाया हुआ शरीर बाक़ी बच रहा। लेकिन उद्देश्य के प्रति उनकी निष्ठा उनको खींच ले चली और उन्होंने अपने आई सी एस सेक्रेटरियों और उनके सहकारियों से भी खूब काम कराया उनके दफ़्तरों की बिजलियां काफ़ी रात गये तक जलती रहतीं। जब नवंबर, १९३९ में कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़े दिये तो बहुत-से लोगों ने चैन की सांस ली। इसके बाद सरकारी दफ़्तर फिर तीसरे पहर ठीक चार बजे बंद होने लगे और फिर वे उन मठों के कमरों की तरह हो गये जहां खामोशी रहती थी और जहां जन-साधारण का स्वागत नहीं था। ज़िंदगी का पुराना रवैया और उसकी धीमी रफ़्तार फिर आ गई और तीसरे पहर और शाम का वक़्त पोलो टेनिस ब्रिज आदि क्लब के खेलों के लिए खाली रहता। दुःस्वप्न तिरोहित हो गया था और दैनिक व्यापार और खेल-कूद फिर पुराने ढर्रे से चलाये जा सकते थे। यह सच है कि इस वक़्त सिर्फ़ यूरोप में लड़ाई जारी थी और हिटलर के सैनिकों ने पोलैंड को कुचल दिया था। लेकिन यह सब तो एक दूर देश में था। फ़ौजी सिपाही अपना फ़र्ज़ अदा कर रहे थे लड़ रहे थे और मर रहे थे। यहां भी फ़र्ज़ अदा करना था और वह फ़र्ज़ यह था कि गोरे आदमियों के बोझ को शान से और क़ाबलियत से ढोया जाय।

कांग्रेसी सरकारों ने सूबों में थोड़े-से अरसे तक काम किया लेकिन उससे ही हमारी यह धारणा और ज्यादा पक्की हो गई कि हिंदुस्तान में तरक़्क़ी के लिए सबसे बड़ा रोड़ा वह राजनैतिक और आर्थिक ढांचा है जो अंग्रेज़ों ने यहां लाद दिया है। यह भी बिलकुल सच था कि बहुत-सी पुरानी आदतें और सामाजिक रीति-रिवाज प्रगति के लिए बाधक थे और उनको हटाना था। फिर भी हिंदुस्तान की अर्थ-व्यवस्था के विकसित होने की पैदाइशी प्रवृत्ति को इन आदतों और रीति-रिवाजों ने इतना नहीं रोका जितना अंग्रेज़ों के राजनैतिक और आर्थिक बाधक फंदे ने रोका। अगर यह फ़ौलादी ढांचा न होता तो विकास लाज़िमी तौर पर होता और साथ ही बहुत-से सामाजिक परिवर्तन होते और बीते हुए रिवाज वग़ैरह ख़त्म हो जाते। इसीलिए इस ढांचे को हटाने पर ध्यान देना था और

दूसरे मामलों में था ताकि सर्च की बाली भी उससे फायदा नहीं के बराबर था और वह रेगिस्तान में हल चलाने की तरह था। मुझूरे जमाने की अधसामन्ती जमींदारी प्रणाली पर ही उस ढांचे की बुनियाद थी और साथ ही वह ढांचा उस प्रणाली की हिफाजत करता था। ब्रिटिश राजनैतिक और आर्थिक ढांचे में हिंदुस्तान में किसी भी तरह का लोकतंत्र मेल नहीं खाता था और इन दोनों में संघर्ष लाजिमी था। इसलिए १९१७-१९ का आर्थिक लोकतंत्र हमेशा ही संघर्ष के करीब बना रहता। इसलिए ब्रिटिश सरकारी मत यह था कि हिंदुस्तान में लोकतंत्र नाकामयाब रहा क्योंकि वे लाग तो उसको सिर्फ इस पैमाने पर ही देख सकते थे कि उसका उस ढांचे पर उस मूल्यांकन पर और उन निहित स्वार्थों पर, जो उन्होंने बनाए थे क्या असर हुआ। चूंकि जिस लोकतंत्र को वे पसंद कर सकते थे वह दब्बू ढंग का था और जो लोकतंत्र सामने आया उसमें आमूल परिवर्तन करने का इरादा था इसलिए ब्रिटिश ताकत के लिए जो रास्ता बचा वह यही था कि वह फिर से तानाशाही हुकूमत पर आ जाये और लोकतंत्र के सारे दिखावे को खत्म कर दे। इस दृष्टिकोण की वृद्धि और यूरोप में फासिस्ट-मत के जन्म और तरक्की में एक विशेष साम्य है। यहांतक कि वह कानूनी राज्य जिस पर अंग्रेज लोगों को हिंदुस्तान में अभिमान था अब खत्म हुआ और उसकी जगह एक ऐसा बेदा-सा राज किया गया जिसमें आर्डिनेंस और विशेषाधिकारों का राज था।

## ५ अल्पसंख्यकों का सवाल मुस्लिम लीग मोहम्मद अली जिन्ना

पिछले सात बरसों में मुस्लिम लीग की बढ़ती एक असाधारण घटना है। १९०६ में जब यह शुरू हुई, तो अंग्रेजों ने इसको इस इरादे से बढ़ावा दिया कि मुसलमानों की नई पीढ़ी नेशनल कांग्रेस से अलहदा रहे। उसके बाद सामंत तत्त्वों से संचालित यह एक छोटी-सी उच्च-वर्गीय संस्था रही। आम मुस्लिम जनता में इसका कोई असर नहीं था और न वे इसको जानते थे। अपनी बनावट से ही यह एक छोटे-से समुदाय तक सीमित थी और उसके नेतागण स्थायी थे जो अपने स्वामित्व को बनाये रखते थे। इतने पर भी घटनाओं ने और मुसलमानों में मध्यम वर्ग की बढ़ती ने उसको कांग्रेस की तरफ बढ़ेला। पहले महायुद्ध और तुर्की में खिलाफत और मुस्लिम तीर्थ-स्थानों के मसले की वजह से हिंदुस्तान के मुसलमानों पर एक जबरदस्त असर हुआ और वे अत्यंत ब्रिटिश-विरोधी हो गये। मुस्लिम लीग बनी हुई ही इस ढंग से थी कि वह इस जागी हुई और

उत्तेजित जनता का कोई पथ-निर्देश या नेतृत्व नहीं कर सकी। अलस में मुस्लिम लीग में एक घबराहट पैदा हुई और क़रीब-क़रीब वह खत्म हो गई। कांग्रेस के घनिष्ठ सम्पर्क में एक नई मुसलमान संस्था खिलाफ़त कमेटी पैदा हुई। बहुत बड़ी तादाद में मुसलमान कांग्रेस में शरीक हो गए और उसके जरिये काम करने लगे। १९२०-२१ के पहले असहयोग आंदोलन के बाद खुद खिलाफ़त कमेटी भी रफ़्ता-रफ़्ता मिटने लगी क्योंकि अब उसका आधार—तुर्की खिलाफ़त का मामला—ही खत्म हो गया था। राजनैतिक कार्रवाई से मुस्लिम जनता दूर हटने लगी। यह बात हिंदू जनता में भी हुई, लेकिन उसका परिमाण कम था। फिर भी मुसलमानों की खासतौर से बीच के वर्ग के मुसलमानों की बहुत बड़ी तादाद कांग्रेस के जरिये काम करती रही।

इस दौरान में कई छोटी-छोटी मुस्लिम संस्थाएं काम करती रहीं और अकसर उनमें आपस में झगड़े हुए। उन्हें न तो कोई सार्वजनिक सहयोग हासिल था और सिवाय उस अहमियत के जो ब्रिटिश सरकार ने उन्हें दे दी थी न उनकी कोई राजनैतिक अहमियत थी। उनका खास काम था विशेष रियायतों और संरक्षणों की मांग करना। वे चाहते थे कि विधानमंडलों और सेवाओं में मुसलमानों का खास खयाल रखा जाये। यह ठीक है कि इस मामले में वे एक निश्चित मुस्लिम नजरिये की नुमाइंदगी करती थीं क्योंकि शिक्षा सेवाओं और उद्योग में हिन्दुओं के ऊंचे दर्जों और ज्यादा तादाद की वजह से भी मुसलमानों में घबराहट और नाराजी थी। श्री मोहम्मदअली जिन्ना ने भारतीय राजनीति से विदा ली और यही नहीं बल्कि हिंदुस्तान से भी विदा ले ली और वह इंग्लैंड में जाकर बस गये।

सन १९३ के दूसरे सविनय अवज्ञा आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग बहुत काफ़ी था अगरचे वह १९२०-२१ के मुकाबले में कम था। इस आंदोलन के सिलसिले में जिन लोगों को जेल भेजा गया उनमें कम-से-कम दस हजार मुसलमान थे। उत्तरी पश्चिमी सरहदी सूबे ने जो क़रीब क़रीब पूरे तौर से मुस्लिम सूबा है (९५ फ़ी-सदी मुसलमान) इस आंदोलन में एक खास और अहम हिस्सा लिया। यह ज्यादातर खान अब्दुल गफ्फ़ार खां के काम और शख्सियत की वजह से हुआ जो इस सूबे के पठानों के माने हुए और प्रिय नेता थे। मौजूदा वक्त में हिंदुस्तान में जितनी महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं उनमें सबसे ज्यादा अचम्भा अब्दुलगफ्फ़ार खां के उस कमाल पर है जिससे उन्होंने अपने जंगजू और लड़ाकू लोगों को राजनैतिक कार्रवाई के शांतिपूर्ण ढंग सिखा दिये जिसमें बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ती थीं।

तकलीफ़ सचमुच ही बेहद थी और उसकी तीखी याद बनी हुई है फिर भी उनका अनुशासन और आत्म-संयम ऐसा था कि पठानों ने सरकारी ताक़त के ख़िलाफ़ या अपने विरोधियों के ख़िलाफ़ एक भी हिंसा का काम नहीं किया। जिस वक़्त इस बात को ध्यान में रखा जाय कि पठान जो अपनी बंदूक़ को अपने भाई से ज़्यादा प्यार करता है, जो बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाता है और जो थोड़ी-सी उत्तेजना पर मार डालने के लिए मशहूर है तब यह आत्म-अनुशासन एक अचरज की चीज़ मालूम होता है।

अब्दुल गफ़्फ़ार ख़ाँ के नेतृत्व में सरहदी सूबा राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ मज़बूती से जमा रहा और इसी तरह राजनैतिक दृष्टि से जगे हुए मध्यम वर्ग के मुसलमानों ने दूसरी जगहों में भी साथ दिया। किसानों और मज़दूरों में कांग्रेस का असर काफ़ी था। संयुक्त प्रांत-जैसे सूबों में यह असर ख़ासतौर से था क्योंकि वहाँ पर किसानों और मज़दूरों के सिलसिले में बहुत बड़ा कार्यक्रम था। फिर भी यह बात सच थी कि कुल मिलाकर आम मुस्लिम जनता फिर से पुराने मुक़ामी और सामंती नेताओं की तरफ़ मोड़ रही थी। ये नेता उस जनता के सामने हिंदू और दूसरे हितों के ख़िलाफ़ मुस्लिम हितों के रक्षकों के रूप में आये।

साम्प्रदायिक समस्या में अल्पसंख्यकों के अधिकारों का इस तरह मेल बिठाना था कि जिसमें बहुसंख्यकों की कार्रवाई के ख़िलाफ़ उन्हें काफ़ी संरक्षण हो। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान के अल्पसंख्यक यूरोप की तरह जातीय या राष्ट्रीय अल्पसंख्यक नहीं हैं—वे धार्मिक रूप से अल्पसंख्यक हैं। जातीय रूप से हिंदुस्तान में एक अजीब मिश्रण है, लेकिन यहाँ जातीय सवाल न तो उठे हैं और न उठ ही सकते हैं। इन जातीय भिन्नताओं के ऊपर धर्म है जो एक-दूसरे में घुला-मिला हुआ है और उनको अलग-अलग पहचानना अक्सर मुश्किल होता है। ज़ाहिर है धार्मिक दीवारें स्थायी नहीं होतीं क्योंकि एक से दूसरे में धर्म-परिवर्तन हो सकता है और धर्म बदलने से उस आदमी की जातीय पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक और भाषा संबंधी विरासत मिट नहीं सकती। शब्द के असली मानों में धर्म ने हिंदुस्तानी राजनैतिक झगड़ों में क़रीब-क़रीब कोई हिस्सा नहीं लिया है, वैसे इस नाम का अक्सर इस्तेमाल किया जाता है और उससे नाजायज़ फ़ायदा उठाया जाता है। असल मज़हब रूप में धार्मिक मतभेदों से कोई अड़चन नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनमें आपस में बहुत भारी सहनशीलता है। राजनैतिक मामलों में धर्म की जगह साम्प्रदायिकता ने ले ली है। यह वह सकरी मनोवृत्ति है जिसने अपनी बुनियाद किसी धार्मिक गिरोह पर बना ली है लेकिन

जिसका मतलब दरअसल राजनैतिक ताक़त अपने हाथ में कर लेना और अपने समुदाय को बढ़ावा देना है।

कांग्रेस व और दूसरी संस्थाओं ने मुख्तलिफ़ गिरोहों की रज़ामंदी से इस सांप्रदायिक समस्या को हल करने की बार-बार कोशिश की है। कुछ थोड़ी-सी कामयाबी मिली लेकिन एक बुनियादी दुश्वारी थी यानी ब्रिटिश सरकार की मौजूदगी और उसकी नीति। क़ुदरती तौर पर ब्रिटिश लोग किसी ऐसे असली समझौते के पक्ष में नहीं थे जिससे वह राजनैतिक आंदोलन जो अब उनके खिलाफ़ व्यापक हो गया है, मज़बूत हो। एक ऐसी तीन-तरफ़ा स्थिति बन गई थी जिसमें खास रियायतें देकर सरकार एक-दूसरे को लड़ा सकती थी। अगर और पार्टियां काफ़ी अक्लमंद होतीं तो उन्होंने इस रुकावट को भी पार कर लिया होता लेकिन उनमें अक्लमंदी और दूरदर्शिता की कमी थी। जब-जब वे किसी समझौते पर पहुंचनेवाली ही होतीं तभी सरकार कोई ऐसा क़दम उठाती कि संतुलन बिगड़ जाता।

जिस तरह राष्ट्र-संघ (लीग ऑव नेशन्स) ने निश्चित किया था उस तरह अल्पसंख्यकों की हिफ़ाज़त के लिए साधारण प्रबंध करने के सिलसिले में कोई झगड़ा नहीं था। सिर्फ़ उतनी ही नहीं बल्कि उससे कुछ ज्यादा बातें मंज़ूर थीं। धर्म संस्कृति भाषा और व्यक्ति और समुदाय के बुनियादी अधिकारों की रक्षा की जाती और एक ऐसे संविधान में जो बराबरी से सब पर लागू होता बुनियादी संवैधानिक प्राविधानों के ज़रिये ये सुनिश्चित किये जाते। इसके अलावा हिंदुस्तान का सारा इतिहास अल्पसंख्यकों या विभिन्न जातीय समुदायों के प्रति सहनशीलता का ही नहीं बल्कि प्रोत्साहन का साक्षी था। यूरोप में जैसे तीखे धार्मिक झगड़े रहे, और जैसा धार्मिक उत्पीड़न हुआ है उस ढंग की चीज़ हिंदुस्तान के इतिहास में कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसलिए धार्मिक और सांस्कृतिक उदारता और सहनशीलता के विचारों को सीखने के लिए हमको कहीं बाहर नहीं जाना था ये बातें तो हिंदुस्तान की ज़िंदगी में शुरू से थीं। जाती और राजनैतिक अधिकारों के सिलसिले में हम पर फ़्रान्सीसी और अमरीकी क्रांतियों का और साथ ही ब्रिटिश पार्लमेंट के संवैधानिक इतिहास का असर पड़ा था। समाजवादी विचारधारा और सोवियत क्रांति का असर तो बाद में हुआ और उसने हमारी विचारधारा में आर्थिक दृष्टिकोण को बहुत महत्त्व दे दिया।

व्यक्ति और समुदाय के ऐसे सारे अधिकारों की पूरी हिफ़ाज़त के अलावा यह बात सबको मंज़ूर थी कि सरकारी तौर पर और व्यक्तिगत साधनों से ऐसी हर एक सामाजिक और पारंपरिक रुकावट को हटा दिया

जायें जिनसे आपस में दुर्भावनाएं होती हैं और यह बात मंजूर थी कि शिक्षा के और आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए वर्गों को इस बात में मदद दी जाये कि वे जल्दी-से-जल्दी अपनी कमियों से छुटकारा पा लें। यह बात खासतौर से दलित जातियों पर लागू थी। साथ ही यह बात भी साफ़ थी कि नागरिकता की वे सारी सुविधाएं जो पुरुषों को प्राप्त होंगी स्त्रियों को भी प्राप्त होंगी।

तब क्या बात बाकी थी? यह डर कि बहुसंख्यक अल्पसंख्यकों को राजनैतिक रूप से दबा देंगे। साधारणतया इस तादाद के मानी थे किसान और मजदूर जिनमें हर धर्म के माननेवाले थे, आम लोग थे जिनको बहुत अरसे से सिर्फ़ विदेशी राज्य ने ही नहीं बल्कि खुद अपने ऊंचे वर्ग के लोगों ने चूसा था। धर्म और संस्कृति की हिफ़ाज़त का आश्वासन देने के बाद जो बड़े मसले सामने आते थे वे आर्थिक होते और उनका किसी आदमी के धर्म से कोई ताल्लुक न होता और अगर धर्म खुद किसी निहित स्वार्थ की नुमाइंदगी न करे तो धार्मिक झगड़े का कोई सवाल ही नहीं था। हां, वर्ग-संघर्ष शायद होते। फिर भी लोग धार्मिक-विभेद की दिशाओं में सोचने के ऐसे आदी हो गये थे और सरकारी नीति और सांप्रदायिक व धार्मिक संस्थाओं से इसके लिए बराबर बढ़ावा मिलता रहता था कि यह डर कि बहुसंख्यक धार्मिक जाति यानी हिंदू जाति दूसरों को दबा लेगी बहुत-से मुसलमानों के दिमाग में बना रहा। यह बात समझ में नहीं आती थी कि मुसलमानों-जैसी बड़ी अल्पसंख्यक जाति के हितों को कोई बहुसंख्यक जाति भी किस तरह चोट पहुंचा सकती है, क्योंकि मुसलमान खासतौर से देश के कुछ हिस्सों में केंद्रित थे और ये हिस्से खुदमुख्तार होते। लेकिन भय में तर्क कहां होता है?

मुसलमानों (और बाद में और दूसरे छोटे समुदायों) के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र शुरू किये गये और उनको उनकी आबादी के अनुपात से ज्यादा जगह दी गई। फिर भी किसी भी आम लोगों की नुमाइंदा असेंबली में ज्यादा जगह देकर अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यक नहीं बनाया जा सकता। असल में पृथक निर्वाचन से सुरक्षित समुदाय के लिए स्थिति कुछ खराब हो गई, क्योंकि तब बहुसंख्यकों ने उनमें दिलचस्पी लेना छोड़ दिया। उस वक्त आपसी सोच-विचार का बहुत कम मौक़ा था। संयुक्त निर्वाचन में आपस में मेल-मिलाप की लाज़िमी कोशिश होनी चाहिए, क्योंकि तब तो हर एक उम्मीदवार को हर समुदाय का साथ लेना होता है। कांग्रेस इस मामले में आगे बढ़ी और उसने घोषणा की कि अगर कोई ऐसा मामला हुआ जिसका

अल्पसंख्यकों में मतभेद हो तो उसका फ़ैसला बहुसंख्यकों के वोटों से नहीं होगा बल्कि यह मामला एक निष्पक्ष न्यायालय को या ज़रूरत पड़ने पर किसी अंतर्राष्ट्रीय पंच को सौंपा जाना चाहिए और उसका फ़ैसला आखिरी होना चाहिए।

समझ में नहीं आता कि किसी भी लोकतंत्री ढांचे में किसी धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय को इससे ज़्यादा क्या संरक्षण दिया जा सकता है? साथ ही यह बात याद रखनी चाहिए कि कुछ सूबों में मुसलमान खुद बहुसंख्यक थे और चूंकि ये सूबे खुदमुख्तार होते इसलिए कुछ अखिल भारतीय बातों पर ध्यान रखते हुए, उन सूबों में मुसलमान बहुसंख्यकों को अपनी पसंद के मुताबिक़ काम करने की पूरी आज़ादी होती। केंद्रीय सरकार में मुसलमानों का लाज़िमी तौर से एक अहम हिस्सा होता। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों में सांप्रदायिक-धार्मिक समस्या उठनी थी क्योंकि वहां पर दूसरे अल्पसंख्यकों (यानी हिंदू और सिख लोगों) की मुसलमान बहुसंख्यकों के खिलाफ़ हिफ़ाज़त की मांग थी। इस तरह पंजाब में हिंदू, मुस्लिम और सिखों का त्रिभुज था। अगर मुसलमानों का निर्वाचन-क्षेत्र अलग था तो दूसरे लोग भी अपने लिए खास हिफ़ाज़त की मांग करते। एक बार पृथक निर्वाचन शुरू कर देने के बाद बंटवारे और हिस्से का और उससे पैदा हुई कठिनाइयों का कोई खात्मा ही नहीं था। ज़ाहिर है किसी समुदाय को ज़्यादा नुमाइंदगी देने के मानी ये थे कि दूसरे समुदाय को घाटा रहे और उसे अपनी आबादी के अनुपात से कम जगहें मिलें। इसका नतीजा और खासतौर से बंगाल में बड़ा अजीब हुआ। वहां यूरोपीयों को बेहद नुमाइंदगी देने की वजह से आम निर्वाचन के लिए दी हुई जगहें बुरी तरह कम हो गईं। इस तरह बंगाल के उस बुद्धिजीवी वर्ग ने जिसने हिंदुस्तानी राजनीति और आज़ादी की लड़ाई में एक खास हिस्सा लिया था अचानक ही यह महसूस किया कि सूबे के विधानमंडल में उसकी स्थिति बहुत कमज़ोर है और इस स्थिति को क़ानूनी तौर पर निश्चित और सीमित कर दिया गया है।

कांग्रेस ने बहुत-सी गलतियां कीं लेकिन ये गलतियां अपेक्षाकृत छोटे सवालों में या कोशिश के ढंग में थीं। यह बात ज़ाहिर थी कि सिर्फ़ राजनैतिक कारणों से भी कांग्रेस सांप्रदायिक हल निकालने के लिए उत्सुक और चिंतित थी और इस तरह तरक्की के रास्ते की अड़चनों को दूर करना चाहती थी। विशुद्ध सांप्रदायिक संस्थाओं में ऐसी कोई उत्सुकता नहीं थी क्योंकि उनके अस्तित्व का मुख्य कारण यह था कि वे अपने-अपने समु

दलों की खास मांगों पर जोर दें और इसका नतीजा यह हुआ कि सारे ढांचे को यथावत बनाये रखने में उनका एक निहित स्वार्थ था। मेंबरों की गिनती के लिहाज से कांग्रेस में ज्यादातर हिंदू थे लेकिन साथ ही उसमें मुसलमान भी बहुत बड़ी तादाद में थे और दूसरे धार्मिक समुदाय मसलन सिख और ईसाई वगैरह भी थे। इस तरह उसे हर चीज पर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सोचना होता था। उसके लिए जो चीज सबसे ज्यादा अहम थी वह थी कौमी आजादी और एक स्वाधीन लोकतंत्री राज्य की स्थापना। वह इस बात को महसूस करती थी कि हिंदुस्तान-जैसे विस्तृत और बहुरंगी देश में ऐसा साधारण लोकतंत्र जिसमें सारी ताकत बहुसंख्यक दल पर निर्भर हो और जिसको अल्पसंख्यकों को कुचलने या उनकी अवहेलना करने का अधिकार हो न तो संतोषप्रद ही होगा और न वांछनीय वैसे उसे स्थापित करना चाहे संभव ही क्यों न हो। हम लोग एकता चाहते थे और उसको मानकर चलते थे लेकिन हमें इसकी कोई वजह दिखाई नहीं देती थी कि हिंदुस्तान के सांस्कृतिक जीवन की अनेकता और संपन्नता को सिर्फ एक सांचे में कस दिया जाय। इसीलिए बहुत हद तक प्रादेशिक स्वायत्तता मान ली गई थी और व्यक्तिगत और सामुदायिक आजादी और सांस्कृतिक तरक्की के लिए संरक्षण भी मंजूर कर लिये गये थे।

लेकिन दो बुनियादी सवालों पर कांग्रेस दृढ़ थी—राष्ट्रीय-ऐक्य और लोकतंत्र। ये बुनियादें ऐसी थीं जिन पर वह कायम हुई थी और आधी सदी के दौर में खुद उसके विकास ने इन बातों पर जोर दिया था। जहांतक मुझे पता है कांग्रेस दुनिया-भर की ज्यादा-से-ज्यादा लोकतंत्री संस्थाओं में से एक है। यह बात सिद्धांत में भी है और व्यवहार में भी। अपनी उन हजारों स्थानीय संस्थाओं के जरिये जो देश भर में फैली हुई हैं उसने जनता को लोकतंत्री ढंग की शिक्षा दी है और इसमें उसे बहुत बड़ी काम याबी मिली है। इस बात से कि गांधीजी-जैसा लोकप्रिय और प्रभावशाली व्यक्तित्व उसमें मौजूद रहा कांग्रेस के लोकतंत्र में कोई कमी नहीं हुई। संकट और संघर्ष के मौकों पर पथ-निर्देश के लिए नेता की ओर देखने की अनिवार्य प्रवृत्ति थी और ऐसा हर एक देश में होता है। साथ ही ऐसे मौके यहां बराबर आये। कांग्रेस को तानाशाही जमात कहने से ज्यादा गलत बात और कोई नहीं हो सकती और इस सिलसिले में एक मजेदार और ध्यान देने लायक बात यह है कि ऐसा बराबर आमतौर पर ब्रिटिश हुकूमत के उन ऊंचे प्रतिनिधियों द्वारा बताया जाता है जो हिंदुस्तान में निरंकुशता और तानाशाही के प्रतीक हैं।

गुजरे जमाने में ब्रिटिश सरकार भी—कम-से-कम सिद्धांत-रूप से—हिंदुस्तान के एके और लोकतंत्र की हामी रही है। उसने इस बात में फ़ख्र महसूस किया है कि उसके राज्य से हिंदुस्तान में राजनैतिक एका हुआ हालांकि वह एक गुलामी का एका था। इसके अलावा उस सरकार ने हमें बताया कि वह हमको लोकतंत्र के ढंग और डरें सिखा रही है। लेकिन विचित्र-सी बात है कि उसकी नीति साफ़ तौर पर हमें ऐसी दिशा में ले गई है जिसमें न तो ऐक्य है और न लोकतंत्र। अगस्त १९४२ में कांग्रेस कार्य कारिणी यह घोषणा करने के लिए बाध्य हुई कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार की नीति "जनता में दुर्भावनाएं पैदा करती है और तनाव बढ़ाती है। ब्रिटिश सरकार के जिम्मेदार लोगों ने हम लोगों को खुले तौर पर यह बताया कि शायद किसी नई व्यवस्था के पक्ष में हिंदुस्तान के एके का बलिदान करना पड़े और दूसरे यह कि लोकतंत्र हिंदुस्तान के लिए उपयुक्त नहीं है। आजादी की और लोकतंत्री सरकार क़ायम करने की हिंदुस्तान की मांग का यही जवाब उनके पास बाक़ी रह गया था। इस उत्तर से यह बात भी साफ़-साफ़ जान पड़ती है कि अंग्रेज खुद उन दो बड़े मक़सदों में जो उन्होंने अपने सामने रखे थे नाकामयाब हुए हैं। इस बात को समझने में उन्हें डेढ़ सौ बरस लग गये।

सांप्रदायिक समस्या का ऐसा हल पाने में जो सब पार्टियों को मंजूर होता हम लोग नाकामयाब रहे और चूंकि उस नाकामयाबी के नतीजे हमको भोगने हैं इसलिए निश्चय ही हम उसके दोष से बच नहीं सकते। लेकिन किसी अहम प्रस्ताव या रद्दो-बदल को कोई भी आदमी किस तरह से सबसे मनवा सकता है? हमेशा ही ऐसे सामंती और प्रतिक्रियावादी अनासिर होते हैं जो हर तरह की तबदीली के खिलाफ़ होते हैं, और फिर वे लोग हैं जो राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक रद्दो-बदल चाहते हैं। दोनों के बीच कुछ-कुछ समूह होते हैं। अगर एक छोटा गुट तबदीली पर वीटो (निषेध) का इस्तेमाल कर सकता है, तो निश्चय ही तबदीली कभी हो ही नहीं सकती। जिस वक्त शासक-वर्ग की यह नीति हो कि ऐसे समुदायों को पैदा किया जाये और उनको बढ़ावा दिया जाये फिर चाहे उनका परिमाण आबादी का अणु-मात्र ही क्यों न हो तब तबदीली सिर्फ़ एक सफल क्रांति के जरिये ही हो सकती है। यह बात जाहिर है कि हिंदुस्तान में बहुत-से सामंती और प्रतिक्रियावादी समुदाय हैं जिनमें से कुछ तो हिंदुस्तान की ही उपज हैं, और कुछ अंग्रेजों की देन हैं। तादाद के लिहाज से चाहे वे छोटे ही क्यों न हों लेकिन उनके पास ब्रिटिश ताक़त की मदद है।

मतभेद है। यह सबके लिए संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में है। वैसे बहुत-से मशहूर शिया लोग लीग में भी हैं।

इन सब मुस्लिम संस्थाओं ने और इसके अलावा कुछ दूसरी मुस्लिम संस्थाओं ने (और इनमें मुस्लिम लीग शामिल नहीं है) आजाद मुस्लिम कान्फ्रेंस का काम बढ़ाने के लिए आपस में हाथ मिला लिये। यह कान्फ्रेंस मुस्लिम लीग से बिलकुल अलग ढंग पर मुसलमानों के एक संयुक्त मोर्चे की तरह थी। इस कान्फ्रेंस का पहला सफल जलसा दिल्ली में १९४ में हुआ जिसमें सब जगह के और इन सब संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

हिंदुओं की खास सांप्रदायिक संस्था हिंदू महासभा है, जो मुस्लिम लीग के बर अक्स है और मुकाबले में कम महत्त्व की है। लीग की तरह यह भी आक्रमक रूप से सांप्रदायिक है लेकिन यह अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता को कुछ अस्पष्ट राष्ट्रीय शब्दावली से छिपाने की कोशिश करती है। वैसे उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं है और वह फिर से बीते हुए युग को वापस लाना चाहती है। उसे बदकिस्मती से कुछ ऐसे नेता मिले हैं, जो मुस्लिम लीग के नेताओं की तरह बहुत गैर-जिम्मेदार और उत्तेजक बकवास करते हैं। यह लगातार लड़ाई, जो दोनों तरफ से चलती रहती है और बराबर मुँहजबानी पैदा करती है, उनके लिए काम की जगह ले लेती है।

गुजरे जमाने में मुस्लिम लीग का सांप्रदायिक रुख अकसर दिक्कत डालनेवाला और भद्दा था लेकिन हिंदू महासभा का रुख भी कुछ कम भद्दा नहीं था। पंजाब और सिंध के अल्पसंख्यक हिंदू और पंजाब का महत्त्वपूर्ण सिख समुदाय समझौते के रास्ते में अकसर रोड़े अटकाता रहा। ब्रिटिश नीति बराबर यह थी कि इन इलजामों पर जोर दिया जाय और उनको बढ़ावा दिया जाय और उसने कांग्रेस के खिलाफ इन सांप्रदायिक संस्थाओं को ज्यादा अहमियत दी।

किसी समुदाय या पार्टी की अहमियत की या कम-से-कम जनता पर उसके असर की एक जांच चुनाव है। १९३७ में हिंदुस्तान के आम चुनाव में हिंदू महासभा बिलकुल नाकामयाब रही। नक्शे में उसकी कोई भी जगह नहीं थी। मुस्लिम लीग ने इसके मुकाबले में ज्यादा कामयाबी पाई, लेकिन कुल मिलाकर यह भी कोई बड़ी कामयाबी न थी खासतौर से उन सूबों में जहां मुस्लिम आबादी की प्रधानता थी। पंजाब और सिंध में तो वह बिलकुल नाकामयाब रही बंगाल में उसे केवल आंशिक सफलता मिली। उत्तर-पच्छिमी सूबे में बाद में कांग्रेस ने वजारत बना ली। मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रांतों में लीग कुल मिलाकर ज्यादा कामयाब रही लेकिन

मुसलमानों में मुस्लिम लीग के अलावा और बहुत-सी संस्थाएं उठ खड़ी हुईं। उनमें से एक पुरानी संस्था जमीअत-उल-उलेमा थी जिसमें सारे हिंदुस्तान के मौलवी और पुराने ढंग के आलिम थे। उसका आम नज़रिया परंपरावादी और अनुदार था और खासतौर से मजहबी था फिर भी राजनैतिक दृष्टिकोण से उसकी विचारधारा उन्नत थी और वह साम्राज्य-वाद के खिलाफ थी। राजनैतिक स्तर पर उसने अक्सर कांग्रेस के साथ साथ मिलाकर काम किया और उसके बहुत-से मेंबर कांग्रेस के मेंबर थे और वे कांग्रेस-संगठन के जरिये काम करते थे। अहरार जमात की स्थापना बाद में हुई और पंजाब में वह सबसे ज्यादा मजबूत थी। इसमें खासतौर से निचले मध्यम वर्ग के मुसलमान थे और खास हिस्सों में इसका आम जनता में भी काफी असर था। हालांकि मोमिन लोगों की (जिसमें खासतौर से जुलाहे थे) गिनती बहुत ज्यादा थी फिर भी वे लोग मुसलमानों में सबसे ज्यादा गरीब और पिछड़े हुए थे कमजोर और असंगठित थे। उनकी कांग्रेस के साथ दोस्ती थी और वे मुस्लिम लीग के खिलाफ थे। कमजोर होने की वजह से वे राजनैतिक कार्रवाई से बचते थे। बंगाल में कृषक-प्रजा सभा थी। जमीअत-उल-उलेमा के लोग और अहरारी दोनों ही अक्सर कांग्रेस के साधारण कार्यक्रम में और ब्रिटिश सरकार के साथ आक्रमक लड़ाइयों में साथ देते थे और तकलीफों का सामना करते थे। वह खास मुसलमानी संस्था जिसकी ब्रिटिश अधिकारियों के साथ लफ्ज़ी लड़ाइयों के अलावा और कोई भी लड़ाई नहीं हुई मुस्लिम लीग है। इसमें जितने भी हेर-फेर और चढ़ाव-उतार हुए हैं यहांतक कि उस वक्त भी जब उसमें बहुत बड़ी तादाद में लोग शामिल हुए हैं उसका उच्चवर्गीय सामन्ती नेतृत्व बराबर बना रहा है।

इसके अलावा शिया मुसलमान थे जो अलग संगठित थे पर सुसंगठित नहीं थे और उनका खास मकसद राजनैतिक मांगें पेश करना था। अरब में इस्लाम के शुरू के दिनों में खिलाफत के उत्तराधिकारी होने के सिलसिले में एक तीखी लड़ाई हुई और मुसलमानों में एक दरार पड़ गई, जिससे शिया और सुन्नी नाम के दो समुदाय या संप्रदाय बन गये। वह झगड़ा चिरजीवी हो गया और हालांकि उसकी उस दरार की अब कोई राजनैतिक अहमियत नहीं रही है फिर भी दोनों समुदाय अब भी अलहदा हैं। हिंदुस्तान में और ईरान के सिवाय और दूसरे मुसलमान मुल्कों में सुन्नियों की तादाद ज्यादा है। ईरान में शिया बहुसंख्यक हैं। इन धार्मिक समुदायों में कभी-कभी धार्मिक झगड़े होते रहे हैं। हिंदुस्तान में शिया-संगठन जैसा कुछ भी है मुस्लिम लीग से अलहदा रहा है और उसका उनसे

मतभेद है। यह सबके लिए संयुक्त निर्वाचन के पक्ष में है। वैसे बहुत-से मशहूर शिया लोग लीग में भी हैं।

इन सब मुस्लिम संस्थाओं ने और इसके अलावा कुछ दूसरी मुस्लिम संस्थाओं ने (और इनमें मुस्लिम लीग शामिल नहीं है) आज़ाद मुस्लिम कान्फ्रेंस का काम बढ़ाने के लिए आपस में हाथ मिला लिये। यह कान्फ्रेंस मुस्लिम लीग से बिलकुल अलग ढंग पर मुसलमानों के एक संयुक्त मोर्चे की तरह थी। इस कान्फ्रेंस का पहला सफल जलसा दिल्ली में १९४ में हुआ जिसमें सब जगह के और इन सब संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

हिंदुओं की खास सांप्रदायिक संस्था हिंदू महासभा है, जो मुस्लिम लीग के बर अक्स है और मुक़ाबले में कम महत्त्व की है। लीग की तरह यह भी आक्रमक रूप से सांप्रदायिक है, लेकिन यह अपने दृष्टिकोण की संकीर्णता को कुछ अस्पष्ट राष्ट्रीय शब्दावली से छिपाने की कोशिश करती है। वैसे उसका दृष्टिकोण प्रगतिशील नहीं है और यह फिर से बीते हुए युग को वापस लाना चाहती है। उसमें बदक़िस्मती से कुछ ऐसे नेता मिले हैं, जो मुस्लिम लीग के नेताओं की तरह बहुत ग़ैर-ज़िम्मेदार और उत्तेजक बकवास करते हैं। यह जवाबी लड़ाई, जो दोनों तरफ़ से चलती रहती है और बराबर झुंझलाहट पैदा करती है उनके लिए काम की जगह ले लेती है।

गुज़रे ज़माने में मुस्लिम लीग का सांप्रदायिक रुख अकसर विकट जानलेवाला और बेजा था लेकिन हिंदू महासभा का रुख भी कुछ कम बेजा नहीं था। पंजाब और सिंध के अल्पसंख्यक हिंदू और पंजाब का महत्त्वपूर्ण सिख समुदाय समझौते के रास्ते में अकसर रोड़े अटकाता रहा। ब्रिटिश नीति बराबर यह थी कि इन इख़्तलाफ़ों पर ज़ोर दिया जाय और उनको बढ़ावा दिया जाय और उसने कांग्रेस के खिलाफ़ इन सांप्रदायिक संस्थाओं को ज़्यादा अहमियत दी।

किसी समुदाय या पार्टी की अहमियत की या कम-से-कम जनता पर उसके असर की एक जांच चुनाव है। १९३७ में हिंदुस्तान के आम चुनाव में हिंदू महासभा बिलकुल नाकामयाब रही। नक़्शे में उसकी कोई भी जगह नहीं थी। मुस्लिम लीग ने इसके मुक़ाबले में ज़्यादा कामयाबी पाई, लेकिन कुल मिलाकर यह भी कोई बड़ी कामयाबी न थी ख़ासतौर से उन सूबों में जहां मुस्लिम आबादी की प्रधानता थी। पंजाब और सिंध में तो यह बिलकुल नाकामयाब रही बंगाल में उसे केवल आंशिक सफलता मिली। उत्तर-पश्चिमी सूबे में बाद में कांग्रेस ने वज़ारत बना ली। मुस्लिम अल्पसंख्यक प्रांतों में लीग कुल मिलाकर ज़्यादा कामयाब रही लेकिन

दूसरे आज़ाद तथा कांग्रेसी टिकटों पर बड़े मुसलमान भी चुने गये।

इसके बाद सूबों में कांग्रेसी सरकारों और खुद कांग्रेस-संस्था के खिलाफ़ मुस्लिम लीग की तरफ़ से एक खास आंदोलन शुरू हुआ। रोज़-रोज़ और बार-बार यह दोहराया गया कि ये कांग्रेसी सरकारें मुसलमानों पर 'जुल्म' कर रही हैं। इन सरकारों में मुसलमान मंत्री भी थे लेकिन वे मुस्लिम लीग के मेंबर नहीं थे। ये 'जुल्म' क्या थे यह आमतौर पर नहीं बताया गया। छोटी-छोटी मुकामी घटनाओं को जिनका सरकार से कोई ताल्लुक नहीं था तोड़ा-मरोड़ा गया और उनको बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया। कुछ महकमों की कुछ छोटी-छोटी ग़लतियां जिनको फ़ौरन ही ठीक कर दिया गया 'जुल्म' बन गईं। कभी-कभी बिल्कुल झूठी और बे बुनियाद शिकायतें की गईं, यहांतक कि एक रिपोर्ट भी निकाली गई और उसमें बड़ी-बड़ी अजीब बातें थीं लेकिन उनका सचाई से कोई ताल्लुक नहीं था। जिन लोगों ने शिकायतें की थीं कांग्रेसी सरकारों ने उन लोगों को न्यौता दिया कि वे जांच के लिए ब्यौरा दें या खुद ही सरकारी मदद लेकर छान-बीन करें। इस सहयोग का किसीने भी फ़ायदा नहीं उठाया। फिर भी लीग की लड़ाई बिना किसी रोक-टोक के चलती रही। सन १९४ के शुरू में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के इस्तीफ़ा देने के कुछ ही बाद तत्कालीन कांग्रेस सभापति डा० राजेंद्रप्रसाद ने मिस्टर एम० ए० जिन्ना को लिखा और साथ ही एक सार्वजनिक वक्तव्य दिया और मुस्लिम लीग को कांग्रेस के खिलाफ फ़ेडरल कोर्ट के सामने जांच और फ़ैसले के लिए शिकायतें और सबूत भेजने को निमंत्रित किया। मिस्टर जिन्ना ने इस प्रस्ताव से इन्कार कर दिया और इस सिलसिले में एक शाही जांच कमीशन बैठाए जाने की संभावना के बारे में इशारा किया। इस तरह के कमीशन को नियुक्त करने का कोई सवाल नहीं था और ऐसा तो सिर्फ़ ब्रिटिश सरकार ही कर सकती थी। कुछ ब्रिटिश गवर्नरों ने जिन्होंने कांग्रेसी सरकारों के वक्त में काम किया था सार्वजनिक रूप से यह कहा कि अल्पसंख्यकों के साथ व्यवहार के सिलसिले में उन्हें कोई भी आपत्तिजनक बात नहीं मिली थी। उन्हें सन १९३५ के एक्ट के मुताबिक ज़रूरत पड़ने पर अल्प-संख्यकों की रक्षा के लिए विशेष अधिकार मिले हुए थे।

हिटलर के अपने हाथ में ताक़त कर लेने के बाद प्रचार के नाज़ी ढंग का मैंने गहरा अध्ययन किया था और मुझे यह देखकर ताज्जुब हुआ कि कुछ वैसी ही चीज़ हिंदुस्तान में हो रही थी। एक साल बाद १९३८ में जब चेकोस्लोवेकिया को सुडेटनलैंड-ईश्यू का सामना करना पड़ा

तो वहां पर काम में लाये गये नाजी ढंग का मुस्लिम लीग के खास आदमियों द्वारा अध्ययन किया गया और उन्होंने तारीफ़ के साथ उनका जिक्र किया। हिंदुस्तान के मुसलमानों और सुडेटनलैंड के जर्मनों का मिलान किया गया। व्याख्यानों और कुछ अखबारों में उत्तेजना और लड़ाई के लिए उकसाव साफ़ जाहिर होता था। एक कांग्रेसी मुसलमान मंत्री को छुरा मार दिया गया लेकिन मुस्लिम लीग के किसी भी नेता की तरफ़ से इसकी निंदा नहीं की गई बल्कि सच तो यह है कि उसको माफ़ी के क़ाबिल समझा गया। जब-तब हिंसा के और दूसरे प्रदर्शन भी हुए।

इन घटनाओं से और सार्वजनिक जीवन के मापदंड के गिर जाने से मुझे बहुत ज्यादा नाउम्मीदी हुई। हिंसा बेदर्दी और गैर-जिम्मेदारी बढ़ रही थी और ऐसा मालूम होता था कि मुस्लिम लीग के जिम्मेदार नेताओं की उसके लिए रज़ामंदी थी। इनमें से कुछ नेताओं को मैंने लिखा और उनसे इस प्रवृत्ति को रोकने की प्रार्थना की लेकिन कोई कामयाबी नहीं हुई। जहांतक कांग्रेसी सरकारों का सवाल है यह साफ़ उनके हित में था कि वे हर अल्पसंख्यक समुदाय को अपने साथ लेतीं और उन्होंने इसके लिए पूरी-पूरी कोशिश की। असल में कुछ हल्कों से तो यह शिकायत हुई कि कांग्रेसी सरकारें मुसलमानों के साथ बेजा तरफ़दारी कर रही थीं और उसकी वजह से दूसरे समुदायों को घाटे में रहना पड़ता था। लेकिन यह सवाल किसी खास शिकायत का नहीं था जिसका इलाज किया जा सके और न यह किसी मामले पर ढंग से सोच-विचार करने का ही सवाल था। मुस्लिम लीग के मेंबरों और उससे हमदर्दी रखनेवाले लोगों की तरफ़ से मुस्लिम जनता को यह इतमीनान दिलाने का जबरदस्त आंदोलन चल रहा था कि बड़ी भयंकर घटनाएं घट रही हैं और उनके लिए कांग्रेस क़सूरवार है। ये भयंकर बातें क्या थीं यह किसीको भी नहीं मालूम था। लेकिन यह बात तय है कि इस शोर और हुल्लड़ के पीछे यहां नहीं तो कहीं-न-कहीं कुछ-न-कुछ जरूर होगा। उप-चुनावों के मौक़ों पर यह आवाज उठाई गई कि इस्लाम खतरे में है और मुस्लिम लीगी उम्मीदवार को वोट देने के लिए मतदाताओं से कुरान की क़सम खाने को कहा गया।

आम मुस्लिम जनता पर इस सबका बेशक असर हुआ। फिर भी यह देखकर ताज्जुब होता है कि कितने लोगों ने उसका मुक़ाबला किया। ज्यादातर उप-चुनावों में लीग जीती और कुछ में यह हारी और उस वक़्त भी जबकि लीग जीती अल्पसंख्यक मतदाताओं की ऐसी बहुत बड़ी तादाद

थी जो लीग के ख़िलाफ़ गई और उस पर कांग्रेस के कृषि-कार्यक्रम का ज़्यादा असर था। लेकिन अपने इतिहास में मुस्लिम लीग को पहली बार आम जनता का सहारा मिला, और जन-संगठन के रूप में उसकी तरक्की शुरू हुई। जो कुछ हो रहा था वह मुझे नापसंद था फिर भी एक ढंग से मैंने इस तब्दीली का स्वागत किया क्योंकि मेरा ऐसा ख़याल था कि शायद आख़िर में इसके फलस्वरूप सामंती नेतृत्व में तब्दीली आये और ज़्यादा प्रगतिशील हिस्से आगे आयें। अबतक जो असली मुश्किल थी वह यह थी कि मुसलमान राजनैतिक और सामाजिक नज़रिये से बहुत ज़्यादा पिछड़े हुए थे और इसकी वजह से प्रतिक्रियावादी नेतागण उनका नाजायज़ फ़ायदा उठा सकते थे।

मुस्लिम लीग के अपने ज़्यादातर साथियों के मुकाबले में भी मोहम्मद अली जिन्ना ज़्यादा आगे बढ़े हुए थे। असल में मिस्टर जिन्ना और उनके साथियों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क था और इसलिए क़ुदरती तौर पर वह मुस्लिम लीग के एकमात्र नेता थे। कई बार उन्होंने सार्वजनिक मंच से अपने साथियों की अवसरवादिता और उससे भी बड़ी ख़ामियों पर अपना बड़ा भारी असंतोष ज़ाहिर किया था। वह इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मुसलमानों में निःस्वार्थ प्रगतिशील और साहसी समुदाय का अधिकांश कांग्रेस में शामिल हो चुका था और उसके ज़रिये काम करता था। फिर भी भाग्य ने या घटना-चक्र ने उनको उन लोगों के ही बीच में अकेला किया था जिनके लिए उनके दिल में कोई इज़्ज़त नहीं थी। वह उनके नेता थे लेकिन वह उनको अपने साथ सिर्फ़ उसी हालत में रख सकते थे जबकि उनकी प्रतिक्रियावादी विचारधारा में वह ख़ुद एक कड़ी बन जाते। यह बात नहीं कि वह अनिच्छुक कड़ी हों। जहांतक विचारधारा का सवाल है अपनी ऊपरी आधुनिकता के होते हुए भी वह पुरानी पीढ़ी के थे जो आधुनिक राजनैतिक विचारधारा से क़रीब-क़रीब बेख़बर थी। ऐसा मालूम होता है कि अर्थशास्त्र से जिसकी आजकल सारी दुनिया पर छाया है वह नावाक़िफ़ थे। ज़ाहिरा तौर पर उन असाधारण घटनाओं का जो दुनिया-भर में पहले महायुद्ध के बाद हुई थीं उन पर कोई भी असर नहीं हुआ था। उन्होंने कांग्रेस को उस वक़्त छोड़ा जब उसने आगे की तरफ़ अपना राजनैतिक क़दम भरा था। ज्यों-ज्यों कांग्रेस का नज़रिया ज़्यादा आर्थिक और सार्वजनिक होता गया यह खाई और भी चौड़ी होती गई। लेकिन ऐसा मालूम होता है कि नज़रिये और विचारधारा के लिहाज़ से मिस्टर जिन्ना ठीक उसी जगह बने रहे जहां वह एक पीढ़ी पहले थे या

शायद वह अब कुछ और पीछे हट गये थे क्योंकि अब वह दोनों चीज़ों की—हिंदुस्तान के एके और लोकतंत्र की—निंदा करते थे। उन्होंने कहा है कि "वे लोग शासन की किसी ऐसी प्रणाली में नहीं रहेंगे जिसकी बुनियाद पच्छिमी लोकतंत्र के बेवकूफ़ी से भरे हुए ख़यालों पर है।" उनको यह बात समझने में एक लंबा अरसा लगा कि अपनी ज़िंदगी के काफ़ी लंबे हिस्से में वह बराबर जिस बात के समर्थक रहे थे, वह बेवकूफ़ी से भरी हुई थी।

खुद मुस्लिम लीग में भी मिस्टर जिन्ना अकेले-से आदमी हैं, वह अपने आपको अपने घनिष्ठतम साथियों से भी अलग रखते हैं। उनकी इज़्ज़त काफ़ी लेकिन दूर से होती है। प्रेम करने के मुक़ाबले लोग उनसे डरते ज़्यादा हैं। एक राजनीतिज्ञ के नाते उनकी योग्यता में कोई भी शक नहीं है, लेकिन किसी तरह से यह योग्यता आजकल हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की कुछ अजीब शर्तों से बंधी हुई है। एक वकील-राजनीतिज्ञ और जोड़-तोड़ लगानेवाले की हैसियत से तो उनकी क़ाबिलियत ज़ाहिर होती है और वह उन लोगों में से हैं, जो यह ख़याल करते हैं कि राष्ट्रवादी हिंदुस्तान और ब्रिटिश ताक़त का संतुलन उनके हाथों में है। अगर हालतें दूसरी हों और अगर उन्हें राजनैतिक और आर्थिक असली मसलों का सामना करना हो तो यह कहना मुश्किल है कि यह योग्यता उन्हें कितनी दूर ले जायेगी। शायद उन्हें खुद भी इस बारे में शक है, हालांकि उनकी अपने बारे में कोई मामूली राय नहीं है। शायद यह शक उनके अंदर की उस उप-चेतन प्रवृत्ति की अंदरूनी सफ़ाई हो जिसकी वजह से वह तबदीली के खिलाफ़ हैं और चीज़ों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखना चाहते हैं और जिसकी वजह से उन लोगों के साथ-साथ जिनसे वह पूरी-पूरी तरह सहमत नहीं हैं, तर्कपूर्ण विचार और समस्याओं के गंभीर विवेचन से बचना चाहते हैं। इस मौजूदा सांचे में तो वह सही बैठते हैं लेकिन वह या और कोई आदमी दूसरे सांचे में सही बैठेंगे या नहीं यह कहना मुश्किल है। किस बात की लगन उन्हें चालू रखती है और किस मक़सद के लिए वह काम करते हैं? या कहीं ऐसी बात तो नहीं है कि उनमें किसी भी चीज़ की लगन नहीं है? और शायद उन्हें सिर्फ़ राजनैतिक शतरंज में मज़ा आता है, और उसमें कभी-कभी उन्हें—"मैंने मात देदी!"—यह कहने का मौक़ा मिलता है? ऐसा मालूम होता है कि कांग्रेस के लिए उनमें नफ़रत है और वह दिन-ब-दिन बढ़ती गई है। उनकी नफ़रत और नापसंदगी ज़ाहिर है, लेकिन वह पसंद किस चीज़ को करते हैं? अपनी सारी मज़बूती और पक्केपन के बाद भी वह एक विचित्र नकारात्मक व्यक्ति हैं, जिनका उपयुक्त प्रतीक है

'न' । इसलिए उनके निश्चयात्मक पहलू को समझने की सारी कोशिश नाकामयाब होती है और कोई भी उसकी पकड़ नहीं कर पाता ।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य क़ायम होने के बाद मुसलमानों में आधुनिक ढंग की प्रमुख हस्तियाँ कम ही हुई हैं । उनमें कुछ खास व्यक्ती हुए ज़रूर, लेकिन आमतौर पर वे पुरानी संस्कृति और परंपरा के कम की नुमाइंदगी करते थे और वे मौजूदा प्रवाह से आसानी से मेल नहीं मिला सके । बदलते हुए वक़्त के साथ चलने की और नये वातावरण के साथ सांस्कृतिक या दूसरे ढंग से मेल बिठाने की असमर्थता का कारण कोई पैदाइशी कमी नहीं है । उसकी कुछ खास ऐतिहासिक वजहें हैं । उनमें नए औद्योगिक मध्यम वर्ग की तरक्क़ी में देरी हुई और साथ ही मुसलमानों की पृष्ठभूमि बहुत ज़्यादा सामंती थी और इस वजह से तरक्क़ी के रास्ते रुक गये और सारी प्रतिभा मुँदी रही । बंगाल में मुसलमान खासतौर से पिछड़े हुए थे लेकिन इसकी दो खास वजहें थीं—एक तो ब्रिटिश राज्य के शुरू में उभरे उच्च वर्ग की बरबादी और दूसरी यह कि उनमें से ज़्यादातर नीचे दर्जे के उन हिंदुओं के धर्म-परिवर्तन से बनी थी, जिनको बहुत अरसे से तरक्क़ी का मौक़ा देने से इन्कार किया गया था । उत्तरी हिंदुस्तान में गुणसंपन्न उच्चवर्गीय मुसलमान अपनी पुरानी प्रचलित परंपराओं और ज़मींदारी से बंधे हुए थे । इधर हाल के बरसों में काफ़ी तब्दीली हुई है और हिंदुस्तानी मुसलमानों में एक नया मध्यम वर्ग काफ़ी तेज़ी से पैदा हो गया है । लेकिन अब भी विज्ञान और उद्योग में वे हिंदुओं और दूसरे लोगों से बहुत पिछड़े हुए हैं । हिंदू भी पिछड़े हुए हैं और कभी-कभी तो वे खान-पान और सोच-विचार के पुराने ढंगों से मुसलमानों के मुक़ाबले ज़्यादा मज़बूती से जकड़े हुए हैं । फिर भी उनमें कुछ लोग ऐसे पैदा हुए हैं जो विज्ञान, उद्योग और दूसरे क्षेत्रों में बहुत आगे बढ़ गए थे । छोटी ... भी आर्थिक व ... उद्योग में कुछ प्रमुख आदमी पैदा हुए हैं ।

[illegible]

प्रगतिशील आदमियों के होते हुए भी मुसलमानों के नेताओं का मापदंड बहुत नीचा था और उन लोगों में अपनी तरक्की के लिए सिर्फ़ सरकारी नौकरियों की तरफ़ देखने का ही झुकाव था। मिस्टर जिन्ना दूसरी ही किस्म के थे। वह योग्य थे दृढ़ थे और उनमें ओहदे के लिए वह लोभ नहीं था जो और बहुत-से लोगों में था। इस तरह मुस्लिम लीग में उनकी बेजोड़ जगह हो गई थी और उन्हें वह इज्जत मिली जो लीग के और बहुत से मशहूर आदमियों को नहीं मिल सकी थी। बदकिस्मती से उनकी दृढ़ता ने उनको नये विचारों के प्रति अपने दिमाग को खोलने से रोक दिया और अपनी निजी संस्था पर निर्विवाद नेतृत्व के कारण उनमें अपनी या दूसरी संस्थाओं में मतभेद के लिए रवादारी जाती रही। वह खुद मुस्लिम लीग थे। लेकिन एक सवाल उठता था कि जब लीग आम जनता की संस्था बनती जा रही थी तब आखिर कबतक यह सामंतवादी नेतृत्व जिसके विचारों का युग बीत चुका था चलेगा?

जब मैं कांग्रेस का सभापति था तब मैंने कई बार मिस्टर जिन्ना को लिखा और प्रार्थना की कि वह हमको निश्चित रूप से बता दें कि आखिर वह क्या चाहते हैं। मैंने उनसे पूछा कि लीग क्या चाहती है और उसका निश्चित उद्देश्य क्या है। मैं यह भी जानना चाहता था कि कांग्रेसी सरकारों के खिलाफ़ लीग की क्या शिकायतें थीं। ख़याल यह था कि पत्र-व्यवहार से हम मामलों को साफ़ कर लें और तब उन अहम सवालों पर, जो उठें, खुद मिलकर सोच-विचार कर लें। मिस्टर जिन्ना ने लंबे-लंबे जवाब भेजे लेकिन उन्होंने कोई चीज़ बताई नहीं। यह एक असाधारण-सी बात थी कि मसको या किसी और को भी वह यह बताने से बचना चाहते थे कि वह ठीक-ठीक क्या चाहते हैं और लीग की क्या शिकायतें हैं। बार-बार हम लोगों में पत्र-विनिमय हुआ फिर भी हमेशा ही अस्पष्टता और अनिश्चितता थी और मुझे कोई चीज़ ठीक-ठीक पता नहीं लग सकी। इससे मुझे बेहद ताज्जुब हुआ और मैंने थोड़ी-सी बेबसी महसूस की। ऐसा मालूम होता था कि मिस्टर जिन्ना किसी निश्चित बात में फंसना ही नहीं चाहते और वह समझौते के लिए बिल्कुल भी उत्सुक नहीं हैं।

बाद में गांधीजी और हममें से और दूसरे लोग मिस्टर जिन्ना से कई बार मिले। उनमें घंटों बातें हुईं, लेकिन वे लोग कभी भी प्रारंभिक बातों के आगे पहुंच ही नहीं पाये। हमारा प्रस्ताव यह था कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि एक जगह मिलें और अपने सारे आपसी मसलों पर सोच-विचार करें। मिस्टर जिन्ना ने कहा कि ऐसा तो सिर्फ़ तभी किया

जा सकता है, जब हम पहले खुले तौर पर यह बात मंजूर कर लें कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की एकमात्र संस्था मुस्लिम लीग है, और साथ ही कांग्रेस अपने-आपको विशुद्ध हिंदू-संगठन समझे। इससे साफ़ तौर पर एक दिक्कत पैदा हुई। यह ठीक है कि हम लीग की अहमियत को मानते थे, और इसी वजह से हम उसके पास गये थे, लेकिन देश की दूसरी मुस्लिम संस्थाओं की, जिनमें से कुछ का तो हमारे साथ गहरा ताल्लुक था, हम किस तरह अवहेलना कर सकते थे ? साथ ही खुद कांग्रेस में मुसलमानों की एक बहुत बड़ी तादाद थी और वे लोग हमारी सबसे बड़ी कार्यकारिणी समितियों में भी थे। मिस्टर जिना की मांग को मंजूर करने के अमली तौर पर ये मानी थे कि हम अपने पुराने मुस्लिम साथियों को कांग्रेस के बाहर धकेल दें और इस बात की घोषणा कर दें कि उनके लिए कांग्रेस का दरवाजा बंद है। उसके मानी ये थे कि कांग्रेस के बुनियादी रूप को ही बदल दिया जाय और उसको सबका स्वागत करनेवाली राष्ट्रीय संस्था से एक सांप्रदायिक संस्था में बदल दिया जाय। हम लोगों के लिए ऐसा सोचना नामुमकिन था। अगर कांग्रेस-संगठन खुद पहले से नहीं होता, तो हमें एक ऐसी नई राष्ट्रीय संस्था बनानी होती, जिसका दरवाजा हर हिंदुस्तानी के लिए खुला हो।

इस बात पर मिस्टर जिना की जिद को और किसी दूसरी चीज पर बात करने से इन्कार को हम समझ नहीं सके। हम फिर यही नतीजा निकाल सकते थे कि वह कोई समझौता नहीं चाहते थे और न वह अपने-आपको किसी निश्चित बात में फंसाना ही चाहते थे। उन्हें चीजों को यों ही बहने देने में संतोष था और उन्हें उम्मीद थी कि वह ब्रिटिश सरकार से कुछ ज्यादा बड़ी चीज पा सकेंगे।

मिस्टर जिना की मांग की बुनियाद उस नये सिद्धांत पर थी, जिसकी उन्होंने हाल ही में घोषणा की थी कि हिंदुस्तान में दो राष्ट्र हैं, एक हिंदू, एक मुसलमान। सिर्फ़ दो ही क्यों, मैं नहीं जानता, क्योंकि अगर राष्ट्रीयता की बुनियाद मज़हब पर हो, तब तो हिंदुस्तान में बहुत-से राष्ट्र थे। हिंदुस्तान के ज्यादातर गांवों में बसनेवाले ये दो राष्ट्र मौजूद थे। ये ऐसे राष्ट्र थे जिनकी सीमाएं नहीं थीं। वे एक-दूसरे में घुले हुए थे। एक बंगाली हिंदू और बंगाली मुसलमान, जो दोनों एक साथ रहते थे, एक ही भाषा बोलते थे, जिनकी परंपरा और जिनके रिवाज बहुत-कुछ एक-से थे, अलग-अलग राष्ट्र थे। यह सब समझना बहुत मुश्किल था। ऐसा मालूम होता था मानो वह किसी मध्ययुगीन सिद्धांत की तरफ़ वापस लौट रहे हों। राष्ट्र क्या है, इसकी परिभाषा देना मुश्किल है। शायद राष्ट्रीय चेतना की बुनियादी

विशेषता आपसीपन की ओर मिलकर बाकी सारी दुनिया का सामना करने की भावना है। हिंदुस्तान में यह चीज कुल मिलाकर किस हद तक है यह एक विवादास्पद बात है। इस संबंध में तो यहांतक भी कहा जा सकता है कि गुजरे जमाने में हिंदुस्तान एक बहु-राष्ट्रीय राज्य की तरह विकसित हुआ और उसमें धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना आई। लेकिन यह सब तो कोरी खयाली बातें हैं जिनका हमसे शायद ही कोई ताल्लुक हो। आज सबसे ज्यादा ताक़तवर राज्य बहु-राष्ट्रीय हैं लेकिन साथ ही उनमें संयुक्त राज्य अमरीका या सोवियत संघ की तरह राष्ट्रीय-चेतना बढ़ रही है।

मिस्टर जिन्ना के दो राष्ट्रों के उसूल से पाकिस्तान का या हिंदुस्तान के विभाजन का खयाल पैदा हुआ। लेकिन उससे भी दो राष्ट्रों का सवाल हल नहीं हुआ क्योंकि ये तो देश भर में हर जगह थे। लेकिन इससे एक विचार साकार हो गया। खुद इसकी बहुत-से लोगों में एक जबरदस्त प्रतिक्रिया हुई और वह हिंदुस्तान के एके की हिमायत में थी। आमतौर पर राष्ट्रीय एकता मानी हुई चीज है। सिर्फ़ उसी वक्त जब राष्ट्र को चुनौती दी जाती है या उस पर हमला किया जाता है या उसके विच्छेद की कोशिश की जाती है, एके का खासतौर से खयाल उठता है और उसको बनाये रखने की एक निश्चित प्रतिक्रिया होती है। इस तरह कभी-कभी विच्छेद की कोशिशों से एकता करने में मदद मिलती है।

कांग्रेस के और धार्मिक-सांप्रदायिक संस्थाओं के नजरिये में एक बुनियादी फ़र्क था। ऐसी संस्थाओं में मुस्लिम लीग और दूसरी तरफ़, हिंदुओं में हिंदू महासभा खास हैं। ये सांप्रदायिक संस्थाएं हालांकि अपने-आपको हिंदुस्तान की आजादी का समर्थक कहती हैं इनकी दिलचस्पी अपने-अपने समुदायों के लिए खास सुविधाएं और संरक्षण मांगने में ज्यादा है। इस तरह लाजिमी तौर पर इन सुविधाओं के लिए उन्हें ब्रिटिश सरकार का मुंह ताकना पड़ता है और इसका नतीजा यह हुआ कि वे उससे संघर्ष से बचतीं। कांग्रेस का दृष्टिकोण एक संयुक्त राष्ट्र की तरह समूचे हिंदुस्तान की आजादी से इस तरह बंधा हुआ था कि उसके लिए हर दूसरी चीज गौण थी और इसके मानी थे ब्रिटिश ताक़त से बराबर मुठभेड़। हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता ने जिसकी नुमाइंदगी कांग्रेस करती थी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध किया। इसके अलावा कांग्रेस के कृषि-संबंधी आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रम थे। न तो मुस्लिम लीग ने और न हिंदू महासभा ने कभी ऐसे सवालों पर ग़ौर किया और न ऐसा कार्यक्रम बनाने की कोशिश ही की। हां समाजवादी और साम्यवादी इन मामलों में बेहद दिलचस्पी लेते थे और उनके अपने

कार्यक्रम थे जिनको उन्होंने कांग्रेस में लाने और साथ ही बाहर भी चलाने की कोशिश की।

कांग्रेस और इन धार्मिक-साम्प्रदायिक संस्थाओं की नीति और काम में एक और खास फ़र्क था। आंदोलन के पहलू और मौक़ा मिलने पर क़ानून-निर्माण की कार्रवाई से बिलकुल अलहदा कांग्रेस आम जनता में कुछ खास रचनात्मक काम करने पर सबसे ज्यादा ज़ोर देती थी। इस कार्यक्रम में ग्रामोद्योगों की उन्नति और संगठन, दलित जातियों के उत्थान और बाद में बुनियादी शिक्षा के प्रचार का काम था। गांव के काम में सफ़ाई और मामूली तौर पर दवा-दारू की मदद का काम भी शामिल था। इन कामों को चलाने के लिए कांग्रेस ने अलग-अलग संस्थाएं बनाईं। ये संस्थाएं अपना काम राजनैतिक स्तर से हटकर करती थीं और इनमें पूरा समय देकर काम करनेवाले हज़ारों आदमी लग गये और इनमें इससे भी ज्यादा बड़ी तादाद में अपना आंशिक समय देकर काम करनेवाले लोग थे। यह ग़ैर-राजनैतिक रचनात्मक काम तो उस वक्त भी चालू रहता जब राजनैतिक कार्रवाई उतार पर होती। लेकिन जब-जब कांग्रेस के साथ सरकार की खुली लड़ाई होती तब-तब सरकारी मशीन इस काम को भी दबा देती। कुछ लोगों को इस काम के आर्थिक मूल्य पर शक हुआ लेकिन उसकी सामाजिक अहमियत के बारे में कोई शक नहीं हो सकता था। इसकी वजह से पूरा समय देकर काम करनेवाले लोगों की एक बहुत बड़ी जमात तैयार हो गई जिसमें आम जनता के बारे में पूरी जानकारी थी। इस जमात ने जनता में स्वावलम्बन और आत्म-विश्वास की भावना भर दी। कांग्रेसी स्त्रियों और पुरुषों ने ट्रेड यूनियनों व दूसरी खेतिहर संस्थाओं में भी बड़ा हिस्सा लिया बल्कि बहुत-सी संस्थाओं को खुद उन्होंने बनाया। सबसे बड़ी और सबसे ज्यादा सुसंगठित अहमदाबाद के सूती कपड़े के उद्योग की ट्रेड यूनियन की शुरुआत कांग्रेसियों ने की और वे उसके साथ घनिष्ठ संपर्क रखते हुए काम करते थे।

इन कामों ने कांग्रेसी कार्यक्रम को एक ठोस पृष्ठभूमि दे दी। धार्मिक-साम्प्रदायिक संस्थाएं इस पृष्ठभूमि से बिलकुल हीन थीं। ये संस्थाएं तो सिर्फ़ हंगामा मचाती थीं और चुनावों के दौरान में ही इनको काम करने की सूझ समाती थी। सरकारी कार्रवाई से व्यक्तिगत डर और जोखिम की भावना जो कांग्रेसियों के साथ हमेशा ही बराबर बनी रहती थी इन लोगों के साथ नहीं थी। इस तरह इन संस्थाओं में अवसरवादी पद-लोलुप व्यक्तियों के पनपने की प्रवृत्ति बहुत ज्यादा थी। हां, दो मुस्लिम संस्थाओं को,

यानी खामीवत-उल-उलेमा और अहरार पार्टी को सरकारी दमन से बहुत तकलीफें उठानी पड़ीं। उसकी वजह यह थी कि राजनैतिक सतह पर ये अकसर कांग्रेस की दिशा में ही चलती थीं।

कांग्रेस सिर्फ उस क़ौमी उकसाव की ही नुमाइंदगी नहीं करती थी जो नये बुर्जुआ वर्ग की बढ़ती के साथ बढ़ गई थी बल्कि बहुत हद तक उस प्रेरणा की भी जो मजदूर-पैशा लोगों में सामाजिक तब्दीलियों के लिए थी। कांग्रेस खासतौर से किसानों से संबंध रखनेवाली इन्कलाबी तब्दीलियों की हामी थी। इसकी वजह से कभी-कभी खुद कांग्रेस में अंदरूनी झगड़े हुए और जमींदार और बड़े-बड़े उद्योगपति राष्ट्रीय होते हुए भी समाजवादी तब्दीली के डर से उससे दूर रहे। खुद कांग्रेस में समाजवादियों और साम्यवादियों को जगह मिली और वे कांग्रेसी नीति पर असर डाल सकते थे। सांप्रदायिक संस्थाएं, चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान सामंतवादी और अनुदार दलों से मिली-जुली थी और वे हर तरह के क्रांतिकारी समाजी परिवर्तन के खिलाफ़ थीं। इसलिए असली झगड़े का ताल्लुक धर्म से कतई नहीं था। हां अकसर उस सवाल को धर्म का जामा पहना दिया जाता था। असल में झगड़ा तो उनमें था जिनमें एक तरफ़ वे थे जो राष्ट्रीय लोकतंत्री और सामाजिक दृष्टि से क्रांतिकारी नीति के समर्थक थे और दूसरी तरफ़ वे लोग थे जो पुराने सामंती ढांचे के खंडहरों को बनाये रखना चाहते थे। संकट के मौक़ों पर ये लोग लाजिमी तौर पर विदेशी सहारे पर निर्भर रहते थे और इस विदेशी ताक़त की दिलचस्पी चीजों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने में थी।

दूसरे महायुद्ध के शुरू से एक अंदरूनी संकट उठ खड़ा हुआ और उसका नतीजा यह हुआ कि सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़े दे दिये। इससे पेश्तर ही कांग्रेस ने मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम लीग को साथ लेने की फिर कोशिश की। लड़ाई शुरू होने के बाद कांग्रेस-कार्यकारिणी की पहली मीटिंग में शामिल होने के लिए मिस्टर जिन्ना को निमंत्रण भेजा गया। वह हमारा साथ नहीं दे सके। बाद में हम उनसे मिले और विश्व-संकट को ध्यान में रखते हुए एक परस्पर मान्य नीति पर पहुंचने की कोशिश की। हम कुछ ज्यादा आगे तो नहीं बढ़ पाये फिर भी हमने बातों को जारी रखना तय किया। इसी बीच में कांग्रेसी सरकारों ने राजनैतिक सवाल पर इस्तीफ़े दे दिये जिसका मुस्लिम लीग या सांप्रदायिक समस्या से कोई ताल्लुक नहीं था। जो भी हो, मिस्टर जिन्ना ने उस मौक़े पर कांग्रेस पर एक जोरदार हमला करना पसंद किया और उन्होंने लीग को 'निजात का दिन' मनाने

के लिए कहा। यह छुटकारा सूबों में कांग्रेसी हुकूमत से था। इसके बाद उन्होंने कांग्रेस के राष्ट्रीय मुसलमानों के लिए और खासतौर से कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद के लिए, जिनकी हिंदू और मुसलमान दोनों ही बहुत इज्जत करते थे, बहुत ही बेजा अल्फ़ाज इस्तेमाल किये। 'निजात का दिन' एक थोथी-सी चीज था और मुसलमानों ने ही इस 'निजात के दिन' के खिलाफ हिंदुस्तान के कुछ हिस्सों में प्रदर्शन किये। लेकिन इससे तीखापन बढ़ गया और यह यकीन और ज्यादा पक्का हो गया कि मिस्टर जिन्ना और उनके नेतृत्व में मुस्लिम लीग का कांग्रेस से समझौता करने का या हिंदुस्तान की आजादी के आदर्श को आगे बढ़ाने का कोई इरादा नहीं था। उनको मौजूदा हालत पसंद थी।[1]

## ६ नेशनल प्लानिंग कमेटी

सन १९३८ के आखिर में कांग्रेस के सुझाव पर नेशनल प्लानिंग कमेटी बनी। उसमें पंद्रह मेंबर थे और साथ ही प्रांतीय सरकारों और सहयोग के लिए प्रस्तुत हिंदुस्तानी रियासतों के भी प्रतिनिधि थे। उसके मेंबरों में सुपरिचित उद्योगपति, पूंजीपति, अर्थ-शास्त्री, प्रोफ़ेसर और वैज्ञानिक थे और साथ ही ट्रेड यूनियनों, कांग्रेस और ग्रामोद्योग संघ के प्रतिनिधि थे। गैर-कांग्रेसी प्रांतीय सरकारें (बंगाल, पंजाब और सिंध) और साथ ही कुछ बड़ी-बड़ी रियासतें (हैदराबाद, मैसूर, बड़ौदा, ट्रावनकोर और भोपाल) इस कमेटी के साथ थीं। एक ढंग से इस कमेटी में हर तरह के प्रतिनिधि थे और इसमें न तो राजनैतिक दीवारें थीं और न हिंदुस्तान की सरकारी और गैर-सरकारी जमात की ऊंची दीवारें थीं। हां, इसमें हिंदुस्तान की सरकार का प्रतिनिधित्व नहीं था, उसका रुख तो असहयोग का था। उसमें बड़े-बड़े अनुदार व्यवसायी भी थे और ऐसे लोग भी थे जो आदर्शवादी या सिद्धांत

---

[1] इस किताब का लिखना खत्म करने के बाद मैंने कनाडियन विद्वान विल्फ्रेड कांटवेल स्मिथ की, जिन्होंने हिंदुस्तान और मिस्र में कुछ बरस बिताये हैं, एक किताब पढ़ी। इस किताब का नाम है 'मॉडर्न इस्लाम इन इंडिया—ए सोशल एनालिसिस' और यह लाहौर से प्रकाशित हुई है। इसमें १८ ७ के भारतीय विद्रोह के बाद भारतीय मुसलमानों की विचारधारा के विकास की बड़ी योग्यता और तफ़सील के साथ जांच और छानबीन की गई है। सर सैयद अहमद खां के वक्त से हुए एक प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी हलचल की और मुस्लिम लीग के विभिन्न पहलुओं की इसमें चर्चा की गई है।

वादी कहे जाते हैं और साथ ही उसमें समाजवादी और साम्यवादी भी थे। सूबों की सरकारों के विशेषज्ञ और उद्योग-धंधों के डायरेक्टर भी इसमें थे।

अलग-अलग किस्म का एक अजीब मिलाप था और यह बात साफ़ नहीं थी कि यह विचित्र मिश्रण किस तरह काम करेगा। मैंने इस कमेटी का सभापतित्व मंजूर तो किया लेकिन बड़ी झिझक और बड़े शक के साथ। *काम मेरी तबीयत का था और मैं उससे अलग नहीं रह सकता था।*

हर क़दम पर मुश्किलें हमारे सामने थीं। सच्ची कारगर योजना बनाने के लिए काफ़ी मसाला नहीं था और कुछ थोड़ी-सी ही बातों के बारे में ही आंकड़े मालूम थे। हिंदुस्तान की सरकार सहायक नहीं थी। यहांतक कि सूबों की सरकारें भी जिनका रुख सहयोग और दोस्ती का था अखिल भारतीय योजना-निर्माण के बारे में खासतौर से उत्सुक नहीं मालूम देती थीं और उन्होंने हमारे काम में दूर से ही दिलचस्पी ली। अपनी समस्याओं और परेशानियों में वे खूब ही बहुत व्यस्त थीं। जिसकी ओर से यह कमेटी बनाई गई थी उसी कांग्रेस के कुछ अहम हिस्से इसकी तरफ़ इस तरह देखते थे जैसे यह एक अनिश्चित बच्चा हो और जिसके बारे में यह पता न हो कि यह किस तरह पलेगा और साथ ही जिसकी भविष्य की कार्रवाइयों के बारे में शक हो। बड़े-बड़े व्यवसायी निश्चित रूप से सशंकित थे और आलोचना करते थे। लेकिन वे शायद इसलिए शामिल हुए कि उन्होंने यह महसूस किया कि कमेटी से बाहर रहने के मुक़ाबले कमेटी में अंदर आकर वे अपने हितों की ज्यादा देखभाल कर सकते थे।

यह बात जाहिर थी कि कोई भी बड़ी योजना ऐसी आजाद क़ौमी सरकार के मातहत ही चल सकती है, जो खूब दृढ़ और लोकप्रिय हो ताकि यह सामाजिक और आर्थिक ढांचे में बुनियादी तब्दीलियां कर सके। इस तरह योजना-निर्माण के सिलसिले में पहली बुनियादी बात यह थी कि क़ौमी आजादी हासिल की जाये और विदेशी नियंत्रण से छुटकारा पाया जाये। कई और रुकावटें भी थीं मसलन हमारा सामाजिक पिछड़ापन रीति-रिवाज और परंपरावादी नजरिया आदि। लेकिन जो भी हो उनका सामना करना था। इस तरह योजना-निर्माण वर्तमान की नहीं बल्कि एक अनिश्चित अपरिचित भविष्य की चीज थी और उसमें तात्मुमानिकता की गंध थी। फिर भी उसकी बुनियाद वर्तमान पर करनी थी और हमारी यह उम्मीद थी कि यह भविष्य बहुत दूर नहीं है। अगर हम उपलब्ध जानकारी को क्रम से एकत्रित कर देते और उन योजनाओं के खाके तैयार कर देते तो भविष्य के सच्चे और कारगर योजना-निर्माण की नींव तैयार हो जाती।

इसी बीच में हम सूबों की सरकारों और रियासतों को वह दिशा बता देते जिस पर उन्हें बढ़ना चाहिए। मुख्तलिफ़ क़ौमी आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक कार्रवाइयों को एक-दूसरे के सामंजस्य और समन्वय के साथ देखने की योजना की कोशिश की हमारे लिए और आम जनता के लिए एक बहुत बड़ी तालीमी अहमियत थी। उसकी वजह से लोग सोच-विचार और काम-काज की संकरी लीक से बाहर आये और उन्होंने समस्याओं पर एक-दूसरे के संबंध में ध्यान रखते हुए सोचना शुरू किया और कम-से-कम कुछ हद तक उनका नज़रिया ज़्यादा चौड़ा और सहयोगपूर्ण हुआ।

प्लानिंग कमेटी के पीछे शुरू में उद्योगों की रफ़्तार बढ़ाने का ख़याल था — ग़रीबी और बेकारी, राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक पुनर्जन्म के मसले कुल मिलाकर इसके बिना हल नहीं हो सकते। इसकी तरफ़ बढ़ने के लिए राष्ट्रीय योजना का विस्तृत ढाँचा तैयार किया जाना चाहिए। इसमें बुनियादी बड़े उद्योगों की वृद्धि के लिए, बीच के पैमाने के उद्योगों के लिए और साथ ही घरेलू-धंधों के लिए इंतज़ाम होना चाहिए।" लेकिन कोई भी योजना खेती को भुला नहीं सकती क्योंकि वह तो लोगों का खास सहारा है। सामाजिक-सेवाएँ भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थीं। इस तरह एक चीज़ से दूसरी पर पहुँच जाते थे और किसी चीज़ को या एक दिशा में तरक्क़ी को दूसरी दिशाओं में मुनासिब तरक्क़ी से अलग करना नामुमकिन था। इस योजना बनाने के काम पर हमने जितना ज़्यादा ग़ौर किया उतना ही उसका क्षेत्र बढ़ता गया, यहाँ तक कि ऐसा मालूम पड़ा कि उसमें क़रीब-क़रीब हर तरह की कार्रवाई शामिल है। इसके मानी ये नहीं थे कि हम हर चीज़ का नियंत्रण या संचालन करना चाहते थे लेकिन यह बात सही है कि योजना के किसी एक हिस्से के बारे में भी फ़ैसला करने के लिए हमको क़रीब-क़रीब हर एक चीज़ का ध्यान रखना पड़ता था। मेरे लिए इस काम का आकर्षण बढ़ता गया और मेरा ख़याल है कि हमारी कमेटी के दूसरे मेंबरों के साथ भी यही बात थी। लेकिन साथ ही एक तरह की अस्पष्टता और अनिश्चितता भी आई, योजना के कुछ बड़े पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने की जगह हममें बिखरने की प्रवृत्ति थी। इसीकी वजह से हमारी कई उप-समितियों के काम में देरी हुई। उनमें किसी निश्चित उद्देश्य के लिए सीमित समय में काम करने की उत्सुकता का अभाव था।

जिस तरह हमारी कमेटी बनी हुई थी उसके लिहाज़ से किसी सुनिश्चित सामाजिक नीति या समाज-संगठन के आधारभूत सिद्धांतों पर हम सब के लिए एक राय हो जाना आसान नहीं था। इन पहलुओं पर गहरे

विवेचन का लाज़िमी नतीजा यह होता कि शुरू में ही बुनियादी इख़्तलाफ़ उठ खड़े होते और शायद कमेटी टूट-फूट जाती। इस तरह की निर्देशक नीति का न होना एक बहुत बड़ी ख़ामी थी फिर भी उसके लिए कोई चारा नहीं था। हमने योजना के खास मसले पर और हर अकेली समस्या पर ख़्याली नहीं बल्कि अमली तौर पर सोचना तय किया और इस विचार-विमर्श से सिद्धांतों को अपने-आप पनपने को छोड़ दिया। मोटे तौर पर समस्या को हल करने के लिए दो ढंग से आगे बढ़ा जा सकता था—एक तो समाजवादी ढंग था जिसके मुताबिक़ मुनाफ़े की भावना को मिटा देना था और जिसमें सम-विभाजन की महत्ता पर ज़ोर दिया जाता। दूसरा विशद व्यवसाय का ढंग था जिसमें मुक्त-उद्योग और मुनाफ़े की भावना को यथासंभव बनाये रखना था और जिसमें अधिक उत्पादन पर ज़्यादा ज़ोर था। उन लोगों के नज़रिये में भी फ़र्क़ था जो बड़े उद्योगों की तेज़ी से तरक़्क़ी चाहते थे और दूसरे वे जो ग्रामोद्योग और घरेलू धंधों की तरक़्क़ी पर ज़्यादा ध्यान दिलाना चाहते थे ताकि बेकार और अध-बेकार लोगों की बहुत बड़ी तादाद को काम मिल जाय। आगे चलकर आख़िरी फ़ैसलों में फ़र्क़ होना लाज़िमी था। और अगर कमेटी की दो या और ज़्यादा रिपोर्टें भी होतीं तो भी कोई ऐसी बात नहीं थी बशर्ते कि सारा उपलब्ध मसाला इकट्ठा हो जाता क्रमबद्ध हो जाता और तब परस्पर मान्य बातें एक तरफ़ आ जातीं और मतभेदों को अलग बता दिया जाता। जब योजना को अमली शक्ल देने का वक़्त आता तब जो भी लोकतंत्री सरकार होती वह अपनी बुनियादी नीति पसंद कर लेती। इस बीच में ज़रूरी तैयारी का एक बहुत बड़ा हिस्सा पूरा हो जाता और समस्या के मुख़्तलिफ़ पहलू जनता के सूबों की और क़ौमी सरकारों के सामने रख दिये जाते।

यह बात साफ़ है कि किसी निश्चित मक़सद या सामाजिक उद्देश्य के बिना हम किसी योजना पर ख़ासतौर पर सोच-विचार नहीं कर सकते थे। जिस मक़सद का ऐलान किया गया वह यह था कि जनता के रहन सहन का एक उचित मापदंड हो और वह निश्चित रूप से सुलभ हो, यानी दूसरे शब्दों में वह मक़सद यह था कि जनता को दर्दनाक ग़रीबी से छुटकारा मिले। रुपयों के पैमाने में अर्थशास्त्रियों ने जिस कम-से-कम आंकड़े का अंदाज़ किया है, वह फ़ी आदमी हर महीने पंद्रह और पच्चीस रुपये के बीच में है। (ये सारे आंकड़े लड़ाई के पहले के हैं)। पश्चिमी मापदंड की तुलना में यह बहुत कम था लेकिन हिंदुस्तान के मौजूदा मापदंड के लिहाज़ से यह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। यहां फ़ी आदमी सालाना आमदनी का औसत

इसी बीच में हम सूबों की सरकारों और रियासतों को यह दिखा बता देते, जिस पर उन्हें चलना चाहिए। मुख्तलिफ़ क़ौमी आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कार्रवाइयों को एक-दूसरे के सामंजस्य और समन्वय के साथ देखने की योजना की कोशिश की हमारे लिए और आम जनता के लिए एक बहुत बड़ी तालीमी अहमियत थी। उसकी वजह से लोग सोच-विचार और काम-काज की सकरी लीक से बाहर आये और उन्होंने समस्याओं पर एक-दूसरे के संबंध में ध्यान रखते हुए सोचना शुरू किया और कम-से कम कुछ हद तक उनका नज़रिया ज़्यादा चौड़ा और सहयोगपूर्ण हुआ।

प्लानिंग कमेटी के पीछे शुरू में उद्योगों की रफ़्तार बढ़ाने का ख़याल था — 'गरीबी और बेकारी, राष्ट्रीय सुरक्षा और आर्थिक पुनर्जन्म के मसले कुल मिलाकर इसके बिना हल नहीं हो सकते। इसकी तरफ़ बढ़ने के लिए राष्ट्रीय योजना का विस्तृत ढांचा तैयार किया जाना चाहिए। इसमें बुनियादी बड़े उद्योगों की वृद्धि के लिए, बीच के पैमाने के उद्योगों के लिए और साथ ही घरेलू-धंधों के लिए इंतज़ाम होना चाहिए।' लेकिन कोई भी योजना खेती को भुला नहीं सकती, क्योंकि यह तो लोगों का खास सहारा है। सामाजिक-सेवाएं भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण थीं। इस तरह एक चीज़ से दूसरी पर पहुंच जाते थे और किसी चीज़ को या एक दिशा में तरक़्क़ी को दूसरी दिशाओं में मुनासिब तरक़्क़ी से अलग करना नामुमकिन था। इस योजना बनाने के काम पर हमने जितना ज़्यादा ग़ौर किया उतना ही उसका क्षेत्र बढ़ता गया, यहांतक कि ऐसा मालूम पड़ा कि उसमें क़रीब-क़रीब हर एक कार्रवाई शामिल है। इसके मानी ये नहीं थे कि हम हर चीज़ का नियंत्रण या संचालन करना चाहते थे, लेकिन यह बात सही है कि योजना के किसी एक हिस्से के बारे में भी फ़ैसला करने के लिए हमको क़रीब-क़रीब हर एक चीज़ का ध्यान रखना पड़ता था। मेरे लिए इस काम का आकर्षण बढ़ता गया और मेरा ख़याल है कि हमारी कमेटी के दूसरे मेंबरों के साथ भी यही बात थी। लेकिन साथ ही एक तरह की अस्पष्टता और अनिश्चितता भी आई, योजना के कुछ बड़े पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करने की जगह हममें बिखरने की प्रवृत्ति थी। इसीकी वजह से हमारी कई उप-समितियों के काम में देरी हुई। उनमें किसी निश्चित उद्देश्य के लिए सीमित समय में काम करने की उत्सुकता का अभाव था।

जिस तरह हमारी कमेटी बनी हुई थी, उसके लिहाज़ से किसी बुनियादी सामाजिक नीति या समाज-संगठन के आधारभूत सिद्धांतों पर हम सब के लिए एक राय हो जाना आसान नहीं था। इन उसूलों पर गहरे

विवेचन का लाज़िमी नतीजा यह होता कि शुरू में ही बुनियादी इख़्तलाफ़ उठ खड़े होते और शायद कमेटी टूट-फूट जाती। इस तरह की निर्देशक नीति का न होना एक बहुत बड़ी ख़ामी थी फिर भी उसके लिए कोई चारा नहीं था। हमने योजना के ख़ास मसले पर और हर अकेली समस्या पर ख़्याली नहीं बल्कि अमली तौर पर सोचना तय किया और इस विचार-विमर्श से सिद्धांतों को अपने-आप पनपने को छोड़ दिया। मोटे तौर पर समस्या को हल करने के लिए दो ढंग से आगे बढ़ा जा सकता था—एक तो समाजवादी ढंग था जिसके मुताबिक़ मुनाफ़े की भावना को मिटा देना था और जिसमें सम-विभाजन की महत्ता पर ज़ोर दिया जाता। दूसरा विशद व्यवसाय का ढंग था जिसमें मुक्त-उद्योग और मुनाफ़े की भावना को यथासंभव बनाये रखना था और जिसमें अधिक उत्पादन पर ज़्यादा ज़ोर था। उन लोगों के नज़रिये में भी फ़र्क़ था जो बड़े उद्योगों की तेज़ी से तरक़्क़ी चाहते थे और दूसरे वे जो ग्रामोद्योग और घरेलू धंधों की तरक़्क़ी पर ख़ास ध्यान दिलाना चाहते थे ताकि बेकार और अध-बेकार लोगों की बहुत बड़ी तादाद को काम मिल जाय। आगे चलकर आख़िरी फ़ैसलों में फ़र्क़ होना लाज़िमी था। और अगर कमेटी भी दो या और ज़्यादा रिपोर्टें भी देती तो भी कोई ऐसी बात नहीं थी बशर्ते कि सारा उपलब्ध मसाला इकट्ठा हो जाता क्रमबद्ध हो जाता और तब परस्पर मान्य बातें एक तरफ़ आ जातीं और मतभेदों को अलग बता दिया जाता। जब योजना को असली शकल देने का वक़्त आता तब जो भी लोकतंत्री सरकार होती वह अपनी बुनियादी नीति पसंद कर लेती। इस बीच में ज़रूरी तैयारी का एक बहुत बड़ा हिस्सा पूरा हो जाता और समस्या के मुख़्तलिफ़ पहलू जनता के सूबों की और क़ौमी सरकारों के सामने रख दिये जाते।

यह बात साफ़ है कि किसी निश्चित मक़सद या सामाजिक उद्देश्य के बिना हम किसी योजना पर ख़ासतौर पर सोच-विचार नहीं कर सकते थे। जिस मक़सद का ऐलान किया गया वह यह था कि जनता के रहन-सहन का एक उचित मापदंड हो और वह निश्चित रूप से मुक़र्रर हो यानी दूसरे शब्दों में यह मक़सद यह था कि जनता को दर्दनाक ग़रीबी से छुटकारा मिले। रुपयों के पैमाने में अर्थशास्त्रियों ने जिस कम-से-कम आंकड़े का अंदाज़ किया है वह फ़ी आदमी हर महीने पंद्रह और पच्चीस रुपये के बीच में है। (ये सारे आंकड़े लड़ाई के पहले के हैं)। पश्चिमी मापदंड की तुलना में यह बहुत कम था लेकिन हिंदुस्तान के मौजूदा मापदंड के लिहाज़ से यह बहुत बढ़ा-चढ़ा था। यहां फ़ी आदमी सालाना आमदनी का औसत

क़रीब पैंसठ रुपया है। अमीर और ग़रीबों के बीच में बहुत बड़ी खाई होने की वजह से और थोड़े-से ही लोगों के हाथों में दौलत इकट्ठी हो जाने की वजह से आमतौर आदमी की आमदनी का अंदाज़ तो और कम है—शायद फ़ी आदमी फ़ी साल तीस रुपये के क़रीब। इन आंकड़ों से लोगों की भयंकर ग़रीबी और जनता की हालत समझ में आती है। खाने की, कपड़े की, मकान की और इन्सानी जिंदगी की हर ज़रूरत की कमी थी। इस कमी को दूर करने और हर आदमी के लिए एक उचित मापदंड से रहना निश्चित रूप से सुलभ बनाने के लिए राष्ट्रीय आमदनी बहुत ज़्यादा बढ़ानी थी और इस अधिक उत्पादन के साथ-ही-साथ संपत्ति का ज़्यादा सम-विभाजन करना था। हमने हिसाब लगाया और देखा कि रहन-सहन के सचमुच प्रगतिशील मापदंड के लिए राष्ट्रीय संपत्ति को ५   से लेकर ६   फ़ी-सदी तक बढ़ाना ज़रूरी है। हमारे लिए यह अनुमान तो बहुत बड़ी थी और हमने दस साल में २   से लेकर ३   फ़ी-सदी तक बढ़ाने का लक्ष्य बनाया।

हमने योजना के लिए दस बरस का वक़्त तय किया और उसमें हर अरसे और आर्थिक जिंदगी के हर हिस्से के लिए निश्चित आंकड़े दिये। उद्देश्य के सिलसिले में कुछ कसौटियों की भी सलाह दी गई

(१) शरीर-पोषण में सुधार—ऐसी संतुलित ख़ुराक हो जिसमें हर वयस्क कामगार को २४   से लेकर २८   कैलोरी की इकाइयां हासिल हों।

(२) उस वक़्त की क़रीब १५ गज की खपत से बढ़कर फ़ी आदमी फ़ी साल कम-से-कम ३   गज कपड़ा हो।

(३) आवास-स्तर बढ़कर फ़ी आदमी कम-से-कम १   वर्ग फ़ुट हो।

इसके अलावा कुछ और चीज़ों की तरक्क़ी को बराबर ध्यान में रखना था

(क) कृषि-उत्पादन में वृद्धि हो।
(ख) औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हो।
(ग) बेकारी में घटती हो।
(घ) फ़ी आदमी आमदनी बढ़े।
(ङ) निरक्षरता का ख़ात्मा हो।
(च) सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं में बढ़ती हो।

(छ) फ़ी एक हज़ार की आबादी के लिए एक आदमी के हिसाब से डाक्टरी मदद का इंतज़ाम हो।

(ज) ज़िंदगी की औसत उम्मीद में बढ़ोतरी हो।

कुल मिलाकर देश के सामने जो उद्देश्य था वह यह था कि जहाँतक मुमकिन हो राष्ट्र स्वयं-पर्याप्त हो। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को अलग नहीं किया गया लेकिन हम आर्थिक साम्राज्यवाद की भंवर में पड़ने से बचने के लिए उत्सुक थे। न तो हम खुद किसी साम्राज्यवादी ताक़त के शिकार होना चाहते थे और न हम ऐसी प्रवृत्तियों को अपने अंदर बढ़ाना चाहते थे। देश की उपज पर पहला हक़ जाने की कच्चे और तैयार माल की घरेलू ज़रूरतों को पूरा करने के लिए होगा। फ़ाज़िल पैदावार को विदेशों में बाज़ार में दर गिराने के लिए नहीं झोंका जायेगा बल्कि उसका इस्तेमाल दूसरे देशों से उन चीज़ों के विनिमय के लिए होगा जिनकी हमको ज़रूरत हो सकती है। अपनी क़ौमी अर्थ-व्यवस्था को निर्यात बाज़ार पर अवलंबित करने से दूसरे देशों से हमारे झगड़े हो सकते थे और उन बाज़ारों के हमारे लिए बंद होने से हमारी अर्थ-व्यवस्था चकनाचूर हो सकती थी।

हालाँकि हमने किसी सुनिश्चित सामाजिक सिद्धांत से शुरुआत नहीं की फिर भी हमारे सामाजिक उद्देश्य बहुत-कुछ साफ़ थे और उनमें योजना-निर्माण के लिए परस्पर मान्य आधार था। इस योजना का गुर नियंत्रण और समन्वय था। इस तरह जहाँ मुक्त उद्योग के लिए मनाही नहीं थी वहीं साथ ही उसका क्षेत्र खासतौर से सीमित कर दिया गया था। प्रतिरक्षा संबंधी उद्योगों के सिलसिले में यह तय किया गया कि उनका नियंत्रण राज्य करे और वही उनका मालिक हो। दूसरे बुनियादी उद्योगों के सिलसिले में अधिकांश की यह राय थी कि उन पर राज्य का क़ब्ज़ा हो लेकिन समिति के एक काफ़ी बड़े अल्पमत की यह राय थी कि राज्य का उन पर नियंत्रण ही काफ़ी होगा। हाँ इन उद्योगों पर यह नियंत्रण बहुत सख़्त होगा। यह बात भी तय की गई कि सार्वजनिक उपयोगिताओं पर राज्य के किसी-न-किसी प्रतिनिधि—केंद्रीय सरकार, प्रांतीय सरकार, या स्थानीय बोर्ड—का क़ब्ज़ा हो। इस बात की राय दी गई कि लंदन ट्रांसपोर्ट बोर्ड-जैसी किसी चीज़ का सार्वजनिक उपयोगिताओं पर नियंत्रण हो। दूसरे ख़ास और बड़े उद्योग-धंधों के बारे में कोई ख़ास नियम नहीं बनाया गया लेकिन यह बात साफ़ कर दी गई कि योजनाबद्ध कार्यक्रम की वजह से किसी-न-किसी अंश में नियंत्रण ज़रूरी था और यह नियंत्रण अलग-अलग उद्योग पर अलग-अलग परिमाण में हो सकता था।

जिन उद्योग-धंधों पर सरकार का काबू था उनकी व्यवस्था के सिल-सिले में यह सलाह दी गई कि आमतौर पर एक स्वायत्त सार्वजनिक ट्रस्ट मुनासिब होगा। ऐसे ट्रस्ट की वजह से जनता की मिल्कियत और उसका काबू बराबर बना रहेगा और साथ ही वे परेशानियां और बद-इंतजामियां जो प्रत्यक्ष लोकतंत्री नियंत्रण में अक्सर पैठ जाती हैं, यहां पर नहीं होंगी। उद्योग-धंधों के लिए सहकारी मिल्कियत और नियंत्रण की सलाह दी गई। किसी योजना-निर्माण में उद्योग की हर शाखा में तरक्की की पक्की जांच जरूरी होगी और थोड़े-थोड़े अरसे बाद जो कुछ तरक्की हुई है उसका अंदाज करना होगा। साथ ही इसके ये भी मानी होंगे कि उद्योग के फैलाव के लिए तक्नीकी काम करनेवालों को तैयार करना होगा और राज्य उद्योगों से ही ऐसे काम करनेवालों को तैयार करने के लिए कह सकता है।

जमीन के सिलसिले में नीति निर्धारित करने के लिए आम उसूल तय कर दिये गये— 'कृषि भूमि खानें नदियां और जंगल राष्ट्रीय संपत्ति हैं जिन पर हिंदुस्तान की आम जनता का सामूहिक रूप से पूरा-पूरा कब्जा होना चाहिए। जमीन का फ़ायदा उठाने के लिए सहकारिता के सिद्धांत को बरतना चाहिए और सामूहिक और सहकारी खेती चालू करनी चाहिए। कम-से-कम शुरू में तो ऐसा प्रस्ताव नहीं किया गया जिसके मुताबिक किसानों को छोटे-छोटे खेतों पर अकेले ही खेती करने की मनाही हो, लेकिन यह बात साफ थी कि ताल्लुकेदार या जमींदार-जैसे किसी भी ढंग के बीच-वालों को तबदीली के अरसे के बाद बने रहने की मंजूरी नहीं होनी चाहिए। इन जमातों के पास जो हक और खिताब थे उनको धीरे-धीरे खत्म कर देना चाहिए। खेती के काबिल बेकार पड़ी हुई जमीन पर सरकार की तरफ से सामूहिक कृषि तो फ़ौरन शुरू होनी थी। सहकारी खेती व्यक्तिगत या संयुक्त मिल्कियत से शुरू हो सकती थी। अलग-अलग किस्मों को पनपने के लिए कुछ गुंजाइश छोड़ दी गई थी ताकि ज्यादा तजुरबा हासिल करके कुछ खास किस्मों को दूसरों के मुकाबले ज्यादा बढ़ावा दिया जा सके।

हम या यों कहिये हममें से कुछ लोग लेन-देन का एक समाज-नियंत्रित ढांचा बनाने की उम्मीद करते थे। अगर बैंकों, बीमा कंपनियों वगैरह का राष्ट्रीयकरण नहीं करना था तो कम-से-कम उनको राज्य के नियंत्रण में तो लाना ही था ताकि पूंजी और लेन-देन में घट-बढ़ की व्यवस्था राज्य ही करे। आयात और निर्यात व्यापार का नियंत्रण करना भी जरूरी

था। इन साधनों से कुल मिलाकर ज़मीन और उद्योग के सिलसिले में बहुत काफ़ी हद तक सरकारी नियंत्रण हो जाता, हालांकि इस नियंत्रण का परिमाण अलग-अलग जगह पर बदलता रहता। साथ ही एक सीमित क्षेत्र में व्यक्तिगत उपक्रम भी जारी रहता।

इस तरह खास समस्याओं पर विवेचन के ज़रिये हमारी नीति और हमारे सामाजिक आदर्श का विकास हुआ। इनमें खामी जगहें भी थीं, कहीं-कहीं अस्पष्टता भी थी, यहांतक कि कुछ मौक़ों पर उलटी बातें भी थीं। उसूली तौर पर यह योजना पूर्णता से बहुत दूर थी। लेकिन मुझे इस बात पर एक ताज्जुब था कि कमेटी में इतने विषम तत्त्वों के होते हुए भी हम इतनी हद तक एक राय के हो सके। बड़े व्यवसायियों का अकेला सबसे बड़ा दल था और बहुत-से मामलों पर, खासतौर से तिजारती और आर्थिक मामलों पर, उसका नज़रिया निश्चित रूप से अनुदार था। तेज़ी से तरक्की करने की प्रेरणा और यह यकीन कि सिर्फ़ इसी तरह हम ग़रीबी और बेकारी के मसलों को हल कर सकेंगे, ये दोनों बातें इतनी ज़बरदस्त थीं कि हम लोगों को अपनी प्रचलित लीक छोड़नी पड़ी और हमको नई धाराओं में सोचना पड़ा। हमने किताबी ढंग को अलग रखा था और चूंकि प्रत्येक अमली मसला एक बड़े संदर्भ में देखा गया, इसलिए हम लोग लाज़िमी तौर से एक निश्चित दिशा में बढ़े। प्लानिंग कमेटी के सदस्यों की सहयोग की भावना मेरे लिए तो एक विशेष कृतज्ञता और शांति की बात थी, क्योंकि राजनीति के झगड़ों से मिलान करते हुए यह पहलू बहुत सुखद था। हम लोग अपने मतभेदों को जानते थे। फिर भी हर एक नज़रिये का विवेचन करने के बाद, हम एक ऐसे समन्वयकारी नतीजे पर पहुंचने की कोशिश करते जो सबको या इनमें से ज्यादातर को मंज़ूर हो और इस कोशिश में हम अक्सर कामयाब होते थे।

हमारी जैसी स्थिति थी, उसमें सिर्फ़ अपनी कमेटी में ही नहीं, बल्कि हिंदुस्तान के बड़े मैदान में हम उस वक्त विशुद्ध समाजवादी योजना नहीं बना सकते थे। फिर भी मेरे सामने यह बात साफ़ हो गई कि जैसे-जैसे हमारी योजना बढ़ती गई, वैसे-ही-वैसे वह लाज़िमी तौर पर हमको एक ऐसी दिशा में ले जा रही थी, जिसमें हम समाजवादी ढांचे की कुछ बुनियादी बातों की जड़ जमाते जा रहे थे। इसमें समाज की शोषक प्रकृति को कम करना था और तरक्की की बहुत-सी रुकावटों को दूर करना था और इस तरह एक तेज़ी से फैलनेवाले सामाजिक ढांचे की तरफ ले जाना था। उसकी बुनियाद जन-साधारण के फ़ायदे पर, उसके मापदंड

को ऊँचा उठाने पर, उसको तरक्की के लिए मौक़ा देने पर और इस तरह दबी हुई अन्दर प्रतिभा और सामर्थ्य को छुटकारा देने पर थी। और इस सबकी कोशिश लोकतन्त्री आज़ादी के सन्दर्भ में करनी थी जिसमें बहुत हद तक कम-से-कम ऐसे कुछ समूहों का भी सहयोग हो जो आमतौर पर समाजवादी सिद्धान्तों के ख़िलाफ़ थे। उस सहयोग की वजह से चाहे योजना में कुछ थोड़ी-सी कमी या कमज़ोरी ही क्यों न हो लेकिन मुझे यह सहयोग ज़रूरी लगा। शायद मैं ज़रूरत से ज़्यादा आशावादी था। लेकिन मैंने ऐसा महसूस किया कि जिस वक़्त सही दिशा में एक बड़ा क़दम उठाया जा रहा हो उस वक़्त ख़ुद परिवर्तन की प्रक्रिया के वेग से आगे की प्रगति का काम और आपस में मेल बिठाना आसान हो जायेगा। अगर संघर्ष होना लाज़िमी था तो उसका भी सामना किया जाता। लेकिन यदि उसे हटाया जा सकता था या कम किया जा सकता था तो निश्चय ही यह एक बहुत बड़ा फ़ायदा था। ख़ासतौर से इसलिए कि राजनैतिक क्षेत्र में ही हमारे लिए काफ़ी संघर्ष था और भविष्य में बाधा-रोक हालत भी पैदा हो सकती थी। इस तरह योजना के लिए आम सहमति एक बहुत क़ीमती चीज़ थी। किसी आदर्शवाद की बुनियाद पर योजना का ख़ाका खींचना आसान था लेकिन किसी भी योजना को काफ़ी हद तक कारगर बनाने के लिए उसके पीछे जिस मंज़ूरी और आम रज़ामन्दी की ज़रूरत थी वह कहीं ज़्यादा मुश्किल चीज़ थी।

हालांकि योजना-निर्माण में बहुत काफ़ी नियन्त्रण और संचालन होता है और कुछ हद तक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में दख़ल दिया जाता है, फिर भी आज के हिन्दुस्तान के सन्दर्भ में असल में उससे आज़ादी बहुत बढ़ जायेगी। हमारे पास आज़ादी है ही कहाँ जो हम उसे खो देंगे! अगर हम लोकतन्त्री राज्य के ढाँचे के साथ बने रहें और यदि हमने सहकारी उद्योग को बढ़ावा दिया तो शक्ति के केन्द्रीकरण के ज़्यादातर ख़तरे टाले जा सकते हैं।

अपनी पहली बैठकों में ही हमने एक लम्बी प्रश्नावली बनाई और यह सरकारों, सूबों की और रियासती सरकारों, सार्वजनिक संस्थाओं, विश्व-विद्यालयों, व्यापार मण्डलों, मज़दूर यूनियनों, अन्वेषक संस्थाओं आदि को भेजा गया। भिन्न-भिन्न समस्याओं के बारे में छान-बीन करने और उन पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए उनतीस सब-कमेटियाँ नियुक्त की गईं। इनमें से आठ सब-कमेटियाँ खेती की समस्याओं पर थीं, कुछ उद्योग-धंधों से ताल्लुक रखती थीं, [illegible] का व्यापार और अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध था, [illegible] में [illegible] का शिक्षा में [illegible] का और सम्मान से एक का योजना

बद्ध अर्थ-व्यवस्था में स्त्रियों की जगह से और यों का सामाजिक संबंधों और संस्थाओं से । कुल मिलाकर इन सब-कमेटियों के १५ मेंबर थे और इनमें से कुछ लोग कई कमेटियों में थे । उनमें से ज्यादातर लोग अपने अपने विषयों में विशेषज्ञ थे—व्यापारी सरकारी और म्युनिसिपल कर्मचारी विश्वविद्यालयों के अध्यापक वैज्ञानिक इंजीनियर, ट्रेड यूनियनों के मेंबर और सार्वजनिक जीवन के कार्यकर्ता । इस तरह देश की उपलब्ध प्रतिभा के एक बड़े हिस्से को हमने इकट्ठा किया । वे आदमी जिनकी व्यक्तिगत रूप से हमारा साथ देने की इच्छा थी लेकिन जिनको इजाज़त नहीं मिली वे लोग हिंदुस्तान की सरकार के हाकिम और नौकर थे । हमारे काम में इतने लोगों का साथ होने की वजह से हमें कई तरह की मदद थी । हम उनके विशेष ज्ञान और अनुभव का फ़ायदा उठा सकते थे और साथ ही वे अपने विशेष विषयों पर बड़ी समस्याओं को ध्यान में रखते हुए सोचते थे । इसकी वजह से सारे देश में योजनाबद्ध काम के लिए ज़्यादा दिलचस्पी हुई । लेकिन इस बड़ी तादाद का एक नुकसान भी था क्योंकि इसकी वजह से काम में लाज़िमी तौर पर देर होती थी । कमेटी के मेंबर देश में अलग-अलग हिस्सों के थे और वे लोग कार्य-व्यस्त आदमी थे और उनका बार बार एक साथ मिलना मुश्किल होता था ।

राष्ट्रीय काम-काज के मुख्तलिफ़ हिस्सों में इतने लायक़ और उत्सुक लोगों के संपर्क में आने से मुझे तसल्ली हुई । इन संपर्कों से मैंने खुद बहुत बड़ी जानकारी हासिल की । हमारे काम करने का ढंग यह था कि हर सब-कमेटी की एक अस्थायी रिपोर्ट प्लानिंग कमेटी के पास जाती और वह उस पर अपनी सहमति या आंशिक आलोचना करके फिर उसी सब कमेटी के पास भेज देती । तब एक निश्चित रिपोर्ट तैयार की जाती और उसकी बुनियाद पर उस विषय पर निर्णय किये जाते । इस बात की बराबर कोशिश होती रहती थी कि हर विषय के फ़ैसलों का हर दूसरे विषय के फ़ैसलों के साथ ताल-मेल हो । इस तरह सारी निश्चित रिपोर्टों पर ग़ौर करने के बाद प्लानिंग कमेटी सारी समस्या का उसके विस्तार और जटिलता का सिंहावलोकन करती और खुद अपनी एक विस्तृत रिपोर्ट तैयार करती और उसके साथ सब-कमेटियों की रिपोर्ट परिशिष्ट की तरह दे दी जाती । असल में सब-कमेटियों की रिपोर्टों पर ग़ौर करने के दौरान में ही इस आख़िरी रिपोर्ट की शक्ल भी धीरे-धीरे तैयार होती जा रही थी ।

कभी-कभी इतनी देर होती कि झुंझलाहट होती । उसकी ख़ास वजह यह थी कि सब-कमेटियां उस वक़्त की पाबंदी नहीं करती थीं जो उन्हें दिया

जाता था लेकिन कुल मिलाकर हमने काफ़ी तरक्की की और बहुत काफ़ी काम पूरा कर लिया। शिक्षा के सिलसिले में दो दिलचस्प बातें तय हुईं। हमने इस बात की सलाह दी कि शिक्षा की हर सीढ़ी के लिए लड़कों और लड़कियों के शारीरिक स्वास्थ्य का एक मापदंड जरूर हो और सबकी तंदुरुस्ती कम-से-कम उतनी तो हो। साथ ही हमने इस बात की भी सलाह दी कि अठारह और बाईस बरस की उम्र के बीच में हर नौजवान लड़के या लड़की को एक साल तक सामाजिक या श्रमिक सेवा अनिवार्य रूप से करने की प्रणाली हो ताकि वह राष्ट्रीय उपयोगिता वाले उद्योग और सार्वजनिक उपयोगिता के काम में अपना हिस्सा अदा कर सके। यह काम सबके लिए लाजिमी होता और इसमें सिर्फ़ उन्हींको छूट मिलती जो शारीरिक या मानसिक रूप से इसके लिए अयोग्य होते।

जब सितंबर १९३९ में दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ तो यह सलाह दी गई कि नेशनल प्लानिंग कमेटी को अपना काम स्थगित कर देना चाहिए। नवंबर में सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफ़ा दे दिया और इससे हमारी परेशानी और भी बढ़ गई, क्योंकि सूबों में गवर्नरों के सर्वेसर्वा हो जाने पर हमारे काम में कोई दिलचस्पी नहीं ली गई। व्यवसायी कौम लड़ाई की वजह से चीज़ों से रुपया बनाने में पहले कभी के मुकाबले अब ज्यादा व्यस्त हो गए और उनकी दिलचस्पी योजना-निर्माण में उतनी नहीं रही जितनी रुपया बनाने में। हालत दिन-ब-दिन बदलती जा रही थी। जो भी हो हमने काम को जारी रखना तय किया और ऐसा महसूस किया कि लड़ाई के लिहाज़ से यह और भी ज्यादा ज़रूरी था। लड़ाई की वजह से औद्योगीकरण ज़रूर बढ़ता और जो काम हम कर चुके थे या कर रहे थे उससे इस प्रक्रिया में बहुत मदद मिल सकती थी। उस वक्त हम इंजीनियरिंग उद्योग, यातायात, रासायनिक उद्योग आदि से ताल्लुक़ रखनेवाली सब-कमेटियों की रिपोर्टों पर गौर कर रहे थे और इन सब उद्योगों की लड़ाई के लिए सबसे ज्यादा अहमियत थी। लेकिन सरकार की हमारे काम में दिलचस्पी नहीं थी बल्कि असल में वह तो उसके बहुत खिलाफ़ थी। लड़ाई के शुरू के महीनों में उसकी नीति हिंदुस्तानी उद्योग को प्रोत्साहन देने की नहीं थी। बाद में घटनाओं ने उसको अपनी ज़रूरत की चीज़ें हिंदुस्तान से खरीदने के लिए मजबूर किया, लेकिन इतने पर भी वह इसके खिलाफ़ थी कि हिंदुस्तान में कोई भी बड़ा बुनियादी उद्योग चालू किया जाये। उसकी रजामन्दी न होने के मानी थे रुकावटों का आना, क्योंकि बिना सरकारी मंजूरी के कोई भी मशीन बाहर से नहीं मंगाई जा सकती थी।

प्लानिंग कमेटी ने अपना काम जारी रखा और उप-समिति की रिपोर्टों पर विवेचन का काम उसने क़रीब-क़रीब ख़त्म कर लिया। जो कुछ काम बाक़ी बच रहा था हम उसको ख़त्म करके अपनी विस्तृत रिपोर्ट तैयार करने के काम को हाथ में लेते। लेकिन अक्तूबर, १९४ में मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया और एक लंबी मियाद के लिए जेल भेज दिया गया। मुझे इस बात की फ़िक्र थी कि प्लानिंग कमेटी का काम जारी रहे। मैंने अपने उन साथियों से जो बाहर थे काम को जारी रखने की प्रार्थना की। मैंने इस बात की कोशिश की कि प्लानिंग कमेटी के काग़ज़ात और उसकी रिपोर्टें मुझे जेल में मिल जायें ताकि मैं उनको पढ़कर विस्तृत रिपोर्ट का मसविदा तैयार कर दूं। हिंदुस्तान-सरकार ने दख़ल दिया और रोक दिया। ऐसे काग़ज़ात न तो मुझ तक पहुंचने दिये गये और न इस सिलसिले में मुलाक़ातों की ही इजाज़त मिली।

इस तरह जिस वक़्त मैंने अपने दिन जेल में बिताये नेशनल प्लानिंग कमेटी मुल्तवी रही। वह सारा काम जो मैंने किया था हालांकि अभी वह अधूरा था फिर भी उससे लड़ाई की तैयारियों में बहुत बड़ा फ़ायदा उठाया जा सकता था वह हमारे दफ़्तर की दराज़ों में बंद रहा। दिसंबर, १९४१ में मुझे छोड़ा गया और मैं कुछ महीनों के लिए जेल से बाहर रहा लेकिन और लोगों की तरह मेरे लिए भी यह वक़्त बड़ी उलझनों और परेशानियों का था। हर तरह की नई घटनाएं घट चुकी थीं प्रशांत महासागर में लड़ाई चल रही थी और जबतक राजनैतिक हालत बेहतर न होती पुराने सूत्रों को इकट्ठा करके प्लानिंग कमेटी के बाक़ी काम को आगे चलाना मुमकिन नहीं था। और तब मैं फिर वापस जेल आ गया।

## ७ कांग्रेस और उद्योग-धंधे बड़े उद्योग बनाम घरेलू उद्योग

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने बहुत अरसे से ग्रामोद्योगों के फिर से उठाने की ख़ासतौर से हाथ-कताई और हाथ-बुनाई की हिमायत की थी। वैसे किसी भी वक़्त कांग्रेस बड़े उद्योगों की तरक़्क़ी के ख़िलाफ़ नहीं थी और विधानमंडलों में या दूसरी जगहों पर जब-जब भी मौक़ा मिला उसने इस रुझान को प्रोत्साहन दिया। सूबों की कांग्रेसी सरकारें भी ऐसा करने के लिए उत्सुक थीं। सन १९१ और १९२ के बीच जिस वक़्त टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स मुसीबत में था बहुत हद तक केंद्रीय असेंबली में कांग्रेस पार्टी के ज़ोर देने की वजह से संकटपूर्ण समय को पार करने के लिए सरकारी मदद दी गई। हिंदुस्तान में जहाज़ों के बनाने और हिंदुस्तानियों

द्वारा समुद्री यातायात की तरक्की का एक ऐसा मामला था जिस पर राष्ट्रीय मत और सरकार में झगड़ा होता रहता था। और हिंदुस्तानी मतों की तरह कांग्रेस भी इस बात के लिए उत्सुक थी कि जहाज बनाने के हिंदुस्तानी कारबार को हर तरह की मदद दी जाये। सरकार भी उतनी ही तुली हुई थी कि बड़ी-बड़ी ब्रिटिश जहाजी कंपनियों के निहित स्वार्थों की हिफ़ाज़त की जाये। इस तरह सरकारी भेद-भाव की नीति की वजह से हिंदुस्तानी जहाजी कारबार बढ़ने से रोका गया, वैसे हिंदुस्तानी जहाजी कारबार के पास पूंजी भी थी और साथ ही इंतज़ाम करने की सामर्थ्य और तकनीकी योग्यता भी थी। जब कभी किसी ब्रिटिश औद्योगिक, व्यावसायिक और आर्थिक हित का सवाल होता, इस तरह का भेदभाव बराबर बरता जाता।

उस बड़े महासंगठन इंपीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज़ का हमेशा पक्षपात किया गया है और इससे हिंदुस्तानी उद्योगों को नुकसान हुआ है। कुछ बरस पहले उसको पंजाब के खनिज पदार्थों का और दूसरी चीज़ों को निकालने के लिए एक लंबे अरसे का पट्टा दिया गया था। जहांतक मुझे पता है, इस पट्टे की शर्तें ज़ाहिर नहीं की गई थीं, शायद इस वजह से कि सार्वजनिक हित के लिए उनको ज़ाहिर न करना ठीक समझा गया।

प्रांतीय कांग्रेसी सरकारें पॉवर-अल्कोहल का उद्योग चालू करने के लिए उत्सुक थीं। कई नज़र से यह ज़रूरी था, लेकिन संयुक्त प्रांत और बिहार में एक वजह और थी। वहां पर चीनी के बहुत-से कारखाने थे और उनमें चीनी बनाने के सिलसिले में बहुत बड़े पैमाने पर शीरा बनता था, जो बिलकुल बेकार जाता था। यह तजवीज़ हुई कि पॉवर-अल्कोहल तैयार करने के लिए इसका फ़ायदा उठाया जाये। इसका तरीक़ा भी आसान था और सिर्फ़ इस बात को छोड़कर कि शैल तथा बरमा ऑयल कंपनी के हितों पर असर पड़ता, और कोई मुश्किल भी नहीं थी। हिंदुस्तान-सरकार ने इन हितों की हिमायत की और पॉवर-अल्कोहल तैयार करने की इजाज़त देने से इन्कार कर दिया। मौजूदा लड़ाई के तीसरे साल में जब बरमा हाथ से निकल गया और वहां से तेल और पेट्रोल मिलना बंद हो गया तो सरकार की यह समझ आई कि पॉवर अल्कोहल ज़रूरी चीज़ थी, और उसको हिंदुस्तान में तैयार करना चाहिए। अमरीकी ग्रेडी कमेटी ने १९४२ में इस पर बहुत ज़्यादा ज़ोर दिया।

इस तरह कांग्रेस हमेशा ही हिंदुस्तान के औद्योगीकरण की हामी रही है और साथ ही घरेलू धंधों की तरक्की की भी तरफ़दार रही है और उसने उसमें काम किया है। क्या इस नीति में कोई टकराव
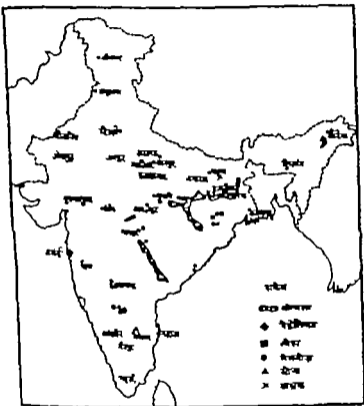
भारत—खनिज साधन

है ? शायद महत्त्व देने में अंतर है और उसमें उन इन्सानी और आर्थिक बातों का भी खयाल रखा गया है जिन्हें हिंदुस्तान में पहले नजरअंदाज कर दिया गया था। हिंदुस्तानी उद्योगपति और उनका समर्थन करनेवाले राजनीतिज्ञ उन्नीसवीं सदी के यूरोप के पूंजीवादी उद्योग की तरक्की के ढंग पर सोचते थे और उन्होंने उन बुरे नतीजों को जो बीसवीं सदी में बिल्कुल साफ शक्ल में सामने आये भुला दिया। हिंदुस्तान में जहां स्वाभाविक प्रगति १ साल से रोक दी गई थी ये बुरे नतीजे और भी ज्यादा सामने आते। जिस ढंग से बीच के पैमाने के उद्योग हिंदुस्तान में चालू हो रहे थे उनकी वजह से मौजूदा आर्थिक व्यवस्था में मजदूरों की खपत नहीं हो रही थी बल्कि बेकारी बढ़ रही थी। जहां एक सिरे पर तो पूंजी इकट्ठी होती जा रही थी दूसरे सिरे पर गरीबी और बेकारी बढ़ रही थी। किसी दूसरे ढांचे में बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों पर जोर देकर, जिनमें मजदूरों की खपत हो और फायदे के साथ असली लागत बनाकर, इस बुराइयों से बचा जा सकता था।

आम जनता की बढ़ती हुई गरीबी से गांधीजी पर जबरदस्त असर पड़ा। मेरा ऐसा खयाल है कि यह सच है कि कुल मिलाकर उनके जिंदगी के नजरिये में और उसमें जिसको आधुनिक नजरिया कहा जाता है, एक बुनियादी भेद है। आध्यात्मिक और नैतिक चीजों पर चोट पहुंचाकर विलास की चीजों की बढ़ती और दिन-ब-दिन बढ़नेवाले रहन-सहन की तरफ वह आकर्षित नहीं होते। आराम की जिंदगी के वह पक्ष में नहीं हैं; उनके लिए जो सीधा रास्ता है वह महनत का है, और विलासप्रियता से विकृति होती है और गुणों का क्षय होता है। सबसे बड़ी बात यह है कि अमीरों और गरीबों के बीच में उनके रहन-सहन के ढंग में और विकास के मौकों में जो बहुत बड़ी खाई है उससे गांधीजी के दिल को बहुत चोट पहुंचती है। अपने निजी और मनोवैज्ञानिक संतोष के लिए उन्होंने इस खाई को पार किया और गरीबों की तरफ चले गये और सुधार की ऐसी चीजों को अपने काम में लाये जो खुद गरीबों की बिसात के भीतर थीं—उन्हीं का-जैसा रहना-सहना या ढंग उन्हीं की-सी पोशाक या उन्हीं की तरह अधनंगापन। थोड़े-से अमीरों और गरीब जनता में जो बहुत बड़ा फर्क था उसकी उन्हें दो खास वजह मालूम हुई—विदेशी राज्य और उसके साथ होनेवाला शोषण और पश्चिम का पूंजीवादी औद्योगिक सभ्यता जिसकी प्रतीक बड़ी मशीन थी। इन्हीं के खिलाफ उनकी प्रतिक्रिया हुई। बड़ी चाह के साथ उन्हें गुजरे जमाने के वे दिन याद आये जब स्वाधीनी और बहुत हद तक स्वयं

पर्याप्त ग्रामीण समुदाय थे जहां अपने-ही-आप उत्पादन विभाजन और उप-भोग में संतुलन था जहां राजनैतिक और आर्थिक सत्ता फैली हुई थी और आजकल की तरह केंद्रित नहीं थी जहां एक सादा लोकतंत्र था जहां गरीब और अमीर के बीच में बड़ी खाई नहीं थी जहां बड़े शहरों की बुराइयां नहीं थीं और लोग जीवन देनेवाली जमीन के संपर्क में रहते थे और खुली जगह में ताजी और साफ़ हवा की सांस लेते थे।

गांधीजी में और दूसरे लोगों में जीवन के मानों के बारे में ही यह सब बुनियादी फ़र्क था और यही फ़र्क उनकी भाषा में और उनके काम काज में जाहिर था। उनकी भाषा साफ़ और जोरदार थी और उसकी प्रेरणा खासतौर से हिंदुस्तान की लेकिन साथ ही दूसरे देशों की भी प्राचीन नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं में थी। नैतिक मूल्य बराबर बना रहना चाहिए ध्येय अनुचित साधनों को न्याय्य नहीं बना सकता नहीं तो व्यक्ति और जाति मिट जाती है।

और फिर भी वह कोई स्वप्न देखनेवाले आदमी नहीं थे जिसका ध्यान किसी काल्पनिक छाया-चित्र में हो और जो जिंदगी और उसकी समस्याओं से अलग हो। वह गुजरात के रहनेवाले थे जो ऊंचे दर्जे के व्यापारियों का घर है। हिंदुस्तानी गांवों की और वहां की जिंदगी की हालत की उनको अद्वितीय जानकारी थी। अपने उस निजी तजुरबे से ही उन्होंने चरखे और ग्रामोद्योग का अपना कार्यक्रम तैयार किया। अगर बेकार और अर्ध-बेकार लोगों की बहुत बड़ी तादाद को फ़ौरन ही कुछ राहत पहुंचानी थी अगर उस सड़ांध को जो सारे हिंदुस्तान में फैल रही थी और जनता को निकम्मी बना रही थी रोकना था अगर गांववालों के रहन-सहन के दर्जे को सामूहिक रूप से उठाना था अगर बेबसों की तरह दूसरों का मुंह ताकने की जगह उन्हें आत्म-निर्भरता सिखानी थी और अगर इस सबको थोड़ी-सी ही पूंजी के सहारे करना था तो और कोई रास्ता नहीं था। विदेशी राज्य की जन्म-जात बुराइयों और शोषण के अलावा और सुधार की बड़ी योजनाओं को शुरू और कारगर करने की आजादी के अभाव में हिंदुस्तान के सामने जो मसला था वह यह था कि पूंजी कम थी और श्रम की बहुतायत थी। उस निरर्थक श्रम को उस जन-शक्ति को जो कुछ भी उत्पादन नहीं कर रही थी किस तरह काम में लाया जाये? जन-शक्ति में और यंत्र-शक्ति में हिमाकत-भरी तुलना की जाती है। यह ठीक है कि एक बड़ी मशीन हजारों आदमियों का काम कर सकती है लेकिन अगर वे दस हजार व्यक्ति बेकार बैठे रहें और भूखों मरें, तो उस मशीन का इस्तेमाल सामाजिक हित

भी इतना ही पक्का यक़ीन है कि अगर हमको औद्योगीकरण का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाना है और उसके बहुत-से ख़तरों से बचना है, तो हमको बड़ी सावधानी के साथ योजनाबद्ध होकर चलना होगा। उन सब देशों में जहां तरक़्क़ी रुक गई है, मसलन चीन और हिंदुस्तान में जिनमें अपनी निजी मज़बूत परंपराएं हैं, ऐसा योजना-निर्माण बहुत ज़रूरी है।

चीन में मैं औद्योगिक सहकारिता (इंडस्को)-आंदोलन से बहुत आकर्षित हुआ और मुझे ऐसा लगता है कि कुछ ऐसे ही ढंग का आंदोलन हिंदुस्तान के लिए भी ख़ासतौर से मुनासिब होगा। यह हिंदुस्तानी पृष्ठभूमि के अनुरूप होगा। यह छोटे उद्योगों को लोकतंत्री आधार देगा और इससे सहकारिता की आदत बढ़ेगी। इसे बड़े उद्योग का सहयोगी बनाया जा सकता है। यह बात ध्यान में रखने की है कि हिंदुस्तान में बड़े उद्योग की वृद्धि कितनी ही तेज़ी से क्यों न हो छोटे और घरेलू धंधों के लिए एक बहुत बड़ा क्षेत्र बराबर खुला रहेगा। ख़ुद सोवियत रूस में मालिक-उत्पादक सहकारी-संस्थाओं ने भी औद्योगिक बढ़वार में एक अहम हिस्सा लिया है।

छोटे कारबार में बिजली की ताक़त के इस्तेमाल से उसकी तरक़्क़ी में आसानी होती है और वह ऐसी आर्थिक स्थिति में आ सकती है कि बड़े पैमाने के उद्योगों से मुक़ाबला कर सके। विकेंद्रीकरण के पक्ष में अब लोग झुक रहे हैं यहांतक कि हेनरी फ़ोर्ड भी उसके पक्ष में हैं। वैज्ञानिक भी उन मनोवैज्ञानिक और शारीरिक ख़तरों की तरफ़ इशारा कर रहे हैं, जो बड़े कारबारी शहरों की ज़िंदगी में ज़मीन से नाता टूट जाने पर पैदा होते हैं। कुछ लोगों ने तो यहांतक कहा है कि मानव अस्तित्व के लिए यह ज़रूरी है कि फिर ज़मीन और गांव से नाता जोड़ा जाये। ख़ुशक़िस्मती से आज विज्ञान ने यह मुमकिन कर दिया है कि आबादी फैली हुई रहे और ज़मीन के संपर्क में हो और साथ ही वह आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की सारी सुविधाओं का फ़ायदा उठा सके।

जो भी हो, पिछले बीसियों बरसों में हिंदुस्तान में हमारे सामने जो समस्या रही है वह यह है कि मौजूदा परिस्थितियों में विदेशी राज्य और उससे उत्पन्न निहित स्वार्थों की वजह से सीमित होते हुए भी हम किस तरह जनता की ग़रीबी कम कर सकते हैं और उसमें आत्म-निर्भरता की भावना भर सकते हैं? वैसे तो हमेशा घरेलू धंधों को बढ़ाने के पक्ष में बहुत-सी दलीलें हैं, लेकिन जिस विशेष स्थिति में हम थे उसमें निश्चित रूप से यही सबसे ज़्यादा कारगर चीज़ थी। जिन रास्तों को अपनाया गया

मे नही है। यह तो सिर्फ उस व्यापक दृष्टिकोण में ही संभव होगा जिसमें खुद सामाजिक हालत में रद्दोबदल होनी जरूरी है। जब यहां बड़ी मशीन बिल्कुल है ही नही तो तुलना का कोई सवाल ही नही उठता व्यक्तिगत और राष्ट्रीय दोनों ही नजरों से उत्पादन के लिए जन-शक्ति का इस्तेमाल एक निश्चित काम है। इसमें और बड़े-से-बड़े पैमाने पर मशीनों का इस्तेमाल करने मे कोई अनिवार्य संघर्ष नही है। बस उसके लिए जरूरी बात सिर्फ यही है कि मशीन के इस्तेमाल में पहला उद्देश्य श्रम को बचाने के लिए हो न कि बेकारी बढ़ाने के लिए।

पश्चिम के छोटे लेकिन उद्योग की दृष्टि से अति उन्नत देशों का या उन बड़े देशो का जिनकी आबादी बहुत कम और छितरी हुई है मसलन अमरीका और सोवियत संघ का हिंदुस्तान से मिलान करना गलतफहमी पैदा करता है। पश्चिमी यूरोप में औद्योगीकरण सौ साल से चालू रहा है और धीरे-धीरे वहां की आबादी ने उससे अपना मेल बिठा लिया है आबादी पहले तो बड़ी तेजी से बढ़ी फिर उसकी तरक्की रुक गई और अब घट रही है। अमरीका और सोवियत संघ में विस्तृत प्रदेश है जिनमें थोड़ी लेकिन बढ़ती हुई आबादी है। वहां खेती के लिए जमीन का फ़ायदा उठाने के लिए ट्रैक्टर बिलकुल जरूरी है। लेकिन गंगा नदी के घने बसे हुए प्रदेश में भी ट्रैक्टर की उतनी ही जरूरत है यह बात जाहिर नहीं होती और कम-से-कम उस वक्त तक तो यह सच है ही जबतक बहुत बड़ी तादाद में आबादी गुजर के लिए जमीन का सहारा लेती है। दूसरे मसले भी उसी तरह सामने आते हैं जैसे वे अमरीका में सामने आये है। हिंदुस्तान में हजारों बरसों से खेती होती आई है और जमीन का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाया गया है। क्या ट्रैक्टर की मदद से जमीन को ज्यादा गहरा जोतने से यह जमीन कमजोर और खराब होगी? जब हिंदुस्तान मे रेलें बनीं और उनके लिए ऊंचे बांध बनाये गए तो देश के स्वाभाविक ढाल पर कोई ध्यान नही दिया गया। इन बांधों ने स्वाभाविक बहाव में दखल दिया है और उसका नतीजा यह हुआ है कि बार-बार बड़ी बड़ी बाढ़ आई है जमीन में कटाव हो गये है और मलेरिया फैल गया है।

मैं पूरी तौर से ट्रैक्टर और बड़ी मशीनों का हिमायती हूं और मेरा यह पक्का खयाल है कि धरती का भार घटाने के लिए हिंदुस्तान का तेजी से औद्योगीकरण जरूरी है। साथ ही गरीबी का मुकाबला करने के लिए, रहन-सहन के स्तर को उठाने के लिए प्रतिरक्षा के लिए और बहुत-से दूसरे कामों के लिए यह औद्योगीकरण जरूरी है। लेकिन मुझे इस बात में

हूं कि कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में ताकत और दौलत के केंद्रीकरण के लिए मशीन का इस्तेमाल किया जाय। आज मशीन का इस्तेमाल इसीलिए होता है। कई किस्म के बड़े उद्योगों बड़े पैमाने पर बुनियादी उद्योगों और सार्वजनिक उपयोगिताओं की ज़रूरत को भी उन्होंने मंजूर कर लिया। लेकिन इसके बारे में उनकी शर्त यह ज़रूर थी कि उन पर सरकारी क़ब्ज़ा हो और ये धंधे उन घरेलू धंधों में दख़ल न दें जिनको वह ज़रूरी समझते थे। अपनी तजवीज़ों के बारे में ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा—"अगर इस कार्यक्रम को आर्थिक बराबरी की ठोस बुनियाद पर नहीं खड़ा किया गया तो वह बालू पर बनी इमारत की तरह होगा।"

इस तरह घरेलू और छोटे धंधों के उत्साही समर्थक भी इस बात को मानते हैं कि कुछ हद तक बड़े पैमाने का उद्योग ज़रूरी और लाज़िमी है। बस इतनी बात ज़रूर है कि जहांतक मुमकिन हो वे इसको सीमित कर देना चाहेंगे। इस तरह सवाल मोटे तौर पर यह रह जाता है कि इन दो तरीक़ों में किसे ज़्यादा अहमियत दी जाये और किस तरह दोनों में समतौल क़ायम किया जाये। इस बात से शायद ही कोई ख़िलाफ़ हो कि मौजूदा दुनिया के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय अंतर्निर्भरता के ढांचे में भी कोई देश तबतक राजनैतिक और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकता जबतक कि उसके उद्योग-धंधे खूब बढ़े हुए न हों और जबतक उसके शक्ति-स्रोत पूरी-पूरी तरह विकसित न हों। जीवन के क़रीब-क़रीब हर क्षेत्र में आधुनिक औद्योगिक हुनर के बिना वह देश रहन-सहन के ऊंचे मापदंड पर न तो पहुंच ही सकता है और न उस मापदंड को बनाये रख सकता है और न ग़रीबी को मिटा सकता है। उद्योगों में पिछड़े हुए देश से दुनिया का संतुलन बराबर बिगड़ता रहेगा और दूसरे उन्नत देशों की आक्रमक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। अगर राजनैतिक आज़ादी हुई, तो वह सिर्फ़ नाम के लिए होगी और आर्थिक नियंत्रण धीरे-धीरे दूसरों के हाथों में चला जायेगा। इस नियंत्रण से खुद उसकी छोटे पैमाने की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ जायेगी जिसको अपनी ज़िंदगी के नज़रिये के माफ़िक़ बनाये रखने की उसने कोशिश की थी। इस तरह घरेलू और छोटे उद्योग-धंधों की बुनियाद पर किसी देश की अर्थ-व्यवस्था बनाने की कोशिश कामयाब नहीं हो सकती। देश के बुनियादी मसलों को न तो वह हल कर सकती है और न आज़ादी को क़ायम रख सकती है और सिवाय एक औपनिवेशिक की शक्ल में उसका दुनिया के ढांचे में मेल भी नहीं बैठ सकता।

क्या किसी देश में बिलकुल दो ढंगों की अर्थ-व्यवस्था मुमकिन है—

ऐसा हो सकता है कि वे सबसे ज्यादा मौजूं न हों। समस्या बड़ी थी मुश्किलें थी उसमें थीं और हमको अकसर सरकारी दमन का सामना करना पड़ता था। हमको धीरे-धीरे तजरबे और गलती करके सीखना होता था। मेरा ऐसा ख़याल है कि हमको सहकारी-संस्थाओं को शुरू से ही प्रोत्साहन देना चाहिए था और घर और गांव के लिए उपयुक्त छोटी मशीनों के सुधार के लिए विशेषज्ञों की तकनीकी और वैज्ञानिक जानकारी का इस्तेमाल करना चाहिए था। अब इन संस्थाओं में सहकारी-सिद्धांत लागू किया जा रहा है।

अर्थशास्त्री जी डी एच कोल ने कहा है कि "खद्दर-उद्योग को बढ़ाने का गांधीजी का आंदोलन किसी शौकीन मिज़ाज आदमी का गुज़रे हुए ज़माने को लौटा लाने के लिए सिर्फ़ एक खिलवाड़ नहीं है, बल्कि गांव की हालत को सुधारने और ग़रीबी को दूर करने के लिए एक असली कोशिश है। बेशक यही बात थी बल्कि उससे भी कुछ ज़्यादा। उस योजना ने हिंदुस्तान को यह सोचने के लिए मजबूर किया कि ग़रीब किसान भी इन्सान है। उसने हिंदुस्तान को यह महसूस कराया कि थोड़े-से शहरों की चमकदमक के पीछे ग़रीबी और तकलीफ़ की कीचड़ थी और इससे लोग इस बुनियादी सचाई को जान पाये कि हिंदुस्तान की आज़ादी और तरक्क़ी की सच्ची कसौटी कुछ करोड़पतियों के या समृद्धिशाली वकीलों के या ऐसे ही लोगों के बनने में नहीं थी और न वह कौंसिल या असेंबली बना देने में थी बल्कि वह किसान की ज़िंदगी की हालत और हैसियत बदल देने में थी। अंग्रेज़ों ने हिंदुस्तान में एक नई जमात या जाति पैदा कर दी थी और वह थी अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की जमात जो अपनी निजी दुनिया में रहती थी आम जनता से अलहदा थी और जो हमेशा ही यहांतक कि विरोध के मौक़ों पर भी अपने शासकों के मुंह की तरफ़ देखती थी। गांधीजी ने कुछ हद तक उस खाई को पाटा और उनको अपनी दिशा बदलकर अपनी निजी जनता की तरफ़ देखने को मजबूर किया।

मशीन के इस्तेमाल के सिलसिले में गांधीजी का रुख़ धीरे-धीरे बदलता हुआ मालूम दिया। उन्होंने कहा—"जिस चीज़ के मैं ख़िलाफ़ हूं वह है मशीन के लिए पागलपन, ख़ुद मशीन के मैं ख़िलाफ़ नहीं हूं।" "अगर गांव के हर घर में बिजली हो और अगर गांववाले अपने औज़ारों को बिजली से चलायें तो उसमें मुझे कोई ऐतराज़ नहीं होगा।" कम-से-कम वर्तमान परिस्थितियों में उनके ख़याल से बड़ी मशीन से लाज़िमी तौर पर ताक़त और दौलत का केंद्रीकरण होता है। "मैं इसे एक पाप और अन्याय समझता

हूं कि कुछ थोड़े-से लोगों के हाथों में ताक़त और दौलत के केंद्रीकरण के लिए मशीन का इस्तेमाल किया जाय। आज मशीन का इस्तेमाल इसीलिए होता है। कई किस्म के बड़े उद्योगों, बड़े पैमाने पर बुनियादी उद्योगों और सार्वजनिक उपयोगिताओं की ज़रूरत को भी उन्होंने मंज़ूर कर लिया। लेकिन इसके बारे में उनकी शर्त यह ज़रूर थी कि उन पर सरकारी क़ब्ज़ा हो और ये धंधे उन घरेलू धंधों में दख़ल न दें, जिनको वह ज़रूरी समझते थे। अपनी तजवीज़ों के बारे में ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा—"अगर इस कार्यक्रम को आर्थिक बराबरी की ठोस बुनियाद पर नहीं खड़ा किया गया तो वह बालू पर बनी इमारत की तरह होगा।

इस तरह घरेलू और छोटे धंधों के उत्साही समर्थक भी इस बात को मानते हैं कि कुछ हद तक बड़े पैमाने का उद्योग ज़रूरी और लाज़िमी है। बस इतनी बात ज़रूर है कि जहांतक मुमकिन हो वे इसको सीमित कर देना चाहेंगे। इस तरह सवाल मोटे तौर पर यह रह जाता है कि इन दो तरीक़ों में किसे ज़्यादा अहमियत दी जाये और किस तरह दोनों में समतौल क़ायम किया जाये। इस बात के शायद ही कोई ख़िलाफ़ हो कि मौजूदा दुनिया के संदर्भ में अंतर्राष्ट्रीय अंतर्निर्भरता के ढांचे में भी कोई देश तबतक राजनैतिक और आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं हो सकता जबतक कि उसके उद्योग-धंधे खूब बढ़े हुए न हों और जबतक उसके शक्ति-स्रोत पूरी-पूरी तरह विकसित न हों। जीवन के क़रीब-क़रीब हर क्षेत्र में आधुनिक औद्योगिक हुनर के बिना वह देश रहन-सहन के ऊंचे मापदंड पर न तो पहुंच ही सकता है और न उस मापदंड को बनाये रख सकता है और न ग़रीबी को मिटा सकता है। उद्योगों में पिछड़े हुए देश से दुनिया का संतुलन बराबर बिगड़ता रहेगा और दूसरे उन्नत देशों की आक्रमक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलेगा। अगर राजनैतिक आज़ादी हुई, तो वह सिर्फ़ नाम के लिए होगी और आर्थिक नियंत्रण धीरे-धीरे दूसरों के हाथों में चला जायेगा। इस नियंत्रण से खुद उसकी छोटे पैमाने की अर्थ-व्यवस्था बिगड़ जायेगी जिसको अपनी ज़िंदगी के नज़रिये के माफ़िक़ बनाये रखने की उसने कोशिश की थी। इस तरह घरेलू और छोटे उद्योग-धंधों की बुनियाद पर किसी देश की अर्थ-व्यवस्था बनाने की कोशिश कामयाब नहीं हो सकती। देश के बुनियादी मसलों को न तो यह हल कर सकती है और न आज़ादी को क़ायम रख सकती है और सिवाय एक नौआबादी की शक्ल में उसका दुनिया के ढांचे में मेल भी नहीं बैठ सकता।

क्या किसी देश में बिल्कुल दो ढंगों की अर्थ-व्यवस्था मुमकिन है—

एक वह जिसकी बुनियाद बड़ी मशीन और औद्योगीकरण पर हो और दूसरी वह जिसमें घरेलू धंधों की प्रधानता हो ? यह बात मुमकिन नहीं मालूम देती क्योंकि उनमें से किसी एक की जीत होगी और इसमें कोई शक नहीं है कि जीत बड़ी मशीन की होगी। हां अगर उसे जबरदस्ती रोक दिया जाय तो बात दूसरी है। इस तरह यह दो ढंगों के उत्पादन और दो ढंगों की अर्थ-व्यवस्था के समझौते का सवाल नहीं है। उनमें एक की प्रधानता और महत्ता होगी और दूसरी उसमें जहां मुमकिन होगा पूरक की तरह जुड़ी होगी। वह अर्थ-व्यवस्था जिसकी बुनियाद नई-से-नई तकनीकी जानकारी पर होगी कायिमी तौर पर आधिपत्य उसीका होगा। अगर औद्योगिक हुनर के लिहाज से आजकल की तरह बड़ी मशीन की जरूरत हो, तो उसकी सारी बुराइयों-बुराइयों के बावजूद बड़ी मशीन को अपनाना होगा। उस हुनर के लिहाज से जहां बड़ी उत्पादन में विकेंद्रीकरण मुमकिन हो वहां वह वाञ्छनीय होगा। लेकिन हर सूरत में नये-से-नये ढंग को बनाये रखना होगा क्योंकि उत्पादन के पीछे हुए और पुराने ढंगों से चिपके रहने पर (सिवाय किसी खास वजह से और वह भी आरज़ी रूप से ही) तरक्की रुक जायेगी।

छोटे और बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों के अपने गुणों के बारे में कोई दलील देना अब आमतौर से बेमानी मालूम देता है, क्योंकि दुनिया ने और उसके सामने आनेवाली हालत की प्रभावी सचाइयों ने बड़े उद्योगों के पक्ष में फ़ैसला दे दिया है। खुद हिंदुस्तान में भी इन्हीं सचाइयों की वजह से फ़ैसला हो गया है और किसीको इसमें शक नहीं है कि नज़दीक भविष्य में हिंदुस्तान में तेज़ी से औद्योगीकरण होगा। उस दिशा में हिंदुस्तान खूब काफ़ी आगे आ चुका है। बिना नियमन और योजना-निर्माण के औद्योगी-करण की बुराइयां अब साफ़ी जाने लगी हैं। ये बुराइयां बड़े उद्योग के साथ लाज़िमी तौर से लगी हुई हैं या ये सामाजिक और आर्थिक ढांचे की वजह से हैं यह एक दूसरी बात है। अगर उनकी ज़िम्मेदारी आर्थिक ढांचे पर ही है तो निश्चय ही हमको उस ढांचे को बदलने की कोशिश करनी चाहिए, न कि पद्धति के वाञ्छनीय और लाज़िमी नतीजों को दोष देना चाहिए।

असली सवाल यह नहीं है कि दो मुख्तलिफ तरीकों और पैदावार के तरीकों के बीच किसी को मंजूर किया जाये, बल्कि यह कि एक नये तरीके का ढंग अख्तियार किया जाये जिससे कई सामाजी मसले हल हो सकें। इस बुनियादी परिवर्तन के आर्थिक और राजनैतिक पहलू तो जाहिर हैं, लेकिन मनोवैज्ञानिक और सामाजिक पहलू भी उतने

ही महत्त्वपूर्ण है। खासतौर से हिंदुस्तान में जहां हम सोच-विचार और काम-काज के पुराने तरीक़ों से बहुत अरसे से बंधे रहे हैं, नये तजुरबे और नई प्रक्रियाएं, जो नये विचारों और नये क्षितिज की तरफ़ ले जायें जरूरी है। इस तरह हम अपने जीवन के गतिहीन स्वभाव को बदल देंगे और उसको गतिशील और सजीव बना देंगे और हमारे मस्तिष्क क्रियाशील और साहसपूर्ण हो जायेंगे। जब दिमाग़ को मजबूरन नई हालतों का सामना करना पड़ता है, तो नये तजुरबे होते हैं।

अब यह बात आमतौर पर मानी जाती है कि बच्चों की शिक्षा का किसी दस्तकारी या हाथ के काम से क़रीबी ताल्लुक होना चाहिए। उससे दिमाग़ को उत्तेजना मिलती है और दिमाग़ के और हाथ के काम में समतौल पैदा होता है। उसी तरह मशीन से भी बढ़ती उम्र में लड़के या लड़की के दिमाग़ को उत्तेजना मिलती है। मशीन से वास्ता पड़ने पर वह विकसित होता है (हां उचित व्यवस्था के ही अंदर, न कि उस हालत में जबकि कारखाने में कुली मजदूर की तरह उसे पीसा जाता है) और नया क्षितिज सामने आता है। मामूली वैज्ञानिक प्रयोग जैसे खुर्दबीन से देखना और प्रकृति की साधारण-सी प्रक्रिया की व्याख्या से एक तरह की उत्तेजना आती है, जिंदगी की किसी प्रक्रिया की समझ आती है और इस बात की ख्वाहिश जगती है कि पुरानी बातों पर निर्भर रहने की जगह हम खुद तजुरबे करें और जानकारी हासिल करें। अपने पर भरोसा करने और सहकारिता की भावना की वृद्धि होती है और वह मायूसी जो पुरानी सड़न से पैदा होती है कम होती है। ऐसी सभ्यता जिसकी बुनियाद सदा परिवर्तनशील और प्रगतिशील मांत्रिक पद्धति पर होती है, इसी दिशा में ले चलती है। ऐसी सभ्यता पुराने ढंग से बिलकुल जुदा है और उसका आधुनिक औद्योगीकरण से गहरा ताल्लुक है। लाजिमी तौर से उससे नई समस्याएं और नई परेशानियां सामने आती हैं। लेकिन उनमें उनको पार करने की तरकीब का भी पता चलता लगता है।

शिक्षा के साहित्यिक पहलू के प्रति मुझमें पक्षपात का भाव है और मैं प्राचीन साहित्य का प्रशंसक हूं। लेकिन मुझे इस बात का विश्वास है कि बच्चों को भौतिकी और रासायन-शास्त्र में और खासतौर से प्राणीशास्त्र में प्रारंभिक शिक्षा देना और विज्ञान के उपयोगों की जानकारी कराना जरूरी है। सिर्फ़ इसी तरह वे आधुनिक दुनिया को समझ सकते हैं, उसके साथ मेल बिठा सकते हैं और कम-से-कम कुछ हद तक वैज्ञानिक स्वभाव बना सकते हैं। विज्ञान और आधुनिक औद्योगिक प्रशिक्षण की जबरदस्त

कामयाबियां आश्चर्यजनक है (निकट भविष्य में ये कामयाबियां और भी ज्यादा हो जायेंगी)। उसी तरह वैज्ञानिक यंत्रों के कौशल में आश्चर्यजनक रूप से कोमल किंतु शक्तिशाली मशीनों में इस सबमें जिसका जन्म विज्ञान की साहसपूर्ण खोज से हुआ है प्रकृति की प्रक्रियाओं में और कारखाने की आकर्षक झलक में अपने अनगिनत काम करनेवालों के जरिये विज्ञान के सुदूर विस्तार में विचार और व्यवहार के क्षेत्र में और सबसे अधिक इस बात में कि यह सब मानव-मस्तिष्क की ही देन है एक आकर्षण भरा हुआ है।

## ८ औद्योगिक प्रगति पर सरकारी रोक : लड़ाई के जमाने का उत्पादन और सामान्य उत्पादन

हिंदुस्तान में भारी उद्योग की नुमाइंदगी टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स जमशेदपुर से होती थी। उस ढंग की कोई और दूसरी चीज नहीं थी और दूसरे इंजीनियरिंग कारखाने तो असल में दूकानें थीं। सरकारी नीति की वजह से खुद टाटा-कारबार की तरक्की बहुत धीमी हुई थी। पहले महायुद्ध के दौरान में जब रेल के इंजनों और डिब्बों की कमी पड़ी थी तो टाटा कारबार ने इंजन बनाने का इरादा किया और मेरा ऐसा खयाल है कि उसके लिए उन्होंने बाहर से मशीनें तक मंगा ली। लेकिन जब लड़ाई खत्म हुई, तो हिंदुस्तान की सरकार और रेलवे बोर्ड ने (जो केंद्रीय सरकार का एक महकमा है) ब्रिटिश इंजनों को ही लेना तय किया। यह जाहिर है कि इनके लिए खासी तौर पर तो कोई बाजार है नहीं क्योंकि रेलों पर या तो सरकारी कब्जा है या ब्रिटिश कंपनियों का और इसलिए टाटा कंपनी को अपना इरादा छोड़ना पड़ा।

अगर हिंदुस्तान को औद्योगिक ढंग से या दूसरे ढंग से बढ़ना है तो उसकी तीन बुनियादी जरूरतें हैं—भारी इंजीनियरी और मशीन बनानेवाला उद्योग-धंधे वैज्ञानिक खोज की संस्थाएं और बिजली की ताकत। सारी योजना की बुनियाद इन पर होनी चाहिए और नेशनल प्लानिंग कमेटी ने इन पर ज्यादा-से-ज्यादा जोर दिया। हमारे यहां तीनों की ही कमी थी और औद्योगिक फैलाव में बराबर रुकावटें थीं। एक प्रगतिशील नीति से य रुकावटें जल्दी से हट सकती हैं लेकिन सरकारी नीति तो प्रगति के खिलाफ थी और वह साफ तौर से हिंदुस्तान में भारी उद्योग-धंधों की तरक्की को रोकना चाहती थी। उस वक्त भी जब दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ बाहर से जरूरी मशीन मंगाने की इजाजत नहीं दी गई बाद में जहाजी

मुश्किलों का बहाना किया गया। हिंदुस्तान में न तो पूंजी की कमी थी और न होशियार हुनरदार आदमियों की ही कमी थी। सिर्फ़ मशीनों की कमी थी और उद्योगपति उनके लिए हल्ला मचा रहे थे। अगर बाहर से मशीनें मंगाने का मौका दिया गया होता तो सिर्फ़ हिंदुस्तान की आर्थिक हालत ही बेहद बेहतर नहीं हुई होती बल्कि सुदूर पूर्व के युद्ध-क्षेत्र का तमाम नक्शा ही बदल गया होता। बहुत-सी चीजें जो बाहर से लाई जाती थीं और जिनको हवाई जहाज से बहुत मुश्किलों में बहुत खर्च करके लाया जाता था हिंदुस्तान में ही तैयार की जा सकती थीं। चीन और पूर्व के लिए हिंदुस्तान सचमुच ही एक अस्त्रागार बन गया होता और यहां की औद्योगिक उन्नति कनाडा या आस्ट्रेलिया की उन्नति की बराबरी करती। हालांकि लड़ाई की हालतों की जरूरतों का बहुत खयाल था लेकिन हमेशा ही ब्रिटिश उद्योग की आगे की जरूरतें ध्यान में रखी जाती थीं और हिंदुस्तान में किसी ऐसे उद्योग को बढ़ाना अच्छा न समझा जाता था जो युद्ध के बाद के बरसों में ब्रिटिश उद्योग-धंधों का मुकाबला करे। यह कोई गुप्त नीति नहीं थी। ब्रिटिश अखबारों में उसको आमतौर पर जाहिर किया जाता था और हिंदुस्तान में बराबर उसका विरोध होता था।

टाटा कारबार के दूरदर्शी संस्थापक, जमशेदजी टाटा में काफ़ी सूझ थी और उन्होंने बंगलौर में इंडियन इंस्टीट्यूट ऑव साइन्स की शुरुआत की। इस खोज-संबंधी संस्था के ढंग की हिंदुस्तान में बहुत ही कम संस्थाएं थीं। ये दूसरी संस्थाएं सरकारी थीं और उनका कार्य-क्षेत्र सीमित था। इस तरह वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अन्वेषण के विस्तृत क्षेत्र की जिसके सिलसिले में अमरीका और सोवियत संघ में हजारों संस्थाएं, अकादेमियां और विशेष केंद्र हैं, हिंदुस्तान में करीब-करीब पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई थी। जो कुछ होता था वह सिर्फ़ बंगलौर में या कुछ दूर तक विश्वविद्यालयों में। दूसरे महायुद्ध के शुरू होने के कुछ बाद अन्वेषण को प्रोत्साहन देने की कोशिश की गई और हालांकि उसका क्षेत्र सीमित था फिर भी उसके नतीजे अच्छे रहे हैं।

जहां पानी के जहाज और रेल के इंजन बनाने के काम को निरुत्साहित किया गया और रोका गया वहां साथ ही मोटरों का उद्योग चालू करने की कोशिश भी रद्द कर दी गई। दूसरे महायुद्ध के छिड़ने के कुछ बरस पहले इसके लिए तैयारियां शुरू की गई थीं और एक मशहूर अमरीकी मोटर बनाने की कंपनी के सहयोग से एक इंतज़ाम कर लिया गया था। अलग-अलग तैयार हिस्सों को जोड़कर मोटर बनाने का काम हिंदुस्तान में पहले से ही कई जगहों पर हो रहा था। अब खुद उन हिस्सों को ही

हिंदुस्तान में हिंदुस्तानी पूंजी और इंतज़ाम से हिंदुस्तानी कारीगरों के ही हाथों बनाने का इरादा था। उस अमरीकी संस्था के साथ ऐसा इंतज़ाम कर लिया गया था कि उसकी पेटेंट चीज़ों को काम में लाया जा सकता था और शुरू में उसकी तकनीकी देखभाल हासिल होती। बंबई के सूबे की सरकार ने जो उस वक्त कांग्रेसी मंत्रिमंडल के हाथों में थी कितने ही ढंग से मदद देने का वायदा किया। प्लानिंग कमेटी की इस योजना में खासतौर से दिलचस्पी थी। असल में हर चीज़ तय हो चुकी थी और सिर्फ़ बाहर से मशीन मंगाना बाकी था। भारत-सचिव ने इसको पसंद नहीं किया और अपना हुक्म मशीनें मंगाने के खिलाफ़ दिया। भारत-सचिव की राय में 'इस वक्त इस कारबार को चालू करने की किसी भी कोशिश से मज़दूर और मशीन दोनों ही जिनकी लड़ाई के लिए खासतौर से ज़रूरत है, भटक जायेंगे।" यह बात लड़ाई के शुरू के महीनों की है। यह बताया गया कि श्रम की यहांतक कि कुशल श्रम की भी बहुतायत थी बल्कि असल में वह तो काम की तलाश में था। लड़ाई की ज़रूरत भी एक अजीब दलील थी क्योंकि खुद उस ज़रूरत के लिए ही मोटर-यातायात की मांग थी। लेकिन भारत-सचिव या सर्वोच्च अधिकारी जो और लंदन में बैठे थे इन दलीलों से प्रभावित नहीं हुए। यह बात भी सुनने में आई कि एक शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी अमरीकी मोटर-कारपोरेशन ने किसी दूसरे की ओर से हिंदुस्तान में मोटर-उद्योग शुरू करने की बात पसंद नहीं की।

हिंदुस्तान में लड़ाई के दौरान में यातायात की एक बहुत समस्या पैदा हो गई। मोटर ठेलों की कमी थी पैट्रोल की कमी थी रेल के इंजनों की डिब्बों की यहांतक कि कोयले की भी कमी थी। करीब-करीब सभी मुश्किलें आसानी से हल हो गई होतीं अगर लड़ाई से पहले के हिंदुस्तान के प्रस्ताव नामंज़ूर न कर दिये गये होते। इंजन रेल के डिब्बे मोटर ठेले और साथ ही फ़ौजी गाड़ियां भी हिंदुस्तान में बनतीं। पैट्रोल की कमी से जो परेशानी हुई थी वह पॉवर अलकोहल से बहुत हद तक कम हो जाती। जहांतक कोयले का सवाल है हिंदुस्तान में कोई कमी नहीं थी कोयला बहुत तादाद में था लेकिन इस्तेमाल के लिए बहुत थोड़ा निकाला जाता था। लड़ाई के दौरान में कोयले की ज़्यादा मांग के होते हुए भी उसकी निकासी कम हो गई है। कोयले की खानों में हालतें इतनी ख़राब थीं और मज़दूरी इतनी कम थी कि मज़दूरों को इस काम के लिए कोई कशिश न होती थी। आगे चलकर औरतों के लिए ज़मीन के अंदर काम करने पर जो रोक थी वह हटा ली गई, क्योंकि उसी मज़दूरी पर औरतें काम

करने के लिए तैयार थी। कोयले के उद्योग को ठीक करने और मजदूरी व हालतों को सुधारने की कोशिश नहीं की गई, जिससे मजदूरों को आकर्षण होता। कोयले की कमी की वजह से उद्योग-धंधों की तरक्की को बहुत नुकसान पहुंचा यहांतक कि कुछ कारखानों को अपना काम बंद कर देना पड़ा।

कई सौ इंजन और कई हजार डिब्बे हिंदुस्तान से मध्य-पूर्व भेज दिये गये और इस तरह हिंदुस्तान में यातायात की मुश्किलें बढ़ गईं, यहांतक कि कुछ रास्तों की पटरियां भी उखाड़कर बाहर भेज दी गईं। आगे के नतीजों पर बिना ध्यान दिये जिस बेफ़िक्री से यह सब किया गया उस पर आश्चर्य होता है। योजना और दूरदर्शिता का बिल्कुल अभाव था और एक समस्या के आंशिक हल से फ़ौरन ही दूसरी बड़ी और ज्यादा गंभीर समस्याएं सामने आती थीं।

सन १९१९ के आखिर में या १९४ के शुरू में हिंदुस्तान में हवाई जहाज बनाने के उद्योग को शुरू करने की कोशिश की गई। एक अमरीकी कारबार के साथ हर एक चीज तय कर ली गई और हिंदुस्तान-सरकार और हिंदुस्तान में फ़ौजी प्रधान केंद्र को उनकी मंजूरी के लिए समुद्री तार भेज गये। कोई जवाब नहीं मिला। कई बार याद दिलाने पर एक जवाब आया और उसमें योजना को नापसंद किया गया। जब जहाज इंग्लैंड और अमरीका से खरीदे जा सकते हैं तो उन्हें हिंदुस्तान में बनाने की क्या जरूरत है?

लड़ाई से पहले बहुत-सी दवाइयां जर्मनी से हिंदुस्तान को आती थीं। लड़ाई की वजह से उनका आना बंद हो गया। फ़ौरन ही यह सलाह दी गई कि कुछ ज्यादा जरूरी दवाइयों को हिंदुस्तान में बनाना शुरू कर दिया जाये। कुछ सरकारी संस्थाओं में यह इंतजाम आसानी से किया जा सकता था। हिंदुस्तान-सरकार ने इसको पसंद नहीं किया और कहा कि जब हर जरूरी चीज इंपीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज के जरिये मिल सकती है। जब यह सलाह दी गई कि वही चीज हिंदुस्तान में बहुत सस्ते दामों में बन सकती है और उनका दाम जनता और फ़ौज में बिना किसी खास मुनाफ़े के फ़ायदा उठाया जा सकता है, तो ऊंचे अधिकारी इस बात पर नाराज हुए कि राजकीय नीति के मामले में ऐसे ओछे सवालों से दखल दिया गया। यह कहा गया कि "सरकार कोई व्यापारिक संस्था नहीं है।

सरकार व्यापारिक संस्था तो नहीं थी लेकिन व्यापारिक संस्थाओं में उसकी बहुत ज्यादा दिलचस्पी थी और इनमें से एक इंपीरियल केमिकल

हिंदुस्तान में हिंदुस्तानी पूंजी और इंतजाम से हिंदुस्तानी कारीगरों के ही हाथों बनाने का इरादा था। उस अमरीकी संस्था के साथ ऐसा इंतजाम कर लिया गया था कि उसकी पेटेंट चीजों को काम में लाया जा सकता था और शुरू में उसकी तकनीकी देखभाल हासिल होती। बंबई के सूबे की सरकार ने जो उस वक्त कांग्रेसी मंत्रिमंडल के हाथों में थी कितने ही ढंग से मदद देने का वायदा किया। प्लानिंग कमेटी की इस योजना में खासतौर से दिलचस्पी थी। असल में हर चीज तय हो चुकी थी और सिर्फ बाहर से मशीन मंगाना बाकी था। भारत-सचिव ने इसको पसंद नहीं किया और अपना हुक्म मशीनें मंगाने के खिलाफ दिया। भारत-सचिव की राय में इस वक्त इस कारबार को चालू करने की किसी भी कोशिश से मजदूर और मशीन दोनों ही जिनकी लड़ाई के लिए खासतौर से जरूरत है, अटक जायेंगे। यह बात लड़ाई के शुरू के महीनों की है। यह बताया गया कि श्रम भी, यहांतक कि कुशल श्रम की भी बहुतायत थी बल्कि असल में वह तो काम की तलाश में था। लड़ाई की जरूरत भी एक अजीब दलील थी क्योंकि खुद उस जरूरत के लिए ही मोटर-यातायात की मांग थी। लेकिन भारत-सचिव जो सर्वोच्च अधिकारी थे और लंदन में बैठे थे इन दलीलों से प्रभावित नहीं हुए। यह बात भी सुनने में आई कि एक शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी अमरीकी मोटर-कारपोरेशन ने किसी दूसरे की ओर से हिंदुस्तान में मोटर उद्योग शुरू करने की बात पसंद नहीं की।

हिंदुस्तान में लड़ाई के दौरान में यातायात की एक अहम समस्या पैदा हो गई। मोटर ठेलों की कमी थी पैट्रोल की कमी थी रेल के इंजनों की डिब्बों की यहांतक कि कोयले की भी कमी थी। करीब-करीब सभी मुश्किलें आसानी से हल हो गई होतीं अगर लड़ाई से पहले के हिंदुस्तान के प्रस्ताव नामंजूर न कर दिये गये होते। इंजन रेल के डिब्बे मोटर ठेले और साथ ही लड़ाकी गाड़ियां भी हिंदुस्तान में बनतीं। पैट्रोल की कमी से जो परेशानी हुई थी वह पॉवर अल्कोहल से बहुत हद तक कम हो जाती। जहांतक कोयले का सवाल है हिंदुस्तान में कोई कमी नहीं थी कोयला बहुत तादाद में था लेकिन इस्तेमाल के लिए बहुत थोड़ा निकाला जाता था। लड़ाई के दौरान में कोयले की ज्यादा मांग के होते हुए भी उसकी निकासी कम हो गई है। कोयले की खानों में हालतें इतनी खराब थीं और मजदूरी इतनी कम थी कि मजदूरों को इस काम के लिए कोई रुचि न होती थी। खासे चलकर औरतों के लिए जमीन के अंदर काम करने पर जो रोक थी, वह हटा दी गई, क्योंकि उसी मजदूरी पर औरतें काम

इससे यह आश्चर्यजनक सचाई ज़ाहिर होती है कि कुछ चीज़ों (गोला बारूद) को छोड़कर जुलाई, १९४२ में हिंदुस्तान का कुल औद्योगिक काम लड़ाई के पहले के वक्त से कुछ थोड़ा-सा ज़्यादा ही था। दिसंबर, १९४१ में कुछ वक्त के लिए थोड़ा-सा ही चढ़ाव आया और उस वक्त सूचनांक १२७ हो गया और फिर घटने लगा। फिर भी उद्योग-धंधों को दिये हुए सरकारी काम की क़ीमत बराबर बढ़ रही थी। पहले छ: महीनों में यानी अक्तूबर, १९३९ से लेकर मार्च १९४० तक इसकी क़ीमत उनतीस करोड़ रुपये थी और जैसा लार्ड लिनलिथगो ने कहा है १९४२ में अप्रैल से अक्तूबर तक के छः महीनों में यह एक सौ सैंतीस करोड़ रुपये थी।

लड़ाई के सिलसिले में इस लंबे-चौड़े काम से कुल औद्योगिक उत्पादन में कोई ख़ास तरक़्क़ी नहीं ज़ाहिर होती बल्कि उससे असल में इस बात का पता लगता है कि बहुत बड़े पैमाने पर सामान्य उत्पादन की जगह लड़ाई के लिए ख़ास चीज़ों के उत्पादन ने ले ली। उस वक्त उन्होंने लड़ाई की ज़रूरतों को तो ज़रूर पूरा किया लेकिन उसकी क़ीमत नागरिक आवश्यकताओं के उत्पादन को बेहद घटाकर दी। लाज़िमी तौर पर इसका बहुत गहरा असर हुआ। जिस वक्त लंदन में हिंदुस्तान के पक्ष में स्टर्लिंग बैलेन्स बढ़ा और हिंदुस्तान में थोड़े-से लोगों के हाथों में दौलत इकट्ठी हुई, कुल मिलाकर देश ज़रूरत की चीज़ों के लिए तरसता रहा। देश में काग़ज़ी रुपया चल रहा था और उसकी तादाद दिन-ब-दिन बढ़ रही थी। क़ीमतें बढ़ गईं और कभी-कभी तो ये इस दर्जे तक पहुँचीं कि उन पर यक़ीन नहीं होता। सन १९४२ के ही बीच में खाद्य-संकट ज़ाहिर होने लगा। १९४३ के पतझड़ में बंगाल और हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में अकाल ने लाखों जानें लीं। लड़ाई का और सरकारी नीति का बोझ हिंदुस्तान के उन करोड़ों आदमियों पर पड़ा जो उसको उठाने के क़ाबिल न थे और बहुत बड़ी तादाद में लोग एक सबसे निर्दय प्रकार की मौत—भुखमरी—के शिकार होकर ख़त्म हो गये।

जो आँकड़े मैंने दिये हैं, वे १९४२ तक के ही हैं। बाद के आँकड़े मुझे उपलब्ध नहीं हैं। शायद तब से बहुत-सी तब्दीलियाँ हो चुकी हैं और हिंदुस्तान के औद्योगिक काम का सूचनांक अब कुछ ज़्यादा हो।[1] लेकिन जो तस्वीर

[1] लेकिन ऐसा नहीं है। कलकत्ते के 'कैपीटल' ने ९ मार्च १९४४ के अंक में भारत की औद्योगिक गतिविधियों के सूचनांक के बारे में ये आँकड़े

इंडस्ट्रीज थी । इस विशाल संगठन को हिंदुस्तान में बहुत-सी सुविधाएं दी गई थीं । बिना सुविधाओं के ही इसके पास इतने ज्यादा साधन थे कि शायद कुछ हद तक टाटा को छोड़कर और कोई भी हिंदुस्तानी कारबार उसका मुकाबला नहीं कर सकता था । इन सुविधाओं के अलावा उसको हिंदुस्तान और इंग्लैंड दोनों ही जगह ऊंचे अधिकारियों की मदद हासिल थी । हिंदुस्तान के वाइसराय का पद छोड़ने के कुछ ही महीनों बाद लार्ड लिनलिथगो इंपीरियल कैमिकल्स के डायरेक्टर की हैसियत से एक नये रूप में सामने आये । इससे हिंदुस्तान की सरकार और इंग्लैंड के बड़े व्यवसाय का करीबी रिश्ता जाहिर हो जाता है और यह भी कि लाजिमी तौर पर इसका सरकारी नीति पर क्या असर होगा । शायद उस वक्त भी जब लार्ड लिनलिथगो हिंदुस्तान के वाइसराय थे वह इंपीरियल कैमिकल्स के एक बहुत बड़े हिस्सेदार रहे हों । जो भी हो वाइसराय की हैसियत से उन्हें जो विशेष जानकारी थी उसे और हिंदुस्तान के रिश्ते की अपनी लगन को अब उन्होंने इंपीरियल कैमिकल्स की सेवा में अर्पित कर दिया है ।

दिसंबर १९४२ में वाइसराय की हैसियत से लार्ड लिनलिथगो ने कहा—"अमन लड़ाई के सिलसिले में बड़े जबरदस्त काम किये हैं । हिंदुस्तान ने असाधारण अहमियत और कीमत की सहायता दी है । लड़ाई के पहले छः महीनों में करीब उनतीस करोड़ रुपये के ठेके दिये गये । १९४२ में अप्रैल से अक्तूबर तक एक सौ तैंतीस करोड़ के दिये गये । लड़ाई के कुल दौरान में अक्तूबर १९४२ के आखिर तक में चार सौ अट्ठाईस करोड़ से भी ज्यादा के हो गए थे और इन आंकड़ों में उस काम की कीमत शामिल नहीं है जो आर्डिनेंस फैक्टरियों में हुआ और जिसका खुद का ही परिमाण बहुत ज्यादा है ।"

यह बिल्कुल सच है और इस बयान के बाद हिंदुस्तान की लड़ाई की सेवा [illegible] में सहायता बेहद बढ़ गई है । इससे ऐसा खयाल होगा कि औद्योगिक काम में बड़ी भारी तरक्की हुई और उत्पादन बहुत बढ़ गया है । फिर भी ताज्जुब की बात यही है कि ज्यादा फ़र्क नहीं हुआ । सन् १९३८-३९ में हिंदुस्तान के औद्योगिक काम-काज का सूचनांक १११.१ था (सन् १९३५ में १०० माना गया है) । सन् १९३९-४० में यह ११४ था । १९४०-४१ में यह ११२.१ और १२७ के बीच में घटता-बढ़ता रहा । मार्च १९४१ में यह ११८.९ था । अप्रैल १९४२ में यह गिरकर १०९.२ रह गया और फिर अगस्त १९४२ तक बढ़कर ११६.२ ही गया । ये आंकड़े [illegible] हैं क्योंकि इनमें कुछ रासायनिक उद्योग और हथियारों (गोला बारूद) के उत्पादन शामिल नहीं हैं । फिर भी ये महत्त्वपूर्ण हैं ।

इससे यह आश्चर्यजनक सचाई जाहिर होती है कि कुछ चीजों (गोला बारूद) को छोड़कर जुलाई, १९४२ में हिंदुस्तान का कुल औद्योगिक काम लड़ाई के पहले के वक्त से कुछ थोड़ा-सा ज्यादा ही था। दिसंबर, १९४१ में कुछ वक्त के लिए थोड़ा-सा ही चढ़ाव आया और उस वक्त सूचनांक १२७ हो गया और फिर घटने लगा। फिर भी उद्योग-धंधों को दिये हुए सरकारी काम की क़ीमत बराबर बढ़ रही थी। पहले छः महीनों में यानी अक्तूबर, १९३९ से लेकर मार्च १९४ तक, इसकी क़ीमत छत्तीस करोड़ रुपये थी और जैसा लार्ड लिनलिथगो ने कहा है, १९४२ में अप्रैल से अक्तूबर तक के छः महीनों में यह एक सौ सैंतीस करोड़ रुपये थी।

लड़ाई के सिलसिले में इस लंबे चौड़े काम से कुल औद्योगिक उत्पादन में कोई खास तरक्की नहीं जाहिर होती बल्कि उससे असल में इस बात का पता लगता है कि बहुत बड़े पैमाने पर सामान्य उत्पादन की जगह लड़ाई के लिए खास चीजों के उत्पादन ने ले ली। उस वक्त उन्होंने लड़ाई की जरूरतों को तो जरूर पूरा किया लेकिन उसकी क़ीमत नागरिक आवश्यकताओं के उत्पादन को बेहद घटाकर दी। क़ुदरती तौर पर इसका बहुत गहरा असर हुआ। जिस वक्त लंदन में हिंदुस्तान के पक्ष में स्टर्लिंग बैलेन्स बढ़ा और हिंदुस्तान में थोड़े-से लोगों के हाथों में दौलत इकट्ठी हुई, कुल मिलाकर देश जरूरत की चीजों के लिए तरसता रहा। देश में काग़जी रुपया चल रहा था और उसकी तादाद दिन-ब-दिन बढ़ रही थी। क़ीमतें बढ़ गईं और कभी-कभी तो ये इस दर्जे तक पहुंची कि उन पर यक़ीन नहीं होता। सन १९४२ के ही बीच में खाद्य-संकट जाहिर होने लगा। १९४३ के पतझड़ में बंगाल और हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में अकाल ने लाखों जानें लीं। लड़ाई का और सरकारी नीति का बोझ हिंदुस्तान के उन करोड़ों आदमियों पर पड़ा जो उसको उठाने के क़ाबिल न थे और बहुत बड़ी तादाद में लोग एक सबसे निर्दय प्रकार की मौत—भुखमरी—के शिकार होकर खत्म हो गये।

जो आंकड़े मैंने दिये हैं, वे १९४२ तक के ही हैं। बाद के आंकड़े मुझे उपलब्ध नहीं हैं। शायद तब से बहुत-सी तब्दीलियां हो चुकी हैं और हिंदुस्तान के औद्योगिक काम का सूचनांक अब कुछ ज्यादा हो। लेकिन जो तस्वीर

---

[1] लेकिन ऐसा नहीं है। कलकत्ते के 'कैपीटल' ने ९ मार्च १९४४ के अंक में भारत की औद्योगिक गतिविधियों के सूचनांक के बारे में ये आंकड़े

टेक्नीकल मिशन हिंदुस्तान आया। हिंदुस्तान के मौजूदा धंधों का निरीक्षण करके यह उत्पादन बढ़ाने की सलाह देने के लिए आया था। स्वाभाविक है कि केवल युद्ध-उत्पादन से ही उसका ताल्लुक था। उसकी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की गई शायद इस वजह से कि हिंदुस्तान-सरकार ने उसके लिए इजाजत नहीं दी। हां उसकी कुछ सिफ़ारिशों को बाहर ज़ाहिर कर दिया गया। उसने पॉवर अलकोहल तैयार करने की फ़ौलाद के धंधों को विपुल उत्पादन को एल्मिनियम और खोये हुए गंधक के उत्पादन को बढ़ाने की सलाह दी और साथ ही उसने अनेक उद्योगों में समझदारी बरतने की भी सलाह दी। सरकारी ढांचे के अलावा और उससे बिलकुल स्वतंत्र रूप में अमरीकी नमूने पर उच्च सत्ता द्वारा उत्पादन नियंत्रण की भी उसने सलाह दी। ज़ाहिर है कि हिंदुस्तान-सरकार के काहिल और फूहड़ ढंग के लिए ऐसी कमेटी के दिल में कोई इज़्ज़त नहीं हुई। सरकारी ढर्रे पर घमासान लड़ाई का भी कोई खास असर नहीं हुआ था। टाटा स्टील वर्क्स के उस विशाल संगठन से जिसका शुरू से आखिर तक हिंदुस्तानी ही संचालन करते थे और उस संगठन की कुशलता से वह प्रभावित हुई। ऐसी कमेटी की प्रारंभिक रिपोर्ट में आगे यह भी कहा गया कि "मिशन पर हिंदुस्तानी श्रम की ऊंचे दर्जे की सामर्थ्य और उसके बढ़ियापन की अच्छी छाप पड़ी है। हिंदुस्तानी हाथ के काम में होशियार हैं और काम करने की हालतों के सुधारने और नौकरी की तरफ़ से बेफ़िक्री होने पर वे और भी ज़्यादा मेहनत कर सकते हैं और उनका भरोसा किया जा सकता है।"[1]

पिछले दो-तीन बरसों में हिंदुस्तान में रासायनिक उद्योग बढ़ा है, पानी के जहाज़ बनाने के काम में भी कुछ तरक्की हुई है, और एक छोटा-सा हवाई जहाज़ बनाने का धंधा भी शुरू कर दिया गया है। सुपर टैक्स के होते हुए भी लड़ाई के काम के सारे धंधों ने जिनमें कपड़े और जूट की मिलें भी शामिल हैं, बहुत मुनाफ़ा उठाया है और बहुत बड़ी पूंजी इकट्ठी हो

[1] कमेटी की रिपोर्ट पर आलोचना करते हुए बंबई के 'कॉमर्स' ने २८ नवंबर, १९४२ को लिखा—"यह तथ्य स्पष्ट है कि इस देश में औद्योगिक प्रगति का मत्था औंधने के लिए शक्तिशाली स्वार्थ देश के बाहर काम कर रहे हैं ताकि लड़ाई के बाद पश्चिम के कारबार का पूर्व के कारबार से होड़ का खतरा न रहे।

टैक्नीकल मिशन हिंदुस्तान आया। हिंदुस्तान के मौजूदा धंधों का निरीक्षण करके वह उत्पादन बढ़ाने की सलाह देने के लिए आया था। स्वाभाविक है कि केवल युद्ध-उत्पादन से ही उसका ताल्लुक था। उसकी रिपोर्ट प्रकाशित नहीं की गई, शायद इस वजह से कि हिंदुस्तान-सरकार ने उसके लिए इजाजत नहीं दी। हां, उसकी कुछ सिफ़ारिशों को जरूर जाहिर कर दिया गया। उसने पॉवर अलकोहल तैयार करने की, फ़ौलाद के धंधों को, विद्युत उत्पादन को, एलुमिनियम और धोये हुए गंधक के उत्पादन को बढ़ाने की सलाह दी और साथ ही उसने अनेक उद्योगों में समझदारी बरतने की भी सलाह दी। सरकारी ढांचे के अलावा और उससे बिलकुल स्वतंत्र रूप में अमरीकी नमूने पर उच्च सत्ता द्वारा उत्पादन नियंत्रण की भी उसने सलाह दी। जाहिर है कि हिंदुस्तान-सरकार के काहिल और फूहड़ ढंग के लिए ग्रेडी कमेटी के दिल में कोई इज्जत नहीं हुई। सरकारी ढर्रे पर घमासान लड़ाई का भी कोई खास असर नहीं हुआ था। टाटा स्टील वर्क्स के उस विशाल संगठन से, जिसका शुरू से आखिर तक हिंदुस्तानी ही संचालन करते थे, और उस संगठन की कुशलता से वह प्रभावित हुई। ग्रेडी कमेटी की प्रारंभिक रिपोर्ट में आम यह भी कहा गया कि मिशन पर हिंदुस्तानी श्रम की ऊंचे दर्जे की सामर्थ्य और उसके बढ़ियापन की अच्छी छाप पड़ी है। हिंदुस्तानी हाथ के काम में होशियार हैं और काम करने की हालतों के सुधारने और नौकरी की तरफ़ से बेफ़िक्री होने पर वे और भी ज्यादा मेहनत कर सकते हैं और उनका भरोसा किया जा सकता है।"

पिछले दो-तीन बरसों में हिंदुस्तान में रासायनिक उद्योग बढ़ा है, पानी के जहाज बनाने के काम में भी कुछ तरक्की हुई है, और एक छोटा सा हवाई जहाज बनाने का धंधा भी शुरू कर दिया गया है। सुपर टैक्स के होते हुए भी लड़ाई के काम के सारे धंधों ने, जिनमें कपड़े और जूट की मिलें भी शामिल हैं, बहुत मुनाफ़ा उठाया है और बहुत बड़ी पूंजी इकट्ठी हो

---

१ कमेटी की रिपोर्ट पर आलोचना करते हुए बंबई के 'कॉमर्स' ने २८ नवंबर, १९४२ को लिखा—"यह तथ्य स्पष्ट है कि इस देश में औद्योगिक उन्नति का रास्ता रोकने के लिए शक्तिशाली स्वार्थ देश के बाहर काम कर रहे हैं ताकि लड़ाई के बाद पश्चिम के कारबार को पूर्व के कारबार से होड़ का खतरा न रहे।

गई है। नये औद्योगिक कारबार के लिए पूंजी जमाने पर हिंदुस्तान-सरकार ने रोक लगा दी है। इधर हाल मे इस सिलसिले में कुछ ढील दे दी गई है हालांकि लड़ाई खतम होने तक इस सिलसिले में कोई बात निश्चित रूप से नहीं की जा सकती। इस ढील की ही वजह से बड़े व्यापार में शक्ति फूट पड़ने लगी है और लंबी चौड़ी औद्योगिक योजनाएं बन रही हैं। ऐसा मालूम होता है कि हिंदुस्तान में जिसकी तरक्की बहुत अरसे से रोक दी गई थी अब बहुत बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण होने-वाला है।

२

# आखिरी पहलू—२

## दूसरा महायुद्ध

### १ : कांग्रेस विदेश-नीति बनाती है

बहुत अरसे तक हिंदुस्तान की और दूसरी राजनैतिक संस्थाओं की तरह कांग्रेस भी देश की अंदरूनी राजनीति में फंसी रही और उसने विदेशों की घटनाओं पर बहुत कम ध्यान दिया। सन १९२ के बाद के बरसों में उसने दूसरे देशों के मामलों में कुछ दिलचस्पी लेना शुरू किया। समाजवादियों और कम्युनिस्टों के छोटे-छोटे गुटों के अलावा ऐसा और किसी संस्था ने नहीं किया। मुसलमान संस्थाओं की दिलचस्पी फ़िलस्तीन में थी और वे कभी-कभी वहां के मुस्लिम अरबों से हमदर्दी रखनेवाला प्रस्ताव पास कर देती थीं। तुर्की मिस्र और ईरान की कट्टर राष्ट्रीयता पर उनकी नज़र ज़रूर रहती थी लेकिन एक डर के साथ क्योंकि यह राष्ट्रीयता ग़ैर-मज़हबी थी और उसके सबब से कुछ ऐसे सुधार हो रहे थे जो उनकी समझ में इस्लामी प्रथा से पूरी तरह मेल नहीं खा रहे थे। धीरे-धीरे कांग्रेस की विदेश-नीति बनी जिसकी बुनियाद सब जगह से राजनैतिक और आर्थिक साम्राज्यवाद को मिटाने और आज़ाद राष्ट्रों के सहयोग पर थी। यह हिंदुस्तान की आज़ादी की मांग के अनुकूल पड़ती थी। सन १९२ में ही कांग्रेस ने विदेश-नीति पर प्रस्ताव पास किया जिसमें दूसरे देशों से मेल-जोल की अपनी इच्छा और ख़ासतौर पर अपने पड़ोसी देशों से दोस्ताना रिश्ता पैदा करने पर ज़ोर दिया गया था। बाद में दूसरी बड़ी लड़ाई की संभावना पर विचार किया गया और दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से बारह बरस पहले १९२७ में कांग्रेस ने पहली बार उस सिलसिले में अपनी नीति ज़ाहिर की।

यह बात हिटलर के ताक़त में आने के पांच या छः बरस पहले और मंचूरिया में जापानियों का हमला शुरू होने के पहले हुई थी। मुसोलिनी इटली में अपनी जड़ मज़बूत कर रहा था लेकिन उस वक्त उससे दुनिया की शांति को कोई भारी ख़तरा नहीं मालूम होता था। फ़ासिस्त इटली के

इंग्लैंड से दोस्ताना ताल्लुकात थे और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इटली के तानाशाह की तारीफ करते थे। यूरोप में छोटे-छोटे कई तानाशाह थे और आमतौर पर उनका भी इंग्लैंड से दोस्ताना व्यवहार था। हां इंग्लैंड और सोवियत रूस के बीच पूरा विरोध था। 'आर्कोस'[1] पर छापा मारा जा चुका था और कूटनीतिक प्रतिनिधि वापस बुला लिये गये थे। लीग ऑव नेशन्स में और अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आफिस में ब्रिटिश और फ्रान्सीसी नीति निश्चित रूप से अनुदार थी। निरस्त्रीकरण के सिलसिले में जो लगातार बहसें हुईं, उनमें सभी देश जो लीग ऑव नेशन्स के मेंबर थे और जिनमें संयुक्त राज्य अमरीका भी था हवाई बमबाजी को बिलकुल बंद कर देने के पक्ष में थे लेकिन ब्रिटेन ने कुछ शर्तें इसमें भी लगा दीं। कितने ही बरसों तक ब्रिटिश सरकार ने इराक के गांवों और कसबों पर और हिंदुस्तान में उत्तर-पच्छिमी सरहद पर बम बरसाने के लिए हवाई जहाज इस्तेमाल किये थे। कहा यह जाता था कि यह इस्तेमाल 'पहरा देने' या 'देख-भाल' करने के लिए है। इस अधिकार को बनाये रखने के लिए जोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि लीग में इस सिलसिले में कोई आम समझौता नहीं हुआ और उसी वजह से बाद में निरस्त्रीकरण कान्फ्रेंस में भी।

संयुक्त राज्य अमरीका इन दोनों गुटों से अलहदा था। रूस से अलग तो इसलिए कि उसे साम्यवाद से बेहद नफरत थी और ब्रिटिश गुट से इसलिए कि एक तो उसे ब्रिटिश नीति पर विश्वास नहीं था दूसरे वह ब्रिटिश पूंजी, उद्योग और धंधों का प्रतिद्वंद्वी था। सबसे बड़ी वजह अमरीका की नीतरी अलग रहने की प्रवृत्ति और यूरोप के झगड़ों में फंसने का डर था।

ऐसी हालत में हिंदुस्तानी लोकमत लाज़िमी तौर पर सोवियत रूस और पूरबी कौमों की तरफ था। इसके ये मानी नहीं कि आमतौर पर साम्यवाद को मंजूर कर लिया गया था। हां यह सच है कि समाजवादी विचारों की तरफ बहुत लोगों का झुकाव था। चीनी क्रांति की कामयाबी पर बड़े जोश से खुशियां मनाई गईं और इसको हिंदुस्तान की आती हुई आज़ादी और एशिया में यूरोप के आधिपत्य के मिटने का सूचक माना गया। डच ईस्ट इंडीज़ हिंद चीन एशिया के पच्छिमी देशों और मिस्र के राष्ट्रीय आंदोलनों में हमारी दिलचस्पी बढ़ी। सिंगापुर को एक बहुत बड़ा समुद्री अड्डा बनाना और सीलोन (लंका) में ट्रिंकोमाली बंदरगाह का बढ़ाना इन दोनों ही बातों को आनेवाली लड़ाई की खास तैयारी का एक हिस्सा समझा गया—उस लड़ाई का जिसमें ब्रिटेन अपनी साम्राज्य-वादी स्थिति को ज्यादा मज़बूत और पक्का बनाने की कोशिश करेगा और पूरब के उठते हुए कौमी आंदोलन को और सोवियत रूस को कुचल डालेगा।

इस पृष्ठभूमि में सन १९२७ में कांग्रेस ने अपनी विदेश नीति बनानी शुरू की। उसने घोषणा की कि हिंदुस्तान किसी भी साम्राज्यवादी लड़ाई में साथ नहीं देगा और यह कहा कि किसी भी हालत में बिना हिंदुस्तानियों की मंजूरी के उसको किसी भी लड़ाई में मजबूरन हिस्सा न लेना पड़े। बाद के बरसों में यह घोषणा अक्सर दुहराई गई और उसीके मुताबिक चारों तरफ ज़ोरों से प्रचार किया गया। कांग्रेसी नीति और बाद में जैसा आम-तौर पर माना गया हिंदुस्तानी नीति की भी यह घोषणा नींव बन गई। हिंदुस्तान में किसी आदमी या संगठन ने इसका विरोध नहीं किया।

इस बीच में यूरोप में तबदीलियां हो रही थीं और हिटलर और नात्सी मत बढ़ चुके थे। इन तबदीलियों के खिलाफ कांग्रेस में फ़ौरन ही एक प्रतिक्रिया हुई और उसने उनकी निंदा की क्योंकि हिटलर और उसका मत तो उस साम्राज्यवाद और जातिवाद के घृणित और साकारस्वरूप मालूम हुए, जिनके खिलाफ कांग्रेस लड़ रही थी। मंचूरिया में जापानी आक्रमण ने तो और भी ज़ोरदार प्रतिक्रिया पैदा की क्योंकि उसकी चीन के साथ सहानुभूति थी। अबीसीनिया स्पेन चीन-जापान-युद्ध चेकोस्लो

वाकिया और म्यूनिख की बातों से यह भावना और भी मज़बूत हो गई, और आनेवाली लड़ाई के लिए तनाव बढ़ गया।

हिटलर के ताकत में आने से पहले जिस लड़ाई का ख़याल किया जा रहा था उससे यह आनेवाली लड़ाई शायद कुछ दूसरे ढंग की थी। यह होते हुए भी ब्रिटिश नीति बराबर नात्सियों और फ़ासिस्टों की तरफ़ थी और यह यक़ीन करना कठिन था कि यह एक रात में ही अचानक बदल जायगी और आज़ादी और लोकतंत्र की हिमायत करने लगेगी। उसके ख़ास साम्राज्यवादी नज़रिये और साम्राज्य को बनाये रखने की उसकी इच्छा में दोनों ही बातें चाहे जो कुछ हो बराबर बनी रहेंगी। यह भी यक़ीन था कि रूस और उसके आदर्शों के लिए उसकी बुनियादी मुख़ालफ़त बनी रहेगी। लेकिन यह बात दिन-ब-दिन ज़्यादा साफ़ होती गई कि हिटलर को ख़ुश करने की हर कोशिश के बावजूद वह यूरोप की सबसे बड़ी ताक़त बनता जा रहा था। उससे पुराना संतुलन बिल्कुल बदल गया और ब्रिटिश साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण हितों के लिए संकट बढ़ गया। इंग्लैंड और जर्मनी के बीच अब लड़ाई की संभावना पैदा हो गई। और अगर यह लड़ाई हुई तो हमारी नीति क्या होगी? अपनी नीति की दो ख़ास बातों में हम कैसे मेल करेंगे—यानी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध और नात्सी और फ़ासिस्ट मतों का विरोध? तब हम किस तरह अपनी राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता को साथ-साथ रख सकेंगे? उस वक़्त की हालतों में हमारे लिए यह एक मुश्किल सवाल था। लेकिन अगर ब्रिटिश सरकार हमें यह यक़ीन दिलाने के लिए कुछ कर दिखाती कि हिंदुस्तान में उसने साम्राज्यवादी नीति छोड़ दी है और अब वह जनता के सहयोग का सहारा चाहती है, तो यह सवाल मुश्किल भी नहीं था।

राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता का मुक़ाबला होने पर जीत लाज़िमी तौर पर राष्ट्रीयता की होती। ऐसा हर एक प्रदेश में और हर संकट के मौक़े पर हुआ है। फिर एक ऐसे देश में जहाँ पर परदेसियों का क़ब्ज़ा हो अपमान और तकलीफ़ों की एक तीखी याद बनी हो ऐसा फ़ैसला होना बिल्कुल क़ुदरती और लाज़िमी था। इंग्लैंड और फ़्रांस ने जनतंत्री स्पेन और चेकोस्लोवाकिया को धोखा दिया और जिसे उन्होंने ग़लती से (जैसा बाद में साबित हो गया) क़ौमी हित समझ रखा था, उसके लिए अंतर्राष्ट्रीयता की क़ुरबानी की। और अगरचे उसकी हिंदुस्तान स्पेन और चीन से हमदर्दी थी और नात्सीवाद जापानी सैन्यवाद और हमलावर तरीक़ों से वह नफ़रत करता था फिर भी संयुक्त राज्य अमरीका अपनी अलग-अलग

अपने की नीति पर डटा रहा। यह तो पर्ल हार्बर पर जापानी हमले की वजह थी कि वह एकदम पूरे ज़ोर-शोर से लड़ाई में शामिल हो गया। सोवियत रूस ने भी जो अंतर्राष्ट्रीयता का प्रतीक माना जाता था एक कट्टर राष्ट्रीय नीति अपनाई, और इसका नतीजा यह हुआ कि उसके बहुत-से दोस्त और हमदर्द साथी एक उलझन में पड़ गये। लेकिन जर्मन फ़ौजों के अचानक और बेख़बर हमले से सोवियत संघ भी लड़ाई में आ गया। इस बेमानी उम्मीद में कि वे अपने-आपको बचा लें और अलग रहें स्कैंडीनेविया के देशों हालैंड और बेल्जियम ने लड़ाई से बचने की कोशिश की लेकिन वे भी इसके ज़ोरदार चक्कर में आ गये। तुर्की पांच बरसों से एक बड़ी हुई ग़ैर-जानिबदारी की पतली धार पर अपने क़ौमी हितों का लिहाज़ रखते हुए टिका है। मिस्र की जो ज़ाहिरा तो आज़ाद मालूम होता है लेकिन जो असल में अध-गुलाम नौआबादी की हैसियत रखता है और जो ख़ुद लड़ाई के क्षेत्रों में आ जाता है एक अजीब स्थिति है। असली तौर पर वह भी लड़नेवालों में से एक है और वह संयुक्त राष्ट्रों की फ़ौजों के पूरी तरह क़ब्ज़े में है, लेकिन ज़ाहिरा तौर पर वह लड़नेवालों में नहीं है।

अलग-अलग सरकारों और देशों की इन नीतियों के लिए बहाने या सबब हो सकते हैं। जबतक जनता तैयार न हो जाये और पूरी तरह साथ न दे कोई भी लोकतंत्र आसानी से लड़ाई में नहीं शामिल हो सकता यहांतक कि तानाशाही सरकार को भी बुनियाद बनानी पड़ती है। इसके लिए चाहे कोई भी सबब हो या कोई भी सफ़ाई हो यह बात साफ़ है कि जब कभी कोई उलझन आई है, तो राष्ट्रीय विचारों की या उन विचारों की जो इनके मुआफ़िक़ समझे गये हमेशा जीत हुई है और बाक़ी सब विचार जो उससे मेल नहीं खाते थे रद्द कर दिये गये हैं। यह एक असाधारण बात थी कि म्यूनिख के संकट के वक़्त सैकड़ों अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं, फ़ासिस्ट विरोधी-पार्टियां आदि सब-की-सब यूरोप में बिलकुल चुप थीं। न उनमें कोई ताक़त थी न उनका कोई असर था। कुछ आदमियों या छोटे-छोटे गुटों के विचारों में अंतर्राष्ट्रीयता आ सकती है, और वे अपने निजी या राष्ट्रीय हितों को किसी और बड़े आदर्श के लिए बलिदान करने को तैयार भी हो सकते हैं लेकिन राष्ट्रों के साथ यह मुमकिन नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय हितों के लिए तब जोश होता है जब उनका राष्ट्रीय हितों से कोई टकराव नहीं होता। कुछ ही महीने पहले लंदन के अख़बार 'इकोनामिस्ट' ने ब्रिटेन की विदेश-नीति पर बहस करते हुए, लिखा था—'ऐसी विदेश-नीति जो बराबर बनाई रखी जा सकती है, वह सिर्फ़ वही है, जिसमें राष्ट्रीय हितों

की साफ़ तौर पर और पूरी तरह हिफ़ाज़त की गई हो। कोई भी राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के फ़ायदे को अपने निजी फ़ायदे के मुक़ाबले में पहली जगह नहीं देता। सिर्फ़ उसी वक्त जब ये दोनों बिल्कुल एक हों, हम किसी कारगर अंतर्राष्ट्रीयता की उम्मीद कर सकते हैं।

अंतर्राष्ट्रीयता तो सचमुच सिर्फ़ एक आज़ाद देश में ही पनप सकती है। उसकी वजह यह है कि किसी भी गुलाम देश का सारा दिमाग़ और सारी ताक़त अपनी आज़ादी पाने की कोशिश में लगी रहती है। गुलामी की हालत तो उस नहरीले फोड़े की तरह है, जो बदन के हिस्से का तंदुरुस्त होने से सिर्फ़ रोकता ही नहीं है बल्कि जो बराबर दिमाग़ को अर्पन किये रहता है और जिसका असर हर काम और हर ख़याल पर दिखाई पड़ता है। झगड़े की तो उसमें जड़ ही है और उसकी वजह से साथ दिमाग़ उधर लग जाता है और ज़्यादा बड़े सवालों पर सोच-विचार करने में रुकावट आती है। पिछली लगातार की लड़ाई और तकलीफ़ों की याद व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मस्तिष्क में बराबर बनी रहती है। एक विशेष-पन पैदा होता है, एक ज़बरदस्त ज़िद पड़ जाती है और जबतक बुनियादी वजह को न हटा दिया जाय वह मिट नहीं सकती। और एक बात भी जब गुलामी की भावना चली गई हो भाव धीरे-धीरे ही जाता है, क्योंकि बदन की चोटों के मुक़ाबले में दिमाग़ की चोटों के ठीक होने में ज़्यादा वक्त लगता है।

बहुत अरसे से हिंदुस्तान की यह पृष्ठभूमि थी लेकिन गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया रुख दिया और उससे नाउम्मीदी और कड़वेपन की भावना कम हो गई। क़ौमी भावनाएं बनी रहीं, लेकिन जहांतक मेरा ख़याल है और किसी दूसरे क़ौमी आंदोलन में इतनी कम नफ़रत नहीं थी। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे लेकिन साथ-ही-साथ उन्होंने महसूस किया कि उनके पास जो संदेश था वह सिर्फ़ हिंदुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिए था और वह दिल से दुनिया भर में शांति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता में दुनिया-भर का ख़याल था और उसमें किसी दूसरे पर हमला करने की बू नहीं थी। हिंदुस्तान की आज़ादी चाहते हुए भी वह यह विश्वास करने लगे थे कि दुनिया-भर के राष्ट्रों का एक संघ ही सही आदर्श है। उन्होंने कहा था—"मेरी राष्ट्रीयता का विचार तो यह है कि मेरा देश आज़ाद हो जाये और ज़रूरत हो तो सारा देश मिट जाये ताकि मानव जाति जीवित रह सके। जातीय विरोध के लिए यहां जगह नहीं है। यही हमारी राष्ट्रीयता होनी चाहिए।" और फिर "मैं सारी

दुनिया का खयाल रखते हुए सोचना चाहता हूं। मेरी देशभक्ति में मानव मात्र का हित शामिल है। इसी वजह से हिंदुस्तान की सेवा में मानव-मात्र की सेवा आ जाती है। बिल्कुल अलग होकर आजादी बनाये रखना दुनिया की बड़ी कौमों का मकसद नहीं है। दरअस्ल तो खुद-ब-खुद एक-दूसरे से मिलकर और एक-दूसरे पर भरोसा करते हुए रहना है। आज दुनिया के ज्यादा समझदार विचारक बिल्कुल आजाद और एक-दूसरे के खिलाफ लड़ती हुई सरकारें नहीं चाहते। वे तो दोस्ताना और एक-दूसरे पर भरोसा रखनेवाली सरकारों का संघ बनाना चाहते हैं। यह बात शायद बहुत आगे चलकर भविष्य में संभव हो। लेकिन आजादी की जगह दुनिया-भर की आपस की मिली-जुली आजादी के लिए अपनी तत्परता दिखाने में न तो मुझे कोई बहुत बड़ी बात ही महसूस होती है और न ऐसा करना नामुमकिन ही है। आजादी का दावा किये बगैर मैं तो पूरी तरह आजाद बनने की योग्यता चाहता हूं।"

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन में शक्ति और विश्वास बढ़ा लोगों के दिमाग आजाद हिंदुस्तान की बाबत सोचने लगे—उसे कैसा होना चाहिए, उसे क्या करना होगा और दूसरे देशों से उसका क्या और कैसा नाता होगा? देश के बड़े होने उसकी बड़ी ताकत और उसके बहुत ज्यादा फलने-फूलने की गुंजाइश से लोग बड़ी-बड़ी बातों को ही सोचने लगे। हिंदुस्तान किसी देश या राष्ट्र-समूह के पीछे चलनेवाला नहीं हो सकता था। उसकी आजादी और उन्नति से एशिया में और उसकी वजह से सारी दुनिया में एक बहुत बड़ा फ़र्क होगा। उसकी वजह से इंग्लैंड और उसके साम्राज्य से जो कभी हमें बांधे हुए थी उसको तोड़कर पूरी आजादी का खयाल हमारे सामने आया। डोमिनियन स्टेटस चाहे वह आजादी के कितने ही नजदीक क्यों न हो हमारी पूरी तरक्की के लिए एक बिल्कुल नाकाफी रुकावट मालूम दिया। डोमीनियन स्टेटस के पीछे का वह विचार कि एक 'मातृ-देश' अपनी औपनिवेशियों से मिला हुआ है और उन सबके लिए एक ही सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि है, हिंदुस्तान पर बिल्कुल लागू नहीं था। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए, जो एक अच्छी चीज थी यहां ज्यादा बड़ा मौका था, यह सही है लेकिन उसके ये मानी जरूर थे कि साम्राज्य और कामनवेल्थ के बाहर के देशों के साथ खुलकर या पूरी तरह सहयोग नहीं होगा। इस तरह यह एक रोकनेवाली बात बन गई। हमारे विचार, जिनमें भविष्य की समृद्धि का चित्र था इन सीमाओं को पारकर आगे बढ़े और हमने ज्यादा व्यापक सहयोग की बात सोची। हमने खासतौर से पूरब और

की साफ तौर पर और पूरी तरह हिफ़ाज़त की गई हो। कोई भी राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के फ़ायदे को अपने निजी फ़ायदे के मुकाबले में पहली जगह नहीं देता। सिर्फ उसी वक्त जब ये दोनों बिलकुल एक हों हम किसी कारगर अंतर्राष्ट्रीयता की उम्मीद कर सकते हैं।

अंतर्राष्ट्रीयता तो सचमुच सिर्फ एक आजाद देश में ही पनप सकती है। उसकी वजह यह है कि किसी भी गुलाम देश का सारा दिमाग और सारी ताकत अपनी आजादी पाने की कोशिश में लगी रहती है। गुलामी की हालत तो उस नासूरी फोड़े की तरह है, जो बदन के हिस्से का तंदुरुस्त होने से सिर्फ रोकता ही नहीं है, बल्कि जो बराबर दिमाग का ध्यान किये रहता है और जिसका असर हर काम और हर खयाल पर दिखाई पड़ता है। असल की तो उसमें बड़ी ही है और उसकी वजह से साफ दिमाग उधर लग जाता है और ज्यादा बड़े सवालों पर सोच-विचार करने में रुकावट आती है। पिछली लगातार की लड़ाई और तकलीफों की याद व्यक्तिगत और राष्ट्रीय मस्तिष्क में बराबर बनी रहती है। एक चिड़चिड़ापन पैदा होता है, एक जबरदस्त जिद पड़ जाती है और जबतक गुलामी की वजह को न हटा दिया जाय वह मिट नहीं सकती। और उस वक्त भी जब गुलामी की भावना चली गई हो वह धीरे-धीरे ही मरता है, क्योंकि बदन की चोटों के मुकाबले में दिमाग की चोटों के ठीक होने में ज्यादा वक्त लगता है।

बहुत अरसे से हिंदुस्तान की यह पृष्ठभूमि थी लेकिन गांधीजी ने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया रुख दिया और उससे नाउम्मीदी और बदगुमानी की भावना कम हो गई। कौमी भावनाएं बनी रहीं लेकिन यकायक मगर खयाल है और किसी दूसरे कौमी आंदोलन में इतनी कम नफ़रत नहीं थी। गांधीजी कट्टर राष्ट्रवादी थे लेकिन साथ-ही-साथ उन्होंने महसूस किया कि उनके पास जो संदेश था वह सिर्फ हिंदुस्तान के लिए ही नहीं बल्कि सारी दुनिया के लिए था और वह दिल से दुनिया भर में शांति चाहते थे। इसी वजह से उनकी राष्ट्रीयता में दुनिया-भर का खयाल था और उसमें किसी दूसरे पर हमला करने की बू नहीं थी। हिंदुस्तान की आजादी चाहते हुए भी वह यह विश्वास करने लगे थे कि दुनिया-भर के राष्ट्रों का एक संघ ही सही आदर्श है। उन्होंने कहा था—"मेरी राष्ट्रीयता का विचार तो यह है कि मेरा देश आजाद हो जाय और जरूरत हो तो सारा देश मिट जाय ताकि मानव जाति जीवित रह सके। जातीय विद्वेष के लिए यहां जगह नहीं है। यही हमारी राष्ट्रीयता होनी चाहिए।" और फिर "मैं सारे

निया का खयाल रखते हुए सोचना चाहता हूं। मेरी देशभक्ति में मानव-मात्र का हित शामिल है। इसी वजह से हिंदुस्तान की सेवा में मानव-मात्र की सेवा आ जाती है। बिलकुल अलग होकर आजादी बनाये रखना दुनिया की बड़ी कौमों का मकसद नहीं है। उद्देश्य तो सुख-व-चैन एक-दूसरे से मिलकर और एक-दूसरे पर भरोसा करते हुए रहना है। आज दुनिया के ज्यादा समझदार विचारक बिलकुल आजाद और एक-दूसरे के खिलाफ लड़ती हुई सरकारें नहीं चाहते। वे तो दोस्ताना और एक-दूसरे पर भरोसा रखनेवाली सरकारों का संघ बनाना चाहते हैं। यह बात शायद बहुत आगे चलकर भविष्य में संभव हो। लेकिन आजादी की जगह दुनिया-भर की आपस की मिली-जुली आजादी के लिए अपनी तत्परता दिखाने में न तो मुझे कोई बहुत बड़ी बात ही महसूस होती है, और न ऐसा करना नामुमकिन ही है। आजादी का दावा किस अर्थ में तो पूरी तरह आजाद बनने की योग्यता चाहता हूं।"

ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय आंदोलन में शक्ति और विश्वास बढ़ा लोगों के दिमाग आजाद हिंदुस्तान की बाबत सोचने लगे—उसे कैसा होना चाहिए, उसे क्या करना होगा और दूसरे देशों से उसका क्या और कैसा नाता होगा? देश के बड़े होने उसकी बड़ी ताकत और उसके बहुत ज्यादा फलने-फूलने की गुंजाइश से लोग बड़ी-बड़ी बातों को ही सोचने लगे। हिंदुस्तान किसी देश या राष्ट्र-समूह के पीछे चलनेवाला नहीं हो सकता था। उसकी आजादी और उन्नति से एशिया में और उसकी वजह से सारी दुनिया में एक बहुत बड़ा फर्क होगा। उसकी वजह से इंग्लैंड और उसके साम्राज्य से जो कड़ी हमें बांधे हुए थी उसको तोड़कर पूरी आजादी का खयाल हमारे सामने आया। डोमिनियन स्टेटस चाहे वह आजादी के कितने ही नजदीक क्यों न हो हमारी पूरी तरक्की के लिए एक बिलकुल वाहियात रुकावट मालूम दिया। डोमीनियन स्टेटस के पीछे का यह विचार कि एक 'मातृ-देश' अपनी नौआबादियों से मिला हुआ है और उन सबके लिए एक ही सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि है, हिंदुस्तान पर बिलकुल लागू नहीं था। अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए, जो एक अच्छी चीज थी यहां ज्यादा बड़ा मौका था यह सही है लेकिन उसके ये मानी जरूर थे कि साम्राज्य और कामनवेल्थ के बाहर के देशों के साथ घुलकर या पूरी तरह सहयोग नहीं होगा। इस तरह यह एक रोकनेवाली बात बन गई। हमारे विचार, जिनमें भविष्य की समृद्धि का चित्र था इन सीमाओं को लांघकर आगे बढ़े और हमने ज्यादा व्यापक सहयोग की बात सोची। हमने खासतौर से पूरब और

पश्चिम के अपने पड़ोसी देशों चीन, अफ़गानिस्तान, ईरान और सोवियत संघ से गहरे रिश्ते की बातें सोचीं। सुदूर अमरीका से भी हम बहुत अच्छा नाता रखना चाहते थे। उसकी वजह थी और वह यह कि जैसे हम सोवियत संघ से बहुत कुछ सीख सकते थे उसी तरह हम संयुक्त राज्य से भी सीख सकते थे। ऐसी धारणा होती जा रही थी कि इंग्लैंड से अब और कुछ सीखने की गुंजाइश नहीं थी। और कम-से-कम यह बात तो तय थी कि उसके साथ से फ़ायदा तभी उठाया जा सकता है जब वे बेड़ियां जो हमें बांधे हुए हैं टूट जायं और हम बराबरी के दर्जे पर मिलें।

ब्रिटिश डामीनियनों और उपनिवेशों में जातीय भेदभाव और हिंदुस्तानियों के साथ बुरा बरताव, इन दोनों बातों ने उस युग से अलहदा होने के हमारे फ़ैसले पर काफ़ी असर डाला। ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति की ही निगरानी में पूरबी अफ़रीका और कीनिया और दक्खिनी अफ़रीका थे। इनकी और खासतौर पर दक्खिनी अफ़रीका की हरकतें बराबर उत्तेजना देनेवाली थीं। कुछ अजीब-सी बात है कि कनाडावालों, आस्ट्रेलियावालों और न्यूज़ीलैंड-वालों से हमारी अपने-आप ही अच्छी पटती रही। शायद उसकी वजह यह थी कि उनका एक अपना नया दर्रा था और वे ब्रिटेन की सामाजिक रूढ़ियों और पक्षपातों से बिलकुल अलग थे।

जब हमने हिंदुस्तान की आज़ादी की बात की तो उसमें एकदम अलग रहने का ख़याल नहीं था। बहुत-से दूसरे मुल्कों के मुक़ाबले हमने ज़्यादा साफ़ तौर पर यह महसूस किया कि पुराने ढंग की पूरी राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कोई भविष्य नहीं था और अब दुनिया-भर के सहयोग के एक नये युग का होना ज़रूरी था। इसीलिए हमने इस बात को बार-बार दुहराकर साफ़ किया कि अंतर्राष्ट्रीय ढांचे से मेल बनाये रखने के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ हम अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने को पूरी तरह तैयार थे। उस ढांचे में जहांतक मुमकिन हो सारी दुनिया या कम-से-कम उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा आ जाये। या दूसरी तरफ़ वह कुछ इलाक़ों में बांट दिया जाय। हालांकि इस ज़्यादा बड़े ढांचे में ब्रिटिश कामनवेल्थ खप सकती थी, लेकिन अपनी मौजूदा हालत में वह इन विचारों से मेल नहीं खाती थी।

यह एक अचम्भे की बात है कि अपनी ज़ोरदार राष्ट्रीय भावनाओं के होते हुए भी हमारे विचारों में कितनी अंतर्राष्ट्रीयता आ गई। किसी भी दूसरे मुल्क की कोई भी क़ौमी तहरीक इस नतीजे तक नहीं आ पाई। ये दूसरे देश तो आमतौर से किसी भी अंतर्राष्ट्रीय ज़िम्मेदारी में नहीं फंसना

चाहते थे। हिंदुस्तान में भी ऐसे लोग थे जिन्होंने हमारे गणतंत्री स्पेन, चीन, अबीसीनिया और चकोस्लोवाकिया की तरफ़दारी करने का विरोध किया। उनका कहना था कि इटली, जर्मनी और जापान-जैसे ताक़तवर देशों से क्यों दुश्मनी की जाय ? राजनीति में आदर्शवाद की कोई जगह नहीं है। ब्रिटेन के हर दुश्मन को दोस्त समझा जाये। उनकी निगाह में राजनीति का ताल्लुक़ से ताल्लुक़ था और मौक़ा पड़ने पर उस ताक़त से फ़ायदा उठाना था। लेकिन कांग्रेस ने जनता में जो विचार भर दिये थे उनकी वजह से इन विरोधियों की हिम्मत नहीं पड़ी और उन्होंने शायद ही अपने विचारों को सार्वजनिक रूप में रखा हो। मुस्लिम लीग बराबर होशियारी के साथ चुप रही और किसी ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मामले पर उसने कभी भी कोई जिम्मेदारी नहीं ली।

सन १९३८ में कांग्रेस ने एक डाक्टरी जत्था और डाक्टरी सामान चीन में मदद के लिए भेजा। जिस वक्त इस जत्थे का संगठन किया गया सुभाष बोस कांग्रेस के सभापति थे। उन्होंने इसका विरोध नहीं किया और न उन दूसरी बातों का ही जो कांग्रेस ने चीन से सहानुभूति दिखाने के लिए की या नात्सी आक्रमण के विरोध में कीं। हमने ऐसे बहुत-से प्रस्ताव पास किये और ऐसे बहुत-से प्रदर्शन किये जिनको अपने सभापतित्व-काल में वह ठीक नहीं समझते थे। लेकिन बिना किसी विरोध के उन्होंने इन चीजों को मंजूर कर लिया क्योंकि इन भावनाओं के पीछे छिपी सार्वजनिक शक्ति का उन्हें पता था। कांग्रेस-कार्यकारिणी में उनके और उनके साथियों के दृष्टिकोण में काफ़ी फ़र्क था। यह फ़र्क देश के अंदरूनी मामलों और दूसरे देशों के मामलों दोनों में ही था। नतीजा यह हुआ कि १९३९ में एक दरार पड़ गई, और तब उन्होंने खुले आम कांग्रेस की नीति का जोरों से विरोध किया और तब १९३९ की अगस्त की शुरूआत में कांग्रेस-कार्यकारिणी ने एक असाधारण क़दम उठाया। यह क़दम यह था कि एक भूतपूर्व सभापति के खिलाफ़ अनुशासनात्मक कार्रवाई की गई।

## ९ : कांग्रेस और लड़ाई

इस तरह कांग्रेस ने लड़ाई के सिलसिले में अपनी दुहरी नीति तय की और उसको अक्सर दोहराया। एक तरफ़ फ़ासिस्टवाद, नात्सीवाद और जापानी सैन्यवाद का विरोध था। इसकी दो वजहें थीं एक तो उनकी अंद-रूनी नीति और दूसरी और मुल्कों पर उनकी हमला करने की नीति। जो हमले के शिकार थे उनके लिए बहुत हमदर्दी थी और इस हमले को रोकने

के लिए लड़ाई या किसी और दूसरी कोशिश में साथ देने की तत्परता थी। दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए ज़ोर दिया जाता था—सिर्फ़ इसीलिए नहीं कि हमारा यह ख़ास मक़सद था और उसके लिए हम बराबर मेहनत करते रहे थे बल्कि इसलिए भी कि आनेवाली लड़ाई से उसका ताल्लुक़ था। हमने इस बात को बार-बार दुहराया कि सिर्फ़ आज़ाद हिंदुस्तान ही ऐसी लड़ाई में सही ढंग से शामिल हो सकता है, सिर्फ़ आज़ादी से ही हम इंग्लैंड से अपने पुराने रिश्ते की कड़वी विरासत को मिटा सकते हैं और अपनी पूरी-पूरी ताक़त को संगठित कर सकते हैं। उस आज़ादी के बिना यह लड़ाई पुरानी लड़ाइयों की ही तरह होगी जिसमें दो प्रतिद्वंद्वी साम्राज्यवादों में टक्कर होगी और ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने और ज्यों-का-त्यों बनाये रखने की कोशिश होगी। हमें यह बात बिल्कुल नामुमकिन और वाहियात मालूम दी कि हम उसी साम्राज्यवाद की हिफ़ाज़त के लिए साथ दें जिसके ख़िलाफ़ हम इतने अरसे से लड़ रहे थे। और अगर हममें से कुछ लोग दूर की बातों का ध्यान रखते हुए, इसे मुक़ाबले में कम बुरी बात समझते तो यह बात हमारी ताक़त के बिल्कुल बाहर थी कि हम अपने देशवासियों को इसके लिए तैयार कर सकें। सिर्फ़ आज़ादी से ही सामूहिक शक्ति मुक्त हो सकती थी और सिर्फ़ उसीसे कड़वेपन की भावना मिटकर एक आदर्श के लिए जोश आ सकता था। इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं था।

कांग्रेस ने ख़ासतौर पर यह मांग की कि बिना हिंदुस्तानियों की या उनके प्रतिनिधियों की मर्ज़ी के हिंदुस्तान का किसी लड़ाई से गठ-बंधन न किया जाय और बिना ऐसी राय के हिंदुस्तानी फ़ौज किसी भी काम के लिए देश से बाहर न भेजी जाये। केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली ने भी जिसमें विभिन्न दल और पार्टियां शामिल थीं यही मांग पेश की। बहुत अरसे से हिंदुस्तानियों को यह शिकायत थी कि हमारी फ़ौजें देश से बाहर अक्सर साम्राज्यवादी मक़सद से भेजी जाती हैं और उनसे उन आदमियों को जीतने या कुचलने या दबाये रखने का काम लिया जाता है जिनसे हमारा कोई झगड़ा नहीं है और जिनकी आज़ादी की कोशिश के लिए हमारे दिल में हमदर्दी है। हिंदुस्तानी फ़ौज को किराये के आदमियों की तरह ऐसे ही कामों में बर्मा, चीन, ईरान और मध्य-पूर्व और अफ़्रीका के हिस्सों में इस्तेमाल किया गया था। व ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक बन गई थी और इसी सबब से वहां के रहनेवालों के दिलों में हिंदुस्तान के ख़िलाफ़ भावनाएं पैदा हुईं। मुझे एक मिस्री का यह ताना याद है—तुमने सिर्फ़ अपनी ही आज़ादी

नहीं आई है बल्कि तुम ब्रिटेन की दूसरों को गुलाम बनाने में मदद करते हो।"

इस दुहरी नीति के दोनों हिस्से अपने-आप एक-दूसरे से मेल नहीं खा सके। वे दोनों आपस में एक विरोधाभास था। लेकिन हम उलझेपन के लिए हम जिम्मेदार नहीं थे। यह विरोधाभास उन परिस्थितियों में ही था और उन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किसी भी नीति में उसका जाहिर होना लाजिमी था। बार-बार हमने इस बात का ध्यान दिलाया कि फ़ासिस्ट और नात्सी मतों की निंदा और साम्राज्यवाद का समर्थन ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकती। यह सच है कि फ़ासिस्टवाद और नात्सीवाद भयंकर अत्याचार कर रहे थे। लेकिन हिंदुस्तान में व दूसरी जगहों पर साम्राज्य वाद अपने-आपको मुदृढ़ कर चुका था। उनमें फ़र्क किसी किस्म का नहीं था वह तो सिर्फ़ दर्जे या वक्त का फ़र्क था। इसके अलावा पहली चीज दूर देशों में थी लेकिन पिछली चीज तो हमारे ही घर में थी और उसमें हम सब घिरे हुए थे और उसका असर सारे वातावरण में छाया हुआ था। हमने इस उल्टी बात का मजाक उड़ाया कि सब जगह तो लोकतंत्र का झंडा ऊंचा रखा जाय और उसीको हिंदुस्तान में रोक रखा जाय।

हमारी दुहरी नीति में चाहे जो विषमता रही हो लेकिन सशस्त्र युद्ध और आक्रमण से रक्षा के सिलसिले में अहिंसा के सिद्धांत का कोई सवाल नहीं उठा।

१९३८ की गरमियों में मैं यूरोप के महाद्वीप में था और अपने व्याख्यानों लेखों और बातचीत में मैंने अपनी इस नीति को समझाया। साथ ही मैंने इस बात की तरफ़ भी इशारा किया कि इन मामलों में यों ही छोड़ देने में क्या खतरा छिपा था। सुडेटनलैंड के सवाल पर नाजुक हालत के समय मुझसे चेकोस्लोवाकिया के कुछ परमान निवासियों ने पूछा कि लड़ाई की हालत में हिंदुस्तान का क्या इरादा है। खतरा उनके बहुत नजदीक आ पहुंचा था और फिर खतरा बहुत बड़ा था। अब ज्यादा बारीक बातों या पुरानी शिकायतों का मौका नहीं था। लेकिन फिर भी उन्होंने मेरी बातों को समझा और मेरे तर्कों से वे सहमत हुए।

सन १९३९ के मध्य में यह पता लगा कि हिंदुस्तानी फ़ौज देश से बाहर भेजी गई—शायद सिंगापुर को और मध्य-पूर्व को। तुरंत ही बड़ी जोरदार आवाजें उठी कि यह हिंदुस्तान के प्रतिनिधियों की सलाह लिये बिना किया गया है। यह बात तो मानी गई कि संकट-काल में फ़ौज का प्रोग्राम अकसर गुप्त रखना पड़ता है लेकिन फिर भी प्रतिनिधि सभाओं

को विश्वास में लिया जा सकता था और इसके बहुतेरे तरीके थे। असेंबली की पार्टियों के नेता थे और हर प्रांत में जनता द्वारा चुनी हुई सरकारें थीं। मामूली तौर पर केंद्रीय सरकार को इन प्रांतीय मंत्रियों से बहुत-से मामलों में सलाह-मशवरा करना पड़ता था और उन्हें राज की बातें बतानी पड़ती थीं। लेकिन इस मौके पर राष्ट्र के जुड़े ऐलान के होते हुए भी जनता के प्रतिनिधियों से जरा-सी भी सलाह नहीं की गई। ब्रिटिश पार्लमेंट के जरिये गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट (सन १९३५) में संशोधन के लिए कदम उठाये जा रहे थे। इस समय प्रांतीय सरकारें इसी एक्ट के अनुसार काम कर रही थीं। अब यह कोशिश की गई कि लड़ाई के सिलसिले में केंद्रीय सरकार को विशेषाधिकार दे दिये जायें और सारी शक्ति केंद्र के हाथ में आ जाये। आमतौर पर एक लोकतंत्री राज्य में यह बात बिलकुल स्वाभाविक और तर्क-संगत होती मगर इस बारे में मुख्तलिफ पार्टियों की राय ले ली जाती। यह तो एक आम जानकारी की बात है कि संघ में शामिल होनेवाले राज्य प्रांत या स्व-शासी प्रदेश अपने अधिकारों को मजबूती से पकड़े रहते हैं और उनको किसी संकट या विशेष अवसर पर भी केंद्रीय सरकार को सौंपने को आसानी से तैयार नहीं होते हैं। ऐसी रस्साकशी संयुक्त राज्य अमरीका में बराबर चलती रहती है, और जिस वक्त मैं यह लिख रहा हूं आस्ट्रेलिया में कामनवेल्थ-सरकार की शक्ति और अधिकार बढ़ाने के प्रस्ताव को परिपृच्छा द्वारा अस्वीकार किया गया है। इस प्रस्ताव के अनुसार उसके विभिन्न सदस्य राज्यों के अधिकार सिर्फ लड़ाई के दौरान के लिए केंद्र को दिये जा रहे थे। यह बात ध्यान में रखने की है कि संयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया दोनों ही जगह केंद्रीय सरकार और लेजिस्लेटिव असेंबली जनता द्वारा चुने हुए लोगों की हैं और उनमें सब मेंबर राज्यों के नुमाइंदे काम करते हैं। हिन्दुस्तान में केंद्रीय सरकार बिलकुल गैर जिम्मेदार है। वह चुने हुए जनता के प्रतिनिधियों की नहीं है और किसी भी रूप में जनता या प्रांतों के प्रति उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं है। प्रांतीय सरकारों या परिषदों के अधिकारों को छीनकर केंद्र के अधिकार बढ़ाने के मानी ये थे कि लोकतंत्र को और भी दुर्बल बना दिया जाय और प्रांतीय स्वराज्य की बुनियाद को ही कमजोर कर दिया जाय। इस पर बहुत नाराजी फैली। ऐसा अनुभव किया गया कि यह नीति उस आश्वासन के खिलाफ थी जो कांग्रेस-सरकारों को पक्ष में दिया गया था। साथ ही यह बात जाहिर होने लगी कि पहले की तरह बिना हिन्दुस्तानियों के प्रतिनिधियों का सलाह लिये ही उन पर लड़ाई का बोझ लाद दिया जायेगा।

कांग्रेस-कार्यकारिणी ने बहुत ज़ोरदार शब्दों में इस नीति का विरोध किया। उसके लिहाज़ से यह तो कांग्रेस और केंद्रीय असेंबली दोनों की ही घोषणाओं की जान-बूझकर खुल्लम-खुल्ला अवहेलना थी। उसने ऐलान किया कि वह इस तरह की ज़बरदस्ती को रोकेगी और वह उसके निवासियों की सहमति के बिना ही हिंदुस्तान को गहरा असर रखनेवाले नीतियों के लिए ज़िम्मेदार बनाने पर राज़ी नहीं हो सकती। फिर (१९३९ के अगस्त में) उसने कहा कि "इस संसार-व्यापी संकट में कार्यकारिणी की सहानुभूति उन लोगों के लिए है, जो लोकतंत्र और स्वतंत्रता के पक्षपाती हैं और कांग्रेस ने यूरोप अफ़रीका और सुदूर एशिया में फ़ासिस्त हमलों की बार-बार निंदा की है। साथ ही ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा स्पेन और चेकोस्लोवाकिया में लोकतंत्र के प्रति विश्वासघात की भी निंदा की है।" लेकिन यह भी कहा गया कि "ब्रिटिश सरकार की पिछली नीति और इधर हाल की घटनाओं ने यह बात पूरी तरह दिखा दी है कि यह सरकार आज़ादी और लोकतंत्र की हिमायत नहीं करती और किसी समय भी इन आदर्शों के साथ दग़ा कर सकती है। हिंदुस्तान ऐसी सरकार से अपना कोई नाता नहीं रख सकता और उससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह उस लोकतंत्री स्वतंत्रता के लिए अपना सहयोग दे जो स्वयं उसे नहीं दी जा रही है और जिसको धोखा दिया जा सकता है।" इस नीति के विरोध में पहला क़दम यह था कि केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली के कांग्रेसी सदस्यों से कहा जाय कि वे असेंबली के अगले अधिवेशन में भाग न लें।

यह पिछला प्रस्ताव यूरोप में लड़ाई शुरू होने के ठीक तीन सप्ताह पहले पास किया गया। ऐसा मालूम पड़ा कि हिंदुस्तान की सरकार और उसका समर्थन करनेवाली ब्रिटिश सरकार लड़ाई के सिलसिले में बड़े-बड़े मामलों में ही नहीं छोटे-छोटे मामलों में भी हिंदुस्तान के आम लोगों की भावनाओं का तिरस्कार करने पर तुली हुई है। सूबों में गवर्नरों के रुख़ से नीति की झलक दिखाई दी। साथ ही सिविल सर्विस के हाकिमों का कांग्रेस-सरकार से असहयोग बढ़ता जा रहा था। सूबों की कांग्रेसी सरकारों की दिन-ब-दिन मुश्किलें बढ़ती जा रही थीं और लोकमत के गरम अनासिर ज़्यादा उत्तेजित होते जा रहे थे और उनकी शंकाएं बढ़ रही थीं। उनको डर यह था कि ब्रिटिश सरकार उसी ढंग से पेश आयेगी जैसे उसने पच्चीस बरस पहले सन् १९१४ में किया था वह सूबों की सरकारों और लोकमत का ख़याल न करके लड़ाई को ज़बरदस्ती सिर मढ़ देगी वह उस थोड़ी-सी आज़ादी को जिसे हिंदुस्तान ने हासिल किया था लड़ाई

के नाम पर कुचल देगी और वह मनमाने ढंग से अपने साधनों का नाजायज फ़ायदा उठायेगी।

लेकिन इन पच्चीस बरसों में बहुत-कुछ हो चुका था और लोगों के तेवर अब बहुत बदले हुए थे। यह ख़याल कि हिंदुस्तान को एक जायदाद की तरह इस्तेमाल किया जाय और उसके निवासियों की नफ़रत के साथ बिलकुल परवाह न की जाय बहुत ज़्यादा बुरा लगा। क्या पिछले बीस बरसों की आज़ादी की लड़ाई और तकलीफ़ों की कोई क़ीमत ही नहीं थी? क्या हिंदुस्तानी इस बेइज़्ज़ती और अवहेलना के सामने सिर झुकाकर जन्मभूमि के लिए एक शर्म की चीज़ बनेंगे? उनमें से बहुत-से लोगों ने बुराई का मुक़ाबला करना सीख लिया था और वे उस चीज़ के सामने जिसे वे शर्मनाक समझते थे सिर झुकाने के लिए हरगिज़ तैयार नहीं थे। और वे इस सिर न झुकाने के नतीजे को भुगतने के लिए ख़ुशी से तैयार भी थे।

इसके अलावा ऐसे लोग भी थे—नई पीढ़ीवाले जिनको क़ौमी लड़ाई का कोई ज़ाती तजरबा नहीं था न वे उसको पूरी तरह समझते थे और उनके लिए १९२० यहाँतक कि १९३० के सविनय अवज्ञा आंदोलन की बातें सिर्फ़ इतिहास की ही चीज़ें थीं और इससे ज़्यादा और कुछ नहीं। वे तजुरबों और तकलीफ़ों की आग में तपे हुए नहीं थे और बहुत-सी चीज़ों को यों ही मान लेते थे। वे पुरानी पीढ़ीवालों की कड़ी आलोचना करते थे उनको कमज़ोर समझते थे और यह समझते थे कि ये छोटी बातों पर समझौता करने के लिए झुक सकते हैं। उनके लिहाज़ से सक्रिय प्रोग्राम की जगह सिर्फ़ तेज़ और ज़ोरदार भाषा ही ले सकती थी। वे आपस में नेताओं की शख़्सियत या राजनैतिक और आर्थिक उसूलों की बारीकियों पर झगड़ते थे। वे दुनिया की बातों पर बहस तो करते थे लेकिन उन मामलों की उनकी कोई ख़ास जानकारी नहीं थी वे अभी पक नहीं पाये थे और उनमें कोई निखार नहीं था। उनमें अच्छी बातें थीं अच्छे आदर्शों के लिए बड़ा जोश था लेकिन कुल मिलाकर उनसे नासमझी होती थी और हिम्मत पस्त होती थी। शायद यह एक कच्ची पहल था जिसको वे पार कर लेंगे या जिसे उन्होंने अपने कड़वे तजुरबों के बाद पार भी कर लिया हो।

और चाहे जो मतभेद हों लेकिन राष्ट्रवादियों के भीतर इन सभी समूहों में इस संकट-काल में हिंदुस्तान के प्रति ब्रिटेन की नीति से एक-सी ही प्रतिक्रिया हुई। उन सबको उससे नाराज़ी हुई और उन्होंने क्रोध से उसका विरोध करने के लिए कहा। कोई भी स्वाभिमानी सचेत चेतन राष्ट्रीयता

इस तरह के अपमान के आगे सिर नहीं झुकाना चाहती । उसके सामने और सब बातें गौण हो गईं ।

यूरोप में युद्ध का एलान हुआ और फ़ौरन ही हिंदुस्तान के वाइसराय ने ऐलान किया कि हिंदुस्तान भी लड़ाई में शामिल है। एक आदमी—एक विदेशी और वह भी एक ऐसी हुकूमत का गुमाइंदा जिससे लोगों को नफ़रत थी—चालीस करोड़ आदमियों को बिना उनकी रत्ती-भर मर्ज़ी के लड़ाई में उलझा दे ! ज़ाहिर है कि उस ढांचे में बुनियादी तौर पर कोई ग़लती है कोई सड़न है, जिसमें इस ढंग से चालीस करोड़ आदमियों की किस्मत का फ़ैसला किया जाता है । डामीनियनों (उपनिवेशों) में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा पूरी तरह सलाह-मशवरा और हर पहलू से सोच-विचार के बाद यही फ़ैसला किया गया । लेकिन हिंदुस्तान में ऐसा नहीं हुआ और उससे हिंदुस्तानियों के दिलों को चोट पहुंची ।

## ३ युद्ध की प्रतिक्रिया

जिस वक़्त यूरोप में लड़ाई शुरू हुई, मैं चुंगकिंग में था । कांग्रेस के सभापति ने तार द्वारा मुझसे तुरत लौटने को कहा और मैं जल्दी वापस आया । जिस वक़्त मैं आया कांग्रेस-कार्यकारिणी की बैठक हो रही थी । इस मीटिंग में भाग लेने के लिए मि जिन्ना को भी बुलाया गया था लेकिन उन्होंने असमर्थता ज़ाहिर की । वाइसराय ने हिंदुस्तान को लड़ाई में शामिल ही नहीं किया बल्कि कई आर्डिनेंस भी जारी कर दिये थे । ब्रिटिश पार्लामेंट ने गवर्नमेंट ऑव इंडिया एक्ट में संशोधन कर दिया था । इन कानूनों में सूबों की सरकारों के अधिकार और कार्य-क्षेत्र को सीमित किया गया था और वे अच्छे नहीं मालूम हुए, और ख़ासतौर पर इस वजह से कि जनता के गुमाइंदों से इस बारे में कोई सलाह नहीं ली गई थी—बल्कि असल में उनकी अक्सर दुहराई हुई ख़्वाहिशों और ऐलानों की पूरी तरह अवहेलना कर दी गई थी ।

१४ सितंबर १९३९ को लंबी बहस के बाद कांग्रेस-कार्यसमिति ने युद्ध-संकट के सिलसिले में एक लंबा बयान जारी किया । इसमें वाइसराय के उठाये हुए क़दमों और नये क़ानूनों का ज़िक्र था और यह कहा गया कि कार्यसमिति को इन घटनाओं को बड़े गंभीर रूप में लेना चाहिए । फ़ासिस्त और नात्सी मतों की निंदा की गई और ख़ासतौर पर "नात्सी जर्मन सरकार के सबसे ताज़े हमले की जो उसने पोलैंड पर किया था" और उन लोगों के लिए, जो ऐसी चीज़ों का मुक़ाबला कर रहे थे हमदर्दी ज़ाहिर की ।

हालांकि सहयोग के लिए हम तैयार थे लेकिन यह बात साफ कर दी गई कि 'जबरदस्ती हमारे सिर मढ़े हुए फैसलों का कानूनी तौर पर विरोध किया जायगा। अगर किसी ऊंचे आदर्श के लिए सहयोग की जरूरत है, तो यह बात जाहिर है कि वह सहयोग दबाव या जबरदस्ती से नहीं मिल सकता। और न कार्यसमिति इस बात के लिए तैयार हो सकती है कि हिंदुस्तानी उन हुक्मों की पाबंदी करें जो विदेशी शक्ति द्वारा दिये गये हैं। सहयोग तो बराबरवालों में होना चाहिए और उसमें अपनी रजामंदी होनी चाहिए और वह उस आदर्श के लिए, जिसको दोनों ही बड़ी चीज समझते हों। इधर हाल ही में हिंदुस्तानियों ने बड़े खतरों का सामना किया है, और अपने-आप ही आजादी हासिल करने और हिंदुस्तान में लोकतंत्र स्थापित करने के लिए बड़े-बड़े बलिदान किये हैं। उसकी हमदर्दी पूरी तरह लोकतंत्र और आजादी के लिए है। लेकिन हिंदुस्तान किसी ऐसी लड़ाई में शामिल नहीं हो सकता जिसके लिए कहा तो यह जाये कि वह लोकतंत्र की आजादी के लिए है लेकिन यह आजादी खुद उसे हासिल नहीं है और यही नहीं बल्कि जो कुछ थोड़ी-बहुत आजादी उसके पास है, वह भी उससे छीनी जा रही है।

'समिति इस बात से परिचित है कि ब्रिटेन और फ्रान्स की सरकारों ने यह घोषणा की है कि वे लोकतंत्र और आजादी के लिए लड़ रही हैं और हमलावरों को रोकना चाहती हैं। लेकिन इधर हाल का इतिहास ऐसी बातों से भरा हुआ है और उसमें ऐसी मिसालें हैं कि कही हुई बातों में बताये हुए आदर्शों में और असली नीयत और मकसद में बराबर फर्क है। पहले महायुद्ध के दौरान की और उसके बाद की कुछ घटनाओं का भी जिक्र था। उस सिलसिले में यह कहा गया कि "बाद के इतिहास से यह बात फिर जाहिर हो गई है कि खोखले भरोसा दिलानेवाले ऐलानों को किस तरह बदनीयती से इस्तेमाल किया जा सकता है।" फिर यह जोर दिया गया है कि लोकतंत्र खतरे में है और उसकी रक्षा करनी है। और इस वक्तव्य से समिति पूरी तरह सहमत है। समिति यकीन करती है कि पश्चिम की जनता इस आदर्श और उद्देश्य से प्रेरणा पा रही है और वह उसके लिए बलिदान करने के लिए तैयार है। लेकिन कितनी ही बार जनता के और उन लोगों के जिन्होंने उन लड़ाइयों में बलिदान किये हैं आदर्शों और उनकी भावनाओं की अवहेलना की गई है और उनके साथ ईमानदारी नहीं बरती गई है।

यदि लड़ाई मौजूदा नीति का स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए है—जो साम्राज्यवादी राज्य उपनिवेशों निहित स्वार्थों और विशेष अधिकारों

के बचाव के लिए है—तो हिंदुस्तान का उससे कोई वास्ता नहीं हो सकता। लेकिन अगर इस वक्त सवाल लोकतंत्र और लोकतंत्र पर बने एक दुनिया-भर के ढांचे का है तो हिंदुस्तान की उसमें बेहद दिलचस्पी है। समिति को पूरी तरह इतमीनान है कि हिंदुस्तानी लोकतंत्र और ब्रिटिश लोकतंत्र के या दुनिया के लोकतंत्र के हितों में कोई विरोध नहीं है। लेकिन साम्राज्यवाद और फ़ासिस्तवाद का हिंदुस्तान में या और जगह लोकतंत्र से एक बुनियादी और अमिट झगड़ा है। यदि ग्रेट ब्रिटेन लोकतंत्र को बनाये रखने और आगे बढ़ाने के लिए लड़ाई लड़ रहा है, तो लाजिमी तौर पर उसे अपने साम्राज्यवाद को खत्म कर देना चाहिए। एक आज़ाद लोकतंत्री हिंदुस्तान खुशी से दूसरी आज़ाद क़ौमों का हमलों से आपसी हिफ़ाज़त के लिए साथ देने को तैयार है और वह तैयार है आर्थिक सहयोग के लिए। आज़ादी और लोकतंत्र की नींव पर दुनिया-भर का एक संघ बनाने के लिए वह काम करने को तैयार है जिसमें कि इन्सान की तरक्क़ी के लिए दुनिया के सारे ज्ञान और साधनों को काम में लाया जाय।"

कांग्रेस-कार्यसमिति ने राष्ट्रीय होते हुए भी अंतर्राष्ट्रीय नज़रिये को अपनाया और उसकी निगाह में लड़ाई सिर्फ़ हथियारबंद क़ौमों की लड़ाई से कहीं ज़्यादा बड़ी चीज़ थी। "जिस संकट ने यूरोप को आ घेरा है, वह सिर्फ़ यूरोप का ही नहीं बल्कि सारी दुनिया का है। दूसरे संकटों या लड़ाइयों की तरह वह यों ही नहीं टलेगा और आज की दुनिया का ढांचा भी जैसा-का तैसा नहीं बचेगा। उससे दुनिया का राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक नक़्शा बिलकुल बदल जायगा। वह बदला हुआ नक़्शा बहतर होगा या बदतर, यह बिलकुल दूसरी चीज़ है। यह संकट पिछली बड़ी लड़ाई के बाद तेज़ी से बढ़नेवाले अंतर्विरोधों सामाजिक और राजनैतिक झगड़ों का लाज़िमी नतीजा है। यह संकट आखिरी तौर पर उस वक्त तक नहीं टलेगा जबतक ये झगड़े और विरोध हट न जायें और जबतक एक नया संतुलन क़ायम न हो जाय। इस संतुलन की बुनियाद इस बात पर है कि एक देश के दूसरे देश पर आधिपत्य और शोषण का खात्मा हो जाय और आर्थिक रिश्तों को एक नये सिरे से ऐसे ढर्रे पर लाया जाये जिसमें सबके फ़ायदे और सबके साथ इन्साफ़ का ध्यान हो। सारे सवालों की कसौटी है हिंदुस्तान। वह मौजूदा ज़माने के साम्राज्यवाद की खास मिसाल है और दुनिया का कोई भी ढांचा इस बड़े और खास सवाल को यों ही छोड़कर कामयाब नहीं हो सकता। अपने बड़े साधनों की वजह से दुनिया के नये ढांचे और नये नक़्शे में उसका बहुत बड़ा हिस्सा होगा। लेकिन ऐसा तो वह एक आज़ाद राष्ट्र की हैसियत

से ही कर सकता है, जिसमें इस बड़े मकसद के लिए शक्ति फूटी पड़ती हो। आज़ादी का आज बंटवारा नहीं हो सकता। दुनिया के किसी भी हिस्से में साम्राज्यवादी कब्ज़ा बनाये रखने की कोशिश का लाज़िमी नतीजा एक खौफ़नाक विध्वंस होगा।

इसी सिलसिले में समिति ने हिंदुस्तानी रियासतों के शासकों के सहयोग की चर्चा की। उन्होंने यूरोप में लोकतंत्र की रक्षा के लिए अपने-आपको सौंपा था। समिति ने सलाह दी कि यह ज़्यादा मुनासिब होगा कि वे अपनी रियासतों में ही लोकतंत्र की शुरुआत करें।

समिति ने फिर हर ढंग से मदद देने की उत्सुकता की बात की, लेकिन ब्रिटिश नीति के रवैये पर अपना शक ज़ाहिर किया। उस नीति में उसे "लोकतंत्र या आत्म-निर्णय की मदद के लिए कोई कोशिश" दिखाई नहीं दी और न उसे कोई ऐसा सबूत ही मिला कि मौजूदा लड़ाई के ऐलानों पर अमल किया जा रहा है या आगे अमल किया जायगा। फिर भी उसने कहा कि अवसर के गंभीर होने के नाते और इस बात से कि पिछले कुछ दिनों की घटनाओं की तेज़ी आदमी के दिमाग की तेज़ी से भी ज़्यादा है, समिति इस वक्त कोई आखिरी फैसला नहीं देना चाहती, ताकि इस बात के साफ़ होने का मौका रहे कि कौनसी बातों पर इस वक्त दांव लग रहा है, असली मकसद क्या है और हिंदुस्तान की मौजूदा मौके पर, और फिर आगे चलकर हैसियत क्या होगी। इसीलिए उसने ब्रिटिश सरकार को इस बात के लिए आमंत्रित किया कि "वह बिलकुल साफ़ शब्दों में कहे कि लोकतंत्र और साम्राज्यवाद और सारी दुनिया की एक भावी नई व्यवस्था के बारे में उसकी लड़ाई के मकसद क्या हैं, और खासतौर से यह बात कि ये उद्देश्य किस तरह अमल में लाये जायेंगे और उनको मौजूदा वक्त में हिंदुस्तान में किस तरह लागू किया जायेगा? क्या उनमें साम्राज्यवाद का खात्मा और हिंदुस्तान के साथ एक आज़ाद राष्ट्र की तरह व्यवहार करने की बात शामिल है—उस आज़ाद हिंदुस्तान के साथ, जिसकी नीति जनता की इच्छाओं से तय होगी? किसी भी ऐलान की कसौटी उसको मौजूदा वक्त में लागू करना है, क्योंकि मौजूदा वक्त से न सिर्फ़ आज की ही बात तय होगी, बल्कि आनेवाले दिनों का भी नक्शा तैयार होगा। यह तो एक अफ़सोस की बात होगी कि यह भयंकर लड़ाई साम्राज्यवादी भावना से लड़ी जाय और उसी ढांचे को बनाये रखने का मकसद बना रहे, जो खुद लड़ाई की जड़ है और इन्सान के नीचे गिरने की वजह है।"

इस बयान में, जो गहरे सोच-विचार के बाद निकाला गया था

हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के बीच से उन अड़चनों को हटाने की कोशिश थी जो उनके आपसी रिश्तों को डेढ़ सौ बरसों से खराब कर रहे थे। इसमें कोशिश थी कि कोई ऐसा रास्ता निकल आये कि आज़ादी के लिए हमारी बेचैनी और दुनिया के इस संघर्ष में आम जोश और सहयोग के साथ हमारी शामिल होने की दिली इच्छा ये दोनों बातें एक साथ बन सकें। हिंदुस्तान की आज़ादी के हक़ का दावा कोई नई बात न थी यह दावा लड़ाई या लोक-व्यापी संकट का नतीजा नहीं था। बहुत अरसे से हमारे काम और हमारे विचारों की बुनियाद में यही हक़ था और कितनी-ही पीढ़ियों से हम इसी के चारों तरफ़ चक्कर काट रहे थे। हिंदुस्तान की आज़ादी का साफ़ ऐलान करने और लड़ाई की ज़रूरतों का ख़याल करते हुए नई हालत के लिए हेर-फेर करने में कोई मुश्किल न थी। अगर इंग्लिस्तान की इच्छा और नीयत हिंदुस्तान की आज़ादी को मानने को तैयार होती तो बड़ी-से-बड़ी मुश्किलें मिट जातीं। सच तो यह है कि ये तब्दीलियां लड़ाई की ज़रूरतों में मददगार होतीं। उसके बाद तो जिस बात की ज़रूरत रहती उसे सभी पार्टियों की रज़ामंदी से आसानी से ठीक किया जा सकता था। हर सूबे में सूबाई सरकारें काम कर रही थीं। लड़ाई के दौरान के लिए मरकज़ी सरकार के लिए ऐसा ढांचा बनाना आसान था जिसमें आम जनता को यक़ीन हो। यह ढांचा लड़ाई की कोशिशों का संगठन करता और उसमें जनता का सहयोग होता। यह हथियारबंद फ़ौजों का पूरी तरह साथ देता। यह ढांचा एक तरफ़ ब्रिटिश सरकार और दूसरी तरफ़ जनता और सूबों की सरकारों के बीच एक कड़ी की तरह होता। दूसरी संवैधानिक समस्याएं लड़ाई के बाद के लिए मुल्तवी कर दी जातीं हालांकि मुनासिब यही था कि उनको हल करने की जल्दी से कोशिश हो। लड़ाई के बाद जनता के चुने हुए नुमाइंदे एक स्थायी संविधान बनाते और आपसी हितों की बाबत इंग्लिस्तान से समझौता करते।

कांग्रेस की कार्यसमिति के लिए ऐसी तजवीज़ इंग्लिस्तान के सामने रखना कोई आसान बात नहीं थी। इस वक़्त ज़्यादातर लोगों की अंत-र्राष्ट्रीय मसलों के बारे में जानकारी नहीं के बराबर थी और वे हाल की ब्रिटिश नीति के लिए नाराज़ी ज़ाहिर करते थे। हम जानते थे कि एक-दूसरे पर शक और आपस में भरोसे की कमी जादू के ज़ोर से नहीं मिट सकती थी। फिर भी हमें उम्मीद थी कि घटनाओं की मार से इंग्लिस्तान के नेता अपने साम्राज्यवादी घेरों से बाहर आकर, दूर की चीज़ों को ध्यान में रखते हुए, हमारे प्रस्ताव को मंज़ूर करेंगे और इस तरह इंग्लिस्तान और

हिंदुस्तान के अलग अलग हो जायेंगे और लड़ाई के लिए हिंदुस्तान का जोश और उसके साधन दोनों ही कच्चे बांध की तरह फूट पड़ेंगे।

लेकिन ऐसा होना नहीं था। उन्होंने जवाब में हमारी मांग को नामंजूर कर दिया। यह बात साफ हो गई कि वे हमारा साथ दोस्तों और बराबरवालों की तरह नहीं चाहते थे। उनकी इच्छा तो यह थी कि हम गुलामों की तरह उनका हुक्म बजावें। हम दोनों ने 'सहयोग' शब्द का इस्तेमाल किया लेकिन दोनों ने ही उस लफ्ज के अलग-अलग मानी लगाये। हमारे लिए सहयोग के मानी थे—साथी होना बराबरवाला होना और उनके लिए उसके मानी थे कि उनका हुक्म हो और बिना चूं किये उसको हम बजा लायें। इस हालत को मंजूर करना हमारे लिए नामुमकिन था। इसके लिए तो जरूरी यह था कि हम उस सबको छोड़ दें, और उस सबसे मुंह मोड़ें जिसे हमने अपनी जिंदगी में एक अहमियत दे रखी थी और जिसकी हम अबतक हिमायत करते रहे थे। और अगर हममें से कुछ इसके लिए राजी भी थे तो कम-से कम हम अपने साथ जनता को नहीं ले चल सकते थे। हम लोग राष्ट्रीयता की धारा से कटकर एक तरफ फिक जाते और इसीमें नहीं बल्कि उस अंतर्राष्ट्रीयता से भी जिसका हम बराबर सपना देख रहे थे।

हमारे सूबों की सरकारें भी दिक्कतों में पड़ गईं और उन्हें दो चीजों में से एक चुन लेनी थी—या तो वे वाइसराय और गवर्नर की दस्तंदाजी के सामने सिर झुकातीं या उनका मुकाबला करतीं। बड़े-बड़े सरकारी नौकर गवर्नर के साथ थे और वे मंत्रियों और असेंबलियों की तरफ इस तरह देखते थे मानो वे उनके रास्ते में रोड़ा हों। फिर वही पुराना झगड़ा सामने आया जिसमें एक तरफ मनचाही करनेवाला बादशाह था और दूसरी तरफ पार्लामेंट थी। यहां एक बात और थी यह यह कि बादशाह परदेसी था और उसकी हुकूमत हथियारों और फौज की बुनियाद पर थी। तब यह तय किया गया कि हिंदुस्तान के ग्यारह सूबों में से जिन आठ सूबों में कांग्रेसी सरकारें थीं (यानी बंगाल सिंध और पंजाब को छोड़कर) वे विरोध में इस्तीफा दे दें। कुछ लोगों की राय थी कि वे इस्तीफा न दें और काम करते रहें ताकि गवर्नर को उन्हें बरखास्त करने की नौबत आवे। यह बात जाहिर थी कि बुनियादी झगड़ों की वजह से जो दिन-ब-दिन ज्यादा साफ होते जा रहे थे उन सरकारों में और गवर्नरों में झगड़े होने लाजिमी थे। और अगर ये सरकारें इस्तीफा न देतीं तो उनको बरखास्त कर दिया जाता। उन सरकारों ने बिलकुल सबैधानिक रास्ता अपनाया यानी इस्तीफा

दिया और असेंबली को भंग करके फिर से चुनावों के लिए न्यौता दिया। चूंकि असेंबली में उनके पीछे बहुमत था इसलिए कोई नया मंत्रिमंडल क़ायम नहीं हो सकता था। लेकिन गवर्नर नए चुनावों से बचना चाहते थे क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि उसमें कांग्रेस की बड़ी भारी जीत होगी। उन्होंने असेंबली को भंग नहीं किया बल्कि उसके काम को मुल्तवी कर दिया और असेंबली और मंत्रिमंडल दोनों के ही सारे अधिकारों को अपने हाथों में ले लिया। सूबों के वे बिलकुल निरंकुश मालिक हो गये। वे क़ानून बनाते हुक्म जारी करते और जो चाहते करते और उसमें जनता की या उसके नुमाइंदों की राय का रत्ती भर भी ख़याल न होता।

ब्रिटिश प्रवक्ताओं ने अक्सर इस बात पर ज़ोर दिया है कि कांग्रेस ने सूबों की सरकारों से इस्तीफ़ा देने को कहकर एक हठधर्मी ढंग अपनाया। यह तो उलटा इलज़ाम लगाना है! क्योंकि यह बात उन लोगों की तरफ़ से नहीं आती है, जो नात्सियों और फ़ासिस्टों को छोड़कर सबसे ज़्यादा निरंकुश और तानाशाही ढंग के लोग हैं। सच तो यह है कि कांग्रेस-नीति की बुनियाद ही जायज़ ढंग से काम करना है। वाइसराय और गवर्नर के यह भरोसा दिलाने पर ही कि सूबों के मैदान में कोई दख़ल नहीं दिया जायेगा ये असेंबलियां और सूबाई सरकारें काम करने लगी थीं। अब यह दस्तंदाज़ी आये दिन की चीज़ थी और १९३५ के एक्ट के संवैधानिक अधिकार अब और भी कम हो गये थे। जैसाकि कहा जा चुका है, इन संवैधानिक अधिकारों के ऊपर अब ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा संशोधित एक्ट था। यह बात कि कब कहां और कितना दख़ल दिया जायेगा मरकज़ी सरकार, यानी वाइसराय के लिए तय करने को छोड़ दी गई थी। कोई ऐसा रास्ता नहीं था कि सूबों की सरकारों के अधिकारों की हिफ़ाज़त की जा सके। इस हालत में तो वे सिर्फ़ सिर झुकाकर ही काम कर सकती थीं। वाइसराय और गवर्नर-जनरल अपनी तैनात की हुई कार्यकारिणी की मदद से—उस कार्यकारिणी की मदद से जिसने साथ देने का इतमीनान दिला दिया था—लड़ाई की ज़रूरत की आड़ में सूबों की सरकारों के हर फ़ैसले को उलट पुलट सकते थे। कोई ज़िम्मेदार मंत्रिमंडल ऐसी हालत में काम नहीं कर सकता था। उसकी किसी एक से लड़ाई ज़रूर होती—चाहे वे गवर्नर और सिविल सर्विस के आदमी हों या वे असेंबली में जनता के नुमाइंदे हों। हर असेंबली में उन सूबों में जहां कांग्रेसी सरकारें थीं लड़ाई शुरू होने के बाद कांग्रेस की मांग को मंज़ूर कर लिया गया था। और अब वाइसराय द्वारा इस मांग के रद्द होने के मानी थे इस्तीफ़ा या झगड़ा। आम जनता

में सिर्फ एक भावना थी कि ब्रिटिश ताकत के साथ लड़ाई छेड़ दी जाये। लेकिन यकायक मुमकिन हो सकता था। कार्यसमिति इसकी नौबत नहीं आने देना चाहती थी और इसीलिए उसने नरम नीति को अपनाया। ब्रिटिश सरकार के लिए यह आसान था कि वह यहां की जनता की भावनाओं की जांच कर ले। यह बात आम चुनावों से साफ हो जाती। उसने इस चीज से बचने की कोशिश की, क्योंकि उसे कोई शक नहीं था कि चुनावों में कांग्रेस की बड़ी भारी जीत होगी।

बंगाल और पंजाब के बड़े सूबों में और सिंध के छोटे-से सूबे में इस्तीफे नहीं दिये गए। बंगाल और पंजाब दोनों ही में गवर्नर और सिविल सर्विस का पहले से ही बोल-बाला था, इसलिए यहां कोई झगड़ा नहीं उठ सकता था। इतने पर भी बंगाल में बाद में गवर्नर और प्रधान मंत्री की नहीं बनी और गवर्नर ने मंत्रिमंडल को इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया। आगे चलकर सिंध के प्रधान मंत्री ने वाइसराय को एक खत लिखा और उसमें ब्रिटिश नीति की बुराई-भलाई की और उसके विरोध में उन्होंने वह सरकारी खिताब, जो उन्हें दिया गया था, छोड़ दिया। उन्होंने इस्तीफा नहीं दिया। लेकिन वाइसराय ने इस बात की वजह से गवर्नर के हाथों उन्हें प्रधान मंत्री के ओहदे से बरखास्त कराया, क्योंकि यह बात वाइसराय की शान के खिलाफ था।

कांग्रेसी सूबा-सरकारों को इस्तीफा दिये हुए अब करीब पांच बरस हो चुके हैं। इस दौरान में हर सूबे में एक आदमी का—गवर्नर का—राज्य रहा है। और लड़ाई की ओट में और उसके बहाने से हम उन्नीसवीं सदी के बीच की तरह निरंकुशता पर पहुंच गये हैं। सिविल सर्विस और पुलिस का बोल-बाला है। और उनमें से कुछ, चाहे वे अंग्रेज हों या हिंदुस्तानी, अगर ब्रिटिश सरकार की निर्दय नीति के अनुसार काम करने में जरा नरमी जताते हैं, तो उन्हें सरकार की ज्यादा-से-ज्यादा नाखुशी का नतीजा भोगना पड़ता है। कांग्रेसी सरकारों का किया हुआ बहुत-सा काम मिट्टी में मिला दिया गया है और उनकी स्कीमों पर पानी फेर दिया गया है। खुशकिस्मती से कुछ काश्तकारी कानून अभी कायम हैं, अगरचे उनमें भी अक्सर ऐसे मानी लगाये जाते हैं जिनसे किसानों को नुकसान पहुंचता है।

पिछले दो सालों में आसाम, उड़ीसा और सरहद के छोटे-से सूबे में फिर से सूबों की सरकारें कायम कर दी गई हैं। उसमें एक बात है असेंबली के कुछ मेंबरों को गिरफ्तार कर लिया गया है और इस तरह अल्प

मत दलों को बहुमतवाला बना दिया गया है। बंगाल की मौजूदा सरकार एक काफ़ी बड़े यूरोपीय गुट के सहारे पर टिकी हुई है। उड़ीसा का मंत्रिमंडल ज़्यादा दिनों तक काम नहीं कर सका और उस सूबे में फिर एक आदमी का गवर्नर का राज्य वापस आ गया है। सरहदी सूबे में मंत्रि-मंडल काम करता रहा लेकिन उसके साथ बहुमत नहीं था। इसी वजह से असेंबली की बैठक नहीं बुलाई जाती थी। पंजाब और सिंध में खासतौर पर हुक्म जारी किये गए जिनकी मदद से असेंबली के कांग्रेसी मेंबर (जो जेल से बाहर थे) असेंबली के अधिवेशन और दूसरी सार्वजनिक कार्रवाइयों में हिस्सा लेने से रोक दिए गए।[1]

## ४ कांग्रेस की एक और तजवीज़ ब्रिटिश सरकार द्वारा उसकी नामंज़ूरी विन्स्टन चर्चिल

इन आठ सूबों में एक आदमी के निरंकुश शासन क़ायम होने के मानी चोटी के आदमियों की तबदीली ही नहीं थी—जैसा मंत्रिमंडल के बदलने पर होता है। यह तो एक ऐसी तबदीली थी जिसका असर शुरू से आख़िर तक पूरी सरकारी मशीन पर, उसकी भावना उसकी नीति और उसके काम करने के ढंग पर था। कार्यकारी और स्थायी सेवाओं पर से अब असेंबली की निगरानी हट गई और गवर्नर से लेकर नीचे के अदना-से-अदना आदमी तक सिविल सर्विस और पुलिसवालों का जनता की तरफ़ रुख बिलकुल बदल गया। यह सिर्फ़ कांग्रेस के ताक़त में आने के पहले की-सी हालत ही नहीं लौटी बल्कि हालत कहीं ज़्यादा बिगड़ गई। क़ानूनी हालत से तो हम उन्नीसवीं सदी की निरंकुश स्वेच्छाचारिता पर पहुँच गये थे। असली तौर पर यह बहुत खलनेवाली चीज़ थी क्योंकि पुराना आपसी भरोसा टूट चुका था। सरकार के ब्रिटिश सदस्यों में लंबे अरसे से स्थापित निहित स्वार्थों के मिट जाने का डर और धाक समाया हुआ था। कांग्रेसी सरकार के सवा दो साल बड़ी मुश्किल से बरदाश्त हुए थे। उन्हीं लोगों के हुक्म की तामील करना जिन्हें थोड़ी-सी शिकायत पर भी जेल भेजा जा सकता था कुछ खुशगवार नहीं मालूम हुआ। अब पुराने कार्यों

[1] १९४५ के शुरू में सरहदी विधान सभा की आख़िरकार बजट पर विचार करनेवाली बैठक बुलानी पड़ी। अविश्वास के प्रस्ताव से मंत्रिमंडल हरा दिया गया और उसने इस्तीफ़ा दे दिया। तब डाक्टर खानसाहब की सदारत में कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने फिर पद ग्रहण किया।

को जोड़ने की ही इच्छा नहीं थी, बल्कि इन ज़िम्मेदारियों को मुनासिब जगहों पर पहुंचा देने की ख्वाहिश थी। हर एक को, चाहे वह खेत का किसान हो, कारखाने का मज़दूर हो, कारीगर हो, दुकानदार हो, उद्योगपति हो, नौकरीपेशा हो, कालेज की नौजवान लड़की हो या लड़का हो, छोटी नौकरीवाला हो या कितनी ही ऊंची नौकरीवाला हिंदुस्तानी, जिसने जनता की सरकार के लिए भाव दिखाया हो, उसको यह बताना था कि ब्रिटिश राज्य अब भी कायम है और उसका उसे खयाल रखना होगा। यही राज्य उनके निजी भविष्य को और उनके तरक्की के मौकों को तय करेगा, न कि ये थोड़े-से आदमी जो कुछ वक्त के लिए रुकावट देने को आ घुसे थे। जिन लोगों ने मंत्रियों के सेक्रेटरियों की हैसियत से काम किया था, वे अब मालिक थे। उनके और गवर्नर के बीच में अब कोई नहीं था और अब वे फिर पुराने साहबी ढंग से काम करने लगे। सिविलियन फिर अपने हलकों के सर्वेसर्वा हो गये। पुलिस को अब फिर अपनी पुरानी हरकतें करने की आज़ादी थी, क्योंकि उसको भरोसा था कि उसकी गलती होने पर भी, उसके दुर्व्यवहार करने पर भी, ऊपर के अफ़सर उसकी मदद करेंगे और उसकी हिफ़ाज़त करेंगे। सफ़ाई के कुहरे में तो हर एक चीज़ ढकी जा सकती थी।

कांग्रेसी सरकारों के बहुत-से नुक्ताचीनों को भी इस नये दौर को देख कर हैरत हुई। अब उनको इन कांग्रेसी सरकारों की खूबियां याद आने लगीं और उन्होंने उनके इस्तीफ़े पर सख्त नाराज़गी ज़ाहिर की। उनके मुताबिक कांग्रेसी सरकारों को आगे बढ़े चलना था, चाहे नतीजा कुछ भी होता। कुछ अजीब-सी बात तो है, लेकिन मुस्लिम-लीग के मेंबर तक आर्द्र खिन्न थे।

जब गैर-कांग्रेसियों और कांग्रेस-सरकार के आलोचकों में यह प्रतिक्रिया हुई, तो आसानी से अंदाज़ हो सकता है कि कांग्रेसियों, सबसे हमदर्दी रखनेवालों और असेंबली के मेंबरों की क्या हालत हुई होगी। मंत्रियों ने अपने ओहदों से इस्तीफ़ा ज़रूर दिया था, लेकिन असेंबली की मेंबरी से नहीं, और न इन असेंबलियों के मेंबरों और स्पीकरों ने ही इस्तीफ़े दिये। फिर भी वे हटा दिये गये और उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई। और न कोई नया चुनाव ही हुआ। विशुद्ध संवैधानिक दृष्टिकोण से भी इसे बरदाश्त करना आसान नहीं था और किसी भी देश में इससे एक विकट संकट खड़ा हो सकता था। कांग्रेस-जैसा शक्तिशाली अर्ध-क्रांतिकारी संगठन, जिसमें इस देश की राष्ट्रीय भावना की नुमाइंदगी होती थी और जिसका आज़ादी की

लड़ाई का एक अपना इतिहास था और चुप होकर इस एक आदमी के निरंकुश राज्य को मंजूर नहीं कर सकता था। जो कुछ हो रहा था उसके लिए वह सिर्फ दर्शक ही नहीं रह सकती थी और खासतौर से इसलिए कि यह सब उसीके खिलाफ था। और हिंदुस्तान में अंग्रेजी नीति तथा सार्वजनिक और असेंबली के कामों को इस तरह कुचले जाने के खिलाफ बार-बार जोरदार कार्रवाई करने की मांग की गई।

ब्रिटिश सरकार ने अपने लड़ाई के मकसद को साफ करने और हिंदुस्तान में आगे कोई कदम उठाने से इन्कार कर दिया। इसके बाद कांग्रेस कार्य-समिति ने ऐलान किया— (कांग्रेस की) इस मांग का जो जवाब मिला है वह बिल्कुल नाकाबिल इतमीनान है और ब्रिटिश सरकार की तरफ से फूटफजूमी पैदा करने की कोशिश की गई है और साथ ही साथ नैतिक सवाल को धुंधला करने की कोशिश की गई है। लड़ाई के मकसद के बारे में और हिंदुस्तान की आजादी के बारे में कुछ न बताने की कोशिश के जिसमें बेकार की बातों की आड़ ली गई है, समिति यही मानी लगाती है कि इस देश के और प्रतिक्रियावादी हिस्सों से मिलकर हिंदुस्तान में साम्राज्यवाद को कायम रखने की इच्छा वाकायदा बनी हुई है। कांग्रेस ने इस युद्ध-संकट और उस सिलसिले की सारी समस्याओं को तो एक नैतिक दृष्टिकोण से देखा है और उसने इस युद्ध-संकट से फायदा उठाकर सौदा करने के खयाल से कुछ नहीं सोचा। हिंदुस्तान की आजादी और लड़ाई के मकसद के बारे में (जो नैतिक और बड़े सवाल हैं उनका) पहले ठीक ढंग से फैसला हो जाना जरूरी है। इसके बाद ही और दूसरी छोटी चीजों पर गौर किया जा सकता है। किसी भी हालत में कांग्रेस सरकारी इतजाम की जिम्मेदारी के लिए मंजूरी तबतक नहीं दे सकती जबतक कि सच्ची ताकत जनता के नुमाइंदों को न सौंप दी जाय। बिना इस ताकत के वह थोड़े-से बीच के जमाने के लिए भी जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं है।

समिति ने आगे चलकर यह कहा कि ब्रिटिश सरकार के नाम पर किये हुए ऐलानों की वजह से ही कांग्रेस को मजबूर होकर ब्रिटिश-नीति से अलग होना पड़ा है और उसके असहयोग का पहला कदम यह था कि सूबों की कांग्रेसी सरकारों ने इस्तीफा दिया। असहयोग की आम नीति जारी रही है और जबतक ब्रिटिश सरकार अपनी नीति नहीं बदलती यह आगे भी जारी रहेगी। लेकिन कार्यसमिति कांग्रेसियों को याद दिला देगी कि हर सत्याग्रह में यह बात बुनियादी तौर पर शामिल है कि विपक्षी से सम्मानपूर्ण समझौता करने के लिए कोई कसर न बाकी रहे। इस

लिए कार्यसमिति सम्मानपूर्ण समझौते पर पहुंचने के लिए जरिया पाने की बराबर कोशिश करती रहेगी हालांकि कांग्रेस की आंखों के सामने ही ब्रिटिश सरकार ने अपना दरवाजा बंद कर लिया है।

देश में चारों तरफ फैली उत्तेजना को ध्यान में रखते हुए और इस संभावना को सोचकर कि नौजवान हिंसात्मक ढंग के तरीके को न अपना लें, समिति ने देश को अहिंसा की बुनियादी नीति की याद दिलाई और उसे तोड़ने के खिलाफ चेतावनी दी। अगर कोई सविनय अवज्ञा भी हो तो उसके लिए भी यह जरूरी था कि वह पूरी तरह शांतिपूर्ण हो। इसके अलावा "सत्याग्रह के मानी हैं सबके लिए शुभ कामनाएं—और यह खासतौर पर मुखालिफों के लिए।" अहिंसा के इस जिक्र का लड़ाई से या हमले के वक्त देश की रक्षा से कोई ताल्लुक नहीं था। उसका ब्रिटिश हुकूमत से हिंदुस्तान की आजादी पाने की हर कोशिश से ही ताल्लुक था।

ये व महीने थे जब यूरोप में लड़ाई, पोलैंड के कुचले जाने के बाद, एक खामोशी की हालत में थी। उस वक्त ऊपरी तौर पर शांति मालूम देती थी और हिंदुस्तान के आम लोगों के खयाल से लड़ाई अभी काफी दूर थी और खासतौर से हिंदुस्तान के ब्रिटिश अफसरों की निगाह में भी शायद यही बात थी। हां, उन्हें सामान जुटाने और उसे भेजने की फ़िक्र जरूर थी। हिंदुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी उस वक्त और बाद में भी जब तक जून १९४१ में जर्मनी ने रूस पर हमला नहीं किया, बराबर इस बात के खिलाफ थी कि इंग्लैंड को लड़ाई में मदद दी जाय। उनकी संस्था गैर कानूनी करार दी गई थी। उनका असर बहुत थोड़ा था। जो कुछ असर था वह कुछ नौजवान समूहों में था। लेकिन इस वजह से कि वे व्यापक भावना को उग्र शब्दों में व्यक्त करते थे उन पर रोक लगा दी गई।

इसी दौरान में मरकजी और सूबों की असेंबलियों के लिए चुनाव करना आसान होता। लड़ाई की वजह से उसमें कोई रुकावट नहीं थी। इस चुनाव से सारा वातावरण साफ हो जाता और देश की असली स्थिति सतह पर आ जाती। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को इस असलियत का ही तो डर था, क्योंकि तब उनकी बहुत-सी झूठी दलीलें आगे नहीं चल पातीं। उन दलीलों में वे बराबर अलग-अलग संस्थाओं और पार्टियों के असर का जिक्र करते थे। लेकिन सभी चुनावों से बचने की कोशिश की गई। सूबों में एक आदमी की हुकूमत चलती रही। मरकजी असेंबली जिसकी मियाद तीन साल के लिए बहुत सीमित निर्वाचक मंडल द्वारा चुनी जाती है, दस साल से बराबर चल रही है। उस वक्त भी जब सन १९३९ में लड़ाई शुरू

हुई थी उसकी मियाद के दो बरस खतम हो चुके थे। हर साल बाद उसकी एक साल की मियाद और बढ़ा दी जाती है। उसके मेंबर बूढ़े होते जाते हैं, उनकी इज्जत बढ़ती जाती है, कभी-कभी उनमें से कोई मर भी जाता है और यह याद भी धुंधली होती जाती है कि चुनाव कभी हुए भी थे। चुनाव ब्रिटिश सरकार को पसंद नहीं हैं। उनसे जिंदगी का ढर्रा बिगड़ जाता है और आपस में लड़नेवाले मजहबी फ़िर्क़ों और सियासी पार्टियों के हिंदुस्तान की तस्वीर गंदी हो जाती है। बिना चुनाव के किसी आदमी या किसी समुदाय को जिस पर इनायत करनी है अहमियत देना बहुत ज्यादा आसान है।

वैसे तो सारे देश में ही लेकिन खासतौर पर उन सूबों में जहां एक आदमी का राज्य था दिन-ब-दिन हालत में तनाव ज्यादा बढ़ता गया। अपनी आम कारगुजारियों के लिए भी कांग्रेसियों को जेल भेजा गया। छोटे-छोटे अफ़सरों और पुलिस की नई ज्यादतियों से राहत पाने के लिए किसान जोरों से आवाज उठा रहे थे। इन पुलिसवालों और छोटे अफ़सरों पर बड़ों की इनायत थी वे लड़ाई के नाम पर हर तरह की जबर्दस्ती कर रहे थे। इस हालत के खिलाफ कुछ कार्रवाई करने के लिए मांग लाजिमी हो गई। और तब कांग्रेस ने मार्च १९४० में बिहार सूबे की रामगढ़ नाम की जगह में मौलाना अबुल कलाम आजाद की सदारत में अपने सालाना जल्से में यह तय किया कि सिर्फ़ सविनय अवज्ञा आंदोलन ही अब अकेला रास्ता है। इतने पर भी कोई नया कदम उठाने से बचने की कोशिश की और जनता से तैयारी करने के लिए कहा गया।

अंदरूनी संकट दिन-ब-दिन ज्यादा गहरा होता जा रहा था और यह महसूस हुआ कि संघर्ष टल नहीं सकेगा। लड़ाई के सिलसिले में एहतियात के लिए भारत रक्षा-कानून पास हुआ था और आम कारगुजारियों को कुचलने के लिए उसका चारों तरफ इस्तेमाल हो रहा था और बिना जुर्म लगाये ही लोग गिरफ्तार कर जेल में ठूंसे जा रहे थे।

लड़ाई की हालत में अचानक तबदीली से जिसकी वजह से डेनमार्क और नार्वे पर हमला हुआ और उसके कुछ ही बाद फ्रान्स की अचंभे में डालनेवाली हार हुई, लोगों पर काफी गहरा असर हुआ। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं, और यह कुदरती बात थी। लेकिन फिर भी फ्रान्स के लिए और जर्मन और हवाई हमलों के बाद इंग्लैंड के लिए बड़ी भारी हमदर्दी की लहर आई। जिस वक्त आजाद इंग्लैंड की हस्ती ही खतरे में थी कांग्रेस जो सविनय अवज्ञा के लिए बिलकुल तैयार थी इस वक्त किसी ऐसे आंदोलन की सोच भी नहीं सकती थी। हां कुछ

लिए कार्यसमिति सम्मानपूर्ण समझौते पर पहुंचने के लिए जरिया पाने की बराबर कोशिश करती रहेगी हालांकि कांग्रेस की आंखों के सामने ही ब्रिटिश सरकार ने अपना दरवाजा बंद कर दिया है।"

देश में चारों तरफ फैली उत्तेजना को ध्यान में रखते हुए और इस संभावना को सोचकर कि नौजवान हिंसात्मक ढंग के तरीके को न अपना लें समिति ने देश को अहिंसा की बुनियादी नीति की याद दिलाई और इसे तोड़ने के खिलाफ चेतावनी दी। अगर कोई सविनय अवज्ञा भी हो तो उसके लिए भी यह जरूरी था कि वह पूरी तरह शांतिपूर्ण हो। इसके अलावा "सत्याग्रह के साथी हैं उनके लिए शुभ कामनाएं—और यह खासतौर पर मुखालिफों के लिए। अहिंसा के इस जिक्र का लड़ाई से या हमले के वक्त देश की रक्षा से कोई ताल्लुक नहीं था। उसका ब्रिटिश हुकूमत से हिंदुस्तान की आजादी पाने की हर कोशिश से ही ताल्लुक था।

ये वे महीने थे जब यूरोप में लड़ाई, पोलैंड के कुचले जाने के बाद, एक खामोशी की हालत में थी। उस वक्त ऊपरी तौर पर शांति मालूम देती थी और हिंदुस्तान के आम लोगों के खयाल से लड़ाई अभी काफ़ी दूर थी और खासतौर से हिंदुस्तान के ब्रिटिश अफ़सरों की निगाह में भी शायद यही बात थी। हां उन्हें सामान जुटाने और उसे भेजने की फ़िक्र जरूर थी। हिंदुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी उस वक्त और बाद में भी जब-तक जून १९४१ में जर्मनी ने रूस पर हमला नहीं किया बराबर इस बात के खिलाफ थी कि इंग्लैंड को लड़ाई में मदद दी जाय। उनकी संस्था गैर कानूनी करार कर दी गई थी। उनका असर बहुत थोड़ा था। जो कुछ असर था वह कुछ नौजवान समूहों में था। लेकिन इस वजह से कि वे व्यापक भावना को उग्र शब्दों में व्यक्त करते थे उन पर रोक लगा दी गई।

इसी दौरान में मरकजी और सूबों की असेंबलियों के लिए चुनाव करना आसान हुआ। लड़ाई की वजह से उसमें कोई रुकावट नहीं थी। ऐसे चुनाव से सारा वातावरण साफ़ हो जाता और देश की असली स्थिति सतह पर आ जाती। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को इस असलियत का ही तो डर था क्योंकि तब उनकी बहुत-सी झूठी दलीलें आगे नहीं चल पातीं। इन दलीलों में वे बराबर अलग-अलग संस्थाओं और पार्टियों के असर का जिक्र करते थे। लेकिन सभी चुनावों से बचने की कोशिश की गई। सूबों में एक आदमी की हुकूमत चलती रही। मरकजी असेंबली जिसके मेंबर तीन साल के लिए बहुत सीमित निर्वाचक मंडल द्वारा चुने जाते हैं, दस साल से बराबर चल रही है। उस वक्त भी जब सन १९३९ में लड़ाई शुरू

हुई थी उसकी मियाद के दो बरस खत्म हो चुके थे। हर साल बाद उसकी एक साल की मियाद और बढ़ा दी जाती है। उसके मेंबर बूढ़े होते जाते हैं, उनकी दरखत बढ़ती जाती है, कभी-कभी उनमें से कोई मर भी जाता है और यह याद भी धुंधली होती जाती है कि चुनाव कभी हुए भी थे। चुनाव ब्रिटिश सरकार को पसंद नहीं हैं। उनसे जिंदगी का ढर्रा बिगड़ जाता है और आपस में लड़नेवाले मजहबी फ़िर्क़ों और सियासी पार्टियों के हिंदुस्तान की तस्वीर गंदी हो जाती है। बिना चुनाव के किसी आदमी या किसी समुदाय को जिस पर इनायत करनी है अहमियत देना बहुत ज्यादा आसान है।

वैसे तो सारे देश में ही लेकिन खासतौर पर उन सूबों में जहां एक आदमी का राज्य था दिन-ब-दिन हालत में तनाव ज्यादा बढ़ता गया। अपनी आम कारगुजारियों के लिए भी कांग्रेसियों को जेल भेजा गया। छोटे-छोटे अफ़सरों और पुलिस की नई ज्यादतियों से राहत पाने के लिए किसान जोरों से आवाज उठा रहे थे। इन पुलिसवालों और छोटे अफ़सरों पर बड़ों की इनायत थी वे लड़ाई के नाम पर हर तरह की बदसुलूकी कर रहे थे। इस हालत के खिलाफ़ कुछ कार्रवाई करने के लिए मांग लाजिमी हो गई। और तब कांग्रेस ने मार्च १९४ में बिहार सूबे की रामगढ़ नाम की जगह में मौलाना अबुल कलाम आजाद की सदारत में अपने सालाना जलसे में यह तय किया कि सिर्फ़ सविनय अवज्ञा आंदोलन ही अब अकेला रास्ता है। इतने पर भी कोई नया क़दम उठाने से बचने की कोशिश की और जनता से तैयारी करने के लिए कहा गया।

अंदरूनी संकट दिन-ब-दिन ज्यादा गहरा होता जा रहा था और यह महसूस हुआ कि संघर्ष टल नहीं सकेगा। लड़ाई के सिलसिले में एहतियात के लिए भारत-रक्षा-कानून पास हुआ था और आम कारगुजारियों को कुचलने के लिए उसका चारों तरफ़ इस्तेमाल हो रहा था और बिना जुर्म बताये ही लोग गिरफ्तार कर जेल में ठूंसे जा रहे थे।

लड़ाई की हालत में अचानक तबदीली से जिसकी वजह से डेनमार्क और नार्वे पर हमला हुआ और उसके कुछ ही बाद फ्रान्स की अचंभे में डालनेवाली हार हुई, लोगों पर काफ़ी गहरा असर हुआ। अलग-अलग लोगों में अलग-अलग प्रतिक्रियाएं हुईं, और यह कुदरती बात थी। लेकिन फिर भी फ्रान्स के लिए और डंकर्क और हवाई हमलों के बाद इंग्लैंड के लिए बड़ी भारी हमदर्दी की लहर आई। जिस वक्त आजाद इंग्लैंड की हस्ती ही खतरे में थी कांग्रेस जो सविनय अवज्ञा के लिए बिलकुल तैयार थी इस वक्त किसी ऐसे आंदोलन की सोच भी नहीं सकती थी। हां कुछ

ऐसे भी आदमी थे जिनके खयाल में इंगिलस्तान की मुश्किलों और उसके खतरे में हिंदुस्तान के लिए मौका था। लेकिन कांग्रेस के नेता इस चीज़ के बिलकुल खिलाफ थे कि ऐसी हालत का जिसमें खुद इंगिलस्तान का भविष्य खतरे से भरा हुआ हो फ़ायदा उठाया जाये और यह खयाल उन्होंने खुले तौर पर ज़ाहिर किया। उस वक्त के लिए सविनय अवज्ञा का विचार छोड़ दिया गया।

कांग्रेस की तरफ़ से एक और कोशिश की गई कि ब्रिटिश सरकार से समझौता हो जाये। पहली कोशिश में हिंदुस्तान में तबदीली के अलावा लड़ाई के मकसद और साथ ही कितनी ही दूसरी बड़ी-बड़ी बातों के बारे में एलान की मांग की गई थी। लेकिन इस बार प्रस्ताव छोटा और निश्चित था और उसमें सिर्फ़ हिंदुस्तान का ही ज़िक्र था। उसमें हिंदुस्तान की आज़ादी को मंज़ूर करने की मांग की गई और कहा गया कि केंद्र में एक क़ौमी सरकार कायम की जाय जिसके मानी थे कि मुख्तलिफ़ पार्टियों का सहयोग हो। उस वक्त ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा किसी नये क़ानून बनाये जाने की बात निगाह में नहीं थी। सुझाव यह था कि जो मौजूदा क़ानूनी ढांचा है उसीमें वाइसराय के ज़रिये क़ौमी सरकार बना ली जाये। जिन तबदीलियों का ज़िक्र किया गया था वे बड़ी तो ज़रूर थीं लेकिन आपसी समझौते और ढंग से उनको ठोस शक्ल दी जा सकती थी। क़ानूनी और सर्वैधानिक तबदीलियां का बाद में होना ज़रूरी था लेकिन ये कुछ वक्त के लिए रुक सकती थीं ताकि उन पर फुरसत के मौक़े से और ज़्यादा सोच-विचार हो सके। लेकिन शर्त यह थी कि हिंदुस्तान की आज़ादी के हक़ को मंज़ूर कर लिया जाय। इस हालत में लड़ाई की तैयारियों में पूरी तरह साथ देने का भरोसा दिलाया गया।

इन प्रस्तावों ने जिनकी शुरुआत श्री राजगोपालाचार्य ने की कांग्रेस की अकसर दुहराई गई मांगों को घटा दिया। उनकी यह मांग हमारी उस मांग से जो बहुत अरसे से थी बहुत कम थी। बिना किसी क़ानूनी परेशानी के इन चीज़ों को फ़ौरन ही अमली शक्ल दी जा सकती थी। उनमें और दूसरे बड़े समुदायों और दलों से मिलकर चलने की कोशिश थी क्योंकि यह बात ज़ाहिर थी कि क़ौमी सरकार लाज़िमी तौर पर मिली-जुली सरकार होगी। इतना ही नहीं बल्कि उनमें ब्रिटिश सरकार की हिंदुस्तान में अनोखी स्थिति का भी ध्यान रखा गया था। वाइसराय बराबर बना रहता लेकिन यह उम्मीद की गई थी कि क़ौमी सरकार के फ़ैसलों को वह अपने निषेध के अधिकार से रद्द नहीं करेगा। लेकिन सरकार के प्रमुख

की हैसियत से उसकी मौजूदगी के आखिरी तौर पर ये मानी थे कि उसका सरकार से काफ़ी गहरा नाता होगा। लड़ाई का सारा ढांचा कमांडर-इन-चीफ़ के कब्जे में बना रहता और मुल्की हुकूमत का जो जाल अंग्रेजों ने बिछाया था वह भी बना रहता। असल में इस रद्दो-बदल का जो खास असर होता वह यह था कि शासन में एक नई भावना आती एक नया नजरिया क़ायम होता एक नई ताकत होती और लड़ाई की तैयारियों में और देश के सामने जो गंभीर समस्याएं थीं उनको हल करने में जनता का सहयोग होता। यह रद्दो-बदल और साथ ही लड़ाई के बाद हिंदुस्तान की आजादी का निश्चित आश्वासन—इन सबसे हिंदुस्तान में एक ऐसी बहुमियत बनती जिसके सबब से लड़ाई में पूरी-पूरी मदद मिलती।

अपने पिछले ऐलानों और तजुरबों के बाद कांग्रेस के लिए इस तजवीज को रखना कोई आसान बात नहीं थी। ऐसा महसूस किया जाता था कि ऐसे घेरे में बनी हुई कौमी सरकार बेबस होगी और उसका कुछ असर नहीं होगा। कांग्रेसी हलकों में इस पर काफ़ी विरोध हुआ और मैं खुद भी बड़ी मुश्किल से बहुत सोच-विचार के बाद ही इसके लिए राजी हो सका। मैं इसके लिए खासतौर पर ज्यादा बड़े अंतर्राष्ट्रीय सवालों को सोच कर ही राजी हुआ और मेरी इच्छा यह थी कि अगर सम्मानपूर्ण ढंग से यह मुमकिन हो तो हमको फ़ासिस्तवाद और नात्सीवाद के खिलाफ़ लड़ाई में पूरी तरह शामिल हो जाना चाहिए।

लेकिन हमारे सामने एक और ज्यादा बड़ी मुश्किल थी और वह थी गांधीजी का विरोध। उनका यह विरोध तो सिर्फ़ शांति और अहिंसा की वजह से था। लड़ाई में मदद देने के हमारे पिछले प्रस्तावों का उन्होंने विरोध नहीं किया था लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उन्हें बहुत बेचैनी रही होगी। लड़ाई के ठीक शुरू में ही उन्होंने वाइसराय से कहा था कि कांग्रेस तो सिर्फ़ नैतिक सहायता दे सकती है लेकिन कांग्रेस का यह रुख नहीं था और यह बात बाद में कई बार साफ़ कर दी गई थी। अब तो उन्होंने निश्चित रूप से विरोध किया जिससे कांग्रेस हिंसात्मक लड़ाई की तैयारियों में जिम्मेदारी लेने को तैयार न हो जाय। इस चीज पर उनके इतने कट्टर विचार थे कि उन्होंने अपने साथियों यहांतक कि कांग्रेस संगठन से भी अपना नाता तोड़ लिया। उनके साथ काम करनेवालों के लिए यह चोट बहुत तकलीफ़देह थी क्योंकि आज की कांग्रेस तो उनकी ही बनाई हुई थी। फिर भी कांग्रेस-संगठन लड़ाई की हालत में भी उनके अहिंसा के सिद्धांत को लागू करने के लिए राजी नहीं हो सका और ब्रिटिश सरकार

से समझौता करने की ख्वाहिश में यह इतना आगे बढ़ गया कि उसने अपने मान्य और प्रिय नेता तक से नाता तोड़ लिया।

देश की हालत और कई मानों में बिगड़ती जा रही थी। राजनीति के मैदान में तो यह बात ज़ाहिर थी। आर्थिक मामले में भी हालांकि कुछ किसान और कुछ मजदूर पहले से कुछ बेहतर थे, ज्यादातर लोगों को लड़ाई की वजह से धक्का पहुंचा था। जो लोग सचमुच लड़ाई से माला-माल हो रहे थे वे थे लड़ाई के मुनाफाखोर, ठेकेदार और वे अफसर, खासतौर पर ब्रिटिश अफसर जो लड़ाई के काम में ऊंची-ऊंची तनख्वाहों पर रखे गये थे। ज़ाहिर है सरकार का यह खयाल था कि लड़ाई की तैयारियों को पूरी तरह कर पाने के लिए ज्यादा मुनाफा पाने की नीयत से बहुत मदद मिलेगी और इसीलिए उसको मौका दिया गया था। रिश्वत-खोरी और रियायत का बाजार खूब गरम था और उसपर कोई रुकावट नहीं थी। आम लोगों की तरफ से नुक्ताचीनी का होना लड़ाई की तैयारियों के लिए नुकसानदेह समझा गया और उसको सब-कुछ समेटनेवाले भारत रक्षा कानून की गिरफ्त में ले लिया गया। यह एक मायूसी लाने वाला दृश्य था।

इन सब चीजों ने हमको एक बार ब्रिटिश सरकार से समझौता करने की फिर कोशिश करने के लिए उकसाया। जहांतक हमको उम्मीद थी कोई खास उम्मीद नजर नहीं आई। स्थायी सेवाओंवाले सभी सरकारी महकमों को नियंत्रण और आलोचना से ऐसा छुटकारा मिला हुआ था जैसा पिछली दो पीढ़ियों में नहीं मिला था। जिस आदमी को वे ठीक नहीं समझते उसे अभियोग लगाकर या बिना अभियोग के ही जेल में बंद कर सकते थे। गवर्नरों का बड़े-बड़े सूबों पर काबू था और उनके अधिकारों पर कोई रोक-टोक नहीं थी। वे किसी तब्दीली के लिए क्यों राजी होते जबतक कि परिस्थितियां ही उनको उसके लिए मजबूर न कर देतीं? इस ढांचे के ऊपर थे वाइसराय लार्ड लिनलिथगो जिनके चारों तरफ उनका शासन और मर्यादित बनाव-सजाव और धाम थी। उनका जिस्म भारी था लेकिन दिमाग मन्द था। उनका दिमाग चट्टान की तरह ठोस लेकिन उतनी ही तरह जड़ था। और उसमें पुराने ढंग के ब्रिटिश रईसों की सारी खूबियां और कमियां मौजूद थीं। उन्होंने ईमानदारी से पूरी तरह इस उलझन से निकलने का मार्ग तलाशा था। लेकिन उनकी अपनी बहुत-सी कमियां थीं। उनका दिमाग पुराने ढर्रे पर ही चलता था और किसी नये ढंग से उन्हें झिझक था। जिस शासक-वर्ग के वह सरदार थे उसकी परिपाटी से उनका

नजरिया महदूद था। जो कुछ वह देखते और सुनते थे वह सिविल सर्विस की आँखों और कानों से या उन लोगों की मदद से जो उन्हें घेरे रहते थे। जो लोग बुनियादी राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन की सलाह देते थे उन पर उन्हें भरोसा नहीं था वह उन लोगों को नापसंद करते थे जो ब्रिटिश साम्राज्य और हिंदुस्तान में उसके खास नुमाइंदे के ऊंचे मकसदों की पूरी-पूरी तरह इज्जत नहीं करते थे।

उन संकट के दिनों में जब पच्छिमी यूरोप में जर्मनी हवाई जहाजों से बम बरसा रहा था इंग्लैंड में कुछ तबदीली हुई। मि नेविल चैंबरलेन हट गये थे और कई लिहाज से यह एक भैन की बात थी। जेटलैंड के लार्ड जो उनकी शाही हुकूमत के एक खास रत्न थे अब भारत-सचिव के पद से हट गये। उनके हटने पर किसीको अफ़सोस नहीं हुआ। और अब उनकी जगह आये मि एमरी जिनकी बाबत हमें करीब-करीब कुछ भी नहीं मालूम था लेकिन जो कुछ पता था उसके खास मानी थे। हाउस ऑव कामन्स में चीन पर जापान के हमले की उन्होंने जोरों से हिमायत की थी। उनकी दलील यह थी कि जापान ने चीन में जो कुछ किया अगर हम उसकी निंदा करें, तो हमको उसी तरह हिंदुस्तान और मिस्र में ब्रिटेन ने जो कुछ किया था उसकी भी निंदा करनी पड़ेगी। यह एक जोरदार दलील थी जिसको तोड़-मरोड़कर एक गलत मकसद के लिए इस्तेमाल किया गया था।

लेकिन वह शख्स जिसकी सचमुच कुछ अहमियत थी वह थे मि विन्स्टन चर्चिल। वह ब्रिटेन के नये प्रधान मंत्री थे। हिंदुस्तान की आजादी के सिलसिले में उनके खयाल बिलकुल निश्चित और स्पष्ट थे और कई बार दोहराये जा चुके थे। हिंदुस्तान आजादी के वह कट्टर विरोधी थे उसके लिए किसी तरह झुकने या समझौता करने के लिए तैयार नहीं थे। जनवरी १९३७ में उन्होंने कहा था—"कभी-न-कभी तुम्हें गांधी कांग्रेस और उनके आदर्शों को कुचलना पड़ेगा। उसी साल दिसंबर में उन्होंने कहा—"ब्रिटिश राष्ट्र का हिंदुस्तान की आजादी और प्रगति पर से अपना नियंत्रण हटाने का कोई इरादा नहीं है। बादशाह के ताज के सबसे ज्यादा क़ीमती और सबसे ज्यादा चमकीले उस हीरे को फेंक देने का हमारा क़तई इरादा नहीं है जो अकेला ही और सब डोमीनियनों और अधिकृत प्रदेशों के मुक़ाबले ब्रिटिश साम्राज्य की ताकत और शान को क़ायम रखता है।

बाद में उन्होंने समझाया कि 'डोमिनियन स्टेटस' नाम के उन जादू

भरे लफ्जों के जो मतलब हमसे कहे गये थे हिंदुस्तान के सिलसिले में क्या मानी थे। जनवरी १९४१ में उन्होंने कहा था—"हमने उसको (डोमिनियन स्टेटस को) हमेशा ही आखिरी मकसद माना है। लेकिन रस्मी तौर को छोड़कर किसीने यह नहीं सोचा कि हिंदुस्तान के मुमालिक लड़ाई के दौरान में कानूनों में किस तरह भाग लेंगे और न यह सोचा कि हिंदुस्तान के लिए उसूलों और नीतियों को आगे बढ़कर कभी कम-से-कम वहाँ तक हमें मनासिब तौर पर नजर आता है कोई असली बहस की जायेगी। और फिर दिसंबर, १९४१ में—"बहुत-से बड़े-बड़े सार्वजनिक नेताओं ने व्याख्यान दिये और उन लोगों में से मैं भी था और मैंने भी डोमीनियन स्टेटस पर व्याख्यान दिया था लेकिन मैंने यह कभी नहीं सोचा था कि हिंदुस्तान को आगे चलकर वही संवैधानिक अधिकार मिलेंगे जो कनाडा को प्राप्त हैं। हिंदुस्तान में अपने साम्राज्य को छोड़ने के बाद इंग्लैंड एक बड़ी ताकत नहीं रह पायेगा।

यही तो विकट समस्या थी। हिंदुस्तान ही साम्राज्य था। उस पर अधिकार और उसके शोषण से ही इंग्लैंड को यह शान और ताकत हासिल थी जिसने उसे एक बड़ी ताकत बना दिया। मि० चर्चिल किसी ऐसे इंग्लैंड की नहीं सोच सकते थे जिसमें वह एक बड़े साम्राज्य का मालिक न हो और इस तरह वह एक आज़ाद हिंदुस्तान की सोच ही नहीं सकते थे। और डोमीनियन स्टेटस था जो बहुत अरसे से हमारी पहुँच के अंदर बताया जाता था अब राख हुआ। वह तो एक धुन्ध-जाल था और महज एक रस्म पूरी करने के लिए था। वह हमारी आज़ादी और ताकत से बहुत दूर था। अपने पूरे-पूरे मानी में भी जो कुछ डोमीनियन स्टेटस हो सकता था हमको तो वह भी मंजूर नहीं था। हम तो चाहते थे आज़ादी। मि० चर्चिल और हमारे बीच में सचमुच एक बहुत बड़ी खाई थी।

हमको उनके लफ्ज याद आये और हम जानते थे कि वह बहुत ज़िद्दी और न झुकनेवाले शख्स हैं। उनकी नेतागिरी में हमको इंग्लैंड से बहुत कम उम्मीद हो सकती थी। हिम्मत और नेतागिरी की बहुत-सी खूबियों के होते हुए भी वह उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यवादी अनुदार, प्रगति-विरोधी इंग्लैंड के नुमाइंदे थे। ऐसा मालूम होता था कि नई दुनिया उसकी जटिल समस्याएँ, उसकी भावना या गमन समझने में वह असमर्थ हैं—और उससे भी कम उस भविष्य का समझ सकना है जो अब बन रहा था। फ्रान्स के साथ एक संघ बनाने के मेल प्रस्ताव में (गालिबन वह प्रस्ताव उन्होंने नाजुक मौके पर किया गया था) एक कल्पनाशीलता दिखाई दी थी और उनमें परिस्थितियों

के अनुकूल होने के आसार दिखाई दिये थे। उससे हिंदुस्तान पर काफी असर हुआ। शायद जिस नये पद पर वह पहुंचे थे उसने और उस पद की जिम्मेदारियों ने उनकी निगाह को फैला दिया था। शायद अब वह अपने पहले खयालों और अपनी पहली आदतों को पार कर आगे बढ़ गये थे। शायद लड़ाई की जरूरतें ही जिनकी अब सबसे ज्यादा अहमियत थी उन्हें यह मंजूर करने के लिए मजबूर करें कि हिंदुस्तान की आजादी लाजिमी ही नहीं बल्कि लड़ाई के लिहाज से भी जरूरी और मुनासिब है। मुझे याद आया कि जब अगस्त १९३९ में मैं चीन जा रहा था, तो एक दोस्त के जरिये उन्होंने इस मुसीबतजदा देश के मेरे इस दौरे के लिए शुभ-कामनाएं भेजी थीं।

इसीलिए जब हमने अपने प्रस्ताव को पेश किया तो हम उम्मीद से खाली नहीं थे। लेकिन हमें उम्मीद बहुत ज्यादा भी नहीं थी। जल्दी ही ब्रिटिश सरकार का जवाब आया। उस जवाब में बिलकुल साफ़ इन्कार था और यही नहीं उसके लफ़्ज़ भी ऐसे थे कि हमको यह इत्मीनान हो गया कि इंग्लैंड का हिंदुस्तान पर से अपनी ताक़त उठा लेने का कोई इरादा नहीं है। वह फूट बढ़ाने और हर मध्ययुगीन विचारधारावाले और प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को मजबूत बनाने पर तुला हुआ था। हिंदुस्तान में अपना साम्राज्यवादी क़ाबू छोड़ने से ज्यादा बेहतर बात तो उसे यह लगती थी कि यहां आपसी लड़ाई शुरू हो जाये और हिंदुस्तान बरबाद हो जाये।

हालांकि हम इस तरह के बरताव के आदी हो गये थे फिर भी हमें एक धक्का लगा और नाउम्मीदी की भावना बढ़ी। मुझे याद है मैंने उस वक्त एक लेख लिखा था जिसे मैंने शीर्षक दिया था 'अलग-अलग रास्ते'। बहुत अरसे से मैं हिंदुस्तान की आजादी का हामी था क्योंकि मुझे पूरा यक़ीन था कि उसके बिना न तो हम सामूहिक रूप में पूरी तरह उन्नति ही कर सकते हैं और न हमारा इंग्लैंड से दोस्ताना रिश्ता या साथ ही हो सकता है। फिर भी मैंने इस दोस्ताना रिश्ते की उम्मीद की। अब अचानक ही मुझे यह महसूस हुआ कि जबतक इंग्लैंड पूरी तरह न बदले हमारे लिए कोई एक रास्ता नहीं था। हमारे रास्ते बिलकुल अलग थे।

## ५ व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा

इस तरह आजादी के खयाल के उस नशे की जगह जिससे हमारी शक्तियों का स्रोत खुलता और हम एक क़ौमी उत्साह के साथ दुनिया के संघर्ष में कूदते हमको उस आजादी की इन्कारी की तकलीफ़देह मायूसी

का तजुरबा हुआ। यह इनकारी धर्मंडभरी भाषा के साथ थी और ब्रिटिश राज्य और नीति की अपने मुंह तारीफ और उन शर्तों के साथ थी जिनके पूरा होने पर ही हिंदुस्तान आजादी की मांग कर सकता था। वे ऐसी शर्तें थीं जिनमें से कुछ का पूरा होना नामुमकिन था। यह जाहिर हो गया कि यह सारी बात इंग्लैंड में पार्लामेंट की बहस चिकनी-चुपड़ी भाषा और शानदार ऐलान सिर्फ राजनैतिक चालें थीं जिनसे असली नीयत पर परदा डाला जाता था। इस नीयत के सिलसिले से जबतक मुमकिन हो सके हिंदुस्तान पर साम्राज्यवादी कब्जा बनाये रखना था। हिंदुस्तान के सजीव शरीर में साम्राज्यवाद का पंजा गहरा गड़ाये रखना था। और यह नमूना था उस आजादी और लोकतंत्र का जिसके लिए ब्रिटेन लड़ने का दावा कर रहा था।

इसके अलावा एक और बात से खास इशारा मिला। बरमा ने एक बहुत मामूली-सी मांग पेश की थी कि उसे यह आश्वासन दिया जाय कि लड़ाई के बाद उसे डोमीनियन स्टेटस दे दिया जायेगा। यह बात प्रशांत महासागर की लड़ाई शुरू होने से बहुत पहले की है और किसी भी सूरत से इसमें लड़ाई में किसी तरह का हर्ज नहीं होता था क्योंकि लड़ाई के खत्म होने के बाद ही उसकी असली शक्ल देनी थी। बरमा ने आजादी नहीं सिर्फ डोमीनियन स्टेटस की मांग की थी। पर जो बात हिंदुस्तान के साथ हुई, वही यहां हुई। उससे बार-बार कहा गया था कि ब्रिटिश नीति का आखिरी मकसद डोमीनियन स्टेटस है। हिंदुस्तान के बर-अक्स यहां बहुत कुछ एकमापन था और वे सब सच्ची और झूठी दलीलें जो अंग्रेजों द्वारा हिंदुस्तान के सिलसिले में दी जाती थीं वहां लागू ही नहीं होती थीं। 'डोमीनियन स्टेटस एक सुदूर भविष्य में होगा। वह एक धुंधला सहज दिमागी नक्शा था जिसका ताल्लुक किसी दूसरी दुनिया से और किसी दूसरे युग से था। वह वैसा ही था जैसा मि॰ विन्स्टन चर्चिल ने बनाया था सिर्फ थोथी दिखावटी बात था जिसका वर्तमान या निकट भविष्य से कोई संबंध नहीं था। ऐसा लगने में आपत्तियां जो हिंदुस्तान की स्वाधीनता के विरुद्ध उठाई गई थीं, सिर्फ थोथी बातें ही थीं जिसमें न कोई सचाई थी और न कोई मतलब रह गया था। जो असली बात थी वह यह थी कि इंग्लैंड का हर मुमकिन ढंग से हिंदुस्तान का बदल सकने का इरादा इकतरफा है और दूसरी तरफ बरमा के ढंग से इस बंधन को तोड़ने का हिंदुस्तान का पक्का इरादा है। दूसरे शब्दों में सब बात गप्प थी या बनावटी बात थी या कूटनीतिज्ञों की चालबाजी थी। इन दो उलटे विरोधियों के झगड़े का नया परि

नाम होगा यह तो सिर्फ़ भविष्य ही बता सकता था।

भविष्य ने फ़ौरन ही बरमा में ब्रिटिश नीति का नतीजा दिखाया। हिंदुस्तान में भी धीरे-धीरे यह भविष्य खुलने लगा और उसके साथ सदमा, घबराहट और तकलीफ़ आई।

ब्रिटिश सरकार के असभ्य आघात के बाद हिंदुस्तान में जो कुछ हुआ उसके लिए सिर्फ़ दर्शक बनकर, जिसके हाथ-पांव बंधे हों रहना नामुमकिन हो गया। जब एक भयंकर लड़ाई के बीच उस सरकार का यह रुख था तो इस संकट के टल जाने पर और लोकमत के दबाव के कम हो जाने पर क्या रुख होगा? दुनिया के करोड़ों आदमी आज़ादी के आदर्श में विश्वास करके ही तो उसके नाम पर बड़ी-बड़ी कुरबानी कर रहे थे इस बीच में हमारे आदमियों को देश-भर में एक-एक करके चुनकर जेलों में भेजा गया। हमारे मामूली काम-काजों में दखल दिया जाने लगा और उन पर पाबंदियां लगा दी गईं। यहां यह बात याद रखने की है कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार राष्ट्रीय और मज़दूर आंदोलनों से बराबर लड़ाई लड़ती रही है। वह सविनय अवज्ञा के शुरू होने का तो इंतज़ार ही नहीं करती। कभी-कभी उस लड़ाई की लपट बाहर आ गई है और उसमें सरकार ने सब मोर्चों पर चारों तरफ़ से हमला किया है या वह कभी-कभी कुछ घट गई है लेकिन हमेशा वह बनी ज़रूर रही है। हां प्रांतों में कांग्रेसी सरकारों की हुकूमत के छोटे-से अरसे में उसमें कुछ ख़ामोशी आ गई थी। लेकिन उनके इस्तीफ़े के बाद फ़ौरन ही यह फिर शुरू हो गई। स्थायी सेवाओं वालों को कांग्रेसियों और असेंबली के मेंबरों को गिर

[1] लड़ाई के शुरू होने के पहले से ही बहुत-से आदमी बराबर जेल में पड़े हैं। मेरे कुछ नौजवान साथियों के जेल में १५ बरस बीत चुके हैं, और वे अब भी वहीं हैं। जब उनको सज़ा दी गई थी, तो वे लड़के थे शायद ही बीस बरस से ऊपर रहे हों। अब उनके बाल सफ़ेद पड़ने लगे हैं और वे प्रौढ़ हो गये हैं। बार-बार यू पी की जेलों में पहुंचने की वजह से मुझे उनसे मिलने का मौक़ा मिला है। मैं जेल में पहुंचकर कुछ वक़्त रहा और फिर बाहर आ गया लेकिन वे वहीं बने रहे हैं। हालांकि वे लोग यू पी के हैं और कुछ सालों से यू पी में रह रहे हैं, लेकिन उन लोगों को सज़ा पंजाब में दी गई थी, और इसीलिए पंजाब सरकार के हुक्म से यहां हैं। यू पी की कांग्रेसी सरकार ने उनके छोड़ने की सिफ़ारिश की, लेकिन पंजाब सरकार को यह बात मंज़ूर नहीं हुई।

इज़हार करने के लिए हुक्म देने या जेल भेजने में एक अजीब तरह की खुशी होती थी।

अब सीधी कार्रवाई लाज़िमी हो गई, क्योंकि कभी-कभी नाकाम-याबी काम न करने की वजह से ही होती है। यह कार्रवाई हमारी निश्चित नीति के मुताबिक सविनय अवज्ञा की तरह ही हो सकती थी। लेकिन इस बात की सावधानी रखी गई कि जनता का उभार न हो और यह सविनय अवज्ञा कुछ चुने हुए व्यक्तियों तक ही सीमित कर दी गई। सामूहिक सविनय अवज्ञा के मुकाबले में यह तो वह चीज़ थी जिसे व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा कहा जा सकता था। यह दरअसल एक बड़े नैतिक विरोध की शक्ल में थी। राजनीतिज्ञ के नज़रिये से यह मुनासिब नहीं मालूम होता कि हम जान-बूझकर दुश्मन को पस्त देने की कोशिश से बचें और उसके लिए यह आसान कर दें कि वह उत्पात मचानेवालों को जेल भेज दें। इकतरफ़ा या समझा करनेवाली राजनैतिक कार्रवाई का यह रवैया और कहीं नहीं रहा है। लेकिन यह गांधीजी का ढंग था कि इकतरफ़ा राजनीति को नैतिकता से मिला दिया जावे और जब कभी ऐसा आंदोलन हुआ वह लाज़िमी तौर पर उसके नेता हुए। यह दिखाने का उनका यह अपना ढंग था कि हालांकि हमारा मकसद झगड़ा करने का नहीं है, फिर भी ब्रिटिश नीति के आगे हम सिर नहीं झुका सकते और इस सिलसिले में अपनी नाराज़ी और पक्का इरादा दिखाने के लिए हम अपने-आप तकलीफ़ों का गम लगायेंगे।

यह व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन एक बहुत छोटे पैमाने पर शुरू हुआ। उसमें हिस्सा लेने से पहले हर सत्याग्रह करने की ख़्वाहिश रखनेवाले को इजाज़त लेनी पड़ती थी और उसके लिए एक तरह का इम्तिहान पास करना पड़ता। जो छांटे जाते थे वे किसी मामूली से क़ानून को तोड़ने से गिरफ़्तार होते थे और जेल भेज दिये जाते थे। जैसा हमारा तरीका है, चोटी के आदमी सबसे पहले छांटे गये यानी कांग्रेस कार्यसमिति के मेम्बर, अनेक भूतपूर्व सरकारी मंत्री, असेंबली के मेंबर, कांग्रेस महासमिति के और प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के मेंबर। धीरे-धीरे यह घेरा बढ़ता गया यहांतक कि पच्चीस और तीस हज़ार के बीच में आदमी और औरतें जेलों में पहुंच गये। इन लोगों में मुख्य तौर पर विधान-सभाओं के जिन्हें सरकार ने [illegible] और बहुत-से सब शामिल थे। इस तरह [illegible] अगर हम [illegible] विधान-सभाओं के सदस्यों को [illegible] मनमाने राज्य के आगे सिर न झुकाकर

जेल जाना पसंद करेंगे।

इन लोगों के अलावा जिन्होंने महज नाम के लिए कोई कानून शांति पूर्वक तोड़ी और कई हजार आदमी व्याख्यान देने के नाम पर या और किसी वजह से गिरफ्तार करके जेल भेज दिये गये और बिना किसी जुर्म लगाये ही उनको रोक रखा गया। क़रीब-क़रीब शुरू में ही मैं भी गिरफ्तार हुआ और एक व्याख्यान के लिए मुझे चार साल जेल की सजा हुई।

अक्तूबर, १९४ से ये सब लोग एक साल से ऊपर जेलों में रहे। जो कुछ ख़बरें हमको मिल सकती थीं उनकी मदद से हम लड़ाई का रुख हिंदुस्तान की और सारी दुनिया की घटनाओं को समझने की कोशिश करते रहे। हमने प्रेसीडेंट रूजवेल्ट की चार आज़ादियों की बात पढ़ी अटलांटिक चार्टर की बात सुनी और फिर कुछ ही वक्त बाद मि चर्चिल की यह घोषणा भी कि यह चार्टर हिंदुस्तान पर लागू नहीं होता।

जून १९४१ में सोवियत रूस पर हिटलर के अचानक हमले से हम लोग हिल गये और हम फिक्र और उत्सुकता के साथ लड़ाई की हालत में तेज़ी से होनेवाली तबदीलियों पर आँख लगाये रहने लगे।

४ दिसंबर, १९४१ को हममें से बहुत-से लोग छोड़ दिये गये। उसके तीन दिन बाद ही पर्ल हार्बर पर हमला हुआ और प्रशांत महासागर की लड़ाई शुरू हो गई।

## ६ पर्ल हार्बर के बाद गांधीजी और अहिंसा

जिस वक्त हम जेल से बाहर आये राष्ट्रवादियों का रुख तथा हिंदुस्तान और इंग्लैंड के झगड़े का सवाल ज्यों-का-त्यों था। जेल का लोगों पर तरह-तरह का असर होता है कुछ कमज़ोर हो जाते हैं, या कुचले जाते हैं कुछ दूसरे लोग पक्के हो जाते हैं और अपनी धारणाओं के बारे में कट्टर हो जाते हैं। आमतौर पर पिछली बात ही होती है और उसका आम जनता पर बहुत असर होता है। हालांकि क़ौमी नज़रिये से हम वहां-के-तहां थे फिर भी पर्ल हार्बर के बाद एक नया तनाव आया और उसमें एक दूसरा नज़रिया पैदा हुआ। इस तनाव के नये वातावरण में कार्य समिति की बैठक फ़ौरन ही हुई। उस वक्त तक जापानी बहुत आगे नहीं बढ़ पाये थे। लेकिन जो कुछ बड़ा और सदमा देनेवाला विध्वंस हो चुका था वही क्या कम था! लड़ाई अब दूर की चीज़ नहीं थी और वह हिंदुस्तान के ज़्यादा नज़दीक आने लगी और उस पर गहरा असर डालने लगी। इस ख़तरे की हालत में अपना-अपना पार्ट अदा करने की हर कांग्रेसी

लड़ाई में खुद शामिल होने के लिए वह तैयार नहीं थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस आज़ाद हिंदुस्तान में भी अहिंसा बनाये रखने का अपना ऐलान करे। हां उन्हें यह मालूम था कि देश में यहांतक कि खुद कांग्रेस में भी ऐसे लोग हैं, जिनका अहिंसा में भी इतना विश्वास नहीं है। वह इस बात को अनुभव करते थे कि जब आज़ाद हिंदुस्तान में फ़ौजी, समुद्री और हवाई ताक़त का सवाल उठेगा या जब प्रतिरक्षा का सवाल होगा तो उसकी सरकार अहिंसा को एक तरफ़ हटा देगी। लेकिन वह चाहते थे कि अगर मुमकिन हो सके तो कम-से-कम कांग्रेस तो अहिंसा के झंडे को ऊंचा उठाये रखे और इस तरह आदमियों को सिखाये और उनके ऐसे विचार बनाये कि वे दिन-ब-दिन ज्यादा शांतिपूर्ण उपायों की सोचें। हथियारबंद हिंदुस्तान का ध्यान करके वह सहम जाते थे। वह उस हिंदुस्तान का सपना देखते थे जो अहिंसा का नमूना और प्रतीक होगा और जो अपनी मिसाल से बाक़ी दुनिया को लड़ाई और हिंसा से ऊपर उठा देगा। अगर पूरे हिंदुस्तान ने इस विचार को नहीं अपनाया तो कम-से-कम इस परख के मौक़े पर कांग्रेस को उसे छोड़ नहीं देना चाहिए।

बहुत अरसे पहले कांग्रेस ने अहिंसा के उसूल और अमल को अपनाया था कि उससे अपनी आज़ादी की लड़ाई चलाई जायेगी और क़ौम के एके को बनाये रखा जायेगा। किसी वक़्त भी वह इस हद से आगे नहीं बढ़ी थी और उसे बाहर के हमले या अंदरूनी अराजकता के लिए कभी लागू नहीं किया था। सच तो यह है कि हिंदुस्तानी फ़ौज के मामलों में उसने बहुत दिलचस्पी ली थी और अक्सर यह मांग की थी कि उसमें अफ़सरों की जगहें भारतीयों को ही दी जायें। केंद्रीय असेंबली की कांग्रेस पार्टी ने अक्सर इस मामले में तजवीज़ पेश की थी या उस पर बहस के मौक़ों में हिस्सा लिया था। १९२५-६ के बीच में पार्टी के नेता की हैसियत से मेरे पिताजी ने स्कीन कमेटी की मेंबरी को मंज़ूर किया। इस कमेटी को हिंदुस्तानी फ़ौज के पुनर्संगठन और भारतीयकरण पर विचार करने के लिए बनाया गया था। उन्होंने बाद में उससे इस्तीफ़ा दिया। लेकिन उसकी वजह राजनैतिक थी और उसका अहिंसा से कोई ताल्लुक़ नहीं था। १९३७-३८ में सूबों की सरकारों से सलाह लेकर कांग्रेस पार्टी ने केंद्रीय असेंबली में एक प्रस्ताव रखा। इसमें हिंदुस्तानी फ़ौज को बढ़ाने उसको ज्यादा-से-ज्यादा वैज्ञानिक ढंगों का इस्तेमाल करके हथियारबंद बनाने और उसकी थल के बराबर हवाई और समुद्री ताक़त को बढ़ाने और जल्दी-से-जल्दी ब्रिटिश फ़ौजों की जगह हिंदुस्तानी फ़ौजों को रखने की बाबत कहा गया था। चूंकि हिंदु-

स्तान में ब्रिटिश फौजियों पर हिंदुस्तानी फ़ौजियों के मुकाबले में चौगुना खर्च था इसलिए ऊपर के प्रस्ताव को अमल में लाने के लिए किसी बाहरी खर्च की ज़रूरत न होती। म्यूनिख के संकट के दौरान में फिर हवाई ताक़त को बढ़ाने की अहमियत बताई गई, लेकिन सरकारी जवाब में कहा गया कि विशेषज्ञों की इस मामले में अलग-अलग रायें थीं। १९४ में कांग्रेस पार्टी ने खासतौर पर केंद्रीय असेंबली की कार्रवाइयों में हिस्सा लिया और ऊपर की मांगों को फिर दुहराया और बताया कि हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त के लिए इन्तज़ाम करने में सरकार और फौजी महकमे कितने निकम्मे हैं।

जहां तक मुझे याद पड़ता है फ़ौज, समुद्री और हवाई ताक़त के सवाल पर या पुलिस के सवाल पर भी अहिंसा को ध्यान में रखते हुए कभी भी नहीं सोचा गया। यह बात तो मानी हुई थी कि वह तो सिर्फ़ हमारी आज़ादी की लड़ाई के दायरे में ही लागू थी। यह सच है कि हमारे सोच-विचार करने के ढंग पर उसका काफ़ी असर था और इसी वजह से कांग्रेस दुनिया भर के निरस्त्रीकरण की ज़ोरों से हामी करती थी और चाहती थी कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का शांतिपूर्वक हल किया जाय।

जिस वक्त सूबों में कांग्रेसी सरकारें काम कर रही थीं उस वक्त उनमें से ज़्यादातर यूनिवर्सिटियों और कालेजों में फ़ौजी शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए ख्वाहिशमंद थीं। इस मामले में भारत-सरकार ने अड़चनें

किए रही है। उसके सामने गांधीजी के दो स्वरूप रहे हैं एक राष्ट्रीय नेता का रूप और दूसरा दुनिया को संदेश देनेवाले का रूप। इसीलिए यहां क़ौमी राजनीति में भी एक द्वंद्व चलता रहा है। पूर्ण सत्य के बतौरस पालन में और जीवन में उसके व्यवहार में मेल करना कभी भी आसान नहीं है और वह भी खासतौर पर राजनैतिक जीवन में। आमतौर पर लोगों को इस बारे में कोई परेशानी नहीं होती। अगर सत्य कुछ थोड़ा-बहुत हो भी तो उसे वे दिमाग के एक कोने में रख देते हैं, और और रास्ता अख्तियार करते हैं, जिससे कामयाबी हासिल हो सके। राजनीति में तो यह आम रवैया है। उसकी वजह सिर्फ़ यही नहीं है कि बदकिस्मती से राजनीतिज्ञ एक अजीब किस्म के मौक़ापरस्त होते हैं, बल्कि इसलिए कि वे सिर्फ़ जाती तौर पर कुछ नहीं कर सकते। उनको दूसरों से काम लेना होता है, इसलिए उन्हें दूसरों की कमियों और उनकी सचाई को समझ सकने की ताक़त का खयाल रखना पड़ता है। इसकी वजह से उन्हें थोड़ा-सा सत्य छोड़कर भी समझौता करना पड़ता है और परिस्थिति के अनुकूल बनना पड़ता है। यह चीज़ लाज़िमी हो जाती है लेकिन उसके साथ हमेशा खतरा मिला रहता है। सत्य को छोड़ सकने की बात बढ़ती जाती है और आगे चलकर सिर्फ़ कामयाबी ही अकेली कसौटी रह जाती है।

कुछ उसूलों में चट्टान-जैसा दृढ़ विश्वास होते हुए भी गांधीजी में दूसरे आदमियों के या बदलती हालतों के अनुकूल होने की उनकी खास तौर से आम जनता की ताक़त और कमज़ोरियों का खयाल रखने की और यह देख पाने की कि उनके सत्य में वह जनता कितना साथ देगी एक बहुत बड़ी सामर्थ्य है। लेकिन समय-समय पर वह सावधान हो जाते हैं, मानो उन्हें यह डर हुआ हो कि समझौते में वह ज़रूरत से ज़्यादा आगे निकल गये हैं और फिर वह अपनी जगह वापस आ जाते हैं। काम के बीच में भी वह जनता के दिमाग़ के सुर को पहचान सकते हैं, उसकी उचित प्रतिक्रिया जनम होती है और इस तरह कुछ हदतक उसके अनुकूल हो सकते हैं, और उनकी बातों से दूर मालूम होते हैं। उनके कामों और उनके लेखों में भी यही फ़र्क दिखाई पड़ता है। इससे उनके अपने आदमी भी उलझन में पड़ जाते हैं। यह उलझन उन लोगों के लिए और भी ज़्यादा होती है, जो बाहर के हैं और हिन्दुस्तान की पृष्ठभूमि को नहीं समझते।

एक अकेला आदमी एक क़ौम के विचारों को और उसके आदर्शों को कितना बदल सकता है यह कहना मुश्किल है। इतिहास में कुछ लोगों ने बहुत ज़ोरदार असर डाला है लेकिन यह हो सकता है कि जो कुछ

उन्होंने कहा, वह यहां पहले से मौजूद था, या हो सकता है कि उन्होंने इस युग के बुनके विचारों को स्पष्ट और निश्चित रूप में रख दिया। वर्तमान युग में हिंदुस्तान के दिमाग पर गांधीजी का बहुत बड़ा असर हुआ है, किस शक्ल में और कबतक यह असर रहेगा, यह तो भविष्य ही बता सकता है। यह असर उन लोगों तक ही सीमित नहीं है, जो उनसे सहमत हैं या उनको कौमी या नेता मानते हैं। यह असर तो उन लोगों में भी फैला हुआ है, जो उनसे मतभेद रखते हैं और उनकी नुक्ताचीनी करते हैं। हिंदुस्तान में बहुत कम लोग ही उनकी अहिंसा के उसूल या उनकी आर्थिक विचारधारा से पूरी तरह सहमत हैं, लेकिन किसी-न-किसी शक्ल में ज्यादातर लोगों पर उनका असर जरूर है। आमतौर पर धार्मिक भाषा में बोलते हुए उन्होंने धार्मिक की जिंदगी के सवालों और राजनैतिक सवालों पर नैतिक ढंग से सोचने के लिए जोर दिया है। धार्मिक पृष्ठभूमि का उन पर असर खासतौर पर हुआ, जिनका इस तरफ झुकाव था, लेकिन नैतिक ढंग का असर और लोगों पर भी हुआ। बहुत-से लोगों के कामों में नैतिकता का दर्जा ऊंचा उठ गया है और उससे भी ज्यादा लोग उसे निगाह में रखते हुए सोच-विचार करते हैं और उन सवालों का अपने-आप ही काम में और व्यवहार में कुछ-न-कुछ असर होता है। राजनीति सिर्फ मौकापरस्ती और कामयाबी ही नहीं रह जाती, जैसी वह आमतौर पर सब जगह रही है। और हर काम और खयाल के पहले एक नैतिक ढंग रहता है। काम-याबी या जल्दी से सफलता पाने की बात कभी भी भुलाई नहीं जा सकती, लेकिन दूर की ओर ज्यादा महत्व की बातों को ध्यान में रखकर उसमें मुला-यमियत जरूर आ जाती है।

इन अलग-अलग दिशाओं में गांधीजी का असर समा गया है और उसकी छाप मौजूद है। लेकिन यह अहिंसा का उसूल या आर्थिक विचार धारा की वजह नहीं है कि वह हिंदुस्तान के सबसे बड़े और प्रमुख नेता हो गए हैं। हिंदुस्तान की बहुत बड़ी आबादी के लिए वह हिंदुस्तान के आजाद होने के पक्के इरादे के, उसकी प्रबल राष्ट्रीयता के, अक्खड़पन के, आगे सिर न झुकाने के, और राष्ट्रीय अपमान से मिली हुई किसी चीज के लिए राजी न होने के प्रतीक हैं। सैकड़ों मामलों में बहुत-से लोग उनसे सहमत न हों, वे उनकी आलोचना करें और किसी खास सवाल पर उनसे अलग हो जायं, लेकिन जब लड़ाई का वक्त आता है और जब हिंदुस्तान की आजादी का दांव लगा होता है, तो लोग उनके पास दौड़कर आते हैं और उन्हें अपना सा नेता मानते हैं, जिसके बिना काम हो ही नहीं सकता।

सन् १९४० में लड़ाई और आज़ाद हिंदुस्तान के सिलसिले में गांधी-जी ने अहिंसा का सवाल उठाया तो कांग्रेस कार्यसमिति ने खिलाफ़ जोरकर बहस की। समिति ने यह साफ़ कर दिया कि वह उनके साथ उस हद तक जाने में असमर्थ है, और न समिति बाहरी मामलों में इस उसूल को लागू करने के लिए हिंदुस्तान को या कांग्रेस को बांध सकती है। इस सवाल पर खुले और निश्चित रूप से उनसे नाता टूट गया। दो महीने बाद और ज़्यादा बहस का नतीजा यह हुआ कि दोनों को मान्य एक नीति निकल आई और वह कांग्रेस-महासमिति के प्रस्ताव में पास हो गई। उस नीति में गांधीजी का रुख पूरी तरह से नहीं आया था। उसमें तो सिर्फ़ इतनी ही बात थी जिसको गांधीजी ने कांग्रेस को आगे बढ़ने देने के लिए आधे मन से मंजूर कर लिया था। उस वक़्त ब्रिटिश सरकार ने राष्ट्रीय सरकार की बुनियाद पर कांग्रेस के लड़ाई में साथ देने के सबसे ताज़े प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। किसी-न-किसी ढंग की लड़ाई नज़दीक आती जा रही थी और वह लाज़िमी हो गई थी। गांधीजी और कांग्रेस दोनों एक-दूसरे की तरफ़ देख रहे थे और उनकी बराबर यह ख़्वाहिश थी कि उनके बीच की अड़चन को दूर करने का कोई रास्ता निकल आये। इस आपसी समझौते में लड़ाई का कोई ज़िक्र नहीं था क्योंकि लड़ाई में साथ देने के हमारे प्रस्ताव को हाल ही में पूरी तरह ठुकरा दिया गया था। उसमें अहिंसा के सिलसिले में कांग्रेस के विचारों की बाबत ज़िक्र था और उसमें पहली बार यह कहा गया था कि भविष्य में आज़ाद हिंदुस्तान के बाहरी मामलों में उसे किस तरह लागू करना होगा। नीचे उस प्रस्ताव का एक हिस्सा दिया जाता है:

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी अहिंसा की नीति और अमल में पूरी तरह विश्वास करती है आज़ादी की लड़ाई में ही नहीं बल्कि जहां-तक मुमकिन हो आज़ाद हिंदुस्तान के मामलों में भी। कमेटी को पक्का इत्मीनान है और हाल की दुनिया की घटनाओं ने यह बात साफ़ कर दी है कि दुनिया-भर का निःशस्त्रीकरण ज़रूरी है। और साथ ही अगर दुनिया को अपने-आपको बरबाद होने से बचाना है और फिर जंगल की हालत को नहीं पहुंचना है तो यह भी ज़रूरी है कि एक नया इन्साफ़वाला राजनैतिक और आर्थिक ढांचा सारी दुनिया-भर के लिए क़ायम हो। इस-लिए आज़ाद हिंदुस्तान दुनिया-भर के निःशस्त्रीकरण की हिमायत में अपना पूरा ज़ोर लगायेगा और दुनिया को इस दिशा में बढ़ाने के लिए उसे सबसे पहले आगे बढ़ने को तैयार रहना चाहिए। लाज़िमी बात है कि आगे क़दम

उठाना बाहरी ताकतों और अंदरूनी हालतों पर निर्भर होगा, लेकिन सरकार इस निरस्त्रीकरण की नीति को अमल में लाने के लिए भरसक कोशिश करेगी। सफल निरस्त्रीकरण और दुनिया में शांति की स्थापना के लिए कौमी लड़ाइयां खत्म करनी होंगी और उसके लिए असली जरूरत इस बात की है कि लड़ाई की जड़ और झगड़ों के कारण हट जायें। एक मुल्क या एक समुदाय पर दूसरे मुल्क या दूसरे समुदाय का कब्जा और शोषण खत्म करके इन कारणों को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए हिंदुस्तान शांतिपूर्वक काम करेगा और इसी चीज को ध्यान में रखते हुए हिंदुस्तान की जनता स्वतंत्र और स्वावलंबी होना चाहती है। दुनिया की शांति और तरक्की के लिए आजाद राष्ट्रों के संघ के अंदर और देशों से मिल-जुलकर काम करने के लिए पहले ऐसी आजादी का होना जरूरी है।
इस प्रस्ताव से यह जाहिर है कि कांग्रेस ने शांतिपूर्ण काम और निरस्त्रीकरण की ओर से हिमायत करते हुए कई जरूरी बातों और शर्तों पर भी जोर दिया था।

कांग्रेस का अंदरूनी संकट १९४० में हल हो गया। उसके बाद हममें से बहुत-से लोगों के लिए एक साल जेल का आया। १९४१ के दिसंबर में फिर वह संकट पैदा हो गया, जब गांधीजी ने पूरी अहिंसा के लिए जोर दिया। फिर फूट हुई और दुबारा मतभेद हुआ और कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद और दूसरे लोग गांधीजी के नजरिये को स्वीकार नहीं कर सके। यह बात साफ हो गई कि कुल मिलाकर कांग्रेस और खुद गांधीजी के कुछ निहायत-खास अनुयायी भी इस मामले में गांधीजी से इत्तिफाक न करते थे। परिस्थितियों के दबाव और घटनाओं के तेज ताकतों ने हम सब पर (गांधीजी भी इसमें शामिल थे) असर डाला और वह (गांधीजी) कांग्रेस पर अपने नजरिये के लिए जोर देने से बचते रहे। अगरचे उन्होंने कांग्रेस ने मेरा पूरा नजरिया कबूल नहीं किया था, गांधीजी ने इस सवाल को फिर से और किसी दूसरे मौके पर नहीं उठाया। [illegible] अपना [illegible] सौंपा [illegible] किया जाये, अहिंसा [illegible] सिर्फ राजनैतिक नजरिये से [illegible]। बाद में [illegible] तक गांधीजी की [illegible] गांधीजी ने यह भी [illegible] की तरह काम करनी [illegible] जरूरी है। उनके लिए [illegible] मानसिक पीड़ा की

और एक आत्मिक कराह थी। एक तरफ़ अहिंसा का सिद्धांत था जो उनकी रग-रग में समाया हुआ था और ज़िंदगी में जिसे वह पकड़े हुए थे और दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान की आज़ादी थी जो उनकी प्रबल और प्रमुख कामना थी। इन दोनों की आपसी खींचा-तानी में पलड़ा आज़ादी की तरफ़ झुक गया। इसके मानी ये नहीं हैं कि अहिंसा में उनकी निष्ठा कम हो गई। लेकिन इसके मानी ये ज़रूर थे कि वह इस बात के लिए तैयार हो गये कि कांग्रेस उसे इस लड़ाई में लागू न करे। यथार्थवादी राजनीतिज्ञ ने पैग़ंबर पर जीत हासिल की।

गांधीजी के मन में जब-तब होनेवाली इस कश-मकश को मैंने देखा है और उस पर सोचने की कोशिश की है। उसमें बहुत-से आपस में अंतर्विरोध दिखाई देते हैं। मुझ पर और मेरे काम पर उसका गहरा असर पड़ा है। और तब मुझे फ़िरेल हार्ट की एक किताब का उद्धरण याद आया है— 'जहां एक दिमाग़ का दूसरे दिमाग़ पर असर डालने का मौक़ा होता है वहां घुमा-फिराकर इस पेश करने का ख़याल बरबस आता है, और इन्सान के इतिहास में यह एक बहुत बड़ा असर रखनेवाली बात है। लेकिन इसका एक दूसरे ख़याल से मेल बिठाना मुश्किल हो जाता है और वह यह कि सही नतीजे उसी वक़्त मुमकिन हैं, जब सत्य की तलाश नतीजों की तरफ़ से लापरवाह होकर की जाये।

"इन्सान की तरक़्क़ी के लिए जो बड़े-बड़े काम पैग़ंबरों ने किये हैं इतिहास उनका गवाह है। यह गवाही असली व अमली अहमियत रखती है, जिसमें सत्य को बिना झिझक सामने रखा गया है। फिर भी यह बात बिलकुल साफ़ हो जाती है कि उस दिमाग़ी नक़्शे को मानने और फैलाने का काम एक दूसरी क़िस्म के लोगों पर निर्भर रहा है जिनको नेता कहा जाता है। इनको दार्शनिक होते हुए अपनी लड़ाई लड़नी थी। इनको आदमी की चाह शक्ति और सत्य दोनों का ध्यान रखते हुए सफलता पानी थी। अकसर उसका असर उनकी सत्य को देख पाने की अपनी क्षमियों और उस सत्य का प्रचार करनेवाली व्यवहार-बुद्धि पर निर्भर होता था।

"पैग़ंबरों पर पत्थर फेंके जाने चाहिए, उनकी क़िस्मत में यही लिखा है और उनकी निजी तरक़्क़ी की यही कसौटी है। लेकिन अगर किसी नेता पर पत्थर पड़ें तो उससे सिर्फ़ यही साबित होता है कि वह अक़्ल की कमी से अपने काम को पैग़ंबरों से उलझा देने की वजह से नाकामयाब रहा है। यह तो वक़्त ही बता सकता है कि ऐसी क़ुरबानी के असर से वह आख़िर नाकामयाबी से आज़ाद हो जाता है। यह नाकामयाबी उसकी एक नेता की हैसियत से है,

हम पिछले इतिहास की तीखी याद से चिपटे हुए एक-दूसरे से अलहदा रहेंगे ? क्या हम एक ऐसी बदकिस्मती के शिकार बने रहेंगे जिसको कोई मिटा नहीं सकता ? क्या आपस का खतरा हमारे बीच की खाई को पाट देगा ? यहांतक कि बाजारों में भी उत्तेजना की एक लहर दौड़ गई और तरह-तरह की अफ़वाहें फैलने लगीं। पैसेवाले लोगों को भविष्य से जो तेजी से उनकी तरफ बढ़ता आ रहा था डर मालूम होता था क्योंकि चाहे और जो कुछ हो उस भविष्य में सामाजिक तख्ता पलट जायेगा यह बात बहुत मुमकिन थी। उस ढांचे के वे आदमी न। उसके पलटने से ही उनके स्वार्थ उनकी खास हैसियत खतरे में पड़ जाती। किसान या मजदूर को ऐसा कोई डर नहीं था क्योंकि उसके पास खोने को था ही क्या ! अपनी मौजूदा दुखभरी हालत में उसके लिए हर एक तबदीली अच्छी ही होती।

हिंदुस्तान में चीन के लिए बराबर हमदर्दी रही थी और इसीलिए जापान से नाराजी रही थी। शुरू में यह खयाल किया गया कि प्रशांत महासागर की लड़ाई से चीन को कुछ राहत मिलेगी। साढ़े चार साल से चीन जापान से अकेला ही लड़ रहा था अब उसके साथ बहुत ताकतवर देश थे और लाजिमी था कि इससे उसका बोझ कुछ हल्का होता और उसका खतरा कम होता। लेकिन उन साथियों पर एक के बाद दूसरी भारी चोटें हुईं और एक आश्चर्यजनक तेजी से बढ़ती हुई जापानी फ़ौजों के सामने ब्रिटिश साम्राज्य तहस-नहस होने लगा। तब क्या यह शानदार ढांचा सिर्फ़ एक कागजी इमारत थी जिसकी न कोई बुनियाद थी न कोई अंदरूनी मजबूती ? लाजिमी तौर से इसके साथ क़रीब-क़रीब आजकल की लड़ाई के साधनों के अभाव में एक लंबे अरसे तक जो चीन ने जापान का मुक़ाबला किया था उसका ध्यान आया। लोगों की निगाह में चीन की क़द्र बढ़ गई और हालांकि जापान के लिए कोई हमदर्दी नहीं थी फिर भी एक एशियाई हथियारबंद ताक़त के सामने पुराने जमे हुए, यूरोपीय ढंग के साम्राज्य के ढांचे को टूटते देखकर संतोष हुआ। जातीय भेद-भाव या यूरपी और एशियाई का खयाल ब्रिटिश लोगों में था। हार और विध्वंस एक तो वैसे ही बुरे लगते लेकिन इस वाक़ये से कि एक ग़ैरयूरपी और एशियाई ताक़त ने उन पर जीत पाई, उस हार और बेइज्जती का कड़वापन और तीखापन बढ़ गया। एक ऊंचे ओहदेवाले अंग्रेज़ ने कहा कि अगर 'प्रिंस ऑव वेल्स' और 'रिपल्स' को डुबोनेवाले इन पीछे चालकों की जगह जर्मन होते तो उसे कहीं कम मलाल होता।

चीनी नेताओं—जनरलिस्सिमो और मदाम च्यांग काई-शेक का हिंदुस्तान में दौरा एक महत्त्व की बात थी। सरकारी रवैये से और हिंदुस्तान-सरकार की

मर्जी की वजह से वे आम जनता से मिल-जुल नहीं सके। लेकिन इस संकट के मौक़े पर हिंदुस्तान में उनकी मौजूदगी और हिंदुस्तान की आज़ादी के लिए उनकी ज़ाहिरा हमदर्दी ने हिंदुस्तान को राष्ट्रीय खोल के बाहर आने में मदद दी और इस वक़्त जिन अंतर्राष्ट्रीय सवालों पर ध्यान लगा रहा था उनकी जान-कारी बढ़ी। हिंदुस्तान और चीन को एक करनेवाले धागे और ज़्यादा मज़बूत हुए। और इसी तरह चीन और दूसरे मुल्कों के साथ मिलकर उससे—जो सभी का दुश्मन था—लड़ने की ख़्वाहिश भी तेज़ हो गई। हिंदुस्तान पर छाये हुए इस ख़तरे ने राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता को पास-पास ला दिया और अब जो कुछ फ़र्क़ बाक़ी था उसकी वजह थी ब्रिटिश सरकार की नीति।

हिंदुस्तान की सरकार आनेवाले ख़तरों को पूरी तरह समझती थी उसके दिमाग़ में जल्दी में कुछ-न-कुछ करने की परेशानी और फ़िक्र रही होगी लेकिन हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों का ऐसा रवैया था वे अपनी आदतों के चक्कर में ऐसे फंसे थे सरकारी ख़ाक छानने से ऐसे बंधे हुए थे कि उनके नज़रिये या कामों में कोई ख़ास फ़र्क़ दिखाई नहीं पड़ा। उनके ढर्रे में किसी तनाव की किसी जल्दी की या कुछ करने की बात ही महसूस नहीं होती थी। जिस ढांचे के वे गुमाश्ते थे वह किसी दूसरे युग का था और किसी दूसरे मक़सद के लिए था। चाहे अंग्रेज़ों की फ़ौज हो या सिविल सर्विस उनका मक़सद तो हिंदुस्तान में अमन रखने और हिंदुस्तानियों की आज़ादी की लड़ाई को कुचलने का था। इस काम के लिए वे काफ़ी होशियार थे। लेकिन एक ताक़तवर दुश्मन के साथ आधुनिक ढंग से लड़ाई एक बिलकुल ही दूसरी चीज़ थी। उनके लिए अपने आपको उसके अनुकूल बनाना बहुत मुश्किल मालूम हुआ। दिमाग़ी सतह पर इसके लिए वे नाक़ाबिल ही नहीं थे बल्कि उनकी ज़्यादातर शक्तियां हिंदुस्तान की राष्ट्रीयता को दबाने में ख़त्म हो जाती थीं। बरमा और मलाया की हुकूमतों का ख़त्म होना एक बहुत बड़ी और आंखें खोलनेवाली बात थी लेकिन उससे इन्होंने कोई सबक़ नहीं सीखा। बरमा पर भी हिंदुस्तान की तरह सिविल सर्विस की हुकूमत थी। असलियत तो यह है कि कुछ साल पहले तक वह हिंदुस्तान की हुकूमत का ही हिस्सा था। वहां की सरकार का ढर्रा बिलकुल वही था जो हिंदुस्तान की सरकार का था और बरमा ने यह साफ़ बता दिया था कि इस तरीक़े में अब बिलकुल दम नहीं रहा है। फिर भी बिना किसी परिवर्तन के वह ढर्रा चालू रहा। वाइसराय और बड़े-बड़े अफ़सर पहले की तरह काम करते रहे। उन्होंने अपने दल में उन कितने ही बड़े अफ़सरों को शामिल कर लिया जो बरमा में बुरी तरह नाकामयाब साबित हुए थे। एक बार सही-सलामत शिमला में पहाड़ की चोटियों पर थे। लंदन में

निर्वासित सरकारों की तरह हम पर भी एक ऐसी सरकार की इमारत की गई जो ब्रिटिश नौकरशाहियों के निर्वासित अफ़सरों से बनी थी। हाथ के दस्ताने की तरह वे हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार के ढांचे पर चुस्त हो गये।

रंगमंच की छायाओं की तरह ये बड़े अफ़सर अपने पुराने तौर-तरीक़ों पर चलते रहे। अपने लंबी चौड़ी शाही तर्ज़, दरबारी रस्मों दरबारों क़वायदों दावतों और लंबी चौड़ी बातों से उन्होंने हम पर रोब डालने की कोशिश की। नई दिल्ली में वाइसराय का घर यह खास मंदिर था जहां सबसे बड़ा पुजारी बैठा था लेकिन उसके अलावा कई मंदिर और कई पुजारी और थे। यह भारी शान और शाही दिखावा हमारी हिंदुस्तानी जनता पर रोब डालने के लिए था और पहले वक्तों में इसका असर भी हुआ क्योंकि खुद हिंदुस्तानी रस्म और सजावट के आदी हैं। लेकिन अब नया नापसंद हो गया था चीज़ों की हैसियत में फ़र्क आ गया था और अब यह सरकारी तमाशा एक हँसी की एक मज़ाक़ की चीज़ मालूम थी। हिंदुस्तानियों को धीरे-धीरे काम करनेवाला तेज़ी और जल्दबाज़ी को नापसंद करनेवाला कहा जाता है लेकिन उनमें भी अपने काम के लिए एक तेज़ी और ताक़त आ गई थी और उसकी वजह यह थी कि काम को पूरा करने की उनकी ख़्वाहिश बेहद तेज़ हो उठी थी। कांग्रेसी सूबाई सरकारों में चाहे उनकी कमियां कुछ भी रही हों कुछ करने की उत्सुकता थी और उन्होंने बराबर मेहनत से काम किया और पुराने ढर्रों की परवाह नहीं की। हिंदुस्तान की सरकार और उसके एजेंटों की भयंकर संकट और ख़तरे के सामने सुस्ती और चुप्पी देखकर बड़ी झुंझलाहट होती थी।

और तब अमरीकी फ़ौज आयी। वे काफ़ी जल्दी कर रहे थे और काम को पूरा करने की फ़िक्र में थे। वे हिंदुस्तान-सरकार के रवैये और ढर्रों से अपरिचित थे और साथ ही उनको सीखने के लिए उनकी इच्छा भी नहीं थी। देर को बरदाश्त न कर सकने की वजह से उन्होंने क़ायदों और चापलूसियों को एक तरफ़ हटा दिया यहांतक कि नई दिल्ली की ज़िंदगी का ढर्रा भी बिलकुल बदल गया। उन्हें इस बात के लिए फ़ुरसत नहीं थी कि किस वक्त कौनसी पोशाक पहनी जाये और कभी-कभी सरकारी ढंग में और बरताव में इससे बहुत बड़ा धक्का पहुँचा और उससे शिकायतें हुईं। जो मदद वे दे रहे थे उसका तो स्वागत बहुत था लेकिन सबसे ऊपर के अफ़सरी हलक़ों में उससे चिढ़ थी और इस तरह रिश्तों में कुछ तनाव आ गया। कुल मिलाकर हिंदुस्तानियों को उनकी बातें पसंद थीं। काम के लिए उनका जोश और उनकी हिम्मत तो बेहद असर डालनेवाली चीज़ थी। इसका मिलान हिंदुस्तान के ब्रिटिश पदाधिकारियों में इसके अभाव से किया गया। उनके सूबे और

सीधे ढंग का और गैर-हुक्कामी तरीकों को पसंद किया गया। सरकारी हल्कों और इन आगंतुकों के बीच इस तनाव पर मन-ही-मन मुस्कराहट थी और इस बारे में बहुत-सी झूठी और सच्ची कहानियाँ दुहराई गईं।

लड़ाई के नजदीक आने से गांधीजी भी बहुत परेशान हुए। उनकी अहिंसा की नीति और उसके कार्यक्रम में इन नई घटनाओं का मेल बिठाना आसान नहीं था। यह बात साफ थी कि देश पर हमला करनेवाली फ़ौज की मौजूदगी में या आपस में लड़ती हुई फ़ौजों की हालत में सविनय अवज्ञा का कोई सवाल ही नहीं था। निष्क्रियता या हमले के लिए सिर झुकाना भी मुमकिन नहीं था। तब क्या हो? उनके निजी साथी भी और कांग्रेस खास तौर से इस मौके के लिए या हमले की सशस्त्र खिलाफ़त की जगह अहिंसा को नामंजूर कर चुकी थी। और तब आखिरकार उन्होंने इस बात को माना कि कांग्रेस को ऐसा करने का अधिकार था। लेकिन फिर भी वह परेशान थे और निजी तौर पर किसी हिंसात्मक कार्रवाई में साथ नहीं दे सकते थे। लेकिन वह सिर्फ एक व्यक्ति ही नहीं थे। राष्ट्रीय आंदोलन में क़ानूनी तौर पर उनका कोई पद न हो, लेकिन उनकी स्थिति सबसे ऊपर और सबसे ज्यादा असर रखनेवाली थी और उनके शब्दों का बहुत लोगों पर बड़ा असर था।

गांधीजी हिन्दुस्तान को, खासतौर से उसकी जनता को जानते थे—

छांट किया गया था और बुरी चीजों को छोड़ दिया गया था। उनका विश्वास था कि अहिंसा का सिद्धांत इस नजर से बुनियादी था हालांकि उसमें बहुत-से अपवाद थे। कुछ लोगों को यह एक खींचातानी से निकाला हुआ नतीजा मालूम दिया और वे इसको मानने को तैयार नहीं हुए। मानव जाति के मौजूदा दौर में अहिंसा की उपयोगिता से इसका कोई सरोकार न था। लेकिन हां उससे यह पता जरूर लगता था कि गांधीजी के दिमाग में क्या ऐतिहासिक पूर्वग्रह थे।

भूगोल के दबावों ने कौमी इतिहास और विशेषताएं निश्चित करने में काफ़ी असर डाला है। यह मामला कि हिंदुस्तान हिमालय की बड़ी भारी दीवार से और समुद्र की वजह से बाहर से कटा रहा एक खास असर लाया। इसकी वजह से इस लंबे-चौड़े प्रदेश में एक इकाई की एक अलग सत्ता की भावना पैदा हुई। इस विस्तृत प्रदेश में एक सजीव और मिली-जुली सभ्यता फली-फूली जिसमें फैलाव और तरक्की के लिए बहुत बड़ी गुंजाइश थी और जिसमें एक सुदृढ़ सांस्कृतिक एका बराबर बना रहा। फिर भी उस एके में भूगोल ने विभिन्नता ला दी। उत्तर में और मध्य में हिंदुस्तान के मैदानों में और दक्खिन के पठारी इलाकों में एक फ़र्क था। और अलग-अलग हिस्सों में रहनेवाले आदमियों में अलग-अलग विशेषताएं पैदा हुईं। इतिहास का बहाव भी उत्तर और दक्खिन में अलग-अलग रहा। हां कभी-कभी वे एक-दूसरे से मिल गये और एक हो गये। रूस की तरह उत्तरी हिंदुस्तान में जमीन के सपाट होने की वजह से और खुली जगह होने से एक ताक़तवर मरकजी सरकार की जरूरत हुई, ताकि बाहरी दुश्मनों से हिफ़ाजत हो सके। उत्तर और दक्खिन दोनों ही में साम्राज्य रहे लेकिन असल में साम्राज्य का केंद्र उत्तर में रहा और उसकी हुकूमत दक्खिन में भी रही। पुराने वक्तों में ताक़तवर मरकजी सरकार के मानी थे एक आदमी की हुकूमत। यह सिर्फ़ इतिहास में एक संयोग की ही बात नहीं है कि मुग़ल-साम्राज्य को कुछ और वजहों के साथ खासतौर से मराठों ने तोड़ दिया। मराठे दक्खिन के पठारी प्रदेशों में रहनेवाले थे और उनमें उस वक्त भी कुछ आजादी की बू बची हुई थी जब उत्तर के मैदानों में रहनेवाले गुलाम हो चुके थे और सिर झुकाने लगे थे। अंग्रेजों की बंगाल में आसानी से जीत हुई और इन उपजाऊ मैदानों के आदमी एक असाधारण दब्बूपन के साथ सिर झुकाने लगे। अंग्रेज अपने आपको यहां जमाकर और तरक्क़ी करने लगे।

भूगोल का असर अब भी है और आगे भी रहेगा। लेकिन अब कुछ और ऐसी चीजें हैं, जिनका बहुत ज्यादा असर होता है। पहाड़ और समुद्र

भी मदद की गई और उनके लिए रेल और जहाजी सफ़र का इंतज़ाम किया गया। बरमा की एक वजह से वहां बहुत-से लोग इकट्ठे थे हिंदुस्तान के लिए दो सड़कें थीं। जो ज्यादा अच्छी थी ब्रिटिश लोगों और यूरोपीयों के लिए कर दी गई और उसका नाम 'व्हाइट रोड' (गोरे लोगों की सड़क) पड़ गया।

जातीय भेद-भाव और लोगों की तकलीफ़ की दर्दभरी कहानियां हम लोगों तक आईं और जो जिन्दा बचे वहां से भागे लोग हिंदुस्तान-भर में फैले, तो उनके साथ ही ये कहानियां भी और हिंदुस्तानी दिमाग़ पर उसका गहरा असर था।

ठीक इसी मौक़े पर सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स हिंदुस्तान में ब्रिटिश वार कैबिनेट (ब्रिटिश युद्ध-मंत्रिमंडल) के प्रस्ताव लेकर आये। उन प्रस्तावों पर पिछले ढाई साल में पूरी तरह बहस हो चुकी है और ये प्रस्ताव एक बीते जमाने की सी चीज़ मालूम पड़ते हैं। एक ऐसे आदमी के लिए, जिसने उस समझौते की कोशिश में काफ़ी हिस्सा लिया उस पर कुछ विस्तार से चर्चा करते हुए कुछ बातों को न कहना और किसी आगे के मौक़े के लिए छोड़ देना आसान नहीं है। असल में उस सिलसिले के खास-खास सवाल और वाक़यात आम जनता के सामने आ चुके हैं।

मुझे याद है, जब मैंने इन प्रस्तावों को पहली बार पढ़ा तो मुझे बहुत मायूसी हुई। इस मायूसी की खास वजह यह भी कि मैंने सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स से उस वक्त की नाज़ुक हालत देखते हुए कुछ ज्यादा तत्त्व की चीज़ की उम्मीद की थी। लेकिन जितनी बार मैंने उन प्रस्तावों को पढ़ा और उन पर गहराई से सोच-विचार किया मेरी मायूसी उतनी ही ज्यादा होती गई। हिंदुस्तान की हालत से बेखबर आदमी को तो ऐसा मालूम होता कि इन प्रस्तावों में हमारी मांगों को पूरा करने की काफ़ी कोशिश की गई है। लेकिन जब छान-बीन की गई, तब इतनी खामियां नज़र आईं और शर्तों को देखा तो उसमें आत्म-निर्णय के अधिकार की स्वीकृति इस तरह जकड़ी हुई और संकुचित घेरे में बंधी हुई थी कि सारे भविष्य को खतरे में डालने वाली थी।

उन प्रस्तावों में भविष्य का लड़ाई खत्म होने के बाद के वक्त का ही खासतौर से ज़िक्र था। हां बाद में एक ऐसा टुकड़ा और था जिसमें बहुत अस्पष्ट रूप में मौजूदा वक्त में सहयोग मांगा गया था। उस भविष्य में आत्म-निर्णय के सिद्धांत पर सूबों को हिंदुस्तानी संघ से अलग एक नया आज़ाद संघ क़ायम कर सकने का अधिकार था। इसके अलावा हिंदुस्तानी

की मदद की गई और उसके लिए रेल और जहाजी सफ़र का इंतज़ाम किया गया। बरमा की एक जगह से बहुत-से लोग इकट्ठे थे, हिंदुस्तान के लिए दो सड़कें थीं। जो ज्यादा अच्छी थी ब्रिटिश लोगों और यूरोपियों के लिए कर दी गई और उसका नाम 'व्हाइट रोड' (गोरे लोगों की सड़क) पड़ गया।

जातीय भेद-भाव और लोगों की तकलीफ़ की दर्दभरी कहानियां हम लोगों तक आईं और जो ज़िंदा बचे वहां से भागे लोग हिंदुस्तान-भर में फैले तो उनके साथ ही ये कहानियां थीं और हिंदुस्तानी दिमाग पर उसका गहरा असर था।

ठीक उसी मौक़े पर सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स हिंदुस्तान में ब्रिटिश वार कैबिनेट (ब्रिटिश युद्ध-मंत्रिमंडल) के प्रस्ताव लेकर आये। उन प्रस्तावों पर पिछले ढाई साल में पूरी तरह बहस हो चुकी है और ये प्रस्ताव एक बीते ज़माने की-सी चीज़ मालूम पड़ते हैं। एक ऐसे आदमी के लिए, जिसने उस समझौते की कोशिश में काफ़ी हिस्सा लिया उस पर कुछ विस्तार से चर्चा करते हुए कुछ बातों को न कहना और किसी आगे के मौक़े के लिए छोड़ देना आसान नहीं है। असल में उस सिलसिले के ख़ास-ख़ास सवाल और ख़यालात आम जनता के सामने आ चुके हैं।

मुझे याद है, जब मैंने इन प्रस्तावों को पहली बार पढ़ा तो मुझे बहुत मायूसी हुई। उस मायूसी की ख़ास वजह यह थी कि मैंने सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स से उस वक़्त की नाज़ुक हालत देखते हुए कुछ ज्यादा तत्व की चीज़ की उम्मीद की थी। लेकिन जितनी बार मैंने उन प्रस्तावों को पढ़ा और उन पर गहराई से सोच-विचार किया मेरी मायूसी उतनी ही ज्यादा होती गई। हिंदुस्तान की हालत से बेख़बर आदमी को तो ऐसा मालूम होता कि उन प्रस्तावों में हमारी मांगों को पूरा करने की काफ़ी कोशिश की गई है। लेकिन जब छान-बीन की गई, तब इतनी ख़ामियां नज़र आईं और शर्तों को देखा तो उसमें आत्म-निर्णय के अधिकार की स्वीकृति इस तरह जकड़ी हुई और संकुचित घेरे में दबी हुई थी कि सारे भविष्य को ख़तरे में डालने वाली थी।

उन प्रस्तावों में भविष्य का लड़ाई ख़त्म होने के बाद के वक़्त का ही ख़ासतौर से ज़िक्र था। हां बाद में एक ऐसा टुकड़ा और था जिसमें बहुत अस्पष्ट रूप में मौजूदा वक़्त में सहयोग मांगा गया था। उस भविष्य में आत्म-निर्णय के सिद्धांत पर सूबों को हिंदुस्तानी संघ से अलग एक नया आज़ाद संघ क़ायम कर सकने का अधिकार था। इसके अलावा हिंदुस्तानी

संघ से अलहदा हो सकने का हक़ हिंदुस्तानी रियासतों को भी दिया गया था। यह बात ख़याल रखने की है कि हिंदुस्तान में ६   से ज़्यादा ऐसी रियासतें हैं। इनमें कुछ तो बड़ी हैं लेकिन ज़्यादातर तो बहुत छोटी हैं। ये रियासतें और ये सूबे संविधान बनाने में हिस्सा लेते संविधान पर असर डालते और बाद में उससे बाहर निकल सकते थे। सारी पृष्ठभूमि में अलहदा होने की बू थी और राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को एक चीज़ स्थान मिलता। प्रतिक्रियावादी तत्त्व जिनमें बहुत-से आपसी फ़र्क़ होते एक बार मिलकर मज़बूत उन्नतिशील और एक क़ौमी सरकार की तरक्क़ी को कुचल देते। अलहदा होने की लगातार धमकियों की वजह से संविधान में बहुत-सी बेजा पाबंदियां लग जातीं। केंद्रीय सरकार कमज़ोर और निकम्मी बना दी जाती लेकिन इतने पर भी वे फिर अलग हो सकते थे और तब बाक़ी रियासतों और सूबों के लिए फिर एक अवामी आईन बनाना मुश्किल होता। संविधान बनानेवाली संस्था के लिए चुनाव मौजूदा सांप्रदायिक क्षेत्रों से होते। यह एक बदकिस्मती की चीज़ थी क्योंकि उसमें पुरानी बंटवारे की भावना बनी रहती लेकिन फिर भी इन परिस्थितियों में यह लाज़िमी थी लेकिन रियासतों में चुनाव की बाबत कोई ज़िक्र नहीं था और उनकी नौ करोड़ की आबादी का बिल्कुल भी ख़याल नहीं किया गया था। रियासतों के सामंती शासक अपनी आबादी के अनुपात से अपने गुमाश्तों को नियुक्त कर देते। इन आदमियों में कुछ क़ाबिल आदमी हो सकते थे लेकिन कुल मिलाकर उनमें लाज़िमी तौर पर जनता की जगह सामंतवादी स्वेच्छाचारी राजा के गुमाश्ते होते। संविधान बनानेवाली सभा की क़रीब चौथाई जगहों पर वे क़ब्ज़ा करते और अपनी संख्या से उसके फ़ैसलों पर काफ़ी असर डालते। इस असर में एक चीज़ और उनकी मदद करती वह थी उनकी सामाजिक प्रगति के लिहाज़ से पिछड़ी हुई हालत और उनकी अलहदा होने की धमकी। संविधान बनानेवाली संस्था चुने हुए और ग़ैर चुने लोगों की एक अजीब खिचड़ी होती। चुने हुए आदमी सांप्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रों से आते और उनमें कुछ निहित स्वार्थोंवाले लोग भी होते और दूसरे लोग रियासती राजाओं और नवाबों के तैनात किये हुए होते। इसमें भी एक चीज़ और थी कि आपस में मिलकर तय की हुई बातों को भी मनवाने के लिए बाद में कोई दबाव नहीं डाला जा सकता था। यह असलियत और समझ जो आपस में मिल-जुलकर फ़ैसला करने में होती है, शायद होगी। उसके बहुत-से मेंबरों का झुकाव बिल्कुल ग़ैर-ज़िम्मेदार होकर काम करने की तरफ़ होता क्योंकि उन्हें यह लगता कि वे कभी

भी अलग हो सकते हैं, और मिल-जुलकर किये हुए फ़ैसलों की भी जिम्मेदारी लेने से इन्कार कर सकते हैं।

हिंदुस्तान को हिस्सों में बांटने का कोई भी सुझाव सोचना दुखद होता। यह तो उन सारी भावनाओं और धारणाओं के ही खिलाफ़ होता जो जनता में एक प्रबल प्रेरणा करती हैं। हिंदुस्तान की सारी क़ौमी तहरीक हिंदुस्तान के एके की बुनियाद पर थी हालांकि यह एके की भावना राष्ट्रीयता के मौजूदा पहलू से बहुत ज्यादा पुरानी और गहरी थी। उसकी जड़ तो हिंदुस्तान के इतिहास के एक बहुत पुराने वक़्त में थी। इस बीच यह भावना मौजूदा घटनाओं से और ज्यादा मजबूत हो चुकी थी। इस तरह होते-होते यह हिंदुस्तान की एक बहुत बड़ी जनता के लिए विश्वास की एक बुनियादी बात हो गई—एक ऐसी चीज़ जिसको न कोई चुनौती दी जा सकती थी और न जिसके विषय में कोई दो रायें हो सकती थीं। मुस्लिम लीग की तरफ़ से एक चुनौती दी गई थी लेकिन उस पर किसीने ध्यान नहीं दिया। इसके अलावा मुसलमानों की खुद एक बहुत बड़ी तादाद थी जो उसके खिलाफ़ थी। उस चुनौती की बुनियाद भी कोई प्रादेशिक नहीं थी। हां उसमें कुछ धुंधला-सा अनिश्चित इशारा उन हिस्सों के बटवारे की तरफ़ था। उसकी बुनियाद तो मध्ययुगीन विचारों पर थी जिसमें राष्ट्र का आधार धर्म पर था। इस तरह हिंदुस्तान के हर गांव में दो या उससे भी ज्यादा क़ौमें बसती थीं। हिंदुस्तान के बंटवारे से भी चारों तरफ़ फैले हुए, एक-दूसरे से चिपटे हुए, धार्मिक भेद-भाव को पार नहीं किया जा सकता था। बंटवारे से तो मुश्किलें बढ़ जातीं। उससे तो वे सवाल भी जिनका हल बंटवारा बताया जाता था बढ़ जाते।

भावना के अलावा बंटवारे के खिलाफ़ ठोस दलीलें थीं। हिंदुस्तान की सामाजिक व आर्थिक समस्याओं की उलझन हद दर्जे पर पहुंच गई थी। इसकी खास वजह थी ब्रिटिश सरकार की नीति। और अब अगर भयंकर से-भयंकर सर्वनाश से बचना था तो उसके लिए जरूरत थी कि चौतरफ़ा प्रगति का क़दम उठाया जाय और तरक़्क़ी की जाय। यह तरक़्क़ी उसी वक़्त मुमकिन थी जब सारे और पूरे हिंदुस्तान के लिए, अखंड भारत के लिए असली और कार-आमद योजनाएं बनाई जायें। सारे-समूचे हिंदुस्तान के लिए—क्योंकि अलग-अलग हिस्से एक-दूसरे की कमियों को पूरा करते थे। कुल मिलाकर हिंदुस्तान बहुत हद तक एक ताक़तवर और स्वावलंबी इकाई था। लेकिन अलग-अलग करके उसके हिस्से कमज़ोर थे और दूसरों पर निर्भर थे। अगर ये और इनके साथ दूसरी दलीलें पहले वक़्तों में लागू

थी और काफ़ी थी तो मौजूदा राजनैतिक और आर्थिक घटनाओं की वजह से उनकी अहमियत अब दूनी हो गई थी। सभी जगह छोटी सरकारों की अलग-अकेली हैसियत ख़त्म होती जा रही थी। वे बड़ी-बड़ी रियासतों में या तो शामिल होती जाती थीं या उनसे आर्थिक रूप में जुड़ गई थीं। बड़े बड़े संघ बनाने का या राज्यों के आपस में मिलकर काम करने का ख़याल बढ़ता जा रहा था। क़ौमी सरकार के विचार की जगह अब अनेक क़ौमोंवाली सरकार ने ले ली थी और दूर भविष्य में दुनिया भर में एक संघ का नक़्शा नज़र आ रहा था। ऐसी हालत में हिंदुस्तान के बँटवारे की योजना सारी आर्थिक और ऐतिहासिक घटनाओं के बहाव के ख़िलाफ़ था। असलियत से यह बेहद दूर मालूम होता था।

फिर भी सख़्त ज़रूरत की मार से या विश्वास के दबाव से आदमी बहुत-सी नापसंद चीज़ों के लिए रज़ामंद हो जाता है। हालतों की मजबूरी से उस चीज़ का बँटवारा हो सकता है जिसको क़ायदे से या सही ढंग से एक बनाये रखना चाहिए। लेकिन ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से पेश किये हुए प्रस्तावों में हिंदुस्तान के किसी ख़ास बँटवारे का ज़िक्र न था। उसमें सूबों और रियासतों के अनगिनत बँटवारों के लिए सिर्फ़ रास्ता खुला हुआ था। उन्होंने सारे प्रतिक्रियावादी सामंती और समाजी-तरक़्क़ी के लिहाज़ से पिछड़े हुए लोगों को बँटवारे के हक़ के लिए उकसाया। शायद उनमें से कोई भी बँटवारा नहीं चाहता था क्योंकि वे अपने पैरों पर अकेले खड़े नहीं रह सकते थे। लेकिन वे काफ़ी उत्पात मचा सकते थे और हिंदुस्तान की आज़ाद सरकार के बनने में रोड़ा अटका सकते थे और देर करा सकते थे। अगर उनको ब्रिटिश नीति से मदद मिलती जैसा शायद होता भी तो उसके मानी ये होते कि बहुत अरसे तक रत्ती-भर भी आज़ादी न हासिल होती। उस नीति का हमारा अनुभव बहुत कड़वा था और हर मौक़े पर हमने यह पाया था कि वह फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती है। इस बात की क्या गारंटी थी कि वह आगे भी ऐसा नहीं करेगी या आगे चलकर यह कह दे कि वह अपना वायदा पूरा नहीं कर सकती क्योंकि उसकी शर्तें पूरी नहीं हुईं? असल में इसी की संभावना थी कि वह नीति आगे भी इसी तरह जारी रहे।

इसलिए इस प्रस्ताव का मतलब सिर्फ़ पाकिस्तान या किसी ख़ास बँटवारे को मंज़ूर करना नहीं था हालाँकि यह चीज़ भी कोई कम बुरी न होती बल्कि उससे भी बदतर था। उसके लिहाज़ से दरवाज़ा खोल दिया जाता और उसमें अनगिनत बँटवारों की संभावना रहती। हिंदुस्तानी

आजादी के लिए यह बराबर एक संकट बना रहता और खास उसी वायदे को जो किया गया था अमल में लाने के लिए एक अड़ंगा खड़ा हो जाता।

हिंदुस्तानी रियासतों के भविष्य के बारे में फ़ैसला उन रियासतों की जनता द्वारा नहीं होता। यह फ़ैसला जनता के नुमाइंदों की जगह वहां के मनमाने शासक करते। इस उसूल को क़बूल करने के मानी ये होते कि हम अपनी पक्की और बार-बार दुहराई गई नीति को पलट देते और रियासतों की जनता से दगा करते। इस हालत में उन लोगों को बहुत अरसे के लिए मनमाने शासन में ढकेल दिया जाता। हम राजाओं से ज्यादा-से ज्यादा नरमी से व्यवहार करने को तैयार थे ताकि लोकतंत्र के लिए रद्दो-बदल में उनका सहयोग मिल सके। और अगर उस मौक़े पर ब्रिटिश ताक़त—एक तीसरी पार्टी—न होती तो हमें शक नहीं है कि हम कामयाब हो गये होते। लेकिन रियासतों के मनमाने शासन को ब्रिटिश सरकार का सहारा मिलने पर यह संभावना थी कि राजा लोग हिंदुस्तानी संघ से बाहर रहें और अपनी जनता के खिलाफ़ लड़ाई में अपने बचाव के लिए ब्रिटिश फ़ौज का सहारा लें। असल में हमें यह बता दिया गया था कि अगर ऐसी हालत पैदा हुई, तो रियासत में विदेशी हथियारबंद फ़ौज रहेगी। और चूंकि इस बात की संभावना थी कि ये रियासतें हिंदुस्तानी संघ के क्षेत्र में बीच-बीच में टापुओं की तरह होंगी इसलिए यह सवाल उठा कि ये विदेशी फ़ौजें वहां कैसे पहुंचेंगी और किस तरह अलग-अलग रियासतों में मौजूद विदेशी फ़ौजें अपना आना-जाना क़ायम रखेंगी। उसके मानी ये होते कि भारतीय संघ की ज़मीन पर होकर विदेशी फ़ौज को आने-जाने का रास्ता दिया जाता।

गांधीजी ने बराबर ऐलान किया था कि वह राजाओं के कोई दुश्मन नहीं हैं। यह सच है कि राजाओं से बराबर उनका व्यवहार दोस्ताना रहा हालांकि अक्सर उन्होंने उनके शासन के ढंग की आलोचना की और इस बात की भी आलोचना की कि उनकी जनता को मामूली अधिकारों को भी आजादी नहीं थी। कितने ही सालों से उन्होंने कांग्रेस को रोक रखा था कि वह रियासती मामलों में सीधे तौर पर दखल न दे। उनकी यह ख्वाहिश थी कि रियासतों की जनता खुद आगे बढ़े और इस तरह अपने अंदर आत्म विश्वास और ताक़त बढ़ाये। हममें-से बहुत-से लोगों को उनकी यह नीति नापसंद थी। लेकिन इस सबके पीछे एक पक्का विश्वास था। उन्हींके शब्दों में—"मेरी नीति की एक बुनियादी बात यह है कि रियासती जनता के अधिकारों को बेच देने में मैं साथ नहीं दूंगा (चाहे) इससे ब्रिटिश हिंदु

स्तान की जनता को आज़ादी ही क्यों न मिल रही हो। प्रोफ़ेसर बैरीडेल कीथ, जो ब्रिटिश क़ानून-शास्त्र और हिंदुस्तान के संविधान पर अधिकारी और प्रामाणिक माने जाते हैं, गांधीजी के दावे का (जो साथ-साथ कांग्रेस का भी है) समर्थन करते हैं। कीथ ने लिखा है—'सम्राट के सलाहकारों का यह सोचना नामुमकिन है कि रियासती जनता को वे अधिकार नहीं दिये जायँगे, जो हिंदुस्तानियों को ब्रिटिश सूबों में हासिल हैं। सम्राट को यह सलाह देने का उनका फ़र्ज़ है कि राजा लोगों को संविधान में इसलिए शामिल किया जाय कि अपनी रियासतों में वे जनता की सरकार जल्दी ही क़ायम करें और इसके लिए सम्राट को अपने अधिकारों का उपयोग करना चाहिए। कोई भी संघ हिंदुस्तान के हित में नहीं होगा, अगर उसमें सूबों के नुमाइंदे ग़ैर-ज़िम्मेदार राजाओं के तैनात किये हुए आदमियों के साथ काम करने के लिए मजबूर किये गये। असल में गांधीजी के दावे का यह जवाब नहीं है कि जनता को अधिकार हस्तांतरित करने के बाद राजा लोग लाज़िमी तौर पर सम्राट के मुताबिक़ चलेंगे।' प्रो. कीथ ने अपनी यह राय ब्रिटिश सरकार के एक पहले प्रस्ताव के सिलसिले में दी थी, जिसमें संघ की चर्चा थी। लेकिन सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स के प्रस्तावों पर तो यह और भी ज़्यादा लागू थी।

जितना ज़्यादा इन प्रस्तावों पर सोचा गया, उतने ही वे अधिक ख़राब से हुए मालूम हुए। हिंदुस्तान एक शतरंज का तख़्ता-जैसा बन गया, जिसमें नाममात्र के लिए आज़ाद या नीम आज़ाद सैकड़ों रियासतें थीं, जिनमें से ज़्यादातर अपने स्वेच्छाचारी शासन को चलाने या अपनी हिफ़ाज़त के लिए ब्रिटिश फ़ौज पर निर्भर थीं। इस तरह इन छोटी-छोटी रियासतों के ज़रिये, जिन पर वह नाज़ करता, ब्रिटेन राजनैतिक और आर्थिक दोनों तरह का ही नियंत्रण जारी रखता।

ब्रिटिश वार कैबिनेट के दिमाग़ में हिंदुस्तान के भविष्य के बारे में क्या तसव्वुर था, मुझे नहीं मालूम। मेरे ख़याल से सर स्टैफ़र्ड हिंदुस्तान का भला चाहते थे और हिंदुस्तान की आज़ादी और क़ौमी एकता की उम्मीद

ब्रिटिश ताक़त और दबाव पर हिंदुस्तानी रियासतों की पूरी निर्भरता पर सर ज्यॉफ्री द मौंटमॉरैन्सी ने अपनी पुस्तक 'दि इंडियन स्टेट्स एंड इंडियन फ़ेडरेशन' में ज़ोर दिया है। रियासतें हिंदुस्तान में इतनी ज़्यादा हैं कि वे हिंदुस्तान की तरक़्क़ी के लिए एक विकट पहेली हैं और उनके सिवा भी कोई हल यहाँ दिखाई नहीं देता। जहाँ तक हिंदुस्तान का सवाल है, ब्रिटेन का डर या हटने का बाद उनका मिटना या दूसरे बड़े हिस्सों में मिल जाना लाज़िमी हो जायगा।

करते थे। लेकिन यह जाती विचारों या रायों या शुभ-कामनाओं का मामला नहीं था। हमको एक सरकारी मसविदे पर सोच-विचार करना था। उसमें चीजें जान-बूझकर साफ़ नहीं की गई थीं लेकिन उसे बड़ी सावधानी से लिखा गया था और उसमें हर लफ़्ज़ के मानी थे। हमको बताया गया कि हम उसे या तो ज्यों-का-त्यों मान लें या उसे रद्द कर दें। उसके पीछे ब्रिटिश सरकार की एक शताब्दी पुरानी नीति बराबर छिपी हुई थी—हिंदुस्तान में फूट डालना और क़ौमी तरक्की और आज़ादी के रास्ते में आनेवाली हर चीज को बढ़ावा देना। भूतकाल में जब कभी कोई क़दम आगे बढ़ाया गया तो उसके साथ कुछ शर्तें कुछ पाबंदियां हमेशा इस तरह लगी हुई थीं कि शुरू में तो वे बिलकुल नाचीज़ और मामूली मालूम होती थीं लेकिन आगे चलकर वे बड़ी भारी रुकावटों और झगड़े की जड़ बन गईं।

ऐसा हो सकता था शायद इसका बहुत इमकान था कि प्रस्ताव में मालूम देनेवाले झगड़े या खतरे भविष्य में साकार न हों। चूंकि बेलमसिल हिंदुस्तान और दुनिया के मसले का व्यापक नजरिया बहुत-से लोगों पर असर डालेगा और उनमें हिंदुस्तान के राजा लोग या उनके मंत्रिगण हो सकते हैं। अगर हम अकेले ही छोड़ दिये जाते तो एक-दूसरे का हम सामना कर सकते थे। आपसी भरोसा होता अलग-अलग हकों की मुश्किलों उलझनों और समस्याओं पर विचार होता और चीजों पर हर पहलू से सोच-विचार करने के बाद एक समझौता निकल सकता था जो सबको मंजूर होता। लेकिन इस इशारे के होते हुए भी कि हमको आत्म-निर्णय का अधिकार होगा हमको अकेले छोड़ा नहीं जा रहा था। ब्रिटिश सरकार बराबर वहां थी। खास महत्त्व की जगहों पर उसका कब्जा था और वह कई ढंग से दखल दे सकती थी रुकावटें डाल सकती थी। सरकारी मशीन पर, सेनाओं वगैरह पर ही सिर्फ़ उसका कब्जा नहीं था बल्कि रियासतों में उसके रेज़ीडेंट, पोलिटिकल एजेंट महत्त्व और असर रखनेवाली हैसियत रखते थे। असल में खुद स्वेच्छाचारी राजा लोग वाइसराय के अधीन पोलिटिकल विभाग के पूरे-पूरे नियंत्रण में थे। उनमें बहुत से प्रधान-मंत्री उन लोगों पर जबरदस्ती लाद दिये गए थे और वे ब्रिटिश सेवाओं के सदस्य थे।

अगर हम ब्रिटिश प्रस्तावों के बहुत-से खतरों से बच भी जाते तब भी हिंदुस्तान की आज़ादी को दबा देने के लिए बहुत-सी चीजें थीं उसकी तरक्की को रोका जा सकता था नई और खतरनाक समस्याएं उठाई जा सकती थीं जिनसे मुश्किलें बेहद बढ़ जातीं। अलग सांप्रदायिक निर्वाचक मंडलों ने जो करीब एक पीढ़ी पहले लागू किए गये थे बहुत-कुछ शैतानी की थी। अब

हर अड़चन डालनेवाले समूह के लिए रास्ता साफ़ किया जा रहा था और हिंदुस्तान में बराबर बटवारे के डर का दरवाज़ा खुला था। एक अनिश्चित भविष्य के लिए इस इंतज़ाम पर हमसे साथ के लिए वायदा कराया जा रहा था। यह एक ऐसा भविष्य था जिसमें झगड़े के अंकुर फूटते। कांग्रेस ने ही नहीं बल्कि राजनैतिक नज़र से नरम-से-नरम कहलाने वाले राजनीतिज्ञों ने भी जिन्होंने हमेशा ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था ऐसा करने में अपनी लाचारी ज़ाहिर की।

हिंदुस्तान के एके के लिए सारे जोश और ख़्वाहिश के होते हुए भी कांग्रेस ने अल्पसंख्यकों और दूसरे दलों का सहयोग लेने की दिल से कोशिश की और वह यहाँ तक आगे बढ़ गई कि उसने ऐलान किया कि कोई भी प्रादेशिक इकाई हिंदुस्तानी संघ में उसकी जनता की घोषित इच्छा के ख़िलाफ़ मजबूरन नहीं रखी जायेगी। अगर और कोई चारा न हो तो बटवारे के उसूल को उसने मान लिया। लेकिन किसी तरह वह इस चीज़ को बढ़ावा नहीं देना चाहती थी। कांग्रेस-कार्यसमिति ने क्रिप्स-प्रस्तावों के सिलसिले पर अपने प्रस्ताव में कहा—"कांग्रेस हिंदुस्तान की आज़ादी और उसके एके के मकसद से बंधी हुई है और उसके टूटने से और ख़ासतौर से आज की दुनिया में जब लोग लाज़िमी तौर पर बड़े-बड़े संघों की बाबत सोचते हैं सभी को बहुत नुकसान होगा और इसलिए उसके ख़याल से ही बेहद तकलीफ़ होती है। फिर भी कमेटी यह नहीं सोच सकती कि वह किसी ख़ास हिस्से के लोगों को उनकी ऐलानिया ख़्वाहिश के ख़िलाफ़ हिंदुस्तानी संघ में रहने को मजबूर करे। इस उसूल को मानते हुए भी कमेटी यह चाहती है कि ऐसी हर कोशिश की जाय जिससे ऐसी हालत पैदा हो कि अलग-अलग हिस्सों के आपसी मिल-जुलकर एक क़ौमी ज़िंदगी बना सकें। इस उसूल को मानने के लाज़िमी मानी ये हैं कि अब ऐसी कोई रोक-थाम न की जाये कि नये झगड़े पैदा हों या उन हिस्सों के दूसरे बड़े-बड़े समुदायों पर ज़बरदस्ती की जाये। देश के हर हिस्से को संघ के अंदर ज़्यादा-से-ज़्यादा स्वाधीन स्वायत्तता होनी चाहिए और साथ ही एक मज़बूत क़ौमी सरकार होनी चाहिए। ब्रिटिश वार-कैबिनेट की मौजूदा तजवीज़ें ऐसा बढ़ावा दे रही हैं कि उनकी वजह से बटवारे की पूरी कोशिश होगी। यह उस संघ स्थापित करने के मौके पर हो रहा है। इस तरह तो आपसी झगड़े होंगे ठीक ऐसे मौके पर जब ज़्यादा-से-ज़्यादा सहयोग और सद्भावनाओं की ज़रूरत है। यह प्रस्ताव शायद साम्प्रदायिक माँग को पूरा करने के लिए है और इसके

दूसरे नतीजे भी होंगे। राजनैतिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी और अल्प संप्रदायों के अड़ंगा डालनेवाले लोग झगड़ा शुरू करेंगे और इस तरह देश की बड़ी-बड़ी समस्याओं की तरफ से जनता का ध्यान हट जायेगा।"

कमेटी ने आगे चलकर कहा कि 'आज की संकट की हालतों में तो सिर्फ़ मौजूदा वक्त के ही कुछ मानी हैं। भविष्य के प्रस्तावों का सिर्फ़ उतना ही महत्व है, जितना मौजूदा वक्त पर उनका असर है।' हालांकि भविष्य के इन प्रस्तावों को वह मंजूर नहीं कर सकी फिर भी किसी-न किसी समझौते पर वह पहुंचने को बहुत उत्सुक थी ताकि जैसा वह कहती थी हिंदुस्तान अपनी हिफ़ाज़त के भार को ठीक तरह से अपने कंधों पर ले सके। इसमें अहिंसा का कोई सवाल नहीं था और न किसी जगह उसका कोई ज़िक्र ही किया गया था। हां एक सवाल जिस पर बहस हुई, वह यह था कि प्रतिरक्षा-विभाग का मंत्री हिंदुस्तानी हो।

इस मौक़े पर कांग्रेस की स्थिति यह थी कि हिंदुस्तान पर मंडराते हुए युद्ध-संकट के कारण वह भविष्य की चीज़ों को एक तरफ़ रख देने के लिए तैयार थी। उसकी सारी निगाह एक क़ौमी सरकार बनाने की तरफ़ थी जो लड़ाई में पूरी तरह साथ दे सके। वह भविष्य के सिलसिले में ब्रिटिश सरकार के सब्त प्रस्तावों को मानने को तैयार नहीं थी क्योंकि इसमें हर तरह की ख़तरनाक पाबंदियां थीं। जहांतक उनका सवाल था ये प्रस्ताव वापस लिये जा सकते थे और इसके साथ ही ब्रिटिश नीयत को दिखाने के लिए क़ायम रखे जा सकते थे। लेकिन यह बात बिलकुल साफ़ थी कि कांग्रेस को ये मंजूर नहीं थे। लेकिन इसकी वजह से मौजूदा वक्त में सहयोग का रास्ता निकालने के लिए कोई रुकावट नहीं थी।

जहांतक मौजूदा वक्त का सवाल था ब्रिटिश वार-कैबिनेट के प्रस्ताव अस्पष्ट थे अधूरे थे। हां उनमें एक चीज़ ज़रूर साफ थी कि हिंदुस्तान की प्रतिरक्षा पूरी तरह से ब्रिटिश सरकार की ज़िम्मेदारी रहेगी। सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स के बार-बार के बयानों से ऐसा मालूम होता था कि प्रतिरक्षा-विभाग को छोड़कर बाक़ी सब विषयों का इंतज़ाम हिंदुस्तानी हाथों में दे दिया जायेगा। इसका भी ज़िक्र था कि वाइसराय सिर्फ़ सर्वधानिक प्रमुख की तरह होगा ठीक उसी तरह जैसे इंग्लैंड का बादशाह था। इससे हमने यह समझा कि अब सिर्फ़ प्रतिरक्षा के प्रश्न पर ही सोच-विचार करना है। हमारी दलील यह थी कि लड़ाई के ज़माने में अक्सर ऐसा होता है, और बाद में ऐसा हुआ भी कि उसके (प्रतिरक्षा के) अंदर ज़्यादातर क़ौमी कारगुज़ारियां समा जाती हैं। अगर प्रतिरक्षा को राष्ट्रीय सरकार के

कार्य-क्षेत्र से बिल्कुल अलहदा कर दिया जाय तो शायद ही कुछ बाकी बचे। यह बात मंजूर थी कि ब्रिटिश सेनापति हथियारबंद फ़ौज पर और फ़ौजी कार्रवाइयों पर अपना पूरा काबू बनाये रहे। यह बात भी मंजूर थी कि लड़ाई की नीति सम्राट के अधिकारियों द्वारा तय हो। लेकिन इसके अलावा यह मांग की गई थी कि प्रतिरक्षा-मंत्री का काम राष्ट्रीय सरकार के हिंदुस्तानी सदस्य को मिलना चाहिए।

कुछ बहस के बाद सर स्टैफ़र्ड तैयार हो गये कि एक हिंदुस्तानी मेंबर के अधीन प्रतिरक्षा-विभाग हो। लेकिन जो काम इस विभाग के जिम्मे सौंपे गये थे वे थे—लोक-संपर्क, पेट्रोल, कैंटीन, लिखाई और छपाई का सामान, विदेशी शिष्ट-मंडलों के लिए सामाजिक प्रबंध, फ़ौजों के आराम का इंतज़ाम वगैरह। यह एक ध्यान देने लायक फ़ेहरिस्त थी और उससे प्रतिरक्षा-मंत्री का पद एक मज़ाक़ की चीज़ बन गया। आगे बहस में एक दूसरा ही पहलू सामने आया। इन दोनों नज़रियों में अब भी काफ़ी फ़र्क था। लेकिन ऐसा महसूस हुआ कि हम एक-दूसरे के क़रीब आते जा रहे हैं। पहली बार मुझे ऐसा लगा और यही बात दूसरों को महसूस हुई कि अब समझौता मुमकिन है। लड़ाई की हालत में बढ़ता हुआ संकट बराबर एक अंकुश था कि हम सभी किसी समझौते पर पहुंचना चाहते थे।

लड़ाई और हमले का ख़तरा बड़ा था और उसका जैसे भी हो मुक़ाबला करना था। फिर भी कई तरीक़े हो सकते थे। लेकिन मौजूदा वक़्त के लिए और उससे भी ज़्यादा भविष्य के लिए सिर्फ़ एक ही कारगर तरीक़ा हो सकता था। हमको ऐसा मालूम पड़ा कि मनोवैज्ञानिक नज़रिए हाथ से निकल सकता है और उसके बाद मौजूदा ख़तरे ही नहीं आयेंगे बल्कि भविष्य [illegible] भारी ख़तरे और भी ज़्यादा बढ़ जायेंगे। पुराने और नये सभी [illegible] की ज़रूरत थी। और [illegible] थी उनको इस्तेमाल करने के लिए [illegible] की नई भावना की, नये क्षितिज की, भविष्य में—भूतकाल से [illegible] भविष्य में—[illegible] नये विश्वास की। और उसका सबूत मौजूदा वक़्त का [illegible] था। शायद हमारी उत्सुकता में हमारी आशावादिता [illegible] और हम [illegible] गये और वह चीज़ धुंधली हो गई [illegible] और हमारे बीच की खाई बहुत चौड़ी है और बहुत [illegible] मौजूदा पुराने ढांचे का हक़ [illegible] भारत के लिए साम्राज्य [illegible] आसान नहीं होता।
[illegible] था। ऐसी परिस्थितियों में यह

ताकत या पूरता आ गई थी ? हमें पता नहीं था लेकिन हमने मान लिया कि शायद ऐसा ही हो !

और तब ठीक उस वक्त जब मुझे सबसे ज्यादा उम्मीद थी अजीब चीजें होने लगीं। लॉर्ड हैलीफ़ैक्स ने संयुक्त राज्य अमरीका में वहीं व्याख्यान देते हुए कांग्रेस पर जोरदार आक्षेप किये। पूरे अमरीका में ठीक उसी वक्त उन्होंने यह क्यों किया यह समझ में नहीं आया। लेकिन यह साफ़ था कि कांग्रेस के साथ समझौते की बात-चीत चल रही थी वह ऐसा उस वक्त तक नहीं कर सकते थे जबतक वह ब्रिटिश सरकार की नीति और विचारों को ही प्रकट न कर रहे हों। यह बात दिल्ली में अच्छी तरह मालूम थी कि वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो और सिविल सर्विस के बड़े-बड़े अफ़सर समझौते के सख्त खिलाफ़ थे। वे अपनी ताक़तों को घटाने के लिए तैयार नहीं थे। बहुत-सी बातें गुप चुप ढंग से हुईं और उनके बारे में पूरी जानकारी नहीं हुई।

जब हम सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स से प्रतिरक्षा-मंत्री के काम-काज की बाबत एक नया समझौता निकालने और सोच-विचार करने के लिए फिर मिले तो यह बात जाहिर हुई कि हमारी पिछली बातों का असली चीज से कोई ताल्लुक नहीं था। न कोई नये मंत्री बनने थे और न उन्हें कोई अधिकार ही दिये जाने थे। वाइसराय की मौजूदा कार्यकारिणी बदस्तूर बनी रहेगी और इरादा सिर्फ़ यह था कि राजनैतिक दलों के कुछ और हिंदुस्तानियों को उसमें नियुक्त कर दिया जाय। यह कौंसिल किसी भी मानी में कैबिनेट नहीं हो सकती थी। उसके मेंबर तो अपने-अपने विभागों के अध्यक्ष या मंत्री होते लेकिन सारी ताकत वाइसराय के हाथों में ही रहती। हमने महसूस किया कि कानून के रद्दोबदल में वक्त लगता है और इसलिए हमने उसके लिए जोर नहीं दिया था। लेकिन हमने इस बात पर जरूर जोर दिया था कि वाइसराय एक ऐसा तर्ज अपनायें कि अमली तौर पर कौंसिल कैबिनेट की तरह हो और वाइसराय उसके फ़ैसला को मानें। अब हमको बताया गया कि यह मुमकिन नहीं है और वाइसराय की ताकत ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी—कानूनी तौर से भी और अमली तौर से भी। यह एक अजीब तब्दीली थी जिस पर यक़ीन करना मुश्किल था क्योंकि पहले मौक़ा पर हमारी बातों की बुनियाद ही बिलकुल दूसरी थी।

हमने सोच-विचार किया कि हमले को रोकने के लिए किस तरह हिंदुस्तान की ताकत को बढ़ाया जा सकता है। हम हिंदुस्तानी फ़ौज को यह महसूस कराना चाहते थे कि वह एक क़ौमी फ़ौज है और इस तरह हम

लड़ाई में देशभक्ति की भावना को मिटाना चाहते थे। इसके साथ ही नई फ़ौज बनाने और होम गार्ड आदि तेज़ी से बनाते ताकि हमले के मौक़े पर घर-घर में बचाव हो सके। यह ठीक है कि ये सब चीज़ें सेनापति के अधीन होतीं। हमसे कहा गया था कि हमको ऐसा नहीं करने दिया जायेगा। हिंदुस्तानी फ़ौज तो असल में ब्रिटिश फ़ौज का ही एक हिस्सा थी और उसे किसी भी मानी में क़ौमी फ़ौज नहीं कहा जा सकता था। इसमें शक है कि होम गार्ड या मिलीशिया-जैसे नये हथियारबंद दस्तों और जत्थों के संगठन की हमको इजाज़त मिलती।

इस तरह इस सबके मानी ये निकले कि मौजूदा ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहता, वाइसराय के मनमाने अधिकार बराबर बने रहेंगे और हममें से कुछ उनके वर्दीपोश अनुयायी होकर नाचते और काम-काजी या इससे मिलती-जुलती चीज़ों की देख-भाल कर सकते थे। इस प्रस्ताव में और अगस्त सन् १९४० के मि० एमरी के प्रस्ताव में रत्ती-भर भी फ़र्क़ नहीं था। मि० एमरी का प्रस्ताव उस वक़्त हिंदुस्तान की बेइज़्ज़ती करता हुआ मालूम दिया था। यह ठीक है कि इस सबसे एक मनोवैज्ञानिक अंतर होता और कुछ व्यक्तियों के परिवर्तन का भी असर होता है। वाइसराय के सिंहासन के चारों तरफ़ घेरे रहनेवाले जी-हुज़ूरों की जगह दूसरे ढंगवाले और क़ाबिल लोग एक दूसरे ही ढंग से काम करते।

हमारे लिए किसी भी मौक़े पर ख़ासतौर से इस वक़्त इस स्थिति का मंज़ूर करना ख़याल के बाहर था, नामुमकिन था। अगर हमने ऐसा करने की हिम्मत की होती तो हमारे ही आदमी हमारा साथ छोड़ देते, हमारे ख़िलाफ़ हो जाते। सच तो यह है कि बाद में जब सारी बातें जनता के सामने आईं तो उन रियायतों से जो समझौते के दौरान में हमने मंज़ूर कर ली थीं बड़ी भारी नाराज़ी हुई।

सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स से बातचीत के सारे दौरान में अल्पसंख्यकों के मामले पर या साम्प्रदायिक कहे जानेवाले सवालों पर न तो कोई सोच-विचार हुआ और न उनका ज़िक्र ही उठा। असल में उस वक़्त यह सवाल ही नहीं उठा। भविष्य के शासनात्मक परिवर्तन के सिलसिले में यह एक सवाल था, लेकिन ब्रिटिश प्रस्तावों पर हमारी पहली प्रतिक्रिया के बाद इसको जान-बूझकर एक तरफ़ रख दिया गया था। अगर क़ौमी सरकार को असली हुकूमती ताक़त सौंप देने का उसूल मान लिया था तो यह बात लाज़िमी तौर से उठती कि मुख़्तलिफ़ समुदायों के नुमाइंदे किस औसत में होंगे। और चूंकि हम उस स्थिति तक ही नहीं पहुंचे इसलिए दूसरा सवाल न तो

उठा और न उस पर सोच-विचार ही किया गया। जहांतक हमारा ताल्लुक है हम खास पार्टियों के विश्वास पर बनी एक सच्ची क़ौमी सरकार के लिए इतने उत्सुक थे कि हमको ऐसा महसूस होता था कि आपसी अनुपात के सवाल पर कोई खास परेशानी नहीं होगी। कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स को एक खत में लिखा—"हम इस बात पर आपका ध्यान दिलायेंगे कि जो प्रस्ताव हमने पेश किये हैं वे सिर्फ़ हमारी ही नहीं बल्कि हिंदुस्तान की जनता की एकमत मांग कहे जा सकते हैं। इन मामलों पर अलग-अलग समुदायों और पार्टियों में कोई मतभेद नहीं है, फ़र्क़ तो कुल मिलाकर हिंदुस्तानी जनता और ब्रिटिश सरकार में है। हिंदुस्तान में जो कुछ मतभेद हैं वह तो सिर्फ़ भविष्य के संवैधानिक परिवर्तन के बारे में है। हम इस सवाल को मुल्तवी करने के लिए तैयार हैं ताकि हिंदुस्तान की रक्षा के लिए मौजूदा संकट में ज्यादा से-ज्यादा एकता हो सके। इस वक्त अब हिंदुस्तान में इस बारे में सिर्फ़ एक ही राय है कि एक ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जो हिंदुस्तान के आदर्श के लिए काम करते हुए उन करोड़ों आदमियों की भी सेवा करे, जो आज मौत और तकलीफ़ का सामना कर रहे हैं। यह तो बिलकुल सर्वनाश की ही बात होगी अगर ब्रिटिश सरकार ऐसी सरकार की स्थापना को रोक रखे।

बाद में कांग्रेस-सभापति के आखिरी खत में यह कहा गया था—"हमारी दिलचस्पी इसमें नहीं है कि सिर्फ़ कांग्रेस को ही ताक़त मिले बल्कि हमारी दिलचस्पी इसमें है कि हिंदुस्तान की सारी जनता को आज़ादी और ताक़त मिले। हमको विश्वास है कि अगर ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालनेवाली नीति को बढ़ावा न दे तो हम सब चाहे हम किसी पार्टी या दल के हों आपस में मिल सकते हैं और काम करने का ऐसा रास्ता निकाल सकते हैं जो सबको मंजूर होगा। लेकिन अफ़सोस कि इस भारी खतरे के मौक़े पर भी ब्रिटिश सरकार अपनी फूट डालनेवाली नीति को छोड़ने को तैयार नहीं है। इससे हमको मजबूर होकर इस नतीजे पर पहुंचना पड़ा है कि हिंदुस्तान की मंडराते हुए हमले से हिफ़ाज़त की जगह, हिंदुस्तान में जबतक मुमकिन हो सके अपना राज्य क़ायम रखने की उसके दिमाग में ज्यादा अहमियत है और उसी मक़सद से वह यहां फूट और झगड़ा बढ़ाने जाती है। हमारे लिए और सभी हिंदुस्तानियों के लिए हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त और प्रतिरक्षा का ही खास खयाल है और उसी कसौटी को हम सबसे ऊपर मानते हैं।

इस मामले में प्रतिरक्षा के बारे में भी हमारी स्थिति को उन्होंने साफ़ कर लिया। किसीने भी सभापति की खास ताकतों को कम करने का सुझाव नहीं दिया है। यही नहीं, हम तो और भी आगे बढ़े और युद्ध-मंत्री के खास मामलों में और भी नई ताकतें उन्हें देने को तैयार थे। लेकिन ज़ाहिर है कि प्रतिरक्षा के मामले में ब्रिटिश सरकार के और हमारे खयाल में बहुत बड़ा फ़र्क है। हमारे लिए तो उसके मानी ये हैं कि उसको राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया जाय और हिंदुस्तान के हर मर्द और औरत से उसमें हिस्सा लेने को कहा जाय। इसके मानी हैं अपनी जनता का विश्वास करना और इस बड़ी भारी कोशिश में उनका पूरा पूरा साथ लेना। ब्रिटिश सरकार के नज़रिये की बुनियाद हिंदुस्तानियों का बिलकुल विश्वास न करने पर है और वह उनसे असली ताकत को दूर रखना चाहती है। आपने प्रतिरक्षा के मामले में शाही सरकार के अहम कर्तव्य और ज़िम्मेदारी का ज़िक्र किया है। उस कर्तव्य और ज़िम्मेदारी का पूरा पूरा पालन पूरे ढंग से तबतक नहीं हो सकता जबतक हिंदुस्तानियों को यह ज़िम्मेदारी न मिले और उन्हें उसका अनुभव न हो। इधर हाल की [illegible] बात उसका गवाह है। हिंदुस्तान सरकार इस बात को महसूस नहीं करती कि लड़ाई जनता के सहयोग से ही लड़ी जा सकती है।

कांग्रेस-सभापति के इस आखिरी खत के कुछ ही बाद सर स्टैफ़र्ड क्रिप्स हवाई जहाज़ से इंग्लैंड वापस लौट गए। लेकिन इससे पहले और [illegible] इंग्लैंड पहुंचने के बाद उन्होंने जनता के सामने ऐसे बयान दिये जो असलियत से दूर थे। उनसे हिंदुस्तान में बहुत नाराज़ी हुई। हिंदुस्तान में [illegible] भी [illegible] के बाद भी सर स्टैफ़र्ड [illegible] बयानों का [illegible] रहे।

[illegible] नहीं किया था बल्कि हर [illegible] दिया था। हमारे यहां के सबसे उदार [illegible] था। मुस्लिम लीग को छोड़कर और [illegible] के मुताबिक मुस्लिम- [illegible] ज़ाहिर कर [illegible] उसने [illegible] किया।

[illegible] कहा गया कि कांग्रेस [illegible] समझौता चाहता [illegible] साथ [illegible] में अब [illegible] भी

करोड़ जनता की अवहेलना की गई थी। उन्हें अपने भविष्य के बारे में कुछ कहने का अधिकार नहीं दिया गया था। समझौते की सारी बात-चीत जिसमें भविष्य का नहीं बल्कि मौजूदा हालत में रहो-बदल का ही जिक्र था, गांधीजी की गैरहाजिरी में हुई। अपनी पत्नी की बीमारी की वजह से उन्हें लौट जाना पड़ा था। उनका इस सबसे कोई ताल्लुक ही नहीं था। पिछले कितने ही मौक़ों पर कांग्रेस-कार्यसमिति अहिंसा के मामले में उनसे असहमत रही है। वह तो लड़ाई में और खासतौर से हिंदुस्तान की रक्षा में साथ देने के लिए और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए बहुत उत्सुक थी।

लोगों के दिमाग़ों में लड़ाई का खयाल था और यही अहम सवाल था। हिंदुस्तान पर हमला साफ़ दिखाई पड़ रहा था। समझौते मे लड़ाई में रुकावट नहीं पेश की क्योंकि उसका नियंत्रण तो विशेषज्ञ ही करते न कि आम आदमी। लड़ाई की नीति के सिलसिले में किसी फ़ैसले पर पहुंचना मुश्किल नहीं था। असली सवाल तो क़ौमी सरकार को ताक़त सौंपने का था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और हिंदुस्तानी राष्ट्रीयता का यह पुराना झगड़ा था। उस मामले में चाहे लड़ाई हो या न हो हिंदुस्तान और इंग्लैंड में हुक्मरान तबक़ा उस सबको हाथ में रखने पर तुला हुआ था जो अभी हाथ में था। इस सबके पीछे मि. विन्स्टन चर्चिल की बड़ी हस्ती थी।

## ९ मायूसी

क्रिप्स सन्धि-चर्चा का अचानक खात्मा और सर स्टैफ़र्ड की मक़ायक वापसी इन दोनो बातों से अचंभा हुआ। जहांतक मौजूदा वक्त का सवाल था क्या इसी तुच्छ तजवीज़ के लिए, जैसी वह आगे चलकर साबित हुई और जिसमें पहले कई बार कही बातों को ही दुहराया गया था, ब्रिटिश वार-कैबिनेट का एक मेंबर हिंदुस्तान आया था? या यह सब संयुक्त राज्य अमरीका की जनता में प्रचार के खयाल से किया गया था? उसकी प्रतिक्रिया तेज और तीखी हुई। ब्रिटेन के साथ समझौते की कोई उम्मीद नहीं थी। हिंदुस्तानियों को अपनी मर्ज़ी के मुताबिक अपने देश को बाहरी हमलों से बचाने का भी मौका नहीं दिया जाना था।

इस बीच उस हमले की संभावना बढ़ रही थी और भूखे हिंदुस्तानी शरणार्थियों के झुंड-के-झुंड हिंदुस्तान की पूर्वी सीमा से अंदर आ रहे थे। पूर्वी बंगाल में घबराहट में हमले के डर की वजह से दसियों हज़ार नावों को बरबाद कर दिया गया। (बाद में यह कहा गया कि एक सरकारी हुक्म के ग़लत मानी लगाने की वजह से ऐसा किया गया था)। इस विस्तृत

प्रदेश में जल-मार्ग बहुत हैं और वहां आना-जाना इन्हीं नावों से मुमकिन था। उनके बरबाद कर लेने की वजह से बड़े-बड़े समुदाय एक-दूसरे से अलहदा हो गये; उनकी रोज़ी छिन गई; एक जगह से दूसरी जगह आने-जाने का सहारा नहीं रहा; और यह बंगाल के अकाल की एक काफ़ी बड़ी वजह हुई। एक बड़े पैमाने पर वहां से हटने की तैयारियां की गईं। दक्खिन बरमा में और रंगून में जो कुछ हुआ था, उसके दुहराये जाने के आसार दिखाई पड़ने लगे। मद्रास शहर में एक अस्पष्ट और अनिश्चित अफ़वाह उड़ी (बाद में यह झूठी निकली)। इसमें कहा यह गया कि एक जापानी जहाज़ी बेड़ा आ रहा है। उसका नतीजा यह हुआ कि बड़े-बड़े सरकारी अफ़सर वहां से अचानक हटे और साथ ही कुछ हद तक वहां का बंदरगाह भी बिगाड़ दिया गया। ऐसा मालूम होता था कि हिंदुस्तान की मुल्की हुकूमत की हिम्मत [illegible] रही थी। उसकी बहादुरी हिंदुस्तान की कौमियत कुचलने में ही थी।

हम क्या करते? हम इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकते थे कि हिंदुस्तान का कोई भी हिस्सा हमले के सामने चुपचाप सिर झुका दे। जहां तक कि हथियारबंद विरोध का सवाल है, उससे (जैसी कुछ वह थी) फ़ौज का और हवाई ताकत का ताल्लुक था। अमरीका से मदद आ रही थी—खासतौर से हवाई जहाज़ों की शक्ल में और उससे सारी फ़ौजी स्थिति धीरे-धीरे बदल रही थी। जिस ढंग से हम मदद कर सकते थे वह थी—जनता के सहारे वातावरण में परिवर्तन। लोगों में जोश पैदा करना, किसी भी सूरत में हमला रोकने की नीव मज़बूत बना देते। इसके लिए नागरिकों का संगठन करते और गृह रक्षक दल बनाते। ब्रिटिश नीति ने हमारे लिए यह और भी ज़्यादा मुश्किल बना दी थी। खास हमले के मौके पर फ़ौज के बाहर किसी भी हिंदुस्तानी पर इतना भरोसा नहीं था कि उसे बंदूक [illegible] या [illegible] रखा जाय, नहीं बल्कि गांवों में निजी हिफ़ाज़त के लिए गैर [illegible] [illegible] तैयार रखने की कोशिश भी नापसंद की गई और [illegible] [illegible] [illegible] कि [illegible] अधिकारी जन रक्षा-संगठन की बजाय [illegible] [illegible] [illegible] उसका बजाय थी [illegible] इन सार्वजनिक रक्षा के [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] और लगातार दमन के आदी हो गये [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] उनकी जगह दूसरा रास्ता [illegible] [illegible] [illegible] सार्वजनिक संगठन पर भरोसा करने [illegible] [illegible] [illegible] उन्होंने ताकत ही साथ और [illegible] [illegible] [illegible] नहीं था। सरकारी [illegible] [illegible] [illegible] लोगों

की अपनी निजी प्रेरणा या सूझ नहीं होती। अधिकारी-वर्ग बिलकुल अपनी इच्छा के मुताबिक़ उससे काम लेना या फ़ायदा उठाना चाहता था। कांग्रेस-महासमिति ने अपनी अप्रैल १९४२ की बैठक में इस नीति और व्यवहार पर अपनी भारी नाराज़गी का ऐलान किया। उसने कहा कि वह किसी ऐसी स्थिति को मंज़ूर करने को तैयार नहीं है, जिसमें जनता को विदेशी सत्ता के गुलाम की हैसियत से काम करना पड़े।

फिर भी इस आनेवाले सर्वनाश के लिए हम मौन और बेबस तमाशबीन होकर नहीं रह सकते थे। हमें जनता को सलाह देनी थी—उस बड़ी भारी आबादी को सलाह देनी थी कि हमले की हालत में उन्हें क्या करना है। हमने उससे कहा कि ब्रिटिश नीति के लिए नफ़रत होते हुए भी उन्हें ब्रिटिश या मित्र राष्ट्रों की फ़ौजों के काम में कैसा भी दख़ल नहीं देना चाहिए, क्योंकि इस तरह तो हम हमला करनेवाले दुश्मन की ही मदद करेंगे। लेकिन साथ ही किसी भी सूरत में उन्हें आक्रमणकारी के आगे न तो सिर झुकाना चाहिए और न उसकी किसी हुकूमत को ही मंज़ूर करना चाहिए। अगर आक्रमणकारी सेनाएं उनके घरों और खेतों पर क़ब्ज़ा करें तो उन्हें मरते दम तक उनको रोकना चाहिए। यह विरोध शांतिपूर्वक हो। दुश्मन से सोलहों आने पूरा असहयोग होना चाहिए।

बहुत-से लोगों ने काफ़ी व्यंग के साथ इसकी आलोचना की। आक्रमणकारी फ़ौज का इस अहिंसात्मक असहयोग से विरोध करना एक बिलकुल वाहियात ख़याल मालूम दिया। लेकिन वाहियात होने की बजाय जनता के पास यही एक कारगर रास्ता बाक़ी था। यह तो एक बहुत बहादुराना ढंग था। हथियारबंद फ़ौजों को यह सलाह नहीं दी गई थी और न यही कहा गया था कि शांतिपूर्ण विरोध से काम चल जायेगा। यह सलाह निहत्थी नागरिक जनता को दी गई थी। सशस्त्र फ़ौजों के हट जाने या हार जाने पर यह जनता हमेशा ही आक्रमणकारी के आगे सिर झुका देती है। ख़ास हथियारबंद फ़ौज के अलावा दुश्मन को परेशान करने के लिए छोटे-छोटे छापामार दस्तों का संगठन किया जा सकता है। लेकिन हमारे लिए यह मुमकिन नहीं था। इसके लिए शिक्षा की और हथियारों की ज़रूरत होती है। इसमें फ़ौज का पूरा साथ चाहिए। और अगर कुछ छापामार दस्तों को शिक्षा भी दे दी जाती तब भी सारी जनता बाक़ी बच रहती। आमतौर पर यह उम्मीद की जाती है कि सारी नागरिक जनता दुश्मन के क़ब्ज़े के बाद सिर झुका देगी। यही नहीं ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उन हिस्सों में हिदायतें जारी की गई थीं—जहां ख़तरा था—कि बड़े-बड़े

अफ़सरों के हटने के बाद वहां की जनता और यहां तक कि छोटे अफ़सर और अहलकार दुश्मन की मातहती मान लें।

हम अच्छी तरह जानते थे कि शांतिपूर्ण असहयोग से आगे बढ़ती हुई दुश्मन की फ़ौज रोकी नहीं जा सकती। हम यह भी जानते थे कि ज़्यादा-तर जनता के लिए इच्छा होते हुए भी उस फ़ौज का रोकना मुश्किल होगा। फिर भी हमें उम्मीद थी कि दुश्मन के जीते हुए गांवों और क़सबों में ऐसे प्रमुख व्यक्ति निकल आयेंगे जो न उनका हुक्म मानेंगे और न उन्हें खान-पान के इन्तज़ाम में मदद देंगे। उसकी वजह से उन्हें फ़ौरन सज़ा मिलती—बहुत मुमकिन था मौत की सज़ा मिलती वरना उनका सब कुछ ज़ब्त तो हो ही जाता। हमारा ख़याल था कि कुछ गिने चुने आदमियों द्वारा भी सिर न झुकाने और मरने दम तक विरोध करने का आम आबादी पर, सिर्फ़ उन हिस्सों में ही नहीं बल्कि सारे हिंदुस्तान में ज़ोरदार असर होगा। इस तरह हमें उम्मीद थी कि विरोध के लिए राष्ट्रीय भावना बढ़ाई जा सकती थी।

पिछले कुछ महीनों में हम संगठन कर रहे थे—खाने का इंतज़ाम करनेवाली कमेटियों का और गांवों और क़सबों में आत्म-रक्षा-इकाइयों का। अक्सर यह हम सरकारी विरोध होते हुए भी करना पड़ा। खाने-पीने की चीज़ों की समस्या हमें परेशान कर रही थी। लड़ाई की वजह से यातायात की दिन-ब-दिन बढ़ती हुई मुश्किल से और लड़ाई के सिलसिले में और दूसरी बातों से हमें खान-पान की चीज़ों के संकट का डर था। इस मामले में सरकार क़रीब-क़रीब कुछ भी नहीं कर रही थी। हमने स्वयं पर्याप्त इकाइयों की सभी जगह और ख़ासतौर से गांवों में संगठन करने की कोशिश की। हमने नये साधनों के अभाव में ग्राम जन के पुराने साधनों—बैलगाड़ी आदि के लिए बढ़ावा दिया। इस बात की भी बहुत संभावना थी कि अगर पूरब की तरफ़ से हमला हुआ तो बहुत बड़ी संख्या में शरणार्थी और भागे हुए लोग पच्छिम की [illegible] ओर [illegible]। यही बात चीन में हुई थी। हमने अपने आप [illegible] इस बात की तैयारी की कि उस वक़्त उन लोगों के खाने और रहने का इन्तज़ाम हो सके। सरकारी मदद के बिना यह बहुत मुश्किल था शायद मुमकिन भी नहीं था फिर भी हमने हर मुमकिन कोशिश की। [illegible] काम में मदद करना था। उन्हें अपने [illegible] घबराहट का रोकना था। काफ़ी दूर [illegible] में यह घबराहट [illegible] था। इस मामले में

सरकार की तरफ से इंतजाम बिलकुल नाकाफ़ी था। वहां जनता पर अवि श्वास था। गांवों में चोरियां और डकैतियां दिन-ब-दिन बढ़ रही थीं।

हमने ये लंबी चौड़ी योजनाएं बनाई और कुछ हद तक उन्हें अमल में लाने की कोशिश की। लेकिन जाहिर था कि हमारे सामने जो बहुत बड़ी समस्या थी उसमें हम सिर्फ़ थोड़ा काम कर पा रहे थे। सरकारी ढांचे और जनता के पूरे-पूरे सहयोग से ही इस समस्या का हल हो सकता था। लेकिन सहयोग असंभव पाया गया। इस हालत को देखकर दिल टूटता था। जिस समय संकट में हमारी जरूरत थी और काम करने के लिए हमारा जोश उमड़ा पड़ता था कुछ कर दिखाने के लिए रुकावट थी इजाजत नहीं थी। संकट और विध्वंस लंबे डग भरते हुए आगे बढ़ते आ रहे थे और हिंदुस्तान बेबस और हाथ-पर-हाथ रखे बैठा हुआ था उसमें नाराजी और गुस्सा था और वह प्रतिद्वंद्वी विदेशी शक्तियों का रण-स्थल बना हुआ था।

लड़ाई के लिए नफ़रत होते हुए भी हिंदुस्तान पर जापानी हमले के ख़्याल से मुझे किसी तरह का डर नहीं हुआ। हिंदुस्तान पर आती हुई लड़ाई की बाबत सोचकर मेरे मन में एक तरह का आकर्षण पैदा हुआ। यह ठीक है कि लड़ाई एक भयंकर चीज़ है। ब्रिटेन ने हमारे ऊपर मरघट की शांति लाद रखी थी। मैं चाहता था कि हमारे करोड़ों आदमी उससे बाहर खींच लिये जायें उन्हें निजी अनुभव हो और साथ ही उन्हें अच्छी तरह झक-झोर दिया जाये। यह एक ऐसी बात होती जो उन्हें गुजरे जमाने की चीज़ों से जिनसे वे बुरी तरह चिपटे हुए थे ऊपर उठा देती और जो उन्हें जबरदस्ती मौजूदा असलियत के सामने ला देती। इससे न छोटी-छोटी राजनैतिक समस्याओं से और बढ़-चढ़कर बोलनेवाले छोटे-छोटे झगड़ों से जो उनके दिमाग़ में घर किये हुए थे बाहर निकल आते। उससे उन की ज़िन्दगी की क्य बदल जाती और उनका सुर मौजूदा वक्त और भविष्य से मिल जाता। लड़ाई की गहरी क़ीमत चुकानी पड़ती उसके नतीजे का कुछ ठीक भी नहीं था। हमने नहीं चाहा था कि लड़ाई हो लेकिन जब वह आ ही गई थी उससे क़ौम की रगें मजबूत की जा सकती थीं। उससे ऐसे महत्वपूर्ण अनुभव हो सकते थे जिनसे नये जीवन का अंकुर फूटे। बहुत बड़ी तादाद में लोग मरेंगे यह बात साफ़ थी लेकिन बेकाम से मरने से लड़ाई में मरना बेहतर है। भुखमरी बेकार ज़िन्दगी से मर जाना बेहतर है। मौत से नई ज़िन्दगी आती है। वे व्यक्ति और राष्ट्र, जो मरना नहीं जानते जीना भी नहीं जानते। "सिर्फ़ वहीं जहां क़ब्रें हैं, पुनरुत्थान होता है।"

हालांकि लड़ाई हिंदुस्तान तक आ पहुंची थी लेकिन उससे हम में कोई जोश नहीं आया था। किसी बड़ी कोशिश में हमारी ताक़त खुशी से फूटी नहीं पड़ती थी—किसी ऐसी कोशिश में जिसमें तकलीफ़ और मौत का ध्यान नहीं होता, जहां खुद अपनी अहमियत भुला दी जाती है, जिसमें आज़ादी के मिलाने की और दूसरी पार भविष्य के गढ़ने की ही क़ीमत होती है। हमारे लिए तो सिर्फ़ तकलीफ़ और मुसीबतें ही थीं। इसके अलावा उस आते हुए सर्वनाश का ख़याल था जिसको हम टाल नहीं सकते थे, जिसमें हमारे दर्द की तेज़ी बढ़ती और हमारी चेतना सजग होती। अनिवार्य दुर्दशा की चिंता बढ़ती गई। यह दुर्दशा जाती भी थी और क़ौमी भी।

इसका लड़ाई की हार-जीत से कोई ताल्लुक़ नहीं था और न इस बात से कि कौन हारे और कौन जीते। हम धुरी राष्ट्रों की जीत नहीं चाहते थे क्योंकि उसमें लाज़िमी तौर पर सर्वनाश होता। हम नहीं चाहते थे कि जापानी हिंदुस्तान में घुस आएं और उसके किसी हिस्से पर क़ब्ज़ा करें। उसको जैसे भी हो सके रोकना था और हमने बार-बार इस बात पर जनता का ध्यान दिलाया। लेकिन यह सब नकारात्मक कोशिश थी। लड़ाई का असली मक़सद क्या था? उसमें आनेवाले ज़माने का नक़्शा कैसे बनेगा? क्या यह पहली ग़लतियों और पहले सिद्धांतों को दुहराना भर था जिसमें प्रकृति की भयानक शक्तियां काम करती थीं और ये इन्सान की ख़्वाहिशों और आदर्शों का कोई ख़याल ही नहीं करती थीं? हिंदुस्तान का भविष्य क्या होगा?

उन्हीं दिनों मृत्यु-शैया से दिये हुए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आख़िरी सन्देश का हमें ध्यान आया। [illegible] बर्बरता के पिशाच ने [illegible] आवरण हटा दिया है। संहार के ताण्डव में मानवता को चीरकर फेंकने के लिए वह अपने दांत-नख खोले हुए बाहर आया है। दुनिया के [illegible] के ज़हरीले धुएं से सारे वातावरण को [illegible] कर दिया है। [illegible] की भावना जो शायद पश्चिम की मनोवृत्ति में [illegible] बाहर आई है और उसने मानव-आत्मा को [illegible] कर दिया है।

[illegible] हिन्दुस्तानी साम्राज्य छोड़ने के लिए मजबूर [illegible] हिन्दुस्तान छोड़कर जायेंगे? कितना [illegible] भूल जायेगी [illegible] किसी समय मैंने

विश्वास था कि यूरोप के हृदय से विभिन्न संस्कृतियों के स्रोत फूटेंगे। किन्तु आज जब मैं दुनिया को छोड़नेवाला हूं इस विश्वास का बिल्कुल दिवाला पिट गया है।

"चारों तरफ देखने पर मुझे एक गर्वीली सभ्यता के भग्न अवशेष दिखाई दे रहे हैं मानो एक बहुत बड़ा बिल्कुल बेकार का ढेर तितर-बितर पड़ा हो। फिर भी मानव में विश्वास खोने का भारी पाप नहीं करूंगा। मैं उसके इतिहास में एक नये अध्याय को देखना चाहूंगा जो इस तूफान के बाद वायुमंडल साफ होने के बाद सेवा और बलिदान की भावना से युक्त होगा। शायद यह प्रभात इसी क्षितिज पर होगा—पूर्व में—जहां सूर्योदय होता है। एक ऐसा दिन आयेगा जब अपराजित मानव सारी रुकावटों के होते हुए अपने विजय-मार्ग पर वापस लौटेगा ताकि वह अपनी खोई हुई मानवीय पैतृक संपत्ति को पा सके।

"आज हम उन खतरों को देख रहे हैं, जो शक्ति की उद्दंडता के साथ होते हैं। एक दिन ऋषियों द्वारा घोषित यह पूर्ण सत्य प्रकट होगा

'असत्याचरण से मनुष्य की समृद्धि होती है शत्रुओं पर विजय प्राप्त होती है चाही हुई चीज मिलती है लेकिन जड़ में उसका नाश हो जाता है।'

नहीं मानव में किसीका विश्वास नष्ट न हो। ईश्वर को हम अस्वीकार कर सकते हैं लेकिन अगर हम मानव में विश्वास मिटा दें, तब हमारे लिए क्या आशा रहेगी क्योंकि तब सभी कुछ बेकार हो जायेगा? फिर भी किसी चीज में या इसमें कि सत्याचरण हमेशा ही विजयी होगा विश्वास करना मुश्किल था।

थके तन और बेचैन मन से अपने इस वातावरण से बचने के लिए, मैंने हिमालय की भीतरी घाटियों में स्थित कुल्लू की यात्रा की।

## १० चुनौती 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव

एक पखवारे की गैरहाजिरी के बाद, कुल्लू से लौटने पर, मैंने अनुभव किया कि देश की अंदरूनी हालत तेजी से बदल रही थी। समझौते की पिछली कोशिश की असफलता की प्रतिक्रिया बढ़ गई थी और अब ऐसी धारणा थी कि उस तरफ कोई उम्मीद नहीं है। पार्लमेंट में ब्रिटिश अधिकारियों के बयानों ने इस धारणा को पक्का कर दिया था और लोगों में उसकी जगह से नाराजी थी। हिंदुस्तान में अधिकारियों की नीति हमारे राजनैतिक और सार्वजनिक कामों को दबाने का पक्का इरादा कर रही

बेलजियम, नार्वे और यूरोप के और बहुत-से अधिकृत देशों में विरोध के जोरदार आंदोलनों के होते हुए भी आक्रमणकारी का साथ देनेवालों की भी बाढ़ हमने देखी थी। हमने देखा था कि किस तरह (पर्तीनैक्स के शब्दों में) विशी के आदमियों ने "अपने दिमाग को धोखा देकर शर्म को इज्जत बताया, कायरता को हिम्मत बताया, खोखलेपन और बेदर्दी को अक्लमंदी बताया, अपमान को गुण बताया और जर्मनी की जीत को दिल से मंजूर कर लेने को नैतिक पुनर्जन्म बताया।" अगर यह चीज क्रांतिकारी देशभक्ति से प्रभावित फ्रांस में हुई, तो उसी किस्म के लोगों का हिंदुस्तान में ऐसा होना नामुमकिन नहीं था, क्योंकि यहां ऐसा साथ देने की मनोवृत्ति बहुत अरसे से फल-फूल रही थी। उस पर ब्रिटिश सरकार की हिमायत थी और उसको तरह-तरह के इनाम मिले थे। असल में इस बात की ही ज्यादा संभावना थी कि दुश्मन का साथ देने वाले लोग ज्यादातर वही होंगे जो ब्रिटिश राज्य का साथ दे रहे थे और उस राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का गला फाड़-फाड़कर ऐलान कर रहे थे। इस साथ देने के हुनर में वे बहुत मंज गये थे और अब ऊपरी ढांचा बदलने के बाद ठीक उसी ढंग से काम करने में उन्हें कोई मुश्किल नहीं होती। और बाद में अगर फिर ऊपरी ढांचा दुबारा बदलता तो वे फिर दुबारा बदल सकते थे ठीक उसी तरह जैसे यूरोप में उनकी नस्ल के आदमी कर रहे थे। जब जरूरत होती तो क्रिप्स-समझौते की नाकामयाबी से बढ़ी हुई ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं का वे फायदा उठा सकते थे। ऐसा ही और लोग भी करते, मौकापरस्ती और जाती फायदे के लिए नहीं, बल्कि और दूसरी प्रेरणाओं से। उसमें न चारों तरफ का ही खयाल होता और न बड़े-बड़े और अहम सवालों का। इन घटनाओं से हम चौकन्ने रह गये और हमें महसूस हुआ कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश नीति के लिए जबरदस्ती और चुपचाप सिर झुकाने से हर तरह के खतरनाक नतीजे हो सकते हैं और उससे यहां की जनता का पूरी तरह पतन होगा।

चारों तरफ काफी दूर तक यह खयाल था कि अगर हमला हुआ और देश के पूरबी हिस्सों पर दुश्मन का कब्जा हुआ, तो दूसरी जगहों के ज्यादातर हिस्सों में सिविल हुकूमत टूट जायेगी और उसके सबब से अराजकता फैल जायेगी। मलाया और बरमा में जो कुछ हुआ था वह हमारे सामने था। इस बात का शायद ही किसीको खयाल था कि देश के बहुत बड़े हिस्से पर दुश्मन कब्जा करेगा, चाहे कहीं उसके मालिक ही क्यों न हों। हिंदुस्तान बहुत बड़ा देश है, और हम चीन में देख चुके थे कि विस्तार से एक

थी और चारों तरफ़ दबाव बढ़ता जा रहा था। हमारे बहुत-से साथी कितने सालों के दौरान में जेल में थे। अब मेरे सबसे करीबी और खास दोस्त और साथी भारत रक्षा क़ानून के मातहत गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये थे। शुरू मई में रफ़ी अहमद किदवई गिरफ्तार हुए। उसके कुछ ही बाद संयुक्त-प्रांतीय कांग्रेस कमेटी के सभापति श्रीकृष्णदत्त पालीवाल का नंबर आया और इसी तरह और बहुत-से लोगों का भी नंबर आया। ऐसा मालूम होता था कि हममें से ज्यादातर को इस तरह छांटकर गिरफ्तार कर लिया जायेगा और कार्य-क्षेत्र से हटा दिया जायेगा। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन का इस तरह काम रोका जायेगा और धीरे-धीरे वह आंदोलन छिन्न-भिन्न हो जायगा। क्या हम इसे चुपचाप सिर झुकाकर सह लेंगे? हमको ऐसी शिक्षा नहीं मिली थी। इस बरताव के खिलाफ़ विद्रोह करने को हमारा [illegible] और राष्ट्रीय अभिमान उठ खड़ा हुआ।

गंभीर युद्ध-संकट और हमले की संभावना का खयाल करते हुए आखिर हम क्या कर सकते थे? लेकिन हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने से इस मकसद को मदद न मिलती। उसकी वजह से ऐसी संभावनाएं बढ़ रही थीं कि उनको सोचकर चिंता होती और डर होता। इतने बड़े देश में और ऐसे संकट के समय जैसा कि कुदरती था, जनता में तरह-तरह की रायें थीं। जापानियों की हिमायत की भावनाएं क़रीब-क़रीब बिलकुल नहीं थीं। कोई भी नहीं चाहता था कि एक विदेशी मालिक की जगह दूसरा आ जाये। चीनियों की तरफ़दारी में चारों तरफ़ बहुत जोरदार भावनाएं थीं। लेकिन एक ऐसा छोटा-सा समूह भी था जो एक लिहाज से जापानियों के पक्ष में था। उसका खयाल था कि जापानी हमले का हिंदुस्तान की आजादी के लिए फ़ायदा उठाया जा सकता है। इस पर सुभाषचंद्र बोस के ब्राडकास्टों का असर था। बोस पिछले साल गुप्त रूप से हिंदुस्तान से बाहर निकल गये थे। ज्यादातर आदमी सिर्फ़ निष्क्रिय थे और चुपचाप घटनाओं को देख रहे थे। अगर बदकिस्मती से हालत ऐसी बदलती कि हिंदुस्तान के किसी हिस्से पर आक्रमणकारी का कब्जा हो जाता तो उसको ऐसे आदमी खास तौर से बड़ी आमदनीवाले आदमी जरूर मिलते जो उसका साथ देते। उनकी सबसे बड़ी ख्वाहिश अपनी जायदाद की और अपने को बचाने की थी। इस नस्ल के और इस मनोवृत्ति के साथ देनेवालों को हिंदुस्तान की ब्रिटिश सरकार बहुत चाहती थी और पिछले वक्त में अपना काम लेने के लिए उसने उनको बहुत बढ़ावा दिया था। बदलती हुई हालतों के साथ वे लोग भी बदल सकते थे और हमेशा अपने निजी लाभ को ध्यान में रखते। मजबूत

बेलजियम, नार्वे और यूरोप के और बहुत-से अधिकृत देशों में विरोध के ज़ोरदार आंदोलनों के होते हुए भी आक्रमणकारी का साथ देनेवालों की भी बात हमने देखी थी। हमने देखा था कि किस तरह (पर्टीनैक्स के शब्दों में) विशी के आदमियों ने 'अपने दिमाग़ को धोखा देकर शर्म को इज़्ज़त बताया, कायरता को हिम्मत बताया, खोखलेपन और बेसबरी को अक्लमंदी बताया, अपमान को गुण बताया और जर्मनी की जीत को दिल से मंज़ूर कर लेने को नैतिक पुनर्जन्म बताया।" अगर यह चीज़ क्रांतिकारी देशभक्ति से प्रभावित फ़्रान्स में हुई, तो उसी किस्म के लोगों का हिंदुस्तान में ऐसा होना नामुमकिन नहीं था, क्योंकि यहां ऐसा साथ देने की मनोवृत्ति बहुत अरसे से फल-फूल रही थी। इस पर ब्रिटिश सरकार की इनायत थी और उसको तरह-तरह के इनाम मिले थे। असल में इस बात की ही ज़्यादा संभावना थी कि दुश्मन का साथ देनेवाले लोग ज़्यादातर वही होंगे जो ब्रिटिश राज्य का साथ दे रहे थे और उस राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का गला फाड़-फाड़कर ऐलान कर रहे थे। इस साथ देने के हुनर में वे बहुत मंज गये थे और अब ऊपरी ढांचा बदलने के बाद ठीक उसी ढंग से काम करने में उन्हें कोई मुश्किल नहीं होती। और बाद में अगर फिर ऊपरी ढांचा दुबारा बदलता तो वे फिर दुबारा बदल सकते थे ठीक उसी तरह जैसे यूरोप में उनकी नस्ल के आदमी कर रहे थे। जब ज़रूरत होती तो मित्र-समष्टि की नाकामयाबी से बढ़ी हुई ब्रिटिश-विरोधी भावनाओं का वे फ़ायदा उठा सकते थे। ऐसा ही और लोग भी करते मौक़ापरस्ती और ज़ाती फ़ायदे के लिए नहीं बल्कि और दूसरी प्रेरणाओं से। उसमें न चारों तरफ़ का ही ख़याल होता और न बड़े बड़े और अहम सवालों का। इन घटनाओं से हम भौंचक्के रह गये और हमें महसूस हुआ कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश नीति के लिए बरबस्ती और चुप-चाप सिर झुकाने से हर तरह के ख़तरनाक नतीजे हो सकते हैं और उससे यहां की जनता का पूरी तरह पतन होगा।

चारों तरफ़ काफ़ी हद तक यह ख़याल था कि अगर हमला हुआ और देश के पूरबी हिस्सों पर दुश्मन का क़ब्ज़ा हुआ तो दूसरी जगहों के ज़्यादातर हिस्सों में ब्रिटिश हुकूमत टूट जायेगी और उसके सबब से अराजकता फैल जायेगी। मलाया और बरमा में जो कुछ हुआ था वह हमारे सामने था। इस बात का शायद ही किसीको ख़याल था कि देश के बहुत बड़े हिस्से पर दुश्मन क़ब्ज़ा करेगा, चाहे लड़ाई उसके माफ़िक ही क्यों न हो। हिंदुस्तान बहुत बड़ा देश है और हम चीन में देख चुके थे कि विस्तार से एक

काम है। लेकिन विस्तार से काम उसी समय होता है जब उसका फ़ायदा उठाने के लिए पक्का इरादा हो और दबने या सिर झुकाने की जगह पूरी तरह रोकने की कोशिश हो। ज़ाहिरा विश्वसनीय ख़बरें थीं कि मित्र राष्ट्रों की हथियारबंद फ़ौजें शायद पीछे हटकर रक्षा के दूसरे मोर्चों पर डटेंगी। बड़े-बड़े हिस्से दुश्मन के क़ब्ज़े के लिए खुले छोड़ दिये जायेंगे हालांकि ज़्यादा मुमकिन यह था कि चीन की तरह दुश्मन शायद यहां भी क़ब्ज़ा न करे। इस तरह य सवाल उठे कि सिविल हुकूमत के ख़त्म होने के बाद इन हिस्सों में और दूसरे हिस्सों में इस हालत का मुक़ाबला कैसे किया जावे? जहांतक मुमकिन था हमने दिमाग़ी तौर से या और दूसरे तरीक़ों से इस संकट का सामना करने के लिए कोशिश की। हमने ऐसे मुक़ामी संगठनों को बनाया और बढ़ावा दिया जो काम कर सकते थे अमन रख सकते थे और साथ ही आक्रमणकारी को हर मुमकिन ढंग से रोकने के लिए ज़ोर दे सकते थे।

पिछले बहुत-से बरसों से चीनी किसलिए इतने ज़ोरों से लड़ रहे थे? और सबके मुक़ाबले म रूसी लोग और सोवियत संघ के लोग इतनी हिम्मत इतनी मज़बूती और इतने जी-जान से किसलिए लड़ रहे थे? और दूसरी जगहों म भी लोग बहादुरी से लड़ रहे थे क्योंकि उनको देशप्रेम की प्रेरणा थी हमले का डर था और उनमें अपनी जीवन-शैली को बनाये रखने की ख़्वाहिश थी। फिर भी रूस की लड़ाई के लिए जी-जान से कोशिश में और दूसरे देशों की कोशिश में एक फ़र्क़ मालूम होता था। दूसरे लोग भी हमले के मौक़े पर या दूसरे मौक़ों पर बड़े ज़ोरों से लड़े थे लेकिन संकट आने के कुछ ही बाद कोशिश में एक नैतिक शिथिलता आ गई है। ऐसा मालूम होता था कि भविष्य के बारे में लोगों के दिल में शक है। हां यह बात ज़रूर थी कि किसी-न-किसी तरह लड़ाई जीती जानी चाहिए। जहांतक सोवियत संघ का सवाल है वहां भविष्य और मौजूदा वक़्त दोनों के ही बारे में पूरा विश्वास है और न वहां कोई शक है न कोई विचार। (हां यह बात सच है कि वहां विचार को बढ़ावा नहीं दिया जाता)। कम-से-कम जो ख़बरें मिलती हैं उनसे रूस के बारे में यही अंदाज़ होता है।

लेकिन हिंदुस्तान में? मौजूदा हालत के लिए सख़्त नफ़रत थी और भविष्य भी अंधेरे में पूरी तरह भरा मालूम देता था। जनता में देश भक्ति की भावना को कोई प्रेरणा नहीं थी। सिर्फ़ हमले से हिफ़ाज़त की ख़्वाहिश थी। उसमें भी शायद तेज़ी नहीं थी। थोड़े-से लोगों की प्रेरणा

अंतर्राष्ट्रीय बातों को ध्यान में रखते हुए थी। इस सबके साथ विदेशी साम्राज्यवादी ताकत के हाथों शोषण के खिलाफ, कुचले जाने के खिलाफ और हुक्म पाने के खिलाफ नाराजी की भावनाएं भरी हुई थी। इस ढांचे में बुनियादी कमजोरी थी। इसमें सारी बातें एक स्वेच्छाचारी की इच्छा और सनक पर निर्भर थीं। आजादी सभी को प्यारी होती है और उन लोगों को तो खासतौर से जिनकी आजादी छिन गई है या जिनको आजादी छिनने का डर है। आज की दुनिया में आजादी पर बहुत-सी पाबंदियां हैं और उसके लिए कितनी ही शर्तें हैं। लेकिन जिनके पास आजादी नहीं है वे इन पाबंदियों का खयाल नहीं करते। आजादी उनका आदर्श बन जाती है यहांतक कि उसकी भूख इतनी जबरदस्त हो जाती है कि उस ख्वाहिश के लिए सब कुछ कुरबान किया जा सकता है। अगर कोई चीज इस इच्छा से मेल नहीं खाती या उसमें अड़चन डालती है, तो लाजिमी बात है कि उस चीज को नुकसान उठाना पड़ेगा। आजादी की ख्वाहिश को जिसके लिए हिंदुस्तान में बहुत-से लोगों ने मेहनत की थी और तकलीफें सही थी सिर्फ धक्का ही नहीं पहुंचा बल्कि ऐसा मालूम हुआ कि उसको गुजाइश भी पीछे हटकर किसी सुदूर धुंधले भविष्य में पहुंच गई है। असल में दुनिया की आजादी की लड़ाई में उस ख्वाहिश को जोड़ने और उसकी शक्ति के विस्तृत भंडार का हिंदुस्तान और दुनिया की आजादी और हिंदुस्तान की हिफाजत के लिए फायदा उठाने की जगह हिंदुस्तान को लड़ाई से अलहदा कर दिया गया था और उस सिलसिले में अब कोई उम्मीद नहीं थी। किसी भी जन-समूह को यहांतक कि दुश्मनों को भी नाउम्मीद छोड़ना कभी भी अक्लमंदी नहीं है।

हिंदुस्तान में कुछ ऐसे लोग भी थे जिनकी निगाह में यह लड़ाई लड़नेवाले देशों के राजनीतिज्ञों की छोटी-छोटी आकांक्षाओं से कहीं ज्यादा बड़ी चीज थी। उनको उसमें एक इन्कलाबी लड़ाई दिखाई दी। वे ऐसा महसूस करते थे कि उसका आखिरी नतीजा राजनीतिज्ञों के बयानों, शर्तनामों और फ़ौजी जीत से कहीं ज्यादा बड़ी चीज होगा और दुनिया में कहीं ज्यादा रद्दो-बदल होगी। ऐसे आदमी लाजिमी तौर से गिनती में बहुत थोड़े थे। दूसरे देशों की तरह यहां भी ज्यादातर लोगों का संकुचित दृष्टिकोण था। इसको वे अक्लमंदी कहते थे और उन पर तात्कालिक नतीजों का ज्यादा असर होता था। कुछ लोग जो मौकापरस्त थे उन्होंने अपने-आपको ब्रिटिश नीति के अनुकूल बना लिया और ५ उसके मुताबिक चलने लगे। अगर ब्रिटेन की जगह और किसीकी हुकूमत होती तो भी वे इसी

तरह साथ देते और उस हुकूमत की नीति के मुताबिक चलते। कुछ लोगों में इस नीति के खिलाफ बहुत जोरों की प्रतिक्रिया हुई। उनको ऐसा मालूम पड़ा कि इस नीति के आगे सिर झुकाने के मानी हिंदुस्तान या दुनिया के उद्देश्य के साथ विश्वासघात था। बहुत-से आदमी तो सिर्फ निष्क्रिय थे और खामोश थे—यह हिंदुस्तानियों की वही पुरानी कमी थी जिसके खिलाफ हम इतने अरसे से लड़े थे।

जिस वक्त हिंदुस्तान के दिमाग में द्वंद्व चल रहा था और नाउम्मीदी की भावना बढ़ रही थी गांधीजी ने कितने ही लेख लिखे जिनसे अचानक जनता के अस्पष्ट विचारों को एक नई दिशा मिली या जैसा अक्सर होता है जनता के अस्पष्ट विचारों को उन्होंने एक शक्ल दे दी। उस नाजुक *मौके पर निष्क्रियता या उस वक्त की घटनाओं के सामने चुपचाप सिर झुकाने* की बात उन्हें न रास्त नहीं हुई। इस हालत का मुकाबला करने के लिए सिर्फ यही रास्ता था कि हिंदुस्तान की आजादी को मंजूर कर लिया जाये। तब मित्र राष्ट्रों के सहयोग के साथ आजाद हिंदुस्तान हमले का मुकाबला करता। अगर यह मंजूरी नहीं मिलती तो मौजूदा ढांचे को चुनौती देने के लिए कुछ कार्रवाई करनी चाहिए और जनता को उस काहिली से जो उसे पंगु बना रही है और उसे हर तरह के हमले का शिकार बना रही है बचाना चाहिए।

इस मांग में कोई नई बात नहीं थी क्योंकि इसमें सिर्फ उसी बात को दुहराया गया था जो हम बराबर कहते आये थे लेकिन उनके लेखों और व्याख्यानों में एक नया जोश था और एक नई तेजी थी। और उनमें काम करने के लिए इशारा था। इसमें शक नहीं था कि उस वक्त हिंदुस्तान में जो भावना चारों तरफ छाई हुई थी उसे वह जाहिर करते थे। दोनों की आपसी लड़ाई में राष्ट्रीयता ने अंतर्राष्ट्रीयता पर जीत पाई और गांधीजी के नये लेखों ने सारे हिंदुस्तान में हलचल मचा दी। फिर भी इस राष्ट्रीयता का अंतर्राष्ट्रीयता से कभी भी विरोध नहीं था और वह भरसक कोशिश कर रही थी कि व्यापक हित से मेल खाने का कोई रास्ता निकल आये। लेकिन यह तभी मुमकिन था जब उसको इसके लिए एक सम्मानपूर्ण और प्रभावपूर्ण मौका मिले। दोनों के बीच में कोई बुनियादी झगड़ा नहीं था क्योंकि यूरोप की आक्रामक राष्ट्रीयता की तरह यहां की राष्ट्रीयता में दूसरों से छेड़खानी करने की कोशिश नहीं थी। यहां तो असली फायदे के लिए सहयोग की ही कोशिश थी। सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता के लिए राष्ट्रीय आजादी जरूरी और लाजिमी मालूम होती थी और इसलिए अंतर्राष्ट्रीयता के लिए

और फ़ासिस्टवाद और नात्सीवाद के खिलाफ़ मिलकर लड़ाई लड़ने के लिए उसको असली बुनियाद बताया गया। इस बीच में अंतर्राष्ट्रीयता जिसके बारे में इतना शोर मचाया जा रहा था साम्राज्यवादी शक्तियों की पुरानी नीति की तरह धब्बे से भरी हुई मालूम पड़ने लगी। बिल्कुल नई तो नहीं लेकिन हां कुछ हद तक उसकी पोशाक नई थी। असल में यह खुद आक्रामक राष्ट्रीयता थी जो साम्राज्य—कॉमनवेल्थ या संरक्षकता—के नाम पर अपनी इच्छा को दूसरों पर जबरदस्ती लादने की कोशिश करती थी।

इस नई तब्दीली से हममें से कुछ लोग परेशान हुए और विचलित हुए, क्योंकि कोई भी कार्रवाई फ़िज़ूल थी—अगर वह कारगर न हो। ऐसी कोई भी कार्रवाई लड़ाई की तैयारियों के रास्ते में लाज़िमी तौर से अड़चन होती क्योंकि इस वक्त खुद हिंदुस्तान पर हमले का खतरा था। गांधीजी के आम नज़रिये में कुछ खास अंतर्राष्ट्रीय बातों को छोड़ दिया गया था और ऐसा मालूम होता था कि उसकी बुनियाद राष्ट्रीयता के संकरे घेरे में है। लड़ाई के तीन साल के दौरान में हमने जान-बूझकर परेशान न करने की नीति को अपनाया था और जो कुछ भी कार्रवाई हमने की थी वह विरोध जता देने भर के लिए थी। जब १९४०-४१ में हमारे यहां के तीस हज़ार खास-खास मर्द और औरत जेल भेज दिये गये तो प्रतीक रूप विरोध का पैमाना बहुत बढ़ गया। लेकिन यह जेल जाना भी एक खासी मामला था जिसको चुने हुए आदमी कर रहे थे। इसमें जनता को उभारने और सरकारी मशीन के काम में खुली छेड़-छाड़ का कोई इरादा न था। हम उसको दुहरा नहीं सकते थे। अगर हमें कुछ और करना था तो वह कार्रवाई दूसरे ढंग की होती और ज़्यादा कारगर पैमाने पर होती। क्या इससे लड़ाई के काम में जो हिंदुस्तानी सरहद पर ही थी कोई खलल न पड़ता और क्या इससे दुश्मन को बढ़ावा न मिलता?

ज़ाहिरा मुश्किलें थीं, और इस सिलसिले में हमने गांधीजी से विस्तार-पूर्वक बहस की। लेकिन हम एक-दूसरे की राय न बदल सके। मुश्किलें थीं और सक्रियता और निष्क्रियता दोनों ही में खतरा या जोखिम थी। अब सवाल उनमें समतौल जाने का था और उनमें से कम बुरी चीज़ को छांटना था। हमारी आपसी बहस से बहुत सी चीज़ें जो पहले धुंधली थीं अनिश्चित थीं अब साफ़ हो गईं और हमारे ध्यान दिलाने पर गांधीजी ने कई अंतर्राष्ट्रीय पेचों को मान लिया। उनके बाद के लेख बदले और उन्होंने खुद इन अंतर्राष्ट्रीय पक्षों पर ज़ोर दिया और हिंदुस्तान

के सवाल पर ज्यादा व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए सोचा। लेकिन उनका बुनियादी रुख बरकरार बना रहा। हिंदुस्तान में ब्रिटिश स्वेच्छाचारी और कुचलनेवाले शासन के सामने चुपचाप सिर झुकाना उन्हें मंजूर नहीं था और उसको चुनौती देने के लिए उनकी बहुत [illegible] थी। उनके लिहाज से उस वक्त सिर झुकाने के मानी ये थे कि हिंदुस्तान की आत्मा टूट जायेगी और लड़ाई की चाहे जो शक्ल हो और उसका चाहे जो नतीजा हो उसकी जनता गुलामों की तरह काम करेगी और बहुत बरसों तक उसे आजादी हासिल नहीं होगी। साथ ही उसके मानी ये होते कि आक्रमणकारी का भी विरोध नहीं होगा और उसके सामने सिर झुका दिया जायेगा और यह तो उस वक्त भी होता जब एक अस्थायी फौजी हार हुई हो या कुछ वक्त के लिए पीछे हटकर नया मोर्चा बनाया गया हो। इसके मानी ये होते कि जनता की पूरी-पूरी नैतिक गिरावट होती और पिछली एक चौथाई सदी से आजादी की लड़ाई बराबर लड़ते हुए जो ताकत जनता ने हासिल की थी वह उसे भी खो देती। इसके मानी ये भी होते कि दुनिया हिंदुस्तान की आजादी की मांग को भूल जायेगी और लड़ाई के बाद समझौते में पुरानी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों का ही खास असर होगा। हिंदुस्तान की आजादी के वह जी-जान से इच्छुक थे। उनके लिए हिंदुस्तान मात्र प्यारी जन्मभूमि से भी कहीं ज्यादा बड़ी चीज थी। दुनिया की सारी सताई हुई और गुलाम जनता का हिंदुस्तान एक प्रतीक था और वह ही एक ऐसी अचूक कसौटी था जिस पर किसी भी सारी दुनिया के ताल्लुक रखनेवाली नीति की सही जांच हो सकती थी। अगर हिंदुस्तान गुलाम रहता तो सारी नौआबादियां और गुलाम देश भी अपनी मौजूदा गुलामी की हालत में बने रहते और तब तो यह लड़ाई बिलकुल ही बेकार लड़ी गई होती। यह जरूरी था कि लड़ाई की नैतिक बुनियाद को बदल दिया जाये। फौजें समुद्री बेड़े और हवाई फौज अपने-अपने दायरे में काम करती और हिंसा के बेहतर तरीकों से लड़ाई जीत सकती थी लेकिन उस जीत का आखिर क्या नतीजा? और इसके अलावा नये हथियारोंवाले युद्ध में भी नैतिक सहारे की जरूरत होती है। क्या नेपोलियन ने नहीं कहा था कि लड़ाई में 'नैतिक और भौतिक पहलुओं में तीन और एक का अनुपात है'? दुनिया भर के करोड़ों गुलाम और गरीब [illegible] यह भरोसा और यह यकीन कि यह लड़ाई आजादी के लिए है [illegible] नैतिक [illegible] या खुद लड़ाई के संकरे नजरिये से भी बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण होता और उसका उससे भी ज्यादा महत्त्व

आनेवाली शांति के लिए होता। इसी बात से कि लड़ाई की गति में एक संकट उठ खड़ा हुआ था यह जरूरत जाहिर होती थी कि उसकी नीति और इस नजरिये में तब्दीली होनी चाहिए और इन करोड़ों सुस्त और शक से भरे लोगों को जोश के साथ मदद देनेवाला बना लेना चाहिए। अगर यह जादू हो जाता तो धुरी राष्ट्रों की सारी फ़ौजी ताक़त बेकार रहती और उनका पतन निश्चित हो जाता। ग़ैर धुरी-राष्ट्रीय देशों के बहुत-से लोगों पर दुनिया-भर में जागी हुई इस जोरदार भावना का असर होता।

जनता की काहिली से भरी इस निष्क्रियता को मुक़ाबले की सिर न झुकाने की भावना में बदल देना हिंदुस्तान में एक बहुत अच्छी बात होती। हालांकि चुपचाप सिर न झुकाने की बात ब्रिटिश अधिकारियों के मनमाने हुक्म के खिलाफ़ शुरू होती लेकिन आगे चलकर उसे आक्रमणकारी के मुक़ाबले के लिए बरता जा सकता था। एक के सामने गुलामी और दब्बूपन से दूसरे के सामने भी वही फिसलाहट और बेहरकती की हालत होती।

इन सब दलीलों को हम जानते थे। हम उनमें विश्वास करते थे और अकसर उनसे हमने काम किया था। लेकिन बड़े दुख की बात तो यह थी कि ब्रिटिश सरकार ने यह जादू नहीं चलने दिया यहांतक कि सिर्फ़ लड़ाई के दौरान के लिए भी हिंदुस्तान की समस्या को सुलझाने की हमारी सारी कोशिशें नाकामयाब रहीं और लड़ाई के उद्देश्यों का ऐलान करने की हमारी सारी प्रार्थनाएं भी नामंजूर हुईं। यह बात तय थी कि इस ढंग की कोशिश आगे भी नाकामयाब रहेगी। तब क्या हो? अगर यह एक संघर्ष होता तो चाहे नैतिक और दूसरी बुनियादों से वह कितना ही न्याय्य क्यों न हो इसमें कोई शक नहीं था कि हिंदुस्तान की लड़ाई की कोशिश में और वह भी खासतौर से ऐसे वक़्त में जब हमले का बहुत बड़ा खतरा हो वह संघर्ष बहुत ज्यादा गड़बड़ करता। इस तथ्य को हम भूला नहीं सकते थे। और फिर भी एक अजीब-सी बात है, इसी खतरे की ही वजह से तो हमारे दिमाग में यह संकट उठा था। हमारे देश में अदलबदल होती और वे लोग जिनको हम अयोग्य समझते थे और जो अवसर के अनुरूप सार्वजनिक विरोध के संगठन का भारी बोझ संभालने के बिल्कुल भी क़ाबिल नहीं थे हमारे देश को बरबाद करते। हम इस सबके लिए सिर्फ़ एक तमाशबीन की तरह चुप नहीं रह सकते थे। अपनी सारी दबी भावना और दबे जोश के लिए हमको एक निकास की कुछ सक्रियता की जरूरत थी।

गांधीजी की उम्र बढ़ रही थी वह सत्तर से ऊपर थे। एक लंबी और

बराबर काम-काजी मेहनत-भरी जिंदगी—शारीरिक और मानसिक काम-काज से भरी हुई जिंदगी—ने उनके बदन को कमजोर बना दिया था। लेकिन अब भी वह काफी मजबूत थे और ऐसा महसूस करते थे कि अगर उस वक्त की हालतों के सामने उन्होंने सिर झुका दिया और अगर अपनी ज्यादा-से-ज्यादा कीमती चीज को सत्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने कोई कार्रवाई नहीं की तो उनकी सारी जिंदगी की कमाई मिट्टी में मिल जायेगी। हिंदुस्तान की और दूसरे सताये हुए राष्ट्रों और समुदायों की आजादी के लिए उनके प्रेम ने उनकी अहिंसा की दृढ़ निष्ठा को जीता। एक पहले मौके पर बहुत हिचकिचाते हुए, बिल्कुल बेमन से उन्होंने कांग्रेस को इस बात की मंजूरी दी थी कि प्रतिरक्षा के मामले में या राज्य के मामलों में किसी विकट परिस्थिति में अहिंसा की नीति को छोड़ा जा सकता था। लेकिन वह खुद उससे अलग थे। उन्होंने ऐसा महसूस किया कि इस मामले में हिचकिचाहट से ब्रिटेन या संयुक्त राष्ट्रों के साथ समझौते में भी बाधा पड़ सकती है। इसलिए वह आगे बढ़े और अपने-आप उन्होंने कांग्रेस का एक प्रस्ताव तैयार किया। इसमें ऐलान किया गया कि अस्थायी आजाद हिंद सरकार का सबसे पहला काम यह होगा कि वह आजादी की लड़ाई के लिए और हमले के खिलाफ अपने सारे साधनों को लगा दे और हथियारबंद फ़ौज या हर मुमकिन संगठन से हिंदुस्तान की हिफाजत के लिए संयुक्त राष्ट्रों का पूरा-पूरा साथ दे। उनके लिए अपने-आपको इस तरह सौंप देना कोई आसान चीज नहीं थी लेकिन फिर भी उन्होंने इस कड़वी गोली को निगला। उसकी वजह यह थी कि किसी तरह समझौते पर पहुंचकर हिंदुस्तान को एक आजाद कौम की तरह हमले का मुकाबला करने के लिए तैयार करने की उनकी प्रबल इच्छा में अब सब-कुछ समा गया था।

बहुत-से आपसी सैद्धांतिक भेद जो हममें से कुछको गांधीजी से अलहदा किये हुए थे अब मिट गये। फिर भी सबसे बड़ी मुश्किल अभी बाकी थी। हमारी किसी भी कार्रवाई से लड़ाई की तैयारियों में गड़बड़ी होगी। हमें आश्चर्य होता था कि गांधीजी अब भी इस यकीन से चिपटे हुए थे कि ब्रिटिश सरकार से समझौता मुमकिन है और उन्होंने कहा कि इसके लिए वह अपनी भरसक कोशिश करेंगे। और इस तरह अगरचे वह काम के बारे में बहुत बातें कह रहे थे फिर भी न तो उस काम की उन्होंने कोई रूपरेखा ही बनाई और न यही बताया कि वह क्या करना चाहते हैं।

हम इन चीजों पर बहस ही कर रहे थे और ताक कर रहे थे कि देश का मिजाज बदल गया। लापरवाही से भरी निष्क्रियता की जगह उसमें

उत्तेजना और उम्मीदें आ गई। घटनाएं कांग्रेस के फ़ैसले और प्रस्ताव का इंतज़ार नहीं कर रही थीं। गांधीजी की बातों से वे आगे बढ़ गई थीं और अब उनका ख़ुद का बहाव उन्हें आगे बढ़ाये ले जा रहा था। यह बात ज़ाहिर थी कि चाहे गांधीजी सही हों या ग़लत उन्होंने जनता के उस वक़्त के मिज़ाज को एक रूप-रेखा दे दी है। उसमें एक लाचारी भरी हुई थी और उसमें एक ऐसी भावुकता का ज़ोर था कि तर्क दलील ठंडे दिमाग़ से सोच-विचार या काम के नतीजे का ख़ास ख़याल नहीं था। उन नतीजों को आंखों से ओझल नहीं किया गया था। यह महसूस किया जाता था कि चाहे कुछ हासिल हो या न हो इन्सानी तकलीफ़ की शक्ल में बहुत भारी क़ीमत चुकानी होगी। लेकिन रोज़ाना दिमाग़ की हद दर्जे की परेशानी की शक्ल में जो क़ीमत देनी पड़ रही थी वह भी बहुत ज़्यादा थी और उससे छुटकारे की कोई उम्मीद नहीं थी। दुर्भाग्य के सामने चुपचाप सिर झुकाने की बनिस्बत यह ज़्यादा बेहतर था कि अनिश्चितता के बड़े समुंदर में कूद पड़ा जाये। यह कोई राजनीतिज्ञों का फ़ैसला नहीं था यह तो उस जनता का था जो लाचार हो चुकी थी और अब जिसे नतीजों की परवाह नहीं थी। फिर भी हमेशा दलील का अपना असर था। आपस में विरोध रखनेवाली भावनाओं के बीच से रास्ता निकालने की कोशिश थी ताकि मानव-स्वभाव की बुनियादी विषमताओं में कोई संतुलन हो सके। लड़ाई काफ़ी लंबी होती और कितने ही बरसों तक जारी रहती। कितने ही बार विनाश हो चुका था और आगे और भी ज़्यादा होता। लेकिन इस सबके होते हुए भी लड़ाई जारी रहती जबतक ख़ुद वह जोश ही ख़त्म न हो जाता जिसने इस लड़ाई को शुरू किया और अब जिस जोश को लड़ाई ने बढ़ा दिया था। लड़ाई में इस बार अधूरी कामयाबी नहीं होनी चाहिए थी। अक्सर ना-कामयाबी से अधूरी कामयाबी ज़्यादा तकलीफ़ देती है। लड़ाई की दिशा सिर्फ़ फ़ौजी-क्षेत्र में ही ग़लत नहीं थी बल्कि उससे भी ज़्यादा ग़लती उन बुनियादी उद्देश्यों में थी जिनके लिए लड़ाई लड़ी जा रही थी। शायद हमारी कार्रवाई से इस पिछली ग़लती की तरफ़ दुनिया का ध्यान जाता और शायद उसमें एक नई और वांछित दिशा में तब्दीली होती और चाहे फ़ौरन सफलता न मिलती लेकिन आगे चलकर मक़सद की हिफ़ाज़त होती और इस तरह भविष्य में फ़ौजी काम में भी बहुत भारी मदद मिलती।

अगर एक तरफ़ जनता का मिज़ाज बिगड़ रहा था तो दूसरी तरफ़ सरकार का भी मिज़ाज बिगड़ रहा था। उसके लिए किसी भावुकता की

या किसी मजबूरी की जरूरत नहीं थी। यह तो उसकी आदत थी और इसी ढंग से सरकार काम करती थी। किसी गुलाम देश पर क़ब्ज़ा करने के बाद विदेशी हुकूमत का यही ढंग होता है। ऐसा महसूस होता था कि दिल से वह एक ऐसा मौका चाहती थी कि हमेशा के लिए देश में विरोध की हिम्मत करनेवालों को कुचल दिया जाये। और इसके लिए उसने बाक़ायदा तैयारी की।

घटनाएं होती रहीं। फिर भी अजीब-सी बात थी कि गांधीजी ने, जो हिंदुस्तान की इज्ज़त बचाने के लिए और उसकी आजादी के अधिकार पर जोर देने के लिए (जिससे वह एक आज़ाद राष्ट्र की तरह लड़ाई में हमले के खिलाफ पूरा सहयोग दे सके) किसी-न-किसी कार्रवाई के लिए कह रहे थे, यह बात नहीं बताई कि वह कार्रवाई किस ढंग की हो। शांतिपूर्ण तो वह होनी ही, लेकिन उसके आगे? उन्होंने ब्रिटिश सरकार से समझौते की संभावना पर ज्यादा जोर दिया। उन्होंने अपना यह इरादा जाहिर किया कि वह फिर सरकार से इस मामले पर बातचीत शुरू करेंगे और कोई-न-कोई रास्ता निकालने की भरसक कोशिश करेंगे। आल इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक की उनकी आखिरी स्पीच में समझौते के लिए दिली ख़्वाहिश थी और इस मामले में वाइसराय से मिलने का उनका पक्का इरादा जाहिर किया गया था। न तो सार्वजनिक रूप में और न आपसी बातचीत में ही उन्होंने कांग्रेस-कार्यसमिति को यह बताया कि उनके दिमाग में किस ढंग की कार्रवाई का खयाल था। सिर्फ [illegible] बात उन्होंने जाहिर की। बातचीत में उन्होंने इशारा किया था कि समझौते के नाकामयाब होने पर किसी ढंग के असहयोग की विरोध में एक दिन की हड़ताल की, देश में सारे काम-काज को रोकने की [illegible]। [illegible] वह एक दिन के लिए आम हड़ताल होगी और [illegible] विरोध का प्रतीक होगा। यह भी एक धुंधला-सा इशारा था और [illegible] विस्तार में कुछ नहीं कहा। जबतक समझौते की [illegible] वह आगे कोई योजना भी नहीं बनाना [illegible] और न कांग्रेस-कार्यसमिति में ही कोई [illegible] सार्वजनिक रूप में और न आपसी तौर पर। [illegible] परिस्थिति के लिए तैयार [illegible] शांतिपूर्ण और अहिंसा [illegible]।

[illegible] इस विरुद्ध [illegible] गांधीजी की अब भी

उम्मीद थी लेकिन उनके अलावा और बहुत थोड़े-से ही लोग थे जिन्हें अब उम्मीद बाक़ी बची थी। घटनाओं के बहाव से और सारे चढ़ाव-उतारों से यह बात लाजिमी मालूम होती थी कि झगड़ा होगा। जब ऐसी हालत आ जाती है, तो बीच की जगह का कोई महत्त्व नहीं रहता और हर आदमी को यह तय कर लेना पड़ता है कि उसे किस तरफ़ रहना है। कांग्रेसियों के लिए या उन लोगों के लिए, जो इसी ढंग से सोचते थे तय करने का कोई सवाल ही न था। यह बात तो सोची भी नहीं जा सकती थी कि जब सरकार अपनी पूरी ताक़त से जनता को कुचलने की कोशिश करे, तब हममें से कुछ लोग अलग खड़े हुए तमाशा देखते रहें। यह तो ऐसी लड़ाई थी जिसमें हिंदुस्तान का आज़ादी का सवाल मिला हुआ था। हां, बहुत-से ऐसे लोग हैं जो सहानुभूति के होते हुए भी एक तरफ़ खड़े रहते हैं। अपनी पिछली कार्रवाइयों के नतीजे से अपने-आपको बचाने की ऐसी कोई भी कोशिश किसी भी मशहूर कांग्रेसी के लिए शर्म और बेइज्जती की बात होती। लेकिन इसके अलावा भी उनके सामने रास्ता तय करने का कोई सवाल नहीं था। हिंदुस्तान के सारे पुराने इतिहास ने उसकी मौजूदा तकलीफ़ ने भविष्य की आशा ने उनको आगे बढ़ाया और उनके लिए एक ही रास्ता रह गया। "गुज़रे वक़्त पर गुज़रे वक़्त की तह अपने-आप बराबर जमती जाती है" —यह बात बर्गसन ने अपने 'क्रिएटिव इवोल्यूशन' में कही है। साथ ही असल में भूतकाल तो स्वयं अपनी रक्षा करता है। पूरे मानों में तो वह हर मिनट हमारा पीछा करता है। बेशक अपने भूतकाल के थोड़े से हिस्से को ही ध्यान में रखकर हम सोचते हैं। इसमें हमारी आत्मा की मन वचन और कर्म की बुनियादी प्रवृत्ति भी शामिल होती है।

बंबई में ७ और ८ अगस्त १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने खुली सभा में उस प्रस्ताव पर, जो अब 'भारत-छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से मशहूर है, बहस की और सोच-विचार किया। वह एक लंबा और विशद प्रस्ताव था "खुद हिंदुस्तान और संयुक्त राष्ट्रों के मक़सद की कामयाबी की ख़ातिर" हिंदुस्तान की आज़ादी की फ़ौरन मंज़ूरी और भारत में ब्रिटिश हुकूमत के ख़ात्मे के लिए एक तर्कसंगत दलील था। 'इस हुकूमत का जारी रहना हिंदुस्तान को गिरा और कमज़ोर कर रहा है और उसे दिन-ब-दिन अपनी हिफ़ाज़त करने और दुनिया की आज़ादी के मक़सद में साथ देने में असमर्थ बनाता जा रहा है। 'साम्राज्य पर अधिकार से शासक शक्ति की ताक़त नहीं बढ़ी बल्कि वह उसके लिए एक बोझ और एक अभिशाप हो गया है। हिंदुस्तान जो आधुनिक साम्राज्य का ख़ास शिकार है, अब

इस सवाल की कसौटी बन गया है। हिंदुस्तान की आज़ादी से ही ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों की जांच होगी। इसीसे एशिया और अफरीका के लोगों में उम्मीद और जोश आ सकता है। प्रस्ताव में यह सलाह दी गई कि अस्थायी सरकार की स्थापना हो जो मिली-जुली होगी और जिसमें जनता के सभी खास दलों और वर्गों के प्रतिनिधि होंगे। इस सरकार का "सबसे पहला काम यह होगा कि मित्र शक्तियों से मिलकर, अपनी सारी हथियारबंद फ़ौजों और गैर-हथियारबंद ताक़तों का प्रयोग करके हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त की जाये और हमले को रोका जाये। यह सरकार विधान बनानेवाली सभा की योजना तैयार करेगी और यह सभा हिंदुस्तान की जनता के सभी समुदायों को मान्य एक विधान बनायेगी। विधान संघीय होगा और संघ में शामिल होनेवाले हिस्सों को ज़्यादा-से-ज़्यादा स्वायत्तता होगी और कुछ खास बातों को छोड़कर सारे अधिकार उन हिस्सों की सरकारों को होंगे। आज़ादी हिंदुस्तान को इस योग्य बना देगी कि जनता के दृढ़ निश्चय और उसकी शक्ति के साथ वह हमले का प्रभावपूर्ण ढंग से मुक़ाबला कर सके।

हिंदुस्तान की आज़ादी दूसरी एशियाई क़ौमों की आज़ादी का प्रतीक और पेशख़ेमा होगी। इसके अलावा आज़ाद क़ौमों के एक दुनिया भर के संघ का प्रस्ताव था जिसकी शुरुआत संयुक्त राष्ट्रों से हो सकती थी।

कमेटी ने कहा कि वह 'चीन और रूस की हिफ़ाज़त के हक़ में किसी तरह परेशानी न पैदा करने के लिए उत्सुक है। उनकी आज़ादी बहुमूल्य है, और उसे बनाये रखना है। और कमेटी संयुक्त राष्ट्रों की हिफ़ाज़त की ताक़त को छिन्न-भिन्न न करने के लिए भी उत्सुक है। (उस वक्त चीन और रूस के लिए सबसे ज़्यादा ख़तरा था।) "लेकिन हिंदुस्तान के लिए और इन राष्ट्रों के लिए ख़तरा बढ़ता जा रहा है। इस मौक़े पर निष्क्रियता और विदेशी हुकूमत के सामने सिर झुकाना हिंदुस्तान के लिए सिर्फ़ बेइज़्ज़ती ही नहीं है, बल्कि उससे अपनी रक्षा के लिए उसकी सामर्थ्य घट रही है और न तो यह दब्बूपन उस ख़तरे का ही जवाब है और न इससे संयुक्त राष्ट्रों की जनता की ही सेवा हो सकती है।

कमेटी ने दुनिया की आज़ादी के हित में फिर ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्रों से अपील की। लेकिन (और यहां प्रस्ताव की खास चोट थी) 'अब कमेटी साम्राज्यवादी और स्वेच्छाचारी सरकार के खिलाफ़ अपने अधिकार के लिए दबाव डालने की राष्ट्र की प्रवृत्ति को रोकना न्यायसंगत नहीं समझती। यह सरकार उस पर क़ब्ज़ा किये हुए है और उसको अपने

और सारी दुनिया के फ़ायदे में काम करने से रोकती है। इसलिए हिंदुस्तान की आज़ादी के निर्विवाद अधिकार की पुष्टि के लिए कमेटी इस बात की इजाज़त देना तय करती है कि गांधीजी के लाज़िमी नेतृत्व में अहिंसात्मक ढंग से एक व्यापक संघर्ष शुरू किया जाये। यह इजाज़त उसी वक़्त लागू होगी जब गांधीजी ऐसा फ़ैसला करते। आख़िर में कमेटी ने कहा कि वह कांग्रेस के लिए ताक़त नहीं हासिल करना चाहती है। जब ताक़त आयेगी तो वह हिंदुस्तान की सारी जनता की होगी।

अपने आख़िरी व्याख्यानों में कांग्रेस-सभापति मौलाना अबुल कलाम आज़ाद और गांधीजी ने यह साफ़ कर दिया कि उनका अगला क़दम वाइसराय से जो ब्रिटिश सरकार के गुमाश्ता हैं, मिलना है। इसके अलावा ख़ास-ख़ास संयुक्त राष्ट्रों के सबसे बड़े पदाधिकारियों से अपील की जायेगी कि एक सम्मानपूर्ण समझौता हो। इससे हिंदुस्तान की आज़ादी को मंज़ूर करने के साथ-साथ हमलावर धुरी राष्ट्रों के ख़िलाफ़ संयुक्त राष्ट्रों की लड़ाई का मक़सद भी आगे बढ़ेगा।

८ अगस्त १९४२ को काफ़ी रात गये यह प्रस्ताव आख़िरी तौर पर मंज़ूर हुआ। चंद घंटों बाद, ९ अगस्त को सुबह बंबई में और देश में और दूसरी जगहों से बहुत-सी गिरफ़्तारियां हुईं। और इस तरह हम अहमदनगर के क़िले में आये।

# १०

# फिर अहमदनगर का क़िला

## १ घटनाओं का क्रम

**अहमदनगर का क़िला, तेरह अगस्त, उन्नीस सौ चवालीस**

हमें यहां आये हुए दो साल हो गये। एक सपने-सी ज़िंदगी के ये दो साल एक ही जगह बीते हैं—वही गिने-चुने आदमी, वही छोटा-सा पड़ोस, वही रोज़मर्रा का ढर्रा। भविष्य में किसी वक़्त हम इस सपने से जग पड़ेंगे और ज़िंदगी और काम-काज की बड़ी दुनिया में जायेंगे और वह दुनिया हमको बदली हुई मिलेगी। आदमी और चीज़ें नई-सी मालूम पड़ेंगी। हमको फिर उनकी याद आयेगी, पिछली स्मृतियां जगेंगी, लेकिन फिर भी वे चीज़ें पहले-जैसी न होंगी और न हम ही पहले-जैसे होंगे और शायद उनसे मेल खाना हमारे लिए मुश्किल हो। तब किसी वक़्त हमको ताज्जुब हो सकता है कि कहीं यह अनुभव और रोज़मर्रा की ज़िंदगी ख़ुद एक नींद और सपना तो नहीं है और शायद हम अचानक उस नींद और सपने से जाग पड़ें। इन दोनों में कौनसी हालत जगने की है और कौनसी सपने की? क्या ये दोनों ही सच हैं, क्योंकि हमको उनका पूरी तरह अनुभव होता है और हम पर उनका असर होता है, या इन दोनों में ही कोई असलियत नहीं है और ये दोनों ही सपने हैं, जो आते हैं और जाते हैं और उनके पीछे धुंधली-सी याद बाक़ी रह जाती है?

जेल और उसके अकेलेपन और बेकारी की वजह से सोच-विचार की तरफ़ झुकाव होता है और ज़िंदगी की ख़ाली जगह को अपनी ज़िंदगी और इन्सान के काम-काजों के इतिहास के लंबे सिलसिले की पिछली स्मृतियों से भरने की ख़ाहिश होती है। इस तरह पिछले चार महीनों में लिखने के दौरान में मैंने अपने दिमाग़ को हिंदुस्तान के पिछले तसव्वुरों और पिछले इतिहास पर रखा है और विचारों के झुंड में से, जो मेरे दिमाग़ में आया, मैंने कुछ विचारों को छांट लिया और उनसे एक किताब तैयार कर दी। जो कुछ मैंने लिखा है, उस पर नज़र डालते हुए ऐसा महसूस होता है कि वह अधूरा है, असंगत है और उसमें कोई गहराई नहीं है और उसमें बहुत-सी चीज़ों

का मिश्रण है। उसमें अपने नज़रिये की बहुत अहमियत है और इसकी वजह से सारी बातों में उसकी झलक दिखाई पड़ती है, हालांकि इरादा तो यह था कि सारी बातें एक विश्लेषण के रूप में होतीं और उसमें सारी चीज़ों को ज्यों-का-त्यों रख दिया जाता। यह व्यक्तिगत मात्रा बहुत दूर तक मेरी इच्छा के ख़िलाफ़ अपने-आप आ गया है। अक्सर मैंने उसे रोकने की कोशिश की और उसे रोक रखा लेकिन कभी-कभी मैंने लगाम ढीली कर दी और उसे अपनी क़लम से बाहर आने दी और कुछ दूर तक अपने दिमाग़ का प्रतिबिंब डालने की इजाज़त दी।

गुज़रे ज़माने के बारे में लिखकर मैंने अपने-आपको गुज़रे ज़माने से आज़ाद करने की कोशिश की है। लेकिन मौजूदा वक़्त अपनी सारी उलझनों और बेतरतीबियों के साथ ज्यों-का-त्यों बना रहता है उसी तरह यह अंधियारा भविष्य है, जो सामने है और इन दोनों का बोझ गुज़रे वक़्त के बोझ से कुछ कम नहीं है। घुमक्कड़ दिमाग़ को कहीं ठहरने की जगह नहीं मिलती और इसी वजह से यह अब भी बेचैनी से इधर-उधर घूम रहा है और इससे उसके मालिक को और दूसरे लोगों को तकलीफ़ होती है। इन अछूते दिमाग़ों से जिन पर विचारों का हमला नहीं हुआ और जिन पर शक की छाया नहीं पड़ी है और न कोई रेखा ही अंकित हुई है और जो किसी तरह मैले नहीं हुए हैं एक तरह की ईर्ष्या होती है। कभी-कभी होनेवाली ज़िंदगी की चोट और दर्द के बावजूद, उनके लिए ज़िंदगी कितनी आसान है!

एक के बाद दूसरी बातें होती हैं और घटनाओं का अनंत और बेरोक प्रवाह जारी रहता है। किसी ख़ास घटना को समझने के लिए हम उसको अलग कर लेते हैं और सिर्फ़ उसीको देखते हैं मानो यही आदि और अंत दोनों हो और उससे ठीक पहले की किसी बात का नतीजा हो। फिर भी उसका शुरू का कोई सिरा नहीं है, और वह एक अनंत क्रम में सिर्फ़ एक कड़ी है। और वह तो पहले की सारी बातों का नतीजा है और अनगिनत आदमियों के इरादों इच्छाओं और झुकावों का आख़िरी नतीजा है। ये इरादे, इच्छाएं और झुकाव आपस में लड़ते हैं साथ देते हैं और उनसे एक ऐसी बिल्कुल नई चीज़ बनती है, जो किसी भी आदमी की चाही हुई चीज़ से अलग होती है लेकिन साथ ही जो उन सबकी इच्छाओं वग़ैरह का मिला जुला नतीजा है। इन इच्छाओं इरादों और झुकावों पर खुद बहुत-सी पहली घटनाओं और पहले अनुभवों की पाबंदियां लगी हैं और यह नई घटना खुद भविष्य पर पाबंदियां लगायेगी। खुशकिस्मत आदमी या ऐसा नेता जो बहुत लोगों पर असर डालता है इस क्रम में निस्संदेह एक बहुत बड़ा हिस्सा लेता

हैं लेकिन वह खुद भी पिछली घटनाओं और पिछली ताकतों की उपज है और खुद उसके असर पर उनकी पाबंदियां लगी हुई हैं।

## २　दो पृष्ठभूमियां　हिंदुस्तानी और ब्रिटिश

हिंदुस्तान में अगस्त १९४२ की सारी घटनाएं अचानक ही नहीं हुई, बल्कि वे पिछली सारी घटनाओं का नतीजा थीं। इनके बारे में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है—कुछ हमले की शक्ल में कुछ नुक्ताचीनी की शक्ल में और कुछ बचाव और सफ़ाई के रूप में। फिर भी इन लेखों में बहुत हद तक असलियत छूट-सी गई है। उसकी वजह यह है कि इन लेखों में एक चीज़ को सिर्फ़ राजनैतिक पहलू से देखा गया है, जबकि यह चीज़ राजनीति से कहीं ज्यादा गहरी है। इसके पीछे यह ज़ोरदार भावना थी कि अब आगे विदेशी मनमाने राज्य में रहना या उस राज्य को बरदाश्त करना मुमकिन नहीं है। इसके सामने और सारे सवाल फीके पड़ गये। ऐसे सवाल कि इस राज्य के अंदर किसी दिशा में कोई सुधार या कोई तरक्की संभव है या नहीं या चुनौती का नतीजा कहीं ज्यादा खतरनाक और नुकसानदेह न हो अब बेमानी हो गये। सिर्फ़ इस राज्य से छुटकारा पाने की बहुत ज़ोरदार ख्वाहिश थी और उस छुटकारे के लिए कोई भी कीमत दी जा सकती थी। सिर्फ़ यही भावना थी कि और चाहे जो कुछ हो यह राज्य अब बरदाश्त नहीं किया जा सकता।

इस भावना में कोई नया अनुभव नहीं था यह कितने ही सालों से थी। लेकिन पहले इसे कई ढंग से रोका रखा गया था और घटनाओं के मुताबिक उस पर क़ाबू रखा गया था। लड़ाई के खुद भी असर हुए—एकाएक भी हुई निकास भी मिला। उससे बड़ी-बड़ी घटनाओं और इनक़लाबी तब्दीलियों के लिए हमारे दिमाग खुल गये। निकट भविष्य में अपनी उम्मीदों के पूरे होने की संभावना दिखाई दी। मदद करने की ख्वाहिश की वजह से और कम से-कम बुरी राष्ट्रों के खिलाफ़ लड़ाई में कोई अड़चन न डालने की वजह से बहुत-से ऐसे कामों पर रोक लग गई, जिन्हें हम करते।

लेकिन ज्यों-ज्यों लड़ाई आगे बढ़ी यह बात दिन-ब-दिन ज्यादा साफ़ होती गई कि पच्छिमी लोकतंत्री सरकारें किसी उलट-बदल के लिए नहीं लड़ रही थीं बल्कि वे पुराने ढर्रे को ही बनाये रखना चाहती थीं। लड़ाई से पहले उन्होंने फ़ासिस्तवाद को खुश करने की कोशिश की थी सिर्फ़ नाज़ियों के डर की ही वजह से नहीं बल्कि कुछ हद तक एक-से आदर्श होने के नाते आपसी हमदर्दी की वजह से और इसके दूसरी तरफ़ जो मुमकिन रास्ते थे वे उन्हें सख्त नापसंद थे। नात्सी और फ़ासिस्त मत कुछ अचानक ही नहीं पैदा

हुए । यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी वजह इतिहास का संयोग है । पिछली घटनाओं के ताने की वजह से यानी साम्राज्यवाद के बढ़ाव से जातीय भेद-भाव से राष्ट्रीय संघर्षों से ताक़त के केंद्रीकरण से वैज्ञानिक प्रणालियों की ऐसी तरक्क़ी से जिसको समाज के ढांचे में फलने-फूलने की जगह नहीं मिली लोकतंत्री आदर्श और उसके ख़िलाफ़ समाज के ढांचे की आपसी लड़ाई से नात्सी और फ़ासिस्त मतों का जन्म स्वाभाविक था । पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका में राजनैतिक लोकतंत्र ने क़ौमी और व्यक्तिगत तरक्क़ी का दरवाज़ा खोलकर ऐसी नई ताक़तों और ऐसे नये जमातों का सोता खोल दिया जिनका बहाव क़ानूनी तौर पर आर्थिक बराबरी की तरफ़ था । उस हालत के भीतर ही झगड़े की जड़ थी । या तो राजनैतिक लोकतंत्र का फैलाव बढ़ेगा या उसको कुचलने और ख़त्म करने की कोशिश होगी । बराबर रुकावटों के होते हुए भी लोकतंत्र का फैलाव बढ़ा और उसमें जनता की अहमियत धीरे-धीरे बढ़ी । आगे चलकर यह राजनैतिक संगठन का ऐसा आदर्श बन गया जो सबको मंज़ूर था । लेकिन एक ऐसा वक़्त आया जब उसके फैलाव से और ज़्यादा बढ़ने से सामाजिक ढांचे की बुनियाद को ख़तरा हुआ और तब उस ढांचे के हिमायतियों ने शोर मचाना शुरू किया वे लड़ने को तैयार हो गये और रद्दो-बदल का विरोध करने के लिए उन्होंने अपना संगठन बनाया । उन मुल्कों में जहां हालत ऐसी थी कि यह संकट ज़्यादा तेज़ी से बढ़ गया लोकतंत्र को खुले तौर पर जान-बूझकर कुचल दिया गया और नात्सी और फ़ासिस्त मत सामने आये । पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमरीका में भी यही दर्द जारी था लेकिन कई और ऐसी वजहें थीं कि उस संकट में रुकावटें हुईं और वह तेज़ी से नहीं बढ़ पाया । शायद शांतिपूर्ण और लोकतंत्री सरकार का रवैया भी एक ऐसी वजह थी कि जिसने संकट को टालने में मदद दी । इन लोकतंत्री सरकारों के क़ब्ज़े में साम्राज्य थे और वहां बिलकुल ही लोकतंत्र नहीं था । वहां वही तानाशाही जो फ़ासिस्तवाद में होती है चल रही थी । फ़ासिस्त देशों की तरह वहां भी हुकूमत ने प्रतिक्रियावादियों मौक़ापरस्तों और सामंतशाही के अवशेषों से आज़ादी की मांग को दबा देने के लिए मेल कर लिया । वहां उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि हालांकि लोकतंत्र एक अच्छा आदर्श है और उनके अपने देश में वह वांछनीय है फिर भी नौआबादियों की अपनी ख़ास हालतों में वह मौज़ूं नहीं था । इस तरह यह एक क़ुदरती नतीजा था कि पश्चिमी लोकतंत्रों का फ़ासिस्तवाद के साथ आदर्श के नाते एक क़रीबी रिश्ता हो । हां वे उसकी बेरहमी और बहुत-सी भद्दी बातों को नापसंद करते थे ।

जब अपने बचाव के लिए उनको मजबूर होकर लड़ना पड़ा तो उन्होंने उसी ढांचे को फिर से कायम करने का विचार किया जो इस बुरी तरह नाकामयाब हुआ था। लड़ाई को इसी निगाह से देखा गया और यही कहा गया कि यह बचाव की लड़ाई है और एक तरह से यह सही था। लेकिन लड़ाई का एक दूसरा पहलू भी था। यह नैतिक पहलू था और यह फ़ौजी मकसद से कहीं ज्यादा बड़ा था। और इसने फ़ासिस्ट विचारधारा और नजरिये पर जोरदार हमला किया क्योंकि जैसा कहा गया था यह लड़ाई दुनिया की जनता की आत्मा की हिफ़ाजत के लिए थी। उसमें न सिर्फ़ फ़ासिस्ट मुल्कों के बल्कि संयुक्त राष्ट्रों के लिए भी रद्दो-बदल के बीज थे। लड़ाई के इस नैतिक पहलू को जोरदार प्रचार से ढंक दिया गया और बचाव पर और गुजरे ढर्रे को कायम रखने पर जोर दिया गया। एक नया भविष्य बनाने की बात का कोई जिक्र ही नहीं था। पश्चिम में भी ऐसे बहुत-से लोग थे जो इस नैतिक पहलू से दिल से यकीन करते थे और वे एक ऐसी नई दुनिया बनाना चाहते थे जिसमें इन्सानी समाज की कायिक नाकामयाबी के खिलाफ, जो महायुद्ध से जाहिर हो गई थी अब कोई बचाव हो। सभी जगह ऐसे लोगों की एक बहुत बड़ी तादाद थी। इनमें खासतौर से वे लोग शामिल थे जो लड़ाई के मैदान में लड़े और मरे थे। इन लोगों को इस रद्दो-बदल की धुंधली-सी लेकिन पूरी उम्मीद थी। इसके अलावा करोड़ों ऐसे सताये हुए लोग थे जो लुटे हुए थे और जिनके साथ जातीय भेद-भाव बरता गया था। ऐसे लोग यूरोप और अमरीका में थे लेकिन उनसे कहीं ज्यादा एशिया और अफ़्रीका में थे। ये लोग लड़ाई की पिछली यादों को मौजूदा तकलीफ़ों से अलहदा नहीं कर सकते थे। चाहे उनकी उम्मीद बेजा ही क्यों न हो फिर भी उन्हें बहुत भारी उम्मीद थी कि लड़ाई से किसी-न-किसी तरह से वह बोझ जो उन्हें कुचल रहा था हट जायेगा।

लेकिन संयुक्त राष्ट्रों के नेताओं की आंखें दूसरी तरफ़ थीं। उनकी निगाह गुजरे वक्त की तरफ़ थी आगे भविष्य की तरफ़ नहीं। कभी-कभी भविष्य के बारे में लोगों की भूख मिटाने के लिए वे सुंदर व्याख्यान देते थे। लेकिन उनकी नीति का इन सुंदर शब्दों से कोई ताल्लुक नहीं था। मि० विन्स्टन चर्चिल के लिए यह लड़ाई खोये हुए को फिर से पाने के लिए थी। चर्चिल के लिए लड़ाई में इससे ज्यादा कुछ नहीं था। उनका मकसद इंग्लैंड के सामाजिक ढांचे का और उसके साम्राज्य के साम्राज्यवादी ढांचे को मामूली रद्दो-बदल के साथ जैसा-का-तैसा बनाये रखना था। प्रेसीडेंट रूजवेल्ट की बातें ज्यादा भरोसा दिलानेवाली थीं लेकिन उनकी नीति में कोई खास फ़र्क नहीं

था। फिर भी सारी दुनिया के लोगों की निगाह उनकी तरफ थी। उन्हें उम्मीद थी कि इस आदमी में ऊंचे दर्जे की राजनैतिक योग्यता है और उसका नजरिया बड़ा और समझदारी का है।

इस तरह जहांतक ब्रिटिश राज्य के बस की बात थी हिंदुस्तान का और बाकी दुनिया का भविष्य गुजरे जमाने से मिलता-जुलता होता और मौजूदा वक्त को भी लाजिमी तौर पर *उसीके मुताबिक होना पड़ता।* उसी मौजूदा वक्त में इस भविष्य के बीज बोये जा रहे थे। क्रिप्स-प्रस्तावों ने सारी मालूम पड़नेवाली तरक्की के होते हुए भी हमारे लिए नये और खतरनाक मसले पैदा कर दिये। इन मसलों से हमारी आजादी के लिए असंख्य दीवारें बन जाने का बहुत बड़ा डर था। कुछ हद तक उनका यह असर हो चुका है। हिंदुस्तान में ब्रिटिश सरकार की तानाशाही और सब-कुछ समेटनेवाली मनमानी लड़ाई की आड़ में और उसी दौरान में आखिरी हद पर पहुंच गई और मामूली शहरी हक और आजादी दोनों ही चारों तरफ पूरी तरह कुचल दिये गये। मौजूदा पीढ़ी में किसीको भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। ये बातें बराबर हमारी गुलामी की हालत और लगातार बेइज्जती की याद दिलानेवाली थीं। साथ ही ये बातें भविष्य की ओर आनेवाली चीजों की खबर बताती थीं क्योंकि इस मौजूदा वक्त से ही तो भविष्य का जन्म होता। इस गिरावट के सामने सिर झुकाने के मुकाबले दूसरी हर चीज बेहतर मालूम दी।

हिंदुस्तान के करोड़ों आदमियों में से कितने इस तरह अनुभव करते थे यह बताना नामुमकिन है। उन करोड़ों आदमियों में से ज्यादातर के लिए सारे वतन अनुभव गरीबी और तकलीफ की वजह से जड़ हो गये हैं। दूसरे लोगों में वे आदमी थे जिनको ओहदों रियायतों या निहित स्वार्थों ने बिगाड़ दिया था या वे लोग थे जिनका दिमाग विशेष अधिकारों की मांग की वजह से दूसरी तरफ लगा हुआ था। फिर भी उक्त भावना चारों तरफ थी—कहीं उसकी तेजी कम थी कहीं ज्यादा-गर्मी और कहीं-कहीं पर वह दूसरी भावनाओं से ढंकी हुई थी। उस भावना में बहुत-से दर्जे थे। उसमें एक सिरे पर ऐसे लोग थे जिनका उसमें पक्का यकीन था और जिनमें सारी मुश्किलों का सामना करने की तैयार ख्वाहिश थी, और इसका लाजिमी नतीजा कुछ-न-कुछ कार्रवाई होती। दूसरी तरफ ऐसे लोग भी थे जिनमें थोड़ी-सी धुंधली-सी हमदर्दी थी और वे महफूज जगह पर रहना चाहते थे। इन दोनों के बीच में तरह-तरह के लोग थे। कुछ लोगों को इस कुचलने वाले वातावरण में जो चारों तरफ था आजादी की सांस लेना मुश्किल जान

पड़ा और उसका दम-सा घुटने लगा। दूसरे लोग ऐसे थे जिनका दिमाग मामूली और ऊपरी बातों पर रहता था और पैर-पसंद हालतों के अनुरूप होने की ज्यादा सामर्थ्य थी।

हिंदुस्तान में हुकूमत करनेवाले ब्रिटिश लोगों की पृष्ठभूमि बिल्कुल दूसरी थी। असल में वह खाई, जो हिंदुस्तानियों और अंग्रेजों के दिमाग को अलग करती है, इतनी बड़ी है कि वह साफ़ जाहिर हो जाती है और उसमें चाहे जो भी सही हो हिंदुस्तान में ब्रिटिश लोगों की शासन करने की अयोग्यता का इस अकेली बात से ही पता लग जाता है। क्योंकि अगर कुछ तरक्की करनी है तो सरकार में और प्रजा में कुछ मेल, कुछ यकसाँ नज़रिया होना जरूरी है, वरना सिर्फ़ झगड़ा ही होगा, चाहे वह खुला हो या छिपा हुआ हो। हिंदुस्तान के अंग्रेज हमेशा ब्रिटेन के सबसे ज्यादा प्रगति विरोधी दल के ही नुमाइंदे रहे हैं। उनमें और इंग्लैंड के उदार दल में शायद ही कुछ यकसाँ-पन हो। हिंदुस्तान में उनके जितने ज्यादा साल बीतते जाते हैं, उनका नज़रिया उतना ही ज्यादा सख्त होता जाता है और जब नौकरी खत्म करने के बाद वे इंग्लैंड वापस जाते हैं तो वे विशेषज्ञ बन जाते हैं और हिंदुस्तानी मसलों पर सलाह देते हैं। अपने सही होने का, हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की अच्छाई और उसके फ़ायदे का उन्हें पूरा और पक्का यकीन है। उनको यह यकीन भी है कि साम्राज्यवादी तरीके के नुमाइंदे होने के नाते वे एक बहुत ऊँचे मकसद के लिए काम कर रहे हैं। चूंकि राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस राज्य की सारी बुनियाद को ही चुनौती दी है और वह हिंदुस्तान को उससे आज़ाद करना चाहती है, इसलिए वह उनकी निगाह में जनता की सबसे बड़ी दुश्मन बन गई। हिंदुस्तान-सरकार के उस वक्त के गृह-सदस्य सर रजीनाल्ड मैक्सवैल ने १९४१ में केंद्रीय असेंबली में बोलते हुए अपने दिमाग की साफ़ झलक दी। जिस शिकायत के खिलाफ़ अपने बचाव में वह बोल रहे थे वह यह थी कि कांग्रेसियों, समाजवादियों और कम्युनिस्टों के साथ, जो बिना मुकदमा चलाये डिटेन्शन में बंद कर दिये गये थे, जैसा गैर-इन्साफ़ी व्यवहार किया जा रहा था, वह जर्मन और इटालियन लड़ाई के क़ैदियों के साथ किये गये बर्ताव से भी बदतर था। उन्होंने कहा कि जर्मन और इटालियन कम-से-कम अपने देश के लिए तो लड़ रहे हैं लेकिन ये लोग तो समाज के दुश्मन थे और मौजूदा ढाँचे को उलट देना चाहते थे। जाहिर है उन्हें यह बात बड़ा मामूल दी कि हिंदुस्तानी भी अपने मुल्क के लिए आज़ादी की ख्वाहिश करें या हिंदुस्तान के आर्थिक ढाँचे को बदलना चाहें। हालांकि उनका देश उस वक्त जर्मनी और इटालियनों के खिलाफ़ एक भयंकर लड़ाई कर

रहा था, फिर भी हिंदुस्तानियों के मुक़ाबले उनकी हमदर्दी साफ़ तौर पर जर्मनों और इटालियनों के लिए थी। यह बात रूस के लड़ाई में शामिल होने से पहले की है और दुनिया का ढांचा बदलने की कोशिश की निंदा करने में कोई खतरा नहीं था। दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से पहले फ़ासिस्ट हुकूमतों की अक्सर तारीफ़ की गई थी। क्या खुद हिटलर ने अपने 'मीन कैम्फ़' में और फिर बाद में यह नहीं कहा कि वह चाहता है कि ब्रिटिश साम्राज्य क़ायम रहे?

धुरी राष्ट्रों के खिलाफ़ लड़ाई में हर तरह से मदद करने के लिए हिंदुस्तान की सरकार सचमुच चिंतित थी। लेकिन उसकी निगाह में यह जीत अधूरी रहती अगर साथ-ही-साथ एक जीत और न हो। और वह थी हिंदुस्तान की क़ौमी तहरीक को (जिसकी नुमाइंदगी खासतौर से कांग्रेस करती थी) कुचल डालने की जीत। क्रिप्स-वार्ता से उसको परेशानी हुई थी और उसकी नाकामयाबी पर उसको खुशी हुई। अब कांग्रेस और उसका साथ देनेवालों पर आखिरी चोट करने के लिए रास्ता साफ़ था। मौक़ा बहुत अच्छा था क्योंकि पहले कभी भी केंद्र और सूबों वाइसराय और उसके खास सहकारियों को इतनी मनमानी और बेरोक ताक़त नहीं मिली थी। लड़ाई की हालत नाज़ुक थी और यह दलील बहुत आसान थी कि किसी तरह का विरोध या झगड़ा बरदाश्त नहीं किया जा सकता। हिंदुस्तान में दिलचस्पी रखनेवाले इंग्लिस्तान और अमरीका के उदार खयालोंवाले लोग क्रिप्स-चर्चा और उसके बाद के प्रचार से अब चुप कर दिये गये थे। हिंदुस्तान के संबंध में मसले हिल करने की हमेशा मौजूद रहनेवाली भावना इंग्लिस्तान में मर गई थी। वहां पर ऐसा महसूस किया गया कि हिंदुस्तानी या उनमें से ज्यादातर लोग ज़िद्दी और नाक़ाबिल क़िस्म के हैं उनका नपारिया संकरा है, वे इस मौक़े के खतरों को नहीं समझते और शायद उनकी जापानियों के साथ हमदर्दी है। यह कहा जाता था कि गांधीजी के लेखों और बयानों ने साबित कर दिया है कि उनको खुश करना असंभव है और अब जो रास्ता बाक़ी बचा है, वह सिर्फ़ यही है कि एक बार, हमेशा के लिए गांधी और कांग्रेस को कुचल दिया जाय।

## ३ व्यापक उथल-पुथल और उसका दमन

९ अगस्त १९४२ को तड़के ही सारे हिंदुस्तान में बहुत-सी गिरफ़्तारियां हुईं। तब क्या हुआ? कितने ही हफ़्तों बाद धीरे-धीरे थोड़ी-सी खबरें हम तक पहुंच पाईं, और हम आज भी जो कुछ हुआ उसकी सिर्फ़ एक अधूरी तस्वीर बना सकते हैं। सारे प्रमुख नेता अचानक ही अलग हटा दिये गये थे और जान पड़ता है किसीकी समझ में न आता था कि क्या करना चाहिए।

विरोध तो होता ही और अपने-आप ही उसके प्रदर्शन हुए। इन प्रदर्शनों को कुचला गया उन पर गोली चलाई गई आंसू-गैस इस्तेमाल की गई और सार्वजनिक भावना को प्रकट करनेवाले सारे तरीके रोक दिये गये। और तब से सारी दबी हुई भावनाएं फूट पड़ीं और शहरों में और देहाती हल्कों में भीड़ें इकट्ठी हुई और पुलिस और फ़ौज के साथ खुली लड़ाई हुई। उन्होंने खास-तौर से उन चीजों पर जो ब्रिटिश हुकूमत और ताक़त की प्रतीक मालूम पड़ीं हमला किया। ये चीजें थीं थाने डाकखाने और रेल के स्टेशन। उन्होंने तार और टेलीफ़ोन के तारों को काट दिया। इन निहत्थे बिना नेताओं के झुंडों ने पुलिस और फ़ौजों का सामना किया। सरकारी बयानों के मुताबिक ५३८ मौक़ों पर गोलियां चली और साथ ही नीचे उड़नेवाले हवाई जहाजों से मशीन-गनों से भी गोलियां चलाई गईं। देश के अलग-अलग हिस्सों में एक या दो महीने या इससे भी ज्यादा वक्त तक यह लड़ाई चलती रही और तब वह धीरे-धीरे धीमी पड़ गई और उसकी जगह छुटपुट घटनाएं होती रहीं। हाउस ऑव कॉमन्स में मि० चर्चिल ने कहा—"सरकार की पूरी ताक़त से ये उपद्रव कुचले गये।" उन्होंने "बहादुर हिंदुस्तानी पुलिस की और साथ ही आमतौर पर सरकारी अफ़सरों की वफ़ादारी और दृढ़ता की" तारीफ़ की और कहा— 'इनका बरताव ज्यादा-से-ज्यादा तारीफ़ के काबिल है।' इसके अलावा 'काफ़ी सहायक सेना हिंदुस्तान में पहुंच गई है और उस देश में इस वक्त जितनी गोरी फ़ौज है उतनी ब्रिटिश इतिहास में हिंदुस्तान में पहले कभी नहीं थी।' इन विदेशी फ़ौजों ने और हिंदुस्तानी पुलिस ने निहत्थे किसानों के खिलाफ़ कितनी ही लड़ाइयां लड़ी थीं और जीती थीं और उनके विद्रोह को कुचला था और हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की एक खास बुनियाद (यानी अफ़सरी की जमात) ने खुले तौर पर या छिपे तौर पर इस सारी कार्रवाई में मदद की।

देश में गांवों और कसबों दोनों में ही यह प्रतिक्रिया असाधारण रूप से व्यापक थी। करीब-करीब हर सूबे में और ज्यादातर हिंदुस्तानी रियासतों में सरकारी रोक के बावजूद भी अनगिनत प्रदर्शन हुए। हड़तालें हुई, दूकानें और बाजार बंद हुए सभी जगह काम-काज रोक दिया गया। कुछ जगहों पर ये बातें कुछ दिनों तक रहीं कहीं कुछ हफ्तों तक और थोड़ी-सी जगहों पर ये बातें एक महीने से भी ज्यादा चलती रहीं। इसी तरह मजदूरों ने भी काम बंद किया। ये लोग ज्यादा संगठित थे मिलकर एक साथ काम करने का उनमें अनुशासन था। इन कारखानों के मजदूरों ने बहुत-सी खास-खास जगहों में अपने-आप हड़ताल का एलान किया। यह सब सरकार द्वारा क़ौमी

नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में हुआ। जमशेदपुर के लोहे और फ़ौलाद के बड़े शहर में इसकी एक ख़ास मिसाल देखने को मिली। यहां के हुनरमंद कारीगर मुल्क के अलग-अलग हिस्सों के रहनेवाले थे। वे एक हफ़्ते तक काम पर नहीं गये और सिर्फ़ इस शर्त पर वापस जाने को तैयार हुए कि कारख़ाने के व्यवस्थापक कांग्रेसी नेताओं को छुड़ाने और क़ौमी सरकार क़ायम कराने के लिए ज़्यादा-से-ज़्यादा कोशिश करने का वायदा करें। यह वायदा किया गया और तब वे वापस गये। सूती कारख़ानों के बड़े केंद्र अहमदाबाद में एकदम बिना ट्रेड यूनियन की ख़ास पुकार के सारे कारख़ानों में पूरी तरह काम रोक दिया गया। यह आम हड़ताल

---

बड़े सरकारी अफ़सरों ने यह कहा है और यह बात दूसरे लोगों ने अक्सर दुहराई है कि इन हड़तालों को ख़ासतौर से जमशेदपुर और अहमदाबाद की हड़तालों को मिल-मालिकों ने बढ़ावा दिया। इस बात पर विश्वास करना बहुत मुश्किल है, क्योंकि इन हड़तालों से मिल-मालिकों को बहुत भारी नुक़्सान हुआ। मुझे तो अभी ऐसे बड़े उद्योगपतियों से मुलाक़ात करनी बाक़ी है, जो अपने निजी लाभ के ख़िलाफ़ इस ढंग से काम करते हैं। यह सच है कि बहुत-से उद्योगपति हिंदुस्तान की आज़ादी चाहते हैं और उससे हमदर्दी रखते हैं। लेकिन लाज़िमी तौर से हिंदुस्तान की आज़ादी का उनके दिमाग़ में वही नक़्शा है, जिसमें उनके लिए हिफ़ाज़त की जगह हो। इन्क़लाबी कार्रवाई और सामाजिक ढांचे में कोई भी बड़ी तब्दीली उन्हें नापसंद है। हां, यह मुमकिन है कि अगस्त और सितंबर १९४२ की चारों तरफ़ छाई हुई गहरी सार्वजनिक भावनाओं का उन पर असर हुआ और पुलिस के साथ मिलकर उन्होंने वह आक्रमक और इंतक़ामी ढंग नहीं अपनाया, जो वे आम-तौर पर हड़तालों के होने पर अपनाते हैं।

एक दूसरी बात अक्सर ज़ोर देकर कही जाती है। वह यह है कि बड़े उद्योगपतियों द्वारा कांग्रेस को भारी माली मदद दी जाती है। यह बात विभिन्न हलक़ों में और विदेशी अख़बारों में क़रीब-क़रीब पूरी तरह मानी जाती है। यह बिल्कुल ग़लत बात है। मैं कितने ही सालों तक उसका प्रधान मंत्री या सभापति रहा हूं और अगर ऐसी बात होती, तो कम-से-कम मुझे उसका पता ज़रूर होता। कुछ उद्योगपतियों ने समय-समय पर गांधीजी की समाज-सुधार की कार्रवाइयों में आर्थिक सहायता दी है। ये समाज-सुधार के काम ग्रामोद्योग, प्रारंभिक या बुनियादी शिक्षा, दलित जातियों को उठाना, छूत-छात को मिटाना आदि बातों से ताल्लुक़ रखते हैं। कांग्रेस के राजनैतिक काम में वे उससे साधारण समय में भी अलग रहे हैं और फिर सरकार से

रोकने की सारी कोशिशों के होते हुए भी अहमदाबाद में तीन महीने तक शांतिपूर्वक चलती रही। मजदूरों की यह प्रतिक्रिया अपने-आप हुई और इसकी बुनियाद सिर्फ़ राजनैतिक थी। मजदूरों को बहुत भारी नुक़सान हुआ क्योंकि इस वक्त मजदूरी पहले के मुक़ाबले में काफ़ी बढ़ी हुई थी। इस सब अरसे में उन्हें बाहर से कोई माली मदद न मिली। दूसरी जगहों में काम थोड़े अरसे के लिए रोका गया और कहीं-कहीं पर तो सिर्फ़ कुछ दिनों के ही लिए। सूती कारखानों के दूसरे बड़े केंद्र कानपुर में जहांतक मुझे पता है कोई बड़ी हड़ताल नहीं हुई। इसकी वजह यह थी कि वहां कम्युनिस्ट नेता उस हड़ताल को हटवा देने में कामयाब हुए। रेलों में भी जिन पर सरकार का काबू है आमतौर पर कोई काम नहीं रोका गया। हां उपद्रवों की वजह से रेलों का काम जरूर रुका और बड़े पैमाने पर रुका।

सूबों में शायद पंजाब में सबसे कम असर था हालांकि वहां भी बहुत सी हड़तालें हुईं और बहुत जगह काम रोका गया। सरहदी सूबे में जिसमें करीब-करीब सारी आबादी मुस्लिम है एक अजीब बात हुई। अव्वल तो वहां बड़े पैमाने पर गिरफ्तारियां ही नहीं हुईं और न दूसरे सूबों की तरह वहां सरकार ने कोई दूसरी उत्तेजित करनेवाली छेड़खानी की। इसकी कुछ हद तक तो यह वजह थी कि सरहदी आदमी बहुत जल्दी उत्तेजित होनेवाले

---

कांग्रेस के झगड़े के दौरान में तो वे खासतौर से अलग रहे हैं। उनकी कभी-कभी हमदर्दी भले ही रही हो लेकिन बहुत ज्यादा समझदार लोगों की तरह उन्हें अपनी हिफ़ाजत का ज्यादा ख्याल है। कांग्रेस का काम तो करीब-करीब पूरी तरह से उसके मेंबरों के चंदे और दान से चलता है। इन मेंबरों की संख्या बहुत बड़ी है। उसका ज्यादातर काम सेवा के रूप में होता है और अवैतनिक है। कभी-कभी शहरों में व्यापारियों ने थोड़ी-सी मदद कर दी है। इसमें शायद एक ही अपवाद रहा है और वह मौका था १९३७ के आम चुनाव का। उस वक्त उद्योगपतियों ने भी केंद्रीय चुनाव फ़ंड में मदद की। हमारे सारे काम के फैलाव को देखते हुए यह फ़ंड भी बहुत छोटा था। यह एक ताज्जुब की बात है और पच्छिमी लोगों को तो शायद यकीन भी न हो कि हम बहुत थोड़े से रुपयों से पिछले पच्चीस बरसों से कांग्रेस का काम चला रहे हैं। इस दौरान में हिंदुस्तान की बार-बार राजनैतिक कार्रवाइयों के और आंदोलनों के झटके बरदाश्त करने पड़े हैं। संयुक्त प्रांत में, जो हमारे देश का एक बहुत क्रियाशील और सुसंगठित सूबा है, जिसके बारे में मुझे ज्यादा जानकारी है करीब-करीब हमारा सारा खर्च हमारे चवन्नीवाले मेंबरों के चंदे पर चलता है।

समझे जाते हैं और कुछ हद तक यह वजह भी थी कि सरकारी नीति यह दिखाना चाहती थी कि क़ौमी उभार से मुसलमान अलहदा थे। लेकिन जब हिंदुस्तान की और जगहों से वहां की घटनाओं की खबरें इस सूबे में पहुंचीं तो यहां भी बहुत-से प्रदर्शन हुए और ब्रिटिश हुकूमत की एक ज़ोरदार चुनौती दी गई। प्रदर्शकों पर गोली चलाई गई और सार्वजनिक कामों को रोकने के सभी आम तरीक़े इस्तेमाल किये गये। हज़ारों लोगों को गिरफ़्तार किया गया। यहीं नहीं पठानों के महान नेता बादशाह ख़ान को (इसी नाम से अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ां मशहूर हैं) पुलिस की मार ने बुरी तरह घायल कर दिया। उत्तेजना के लिए यह बहुत बड़ी बात थी फिर भी ताज्जुब की-सी बात है कि अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ां ने अपने आदमियों को जो बढ़िया अनुशासन सिखाया था वह इस वक़्त भी बना रहा। वहां पर देश की और बहुत-सी जगहों की तरह कोई हिंसात्मक कार्रवाई नहीं हुई।

जनता की तरफ़ से अचानक असंगठित प्रदर्शन जिनका अंत हिंसात्मक झगड़ों और विनाश में हुआ बहुत बड़ी और हथियारबंद फ़ौजों का विरोध होते हुए भी चलते रहे। इनसे जनता की भावनाओं की गहराई और तेज़ी का पता लगता है। नेताओं की गिरफ़्तारी से पहले भी ये भावनाएं मौजूद थीं। लेकिन इन गिरफ़्तारियों ने और उनके बाद अक्सर होनेवाले गोली-कांडों ने जनता के गुस्से को बढ़ा दिया और उन्होंने उसी रास्ते को अपनाया जो एक नाराज़ गिरोह अपनाया करता है। कुछ वक़्त तक इस बारे में एक अनिश्चितता-सी रही कि क्या किया जाना चाहिए। कोई हिदायतें नहीं थीं कोई कार्य-क्रम नहीं था। कोई ऐसा मशहूर आदमी भी नहीं था जो उन्हें बता सकता कि क्या करना चाहिए या जो उनकी रहनुमाई कर सकता। लेकिन वे इतने ज़्यादा नाराज़ थे इतने उत्तेजित थे कि ख़ामोश नहीं रह सकते थे। ऐसे मौक़ों पर जैसा अक्सर होता है, मुक़ामी नेता आगे आये और कुछ वक़्त तक उनकी हिदायतों के मुताबिक़ काम हुआ। लेकिन जो-कुछ हिदायतें उन्होंने दीं वे बहुत नाकाफ़ी थीं। लाज़िमी तौर से जनता का उभार तो अपने-आप हुआ था। सारे हिंदुस्तान में १९४२ में नई पीढ़ी ने ख़ासतौर से विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थियों ने उग्र और शांतिपूर्ण दोनों ही तरह की कार्रवाइयों में बहुत ज़्यादा काम किया। बहुत-से मुक़ामी नेताओं ने शांतिपूर्ण ढंग से कार्रवाई की और सविनय अवज्ञा आंदोलन को चलाने की कोशिश की। लेकिन उस वक़्त के वातावरण में यह बात मुश्किल थी। पिछले बीस बरसों से जो अहिंसा का पाठ पढ़ाया जा रहा था जनता उसे भूल गई। फिर भी किसी तरह से सरासर हिंसा के लिए वह बिलकुल भी

तैयार न थी। उस अहिंसात्मक ढंग की शिक्षा ने कुछ झिझक और कुछ शक पैदा किया और हिंसात्मक कार्रवाई के लिए हिचकिचाहट पैदा हुई। अगर अपनी धारणा के खिलाफ कांग्रेस ने पहले हिंसात्मक काम के लिए थोड़ा-सा भी इशारा कर दिया होता तो इसमें शक नहीं कि जितनी हिंसा और सख्ती असल में हुई, उससे कम-से-कम सौ गुनी ज्यादा हुई होती।

लेकिन इस ढंग का कोई इशारा नहीं दिया गया था। सच तो यह है कि कांग्रेस ने अपने आखिरी संदेसे में अहिंसात्मक कार्रवाई की ही अहमियत पर जोर दिया था। फिर भी एक बात का जनता के दिमाग पर असर हुआ। अगर, जैसा हमने कहा था किसी हमलावर दुश्मन के खिलाफ हथियार के जरिये हिफाजत करना जा और वाजिब था तो यही बात मौजूदा आक्रमण के लिए क्यों लागू नहीं थी? हमले और बचाव के हिंसात्मक ढंग से एक बार रोक हटाने के अनिश्चित परिणाम हुए और ज्यादातर लोगों के लिए उनके बारीक भेदों को समझना आसान नहीं था। सारी दुनिया में हर दर्जे की हिंसा जारी हुई थी और लगातार प्रचार से उसको बढ़ावा मिल रहा था। उस वक्त जल्दी कामयाबी का और गहरी भावना का सवाल था। इसके अलावा कांग्रेस में और कांग्रेस से बाहर ऐसे भी लोग थे जिनका अहिंसा में कभी भी यकीन नहीं रहा था और हिंसात्मक कार्रवाई के सिल-सिले में उन्हें कभी भी कोई दुविधा नहीं हुई थी।

लेकिन वक्ती उत्तेजना में बहुत ही कम लोग सोचते हैं। वे तो बहुत अरसे से दबे हुए अपने स्वभाव के मुताबिक काम करते हैं और यह बहाव उन्हें खींच बहा ले जाता है। इस तरह १८५७ के गदर के बाद बहुत बड़ी जनता हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य के ढांचे को चुनौती देने के लिए पहली बार बल-पूर्वक उठ खड़ी हुई। (लेकिन इस शक्ति के पास हथियार नहीं थे) । यह चुनौती बेमानी और बेमौके थी क्योंकि दूसरी तरफ सुसंगठित हथियारबंद ताकत थी। यह हथियारबंद ताकत इतिहास में पहले किसी मौके पर इतनी ज्यादा नहीं थी। चाहे भीड़ में आदमियों की तादाद कितनी भी ज्यादा हो, शक्ति और सशस्त्र शक्ति के द्वंद्व में वह ठहर नहीं सकती। वह लाजिमी तौर पर नाकामयाब होगी। हां यह बात दूसरी थी कि खुद इन हथियारबंद फौजों की वफादारी ही पलट जाये। लेकिन इन भीड़ों ने न तो इस लड़ाई की तैयारी ही की थी और न उसके लिए मौका ही तलाश किया था। यह लड़ाई तो उन पर अनजान ही आ गई और उसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया में चाहे वह कितनी ही गलत हो या नासमझी से भरी हो उन्होंने हिंदुस्तान की आजादी के लिए अपना प्रेम जताया और साथ ही विदेशी सरकार के लिए अपनी नफरत

जाहिर कीं।

हालांकि उस वक्त अहिंसा की नीति दब गई, लेकिन उसके अनुसार उन्हें जो शिक्षा लंबे अरसे से मिली थी उसका एक खास और अच्छा नतीजा हुआ। गुस्से और जोश के होते हुए भी क़ौमी भेद-भाव की भावना अगर थी तो बहुत थोड़ी थी और कुल मिलाकर जनता ने खूब यह कोशिश की कि दुश्मनों को कोई जिस्मानी चोट न पहुंचे। सरकारी सामान की आमद-रफ़्त के साधनों की बहुत भारी बरबादी हुई थी लेकिन इस बरबादी के बीच भी इस बात का खयाल रखा गया था कि लोगों की जानें न जायें। न तो यह हमेशा मुमकिन था और न हमेशा इसकी कोशिश की गई, खासतौर से उस वक्त जब पुलिस से और हथियारबंद फ़ौज से खुली हुई लड़ाई हुई। जहांतक मुझे याद आता है सरकारी बयानों के मुताबिक़ सारे हिंदुस्तान में और झगड़े के सारे दौरान में भीड़ों ने कुल १     आदमियों की जानें लीं। झगड़े के क्षेत्रों का फैलाव और पुलिस के साथ मुठभेड़ों को ध्यान में रखते हुए यह संख्या बहुत कम है। एक घटना खासतौर से बेरहमी की हुई और उससे तकलीफ़ हुई। वह यह थी कि बिहार में किसी जगह पर भीड़ ने कनाडा देश के दो हवाई उड़ाकों को क़त्ल कर दिया। लेकिन आमतौर पर उस वक्त जातीय भेद-भाव का अभाव एक खास चीज थी।

१९४२ के झगड़ों में पुलिस और फ़ौज की गोलियों से मारे हुए और

---

क्लाइव ब्रेन्स के पत्रों में जो 'ब्रिटिश सोल्जर इन इंडिया' नाम से प्रकाशित हुए, एक खास घटना का उल्लेख है। ब्रेन्स एक कलाकार था और कम्युनिस्ट था। अंतर्राष्ट्रीय ब्रिगेड में उसने स्पेन में काम किया था। १९४४ में वह रायल आर्मर्ड कोर में शामिल हो गया और उसमें वह एक सार्जेंट था। अपनी रेजीमेंट के साथ १९४२ में उसको हिंदुस्तान भेजा गया। १९४४ में बरमा में, अराकान में लड़ते हुए वह मारा गया। अगस्त १९४२ में वह बंबई में था। उस वक्त नेताओं की गिरफ़्तारी हो चुकी थी और बंबई की जनता गुस्से और जोश से पागल हो रही थी और उस पर गोलियां चलाई जा रही थीं। ब्रेन्स ने एक मौक़े पर कहा है—"तुम्हारी राष्ट्रीयता कितनी स्वस्थ और अचूक है! मैंने लोगों से कम्युनिस्ट पार्टी के दफ़्तर का रास्ता पूछा। मैं वर्दी में था। मुझ जैसे लोग निहत्थे हिंदुस्तानियों पर गोलियां चला रहे थे। कुदरती तौर पर मुझे फ़िक्र हुई। मुझे ताज्जुब हो रहा था कि न मालूम मेरे साथ कैसा बरताव किया जायेगा। लेकिन जिस किसीसे मैंने पूछा वह मेरी मदद करने को तैयार था—किसीने भी न तो मेरी बेइज़्ज़ती की और न किसीने मुझे ग़लत रास्ता बताया।"

तेज़ी कैसे आ गई, तो यह संकट आता ही नहीं और हिंदुस्तान की समस्या हल हो सकती थी। सरकार ने अपनी हुकूमत के खिलाफ़ किसी भी चुनौती को हमेशा-हमेशा के लिए कुचल देने की सावधानी से तैयारी की थी। उसने शुरुआत की और पहली चोट के लिए उसने ही मौक़ा चुना। क़ौमी मज़दूर और किसान आंदोलनों में खास काम करनेवाले हज़ारों स्त्री-पुरुषों को उसने जेल भेज दिया था। लेकिन देश में जो अचानक उभार आया उससे उसको अचंभा हुआ और एक धक्का पहुंचा और कुछ देर के लिए जनता को चारों तरफ़ कुचल सकनेवाली मशीन अस्त-व्यस्त हो गई। लेकिन उसके पास तो बेहद साधन थे और उसने विद्रोह के हिंसात्मक और अहिंसात्मक प्रदर्शनों को कुचल डालने के लिए उन सबका इस्तेमाल किया। बहुत-से बड़े और मालदार आदमी जिनमें क़ौम के लिए बहुत थोड़ी हिम्मत थी और जो डरते-डरते सिर्फ़ कभी-कभी सरकार की आलोचना की हिम्मत करते थे अखिल भारतीय पैमाने पर जनता की कार्रवाइयों का रूप देखकर सहम गये। इन कार्रवाइयों में निहित स्वार्थों की भलाई का रत्ती-भर भी लिहाज़ न था और इनमें राजनैतिक परिवर्तन की ही नहीं बल्कि सामाजिक परिवर्तन की भी झलक दिखाई देती थी। ज्यों ही इस विद्रोह को कुचलने में सरकार की कामयाबी नज़र आने लगी, ये डांवाडोल मौक़ापरस्त सरकार से मिल गये और उन लोगों की जो उसकी हुकूमत को चुनौती देने की हिम्मत करते थे जो भरकर बुराई की।

विद्रोह के बाहरी स्वरूप को कुचलने के बाद उसकी जड़ों को खोदना था और इसलिए सारी सरकारी मशीन को इस काम में लगा दिया गया, ताकि ब्रिटिश हुकूमत के सामने पूरी तरह सिर झुकवा लिया जाये। वाइसराय के आर्डिनेंस या विशेष अधिकारों से रातों-रात नये क़ानून तैयार हो सकते थे लेकिन इनकी पाबंदियां भी कम-से-कम कर दी गईं। फ़ेडरल कोर्ट और हाई कोर्ट के (जो ब्रिटिश हुकूमत ने ही क़ायम किये थे और जो उसी के प्रतीक थे) फ़ैसलों की काम करनेवाले लोग परवाह ही नहीं करते थे या उन फ़ैसलों से बचाव के लिए एक नया आर्डिनेंस पास कर दिया जाता था। स्पेशल अदालतों में (जिनको बाद में न्यायालयों ने बेक़ायदा बताया) गवाही का या काम करने के आम तरीक़ों का कोई ख़याल ही नहीं था और इन अदालतों ने हज़ारों आदमियों को लंबी सज़ाएं दीं और बहुतों को तो मौत की भी सज़ा दी। पुलिस (ख़ासतौर से स्पेशल आर्म्ड कांस्टेबुलरी) और खुफ़िया विभाग को तो पूरी आज़ादी थी और वे राज्य के ख़ास अंग बन गये थे। वे हर ढंग की बेक़ायदा बेरहमी की हरकतें कर सकते थे। उसके लिए न कोई

रुकावट थी और न उसकी हरकतों की नुक्ताचीनी। भ्रष्टाचार बेहद बढ़ गया। स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों की बहुत बड़ी तादाद को तरह-तरह से सजा दी गई। हजारों नौजवानों को पीटा गया। सरकार के मातहत जो काम थे उनको छोड़कर हर ढंग से सार्वजनिक कामों पर रोक लगा दी गई।

लेकिन सबसे ज्यादा तकलीफ सरल-हृदय गरीबी के मारे गांववालों को भुगतनी पड़ी। पीढ़ियों से वे लोग तकलीफ का बिस्तरा जमाये हुए थे। उन्होंने ऊपर की तरफ उम्मीद के साथ अच्छे वक्तों के सपने देखने की हिम्मत की और उन्होंने काम भी किया। उन्होंने बेवकूफी या समझदारी की हो या न की हो लेकिन हिंदुस्तान की आजादी के लिए अपनी वफादारी जरूर साबित कर दी। वे नाकामयाब रहे और इस नाकामयाबी का बोझा उनके झुके हुए कंधों और टूटे हुए जिस्मों पर था। ऐसी बातों की खबर मिली है कि कितनी ही जगह पूरे गांव को सजा मिली और उसकी सारी आबादी की जानें कोड़ों से मारकर ले ली गईं। बंगाल सरकार की तरफ से यह बयान दिया गया था कि सरकारी फौजों ने १९४२ के समुद्री बवंडर से पहले और उसके बाद में तामलुक और कोंटाई की तहसीलों में १९३ कांग्रेसी डेरे या मकान जलाये। उक्त बवंडर से भयंकर विनाश हुआ था और उस हिस्से में बहुत बरबादी हुई थी लेकिन उससे सरकारी नीति में कोई फ़र्क नहीं पड़ा।

समूचे गांवों पर सजा के तौर पर बड़ी-बड़ी रकमों के जुरमाने किये गये। हाउस ऑव कामन्स में दिये गये मि॰ एमरी के बयानों के मुताबिक जुरमानों की रकम कुल मिलाकर नब्बे लाख रुपये थी और इसमें से ७८,५
रुपए की वसूली हुई। इन भूखे गरीबों से ये बड़ी रकमें किस तरह वसूल की गईं यह एक अलग बात है। १९४२ या उसके बाद की सारी बातों में पुलिस की ज्यादतियों से और उनके मकानों में आग लगाने से इतनी ज्यादा तकलीफ नहीं हुई थी जितनी इस रकम को वसूल करने में जबरदस्ती से हुई। इसके अलावा सिर्फ यह जुरमाना ही वसूल नहीं किया गया बल्कि अक्सर उससे बहुत ज्यादा रुपया वसूल किया गया और इस ज्यादा रकम को वसूल करनेवाले लोग हड़प कर गये।

ये सारे कायदे और कानून जिनसे सरकारी कार्रवाइयां बंधी रहती हैं, एक तरफ हटा दिये गये और एक और अनोखी हुकूमत की निशानी सिर्फ पाशविक ताकत थी [illegible] में गायब थी। इस वक्त किसी बहाने की [illegible] ब्रिटिश ताकत कामयाब हो चुकी थी। कम-से कम उस [illegible] उसकी जगह न लेने की सारी

हिंसात्मक और अहिंसात्मक कोशिशें कुचली जा चुकी थीं और अब ब्रिटिश ताक़त का ही बोलबाला था। इस आख़िरी इम्तिहान में जिसमें शक्ति और बल का ही मूल्य है और बाक़ी सब चीज़ें सिफ़ बेकार की बातें हैं, हिंदुस्तान नाकामयाब हुआ था। उसकी नाकामयाबी की वजह ब्रिटिश हथियारबंद ताक़त और लड़ाई की हालत से लोगों की दिमाग़ी उलझन ही नहीं थी बल्कि वह भी थी कि ज़्यादातर आदमी आज़ादी के लिए ज़रूरी आख़िरी क़ुरबानी के लिए तैयार नहीं थे। इस तरह ब्रिटिश लोगों ने महसूस किया कि हिंदुस्तान में उनका राज्य फिर मज़बूती से जम गया और अपना चंगुल फिर ढीला करने की उन्हें कोई वजह महसूस नहीं हुई।

## ४ दूसरे देशों में प्रतिक्रिया

ख़बरों पर कड़ी रोक की वजह से हिंदुस्तान की घटनाओं पर एक बहुत मोटा परदा पड़ गया। जो कुछ हो रहा था उसकी बाबत ख़बरें देने की हिंदुस्तानी अख़बारों को भी इजाज़त नहीं थी और दूसरे देशों को जानेवाली ख़बरों पर कड़ी और भी ज़्यादा निगरानी और रोक थी। साथ ही सरकारी प्रचार विदेशों में ज़ोरों से काम कर रहा था और झूठी और बेबुनियाद बातों का प्रचार किया जा रहा था। संयुक्त राज्य अमरीका में यह प्रचार ख़ासतौर से किया गया क्योंकि वहां के लोकमत की अहमियत थी और इस लिए सैकड़ों व्याख्यानदाता और प्रचारक जिनमें अंग्रेज़ भी थे और हिंदुस्तानी भी उस देश में दौरा करने के लिए भेजे गये।

इस प्रचार के अलावा इंग्लैंड पर लड़ाई का दबाव था और उसकी फ़िक्र थी। इसलिए वहां पर हिंदुस्तानियों के ख़िलाफ़ और ख़ासतौर से उन लोगों के ख़िलाफ़ जो इस संकट के मौक़े पर उनकी परेशानियों को बढ़ा रहे थे नाराज़गी होना क़ुदरती था। इस पर इकतरफ़ा प्रचार का असर हुआ और इससे भी ज़्यादा असर ब्रिटिश जनता का अपनी नेक नीयती में यक़ीन की वजह से हुआ। दूसरों की भावनाओं से बेख़बरी ही तो उनकी मज़बूती की जड़ थी और इसलिए इस सिलसिले में उन्होंने अपनी हर कार्रवाई को सही समझा और उन्होंने किसी भी दुर्घटना या अशान्ति का दोष उन लोगों पर डाल दिया जो ब्रिटिश लोगों के स्पष्ट गुणों को भी नहीं देख सकते थे। हिंदुस्तान में जिन लोगों ने उन गुणों में शक किया उनको कुचलने में ब्रिटिश ताक़त और हिंदुस्तानी पुलिस की कामयाबी ने फिर उन गुणों को न्याय्य साबित कर दिया था। साम्राज्य ने ठीक किया था और मि० विन्स्टन चर्चिल ने ख़ासतौर से हिंदुस्तान की बाबत ऐलान किया—"ब्रिटिश साम्राज्य को ख़त्म करनेवाली कार्रवाई

की सदारत करने के लिए मैं बादशाह का प्रधान मंत्री नहीं बना हूं। इसमें कोई शक नहीं कि यह कहते हुए मि चर्चिल अपने देश की बहुत बड़ी आबादी के नजरिये की नुमाइंदगी कर रहे थे। इस बड़ी आबादी में वे लोग भी शामिल थे जिन्होंने पहले साम्राज्यवाद के उसूलों और उसके काम की आलोचना की थी। ब्रिटिश मजदूर दल के नेताओं ने यह दिखाने के लिए कि शाही परंपरा की वफ़ादारी में वे किसी और दल से पीछे नहीं हैं मि चर्चिल के बयान का समर्थन किया और "ब्रिटिश जनता के इस पक्के इरादे पर ज़ोर" दिया कि "लड़ाई के बाद वह अपने साम्राज्य को ज्यों-का-त्यों रखेगी।

अमरीका में जिन लोगों को सुदूर हिंदुस्तान की समस्याओं में दिलचस्पी थी उनकी राय अलग-अलग थी। ब्रिटिश शासकों के गुणों पर उनको अंग्रेजों की तरह यकीन नहीं था और दूसरे लोगों के साम्राज्यों को वे अच्छी नजर से नहीं देखते थे। वे हिंदुस्तान की सद्भावनाओं को हासिल करने के लिए उत्सुक थे। जापान के खिलाफ लड़ाई में वे उसके साधनों का पूरा-पूरा फ़ायदा उठाना चाहते थे। फिर भी इश्तहारबाजी और झूठे प्रचार का लाजिमी असर हुआ और उनमें यह ख़याल जमने लगा कि हिंदुस्तान की समस्या तो बहुत ज्यादा उलझी हुई है और उसके लिए उसको सुलझाना मुमकिन नहीं है। इसके अलावा अपने साथी ब्रिटेन के मामले में उनका दखल देना मुश्किल था।

रूस में सरकारी अफ़सरों के या आम जनता के हिंदुस्तान की बाबत क्या ख़याल थे यह कह सकना नामुमकिन था। वे अपने जबरदस्त युद्ध प्रयासों में ही लगे हुए थे। उनका ध्यान अपने देश से दूसरे देशों को बाहर निकालने में लगा हुआ था। उस वक्त उन मामलों पर, जिनका उनसे कोई करीबी ताल्लुक नहीं था सोचने की उनके पास फ़ुरसत नहीं थी। फिर भी वे चीज़ों पर काफ़ी दूरदर्शिता से सोचने के आदी हैं और यह मुम किन नहीं था कि सोच-विचार के वक्त हिंदुस्तान को उनकी एशियाई सरहद से मिला हुआ है उनकी आंखों से ओझल हो गया हो। भविष्य में उनकी क्या नीति होगी यह कोई नहीं बता सकता। हां यह बात तय है कि उसमें असलियत का ख़याल होगा और सोवियत संघ की राजनैतिक और आर्थिक स्थिति को और भी मजबूत बनाने का खास ख़याल होगा। वे होशियारी से हिंदुस्तान की बाबत कुछ कहने से बचते रहे। अक्टूबर सोवियत इन्कलाब के पच्चीसवें सालाना जलसे पर स्तालिन ने घोषणा की कि उनकी आम नीति यह है कि 'जातीय भेद-भाव मिट

जाने राष्ट्रों की बराबरी की हैसियत हो और उनके लोगों का एका बना रहे, गुलाम क़ौमें आज़ाद हों और उनको उनके सारे अधिकार वापस हों क़ौमों को अपने-अपने मामलों का अपनी इच्छा के मुताबिक़ इंतज़ाम करने की आज़ादी हो जिन क़ौमों ने नुकसान उठाया है उनकी माली मदद हो और अपनी माली खुशहाली हासिल करने की उनकी कोशिश में उनको मदद दी जाये लोकतंत्री आज़ादियां वापस आयें और हिटलरी निज़ाम का ख़ात्मा हो।

चीन में यह बात ज़ाहिर थी कि हमारे किसी ख़ास काम की चाहे जो प्रतिक्रिया हो उनकी हमदर्दी पूरी तरह हिंदुस्तान की आज़ादी की तरफ़ थी। उस हमदर्दी की बुनियाद ऐतिहासिक थी लेकिन इससे भी ज़्यादा गहरी बात यह थी कि जबतक हिंदुस्तान आज़ाद नहीं होगा चीन की आज़ादी को भी ख़तरा बना रहेगा। यह बात सिर्फ़ चीन में ही नहीं थी बल्कि सारे एशिया में मिस्र में और मध्य पूर्व में हिंदुस्तान की आज़ादी और दूसरे गुलाम मुल्कों की भी आज़ादी की प्रतीक बन गई थी। उसकी आज़ादी की कसौटी पर मौजूदा वक़्त की या आनेवाले वक़्त की जांच की जा सकती थी। अपनी किताब 'वन वर्ल्ड' में मि० वेंडिल विल्की ने कहा है—"बहुत-से स्त्री-पुरुषों ने जिनसे मैंने अफ़्रीका से लेकर अलास्का तक बातचीत की एक सवाल पूछा जो एशिया में तो हर जगह ही किया गया और जो वहां व्यापक था—'हिंदुस्तान का क्या होगा?' क़ाहिरा के बाद हर जगह मेरे सामने यही सवाल था। चीन के सबसे ज़्यादा अक़्लमंद आदमी ने मुझसे कहा—जब हिंदुस्तान की आज़ादी की ख़्वाहिश को भविष्य के लिए टाल दिया जाता है, तो सुदूर पूर्व में जनता की निगाहों में ग्रेट ब्रिटेन नहीं गिरता बल्कि संयुक्त राज्य अमरीका गिर जाता है।

हिंदुस्तान में जो कुछ हुआ उसने युद्ध-संकट के होते हुए भी दुनिया को थोड़ी देर के लिए हिंदुस्तान की तरफ़ देखने को और पूर्व के बुनियादी मसलों पर ग़ौर करने को मजबूर कर दिया। एशिया के हर देश में जनता का दिल और दिमाग़ हिल उठा। हालांकि उस वक़्त हिंदुस्तानी बेबस मालूम देते थे और वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मज़बूत शिकंजों में बुरी तरह फंसे हुए थे लेकिन उन्होंने यह जता दिया था कि जबतक हिंदुस्तान आज़ाद नहीं होगा हिंदुस्तान में या एशिया में शांति नहीं हो सकती।

## ५ हिंदुस्तान में प्रतिक्रिया

विदेशी हुकूमत को किसी सभ्य जाति पर हुकूमत करने में बहुत

सी असुविधाएं होती हैं और साथ ही कितनी ही बुराइयां पैदा होती हैं। इनमें से एक नुकसान तो यह है कि आबादी के अवांछनीय तत्वों पर उसको निर्भर होना पड़ता है। आदर्शवादी स्वाभिमानी सजग और सबल लोग जो आबादी की काफी परवाह करते हैं, जो विदेशी हुकूमत के सामने जबरदस्ती सिर झुकाकर अपने-आपको गिराने के लिए तैयार नहीं होते या तो एक तरफ रहते हैं या उनका उस सरकार से झगड़ा होता है। विदेशी हुकूमत के वक्त में पदलोलुप और मौकापरस्त लोगों की तादाद आजाद देशों के मुकाबले बहुत ज्यादा होती है। आजाद मुल्कों में भी जहां पर एकतंत्री सरकार होती है, अच्छे आदमी सरकारी कार्रवाइयों में साथ देने में अक्सर असमर्थ होते हैं और वहां किसी नई प्रतिभा के प्रकट होने का करीब-करीब बिल्कुल मौका नहीं होता। एक विदेशी सरकार में जो लाजिमी तौर पर तानाशाही ढंग की होगी ये सब बुराइयां होती हैं और ये बढ़ती जाती हैं क्योंकि उसको हमेशा विरोध के और आतंक स्थापित करने के वातावरण में काम करना होता है। सरकार और जनता दोनों को ही हमेशा डर लगा रहता है और सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण सरकारी विभाग पुलिस और खुफिया विभाग बन जाते हैं।

जिस वक्त सरकार और जनता में खुली लड़ाई होती है, जनता के इन अवांछनीय तत्वों पर भरोसा करने और उनको बढ़ावा देने का ख्याल और ज्यादा साफ शक्ल में जाहिर होता है। बहुत-से अच्छे आदमियों को, चाहे वे इसे पसंद करते हों या नहीं, परिस्थितियों की मजबूरी से सरकारी ढांचे में काम करना पड़ता है। लेकिन जो लोग चोटी पर पहुंचते हैं और जिनको बड़े-बड़े ओहदे दिये जाते हैं, उनका चुनाव उनकी अराष्ट्रीयता की, दूसरे अपने देशवासियों की जासूसी करने और उनको कुचलने की योग्यता पर होता है। कभी-कभी आपसी द्वेष या नाउम्मीदी से वे ज्यादातर जनता की भावनाओं और धारणाओं का विरोध करते हैं। जितना ही ज्यादा विरोध वे कर पाते हैं उतनी ही ज्यादा उनकी काबलियत समझी जाती है। इस विकृत और अस्वस्थ वातावरण में किसी आदर्शवाद या किसी ऊंचे विचार को जगह नहीं मिलती। जो नाम दिये जाते हैं वे हैं ऊंचे ओहदे और ऊंची तनख्वाहें। सरकार के मददगारों का निकम्मापन और साथ ही उनकी कमी-बेशी कमियां बरदाश्त कर ली जाती हैं क्योंकि हर एक चीज को इस तौर पर माना है कि सरकार के विरोधियों को कुचलने में उन्होंने कितनी सरगर्मी से सहायता दी है। इसकी वजह से सरकार का बड़ी अजीब जमातों में और बहुत वाहियात लोगों में गठ-बंधन हो जाता है।

रिश्वतखोरी बेरहमी बेदर्दी और लोक-कल्याण की बिल्कुल अवहेलना होती है और उससे सारा वायुमंडल ज़हरीला हो जाता है।[1]

सरकार की ज्यादातर कार्रवाइयों पर सख्त नाराज़गी होती है लेकिन उससे भी ज्यादा नाराज़गी उसके हिंदुस्तानी मददगारों की हरकतों से होती है। ये लोग बादशाह से भी ज्यादा बादशाहत के हामी बन जाते हैं। उनके इस बरताव से औसत हिंदुस्तानी को सख्त नफ़रत और झुंझलाहट होती है। उनकी निगाह में इन लोगों का मुकाबला विदेशी आदमियों से या जर्मनों और जापानियों के ज़रिए कायम हुई कठपुतली सरकारों से किया जा सकता है। यह ख्याल और ऐसी भावनाएं सिर्फ़ कांग्रेस में ही नहीं हैं, बल्कि मुस्लिम लीग के मेंबरों में भी हैं और हमारे ज्यादा-से-ज्यादा नरमदली राजनीतिज्ञ भी इस बात को ज़ाहिर कर चुके हैं।[2]

[1] बंगाल की हुकूमत की जांच कमेटी ने जिसके सर आर्चीबाल्ड रोलैंड्स सभापति थे मई १९४५ में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में कहा—"रिश्वतखोरी चारों तरफ़ इतनी ज्यादा फैल गई है और उसको दूर करने के लिए इतने बेमन से कार्रवाई की गई है कि हमारी राय है कि इस बुराई को दूर करने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सख्ती बरती जानी चाहिए। इस बुराई ने सरकारी नौकरों और जनता के नैतिक पहलू को बिल्कुल बिगाड़ दिया है।" कमेटी को जब यह गवाही मिली कि ऊंची नौकरीवालों के जनता के प्रति बरताव में बहुत-सी खराबियां हैं तो उसको ताज्जुब हुआ और साथ ही अफ़सोस भी। यह कहा गया था कि "वे अपनी श्रेष्ठता की भावना की वजह से अलहदा रहते हैं, एक निर्जीव मशीन के ढर्रे को कायम रखने पर उनकी ज्यादा निगाह रहती है और उनको जनता की भलाई का ध्यान नहीं रहता। वे अपने-आपको जनता का सेवक नहीं बल्कि उसका मालिक समझते हैं।"

हिटलर, जो अपनी मातहती में दूसरों को जबरदस्ती लाने में होशियार है, अपनी 'मीन कम्फ' में लिखता है—"हमको यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि ये चरित्रहीन सिर झुकानेवाले आदमी अचानक ही अक्ल या दुनिया के अनुभवों की वजह से पछताकर अपना पहला ढर्रा छोड़कर नये ढंग से काम करने लगेंगे। उसके बरखिलाफ़ यही लोग, जबतक या तो सारा राष्ट्र हमेशा के लिए अपनी गुलामी के दुख का शिकार नहीं हो जाता या जबतक ज्यादा श्रेष्ठ शक्तियां ऊपर आकर इन बदनाम चरित्रहीनों से ही सत्ता को नहीं छीन लेतीं ऐसे सारे तरीकों से इसको दूर ही रखेंगे। पहली हालत में इन लोगों की

लड़ाई ने खासी छूट दे दी और सरकार की जोरदार राष्ट्रविरोधी कार्रवाइयों को और प्रचार के नये-नये तरीक़ों को एक आड़ मिल गई। 'मजदूरों का साहस बनाये रखने के लिए' सैकड़ों छोटे-छोटे मजदूर गुटों की सरकार ने रुपये से मदद की, गांधीजी और कांग्रेस को गालियां देनेवाले अखबार चलाये गये और उनकी आर्थिक मदद की गई। अखबारी कागज की उस वक्त कमी थी और पुराने अखबारों के कलम में भी हर्ज होता था लेकिन ये अखबार चलाये गये। सरकारी विज्ञापन जिनका लड़ाई की तैयारियों से संबंध बताया गया इस काम में लाये गये। विदेशों में समाचार देनेवाले केंद्र खोले गये जो हिंदुस्तान-सरकार की तरफ़ से बराबर प्रचार करते थे। सरकार द्वारा संगठित शिष्टमंडलों में साधारण योग्यता के और अक्सर अपरिचित व्यक्तियों के झुंड-के-झुंड खासतौर से अमरीका को भेजे गये। ये लोग केंद्रीय असेंबली के विरोध के होते हुए भेजे गये और इनको वहां *ब्रिटिश सरकार के प्रोपेगेंडा-एजेंटों की तरह* काम करने के लिए या उसके सिखाये हुए सबकों को दुहराने के लिए भेजा गया था। ऐसे शख्स को जिसकी स्वतंत्र विचारधारा थी और जो सरकारी नीति का आलोचक था बाहर जाने का कोई मौका नहीं था। न तो उसको पासपोर्ट ही मिलता और न उसको सफ़र की ही सुविधा दी जाती।

पिछले दो बरसों में 'जनता को खामोश' करने के लिए सरकार ने ऐसी ही और दूसरी तरकीबों से भी फ़ायदा उठाया है। राजनैतिक और सार्वजनिक कामों में निष्क्रियता आ जाती है। एक देश में जहां करीब करीब फ़ौजी कब्जा या फ़ौजी राज्य हो यह निष्क्रियता स्वाभाविक तौर पर आती है। लेकिन इन लक्षणों को जबरदस्ती दबाने से तो बीमारी सिर्फ़ बढ़ ही सकती है और हिंदुस्तान बहुत बीमार मुल्क है। प्रमुख अनुदार हिंदुस्तानी जो हमेशा सरकार का साथ देते रहे हैं इस ज्वालामुखी की वजह से जिसका फ़िलहाल मुंह बंद कर दिया गया है फ़िक्र में पड़ गये हैं। इसी वजह से वे कहते हैं कि ब्रिटिश सरकार के खिलाफ़ इतना तीखापन इतनी कटुता हमने कभी नहीं देखी या सुनी।

जबतक मैं अपनी जनता से न मिलूं न तो मुझे यह मालूम हो सकेगा और न मैं जान ही सकता हूं कि इन दो सालों के दौरान में उनमें

— — —

कुछ भी नया नहीं मालूम देता क्योंकि अक्सर विजेता उन्हें गुलाम निरीक्षक बना देता है। इस काम को ये चरित्रहीन लोग दुश्मन द्वारा तैनात किसी विदेशी हैवान के मुक़ाबले ज्यादा निर्दयतापूर्वक कर सकते हैं।

क्या तकलीफ़ें हुई हैं और आज उनके दिल में क्या है। लेकिन मुझे कोई शक नहीं है कि इन हाल के अनुभवों ने उनको कई ढंग से बदल दिया होगा। मैंने जब-तब खुद अपने दिमाग़ को परखने की कोशिश की है और इस बात की छान-बीन की है कि इन घटनाओं की खुद-ब-खुद क्या प्रतिक्रिया हुई। गुज़रे वक़्त में मैं हमेशा इंग्लैंड जाने की सोचता था क्योंकि वहां मेरे बहुत-से दोस्त हैं और पुरानी स्मृतियां मुझे वहां की तरफ़ खींचती हैं। लेकिन अब ऐसी कोई ख्वाहिश नहीं मालूम दी और अब उसका ख़याल भी बुरा मालूम पड़ा। अब मैं इंग्लैंड से ज्यादा-से-ज्यादा दूर रहना चाहता हूं और अंग्रेज़ों से हिंदुस्तान की समस्याओं पर बातचीत करने की भी कोई ख्वाहिश नहीं है। तब मुझे कुछ दोस्तों का ख़याल आया और मेरी सख्ती कम हुई और मैंने अपने-आपको समझाया कि सारी जनता के बारे में इस तरह राय बनाना कितना ग़लत है। मुझे उन विकट अनुभवों का ख़याल आया जो लड़ाई के दौरान में अंग्रेज़ों को हुए। फिर उस खिंचाव का ध्यान आया जिसमें वे बराबर इस बीच में रहे हैं और उनके बहुत-से आदमीयों की मौत का भी मुझे ध्यान आया। इस सबसे भावनाओं का तीखापन कुछ कम हुआ लेकिन बुनियादी प्रतिक्रिया बनी रही। शायद समय और भविष्य इसको कुछ कम कर दे और एक नया नज़रिया पैदा हो सके। लेकिन अगर मैं जिसका इंग्लैंड और अंग्रेज़ों से इतना नाता था इस तरह महसूस कर सकता हूं तब और लोगों में जिनका उनसे कोई संपर्क नहीं है किस तरह की प्रतिक्रिया हुई होगी ?

## ६ हिंदुस्तान का भयंकर अकाल

हिंदुस्तान बहुत बीमार था—शरीर से भी और मन से भी। हालांकि कुछ लोग लड़ाई से मालामाल हो गये थे लेकिन दूसरे लोगों पर बोझ हद दर्जे पर पहुंच गया था और इसको डरावनी याद अकाल ने आकर दिलाई। इस अकाल का बड़ा विस्तार था। उसका मैदान बंगाल में और हिंदुस्तान के पूरबी और दक्खिनी हिस्से में था। ब्रिटिश हुकूमत के पिछले १७० बरसों में यह सबसे ज्यादा बड़ा और विनाशकारी अकाल था। इसकी तुलना १७६६ से १७७० के बंगाल और बिहार के भयंकर अकालों से ही की जा सकती है जो ब्रिटिश राज्य के क़ायम होने के कुछ ही बाद हुए। महामारियां ख़ासतौर से हैज़ा और मलेरिया की बीमारियां फैलीं और वे दूसरे सूबों में भी फैल गईं और आज भी हज़ारों आदमी उनके शिकार हो रहे हैं। लाखों आदमी अकाल और बीमारी से मर चुके हैं। फिर भी यही दृश्य हिंदुस्तान में चारों तरफ़ मंडरा रहा है और लाखों के

रहा है।

इस अकाल ने चोटी के थोड़े-से आदमियों की खुशहाली के नीचे हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य की कई पीढ़ियों की हुकूमत से जो ग़रीबी और पस्ती इन्सानी गिरावट और बरबादी की तस्वीर तैयार हुई थी, खोलकर रख दी। हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य का यह नतीजा था और यही उसकी कामयाबी थी। यह कोई प्रकृति का कोप नहीं था कि अकाल पड़ा और न इसकी वजह लड़ाई की कार्रवाई थी और न यह दुश्मन के घेरे की वजह से ही हुआ। हर जानकार शख्स इस बात से सहमत है कि यह अकाल आदमी का बनाया था। इसको पहले से देखा जा सकता था और इसको टाला जा सकता था। हर शख्स इस बात से सहमत है कि संबंधित अधिकारियों ने आश्चर्यजनक अवहेलना, निकम्मापन और बेफ़िक्री दिखाई। आख़िरी वक्त तक, जबतक हज़ारों आदमी रोज़ाना सड़कों पर मरने नहीं लगे, अकाल की मौजूदगी को माना ही नहीं गया और इस सिलसिले में अखबारों में चर्चा सेंसर के ज़रिये दबा दी गई। जब कलकत्ते के 'स्टेट्समैन' अखबार ने कलकत्ते की गलियों में भूख से मरती हुई औरतों और बच्चों की दर्दनाक और डरावनी तस्वीरें छापीं, तो हिंदुस्तान-सरकार के एक प्रवक्ता ने सरकारी तौर पर केंद्रीय असेंबली में चौंकते हुए परिस्थिति को 'नाटकीय' बनाने का विरोध किया। ज़ाहिर है, उनके लिए हिंदुस्तान में भूख से हज़ारों आदमियों का रोज़ाना मर जाना मामूली-सी बात थी। लंदन में इंडिया ऑफ़िस के मि० एमरी ने अपने बयानों से और अपनी

---

१९४३-४४ के बंगाल के अकाल की मौतों के बारे में अलग-अलग अंदाज़ हैं। कलकत्ता विश्वविद्यालय के एंथ्रोपोलोजी विभाग ने वैज्ञानिक ढंग से अकाल के क्षेत्रों में नमूने के टुकड़े लेकर विस्तृत छान-बीन की। उनके हिसाब से बंगाल के अकाल में कुल ३४ मौतें हुईं। यह भी पाया गया कि १९४३-४४ के दौरान में बंगाल के ४६ फ़ी-सदी लोगों को बड़ी बीमारियाँ हुईं। बंगाल सरकार की सरकारी ख़बरों के हिसाब से जो ग्रामस्तर पटवारी मुखिया आदि की अविश्वसनीय ख़बरों पर निर्भर थीं, मौतों की गिनती काफ़ी कम है। सरकारी अकाल जाँच कमीशन, जिसकी सदारत सर जान वुडहेड ने की, इस नतीजे पर पहुँचा कि बंगाल में "अकाल और उससे संबंधित महामारियों के ही कारण" १५ मौतें हुईं। ये आँकड़े सिर्फ़ बंगाल के ही हैं। देश के और कई हिस्सों में भी अकाल की वजह से या उसके साथ आनेवाली बीमारियों की वजह से बहुत बरबादी हुई।

इन्कारी से अपने-आपको ला-सानी बना दिया। और जब इस व्यापक अकाल की मौजूदगी पर न तो कोई परदा ही डाला जा सका और न उसकी मौजूदगी को नामंजूर ही किया जा सका तो हर हुक्मरान गुट ने किसी दूसरे गुट को दोष दिया। हिंदुस्तान-सरकार ने कहा कि कसूर सूबे की सरकार का है। सूबे की सरकार खुद एक कठपुतली सरकार थी जो गवर्नर के मातहत सिविल अधिकारियों के जरिये काम करती थी। सभी का कसूर था और लाजिमी तौर पर सबसे ज्यादा उस तानाशाही सरकार का जिसका वाइसराय खुद अकेला प्रतिनिधि है। वह हिंदुस्तान में किसी भी जगह जो चाहता कर सकता था। किसी भी लोकतंत्री या अर्ध-लोकतंत्री देश में ऐसी बरबादी की वजह से उससे संबंधित सारी सरकार मिट गई होती। लेकिन हिंदुस्तान में ऐसा नहीं हुआ और यहां सारी चीजें ज्यों-की-त्यों चलती रहीं।

लड़ाई के नजरिये से देखते हुए भी यह अकाल ऐसी जगह पड़ा जो लड़ाई के सबसे ज्यादा करीब थी और जहां हमला होना मुमकिन था। व्यापक अकाल और आर्थिक ढांचे की बरबादी से हिफाजत और बचाव की सामर्थ्य लाजिमी तौर पर कुचली जायेगी और हमला करने की ताकत तो और भी कम हो जायेगी। इस तरह हिंदुस्तान की हिफाजत और जापानी आक्रमणकारियों के खिलाफ लड़ाई की तैयारी के सिलसिले में हिंदुस्तान सरकार ने अपनी जिम्मेदारी निबाही। सरकारी नीति का निशान साधनों की बरबादी और फूंकी हुई जमीन नहीं थी (ताकि दुश्मन उससे कोई फायदा न उठा सके) बल्कि लड़ाई के अहम हलके में लाखों की तादाद में फुंके हुए, भूखे और मरे हुए आदमी थे।

सारे देश में हिंदुस्तानी गैर-सरकारी संस्थाओं और साथ ही इन्सानियत-परस्त इंग्लैंड के क्वेकरों ने सहायता पहुंचाने की काफ़ी कोशिश की। आखिर में मरकजी और सूबाई सरकारें भी जगीं और उन्होंने संकट की भयंकरता को महसूस किया और सहायता पहुंचाने के लिए फ़ौज की मदद ली गई। इस वक्त अकाल के फैलाव को रोकने की और उसके बुरे नतीजों को कम करने की कोशिश की गई। लेकिन सहायता अस्थायी थी और उसके बुरे नतीजे अब भी चल रहे हैं और किसीको पता नहीं कि कब फिर इससे भी बदतर पैमाने पर अकाल आ जाये। बंगाल तहस-नहस हो चुका है, उसका आर्थिक और सामाजिक जीवन बरबाद हो चुका है और नई पीढ़ी के लिए कमजोर लोग बाक़ी बच रहे हैं।

जब ये घटनाएं हो रही थीं और कलकत्ते की सड़कों पर लाशें बिछी

हुई थी कलकत्ते के ऊपरी वर्ग के दस हजार आदमियों के सामाजिक जीवन में कोई फर्क नहीं आया। वहां नाच-गाने हो रहे थे दावतें दी जाती थीं विलास का बाजार गरम था और जीवन विनोदमय था। काफी अरसे के बाद तक वहां कोई राशनिंग नहीं थी। कलकत्ते में घुड़दौड़ बराबर होती रही और हजारों लोग वहां पर जाते रहे। खाद्य सामग्री के लिए यातायात का कोई इंतजाम नहीं था लेकिन घुड़दौड़ के घोड़े रेल के डिब्बों में देश के दूसरे हिस्से से आते रहे। इस शानदार जिंदगी में अंग्रेज और हिंदुस्तानी दोनों ही शामिल हुए थे और अब रुपये की बहुतायत थी। कभी-कभी तो यह रुपया खाने-पीने के पदार्थों पर बड़े-बड़े दामों की शक्ल में कमाया गया होता था—वहां खाने की चीजें जिनके अभाव से लाखों हजार आदमी रोजाना मर रहे थे।

अकसर यह कहा जाता है कि हिंदुस्तान एक ऐसा देश है, जहां कई बड़े भारी विरोध हैं। कुछ लोग बहुत मालदार हैं, बहुत-से लोग बहुत ज्यादा गरीब हैं यहां आधुनिकता भी है मध्ययुगीनता भी है शासक हैं शासित हैं ब्रिटिश हैं और हिंदुस्तानी हैं। १९४३ के पिछले छः महीनों में भयंकर अकाल के महीनों में कलकत्ते में जितने विरोधाभास देखने को मिले इतने पहले कभी नहीं दिखाई दिये। दो दुनियाएं—आमतौर से अलग-अलग रहनेवाली एक-दूसरे से बेखबर—अचानक ही सामने आईं, और दोनों साथ-साथ एक ही जगह मौजूद थीं। यह असाम्य हैरतअंगेज था और इससे भी ज्यादा बड़ी बात यह थी कि बहुत-से लोगों ने इस भयंकरता को इस आश्चर्यजनक असाम्य को महसूस भी नहीं किया और वे अपनी पुरानी लीक पर ज्यों-के-त्यों चलते रहे। उनको क्या अनुभव हुआ यह नहीं कहा जा सकता उनके बारे में राय तो उनके व्यवहार को देखकर ही दी जा सकती है। शायद ज्यादातर अंग्रेजों के लिए यह आसान था क्योंकि उनका जीवन अलग बीतता था और उनमें वर्गीय भावना थी। चाहे उनमें से कुछ आदमियों का इस तरफ झुकाव ही क्यों न हुआ हो लेकिन वे अपना पुराना ढर्रा बदल नहीं सकते थे। लेकिन वे हिंदुस्तानी जो इस ढंग से काम करते थे उस बड़ी खाई को दर्शाते थे जो उनको बाकी जनता से अलग किये हुए थी और जिसको भावना या मानवता या किसी भी लगाव से पाटा नहीं जा सकता था।

हर बड़े संकट की तरह अकाल में भी हिंदुस्तानी जनता के अच्छे गुण और उसकी कमजोरियां देखने को मिलीं। उनमें से बहुत-से आदमी जिनमें के लोग भी थे जिनकी सबसे ज्यादा अहमियत की जेब में थे और किसी

ढंग से मदद नहीं कर सकते थे। फिर भी ग़ैर-सरकारी ढंग से संगठित किये हुए सहायता के काम में हर वर्ग के मर्द और औरतें थीं। इन्होंने भी तोड़नेवाली हालतों में महनत की क़ाबलियत दिखाई, आपसी मदद की भावना दिखाई और सहयोग और आत्म-बलिदान दिखाया। उन लोगों में जो छोटी-छोटी बातों पर झगड़ों में फंसे हुए थे जिनमें आपसी जलन थी जो निष्क्रिय थे और जिन्होंने दूसरों की मदद के लिए कुछ नहीं किया और उन थोड़े-से आदमियों में जो इतने राष्ट्रविरोधी हो गये थे और जिनमें से इन्सानियत इतनी ग़ायब हो गई थी कि उन्होंने इन सब यन्त्रणाओं की बिल्कुल भी परवाह नहीं की हमको कमज़ोरियां नज़र आईं।

अकाल लड़ाई की हालतों का सीधा-सादा नतीजा था और उसकी दूसरी वजह थी हुकूमत में दूरंदेशी की कमी और उसकी लापरवाही। देश की खाद्य-समस्या के बारे में इन अधिकारियों की अवहेलना समझ में नहीं आती क्योंकि हर समझदार आदमी को जिसने इस मामले पर ध्यान दिया यह मालूम था कि इस ढंग का संकट आ रहा है। लड़ाई के शुरू सालों से ही खाद्य-स्थिति का ठीक ढंग से इंतज़ाम करने से अकाल टाला जा सकता था। हर दूसरे देश में जिस पर लड़ाई का असर हुआ युद्धकालीन इंतज़ाम के इस पहलू पर पूरी तरह ध्यान दिया गया था। यह काम उन्होंने लड़ाई छिड़ने के पहले ही शुरू कर दिया था। हिंदुस्तान में हिंदुस्तान की सरकार ने यूरोप में लड़ाई छिड़ने के सवा तीन साल बाद और जापान से लड़ाई छिड़ने के एक साल बाद एक खाद्य-विभाग खोला। और इसके अलावा यह आम जानकारी की बात थी कि बरमा पर जापानियों के क़ब्ज़े से बंगाल को खाद्य सामग्री के मिलने पर असर हुआ था। खाने के सामान के बारे में हिंदुस्तान-सरकार की १९४३ के छः महीने बाद तक कोई नीति नहीं थी और उस वक़्त अकाल का भयंकर तांडव शुरू हो चुका था। यह एक बेहद असाधारण बात है कि हुकूमत को चुनौती देनेवालों को कुचलने के अलावा सरकार और दूसरे कामों में कितनी सुस्त और निकम्मी है। शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि जिस ढंग से यह बनी है उसके लिहाज़ से उसका दिमाग़ अपने-आपको बराबर क़ायम रखने के ख़ास काम में पूरी तरह घिरा रहता है। जब कोई संकट सिर आ ही जाता है तब उसका ध्यान दूसरी बातों पर जाता है। और यह संकट सरकार की योग्यता और उपयुक्तता में विश्वास के अभाव से और ज़्यादा बढ़ जाता है।

---

[1] अकाल-जांच कमीशन, जिसके सर जॉन वुडहेड अध्यक्ष थे (जिसकी

हालांकि अकाल निस्सन्देह लड़ाई की हालतों की वजह से था और उसको रोका जा सकता था लेकिन साथ ही यह बात भी है कि उसकी ज्यादा गहरी वजह उस बुनियादी नीति में थी जो हिंदुस्तान को दिन-ब-दिन ज्यादा ग़रीब बनाती जा रही थी और जिसकी वजह से करोड़ों आदमी करीब-करीब भूखे रहते थे। १९११ में इंडियन मैडीकल सर्विस के डायरेक्टर मेजर जनरल सर जॉन मीगा ने हिंदुस्तान में सार्वजनिक

रिपोर्ट मई १९४५ में प्रकाशित हुई ) दबी हुई सरकारी भाषा में उन सरकारी ग़लतियों के तरीक़े और खासी हालत का ज़िक्र करता है, जिनकी वजह से बंगाल का अकाल पड़ा। "हमारे लिए बंगाल के अकाल की वजहों की छानबीन करना एक बहुत दुख और दर्द से भरा काम रहा है। हमारे ऊपर भयंकर विनाश की गहरी भावना छाई रही है। बंगाल के अकाल में पन्द्रह लाख आदमी उन हालतों के शिकार हुए, जिनके लिए वे खुद जिम्मेदार नहीं थे। समाज अपने संगठन के होते हुए भी अपने कम-ज़ोर सदस्यों की हिफ़ाज़त करने में नाकामयाब रहा। असल में नैतिक, सामाजिक और साथ ही सरकारी ढांचा टूट गया।" सूबे की आर्थिक कमियों की तरफ़ ज़मीन पर गुज़र करनेवालों की तादाद की बढ़ती पर, जिसमें उद्योग-धन्धों की तरक्की से कोई कमी नहीं हुई उन्होंने इशारा किया। उन्होंने यह भी बताया कि आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा सिर्फ़ किसी तरह गुज़र ही कर रहा था और वह और ज्यादा आर्थिक तनाव बरदाश्त नहीं कर सकता था। स्वास्थ्य की हालत बहुत बिगड़ी हुई थी और पोषण का मापदंड बहुत नीचा था। तंदुरुस्ती और आर्थिक दशा दोनों में ही हिफ़ाज़त और बचाव की गुंजाइश नहीं थी। इसके बाद उन्होंने और ज्यादा क़रीबी वजहों पर ग़ौर किया; उस मौसम की बुरी फ़सल व मार की हार और उसकी वजह से बरमा से आनेवाले चावल का न आना, सरकार की 'नामंजूरी' की नीति, उससे कुछ ग़रीब जमातों की बरबादी होना, खाने के सामान और यातायात के लिए फ़ौजी मांग और सरकार में विश्वास की कमी। उन्होंने हिंदुस्तान-सरकार की और बंगाल-सरकार की नीति की या असरदार नीति के अभाव की या असरदार बरतने वाली नीति की निंदा की। उनकी दूरदर्शिता की कमी और आनेवाले खतरों के लिए इन्तज़ाम की कमी की भी उन्होंने आलोचना की; अकाल के आ जाने के बाद भी उसकी मौजूदगी को न मानने या उसकी बाबत ऐलान न करने के रवैये की भी उन्होंने आलोचना की। साथ ही परिस्थिति का सामना करने के लिए बिल्कुल अधूरे इन्तज़ाम की उन्होंने आलोचना

स्वास्थ्य पर अपनी रिपोर्ट में एक जगह लिखा है—"कुल मिलाकर हिंदुस्तान में सरकारी अस्पतालों के डाक्टरों के हिसाब से ३९ फ़ी-सदी का ठीक पोषण होता है ४१ फ़ी-सदी का पोषण पूरी तरह नहीं होता और २० फ़ी-सदी का पोषण बहुत कम होता है। सबसे ज़्यादा ख़राब हालत का ज़िक्र बंगाल के डाक्टरों ने किया है। उनके हिसाब से उस सूबे की आबादी के सिर्फ़ २२ फ़ी-सदी भाग को पर्याप्त पोषण मिलता है और वहाँ ३१ फ़ी-सदी का पोषण बहुत नाकाफ़ी है।"

---

थी। आगे चलकर वह कहते हैं—"सारी हालतों पर ग़ौर करते हुए हम इस नतीजे को टाल नहीं सकते कि बंगाल सरकार के लिए यह मुमकिन था कि वह हिम्मत से पक्के इरादे से ठीक वक़्त पर सोच-समझकर इंतज़ाम से, अकाल की भयंकर बरबादी को बहुत हद तक रोक सकती थी और अकाल इस हद तक न पहुँच पाता जैसा वह असल में पहुँच गया।" इसके अलावा हिंदुस्तान-सरकार ने काफ़ी जल्दी ही यह बात महसूस नहीं की कि नाजों के यातायात के लिए एक योजना और एक ढंग की ज़रूरत है । "बंगाल सरकार के साथ ही हिंदुस्तान-सरकार भी मार्च १९४३ में कंट्रोल तोड़ने के लिए ज़िम्मेदार है। बाद में हिंदुस्तान-सरकार का हिंदुस्तान के ज़्यादातर हिस्से में मुक्त-व्यापार चालू करने का प्रस्ताव बिल्कुल बेजा था और ऐसा प्रस्ताव होना ही नहीं चाहिए था। अगर बहुत-से प्रांतों और रियासतों का विरोध कामयाब न हुआ होता तो आज उसके लागू करने से हिंदुस्तान के बहुत-से हिस्सों में भारी बरबादी हुई होती।" केंद्र और सूबे दोनों ही जगहों में सरकारी मशीन की बदइंतज़ामी और हृदयहीनता की चर्चा के बाद कमीशन ने कहा कि "बंगाल की जनता या कम-से-कम उसके कुछ हिस्से भी क़सूरवार हैं। हमने डर और लालच के उस वातावरण का ज़िक्र किया है, जिसने कंट्रोल के हटने के बाद मँहगाई को तेज़ी से बढ़ा दिया। इस भयंकर संकट के वक़्त बेहद मुनाफ़ाख़ोरी हुई और इन परिस्थितियों में कुछ लोगों के मुनाफ़े के मानी दूसरे लोगों की मौत थी। बहुत-से लोगों के पास बहुतायत थी और दूसरी तरफ़ लोग भूखों मर रहे थे। तकलीफ़ को अपनी आँखों से देखकर भी बहुत-से लोगों पर कोई असर नहीं हुआ और उनकी उपेक्षा बनी रही। सूबे में चारों तरफ़ भ्रष्टाचार का राज था और वह समाज के कितने ही हिस्सों में था।" भूख और मौत के कारबार में कुल मिलाकर १५० करोड़ रुपये का मुनाफ़ा हुआ। इस तरह से अगर पंद्रह लाख मौतें हुईं तो हर मौत के ऊपर १००० रुपये का मुनाफ़ा हुआ।

हिंदुस्तान में ब्रिटिश राज्य पर बंगाल की भयंकर बरबादी ने, उड़ीसा, मलाबार और दूसरी जगहों के अकालों ने, आख़िरी फ़ैसला कर लिया है। ब्रिटिश क़ानूनी तौर पर हिंदुस्तान छोड़ेंगे और उनके हिंदुस्तानी साम्राज्य की याद रह जायेगी। लेकिन जब वे जायेंगे तो वे क्या छोड़ेंगे—कितनी इन्सानी गिरावट और कितना संचित दुख? तीन साल पहले मृत्यु-शैया पर पड़े हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सामने यह चित्र आया था—"लेकिन कैसा हिंदुस्तान वे छोड़ेंगे, कितना दुख-भरा? जब सदियों पुरानी उनकी शासन की धारा अंत में सूख जायेगी तो अपने पीछे वे कितनी कीचड़ और कितनी दलदल छोड़ेंगे!"

## ७ हिंदुस्तान की सजीव सामर्थ्य

अकाल और लड़ाई चाहे हों या न हों, लेकिन अपने जन्म-जात अंतर्विरोधों से पूर्ण और उन्हीं विरोधों और उनसे प्रतिफलित क्रियाओं से पोषण पाती हुई जीवन की धारा बराबर चालू रहती है। प्रकृति अपना कायाकल्प करती है और कल के लड़ाई के मैदान को आज फूलों और हरी घास से ढक देती है और पहले जो खून गिरा था वह अब ज़मीन को सींचता है और नये जीवन को रंग, रूप और शक्ति देता है। इन्सान, जिसमें याद रखने का ग़ैर-मामूली गुण होता है, गुज़रे हुए ज़माने की कहानियों और घटनाओं से चिपटा रहता है। वह शायद ही कभी मौजूदा वक़्त के साथ चलता हो, जिसमें यह दुनिया है, जो हर रोज़ नई ही दिखाई देती है। मौजूदा वक़्त, इससे पहले कि हमको उसका पूरा बोध हो, गुज़रे ज़माने में खिसक जाता है; आज, जो बीती हुई कल का बच्चा है, खुद अपनी जगह अपनी संतान आनेवाली कल को दे जाता है। मार्के की जीत का ख़ात्मा मन और दलदल में होता है; मालूम पड़नेवाली हार की कड़ी आग में से नव उस भावना का जन्म होता है, जिसमें नई ताक़त होती है और जिसके नज़रिये में फैलाव होता है। कमज़ोर भावनावाले झुक जाते हैं और वे हटा दिये जाते हैं, लेकिन बाक़ी लोग प्रकाश-ज्योति को आगे ले चलते हैं और उसे आनेवाले कल के मार्ग-दर्शकों को सौंप देते हैं।

हिंदुस्तान के अकाल ने हिंदुस्तान की समस्याओं के भयंकर और तेज़ दबाव को कुछ हद तक महसूस करा दिया। उसने देश पर मँडराते हुए भयंकर सर्वनाश की याद दिला दी। इंग्लैंड में लोगों ने उसके बारे में क्या महसूस किया, मुझे पता नहीं, लेकिन उनमें से कुछ लोगों ने अपनी आदत के मुताबिक़ सारा कसूर हिंदुस्तान और उसकी जनता का बताया। अनाज की कमी थी, डाक्टरों की कमी थी, सफ़ाई के इंतज़ाम की कमी थी

ज़रूरी सामान की कमी थी, आमद-रफ़्त के साधनों की कमी थी, इन्सान को छोड़कर हर चीज़ की कमी थी। आबादी बढ़ गई थी और आगे भी बढ़ती हुई मालूम दे रही थी। हुकूमत भी एक संग-दिल दूरदेश जाति की यह बढ़ती हुई आबादी को बग़ैर इलाज किये हुए बढ़ रही थी और जो एक तरफ़ सरकार की योजना या योजनाहीनता की गड़बड़ा रही थी। इस तरह आर्थिक मसलों की अचानक ही अहमियत बढ़ गई। हमसे कहा गया राजनीति और राजनैतिक मसलों को एक तरफ़ रख देना चाहिए, मानो जबतक उस वक़्त में अन्य मसलों को वह सुलझा न सके राजनीति का कोई महत्त्व ही न हो। दुनिया में 'लैसेज़ फ़ेअर' (उद्योग और व्यापार में सरकारी हस्त-क्षेप से स्वतंत्रता) की तरफ़दारी करनेवाली गिनी-चुनी सरकारों में से हिंदुस्तान-सरकार भी एक थी। अब वह योजनाओं की सोचने लगी लेकिन संगठित योजना के बारे में उसे कुछ भी पता नहीं था। वह तो अपने मौजूदा ढांचे को बनाये रखने की बाबत ही सोच सकती थी। वह निहित स्वार्थों या वैसी ही बातों को बनाये रखने के सिलसिले में ही ध्यान दे सकती थी।

हिंदुस्तान की जनता में प्रतिक्रिया ज़ोरदार और ज़्यादा गहरी हुई। लेकिन भारत रक्षा क़ानून या उसके नियमों के चारों तरफ़ फैले हुए कंचुक की वजह से उसका कोई खुला इज़हार नहीं हुआ। बंगाल का आर्थिक ढांचा बिलकुल टूट गया था और करोड़ों आदमी बिलकुल कुचल दिये गये थे। हिंदुस्तान के दूसरे हिस्सों में जो कुछ हो रहा था, बंगाल की मिसाल उसमें एक हद पर पहुंच गई थी और ऐसा मालूम होता था कि फिर अच्छा इतज़ाम होना मुश्किल है। उद्योग-धंधों के मालिक भी जो लड़ाई के दौरान में मालामाल हो गये थे झकझोर दिये गये और अपने संकरे घेरे के बाहर देखने को मजबूर हुए। कुछ राजनीतिज्ञों के आदर्शवाद से उन्हें डर तो लगता था लेकिन वे अपने ढंग से यथार्थवादी थे और उस यथार्थ-वाद से वे जिन नतीजों पर पहुंचे वे बहुत गहरे और व्यापक असरवाले थे। बंबई के उद्योगपतियों ने खासतौर से टाटा कारबारवालों ने हिंदु-स्तान की तरक्की के लिए एक पंद्रह साल की योजना बनाई। यह योजना अभी पूरी नहीं हुई है और उसमें कई जगह खोखलापन है। लाज़िमी तौर पर बड़े-बड़े कारखानेवालों ने उस पर अपने ही ढंग से सोचा है और उसमें तरक्क़ीवादी तदबीरों से बचने की ज़्यादा-से-ज़्यादा कोशिश की गई है। फिर भी हिंदुस्तान की घटनाओं के दबाव ने उनको ज़्यादा बड़े पैमाने पर सोचने के लिए मजबूर किया और जिस घेरे में सोचने के वे आदी थे

उससे अब उन्हें बाहर जाना पड़ा है। उस योजना के भीतर ही क्रान्तिकारी तब्दीली है—चाहे खुद योजना बनानेवाले उसे न पसंद करते हों लेकिन फिर भी बात है। इस योजना के बनानेवालों में से कुछ नेशनल प्लानिंग कमेटी के मेंबर थे और उन्होंने उस कमेटी के थोड़े-से काम का फ़ायदा उठाया है। बेशक इस योजना में रद्दोबदल करनी होगी और उसमें कितनी ही बात जोड़नी पड़ेगी और कई ढंग से उसका इंतज़ाम करना होगा। लेकिन यह बात ध्यान में रखते हुए कि यह योजना मनुबार बनी है यह स्वागत के योग्य है और उससे बढ़ावा और इशारा मिलता है कि हिंदुस्तान को किधर जाना है। उसकी बुनियाद आज़ाद हिंदुस्तान और हिंदुस्तान के राजनैतिक और आर्थिक एके पर है। इस योजना में पूंजी के मामले में अनुदार साहूकार को महत्त्व या क़ाबू नहीं दिया गया है और इस बात पर ज़ोर दिया है कि देश की असली पूंजी उसके साधनों में उसकी मानी शक्ति और उसकी जन-शक्ति में है। इस योजना की या और किसी दूसरी योजना की कामयाबी लाज़िमी तौर पर सिर्फ़ उत्पादन पर ही नहीं निर्भर होगी बल्कि उसके लिए पैदा की हुई सारी राष्ट्रीय संपत्ति का उचित और समान वितरण ज़रूरी होगा। साथ ही खेती और ज़मीन में सुधार बुनियादी और सबसे पहली ज़रूरत है।

योजना-निर्माण और योजनाबद्ध समाज का ख़याल अब कमोबेश सभी लोग मानते हैं। लेकिन खुद योजना के कोई मानी नहीं और यह लाज़िमी नहीं है कि उससे अच्छे नतीजे हों। हर एक चीज़ योजना के उद्देश्य पर निर्भर होगी है। किसका उस पर क़ाबू होगा सरकार का क्या रवैया होगा इन बातों बातों की भी बहुत अहमियत है। क्या उस योजना में सारी जनता की तरक्क़ी और बेहतरी का मक़सद लाज़िमी तौर पर है? क्या उस योजना में हर एक को आज़ादी सहकारिता मुनासिब और काम के लिए मौक़ा है? पैदावार का बढ़ाना ज़रूरी है लेकिन सिर्फ़ इतने ही से कोई फ़ायदा नहीं है और शायद उससे हमारी उलझनें और बढ़ जायें। पुराना जमींदारी रियायतों और निहित स्वार्थों को बनाये रखने की कोशिश योजना का [illegible] भी है। सच्ची योजना को यह बात माननी होगी कि [illegible] जनता की बेहतरी के लिए किसी भी कार्यक्रम में इन खास [illegible] का मौक़ा नहीं दिया जायगा। सभी तरफ़ [illegible] स्वीकार हुई कि वे [illegible] नहीं [illegible] सकती थी। पार्लमेंट के [illegible] कानून में

थोड़ी-सी रद्दोबदल करने की कोशिश और खेती पर की आमदनी पर इनकम-टैक्स लगाने की उनकी कोशिश को भी अदालतों में फ़ैसले के लिए भेजा गया कि वे क़ानूनी हैं या नहीं।

अगर योजनाओं पर बड़े-बड़े उद्योगपतियों का ही क़ाबू हो तो क़ुदरती तौर पर उसका ढांचा वही होगा जिसके वे आदी हैं और लाज़िमी तौर पर उसकी बुनियाद मुनाफ़े की नीयत पर होगी जो इस अपने-अपने फ़ायदे की ही सोचनेवाले समाज में चारों तरफ़ है। वे लोग कितने ही नेकनीयत क्यों न हों और उनमें कितने ही सचमुच बहुत नेक-नीयत हैं भी लेकिन बिलकुल नये ढंग से सोचना उनके लिए मुश्किल है। यहां-तक कि जिस वक़्त वे उद्योग-धंधों पर सरकारी क़ब्ज़े की बात कहते हैं, तो सरकार की जो शक्ल उनके दिमाग़ में होती है उसमें और मौजूदा सरकार में क़रीब-क़रीब कोई फ़र्क़ नहीं है।

हमको कभी-कभी यह बताया जाता है कि मौजूदा हिंदुस्तान-सरकार, जो रेलों की मालिक है और उनका इंतज़ाम करती है और जिसका उद्योग पूंजी और आम ज़िंदगी पर दख़ल और क़ाबू दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है समाजवादी दिशा में आगे बढ़ रही है। इस बात को छोड़कर भी कि यह ख़ासतौर से विदेशी नियंत्रण है, एक बात और है, और वह यह है कि मौजूदा सरकार के नियंत्रण में और लोकतंत्री सरकार के नियंत्रण में बहुत बड़ा फ़र्क़ है। हालांकि कुछ पूंजीवादी कार्रवाइयों पर रोक है, लेकिन सारा ढांचा रियायतों की हिफ़ाज़त की बुनियाद पर खड़ा है। पुराने तानाशाही औपनिवेशिक ढांचे में सिवाय कुछ ख़ास स्वार्थों के आर्थिक मसलों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता था। नई परिस्थिति का 'लैसेज फेयर' ढंग से मुक़ाबला करने में अपनी असमर्थता को देखकर अपनी तानाशाही को बनाये रखने के पक्के इरादे से लाज़िमी तौर पर वह नीति फ़ासिस्ट दिशा में जाती है और आर्थिक जीवन पर फ़ासिस्ट ढंग से क़ब्ज़ा करने की कोशिश करती है, मौजूदा नागरिक अधिकारों को कुचल देती है और मामूली रद्दोबदल के बाद नई हालत में अपनी एकतंत्री सरकार और अपने पूंजीवादी ढांचे को थामा लेती है। इस तरह फ़ासिस्ट देशों के ढंग पर एक आदमी की सरकार बनाने की कोशिश होती है। उद्योग-धंधों पर और राष्ट्रीय ज़िंदगी पर भारी क़ब्ज़ा होता है और आज़ादी से व्यापार और काम-काज पर पाबंदियां होती हैं और पुरानी बुनियाद ज्यों-की-त्यों बनाई रखी जाती है। यह तो समाजवाद से बहुत दूर की चीज़ है अमल में जहां विदेशी हुकूमत हो वहां पर समाजवाद

की बात ही बिल्कुल बेमानी है। अस्थायी रूप में भी ऐसी कोशिश कामयाब हो सकती है इस बात में भी बहुत शक है क्योंकि उससे तो मौजूदा मसले और ज्यादा बढ़ते जाते हैं। लेकिन लड़ाई की हालत में उसे काम करने के लिए उपयुक्त वातावरण मिल जाता है। उद्योग-धंधों के पूरे राष्ट्रीयकरण से जिसमें साथ-ही-साथ राजनैतिक लोकतंत्र नहीं है एक दूसरे ढंग का शोषण शुरू हो जायेगा क्योंकि उस वक्त उद्योग-धंधे तो सरकार के बस में होंगे लेकिन सरकार जनता की नहीं होगी।

हिंदुस्तान में हमारी बड़ी-बड़ी मुश्किलों की वजह यह है कि हम—राजनैतिक या सामाजिक या उद्योग-धंधों की या सांप्रदायिक या खेती-बाड़ी की या हिंदुस्तानी रियासतों की—अपनी समस्याओं पर मौजूदा ढांचे के दायरे में ही सोच-विचार करते हैं। उसी ढांचे में उन रियासतों और खास अधिकारों को जो उसमें चिपटे हुए हैं बनाये रखकर उन समस्याओं का हल करना नामुमकिन है। अगर परिस्थिति के दबाव से कहीं छोटी-मोटी मरम्मत कर दी जाये तो वह न ज्यादा रह सकती है और न खपती ही है। पुराने मसले बने रहते हैं और नये मसले या पुराने मसले एक नई शकल में आकर खड़े हो जाते हैं। हमारा यह ढंग हमारी आदत और पुराने डर की वजह से है लेकिन उसकी सबसे बड़ी और खास वजह ब्रिटिश सरकार का वह 'फौलादी ढांचा' है जो इस टूटी इमारत को संभाले हुए है।

लड़ाई ने हिंदुस्तान के मौजूदा अंतर्विरोधों को—राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों के अंतर्विरोधों को—बढ़ा दिया है। राजनैतिक नज़र से हिंदुस्तान की आज़ादी की, पूरी स्वाधीनता की बहुत चर्चा है, लेकिन शायद उसकी जनता अपने इतिहास के किसी समय में भी इतने स्वेच्छाचारी शासन और इतने व्यापक और गहरे दमन से दबी हुई नहीं थी जितनी आजकल वक्त में है और इस 'आज' से ही तो कानूनी तौर पर 'कल' का जन्म होगा। आर्थिक नज़र से भी अभी अपेक्षा का ढांचा है फिर भी हिंदुस्तानी अर्थ-व्यवस्था में फैलाव ज़ाहिर है और वह बराबर अपने बंधनों का [illegible] का सामना कर रही है। अकाल है और चारों तरफ़ हाहाकार है और साथ ही दूसरी तरफ़ कुछ लोगों के पास पूंजी बेहद बढ़ रही है। [illegible] और असली निर्माण और नाश, विध्वंस और ऐक्य, मृत विचारधारा और [illegible] विचारधारा—[illegible] भी पहलू साथ-साथ मौजूद हैं। इन सब [illegible] नई ताकतें हैं जिनको कुचला या [illegible] रोका [illegible]।

[illegible] ने हिंदुस्तान की औद्योगिक प्रगति और उसकी

उत्पादन शक्ति को बढ़ाया है। फिर भी इसमें शक है कि इसकी वजह से कितने नये उद्योग चालू हुए हैं या सिर्फ़ पुराने उद्योग ही बढ़ गये हैं और उन्हें ही किसी दूसरे काम में लगा दिया गया है। लड़ाई के दौरान में हिंदुस्तानी उद्योग-धंधों की गतिविधि को बतानेवाले आंकड़ों से यही भाप मालूम होता है और उससे यह नतीजा निकलता है कि बुनियादी तौर पर कोई तरक्क़ी नहीं हुई। असल में कुछ योग्य आदमियों की यह राय है कि लड़ाई ने और उस दौरान में ब्रिटिश नीति ने हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की तरक्क़ी में रुकावट डाली है। डा० ज्ञान चन्द ने जो एक प्रमुख अर्थशास्त्री हैं और टाटा कारबार में डायरेक्टर हैं हाल ही में कहा था—"यह ख़याल कि लड़ाई ने हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की तरक्क़ी की रफ़्तार को बेहद तेज़ कर दिया है, एक ऐसी बात है कि जिसके लिए अभी बहुत-से प्रमाणों की आवश्यकता होगी। हां यह सच है कि कुछ पुराने उद्योग-धंधों ने लड़ाई की मांग की वजह से अपना उत्पादन बढ़ा दिया है लेकिन कई नये उद्योग-धंधे जिनकी देश के लिए बुनियादी अहमियत है और जिनको चालू करने की बाबत लड़ाई से पहले इरादा किया जा रहा था लड़ाई की हालतों की वजह से या तो अधूरे छोड़ दिये गये या उनको चालू करने का इरादा ही छोड़ दिया गया। मेरी निजी राय यह है कि हिंदुस्तान में कनाडा और आस्ट्रेलिया आदि दूसरे देशों की उल्टी बात हुई है और लड़ाई का असर तेज़ी लाने के बजाय उसकी रफ़्तार को कम करनेवाला हुआ है। हां मैं इस बात से ज़रूर सहमत हूं कि हिंदुस्तान में अपनी बुनियादी कारबारी ज़रूरत को पूरा करने की काफ़ी बड़ी सामर्थ्य है। औद्योगिक गतिविधियों के बारे में जो कुछ आंकड़े मिलते हैं वे इस राय का समर्थन करते हैं और उनसे यह ज़ाहिर होता है कि लड़ाई से पहले जिस रफ़्तार से तरक्क़ी हो रही थी अगर वह जारी रहती तो सिर्फ़ नये उद्योग-धंधे ही न क़ायम हुए होते बल्कि कुल मिलाकर यहां उत्पादन बहुत ज़्यादा बढ़ जाता।

---

१ मई १९४५ को लंदन में बोलते हुए जी० डी० बिड़ला ने भी इस बात को नामंज़ूर किया कि हिंदुस्तान को अपने उद्योग या उनकी सामर्थ्य बढ़ाने में लड़ाई से काफ़ी मदद मिली है। "कहीं-कहीं पर किसी उद्योग में कुछ बढ़ती हुई हो, लेकिन कुल मिलाकर, अगर हथियारों के कारख़ाने या कुछ ख़ास कारख़ानों को छोड़ दिया जाये तो कोई भी तरक्क़ी नहीं हुई। अगर लड़ाई न होती तो कई नये काम शुरू हो गये होते। मैं अपने निजी तजुरबे से जानता हूं कि ये नये बड़े-बड़े काम सिर्फ़ इसलिए छोड़ दिये गये कि ईंट, औज़ार और मशीन हासिल करना नामुमकिन हो

लड़ाई से एक बात ज़रूर ज़ाहिर हुई और इसमें कोई शक नहीं रहा कि अगर मौक़ा मिले तो हिंदुस्तान बहुत तेज़ी के साथ अपनी शक्ति और अपने साधनों से इस सामर्थ्य को व्यवहार में ला सकता है। एक आर्थिक ढांचे की तरह में काम करते हुए, लड़ाई के इन पांच सालों में सारी रुकावटों के होते हुए भी उसने बहुत बड़ी पूंजी और संपत्ति इकट्ठी कर ली है। उसकी यह संपत्ति 'स्टर्लिंग सिक्यूरिटी' के रूप में है, जो उसे मिल नहीं रही और जो भविष्य में रोक दी जायगी। हिंदुस्तान-सरकार ने ब्रिटिश सरकार या संयुक्त राज्य अमरीका के लिए जो अपनी तरफ़ से ख़र्च किया, वही स्टर्लिंग सिक्यूरिटी है। साथ ही यह स्टर्लिंग सिक्यूरिटी हिंदुस्तान की भूख, अकाल, महामारी, बीमारी, भुखमरी, फैली हुई बेशुमार मौत—भूख और बीमारी से बड़ी तादाद में मौत—की निशानी है।

इस पूंजी और संपत्ति के इकट्ठे होने से हिंदुस्तान ने इंग्लैंड का क़र्ज़ चुका दिया और अब वह साहूकार देश बन गया है। बेहद लापरवाही और बदइंतज़ामी से हिंदुस्तान की जनता को बेहद तकलीफ़ हुई है, लेकिन एक बात ज़रूर ज़ाहिर हुई है कि हिंदुस्तान बहुत थोड़े-से वक़्त में इतनी बड़ी रक़में इकट्ठी कर सकता है। पिछले सौ से ज़्यादा साल के दौरान में हिंदुस्तान में जितनी ब्रिटिश पूंजी लगी है, उसके मुक़ाबले लड़ाई के पांच सालों में हिंदुस्तान का उस पर ख़र्च कहीं ज़्यादा है। इस तथ्य से यह बात साफ़ और सही तौर पर ज़ाहिर हो जाती है कि इन पिछले सौ बरसों में ब्रिटिश हुकूमत के दौरान में रेल में, सिंचाई के साधनों में या और चीज़ों में, जिनके बारे में इतना हल्ला मचाया जाता है, कितनी कम तरक़्क़ी हुई है। इससे यह बात भी ज़ाहिर होती है कि हिंदुस्तान में तेज़ी से चौतरफ़ा तरक़्क़ी करने की कितनी ज़बरदस्त ताक़त है। अगर इतनी ज़्यादा तरक़्क़ी भी तोड़नेवाली हालतों में हो सकती

गया। जो लोग लड़ाई के दौरान में हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों की और उसकी आर्थिक दशा की बेहतरी या तरक़्क़ी की बात करते हैं, वे असलियत से बेख़बर हैं। इसके अलावा श्री टाटा ने कहा—"मैं इस बुलबुले को फोड़ना चाहता हूं। यह कहना कि लड़ाई की वजह से हिंदुस्तान में काफ़ी तरक़्क़ी हुई है बिल्कुल नासमझी है। किसी-न-किसी वजह से हिंदुस्तान में कोई ख़ास तरक़्क़ी या बढ़ती नहीं हुई है। बल्कि असलियत यह है कि हालत बदतर हो गई है। जो कुछ हुआ है, वह है कि लड़ाई की वजह से और उसमें हिंदुस्तान की मदद की वजह से बंगाल के अकाल में हमारे लाखों आदमी मर गये। हमारे यहां कपड़े का भी अकाल है। इस तरह यह ज़ाहिर है कि आर्थिक उन्नति का नाम तो उसकी अनुपस्थिति विशेष से ही होता है।"

है और वह भी एक विदेशी हुकूमत के मातहत जो हिंदुस्तान म उद्योग-धंधों की तरक्की नापसंद करती है, तो यह बात साफ़ है कि आज़ाद क़ौमी सरकार की देखभाल में योजनाबद्ध तरक्की से चंद बरसों में ही हिंदुस्तान की शक्ल बदल जायेगी। मौजूदा हिंदुस्तान की आर्थिक और सामाजिक तरक्की के बारे में पिछले ज़माने की किसी भी जगह की सामाजिक तरक्की की कसौटी पर उसे एक ढंग से जांचते हुए, ब्रिटिश लोगों में तारीफ़ करने की एक अजीब-सी आदत हो गई है। कई सदियों पहले जो रद्दोबदल की रफ़्तार थी उससे अपने पिछले सौ साल की रद्दोबदल का मुक़ाबला करते हुए उन्हें खुद बड़ा संतोष होता है। लेकिन जिस वक़्त वे हिंदुस्तान की बाबत सोचते हैं यह बात कि औद्योगिक क्रांति ने और ख़ासतौर से पिछले पचास साल की ज़बरदस्त वैज्ञानिक तरक्की ने ज़िंदगी की चाल और रफ़्तार बिलकुल बदल दी है, उनकी नज़र से किसी तरह छूट जाती है। वे इस बात को भी भूल जाते हैं कि जिस वक़्त वे यहां आये थे हिंदुस्तान जंगल उजड़ा हुआ या जंगली देश नहीं था बल्कि वह एक बहुत तरक्क़ीयाफ़्ता और सुसंस्कृत राष्ट्र था जो अस्थायी रूप से वैज्ञानिक प्रगति में निष्क्रिय था या पिछड़ गया था।

इस ढंग का मुक़ाबला करते हुए हम किस तरह चीज़ों का मूल्यांकन करें या हमारा मापदंड क्या हो? जापानियों ने अपने फ़ायदे के लिए आठ साल में ही मंचूरिया में बेहद औद्योगिक उन्नति कर दिखाई। अंग्रेज़ों की पीढ़ियों कोशिश के बाद हिंदुस्तान में उतना कोयला नहीं निकाला जाता जितना इन आठ सालों के बाद मंचूरिया में। कोरिया में उनके माली खुशहाली के रिकार्ड की और औपनिवेशिक साम्राज्यों से तुलना करने योग्य है।[1] और

---

[1] हैलेन एबेंड, जो सुदूर पूर्व में कई बरस तक 'न्यूयार्क टाइम्स' के संवाददाता थे अपनी किताब 'पैसिफ़िक चार्टर' में कहते हैं—"जापानियों के साथ इन्साफ़ करते हुए यह बात माननी होगी कि कोरिया में उन्होंने बहुत समझदार काम किया है। जब उन्होंने वहां पर क़ब्ज़ा किया था, तो वह जगह गंदी थी, अस्वास्थ्यकर थी और वहां बेहद ग़रीबी थी। पहाड़ों पर जंगल उजड़ गये थे घाटियों में बराबर बाढ़ आती रहती थी अच्छी सड़कों का नाम-निशान भी नहीं था, चारों तरफ़ निरक्षरता थी और हर साल मोतीझरा, चेचक, हैज़ा, पेचिश, प्लेग की महामारी आती थी। आज वहां के पहाड़ों पर जंगल आबाद हैं। रेलवे, टेलीफ़ोन और तार का इंतज़ाम बहुत बढ़िया है अच्छी सड़कों की बहुतायत, बाढ़ की रोक और सिंचाई के माकूल इंतज़ाम से वहां की कच्ची पैदावार बेहद बढ़ गई है। बहुत बढ़िया बंदरगाह बनाये गये हैं और उनका बहुत ही बढ़िया इंतज़ाम है।

फिर भी इस हालत के पीछे गुलामी, क्रूरता, बेहरहमी, शोषण और जनता की आत्मा को मिटा देने की कोशिश है। नात्सियों और जापानियों ने अधिकृत जनता और जातियों को बेरहमी के साथ कुचल देने के नये नमूने पेश किये हैं। हमको अक्सर इसकी याद दिलाई जाती है और हमसे कहा जाता है कि अंग्रेजों ने इतना बुरा बरताव तो नहीं किया। क्या मुकाबले के लिए और फैसले के लिए यही मापदंड और नजरिया होगा?

आज हिंदुस्तान में बहुत ज्यादा निराशा छाई हुई है, यहां एक ढंग की बेबसी है और ये दोनों बातें समझ में आती हैं, क्योंकि घटनाओं ने हमारी जनता को बुरी तरह कुचला है और भविष्य आशापूर्ण नहीं है। लेकिन साथ ही सतह के नीचे हलचल है, आगे बढ़ने की कोशिश है, नई जिंदगी और नई ताकत के चिह्न हैं और अज्ञात शक्तियां काम कर रही हैं। नेतागण चोटी पर काम करते हैं, लेकिन वे उस उभरती हुई जनता की, जो भूतकाल को पारकर आगे बढ़ गई है, अस्पष्ट और अचेतन इच्छा की दिशा में बहे चले जाते हैं।

## ८ हिंदुस्तान की बाढ़ मारी गई

आदमी की तरह राष्ट्र के भी कई व्यक्तित्व होते हैं और जिंदगी के अनेक नजरिये होते हैं। अगर इन मुखालिफ नजरियों में एक आपस का गहरा लगाव होता है तो ठीक है, वरना ये व्यक्तित्व अलग-अलग हो जाते हैं और इससे बरबादी और परेशानी होती है। आमतौर पर एक ऐसी प्रक्रिया चलती रहती है कि उनमें आपस में मेल बैठ जाता है और समझौता पैदा हो जाता है। लेकिन अगर स्वाभाविक बाढ़ रोक दी जाये, या कोई रद्दोबदल इतनी तेजी से हो कि उसको आसानी से अपनाया न जा सके, तो इन अलग-अलग नजरियों में आपस में संघर्ष पैदा हो जाता है। हिंदुस्तान के दिल और दिमाग में, हमारे ऊपरी झगड़ों और भेद-भावों की सतह के नीचे, बहुत अरसे से बाढ़ पर रोक की वजह से यह बुनियादी संघर्ष रहा है। अगर किसी समाज को मजबूत और प्रगतिशील होना है तो उसकी एक कमोबेश निश्चित मजबूत बुनियाद होनी चाहिए और साथ ही उसका एक जिंदा नजरिया होना चाहिए। इस जिंदा

यह देश इतना समृद्ध और स्वास्थ्यकर हो गया है कि १९ ५ में इसकी आबादी १ १ थी और अब आबादी २,४ है। पिछली सदी के अंत में जो रहने की हैसियत थी उसके मुकाबले आजकल का रहना-सहना बेहद बेहतर है। लेकिन मि एंड्रूज ने बताया है कि यह तरक्की [illegible] कोरिया के निवासियों के फायदे के लिए नहीं हुई, बल्कि इसलिए कि जापानी इससे ज्यादा-से-ज्यादा मालामाल हो सकें।

नज़रिये के बग़ैर सड़न और बरबादी होती है। उसूलों की निश्चित बुनियाद के बिना विच्छेद और विनाश का इमकान रहता है।

आदिकाल से ही हिंदुस्तान में उन बुनियादी उसूलों की—अपरिवर्तन-शील, विश्व-व्यापी और पूर्ण की—खोज हुई। साथ ही गतिशील नज़र थी और दुनिया की तब्दीली और ज़िंदगी की जानकारी थी। इन दो बुनियादों पर हर मज़बूत और प्रगतिशील समाज बनाया गया, हालांकि हमेशा ही ज़ोर मज़बूती और हिफ़ाज़त और शांति को बनाये रखने पर दिया गया। बाद में गतिशील नज़र फीकी पड़ने लगी और सनातन उसूलों पर सामाजिक ढांचा ऐसा बनाया गया, जिसमें न तो लचीलापन था और न रद्दोबदल की गुंजाइश। असल में यह बिल्कुल सख़्त तो नहीं था और उसमें धीरे-धीरे बराबर रद्दो-बदल हुई, लेकिन उसके पीछे जो आदर्श था, उसका ढांचा आमतौर से ज्यों-का-त्यों बना रहा। इस के ख़ास खंभे थे गांव की सामूहिक और खुदमुख़्तार ज़िंदगी, संयुक्त परिवार और क़रीब-क़रीब स्वाधीन जातियां। इन सब में समुदाय की भावना थी। ये खंभे इतने अरसे तक इसलिए बने रहे कि कुछ ख़ामियों के होते हुए भी उनसे मानव-स्वभाव और समाज की कुछ ख़ास ज़रूरतें पूरी होती थीं। उस ढांचे में हर समुदाय की हिफ़ाज़त थी, मज़बूती थी और साथ ही एक हद से सामुदायिक स्वतंत्रता थी। वर्ण-व्यवस्था इसलिए बनी रही कि उसमें समाज के साधारण शक्ति-संबंध का प्रति-निधित्व होता रहा और वर्ग-विशेषाधिकार इसलिए बने रहे कि न सिर्फ़ उस वक़्त का आदर्श ही उनके अनुकूल था, बल्कि उनको ताक़त, अक्ल, क़ाबलियत और इसके साथ ही आत्म-बलिदान का सहारा मिला। उस आदर्श की बुनियाद अधिकारों के संघर्ष पर नहीं थी, बल्कि उसकी बुनियाद एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य पर, उस कर्तव्य को पूरी तरह निभाने पर, उस समुदाय में सहयोग पर और अलग-अलग समुदायों के आपसी मेल पर और ख़ासतौर से लड़ाई पर नहीं, बल्कि शांति बनाये रखने पर थी। हालांकि सामाजिक ढांचे में लचीला-पन नहीं था, फिर भी दिमाग़ी आज़ादी पर किसी तरह की पाबंदी नहीं थी।

हिंदुस्तानी सभ्यता बहुत हद तक अपने मक़सद पर पहुंच गई, लेकिन उस तरक़्क़ी के दौरान में ज़िंदगी ग़ायब होने लगी, क्योंकि ज़िंदगी तो इतनी ज़्यादा गतिशील है कि वह बहुत अरसे तक ऐसे घेरे में नहीं रह सकती, जो न तो लचीला हो और न जिसमें रद्दोबदल की गुंजाइश हो। यहांतक कि अगर उन बुनियादी उसूलों को, जिन्हें अपरिवर्तनशील कहा जाता है, पूरी तरह मान लिया जाये और उनके लिए खोज बंद हो जाये, तो उनकी ताज़गी और उनकी सचाई ख़त्म हो जाती है। सत्य, सुंदरता और आज़ादी के ख़याल भी मुरझाते

है और किसी निर्जीव ढर्रे से चिपटे रहने से हम गुलाम बन जाते हैं।

ठीक यही चीज जिसकी हिंदुस्तान के पास कमी थी पश्चिम के पास मौजूद थी और वहां यह मौजूद थी ज़रूरत से ज्यादा तादाद में। उसका नज़रिया गतिशील था। बदलती हुई दुनिया में उसकी दिलचस्पी थी। न बदलनेवाले और व्यापक सच्चाई उसूलों की उसे परवाह नहीं थी। उसने फ़र्ज़ और जिम्मेदारियों पर क़रीब-क़रीब बिलकुल ध्यान नहीं दिया बल्कि उसने अधिकारों पर ज़ोर दिया। वह सक्रिय थी आक्रमक थी और वह ताक़त हुकूमत और कब्जा चाहती थी। मौजूदा वक्त पर उसकी निगाह थी और भविष्य में उसके कार्यों का क्या नतीजा होगा उसे इसकी परवाह नहीं थी। चूंकि वह गतिशील थी इसीलिए उसमें प्रगति थी ज़िंदगी थी लेकिन उस ज़िंदगी में एक बुखार था और उसकी तेज़ी बराबर बढ़ती गई।

अगर हिंदुस्तानी सभ्यता इस वजह से मुरझाई कि उसमें गतिहीनता थी उसका सारा ध्यान अपने में ही था और उसकी अपने-आपसे बहुत ममता थी तो दूसरी तरफ़ आधुनिक पश्चिमी सभ्यता कई दिशाओं में बहुत ज्यादा तरक्की के होते हुए भी खासतौर से कामयाब नहीं हुई और न वह अबतक ज़िंदगी के बुनियादी मसलों को ही हल कर पाई है। संघर्ष उसमें शुरू से है और जब-तब बहुत बड़े पैमाने पर वह सभ्यता अपनी बरबादी के काम में जुट जाती है। ऐसा महसूस होता है कि उसमें किसी ऐसी चीज की कमी है जो उसे पायदारी दे। उसमें ज़िंदगी को सार्थक बनानेवाले किन्हीं बुनियादी उसूलों की कमी है। लेकिन वे उसूल कौनसे हैं मैं खुद नहीं कह सकता। फिर भी चूंकि वह गतिशील है उसमें ज़िंदगी है, जिज्ञासा है, इसलिए उसके लिए कुछ उम्मीद है।

हिंदुस्तान और साथ ही चीन को भी पश्चिम से सबक़ सीखना चाहिए। आधुनिक पश्चिम के पास सिखाने को बहुत कुछ है और इस युग की भावना की पश्चिम नुमाइंदगी करता है। लेकिन ज़ाहिर है, पश्चिम को भी बहुत-कुछ सीखने की ज़रूरत है। अगर पश्चिमी ज़िंदगी की गहरी बातों को, जिन पर हर युग में हर देश के विचारकों का दिमाग बराबर ग़ौर करता रहा है, नहीं सीखता तो उसको अपनी सारी वैज्ञानिक तरक्की से भी कोई खास आराम नहीं मिलेगा।

हिंदुस्तान गतिहीन बन गया था फिर भी यह खयाल बिलकुल गलत होगा कि उसमें तबदीली नहीं हुई। बिलकुल तबदीली न होने के मानी है मौत। एक बहुत उन्नत राष्ट्र की हैसियत से उसका बना रहना यह बताता है कि उसमें अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की कोई-न-कोई प्रक्रिया

बराबर बढ़ती रही। जिस वक्त अंग्रेज हिंदुस्तान में आये, वह तकनीकी तरक्की में कुछ पिछड़ा हुआ जरूर था, फिर भी दुनिया की बहुत बड़ी तिजारती क़ौमों में से एक था। मशीनी तौर पर तकनीकी तबदीलियां भी हुई होतीं और पश्चिमी देशों की तरह हिंदुस्तान भी बदल जाता, लेकिन ब्रिटिश ताक़त से उसकी बाढ़ रुक गई। औद्योगिक तरक्की रुकी और उसकी वजह से समाजी तरक्की में भी रुकावट आई। समाज के स्वाभाविक शक्ति-संबंध आपस में मेल नहीं खा सके और समतोल नहीं हो सका, क्योंकि सारी ताक़त तो विदेशी हुकूमत के हाथों में थी और उसने अपनी बुनियाद ताक़त पर बनाई और उसने उन वर्गों और समुदायों को, जिनकी अब कोई खास अहमियत नहीं रह गई थी, बढ़ावा दिया। हिंदुस्तानी जिंदगी इस तरह दिन-ब-दिन ज्यादा अस्वाभाविक हो गई, क्योंकि उन व्यक्तियों और समुदायों के लिए, जिनका उसमें खास हाथ था, अब कोई खास काम तो बाकी नहीं रहा, फिर भी विदेशी हुकूमत के सहारे वे बने रहे। इतिहास में उनका काम तो बहुत पहले खत्म हो चुका था और अगर उन्हें विदेशी मदद न मिली होती, तो नई ताक़तों ने उनको एक तरफ़ हटा दिया होता। वे विदेशी हुकूमत के निर्जीव प्रतीक बन गये, जो मशीन की तरह बिल्कुल उसीके इशारों पर थे। इस तरह राष्ट्र की गतिशील धाराओं से वे और ज्यादा अलहदा हो गये। आम हालत में तो इनक़लाब के ज़रिये या किसी लोकतंत्री प्रक्रिया से वे या तो जड़ से मिटा दिये जाते या उनको मुनासिब जगह पर पहुंचा दिया जाता, लेकिन जबतक विदेशी तानाशाही हुकूमत मौजूद थी, ऐसी कोई तबदीली नहीं हो सकती थी। इस तरह गुज़रे जमाने की निशानियों का हिंदुस्तान में एक जमघट बना दिया गया और जो असली तबदीली हो रही थी, वह ऊपरी गैर-कुदरती तह के नीचे दबा दी गई। कोई भी सामाजिक समतोल या समाज में आपस का शक्ति-संबंध इस तरह न तो बढ़ सकता था और न प्रकट हो सकता था। झूठे मसलों की अहमियत बेहद बढ़ गई।

आज हमारे ज्यादातर मसले इस रुकी हुई बाढ़ और ब्रिटिश हुकूमत द्वारा सहज स्वाभाविक व्यवस्था पर रोक की वजह से हैं। अगर बाहरी दखल न हो, तो हिंदुस्तानी रजवाड़ों का मसला बहुत आसानी से हल हो सकता है। अल्पसंख्यकों का मसला और जगहों के अल्पसंख्यकों के मसले से बिल्कुल अलग ढंग का है, असल में यह अल्पसंख्यकों का मसला ही नहीं है। उसके कई पहलू हैं और बेशक गुज़रे वक्त में या मौजूदा वक्त में हम उसके दोष से बच नहीं सकते, लेकिन इन मसलों के या और दूसरे मसलों के पीछे

ब्रिटिश सरकार की, जहाँतक मुमकिन हो सके, हिंदुस्तानी जनता के मौजूदा राजनैतिक संगठन और अर्थ-व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने की ख्वाहिश है। इसी तरह से वह समाज के पिछड़े हुए लोगों को उनकी मौजूदा हालत में बनाये रखना चाहती है और इसके लिए बढ़ावा देती है। राजनैतिक और आर्थिक तरक्की सिर्फ खुले तौर पर ही नहीं रोकी गई, बल्कि इसके लिए यह लाजिमी कर दिया गया है कि प्रतिक्रियावादी गुटों और निहित स्वार्थों से पहले उनका समझौता हो। अगर भविष्य के इंतजाम में इन पिछड़े हुए लोगों को अहमियत दे दी जाये या उनके विशेषाधिकारों या रियायतों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखा जाये, सिर्फ तभी यह तरक्की जारी रह सकती है। इसके मानी ये होंगे कि असली रुकावट या तरक्की के रास्ते में हम भयंकर अड़चनें खड़ी कर लें। एक नये संविधान में मजबूती और असर के लिए सिर्फ अधिकांश जनता की इच्छाओं की ही नुमाइंदगी होना जरूरी नहीं है, बल्कि उसमें सामाजिक शक्तियों और उनके आपसी संबंधों की भी साफ झलक होनी चाहिए। हिंदुस्तान की खास मुश्किल यह रही है कि भविष्य के बारे में जो सवैधानिक इंतजाम अंग्रेजों या बहुत-से हिंदुस्तानियों ने सुझाये हैं, उनमें इन मौजूदा सामाजिक शक्तियों की, और खासतौर से उन नयी शक्तियों की, जो बहुत अरसे से रोक दी गई हैं, और जो बाहर फूट पड़ रही हैं, अवहेलना की गई है। इसके अलावा उस संवैधानिक इंतजाम में एक ऐसे ढांचे को लादा जा रहा है, जिसमें लचीलापन नहीं है, जिसकी बुनियाद गुजरे जमाने के समझौते पर है, जो अब गायब होता जा रहा है और जो असल में अब बेकार है।

हिंदुस्तान में जो बुनियादी सचाई है, वह यह है कि यहाँ ब्रिटिश फौज है, और एक ऐसी नीति है, जो उस फौज के सहारे चलती है। कई ढंग से इसे जाहिर किया जा चुका है। अक्सर उसको अस्पष्ट मुलायमी की पोशाक पहनाई गई है, लेकिन इधर एक फौजी वाइसराय ने उसे साफ कर दिया है। जहाँतक ब्रिटिश ताकत का सम्बन्ध है, यह फौजी कब्जा बना रहेगा। लेकिन हैवानी ताकत के इस्तेमाल की भी आखिर हद है। उससे न सिर्फ विरोधी भावना की तरक्की होती है, बल्कि उसके कई ऐसे नतीजे और होते हैं, जिनके बारे में उस ताकत ने या उस ताकत के भरोसे रहने वालों ने पहले कभी सोचा भी नहीं था।

हिंदुस्तान की तरक्की को जबरदस्ती कुचलने और रोकने के नतीजे हमारे सामने हैं। सबसे ज्यादा जाहिर बात तो यह है कि हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन निर्जीव है और उसमें हिंदुस्तान की जिंदगी कुचल दी गई है। विदेशी राज्य

अधिकृत जनता की सृजनात्मक शक्ति से बिलकुल अलहदा रहता है। जिस समय इस विदेशी राज्य का आर्थिक और सांस्कृतिक केंद्र गुलाम देश से बहुत दूर होता है और साथ ही अगर उसमें जातीय भेद भाव मौजूद हो तो यह अन्याय पूरा हो जाता है और गुलाम जनता की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मौत हो जाती है। राष्ट्र की रचनात्मक शक्ति को अगर कोई सच्चा मैदान मिलता है तो वह शासन के खिलाफ़ किसी विरोध के सिलसिले में होता है। फिर भी वह मैदान संकरा रहता है और नज़रिया इकतरफ़ा और तंग होता है। यह विरोध तो उस चेतन या अचेतन कोशिश की निशानी है जो सीमित करने-वाले बोझ को तोड़ने के लिए हो रही है। इस तरह यह एक प्रगतिशील और अनिवार्य प्रवृत्ति है लेकिन यह विरोध इतना नकारात्मक और इकतरफ़ा होता है कि हमारी ज़िंदगी की सच्चाई के कई पहलू उससे अलग रहते हैं। भेद-भाव पूर्वाग्रह और शक बढ़ जाते हैं और दिमाग पर अपनी छाया डालते हैं। असली मसलों के हल और उनकी छान-बीन की जगह धर्म या जाति की भावना आ जाती है और खास नारे या बंधे फ़िकरे दिमाग में घर कर लेते हैं। अंदर विदेशी हुकूमत के ढांचे में कोई कारगर हल मुमकिन नहीं है। हल न किये जाने की वजह से राष्ट्रीय मसलों का तीखापन और भी ज़्यादा हो जाता है। हम हिंदुस्तान में एक ऐसी हालत में पहुंच गये हैं कि अधूरी राहों बदल से हमारे मसले हल नहीं हो सकते और किसी एक पहलू की तरक्की काफ़ी नहीं हो सकती। एक बहुत बड़ा क़दम उठाने की ज़रूरत है और हर तरफ़ आगे बढ़ना होगा वरना इसका नतीजा होगा भयंकर सर्वनाश।

सारी दुनिया की तरह हिंदुस्तान में भी एक दौड़ चल रही है। यह दौड़ शांतिपूर्ण प्रगति और निर्माण की शक्तियों में और विध्वंस और बरबादी की ताक़तों में है। और हर नई बरबादी पहली बरबादी से बड़ी होती है। अपने दिमागी गठन या अपने स्वभाव के अनुसार हम इस दृश्य को आशावादी और निराशावादी ढंग से तरह देख सकते हैं। जिनको विश्व की घटनाओं के ईश्वरीय संचालन में विश्वास है और जिनके लिहाज़ से अंत में सत्य की ही जीत होगी वे सौभाग्य से ईश्वर पर ज़िम्मेदारी डालकर दर्शक या सहायक हो सकते हैं। दूसरे लोगों को तो यह बोझ अपने कमज़ोर कंधों पर ढोना होगा—अच्छे-से-अच्छे नतीजे की उम्मीद रखनी और बुरे-से-बुरे नतीजे को झेलने के लिए तैयार रहना होगा।

## ९ मज़हब फ़िलसफ़ा और विज्ञान

हिंदुस्तान को बहुत हद तक बीते हुए ज़माने से नाता तोड़ना होगा और

वर्तमान पर उसका जो आधिपत्य है, उसे रोकना होगा। इस गुजरे जमाने का के बेजान बोझ से हमारी जिंदगी दबी हुई है। जो मुर्दा है और जिसने अपना काम पूरा कर लिया है, उसे जाना ही होता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि गुजरे जमाने की उन चीजों से हम नाता तोड़ दें या उनको भूल जायें जो जिंदगी देनेवाली हैं और जिनकी अपनी अहमियत है। हम उन आदर्शों को नहीं भूल सकते, जिन्होंने हमारी जाति को प्रेरित किया है। हिंदुस्तानी जनता के युगों से चले आनेवाले सपनों को, पुराने लोगों के ज्ञान को, जिंदगी और प्रकृति में अपने पुरखों के प्रेम और उमंग को, उनकी मानसिक खोज और जिज्ञासा की भावना को, उनके विचार की साहसिकता को, साहित्य, कला और संस्कृति में उनकी प्रतिभा को, सचाई, खूबसूरती और आजादी के लिए उनकी मुहब्बत को, उनके बुनियादी मूल्य-निर्धारण को, जिंदगी के रहस्य के उनके ज्ञान को, दूसरों के प्रति उनकी रवादारी को, दूसरे व्यक्ति और उनकी संस्कृति को अपनाने की सामर्थ्य का समन्वय करके एक बहु-अंगी मिली-जुली संस्कृति बनाने की उनकी क्षमता को, हम अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सकते। और न हम उन अनगिनत अनुभवों को ही भुला सकते हैं, जिन्होंने हमारी प्राचीन जाति को बनाया और जो हमारे उपचेतन मन में बसे हुए हैं। हम उन्हें कभी नहीं भूलेंगे और अपनी इस लंबी परंपरा के संबंध में हमारा गर्व हमेशा बना रहेगा। अगर हिंदुस्तान उन्हें भूल जायेगा, तो हिंदुस्तान वह चीज नहीं रहेगा, जिससे हमें उस पर खुशी और शान महसूस होती है।

हमको नाता उससे नहीं तोड़ना है, बल्कि युगों पुरानी उस धूल और मिट्टी से, जिसने उसे ढक दिया है और जिसने उसकी अंदरूनी खूबसूरती और सचाई को छिपा दिया है, उस फजूल या विकृत हिस्से को, जिसने उसकी भावना को जड़ बना दिया और उसे भ्रष्ट कर दिया है, सख्त ढांचों में कस दिया है और उसकी तरक्की को रोक दिया है—हमको इन फजूल हिस्सों को अलग करना है, पुराने ज्ञान को एक बिल्कुल नये सिरे से अपनाना है और मौजूदा हालतों में उसका मेल बिठाना है। सोचने और रहने के परंपरागत ढर्रों से हम बाहर आना है। इन ढर्रों ने गुजरे जमाने में जो भी फायदा पहुंचाया हो—और इसमें सचमुच बहुत अच्छाई थी—लेकिन आज उनमें अहमियत नहीं है। सारी मानव जाति की उपलब्धियों को हमें अपनाना है, दूसरों के साथ मानव के दिलचस्प अन्वेषण और साहसिक प्रयत्नों में शरीक होना है। शायद पुराने जमाने के मुकाबले में ये अन्वेषण अब ज्यादा दिलचस्प हैं, क्योंकि यह याद रखना है कि अब उनमें कौमी सीमाएं या पुराने विभाजन नहीं रह गए और अब उस काम में सभी जगह के आदमी शरीक हैं। सचाई,

खूबसूरती और आज़ादी के लिए उस मूल को हमें फिर जगाना है, जिससे ज़िन्दगी में सार्थकता होती है। हमें फिर से गतिशील नज़रिये और खोज की उस भावना को बढ़ाना है जिसने हमारी उस जाति को प्रमुख बनाया जिसके सदस्यों ने पुराने ज़माने में हमारी इमारत को मज़बूत और स्थायी बुनियाद पर खड़ा किया। हम लोग पुराने हैं और मानव-इतिहास और प्रयत्न के आदि-काल तक हमारी स्मृतियाँ फैली हुई हैं। हमको मौजूदा वक़्त के सुर-से-सुर मिलाते हुए, मौजूदा वक़्त में जवानी के उठते जोश और उल्लास के साथ और भविष्य में यक़ीन के साथ फिर से जवान बनना है।

आख़िरी असलियत की शक्ल में अगर कोई सचाई है तो वह सनातन अमर और अपरिवर्तनशील होगी लेकिन उस अपरिवर्तनशील शाश्वत और अनंत सत्य का मनुष्य का सीमित मस्तिष्क पूरी तरह मान नहीं कर सकता। वह तो ज़्यादा-से-ज़्यादा उसके किसी ऐसे छोटे-से पहलू को समझ सकता है, जो समय और स्थान से सीमित हो और जिसे समझने में उसे दिमाग़ की तरक़्क़ी के दर्जे और उस ज़माने के आदर्श के लिहाज़ से आसानी हो। ज्यों-ज्यों दिमाग़ तरक़्क़ी करता जाता है और उसका मैदान फैलता जाता है ज्यों-ज्यों आदर्श बदलता जाता है और सत्य को जताने के लिए नये प्रतीक आते जाते हैं, उसके नये पहलुओं पर रोशनी पड़ती जाती है। ऐसा मुमकिन है कि अब भी उसकी बुनियाद वही हो जो पहले थी। इसीलिए सत्य की हमेशा खोज करनी होती है, उसको नया करना होता है, उसको नई शक्ल देनी होती है और उसे बढ़ाते रहना होता है, ताकि वह विचारधारा की बढ़वार और इन्सानी ज़िन्दगी की रद्दोबदल के अनुरूप रह सके। सिर्फ़ उसी वक़्त वह मानवता के लिए सजीव सत्य बन सकता है और उसकी उस लाज़िमी ज़रूरत को पूरा कर सकता है, जिसके लिए वह तड़पती है। तभी वह मौजूदा वक़्त में या भविष्य में पथ-प्रदर्शन कर सकता है।

अगर पुराने ज़माने में किसी अंधविश्वास से सत्य का कोई पहलू निर्जीव बना दिया गया तो न वह बढ़ता है और न वह मानवता की बदलती हुई ज़रूरतों के अनुरूप हो सकता है। उसके दूसरे पहलू छिपे रहते हैं और वह बाद के ज़माने में अहम सवालों का जवाब नहीं दे पाता। अब वह गतिशील नहीं बल्कि गतिहीन हो जाता है। अब उसमें ज़िन्दगी देनेवाली ताक़त नहीं होती बल्कि वह एक मुर्दा क़यास या मुर्दा रिवाज रह जाता है। दिमाग़ और समाज की तरक़्क़ी के लिए वह अब एक रुकावट बन जाता है। शायद असलियत यह है कि जिस ज़माने में वह पैदा हुआ था और जिस ज़माने की भाषा और निशानियों की उसे पोशाक पहनाई गई थी उस ज़माने में वह जिस रूप में समझा

जाता था अब नहीं समझा जाता। बाद के ज़माने में उसका संदर्भ बिल्कुल अलग होता है, मानसिक वातावरण बदला हुआ होता है। नई सामाजिक रीतियां या परंपराएं पैदा हो जाती हैं और अक्सर उस पुराने लेख के मतलब का और आमतौर से उसकी भावना को समझने में मुश्किल होती है। इसके अलावा जैसाकि अरविंद घोष ने कहा है, हर सत्य चाहे उसमें कितनी ही सचाई क्यों न हो उन दूसरी सचाइयों से अलहदा करने पर, जो उसे फ़ौरन ही सीमित कर देती हैं और जो उसे पूरा करती हैं, दिमाग को गुमराह बनाने वाला फंदा हो जाता है और वह ऐसा यक़ीन होता है, जो ग़लत रास्ते पर ले जाता है। असल में यह अकेला सत्य एक ताने-बाने के जटिल धागों में से एक है और उस ताने-बाने से किसी भी धागे को अलहदा नहीं निकालना चाहिए।

मानवता की तरक़्क़ी में मज़हबों ने बहुत मदद की है। उन्होंने चीज़ों की क़ीमत तय की है, मापदंड बनाए हैं और ज़िंदगी में रास्ता दिखानेवाले उसूलों को बताया है। लेकिन जो-कुछ भलाई उन्होंने की है, उसके साथ ही खास शक्ल या पक्के यक़ीनों में उन्होंने सत्य को क़ैद करने की भी कोशिश की है। उन्होंने ऊपरी रस्म-रवाज और ढर्रे को बढ़ावा दिया है। कुछ ही अरसे में इन ढर्रों का असली मतलब ग़ायब हो जाता है और तब सिर्फ़ एक ढंग की खाना-पूरी बाक़ी रह जाती है। आदमी के चारों तरफ़ जो अज्ञात शक्ति है, मज़हब ने उसके भय और अचम्भे की आदमी को अहमियत बताई है। लेकिन साथ ही उसने न सिर्फ़ उस अज्ञात को समझने की कोशिश की, बल्कि सामाजिक प्रयत्न को समझने की कोशिश को रोका भी है। जिज्ञासा और विचार को बढ़ावा देने की जगह उसने प्रकृति के सामने, स्थापित संप्रदाय के सामने और सारी मौजूदा व्यवस्था के सामने सिर झुकाने के फ़लसफ़े का प्रचार किया है। इस यक़ीन से कि कोई दैवी ताक़त सारी चीज़ों का इन्तज़ाम करती है, एक ढंग की ग़ैर-ज़िम्मेदारी-सी आ गई है। तर्कसंगत विचार और खोज की जगह भावुकता ने ले ली है। हालांकि इसमें शक नहीं कि अपने [illegible] में धर्म ने अनगिनत लोगों को आराम पहुंचाया है और समाज को स्थायी बनाया है, लेकिन उसने मानव-समाज की [illegible] और उन्नति और रद्दोबदल की प्रवृत्ति को रोका है।

फ़िलसफ़ा इनमें से ज़्यादातर बातों से अलहदा रहा है और उसने सोच और विचार को बढ़ावा दिया है। लेकिन आमतौर से वह एक हवाई महल में रहा है। ज़िंदगी और उसके रोज़मर्रा के सवालों से उसका कोई नाता नहीं है। उसकी सारी निगाह आख़िरी मक़सद पर है और आदमी की ज़िंदगी

के और उसके बीच में कोई जोड़नेवाली कड़ी नहीं है। तर्क और बुद्धि उसके निर्देशक थे और उसे कई दिशाओं में काफ़ी दूर ले गये लेकिन यह तर्क ज़रूरत से ज़्यादा दिमाग़ी था और उसका असलियत से कोई ताल्लुक़ नहीं था।

विज्ञान ने आख़िरी मक़सदों पर ध्यान नहीं दिया और सिर्फ़ असलियत पर ही ग़ौर किया। उसकी वजह से दुनिया लंबी छलांग भरकर आगे बढ़ गई एक भड़कीली सभ्यता बन गई, जानकारी बढ़ाने के अनगिनत रास्ते खुल गये और उसने आदमी की ताक़त इस हद तक बढ़ा दी कि पहली दफ़ा यह सोचना मुमकिन हुआ कि अपने भौतिक वातावरण को इन्सान जीत सकता है और उसमें रद्दोबदल कर सकता है। आदमी एक ढंग से ऐसी भूगर्भिक शक्ति बन जाता है, जो ज़मीन की शक्ल को रासायनिक भौतिक और कई दूसरे ढंगों से बदल सकता है। लेकिन ठीक जिस वक़्त चीज़ों की यह दुखद योजना क़रीब-क़रीब उसके क़ाबू में मालूम हुई और ऐसा महसूस हुआ कि वह किसी ख़्वाहिश के मुताबिक़ चीज़ों को ढाल सकता है, किसी बुनियादी चीज़ की कमी किसी ख़ास चीज़ की ग़ैर-हाज़िरी खटकी। आख़िरी मक़सद की कोई जानकारी नहीं थी यहाँतक कि मौजूदा मक़सद का भी कुछ पता नहीं था। विज्ञान ने ज़िन्दगी के उद्देश्य के बारे में तो कुछ बताया ही नहीं था। साथ ही उस आदमी में जिसमें क़ुदरत पर क़ाबू पाने की ज़बरदस्त ताक़त थी अपने पर क़ाबू करने की ताक़त नहीं थी और अब यह राक्षस जिसको उसने तैयार किया था चारों तरफ़ बरबादी करने लगा। शायद प्राणीशास्त्र मनोविज्ञान या ऐसे ही और विज्ञान के नये विकास से और प्राणीशास्त्र और भौतिक विज्ञान की व्याख्या से आदमी को अपने को समझने और अपने पर क़ाबू पाने में पहले के मुक़ाबले ज़्यादा मदद मिले। यह भी मुमकिन है कि इसके पहले कि ऐसी तरक़्क़ियों से आदमी की ज़िन्दगी पर काफ़ी असर पड़े वह अपनी बनाई हुई सभ्यता को बरबाद कर डाले और उसे फिर नये सिरे से शुरू करना पड़े।

अगर विज्ञान को आगे बढ़ने का मौक़ा दिया जाये तो ज़ाहिरा उसकी प्रगति की कोई हद नहीं दिखाई देती। फिर भी ऐसा हो सकता है कि चीज़ों को देखने का वैज्ञानिक क्रम हर तरह के मानव-अनुभव के लिए लागू न हो सके और वह हमारे चारों तरफ़ के अनजाने समुंदर को पार न कर सके। फ़िलसफ़े की मदद से वह कुछ और आगे जा सकता है और जब विज्ञान और फ़िलसफ़ा दोनों ही आगे न चल सकें तो हमको ऐसी दूसरी ज्ञान-शक्तियों का सहारा लेना होगा जो हमारे लिए मुमकिन हों। ऐसा मालूम होता है कि एक ऐसी आख़िरी हद है, जिसके आगे अक़्ल (कम-से-कम जैसी वह आजकल है) नहीं

जा सकती। पैस्कल का कहना है कि "तर्क का आखिरी क़दम यह है कि वह जान ले कि उसके परे अनंत चीजें हैं। अगर वह उस तक नहीं पहुंच सकता तो वह कमज़ोर है।"

दलील और विज्ञान के तरीक़े की इन खामियों को जानते हुए भी हमको इन्हें अपनी सारी ताक़त से पकड़े रहना है क्योंकि बिना उस मज़बूत पृष्ठ-भूमि या बुनियाद के हम किसी भी सत्य या वास्तविकता को पकड़ नहीं सकते। सत्य के थोड़े-से हिस्से को ही समझना और ज़िंदगी में उसे अमल में लाना कुछ न समझने और अस्तित्व के रहस्य को खोज पाने की बेकार कोशिश में इधर-उधर भटकने के मुक़ाबले में बेहतर है। हर देश के लिए और हर जाति के लिए आज विज्ञान का इस्तेमाल लाज़िमी और ज़रूरी है। वैज्ञानिक ढंग में साहसपूर्ण खोज है फिर भी साथ ही आलोचना और छान-बीन है उसमें सत्य की ओर नये ज्ञान की तलाश है, लेकिन बिना जांच के बिना प्रयोग के किसी चीज़ को मान लेने से इन्कार है उसमें नये प्रमाणों के मिलने पर पिछले नतीजों को बदल सकने की सामर्थ्य है। उसमें प्रत्यक्ष सत्य पर भरोसा है न कि दिमाग़ी या काल्पनिक बातों पर। इन सब चीज़ों की सिर्फ़ विज्ञान में ही ज़रूरत नहीं होती बल्कि खुद ज़िंदगी और उसके बहुत-से मसलों को हल करने के लिए भी उसकी ज़रूरत है। बहुत-से वैज्ञानिक जो अपने-आपको विज्ञान का पुजारी समझते हैं, अपने खास दायरों के बाहर उसके बारे में सब-कुछ भूल जाते हैं। वैज्ञानिक ढंग या स्वभाव जीवन का ढंग है या कम-से-कम उसे ऐसा होना चाहिए। वह तो सोचने का काम करने का और अपने साथियों से सहयोग का एक ढंग है। यह एक बहुत बड़ी चीज़ है और निस्संदेह बहुत ही कम लोग शायद ऐसे निकल सकेंगे जो थोड़ी हद तक भी इस ढंग से काम कर सकें। लेकिन यह आलोचना तो पूरी तौर से या बहुत ज़्यादा हद तक उन प्रवचनों या आदेशों के लिए लागू होगी जो हमको दर्शन और धर्म ने दिये हैं। वैज्ञानिक स्वभाव उस मार्ग की ओर संकेत करता है जिसकी दिशा में आदमी को चलना चाहिए। वह एक आज़ाद आदमी का स्वभाव है। हम विज्ञान के युग में रहते हैं। कम-से-कम हमसे कहा यही जाता है। लेकिन इस स्वभाव की किसी भी जगह की जनता में या उसके नेताओं में भी थोड़ी-सी झलक दिखाई नहीं देती।

विज्ञान का प्रत्यक्ष ज्ञान के क्षेत्र से तात्लुक़ है, लेकिन जो स्वभाव उसे बनाना चाहिए वह इस क्षेत्र के भी आगे चला जाता है। इन्सान के आखिरी मक़सद सत्य की अनुभूति ज्ञान प्राप्ति भलाई और खूबसूरती की समझ कहे जा सकते हैं। प्रत्यक्ष छान-बीन का वैज्ञानिक ढंग हम सबमें लागू

नहीं हो सकता। ऐसा मालूम होता है कि बहुत-सी चीज़ें जिनकी ज़िंदगी में अहमियत है, विज्ञान की पहुँच से बाहर हैं। कला और काव्य के प्रति चेतना उनसे उत्पन्न सौंदर्य और भावुकता और भलाई की अंतरस्थ अनुभूति उसके क्षेत्र के परे हैं। वनस्पति-विज्ञान के और प्राणीशास्त्र के बहुत-से आचार्य यह मुमकिन है प्रकृति के सौंदर्य और आकर्षण को कभी भी अनुभव न कर पायें। समाज-विज्ञान के आचार्यों में मानवता के प्रति प्रेम का अभाव हो सकता है। लेकिन जहां विज्ञान के तरीक़े काम नहीं देते और जहां क्रियाशीलता है और ऊंचे दर्जे की भावुकता है और जहां हम आगे के विस्तृत प्रदेश को देखते हैं, उस जगह भी वैज्ञानिक स्वभाव और वैज्ञानिक प्रवृत्ति की ज़रूरत है।

धर्म का ढंग बिलकुल दूसरा है। प्रत्यक्ष जांच-बीन की पहुँच के परे जो प्रदेश है धर्म का मुख्यतः उसीसे संबंध है और वह भावना और अंतर्दृष्टि का सहारा लेता है। संगठित धर्म धर्म-शास्त्रों से मिलकर ज़्यादातर निहित स्वार्थों से संबंधित रहता है और उसे प्रेरक भावना का ध्यान नहीं होता। वह एक ऐसे स्वभाव को बढ़ावा देता है जो विज्ञान के स्वभाव से उल्टा है। उससे संकीर्णता, ग़ैर-रवादारी भावुकता अंधविश्वास सहज-विश्वास और तर्क-हीनता का जन्म होता है। उसमें आदमी के दिमाग़ को बंद कर देने का सीमित कर देने का रुझान है। वह ऐसा स्वभाव बनाता है, जो गुलाम आदमी का दूसरों का सहारा टटोलनेवाले आदमी का होता है।

वोल्टेयर ने कहा था कि अगर ईश्वर का अस्तित्व नहीं भी है, तो भी उसका आविष्कार करना ज़रूरी होगा। शायद यह सच है। असल इन्सान का दिमाग़ हमेशा ऐसी किसी मानसिक मूर्ति या विचार को बनाने की कोशिश करता रहा है, जिसकी दिमाग़ के साथ ही तरक़्क़ी होती रही। लेकिन इसके उल्टे विचार में भी कुछ असलियत है। अगर यह माना जाये कि ईश्वर है, तो भी यह वांछनीय हो सकता है कि न तो उसकी तरफ़ ध्यान ही दिया जाये और न उस पर निर्भर ही रहा जाये। दैवी शक्तियों में ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा करने से अक्सर ऐसा हुआ भी है और अब भी हो सकता है कि आदमी का आत्म-विश्वास घट जाये और उसकी सृजनात्मक योग्यता और सामर्थ्य कुचल जाये। फिर भी ऐसा मालूम देता है कि हमारे भौतिक जगत की पहुँच के बाहर जो सूक्ष्म चीज़ें हैं, उनमें किसी-न-किसी ढंग का विश्वास ज़रूरी है। नैतिक, आध्यात्मिक और आदर्शवादी विचारों पर कुछ भरोसा करना ज़रूरी है, वरना न तो जीवन में कोई उद्देश्य होगा न कोई लक्ष्य होगा और न कोई स्थिरता होगी। हम ईश्वर में विश्वास करें या न करें, लेकिन किसी-न-किसी चीज़ में विश्वास न करना नामुमकिन है। उसे सृजना

एक ज़िन्दगी देनेवाली ताक़त कह सकते हैं या पदार्थ में अंतर्निहित वह प्रमुख शक्ति कह सकते हैं जो पदार्थ को चीज़ बनाती है, उसको बदलने और बढ़ने की सामर्थ्य देती है। हम उसे चाहे कोई भी नाम दें, लेकिन एक ऐसी चीज़ है जिसकी सत्ता है, जिसमें असलियत है उसी तरह जैसे किसी मौत के मुक़ाबले में एक असलियत है, हालांकि उसका प्रत्यक्ष पता नहीं लगता। हमको उसका बोध हो या न हो, हममें से ज़्यादातर उस अदृश्य वेदी पर किसी-न-किसी ईश्वर की उपासना करते हैं और उसे भेंट चढ़ाते हैं। वह कोई भी आदर्श हो सकता है—व्यक्तिगत, राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय। वह कोई सुदूर लक्ष्य है जो हमको खींच जाता है। हा बुद्धि को उसके समर्थन की सामग्री नहीं मिल सकती। वह पूर्ण मनुष्य और उन्नत संसार की एक अस्पष्ट धारणा है। पूर्णता पाना नामुमकिन हो सकता है, लेकिन हमारे अंदर कोई शक्ति कोई भूख हमको बराबर आगे बढ़ाता है और एक के बाद दूसरी पीढ़ी में हम उसी रास्ते पर चलते जाते हैं।

है जिसके बड़े फैलाव में पिछले और मौजूदा वक्त शामिल हैं उनकी सारी ऊंचाइयां और गहराइयां मौजूद हैं और तब हम शांति से गंभीरता से भविष्य पर दृष्टि डाल सकते हैं। वहां गहराइयां हैं और उन्हें भुलाया नहीं जा सकता और उस खूबसूरती के साथ-ही-साथ जो हमारे चारों तरफ़ है दुनिया का दुख-दर्द भी है। जिंदगी में आदमी के सफ़र में दुख-सुख का एक अजीब मिलाव है। सिर्फ़ इसी तरह वह सोच सकता है और आगे बढ़ सकता है। आत्मा की महनत एक सुन्दर और सच्चा व्यापार है। बाहरी घटनाओं से और उनके नतीजों से हम पर ज़बरदस्त असर होता है, लेकिन हमारे दिमाग़ को सबसे बड़े धक्के अंदरूनी डर या द्वंद्व से पहुंचते हैं। जिस वक्त हम ऊपरी सतह पर आगे बढ़ते हैं (और अगर हमको बचना रहना है तो यह ज़रूरी भी है) हमको अपने अंदर, अपने पड़ोस और अपने बीच में शांति पानी है। यह एक ऐसी शांति होनी चाहिए, जो हमारी भौतिक और पार्थिव ज़रूरतों को ही पूरा न करे, बल्कि जो हमारी उन अंदरूनी कल्पनात्मक और साहसिक भावनाओं की भूख को बुझाये जिन्होंने आदमी को अपनी यात्रा के आरंभ से दिमाग़ और काम-काज में प्रमुख बनाया है। उस यात्रा का कोई आख़िरी उद्देश्य है या नहीं हमको नहीं मालूम फिर भी उसके अपने फ़ायदे हैं और वह उन क़रीबी मक़सदों की तरफ़ इशारा करता है जो पहुंच के अंदर मालूम होते हैं और जहां से फिर आगे के लिए एक नई कोशिश शुरू हो सकती है।

विज्ञान का पश्चिमी दुनिया पर आधिपत्य है और वहां सब उसको सिर झुकाते हैं, लेकिन फिर भी पश्चिम ने असली वैज्ञानिक स्वभाव को क़रीब-क़रीब बिलकुल नहीं अपनाया। उसको आत्मा और शरीर में सृजनात्मक समतौल क़ायम करना अभी बाक़ी है। कई ज़ाहिरा तरीक़ों से हमको हिंदुस्तान में एक ज़्यादा लंबी मंज़िल तय करनी है। लेकिन फिर भी हमारे रास्ते में बड़ी-बड़ी मुश्किलें मुक़ाबले में कम होंगी क्योंकि हिंदुस्तानी विचारधारा की गुज़रे ज़मानों में क़ायमी बुनियाद वैज्ञानिक ढंग और स्वभाव और साथ ही अंतर्राष्ट्रीयता के अनुरूप है। इधर बाद की विकृतियों से हमको मतलब नहीं। जिस हिंदुस्तानी विचारधारा की बाबत हम कह रहे हैं वह कई युगों तक शुरू में थी। उसकी बुनियाद सत्य की भयरहित खोज पर, आदमी की मज़बूती पर, हर सजीव पदार्थ की दैविकता पर, व्यक्ति और समुदाय की स्वतंत्र और सामूहिक प्रगति पर, और व्यक्ति तथा प्राणियों के स्वतंत्र तथा समयोचितापूर्ण विकास की अधिकाधिक स्वतंत्रता और मानविक वृद्धि की उच्चातिउच्च ढंग रूपों में है।

## १० क़ौमियत के विचार की अहमियत हिंदुस्तान के लिए ज़रूरी तबदीलियां

पिछली बातों के लिए अंधी भक्ति बुरी होती है। साथ ही उनके लिए नफ़रत भी उतनी ही बुरी है। उसकी वजह यह है कि इन दोनों में से किसी पर भविष्य की बुनियाद नहीं रखी जा सकती। वर्तमान का और भविष्य का लाज़िमी तौर से भूतकाल से जन्म होता है और उन पर उसकी छाप होती है। इसको भूल जाने के मानी हैं इमारत को बिना बुनियाद के खड़ा करना और क़ौमी तरक़्क़ी की जड़ को ही काट देना। उसके मानी हैं इन्सान पर असर रखनेवाली एक सबसे बड़ी ताक़त को भुला देना। राष्ट्रीयता असल में पिछली तरक़्क़ी, परंपरा और अनुभवों की एक समाज के लिए सामूहिक याद है। आज राष्ट्रीयता जितनी ताक़तवर है उतनी वह पहले कभी नहीं थी। बहुत-से लोगों का ख़याल था कि राष्ट्रीयता का ज़माना बीत गया और अब लाज़िमी तौर पर दिन-ब-दिन बढ़ती हुई दुनिया की अंतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति उसकी जगह ले लेगी। समाजवाद ने जिसकी पृष्ठभूमि में सर्वहारा वर्ग है, क़ौमी संस्कृति का मज़ाक़ उड़ाया है क्योंकि उसकी समझ में इस संस्कृति का ताल्लुक़ उस मध्य-वर्ग से है जिसका ज़माना अब ख़त्म हो गया है। पूंजीवाद ख़ुद अधिकाधिक अंतर्राष्ट्रीय हो ग १। उसमें कार्टेल (पूंजीवादी कारबारों के संघ) और दूसरी संस्थाएं बनने लगीं और वे राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर गईं। व्यापार, आने-जाने में आसानी और तेज़ रफ़्तार की सवारियां, रेडियो, सिनेमा—इन सबने मिलकर एक अंतर्राष्ट्रीय वातावरण बनाने में मदद दी और एक ऐसा पक्का ख़याल पैदा कर दिया कि राष्ट्रीयता का अब कोई भविष्य नहीं है।

लेकिन जब कोई संकट आया है राष्ट्रीयता उठ खड़ी हुई है और उसी का बोल-बाला रहा है और लोगों ने पुरानी परंपराओं में ही ताक़त और आराम को ढूंढ़ा है। मौजूदा ज़माने की एक बहुत अहम घटना यह है कि गुज़रे हुए ज़माने और राष्ट्र की दुबारा खोज हुई है और उसका एक नया रूप सामने आया है। राष्ट्रीय परंपराओं में वापस लौटने की बात मज़दूरों की जमात में और मेहनत का काम करनेवालों में ख़ासतौर से दिखाई दी है। और पहले यही लोग अंतर्राष्ट्रीय कार्रवाई के सबसे बड़े समर्थक माने जाते थे। लड़ाई या ऐसे ही किसी संकट से उनकी अंतर्राष्ट्रीयता ग़ायब हो जाती है और इन लोगों में दूसरे समुदायों के मुक़ाबले ज़्यादा राष्ट्रीय घृणा और डर वग़ैरह आ जाते हैं। इसकी सबसे ज़्यादा साफ़ मिसाल

सोवियत संघ की हाल की घटनाओं में है। उसका बुनियादी सामाजिक और आर्थिक ढांचा ज्यों-का-त्यों बना रहा है, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय सर्व हारा-वर्ग की पुकार के मुक़ाबले जन्मभूमि रूस की पुकार ज़्यादा ज़ोरदार है और यह आज ख़ासतौर से राष्ट्रीयता की भावना से भरा हुआ है। राष्ट्रीय इतिहास के महापुरुषों की फिर से इज़्ज़त हुई है और सोवियत जनता के लिए वे आदर्श और साहस और वीरता की प्रतिमा बन गये हैं। इस लड़ाई में सोवियत जनता का शानदार काम उसकी मज़बूती और उसका एका बेशक उस सामाजिक और आर्थिक ढांचे की वजह से है, जिससे बेहद समाजी तरक़्क़ी हुई है, योजनाबद्ध उत्पादन और उपभोग हुआ है, विज्ञान और उसके इस्तेमाल का क्षेत्र बढ़ा है नई प्रतिभा और नये नेतृत्व को, और शानदार नेतृत्व को मौक़ा मिला है। लेकिन कुछ हद तक उसकी वजह यह भी है और उन पिछली चीज़ों की जिनसे मौजूदा बातें मिली हुई हैं एक नई जानकारी हुई है। यह सोचना ग़लत होगा कि रूस के इस क़ौमी नज़रिये में और पुराने क़ौमी नज़रिये में कोई फ़र्क़ नहीं है। ऐसा सोचना बिल्कुल ग़लत होगा। क्रांति और उसके बाद के अनगिनत अनुभव भुलाये नहीं जा सकते। उसकी वजह से सामाजिक ढांचे और मानसिक पहलू में जो रद्दोबदल हुई, वह बनी रहेगी। इस सामाजिक ढांचे से लाज़िमी तौर पर एक अंतर्राष्ट्रीय नज़रिया पैदा होता है। फिर भी राष्ट्रीयता एक ऐसी शक्ल में वापस आई है कि वह नये वातावरण के अनुरूप हो सके और जनता की ताक़त बढ़ा सके।

सोवियत सत्ता की रद्दोबदल और दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की क़िस्मत के चढ़ाव-उतार की तुलना से कुछ सबक़ सीखा जा सकता है। सोवियत क्रांति के बाद ही सभी देशों में बहुत-से आदमियों में ख़ासतौर से सर्वहारा वर्ग की क़तारों में पहली बार जोश चमका। उससे कम्युनिस्ट पार्टियां या गुट स्थापित हुए। तब इन गुटों में और राष्ट्रीय मज़दूर दलों में झगड़े खड़े हुए। सोवियत पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान में फिर दिलचस्पी बढ़ी और जोश उमड़ा और मज़दूरों के मुक़ाबले इसका ज़्यादा असर बीच के वर्ग के पढ़े-लिखे लोगों में हुआ। फिर, सोवियत संघ की विरोधी तत्त्वों को मिटा देने की कोशिश के वक़्त प्रतिक्रिया हुई। कुछ देशों में कम्युनिस्ट पार्टियां दबा दी गईं और कुछ देशों में उन्होंने तरक़्क़ी की। लेकिन क़रीब-क़रीब हर जगह संगठित राष्ट्रीय मज़दूर दलों से उनके झगड़े हुए। कुछ हद तक तो इसकी वजह यह थी कि ये दल प्रगति-विरोधी थे लेकिन असली वजह यह थी कि ये कम्युनिस्ट पार्टियां एक विदेशी गुट की प्रतिनिधि थीं,

और उनकी नीति रूस से तय होती थी। मजदूर वर्गों की सहज राष्ट्रीयता को कम्युनिस्ट पार्टी का सहयोग लेने में अड़चन हुई, हालांकि वैसे उनमें से बहुत-से लोगों का साम्यवाद की तरफ़ झुकाव था। सोवियत नीति में बहुत-सी तब्दीलियां हुई। रूस की हालतों को खयाल में रखते हुए वे समझ में आती थीं, लेकिन जब और जगहों पर कम्युनिस्ट पार्टियों ने उनको अपनाया तो वे समझ में नहीं आ सकीं। हां, इस बुनियाद पर कि जो कुछ रूस के भले में है वह सारी दुनिया के लिए भी भला होगा, वे वाजिब समझी जा सकती थीं। इन कम्युनिस्ट पार्टियों में हालांकि कुछ योग्य और सच्ची लगनवाले आदमी थे, लेकिन जनता की राष्ट्रीय भावनाओं से संपर्क छूट जाने की वजह से वे कमजोर होने लगीं। जिस वक्त राष्ट्रीय परंपरा से सोवियत संघ घुल-मिल रहा था, दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां उससे दूर हटती जा रही थीं।

और दूसरी जगहों में क्या हुआ, उसके बारे में मुझे ज्यादा पता नहीं, लेकिन मैं जानता हूं कि हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी उस क़ौमी परंपरा से, जो जनता के दिमाग में घर किये हुए है, बिल्कुल अलग है और उससे बेखबर है। उसका यह विश्वास है कि साम्यवाद में लाजिमी तौर से पिछली चीजों के लिए नफ़रत होती है। जहांतक उसका ताल्लुक है, दुनिया का इतिहास सन १९१७ के नवंबर से शुरू हुआ और उससे पहले जो कुछ हुआ वह तो इसके लिए तैयारी थी। आमतौर पर हिंदुस्तान-जैसे देश में, जहां बहुत बड़ी तादाद में लोग भूखे रहते हैं और जहां आर्थिक ढांचा चटक रहा है, लोगों का साम्यवाद की तरफ झुकाव होना चाहिए। एक ढंग से धुंधला-सा झुकाव तो है, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी उसका फ़ायदा नहीं उठा सकती, क्योंकि उसने अपने-आपको क़ौमी भावना की धारा से अलहदा कर लिया है और वह एक ऐसी भाषा बोलती है, जिसकी जनता के दिलों में कोई गूंज नहीं होती। वह एक मजबूत, लेकिन छोटी-सी पार्टी है, जिसकी असल में कोई बुनियाद नहीं है।

हिंदुस्तान में सिर्फ़ यह कम्युनिस्ट पार्टी ही नहीं, जो इस मामले में नाकामयाब रही है। ऐसे और लोग भी हैं, जो आधुनिकता और आधुनिक ढंग के बारे में लंबी चौड़ी बातें करते हैं, लेकिन उनमें आधुनिक भावना और संस्कृति को अमल में लाने की भी समझ नहीं है। यही नहीं, वे खुद अपनी संस्कृति से भी बेखबर हैं। कम्युनिस्टों के पास कम-से-कम एक आदर्श या प्रेरक-शक्ति तो है, लेकिन इन लोगों के पास न कोई आदर्श है और न कोई ऐसी शक्ति है, जो उन्हें आगे बढ़ाये। वे पश्चिम के ऊपरी

हरें और खास को अपना लेते हैं (और अक्सर उनके कम वांछनीय पहलू) और यह समझते हैं कि वे एक प्रगतिशील सभ्यता के अगुआ हैं। वे भी सिविया हैं, फिर भी अपने-आपको बहुत क़ाबिल समझते हैं। वे कुछ बड़े बड़े शहरों में ही खासतौर से रहते हैं और उनका जीवन ऐसा अस्वाभाविक है कि पूरब या पच्छिम की संस्कृति से उसका कोई सजीव संपर्क नहीं है।

इसीलिए राष्ट्रीय तरक्क़ी न तो गुज़री चीज़ों को दुहराने से हो सकती है और न उनसे आँखें फेर लेने से ही हो सकती है। लाज़िमी तौर से नये मक़सदों की ज़रूरत है लेकिन साथ ही उसमें पुराने का मेल होना भी ज़रूरी है। जो कुछ नया है उसमें अगरचे पहले के मुक़ाबले में बहुत फ़र्क़ मिलता है फिर भी पुराने निशानात मिलते हैं और इस तरह एक तरक़्क़ी का सिलसिला बना रहता है और यह नयापन क़ौमी इतिहास की ज़ंजीर की एक कड़ी-जैसा होता है। हिंदुस्तानी इतिहास में इस तरह की तबदीलियाँ खासतौर से मिलती हैं। पुराने विचारों का नई परिस्थितियों में मेल बिठाने और पुराने मक़सदों का नये से सामंजस्य करने की बराबर कोशिश उसमें ज़ाहिर होती है। इसकी वजह से उसमें कोई सांस्कृतिक विच्छेद नहीं मालूम देता। मोहनजोदड़ो के अति प्राचीन समय से आजतक बराबर तबदीलियों के होते हुए भी उसमें एक सिलसिला है। पुरानी चीज़ों और परंपराओं के लिए श्रद्धा थी लेकिन साथ ही आज़ादी थी, दिमाग़ का लचीलापन था और रवादारी थी। इस तरह से ढाँचे के बने रहने पर भी उसका अंदरूनी तत्त्व बराबर बदलता रहा। किसी दूसरे ढंग से वह समाज हज़ारों बरस तक ज़िंदा नहीं रह सकता था। सिर्फ़ ज़िंदा बढ़ता हुआ दिमाग़ ही रिवाजों की ऊपरी शक्ल की सख़्ती को जीत सकता था। सिर्फ़ वही शक्ल बराबर क़ायम रह सकती थी।

फिर भी यह ग़लतीभ मालूम हो सकता है और उसका एक पहलू दूसरे पहलू को ढँक या कुचल सकता है। हिंदुस्तान में कुछ सख़्त सामाजिक ढाँचों के साथ ही दिमाग़ की बेहद आज़ादी थी। आगे चलकर इस ढाँचे का असर हुआ और दिमाग़ी आज़ादी अमली तौर पर दिन-ब-दिन ज़्यादा सख़्त और महदूद होने लगी। पच्छिमी यूरोप में दिमाग़ की ऐसी आज़ादी न थी और वहाँ समाजी ढाँचों में भी ऐसी सख़्ती न थी। दिमाग़ की आज़ादी के लिए यूरोप को एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी और इस वजह से उसकी समाजी शक्ल भी बदलती रही।

चीन में दिमाग़ का लचीलापन हिंदुस्तान से भी ज़्यादा था। परंपरा के लिए मुहब्बत और मोह होते हुए भी उस दिमाग़ ने अपना लचीलापन

या अपनी रवादारी इन दोनों में से किसीको नहीं खोया। परंपरा की वजह से कभी-कभी रद्दोबदल में देरी हुई, लेकिन उस दिमाग़ को रद्दोबदल का डर नहीं था। हां उसके पुराने नक़्शे बने रहे। चीनी समाज ने हिंदुस्तान से भी ज़्यादा संतुलन स्थापित किया। वह हज़ारों बरसों की रद्दोबदल के बाद भी क़ायम है। दूसरे देशों के मुक़ाबले चीन को एक बात का ख़ास फ़ायदा रहा है। वह अंधविश्वास से संकरे छोटे धार्मिक नज़रिये से बिलकुल आज़ाद रहा है। उसने तर्क और सहज बुद्धि पर भरोसा किया। चीन में और देशों के मुक़ाबले संस्कृति की बुनियाद धर्म पर कम है। उसका आधार नैतिकता और औचित्य पर ज़्यादा है। उस संस्कृति में इन्सान की ज़िंदगी के विभिन्न पहलुओं की समझदारी है।

हिंदुस्तान में इस दिमाग़ी आज़ादी को मान लेने से (चाहे वह अमली तौर पर कितनी ही कम क्यों न रही हो) नये विचारों का अपनाना बंद नहीं हुआ है। दूसरे देशों के मुक़ाबले यहां जीवन का नज़रिया ज़्यादा सख़्त और अंधविश्वासी है हिंदुस्तान में इन विचारों पर ज़्यादा हद तक ग़ौर किया जा सकता है और उन्हें मंज़ूर भी किया जा सकता है। हिंदुस्तानी संस्कृति के असली आदर्शों की बुनियाद बहुत चौड़ी है और उनको किसी भी वातावरण के अनुरूप किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में धर्म और विज्ञान के जिस भयंकर संघर्ष ने यूरोप को झकझोर दिया वह हिंदुस्तान में नहीं हो सकता और न यहां विज्ञान के उपयोग की बुनियाद पर किसी रद्दोबदल से ही उन आदर्शों का विरोध होगा। बेशक ऐसी तब्दीलियां हिंदुस्तान के दिमाग़ को हिला देंगी और ऐसा हो भी रहा है, लेकिन हिंदुस्तान का दिमाग़ उनसे लड़ने या उन्हें नामंज़ूर करने की बजाय अपने आदर्श के नज़रिये में उन्हें तर्कसंगत रूप में मिला लेगा और अपने मानसिक ढांचे में खपा लेगा। ऐसा मुमकिन है कि इस प्रक्रिया में पुराने नज़रिये में बहुत-सी अहम तब्दीलियां करनी पड़ें। लेकिन यहां एक फ़र्क़ होगा। ये तब्दीलियां बाहर से लादी हुई नहीं होंगी बल्कि वे समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से क़ुदरती तौर पर पैदा होती हुई मालूम देंगी। पहले के मुक़ाबले इस काम में अब ज़्यादा मुश्किल है। वजह यह है कि [illegible] और अब बड़ी और बुनियादी तब्दीलियों के सामने आ गई हैं।

[illegible] जो ऊपरी ढांचा खड़ा हो गया है [illegible] उस ढांचे से [illegible] पर जाना ही होगा क्योंकि एक

तो खुद उसका ज्यादातर हिस्सा ख़राब है दूसरे वह इस ज़माने की भावना के खिलाफ़ है। जो उसको बनाये रखने की कोशिश करते हैं वे हिंदुस्तानी संस्कृति के बुनियादी आदर्शों की कुसेवा करते हैं, क्योंकि भले और बुरे दोनों को मिलाकर, वे भले के लिए ख़तरा पैदा कर देते हैं। दोनों को अलग करना आसान नहीं है। उनका निश्चित विभाजन बहुत मुश्किल है और इस बारे में रायें अलग-अलग हैं। लेकिन किसी ऐसी काल्पनिक या तार्किक रेखा के खींचने की ज़रूरत नहीं है। परिवर्तनशील जीवन और घटना क्रम का तर्क धीरे-धीरे हमारे लिए यह रेखा खींच देगा। हर ढंग की तरक्क़ी (चाहे वह वैज्ञानिक हो या दार्शनिक) खुद ज़िंदगी के साथ संपर्क ज़रूरी बना देती है। इस संपर्क की कमी से सड़न पैदा होती है और रचनात्मक प्रतिभा और जीवन-शक्ति का नाश होता है। लेकिन अगर हम ये संपर्क बनाये रहें और उनका स्वागत करें तो हम ज़िंदगी के मोड़ के साथ-साथ चल सकते हैं और उन विशेषताओं को जिनकी हमने क़द्र की है, हम नहीं खोयेंगे।

पिछले वक्त में ज्ञान पाने की हमारी कोशिश में समन्वय था लेकिन वह कोशिश हिंदुस्तान तक सीमित थी। वह सीमा बनी रही और धीरे धीरे समन्वय के स्थान पर विश्लेषण आने लगा। अब हमको समन्वय कारी पहलू को ज्यादा अहमियत देनी है और सारी दुनिया ही हमारे अध्ययन का मैदान होगी। हर राष्ट्र के लिए और हर व्यक्ति के लिए, जिसको बढ़ना है काम-काज और सोच-विचार में उन सँकरे घेरों को जिनमें ज्यादातर लोग बहुत अरसे से रहते आये हैं, छोड़ना होगा और समन्वय पर ख़ास ध्यान देना होगा। विज्ञान और उसके आविष्कारों की तरक्क़ी ने हमारे लिए यह मुमकिन बना दिया है। साथ ही इस नये ज्ञान की ज़्यादती ने इस मुश्किल को बढ़ा भी दिया है। विशेषज्ञता ने अलग-अलग हल्क़ों में व्यक्तिगत जीवन को सँकरा कर दिया है। मसलन एक बहुत बड़े कारखाने में एक आदमी उस लंबी प्रक्रिया में एक छोटे-से-काम में ही हाथ बंटाता है। ज्ञान और काम-काज में विशेष जानकारी की कोशिश जारी रहेगी लेकिन अब इस बात की पहले के मुकाबले ज़्यादा ज़रूरत है कि हर ज़माने के मानव-जीवन को और मानव-खोज को एक समन्वय-कारी दृष्टिकोण से देखा जाये और उसको प्रोत्साहन दिया जाये। इस दृष्टि कोण में गुज़रे ज़माने और मौजूदा वक्त का ख़याल होगा और उसके अंदर सारे देश और सारे राष्ट्र होंगे। शायद इस ढंग से अपनी राष्ट्रीय पृष्ठभूमि और संस्कृति के अलावा हमको दूसरों की भी सही जानकारी होगी और

इस तरह दूसरे देशों के लोगों को समझने या उनके साथ काम करने की सामर्थ्य बढ़ेगी। इस तरह आज के ऐसे व्यक्तियों की जगह (जो किसी एक दिशा में तो बहुत काबिल हैं और दूसरी दिशाओं में उनको साधारण ज्ञान भी नहीं है) हम कुछ हद तक सर्वतोमुखी प्रतिभावाले व्यक्तित्व बनाने में सफलता पायेंगे। प्लेटो के शब्दों में हम शायद 'हर समय के हर प्राणी और हर पदार्थ के द्रष्टा' बन सकें। हमारा पोषण उस भंडार से होगा जो मानवता ने एकत्रित किया है। हम उस भंडार को बढ़ायेंगे और भविष्य निर्माण में उसका उपयोग करेंगे।

यह एक खास लेकिन अजीब-सी बात है कि सारी आधुनिक वैज्ञानिक तरक्की और अन्तर्राष्ट्रीयता की बातचीत के होते हुए भी जातीय भेद भाव और दूसरी फ़र्क डालनेवाली बातें आज जितनी ज़्यादा आ रही हैं उतनी वे इतिहास में पहले कभी नहीं थीं। इस सारी तरक्की में किसी ऐसी चीज की कमी है जिसकी वजह से आदमी की आत्मा में और अलग-अलग राष्ट्रों में मेल नहीं हो पाता। शायद समन्वय और पिछले ज़माने के ज्ञान के प्रति विनम्रता से (आखिर यह ज्ञान सारी मानव जाति का संचित अनुभव ही तो है) हमें एक नया दृष्टिकोण और ज़्यादा सामंजस्य स्थापित करने में मदद मिले। इसकी खासतौर से उन लोगों के लिए ज़रूरत है जिनकी बीमार ज़िन्दगी का सिर्फ़ मौजूदा वक्त से ही ताल्लुक है और जो गुज़री हुई चीज़ों को क़रीब-क़रीब भूल गये हैं। लेकिन हिंदुस्तान-जैसे देश के लिए दूसरी चीज की ज़रूरत है। हमारे पास पिछला तो बहुत है लेकिन हमने वर्तमान की अवहेलना की है। हमको तो संकीर्ण धार्मिक दृष्टिकोण से छुटकारा पाना है और दैवी कल्पनाओं मज़हबी कार्रवाइयों और रहस्यभरी भावुकता की वजह से बिगड़े हुए मानसिक अनुशासन से आज़ाद होना है। ये चीजें अपने-आपको समझने में या दुनिया के समझने में हमारे लिए रुकावट डालती हैं। हमको तो मौजूदा वक्त से इस ज़िन्दगी से इस दुनिया से इस प्रकृति से जो अनगिनत शक्लों में हमारे चारों तरफ है, मुक़ाबला करना है। कुछ हिंदू वेदों के युग को वापस लाना चाहते हैं, और कुछ मुसलमान इस्लामी धार्मिक राज्य का सपना देखते हैं। ये व्यर्थ की कल्पनाएं हैं क्योंकि पीछे लौटा नहीं जा सकता अगर यह अच्छा भी होता तो भी ऐसा मुमकिन नहीं है। समय के क्षेत्र में हम एक ही दिशा में चल सकते हैं।

इसलिए हिन्दुस्तान को अपनी मज़हबी कट्टरता कम करनी चाहिए और विज्ञान की तरफ ध्यान देना चाहिए और उसे अपने विचारों और

सामाजिक स्वभावों की अलहदगी से छुटकारा पाना चाहिए। यह अलहदगी उसके लिए जेलख़ाना बन गई है और यह हिंदुस्तान की भावना को कुचल रही है और इसकी तरक़्क़ी को रोक रही है। छोआछूत की पवित्रता के ख़याल ने सामाजिक संबंधों में दीवारें खड़ी कर दी हैं और सामाजिक कार्रवाइयों का क्षेत्र संकीर्ण हो गया है। कट्टर हिंदू का रोज़ाना की ज़िंदगी की आध्यात्मिक बातों के मुक़ाबले इस बात से ज़्यादा ताल्लुक़ है कि क्या खाना चाहिए और किसको अलहदा रखना चाहिए। उसके सामाजिक जीवन में रसोईघर के नियम-उपनियमों की हुकूमत है। ख़ुशक़िस्मती से इस्लाम इन पाबंदियों से आज़ाद है लेकिन उसके अपने संकरे रस्म रिवाज हैं और उसका अपना तरीक़ा है जिसके मुताबिक़ वह बड़ी कट्टरता से काम करता है और उस भाईचारे के सबक़ को जो उसके मज़हब ने सिखाया वह भूल जाता है। हिंदुओं के मुक़ाबले ज़िंदगी का उसका नज़रिया शायद और भी ज़्यादा संकरा और बंजर है। हाँ आज का औसत हिंदू सही हिंदू नज़रिये का सच्चा नुमाइंदा नहीं है। वजह यह है कि परंपरागत विचार-स्वातंत्र्य उसने खो दिया है और अब वह पृष्ठभूमि जो ज़िंदगी को कई ढंग से भरी-पूरी बनाती है, ग़ायब हो गई है।

हिंदुओं की अलहदगी की साकार तस्वीर और उसका प्रतीक वर्ण व्यवस्था है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था का बुनियादी ख़याल बना रहे और बाद में उसमें जो नई नुक़सानदेह चीज़ें जुड़ गईं, वे हट जायें और उसका निश्चय जन्म से नहीं बल्कि योग्यता से हो। यह दलील बिल्कुल बेतुकी है और इससे सवाल ज़्यादा उलझ जाता है। ऐतिहासिक संदर्भ में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के अध्ययन का कुछ मूल्य है लेकिन यह बात साफ़ है कि हम उस ज़माने में वापस नहीं जा सकते जिसमें वर्ण-व्यवस्था क़ायम हुई थी मौजूदा सामाजिक ढाँचे में उसके लिए कोई जगह बाक़ी नहीं है। अगर योग्यता ही कसौटी है और हर एक को आगे बढ़ने का बराबर मौक़ा है तो वर्ण-व्यवस्था की कोई ख़ास शक्ल ही नहीं रहेगी और वह ख़त्म हो जायेगी। पिछले समय में वर्ण-व्यवस्था से सिर्फ़ कुछ समुदाय दबाये ही नहीं गये बल्कि विद्वत्ता और खोज और कारीगरी के मैदान से अलग हो गये फ़िलसफ़े में और असली ज़िंदगी और उसके सवालों में कोई रिश्ता नहीं न रहा। यह तो ऊँचे वर्गवालों का एक नज़रिया था जो परंपरा के आधार पर क़ायम था। इस नज़रिये को पूरी तरह बदलना होगा क्योंकि यह मौजूदा हालतों और लोकतंत्र के आदर्श के बिल्कुल ख़िलाफ़ है। हिंदुस्तान में सामाजिक समुदायों का

कारबारी आधार पर संगठन जारी रह सकता है, लेकिन ज्यों-ज्यों आधुनिक उद्योग-धंधों में नये काम शुरू होंगे और पुराने काम खत्म होंगे, इसमें भारी उलटफेर करनी होगी। सभी जगह आजकल कारबार के आधार पर संगठन की तरफ़ झुकाव है और अव्यक्त अधिकारों की धारणा की जगह अब काम या पेशे ने ले ली है। इस सबमें और पुराने हिंदुस्तानी आदर्श में मेल है।

इस युग की भावना बराबरी की तरफ़ है, हालांकि अमली तौर पर उसको कहीं बरता नहीं जाता। हम इन मानों में कि आदमी किसी दूसरे की जायदाद नहीं बन सकता, हम गुलामी से छुटकारा पा गये हैं। लेकिन सारी दुनिया में उसकी जगह एक नई गुलामी आ गई है, जो पहली गुलामी से भी बदतर है। व्यक्तिगत आज़ादी के नाम से राजनैतिक और आर्थिक ढांचे आदमियों का नाजायज़ फ़ायदा उठाते हैं और उनको इस तरह बरतते हैं, मानो वे सौदे की चीज़ें हों। और फिर, हालांकि एक आदमी दूसरे आदमी की जायदाद नहीं हो सकता, लेकिन एक देश या राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की जायदाद हो सकता है, और इस तरह सामूहिक गुलामी बरदाश्त की जाती है। जातीय भावना भी हमारे युग की एक खास चीज़ है और अधिपति राष्ट्रों की तरह अधिपति जातियां भी हैं।

फिर भी युग की भावना की जीत होगी। कम-से-कम हिंदुस्तान में हमारा ध्यान बराबरी की ओर होना चाहिए। इसके ये मानी नहीं कि सब लोग शरीर से, बुद्धि से और आध्यात्मिक दृष्टि से बराबर हैं। ऐसा हो भी नहीं सकता। हां, इसके ये मानी ज़रूर हैं कि सबके लिए बराबर मौक़ा हो और किसी आदमी या किसी समवाय को राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक रुकावट का सामना न करना पड़े। इसके मानी हैं मानवता में विश्वास और साथ ही इस बात में विश्वास कि कोई ऐसी जाति या ऐसा समवाय नहीं है, जो तरक्क़ी नहीं कर सकता और मौक़ा मिलने पर अपने ढंग से आगे नहीं बढ़ सकता। इसके मानी हैं इस सचाई को महसूस करना कि किसी समुदाय का पिछड़ापन या उसकी गिरावट उसकी निजी ख़ामियों की वजह से नहीं है, बल्कि उसकी ख़ास वजह यह है कि उसको बढ़ने का मौक़ा नहीं मिला और बहुत बरसों तक किसी दूसरे समुदाय का उस पर दबाव रहा। इससे यह समझ आनी चाहिए कि आधुनिक दुनिया में असली तरक्क़ी, चाहे वह राष्ट्रीय तरक्क़ी हो या अंतर्राष्ट्रीय हो, बहुत हद तक [illegible] है और हर एक पिछड़ा हुआ समुदाय [illegible] पसीजता है। इसलिए सबको सिर्फ़ बराबर मौक़ा ही नहीं मिलना [illegible] बल्कि [illegible] भागों की पढ़ाई-लिखाई, आर्थिक और

सांस्कृतिक तरक्क़ी के लिए ख़ास सुविधा देनी चाहिए, ताकि वे जल्दी से दूसरे लोगों के बराबर आ सकें। हिंदुस्तान में सबको तरक्क़ी के लिए इस तरह मौक़ा देने की किसी भी कोशिश से बेहद कार्य-शक्ति और योग्यता सामने आयेगी और बड़ी तेज़ी से देश का हुलिया बदल देगी।

मगर यह की भावना बराबरी चाहती है तो उसके लिए लाजिमी तौर पर ऐसे आर्थिक ढांचे की भी ज़रूरत होगी जो उसके अनुरूप हो और उसको बढ़ावा दे। हिंदुस्तान में मौजूदा नौआबादियों का-सा तरीक़ा उससे बिलकुल उलटा है। निरंकुशता की बुनियाद सिर्फ़ ग़ैर-बराबरी पर ही नहीं होती बल्कि वह उसको जीवन के हर क्षेत्र में स्थायी कर देती है। वह राष्ट्र की सजनात्मक और फिर से जिंदा करनेवाली ताक़तों को कुचल देती है, प्रतिभा और सामर्थ्य पर ताला लगा देती है और जिम्मेदारी की भावना को मिटा देती है। जो उसके मातहत रहते हैं उनका स्वाभिमान और आत्म-विश्वास मिट जाता है। हिंदुस्तान के मसले बहुत उलझे हुए मालूम देते हैं लेकिन उनकी ख़ास वजह यह है कि यहां पर राजनैतिक और आर्थिक ढांचे को ज्यों-का-त्यों रखते हुए तरक्क़ी की कोशिश की जाती है। राजनैतिक तरक्क़ी के साथ मौजूदा ढांचे और निहित स्वार्थों को बनाये रखने की शर्त है। दोनों चीज़ें एक साथ नहीं चल सकतीं।

राजनैतिक तबदीली तो होनी ही चाहिए, लेकिन आर्थिक तबदीली भी उतनी ही ज़रूरी है। यह तबदीली लोकतंत्री योजनाबद्ध समष्टिवाद की दिशा में होगी। आर॰ एच॰ टौनी का कहना है—"प्रतियोगिता और एकाधिकार में छांट का सवाल नहीं है, बल्कि वह छांट होगी उस एकाधिकार में जो ग़ैर-जिम्मेदार है और जाती है और उस एकाधिकार में जो जिम्मेदार और सार्वजनिक है। पूंजीवादी राज्यों में भी सार्वजनिक एकाधिकार बढ़ रहे हैं और वे आगे भी बढ़ते रहेंगे। उनमें और जाती एकाधिकार के विचार में जो झगड़ा है, वह उस वक्त तक चलता रहेगा जबतक कि उनमें से एक यानी जाती एकाधिकार, का ख़ात्मा नहीं हो जाता। एक लोकतंत्री समष्टिवाद के मानी ये नहीं हैं कि व्यक्तिगत संपत्ति नहीं रहेगी बल्कि इसके मानी हैं बड़े-बड़े और बुनियादी उद्योग-धंधों पर आम लोगों का अधिकार का होना। उसके मानी होंगे ज़मीन पर सामूहिक या मिला-जुला नियंत्रण हो। ख़ासतौर से हिंदुस्तान में बड़े-बड़े उद्योग-धंधों के अलावा सहकारी-समाजों द्वारा संचालित ग्रामोद्योगों की ज़रूरत होगी। इस ढंग के लोकतंत्री समष्टिवाद के लिए बराबर सावधानी से योजनाएं बनानी होंगी और बराबर ऐसी कोशिश करनी पड़ेगी कि जनता की

बदलती हुई जरूरतों के मुताबिक रद्दोबदल हो। हर मुमकिन ढंग से राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति को बढ़ाने का इरादा होना चाहिए। साथ ही यह कोशिश भी होनी चाहिए कि देश की सारी कार्य-शक्ति का उपयोग हो, हर एक आदमी किसी-न-किसी काम में लगा हुआ हो और बेकारी न हो। जहांतक मुमकिन हो सके हर किसी को अपना पेशा चुनने की आजादी होनी चाहिए। इसका नतीजा यह नहीं होगा कि सब की आमदनी बराबर हो जायगी, लेकिन हर एक को अपना-अपना हिस्सा तो जरूर मिलेगा और बराबरी की तरफ रुझान होगा। हर हालत में आज जो बहुत ज्यादा फर्क दिखाई देता है वह बिल्कुल गायब हो जायेगा और वर्ग-भेद, जो खास-तौर से आमदनी के फर्क की वजह से है, दिन-ब-दिन कम होने लगेगा।

ऐसी रद्दोबदल से मौजूदा समाज जो मुनाफे की नींव पर बना है बिल्कुल अस्त-व्यस्त हो जायेगा। मुनाफे की भावना कुछ हदतक फिर भी बनी रह सकती है, लेकिन न तो उसकी इतनी अहमियत ही होगी और न उसका इतना बड़ा क्षेत्र ही होगा। यह कहना तो बिल्कुल गलत होगा कि मुनाफे की भावना एक हिंदुस्तानी को अच्छी नहीं लगती। हां, यह जरूर सच है कि हिंदुस्तान में उसको इतनी अच्छी नजर से नहीं देखा जाता जितना पश्चिम में। मालदार आदमी से जलन हो सकती है, लेकिन उसकी कोई खास इज्जत या तारीफ नहीं होती। इज्जत या तारीफ अब भी उसी स्त्री या पुरुष की होती है जिसे अच्छा या भलामानस समझा जाता है और खास तौर से उन लोगों की जिन्होंने आम भलाई के लिए अपनी या अपने स्वार्थ की कुर्बानी की है। हिंदुस्तानी नजरिये में, यहांतक कि आम जनता के नजरिये में भी, मगारम या काबू में कर लेने की भावना को कभी पसंद नहीं किया।

फिर भी किसी अदृश्य कड़ी से गाँव बँधा हुआ है और पुरानी बातों की याद आती है। सदियों पुरानी परंपराओं का आसानी से फ़ायदा उठाया जा सकता है, और खेती-बारी में और छोटे कारबारों में सामूहिक सहकारी संस्थाएं बनाई जा सकती हैं। गाँव अब स्वावलंबी आर्थिक इकाई नहीं रह सकता (हां उसका सामूहिक या सहकारी कृषि से बहुत क़रीबी रिश्ता रह सकता है।) लेकिन वह अब सरकारी इंतज़ाम की या चुनाव की इकाई बख़ूबी बन सकता है। बड़े राजनैतिक ढांचे में हर एक ऐसी इकाई ख़ुदमुख़्तार रह सकती है और वह गाँव की ख़ास ज़रूरतों का इंतज़ाम करेगी। अगर कुछ हद तक उसको चुनाव की इकाई बना लिया जाये तो उससे सूबाई और अखिल भारतीय चुनावों में काफ़ी सादगी और आसानी आ जायेगी। वजह यह है कि उससे प्रत्यक्ष निर्वाचकों की संख्या काफ़ी कम हो जायेगी। गाँव के हर बालिग़ मर्द और औरत की चुनी हुई गाँव की पंचायत दूर बड़े चुनावों के लिए निर्वाचकों का काम करेगी। परोक्ष चुनावों में कुछ ख़ामियां हो सकती हैं लेकिन हिंदुस्तान की हालतों का ख़याल रखते हुए मैं यही मुनासिब समझता हूं कि गाँव को एक इकाई की तरह बरता जाये। इस तरह नुमाइंदगी ज़्यादा सच्ची और ज़्यादा ज़िम्मेदार होगी।

इस प्रादेशिक नुमाइंदगी के अलावा ज़मीन और उद्योग-धंधों की सहकारी सभा और सामूहिक संस्थाओं की भी प्रत्यक्ष नुमाइंदगी होनी चाहिए। इस तरह राज्य के लोकतंत्री संगठन में प्रादेशिक और पेशेवर दोनों तरह की नुमाइंदगी होगी और उसकी बुनियाद मुक़ामी स्वराज पर होगी। इस तरह का इंतज़ाम हिंदुस्तान के पुराने ज़माने और साथ ही उसकी मौजूदा ज़रूरतों से पूरी तरह मेल खायेगा। उसमें विक्षोभ की भावना नहीं होगी (सिवाय उन हालतों के जो ब्रिटिश राज्य के दौरान में आईं) और जनता का दिमाग़ इसे उस अनवरत क्रम का ही अंग समझेगा जिसके सुदूर भूतकाल की उसे अब भी याद आती है और जिसके लिए उसके दिल में मुहब्बत है।

हिंदुस्तान में इस ढंग की राष्ट्रीयता राजनैतिक और आर्थिक अंतर्राष्ट्रीयता के अनुरूप होगी। उसमें दूसरे राष्ट्रों से झगड़े नहीं होंगे और एशिया में और दुनिया में शांति के लिए उसका ज़बरदस्त असर होगा। वह उस 'एक दुनिया' को साकार करने में मदद करेगा जिसकी तरफ़ हम लाज़िमी तौर से बढ़ रहे हैं। हमारी वक़्ती प्रवृत्तियां हमको धोखे में डाले रहती हैं और हमारा दिमाग़ उस बहाव को समझ नहीं पाता। दबाव और मायूसी के चंगुल से *आज़ाद होकर हिंदुस्तानी जनता फिर अपना पूरा बड़प्पन हासिल करेगी* और उसकी संकरी राष्ट्रीयता और अलहदगी मिट जायेगी। अपनी हिंदुस्तानी विरा-

शत पर गर्व करते हुए वे दूसरे आदमियों और दूसरी क़ौमों के लिए अपना दिल और दिमाग खोल देंगे और खूबसूरत और बड़ी दुनिया के नागरिक बन जायेंगे और दूसरे लोगों के साथ उस सनातन खोज में शरीक होंगे जिसमें उनके पुरखे सबसे आगे थे।

## ११ हिंदुस्तान विभाजन या मज़बूत क़ौमी रियासत या राष्ट्रोपरि राज्य का केंद्र ?

जिस तरह किसी व्यक्ति की आशाओं और शंकाओं के बीच सही समतौल पा लेना मुश्किल है उसी तरह किसी आदमी के ख़यालों पर उसकी ख्वाहिशों की छाप रोकना भी मुश्किल है। हमारी ख्वाहिशें ऐसी दलीलों की तलाश में रहती हैं जो उनके मुआफ़िक हों और वे उन वाक़यों या दलीलों की जो उनसे मेल नहीं खातीं अवहेलना की कोशिश करती हैं। मैं उस समतौल को हासिल करने की कोशिश करता हूं ताकि मैं चीज़ों को सही ढंग से देख सकूं और काम के लिए सही बुनियाद पा लूं फिर भी मैं जानता हूं कि मैं कामयाबी से कितनी दूर हूं और मैं उन विचारों या भावनाओं से जिन्होंने मुझे बनाया है और जो अपने अवश्य सीलवा से मुझे घेरे हुए हैं छुटकारा नहीं पा सकता। इसी तरह दूसरे लोग भी विभिन्न दिशाओं में ग़लती कर सकते हैं। दुनिया में हिंदुस्तान की क्या जगह है इसके बारे में हिंदुस्तानी और अंग्रेज़ के नज़रियों में लाज़िमी तौर से बहुत फ़र्क़ होगा। उसकी वजह यह है कि दोनों की अपनी अलग-अलग क़ौमी और ज़ाती तारीख़ है। व्यक्ति और राष्ट्र अपने-अपने कामों से अपना भविष्य बनाते हैं। उनकी मौजूदा हालत उनके पिछले कामों का नतीजा है, और आज वे जो कुछ करते हैं उससे उनके भविष्य की बुनियाद तैयार होती है। हिंदुस्तान में इसको कार्य-कारण नियम को कर्म कहा गया है जिसमें हमारा काम हमारी क़िस्मत बनाता चलता है। ऐसा नहीं है कि यह क़िस्मत बदल नहीं सकती। और भी कई ऐसी बातें हैं जिनका इस पर असर होता है और ऐसा ख़याल है कि व्यक्तिगत मन शक्ति का भी कुछ असर होता है। अगर पिछले कामों के नतीजों को बदलने की यह आज़ादी न होती तब तो हम सब क़िस्मत के मज़बूत पंजे में लाज़िमी तौर से सिर्फ़ कठपुतली होते। फिर भी व्यक्ति को या राष्ट्र को बनाने में पिछले कर्म का ज़बरदस्त असर होता है और राष्ट्रीयता तक उसकी छाया है जिसमें गुज़रे ज़माने की सारी अच्छी और बुरी भावनाएँ भरी हैं।

शायद इस पिछली विरासत का राष्ट्रीय समुदाय पर व्यक्ति के मुक़ाबले ज़्यादा असर होता है क्योंकि ज़्यादातर इन्सान अचेतन और बेर

जाती बहावों में बह जाते हैं। व्यक्ति के साथ यह चीज बहुत कम होती है। इसलिए लोगों के सामूहिक रुख को बदलना ज्यादा मुश्किल होता है। नैतिक दबावों का व्यक्ति पर असर होता है, लेकिन समुदाय पर उनका असर बहुत कम होता है और वह समुदाय जितना ज्यादा बड़ा होता है, उस पर उतना ही कम असर होता है। समुदाय पर परोक्ष रूप से प्रचार से असर डालना (खासतौर से मौजूदा दुनिया में) आसान है। और फिर भी कभी-कभी (हालांकि ऐसे मौके बहुत कम होते हैं) समुदाय आप ही नैतिक व्यवहार में ऊंचा उठता है और व्यक्ति को अपने संकरे और स्वार्थी ढंग छोड़ने को मजबूर करता है। वैसे आमतौर पर समुदाय व्यक्तिगत नैतिक स्तर से बहुत नीचे पड़ता है।

लड़ाई से दोनों प्रतिक्रियाएं होती हैं लेकिन आधिपत्य उस मुकाम का होता है, जो नैतिक जिम्मेदारी से छुटकारा चाहता है और उन सारे आदर्शों को, जिन्हें सभ्यता ने बड़ी मशक्कत से तैयार किया था खत्म करना चाहता है। लड़ाई में कामयाबी और आक्रमक ढंग का नतीजा यह होता है कि इस नीति को न्याय्य ठहराया और जारी रखा जाता है और फिर उसकी वजह से साम्राज्यवादी आधिपत्य और अधिपति-जाति की भावना पैदा होती है। हार से मायूसी होती है और बदला लेने की भावना पनपती है। दोनों ही सूरतों में नफ़रत और हिंसा की आदत बढ़ती है। बेरुखी और बेदर्दी होती है और दूसरे के नज़रिये को समझने की कोशिश से भी इन्कार कर दिया जाता है। और इस तरह एक ऐसे भविष्य की नींव पड़ती है जिसमें लड़ाई और संघर्ष बराबर बढ़ते हैं और उनके अपने खतरनाक नतीजे होते हैं।

हिंदुस्तान और इंग्लैंड के बीच पिछले दो सौ बरसों के मजबूरी के रिश्ते ने दोनों ही के लिए यह कर्म यह क़िस्मत तैयार की है। उनके आपसी रिश्ते अब भी उसीसे तय होते हैं। कर्म के जाल में हम फंसे हुए हैं। इस पिछली विरासत से छुटकारा पाकर एक नई बुनियाद की तलाश में हमारी अबतक की सारी कोशिशें बेकार हुई हैं। बदकिस्मती से लड़ाई के पिछले पांच सालों ने इस पिछले कर्म की बुराई को बढ़ा दिया है और इस वजह से समझौता और स्वाभाविक रिश्ता अब ज्यादा मुश्किल हो गया है। पिछले दो सौ बरसों के इतिहास में जैसाकि हमेशा होता है, भलाई और बुराई दोनों की ही मिलावट है। अंग्रेज के ख़याल से बुराई के मुकाबले भलाई ज्यादा है और हिंदुस्तानी की निगाह में बुराई इतनी ज्यादा है कि दो सौ साल का सारा जमाना बिलकुल काला है। भलाई और बुराई का कैसा भी संतुलन क्यों न हो यह बात साफ़ है कि कोई भी रिश्ता जो जबरदस्ती लादा जाता है एक-दूसरे के लिए सख्त

नफरत और आपसदारी पैदा करता है और इन भावनाओं के सिर्फ बुरे नतीजे हो सकते हैं।

हिंदुस्तान में राजनैतिक और आर्थिक दोनों ही तरह की इन्कलाबी तबदीली जरूरी ही नहीं बल्कि लाजिमी भी मालूम देती है। लड़ाई शुरू होने के कुछ वक्त बाद १९३९ के आखिर में और फिर अप्रैल १९४२ में इस बात की थोड़ी-सी संभावना हुई कि शायद इंग्लैंड और हिंदुस्तान दोनों की रजामंदी से ऐसी तबदीली हो जाये। चूंकि हर बुनियादी तबदीली से डर था इसलिए वे संभावनाएं और वे मौके बीत गये। लेकिन तबदीली होगा। क्या रजामंदी का मौका अब खत्म हो गया? जब खतरा दोनों के ही लिए होता है तो मुकाबले पर आने का तीखापन कुछ कम हो जाता है और मौजूदा वक्त पर भविष्य के लिहाज से गौर किया जाता है। अब पुरानी याद फिर आ गई है और उसका तीखापन बढ़ गया है। उपेक्षा की जगह अब सख्ती और कड़वापन आ गया है। वैसे कोई-न-कोई समझौता होगा जरूर, चाहे जल्दी हो या देर से, चाहे ज्यादा संघर्ष के बाद हो या बिना संघर्ष के, लेकिन अब इस बात की गुंजाइश बहुत ही कम है कि वह समझौता सच्चा और दिली होगा। उसमें अब आपसी सहयोग की बहुत कम संभावना रह गई है। ज्यादा मुमकिन यह है कि हालात की मजबूरी से दोनों ही बेमन से झुकेंगे और अविश्वास और दुर्भावनाएं बनी रहेंगी। किसी भी ऐसे हल के, जो हिंदुस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य का हिस्सा बनाये रखने के उसूल को मानता हो, मंजूर किये जाने का रत्ती भर भी मौका नहीं है। कोई भी हल, जिसमें हिंदुस्तान में सामंती अवशेष बनाये रखने का इरादा हो, चल नहीं सकता।

और उससे पैदा हुई बुराइयों को आगे भी उन्हें महफ़्फ़ूज़ रखने के लिए, उनके ख़िलाफ़ दलील बनाया जाता है।

हिंदुस्तान ग़रीब देश नहीं है। किसी देश को धनी बनानेवाली जितनी चीज़ें होती हैं उनकी उसके पास बहुतायत है फिर भी उसके निवासी बहुत ग़रीब हैं। संस्कृति के विविध अंगों की हिंदुस्तान के पास ऊंची विरासत है और उसकी सामर्थ्य संस्कृति की दिशा में बहुत बड़ी है लेकिन कई नई बातों की और संस्कृति के उपकरणों की कमी है। इस कमी की भी कई वजहें हैं, लेकिन उसकी ख़ास वजह यह है कि उसको उन उपकरणों से ज़बरदस्ती वंचित किया गया है। जब ऐसा होता है तो जनता की जीवन-शक्ति को इन अड़चनों को पार करना चाहिए और कमियों को पूरा करना चाहिए। हिंदुस्तान में काम नहीं हो रहा है। अब यह सत्य बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि हिंदुस्तान के पास तरक़्क़ी करने के लिए साधन हैं अक्ल है, चतुराई है और सामर्थ्य है। उसके पास कितने ही युगों के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक अनुभवों की निधि है। वह वैज्ञानिक सिद्धांत और व्यावहारिक विज्ञान दोनों ही में तरक़्क़ी कर सकता है और एक बड़ा औद्योगिक राष्ट्र बन सकता है। हालांकि उसके सामने कितनी ही मुश्किलें हैं और उसके नौजवान स्त्री-पुरुषों को वैज्ञानिक काम करने के मौक़े नहीं मिलते फिर भी उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियां महत्त्व पूर्ण हैं। इस देश का फैलाव और उसकी संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए ये उपलब्धियां बहुत नहीं हैं, लेकिन उनसे यह पता ज़रूर लगता है कि मौक़ा दिया जाने पर और राष्ट्र की शक्तियों का सोता खोल देने पर क्या होगा।

रास्ते में सिर्फ़ दो अड़चनें हो सकती हैं—अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और हिंदुस्तान पर बाहरी दबाव और देश के ही अंदर एक आम मक़सद की कमी। आख़िर में पिछली बात की ही अहमियत होगी। अगर हिंदुस्तान को दो या इससे ज़्यादा हिस्सों में तोड़ दिया जायेगा अगर वह एक आर्थिक और राजनैतिक इकाई की तरह काम न कर सकेगा तो उसकी तरक़्क़ी पर ज़बरदस्त असर होगा। एक तो ख़ुद ही कमज़ोरी आयेगी लेकिन इससे बदतर चीज़ वह मनोवैज्ञानिक लड़ाई होगी जो हिंदुस्तान को अखंड बनाये रखनेवालों और उसके विरोधियों में होगी। नये निहित स्वार्थ पैदा हो जायेंगे जो रद्दोबदल और तरक़्क़ी को रोकेंगे। नये दुष्कर्म भविष्य में हमारा पीछा करेंगे। एक ग़लती से हम दूसरी पर आ पहुंचते हैं। यही बात पहले हुई है और ऐसा ही भविष्य में हो सकता है। फिर भी कभी-कभी ज़्यादा बड़ी बुराई से बचने के लिए छोटी बुराई को अपनाना पड़ता है राजनीति की यही एक अजीब उलझी

ऐसे हैं जो जान-बूझकर इस तरह तो काम नहीं करते लेकिन हुकूमत की नीतियों और कार्रवाइयों का उन पर असर ज़रूर होता है।

हिंदुस्तान के बंटवारे के उसूल को या यों कहा जाये कि इस उसूल को कि मजबूरी से एक न रखा जाये मान लेने से इसके नतीजों पर निष्पक्षता और गंभीरता से विचार करने का मौक़ा मिलता है और इस तरह महसूस होगा कि एके से सभी का फ़ायदा है। लेकिन यह बात ज़ाहिर है कि अगर एक बार ग़लत क़दम उठा लिया जाये तो बहुत-सी दिक़्क़तें इसके साथ खुद-ब-खुद हो जायेंगी। किसी मसले को ग़लत ढंग से हल करने की कोशिश से नये मसले पैदा हो सकते हैं। अगर हिंदुस्तान दो या इससे ज़्यादा हिस्सों में बांटा जाता है तो बड़ी हिंदुस्तानी रियासतों को हिंदुस्तान में लाना ज़्यादा मुश्किल हो जायेगा। उस वक़्त उन रियासतों को अलग रहने की और अपनी निरंकुश हुकूमत बनाये रखने की एक और दलील मिल जायेगी जो उन्हें वैसे नहीं मिल सकती।[1]

---

[1] यह कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर हिंदुस्तानी रियासतें मज़बूत हिंदुस्तानी संघ बनाये रखने की ख़्वाहिशमंद हैं। हां, अपनी अंदरूनी स्वाधीनता को वे बनाये रखने की इच्छुक हैं। हिंदुस्तान के बंटवारे के प्रस्ताव का रियासतों के प्रमुख राजनीतिज्ञों और मंत्रियों ने ज़ोरदार विरोध किया है और उन्होंने यह बात साफ़ कह दी है कि अगर ऐसा बंटवारा होता है तो वे अलग ही रहना ज़्यादा पसंद करेंगे और विभाजित हिंदुस्तान के किसी भी हिस्से से वे अपने-आपको नहीं बांधेंगे। त्रावनकोर के दीवान और रियासतों के सबसे ज़्यादा क़ाबिल और तजुरबेकार मंत्रियों में से एक सर सी॰ पी॰ रामास्वामी ऐयर रियासतों की अंदरूनी स्वाधीनता के ज़रूर हिमायती हैं (हालांकि अपनी निरंकुश नीति और जिनको पसंद नहीं करते उनको कुचलने की नीति की वजह से वह काफ़ी बदनाम हैं)। साथ ही पाकिस्तान या बंटवारे के किसी भी प्रस्ताव के वह ज़ोरदार और पक्के विरोधी हैं। इंडियन कौंसिल ऑव वर्ल्ड अफ़ेयर्स की बंबई शाखा में १ अगस्त, १९४४ को व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा—"रियासतों को ऐसी योजना में आना चाहिए और मेरे ख़याल से वे ऐसी ही योजना में आयेंगी जिसमें हिंदुस्तान की सारी राजनैतिक और हुकूमती इकाइयों को वे केंद्रीय विधिकारी और कार्यकारी संगठन बनाने और उसको चलाने में सहयोग देंगी। ऐसा संगठन हिंदुस्तान में और विदेशों में क़ौमी और नुमाइंदा हैसियत से कारगर तौर पर काम करेगा। हिंदुस्तान के अंदर इकाइयों का आपसी रिश्ता बराबरी का होगा और उसमें किसीके बड़प्पन का सवाल नहीं होगा; हालांकि क़द के बड़े हुए और अन्य सारे

मजहबी बुनियाद पर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हिंदुस्तान का बटवारा, जैसाकि मुस्लिम लीग सोचती है, इन दो खास धर्मों के मानने-वालों को अलग-अलग नहीं कर सकता, क्योंकि वे सारे देश में फैले हुए हैं। अगर उन हिस्सों को भी अलहदा किया जाये, जहां एक वर्ग का बहुमत है, तो उन हिस्सों में अल्पसंख्यक बहुत बड़ी तादाद में बाकी बचे रहते हैं। इस तरह अल्पसंख्यकों की समस्या को हल करने में हम एक की जगह कई समस्याएं खड़ी कर लेते हैं। दूसरे धार्मिक वर्ग, मसलन सिख अपनी इच्छा के खिलाफ दो अलग सरकारों में बंट जायेंगे। एक वर्ग को अलग होने की आजादी देने से दूसरे वर्गों को, जो उन हिस्सों में अल्पसंख्यक हैं, अलग होने की आजादी नहीं मिलती। उनको उनकी मरजी के सख्त खिलाफ मजबूर किया जाता है कि वे अपने-आपको बाकी हिंदुस्तान से अलहदा कर लें। अगर यह कहा जाये

---

अधिकारों को पूरी तरह स्वीकार किया जायेगा।" आगे चलकर वह कहते हैं—"मेरा विचार यह है कि पुराने संधि-अधिकार हों या न हों, लेकिन किसी भी ऐसी हिंदुस्तानी रियासत को बने रहने का अधिकार नहीं होगा, जो ऐसी योजना में शामिल नहीं होती, जिससे हिंदुस्तानी रियासतों और ब्रिटिश हिंदुस्तान का उन सभी से ताल्लुक रखनेवाले मामलों में केंद्रीय नियंत्रण या इंतजाम हो, या जो ईमानदारी से उस राजनैतिक इंतजाम के मुताबिक अमल नहीं करती, जिसको सबने बराबरी की हैसियत से मिलकर, सोच-विचारकर आपस में तय किया हो।" "मैं इस बात पर खासतौर से जोर देना चाहता हूं और मैं जानता हूं कि यह एक विवादास्पद बात होगी कि किसी भी हिंदुस्तानी रियासत का बने रहने का अधिकार नहीं है, अगर वह जनता की खुशहाली के मामले में ब्रिटिश भारत से आगे नहीं, तो कम-से-कम उसके बराबर भी नहीं है।

एक दूसरी बात, जिस पर रामास्वामी ऐयर ने जोर दिया है, यह है कि ६ १ रियासतों से बराबरी दर्जे पर बरताव नामुमकिन है। उनका खयाल है कि हिंदुस्तान के नये संविधान में ६ १ रियासतें घटकर १५ २ कर दी जायेंगी और वे बाकी प्रांतों या बड़ी रियासतों की इकाइयों में मिला दी जायेंगी।

रामास्वामी ऐयर जाहिरा तौर पर रियासतों में जोरदार राजनैतिक तरक्की को कोई खास अहमियत नहीं देते हैं, या कम-से-कम उसे एक दीगर बात समझते हैं। लेकिन इसकी कमी से रियासतों में चाहे और दिशा में कितनी ही तरक्की क्यों न हो, जनता में और हुकूमत में बराबर संघर्ष चलता रहेगा।

कि जहांतक अलहदगी का सवाल है, हर हिस्से में (धार्मिक) बहुसंख्यकों की ही बात मानी जाये तो फिर कोई वजह नहीं कि समूचे हिंदुस्तान के सवाल को भी बहुसंख्यकों के नजरिये से क्यों न तय किया जाये। या हर छोटा-सा हिस्सा अपनी निजी हैसियत को अपने-आप तय करे और इस तरह छोटी-छोटी रियासतों की एक बहुत बड़ी तादाद हो जायेगी—यह एक अजीब और मजाक की बात होगी। इसके अलावा किसी ढंग से यह हो ही नहीं सकता क्योंकि सारे देश में अलग-अलग मजहब के आदमी हर जगह फैले हुए हैं और हर हिस्से की आबादी में घुले-मिले हैं।

जहां कौमियतों का सवाल है, इस तरह के मामलों को बंटवारे से हल करना बहुत मुश्किल होता है, लेकिन जहां कसौटी मजहब की हो वहां इन्साफ की बुनियाद पर उसको हल करना नामुमकिन है। यह तो मध्ययुगीन धारणाओं की तरफ वापस लौटना है और आज की दुनिया में उसका मेल नहीं बिठाया जा सकता।

अगर बंटवारे के आर्थिक पहलू पर गौर किया जाये तो यह बात साफ है कि अखंड हिंदुस्तान मजबूत और बहुत हद तक एक अपने में पूरी आर्थिक इकाई होगा। किसी भी बंटवारे से कुदरती तौर पर वह कमजोर होगा और एक हिस्से को दूसरे हिस्से का सहारा लेना होगा। अगर बंटवारा इस तरह किया जाये कि बहुसंख्यक हिंदू या मुस्लिम हिस्से अलग-अलग कर दिये जायें तो हिंदुओं के पास ज्यादातर खनिज साधन के और उद्योग-धंधों के हिस्से पहुंच जायेंगे। दूसरी तरफ मुसलमान हिस्से आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए होंगे और अक्सर उनके पास जरूरतों के लिहाज से चीजों की कमी रहेगी और बिना बाहरी मदद के वे अपना अस्तित्व भी नहीं रख सकेंगे। इस तरह से यह अजीब सचाई सामने आती है कि आज जो लोग बंटवारा चाहते हैं, वही सबसे ज्यादा नुकसान में रहेंगे। कुछ हद तक इस सचाई को महसूस करने की वजह से अब वे यह कहने लगे हैं कि बंटवारा इस ढंग से हो और उन्हें ऐसा हिस्सा मिले कि आर्थिक समतोल हो सके। मुझे नहीं मालूम कि किन्हीं परिस्थितियों में ऐसा मुमकिन भी हो सकता है, लेकिन मुझे इस पर जरूर शक है। हर सूरत में ऐसी कोशिश के मानी ये होंगे कि विभाजित भाग से हिंदू और सिखों की बहुत बड़ी आबादी को जबरन जोड़ दिया जाये। आत्म-निर्णय के उसूल को अमल में लाने का यह एक अजीब तरीका होगा। मुझे उस आदमी की कहानी याद आती है जिसने अपने मां-बाप को मार डाला और फिर अदालत के सामने यह फरियाद की कि वह अनाथ है!

एक और अजीब विरोधाभास सामने आता है। आत्म-निर्णय के उसूल की दुहाई दी जाती है लेकिन इसको तय करने के लिए वहां की जनता का मत लेने की बात नहीं मानी जाती यह कहा जाता है कि अगर राय लेनी है तो सिर्फ उन हिस्सों के मुसलमानों की ही राय ली जाये। बंगाल और पंजाब में मुसलमानी आबादी ५४ फ़ी-सदी या इससे भी कम है। उनकी राय के माने ये हुए कि ५४ फ़ी-सदी के वोट से बाक़ी ४६ फ़ी-सदी या इससे भी ज्यादा लोगों की किस्मत का फ़ैसला हो और इन ४६ फ़ी-सदी आदमियों को उस मामले में कुछ भी कहने का हक़ नहीं होगा। इसका नतीजा यह हो सकता है कि हिंदुस्तान के ८ फ़ी-सदी आदमी बाक़ी ७२ फ़ी-सदी आदमियों की भी क़िस्मत का फ़ैसला करें।

समझ में नहीं आता कि किस तरह कोई समझदार आदमी ऐसा प्रस्ताव पेश कर सकता है और यह उम्मीद कर सकता है कि दूसरे लोग उसे मान लग? मुझे नहीं मालूम और जबतक इस सवाल पर वोट नहीं लिये जाते किसीको मालूम हो भी नहीं सकता कि उन हिस्सों के कितने मुसलमान बंट वारा चाहते हैं। मेरा ऐसा खयाल है कि बहुत काफ़ी लोग शायद ज़्यादातर लोग उसके खिलाफ़ वोट देंगे। कई मुसलमान संस्थाएं उसके खिलाफ़ हैं। हर एक गैर-मुस्लिम चाहे वह हिंदू, सिख ईसाई या पारसी हो उसके खिलाफ़ है। आमतौर से बटवारे की भावना उन हिस्सों में पैदा हुई है जहां मुसलमानों की आबादी बहुत कम है—ऐसे हिस्सों में जो हर सूरत में बाक़ी हिंदुस्तान में शामिल रहेंगे। जिन हिस्सों में मुसलमान बहुसंख्यक हैं वहां इसका कोई असर नहीं है कुदरती बात है कि वे खुद अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं और उन्हें दूसरे समुदायों का डर नहीं है। सरहदी सूबे में उसका असर सबसे कम है जहां मुसलमान ९५ फ़ी-सदी हैं। वहां के पठान बहादुर हैं उन्हें अपने ऊपर भरोसा है और उन्हें किसी तरह का डर नहीं है। इस तरह यह एक अजीब-सी बात है कि मुस्लिम लीग के प्रस्ताव का समर्थन उन हिस्सों में [illegible] रहा है और उसका असर तो सिर्फ़ उन हिस्सों में है जहां मुसलमान अल्पसंख्यक हैं और जहां बटवारे का कोई भी असर नहीं होगा। फिर भी यह बात [illegible] है कि उसपर गौर किये बिना मुसलमान काफ़ी [illegible] बटवारे के खयाल की तरफ़ भावुकता से खिंच गये हैं। मसलन [illegible] प्रस्ताव [illegible] सामने आया है और बार-बार [illegible] कोशिश नहीं [illegible]।

[illegible] तौर पर पैदा की गई है और

मुस्लिम जनता के दिमाग़ में इसकी कोई जड़ नहीं है। लेकिन घटनाओं पर असर डालने के लिए और नई हालत पैदा करने के लिए एक अस्थायी भावना भी काफ़ी ताक़तवर हो सकती है। आमतौर पर समय-समय पर सुलझाव और समझौता होता रहता है, लेकिन आज हिंदुस्तान जिस अजीब स्थिति में है और जब सारी ताक़त विदेशी हाथों में है, यहां कुछ भी हो सकता है। पर बात साफ़ है कि असली समझौता तभी होगा जब उसकी बुनियाद समझौता करनेवालों की सद्भावनाओं पर हो और सब जमातों में एक आम मक़सद के लिए मिलकर काम करने की ख़्वाहिश हो। इसको हासिल करने के लिए कोई भी वाजिब कार्रवाई की जा सकती है। हर समुदाय क़ानून या अमली तौर पर सिर्फ़ आज़ाद ही न हो और उसकी तरक़्क़ी के लिए सिर्फ़ बराबर मौक़ा ही न मिले बल्कि उसका आज़ादी और बराबरी की भावना भी होनी चाहिए। अगर डर को और बेक़ायदा भावनाओं को एक तरफ़ रख दिया जाये तो सूबों और रियासतों को ज़्यादा-से-ज़्यादा स्वायत्तता देते हुए और साथ ही मज़बूत केंद्र बनाते हुए ऐसी आज़ादी का इंतज़ाम किया जा सकता है। बड़े-बड़े सूबों और रियासतों में भी सोवियत रूस की तरह और छोटी-छोटी स्वशासी इकाइयां हो सकती हैं। इसके अलावा अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बचाव और हिफ़ाज़त के लिए विधान में सभी मुमकिन हिफ़ाज़तें रखी जा सकती हैं।

यह सब किया जा सकता है फिर भी मैं नहीं जानता कि बहुत-सी अनजानी ताक़तों और बातों की भी वजह से ख़ासतौर से ब्रिटिश नीति की वजह से आगे क्या सूरत पैदा होगी। ऐसा हो सकता है कि हिंदुस्तान पर ज़बरदस्ती कोई बंटवारा लाद दिया जाये और अलहदा हिस्सों को एक कम-ज़ोर बंध से मिला दिया जाये। मगर ऐसा हो भी जाये तो भी मुझे पक्का यक़ीन है कि एके की बुनियादी भावना और दुनिया की रद्दोबदल से ये जुदा-जुदा हिस्से एक-दूसरे के क़रीब आ जायेंगे और उनमें सच्चा एका होगा।

यहां एका भौगोलिक है, ऐतिहासिक है और सांस्कृतिक है। लेकिन उसके पक्ष में जो सबसे बड़ी ताक़त है, वह है दुनिया की घटनाओं का रुझान। हममें से बहुत-से लोगों की राय में हिंदुस्तान एक राष्ट्र है। मि० जिन्ना ने दो राष्ट्रों का सिद्धांत पेश किया है और बाद में अपने सिद्धांत में और राजनैतिक शब्दावली में कुछ नई चीज़ें और जोड़ दी हैं। उनके हिसाब से यहां के और दूसरे धार्मिक समुदाय उपराष्ट्र हैं। उनके ख़याल में धर्म और राष्ट्र में कोई फ़र्क़ नहीं है। आजकल आमतौर से ऐसी विचारधारा नहीं है। लेकिन अब इसकी कोई ख़ास अहमियत नहीं कि हिंदुस्तान को एक राष्ट्र कहना सही

होगा या बड़ा राष्ट्र, क्योंकि कौमियत का मौजूदा विचार राज्य से करीब करीब अलग हो गया है। आज राष्ट्रीय राज्य एक बहुत छोटी इकाई है और छोटे-छोटे राज्यों का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता—यहांतक कि कुछ बड़ी राष्ट्रीय सरकारों की अलग और स्वतंत्र सत्ता होगी, अब इसमें भी शक है। राष्ट्रीय सरकारों की जगह अब बहु-राष्ट्रीय सरकारें या बड़े-बड़े संघों को मिल रही है। सोवियत संघ इसका एक खास नमूना है। संयुक्त राज्य अमरीका राज्यों के एक मजबूत बंधन से जुड़े होने पर भी बुनियादी तौर पर एक बहुराष्ट्रीय राज्य है। यूरोप में हिटलर के हमलों के पीछे नाजियों की विजय-लालसा के अलावा भी कुछ और बात थी। नई ताकतें यूरोप में छोटी-छोटी सरकारों का ढांचा खत्म करना चाहती थीं। हिटलर की फौजें अब तेजी से वापस लौट रही हैं या खत्म की जा रही हैं, लेकिन बड़े-बड़े संघों का खयाल बना हुआ है।

पुराने पैगंबरों के-से उत्साह के साथ मि० एच० जी० वेल्स सारी दुनिया को बताते रहे हैं कि मानवता का एक युग खत्म हो रहा है—एक ऐसा युग जिसमें दुनिया के मामलों का प्रबंध विभाजन द्वारा होता है। राजनैतिक नजर से ये टुकड़े अलग-अलग बिल्कुल स्वतंत्र सरकारें हैं और आर्थिक नजर से ये निरंकुश व्यापारी संस्थाएं हैं, जिनमें मुनाफे के लिए प्रतियोगिता चल रही है। वेल्स का कहना है कि राष्ट्रीय व्यक्तिवाद और पृथक स्वतंत्र उद्योग का ढांचा ही दुनिया की बीमारी है। हमको राष्ट्रीय सरकार को खत्म करना होगा और एक तरह का समष्टिवाद चालू करना होगा, जो न किसीको गिरायेगा, न गुलाम बनायेगा। पैगंबरों की उनके जीवन-काल में अवहेलना होती है, और कभी-कभी तो उनको पत्थर खाने पड़ते हैं। इसी तरह मि० वेल्स की या और लोगों की चेतावनी नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह है और बहुतेरे हुकूमतों का सवाल है, उन पर कोई भी असर नहीं है। फिर भी वे अनिवार्य प्रवृत्तियों की तरफ तो इशारा करती ही हैं। इन प्रवृत्तियों की रफ्तार [illegible] या बढ़ाई जा सकती है या जिन लोगों के हाथ में ताकत है, अगर वे बिल्कुल अंधे हैं तो शायद उन्हें एक और बड़े विध्वंस का भी इन्तजार करना पड़े और तभी शायद इन प्रवृत्तियों को सफलता मिले।

दूसरी जगहों की तरह हिंदुस्तान में भी हम लोग पिछली घटनाओं या आदतों से पैदा हुए नारों और उसूलों के बंधन में बंधे हैं। वे आजकल बिल्कुल बसर हैं और उनका काम खास मौजूदा मसलों पर गैर-जानिबदारी से और समझदारी से विचार करने को रोकना है। पुराने आदर्शों और पुरानी कल्पनाओं की तरफ भी एक लगाव है। इससे भावना पैदा होती है जो अपने ढंग से

सच्ची हो सकती है, लेकिन उससे भी दिमाग़ में एक ढंग की काहिली आती है और हमारे सामने एक प्रश्न गढ़ा जाता है। पिछले कुछ सालों में हिंदुस्तान के बंटवारे और एक के बारे में बहुत-कुछ लिखा और कहा जा चुका है। फिर भी यह हैरत अंगेज़ वाक़्या हमारे सामने है कि जिन लोगों ने 'पाकिस्तान' या बंटवारे का प्रस्ताव पेश किया है, उन्होंने अपना मतलब समझाने या उसके नतीजों पर ग़ौर करने से इन्कार कर दिया है। वे सिर्फ़ भावुकता की ही सतह पर काम करते हैं। यही हाल उनके ज़्यादातर विरोधियों का भी है। जिस सतह पर वे रहते हैं वह ख़याली है, धुंधली-सी ख़्वाहिशों की है और इन सबके पीछे कुछ कल्पित फ़ायदे हैं। लाज़िमी तौर से भावुकता या ख़याली बातों पर निर्भर इन दो नज़रियों के बीच कोई भी समझौते का रास्ता नहीं निकल सकता। और इस तरह 'पाकिस्तान' और 'अखंड हिंदुस्तान' के नारे सब जगह एक-दूसरे के मुक़ाबले में उठाये जा रहे हैं। यह बात साफ़ है कि साम्प्रदायिक भावनाओं और चेतन और अचेतन प्रवृत्तियों की अहमियत होती है और उनका ख़याल रखना होगा। उसी तरह यह बात भी साफ़ है कि भावना को बाहर से दबा देने या छिपा देने से असलियत या सचाई ग़ायब नहीं हो सकती। वह बेमौक़े और अनजाने ढंग से बाहर फूट पड़ती है। इन भावनाओं की ही बुनियाद पर अगर कोई फ़ैसले किये जायें या इन फ़ैसलों में समझ के मुक़ाबले भावना का ही ज़्यादा ज़ोर हो तो इस बात की संभावना है कि वे ग़लत होंगे और उनके नतीजे ख़तरनाक होंगे।

यह बात बिलकुल साफ़ है कि हिंदुस्तान का भविष्य चाहे जो हो और चाहे बंटवारा ही क्यों न हो लेकिन हिंदुस्तान के अलग-अलग हिस्सों को सैकड़ों बातों में मिल-जुलकर काम करना पड़ेगा। बिलकुल आज़ाद राष्ट्रों को भी एक-दूसरे के साथ मिल-जुलकर काम करना पड़ता है। हिंदुस्तान के सूबों को या उन हिस्सों को जो बंटवारे से बनेंगे और भी ज़्यादा हद तक आपसी सहयोग की ज़रूरत होगी क्योंकि इन सबका एक आपसी क़रीबी रिश्ता होगा और उन्हें या तो साथ-साथ रहना होगा या गिरना और बरबाद होना पड़ेगा और अपनी आज़ादी खोनी होगी। इसलिए सबसे पहला असली सवाल यह है कि अगर हिंदुस्तान को आज़ाद रहना है और तरक़्क़ी करनी है तो उसके विभिन्न हिस्सों को जोड़े रखनेवाले बंधन कौनसे होंगे जिनकी ज़रूरत ख़ुद उन हिस्सों की आज़ादी और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी होगी। हिफ़ाज़त की बात सबसे बड़ी है और ज़ाहिर है। उस हिफ़ाज़त के पीछे उसको ज़िंदगी देनेवाले बड़े-बड़े कारख़ाने हैं, आने जाने के ज़रिये हैं और कुछ हद तक आर्थिक योजना भी है। इसके अलावा

पूंजी, मुद्रा और विनिमय और हिंदुस्तान को अंदरूनी तौर पर मुक्त व्यापार का क्षेत्र बनाये रखने के सवाल हैं, क्योंकि देश के अंदर तिजारती टैक्स लगने से तिजारती तरक्की में जबरदस्त रुकावट होगी। इसी तरह और भी सवाल हैं जिनका समूचे हिंदुस्तान और उसके हिस्सों दोनों ही के लिहाज से मिला-जुला केंद्रीय नियंत्रण होना जरूरी है। चाहे हम पाकिस्तान के हक में हों या न हों लेकिन हम इन बातों से अलग नहीं हो सकते। हां, यह बात दूसरी है कि हम जल्दी जोश में आकर और सब चीजों की तरफ से आंखें बंद कर लें। हवाई सफर की बहुत ज्यादा तरक्की की वजह से उसके अंतर्राष्ट्रीयकरण की या उसमें किसी ढंग के अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण की मांग की गई है। मुख्तलिफ मुल्क इसको मानने की अक्लमंदी दिखायेंगे इसके बारे में अभी शक है। लेकिन यह बात बिल्कुल तय है कि हिंदुस्तान में हवाई तरक्की सिर्फ सारे हिंदुस्तान की बुनियाद पर हो सकती है, यह बात तो खयाल के भी बाहर है कि विभाजित हिंदुस्तान के हिस्से इस सिलसिले में अलग-अलग तरक्की करें। यही बात कई और ऐसी कार्रवाइयों के लिए लागू होती है जिनके लिए राष्ट्रीय सीमाओं का क्षेत्र बहुत छोटा है। कुल मिलाकर हिंदुस्तान काफी बड़ा है और उसमें तरक्की के लिए जगह है, लेकिन यह बात विभाजित हिस्सों में नहीं होगी।

इस तरह हम इस लाजिमी नतीजे पर पहुंचते हैं कि चाहे पाकिस्तान हो या न हो, सरकार के कई अहम और बुनियादी काम कुल हिंदुस्तान की बुनियाद पर करने होंगे। कम-से-कम अगर हिंदुस्तान को एक आजाद सरकार की तरह रहना है और अगर उसे तरक्की करनी है, तो यह बात जरूरी होगी। दूसरी तरफ, सड़न, बरबादी और राजनैतिक और आर्थिक आजादी का नुकसान सिर्फ हिंदुस्तान का ही नहीं होगा बल्कि उसके सभी विभाजित हिस्सों का होगा। एक मशहूर और काबिल आदमी ने कहा है—"जमाना मुल्क के सामने दो बिल्कुल अलग रास्ते पेश करता है—एके और आजादी का या बटवारे और गुलामी का।" उस एके की क्या शक्ल होगी, उसको क्या नाम दिया जायगा, इसकी कोई खास अहमियत नहीं है। वैसे नामों का अपना असर होता है और उसका एक मनोवैज्ञानिक मूल्य होता है। असली बात यह है कि बहुत-से काम कारगर तरीके पर सिर्फ कुल-हिंदुस्तानी बुनियाद पर ही हो सकते हैं। शायद इनमें से बहुत-से कामों पर जल्दी ही अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का नियंत्रण हो जायगा। दुनिया सिकुड़ती जाती है और उसके सामने गंभीर मसलों के लिए एक हल आ रहे हैं। हवाई जहाज से दुनिया को पार करने में और किसी एक जगह से दूसरी जगह जाने में अब पूरे तीन दिन

भी नहीं लगते और भविष्य में स्ट्रेटोस्फ़ियर (ज़मीन से दस मील से ज़्यादा ऊंचाई पर की हवा की परत) में आने-जाने के विज्ञान में तरक्क़ी होने पर और भी कम वक़्त लगेगा। हिंदुस्तान दुनिया के हवाई सफ़र का एक बड़ा केंद्र ज़रूर बनेगा। रेल के ज़रिये हिंदुस्तान एक तरफ़ तो पश्चिमी एशिया और यूरोप से और दूसरी तरफ़ चीन और बरमा से मिलेगा। हिमालय के दूसरी तरफ़ हिंदुस्तान से कुछ दूर, सोवियत एशिया में एक बहुत उन्नत औद्योगिक प्रदेश है और भविष्य में उसके बेहद बढ़ने की गुंजाइश है। हिंदुस्तान पर इसका असर होगा और उसमें कई प्रतिक्रियाएं होंगी।

इसलिए एके या पाकिस्तान की समस्या पर हमारी निगाह भावुकता से भरी हुई नहीं होनी चाहिए, बल्कि उस पर असली बातों को निगाह में रखते हुए, मौजूदा दुनिया को निगाह में रखते हुए, गौर करना चाहिए। इस ढंग से हम कुछ निश्चित और स्पष्ट नतीजों पर पहुंचते हैं—कुछ अहम कामों या मामलों के लिए सारे हिंदुस्तान को साबित बनाये रखना ज़रूरी है। इसके अलावा शामिल होनेवाली इकाइयों को पूरी आज़ादी हो सकती है और होनी चाहिए। इसके अलावा कुछ चीज़ें हो सकती हैं जिनमें केंद्र और ये इकाइयां दोनों ही मिलकर काम करें। इस मसले में अलग-अलग रायें हो सकती हैं कि हमारा कार्य-क्षेत्र कहां ख़त्म होता है या कहां शुरू होता है, लेकिन असली तौर से इन फ़र्क़ों को काफ़ी आसानी से समझौता करके दूर किया जा सकता है।

लेकिन एक बात लाज़िमी है। वह यह है कि इस समूची बुनियाद रज़ामंदी से मिल-जुलकर काम करने की भावना पर हो उसमें दबाव या ज़बरदस्ती की भावना न हो और उसमें हर इकाई और हर आदमी आज़ादी महसूस करे। पुराने निहित स्वार्थ मिटेंगे और यह बात भी साफ़ है कि नये स्वार्थ पैदा भी नहीं किये जायेंगे। कुछ ऐसे प्रस्ताव हैं, जो वर्गों की आधिभौतिक धारणाओं की बुनियाद पर हैं और वे वर्ग के व्यक्तियों को भुलाकर एक आदमी को दूसरे के दो या तीन आदमियों के बराबर राजनैतिक अधिकार दिलाना चाहते हैं और इस तरह नये स्वार्थों की स्थापना करते हैं। ऐसी बातों से बेहद असंतोष होगा और उनमें पायदारी नहीं होगी।

हिंदुस्तानी फ़ेडरेशन या संघ से किसी ढंग से शामिल हुए हिस्से के अलहदा होने के अधिकार की बात अकसर पेश की गई है और इस सिलसिले में समर्थन के लिए सोवियत संघ की दलील असल में लागू ही नहीं होती क्योंकि वहां की हालतें बिलकुल दूसरी हैं और उस अधिकार की असली तौर पर कोई कीमत नहीं है। हिंदुस्तान के मौजूदा भावुक वातावरण में भविष्य के लिए इसको

मान लेना वांछनीय हो सकता है, ताकि दबाव से आजादी की भावना जो बहुत जरूरी है बनी रहे। अमली तौर पर कांग्रेस ने उसे मान लिया है। लेकिन उस अधिकार को इस्तेमाल करने के लिए यह जरूरी है कि पहले ऊपर कही हुई उन सारी समस्याओं पर गौर कर लिया जाये जिनका उसी से ताल्लुक है। साथ ही शुरू में अलहदगी की संभावना से एक बड़ा भारी खतरा है। वजह यह है कि ऐसी कोशिश से खुद आजादी की शुरुआत और आजाद राष्ट्रीय सरकार के निर्माण को चोट पहुंचेगी। हजार मसले उठ खड़े होंगे और सारे अमली सवालों पर परदा पड़ जायेगा। चारों तरफ विक्षोभ का ही वातावरण होगा। हर ढंग के समुदाय जो वैसे तो मिलकर रहने को तैयार हैं अलग-अलग अपनी सरकार कायम करने की मांग करेंगे या ऐसे खास अधिकार मांगेंगे जिनसे दूसरों के अधिकारों पर हमला होता हो। हिंदुस्तानी रियासतों का मसला हल करना बेहद मुश्किल हो जायेगा और मौजूदा रियासती ढांचे को एक नई जिंदगी हासिल हो जायेगी। सामाजिक और आर्थिक मसलों को हल करना और भी ज्यादा मुश्किल हो जायेगा। असल में ऐसी अशांति में किसी आजाद सरकार का कायम करना मुमकिन नहीं होगा और अगर कोई ऐसी सरकार बन भी गई, तो वह दयनीय और उपहास्य होगी और वह अंतर्विरोधों और उलझनों से भरी हुई होगी।

इससे पहले कि अलहदा होने के अधिकारों को इस्तेमाल किया जाये यह जरूरी है कि एक ठीक ढंग से बनी हुई आजाद सरकार पूरी तरह काम करने लगे। जब बाहरी असर हट जायेंगे और देश के असली मसले सामने होंगे तो उस वक्त मौजूदा भावुकता से हटकर गैर-जानिबदारी के साथ इन मसलों पर असली नजरिये से गौर करना मुमकिन होगा। इस भावुकता से तो बहुत खतरनाक नतीजे होंगे जिनसे आगे चलकर हम सभी को नुकसान हो सकता है। इसलिए आजाद हिंदुस्तानी सरकार के कायम होने के बाद (मसलन दस बरस बाद) कोई वक्त तय कर देना ज्यादा मुनासिब हो सकता है। दस बरस के बाद उचित संवैधानिक ढंग से संबंधित हिस्सों की साफ जाहिर की हुई ख्वाहिश के बमूजिब ही अलग होने के अधिकार का इस्तेमाल हो सकता है।

इस बीच में बहुत से लोग हिंदुस्तान की मौजूदा हालतों से बेहद परेशान हो गए हैं और कोई-न-कोई रास्ता निकालने के लिए जी-जान से ख्वाहिशमंद हैं। कुछ लोग [illegible] उम्मीद में हैं कि उन्हें कुछ थोड़ी-सी राहत मिलेगी [illegible] से बाहर कुछ काम करने का मौका मिलेगा। इस दिशा में [illegible] तैयार हैं। यह बहुत स्वाभाविक है

लेकिन इस ढंग की कोशिशों में हमेशा ख़तरा होता है। ये मसले बहुत अहम हैं और उनका असर करोड़ों आदमियों की खुशहाली पर और भविष्य में दुनिया की शांति पर होता है। हिंदुस्तान में हम बराबर विध्वंस के नज़दीक रहते हैं और कभी-कभी विध्वंस हमको कुचल डालता है। हिंदुस्तान में बंगाल में और दूसरी जगहों में हम पिछले साल यह देख चुके हैं। बंगाल के अकाल और उसके बाद जो कुछ हुआ वह कोई दुखद अपवाद नहीं था। उसकी कोई असाधारण या अचानक वजह नहीं थी जिसका नियंत्रण या इंतज़ाम न किया जा सकता हो। हिंदुस्तान पीढ़ियों से तकलीफ़ पा रहा है। उसकी बीमारी उसके शरीर में गहरी पैठी हुई है और उसके बदन के हिस्सों को खाये जा रही है। उस अकाल में इस हिंदुस्तान की भयंकर और साफ़ तस्वीर सामने आई। अगर हम अपनी सारी शक्तियों को इस बीमारी की जड़ खोदने और उस बीमारी को दूर करने में न लगायें तो यह बीमारी दिन-ब-दिन ज़्यादा ख़तरनाक और विध्वंसकारी होती जायेगी। बंटे हुए हिंदुस्तान से जिसमें हर हिस्सा सिर्फ़ अपनी ही फ़िक्र करेगा और उसे न दूसरों की परवाह होगी और न वह दूसरों से मिल-जुलकर काम करेगा यह बीमारी बढ़ जायेगी और हम नाउम्मीदी बेबसी और तकलीफ़ की दलदल में फंस जायेंगे। इस वक्त भी हम बहुत ज़्यादा पिछड़े हुए हैं और हमें खोये हुए वक्त की कमी को पूरा करना है। क्या बंगाल के अकाल के सबक़ का भी हम पर असर नहीं होगा? अब भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जो आबादी के राजनैतिक आंकड़ों सुरक्षाधिकारों समतौल रोक और विशेषाधिकारी गुटों या ऐसे ही नये गुटों के मानों में ही सोच सकते हैं। वे लोग दूसरे लोगों को आगे बढ़ने से रोकना चाहते हैं क्योंकि या तो वे खुद बढ़ना नहीं चाहते या खुद बढ़ ही नहीं सकते। उनका दिमाग़ निहित स्वार्थों को और मामूली रदोबदल को छोड़कर मौजूदा हिंदुस्तान की तस्वीर को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने की बातें सोचता है। वे लोग व्यापक सामाजिक और आर्थिक तब्दीलियों को टालना चाहते हैं। ऐसा करना बड़ी भूल होगी।

ऊपरी मसले बड़े मालूम देते हैं और हमारा सारा ध्यान उधर ही है। लेकिन मुमकिन है कि ज़्यादा दूरंदेशी से काम लेने पर उनकी ख़ास अहमियत न रहे और इन ऊपरी घटनाओं की सतह के नीचे ज़्यादा बड़ी ताक़तें काम कर रही हों। मौजूदा मसलों को कुछ देर के लिए एक तरफ़ रखकर, आगे ध्यान देने पर मज़बूत साबित हिंदुस्तान की तस्वीर सामने आती है, जिसमें आज़ाद इकाइयों का संघ होगा जिसके अपने पड़ोसियों से बहुत गहरे रिश्ते होंगे और जिसकी दुनिया के मामलों में एक अहमियत होगी। ऐसे बहुत ही

कम मुल्क हैं और हिंदुस्तान उनमें से एक है जो अपने साधनों और अपनी सामर्थ्य के बल पर अपने पैरों पर खड़े हो सकते हैं। आज शायद ऐसे देश सिर्फ संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ हैं। ग्रेट ब्रिटेन की भी उन देशों में गिनती हो सकती है बशर्ते कि उसके अपने साधनों के साथ उसके साम्राज्य के साधन हों फिर भी दूर तक फैला हुआ और असंतुष्ट साम्राज्य कमज़ोरी की जड़ होता है। चीन और हिंदुस्तान में उस दर्जे में शामिल होने के बहुत बड़े साधन-सामर्थ्य हैं। दोनों ही भौगोलिक दृष्टि से सुगठित हैं दोनों ही सम हैं और दोनों ही प्राकृतिक संपत्ति जन-शक्ति कारीगरी और सामर्थ्य से भरपूर हैं। शायद हिंदुस्तान के औद्योगिक वसीले चीन से भी ज्यादा हैं उनका फैलाव और वैविध्य भी। इसी तरह हिंदुस्तान की निर्यात की चीज़ें भी ज्यादा हैं और आवश्यक आयात के लिए इनकी ज़रूरत होगी। इन चार देशों के अलावा अकेले किसी और देश के वसीले ऐसे नहीं हैं। हां यह मुमकिन है कि यूरोप में और दूसरी जगहों में राष्ट्र-समुदाय या वर्ग सब मिलकर बहुत बड़े बहुराष्ट्रीय राज्य बनावें और उनकी स्थिति भी ऐसी ही हो।

भविष्य में दुनिया का शक्ति-केंद्र एटलांटिक से हटकर पैसिफ़िक (प्रशांत महासागर) में आ जायेगा ऐसी संभावना है। हालांकि हिंदुस्तान पैसिफ़िक तट का राज्य नहीं है फिर भी लाज़िमी तौर पर उसका वहां बहुत अहम असर होगा। हिंद महासागर, दक्षिणी-पूरबी एशिया और मध्य-पूर्व के इलाकों में हिंदुस्तान आर्थिक और राजनीतिक कार्रवाइयों का बहुत बड़ा केंद्र हो जायगा। भविष्य में दुनिया का जो हिस्सा तेज़ी से तरक्की करेगा उसमें हिंदुस्तान की स्थिति का एक आर्थिक और फ़ौजी महत्त्व है। अगर हिंद महासागर के किनारे के देशों का प्रादेशिक संघ बने तो उसमें ईरान इराक अफ़गानिस्तान हिंदुस्तान सीलोन (लंका) बरमा मलाया स्याम जावा आदि होंगे और मौजूदा अल्पसंख्यकों का सवाल गायब हो जायगा या कम-से-कम उस पर एक बिल्कुल दूसरे संदर्भ में गौर करना पड़ेगा।

मिस्टर जी० डी० एच० कोल के ख़याल से हिंदुस्तान खुद एक राष्ट्रोपरि राज्य है और उनका ख़याल है कि आगे चलकर यह एक शक्तिशाली राष्ट्रोपरि राज्य का केंद्र बन जायेगा। इसमें पूरा मध्य-पूर्व होगा और यह संघ या तो एक चीनी जापानी सोवियत पश्चिमी संघ या मिस्र अरब और तुर्की के क्षेत्र में बने एक नये राज्य और उत्तर में सोवियत संघ के बीच में होगा। यह सब अभी कोरी कल्पना है और कोई आदमी अभी यह नहीं कह सकता कि

इस संघ की तरक्क़ी होगी। जहाँतक मेरा ख़याल है, मुझे यह पसंद नहीं है कि दुनिया को कुछ बड़े-बड़े राष्ट्रोपरि इलाकों में बाँट दिया जाये। हाँ, अगर ये सब सारी दुनिया के संघ से मज़बूती से बँधे हों तो बात दूसरी है, लेकिन अगर लोग दुनिया के एके को और दुनिया के संघ को अपनी बेवक़ूफ़ी से कायम नहीं होने देंगे तो ये विशाल राष्ट्रोपरि राज्य जिनमें स्थानीय स्वाधीनता होगी बन जायेंगे। छोटे राष्ट्रीय राज्य का कोई भविष्य नहीं है। सांस्कृतिक रूप से वह एक स्वाधीन इकाई रह सकता है, लेकिन अब वह स्वतंत्र राजनैतिक इकाई नहीं रह सकता।

चाहे जो हो, लेकिन अगर हिंदुस्तान अपना असर मज़बूत बना सके तो वह बात दुनिया की भलाई के हक़ में होगी। वजह यह है कि वह असर हमेशा सुलह के हक़ में और ज़बरदस्ती के ख़िलाफ़ होगा।

## १२ यथार्थवाद और भू-राजनीति, विश्व विजय या विश्व-संघ

### संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ

यूरोप में लड़ाई अब अपनी आख़िरी मंज़िल पर पहुँच गई है और पूरब और पच्छिम से बढ़ती हुई फ़ौजों के सामने नाज़ी ताक़त चकनाचूर हो रही है। यह ख़ूबसूरत और शानदार शहर पेरिस, जिसका आज़ादी की लड़ाई से इतना ताल्लुक़ रहा, अब ख़ुद आज़ाद हो गया है। शांति की समस्याएँ, जो लड़ाई की समस्याओं से ज़्यादा मुश्किल होती हैं, अब उठ रही हैं और लोगों के दिमाग़ों को परेशान कर रही हैं। उनके पीछे पहले महायुद्ध के बाद के सालों की भारी नाकामयाबी की छाया है। कहा जाता है—अब फिर यह बात न होनी चाहिए। लेकिन १९१८ में भी तो यही कहा गया था।

पंद्रह साल पहले १९२९ में मि. विन्स्टन चर्चिल ने कहा था—यह एक बड़ी हुई कहानी है, जिससे भविष्य के लिए ज़रूरी ज्ञान और सबक़ निकाला जा सकता है। राष्ट्रों के झगड़ों में और उन झगड़ों की वजह से लड़ाइयों की तकलीफ़ में बेहद नामुनासिब अनुपात है। रणभूमि के ऊँचे प्रयत्नों में और उनके छोटे और निस्तत्व पुरस्कारों में भी वैसा ही भेद है। लड़ाई की जीत जल्दी से ग़ायब हो जाती है, पुनर्निर्माण धीरे-धीरे होता है और उसमें बहुत वक़्त लगता है। महान् तकलीफ़ और ख़तरे की बातें ही इस सिलसिले में होती हैं, कभी-कभी सर्वनाश सिर्फ़ बाल बराबर दूरी पर ही रह जाता है, जो किसी संयोग से ही टल जाता है। इन सब बातों से मानव-समाज का सारा ध्यान आगे किसी दूसरे महायुद्ध को रोकने में लग जाना चाहिए।

लड़ाई और अमन दोनों ही के ज़माने में मि. चर्चिल ने बड़ा काम किया

है, खतरे और परेशानी के मौक़े पर अपने देश का असाधारण हिम्मत से नेतृत्व किया है, और जीत के मौक़े पर बड़ी आकांक्षाएं रखी हैं। इसलिए मि० चर्चिल को सब पता होना चाहिए। पहले महायुद्ध के बाद ब्रिटिश फ़ौजें सारे पश्चिमी एशिया पर कब्ज़ा किये हुए थीं। वे हिंदुस्तान की सीमा से लेकर ईरान, इराक़, फ़िलिस्तीन और सीरिया होते हुए कुस्तुनतुनिया तक सब जगह मौजूद थीं। उस वक़्त मि० चर्चिल को ब्रिटेन के एक नये मध्य-पूर्वी साम्राज्य का नक़्शा दिखाई दिया। लेकिन क़िस्मत ने कुछ दूसरा ही फ़ैसला किया। अब भविष्य के लिए मि० चर्चिल क्या सपने देखते हैं? मेरे एक बहादुर और प्रमुख साथी ने, जो अब जेल में हैं, लिखा है—"लड़ाई एक विचित्र कीमियागर है और उसके छिपे हुए कमरों में ऐसी ताक़तें तैयार होती हैं कि वे जीतने वालों और हारनेवालों, दोनों की योजनाओं को तहस-नहस कर देती हैं। पिछली लड़ाई के बाद किसी शांति-सम्मेलन ने यह नहीं तय किया कि यूरोप और एशिया के चार ताक़तवर साम्राज्य—रूस, जर्मनी, आस्ट्रिया और तुर्किस्तान के साम्राज्य—मिट्टी में मिला दिये जायें। और न शायद मि० विल्सन या क्लीमेंशो ने रूस, जर्मनी या तुर्की की क्रांतियों को ही सोचा था।

लड़ाई में जीत के बाद और अपनी कोशिशों में कामयाबी के बाद जीते हुए राष्ट्रों के नेता जब एक साथ मिलेंगे तो क्या करेंगे? उनके दिमाग़ों में भविष्य की क्या शक्ल बन रही है, और आपस में उनमें कितनी सहमति या कितना मतभेद है? जब लड़ाई का जोश ख़त्म हो जायेगा और लोग फिर शांति के [illegible] ढंग को अपनायेंगे तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी? यूरोप के युद्ध [illegible] और उनमें ताक़त का जो सोता फूटा है, उसका क्या होगा? [illegible] और [illegible] में बंद हुए और जिनमें लड़ाई ने मज़बूती ला दी है, ऐसे [illegible] पर [illegible] क्या चाहेंगे और क्या करेंगे? उस ज़िंदगी में जो [illegible] गई है वे किस तरह अपना मेल बिठायेंगे? [illegible] और [illegible] का क्या होगा और साथ ही एशिया [illegible] मि० [illegible] के शब्दों में "एशिया [illegible] और [illegible] का क्या होगा? इन सब [illegible] क्या [illegible] इन सबके ऊपर, [illegible] [illegible] है और हमारे नेताओं के सारे [illegible] को [illegible]

[illegible] और [illegible] शक्तियां की जीत की [illegible] उतना ही बड़ा

और उतना ही ज़्यादा अनुदार होता गया है। एटलांटिक चार्टर और चार आज़ादियाँ जो पहले ही धुंधली थीं और जिनका दायरा सीमित था अब पृष्ठभूमि में खिसक गई हैं और भविष्य में पिछली चीज़ों को ज्यों-का-त्यों बनाये रखने का इरादा है। लड़ाई का हुलिया अब सिर्फ़ फ़ौजी रह गया है और उसमें पाशविक बल का पाशविक बल से मुकाबला है। उसमें नात्सियों और फ़ासिस्टों के उसूलों की खिलाफ़त अब नहीं रही। जनरल फ़्रैंको और दूसरे छोटे और होनहार तानाशाहों को यूरोप में बढ़ावा दिया गया है। मि० चर्चिल अब आलीशान साम्राज्य की सोचते हैं। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने हाल ही में कहा था कि "दुनिया में कोई भी ऐसी ताक़त नहीं है, जो ब्रिटिश साम्राज्य की तरह पूरी तौर से अपनी हुकूमत के ख़याल से भरी हुई हो। यहाँतक कि जब मि० चर्चिल 'साम्राज्य' शब्द कहते हैं, तो वह हर बार उनके गले में अटक जाता है।[1]

इंग्लैंड, अमरीका और दूसरी जगहों में ऐसे बहुत-से लोग हैं जो भविष्य का एक बिल्कुल नया नक़्शा चाहते हैं। उनको डर है कि अगर ऐसा नहीं हुआ

---

यह बात साफ़ है कि ब्रिटिश शासक वर्ग साम्राज्यवाद के युग को ख़त्म करने की नहीं सोचता। ज़्यादा-से-ज़्यादा वह औपनिवेशिक राज्य के रूप को नई शक्ल दे सकता है। उनके लिए उपनिवेशों का क़ब्ज़ा 'बड़प्पन और संपत्ति के लिए ज़रूरी' है। लंदन का 'इकॉनोमिस्ट' ब्रिटेन की प्रभावशाली जनता का नुमाइंदा है। ११ सितंबर, १९४४ को उसने लिखा—"साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ अमरीकी तरफ़दारी से चाहे वह साम्राज्य अंग्रेज़ी फ़्रान्सीसी या डच हो, बहुत-से युद्धोत्तर योजना बनानेवाले इस धारणा पर पहुँचे हैं कि दक्खिनी-पूरबी एशिया में फिर से पुरानी हुकूमतें क़ायम नहीं होंगी, और किसी मुल्क में या तो अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण होगा, या अधिकार वहाँ की स्थानीय आबादी को सौंप दिये जायेंगे और पच्छिमी राष्ट्रों से पुरानी हुकूमतें ले ली जायेंगी; चूँकि यह ख़याल बराबर बना हुआ है और कुछ प्रमुख अमरीकी अख़बार उसका समर्थन करते हैं, इसलिए अभी तो वक़्त है कि ब्रिटिश, फ़्रेंच और डच अपने इरादों को पूरे और साफ़ तौर से ज़ाहिर कर दें; चूँकि उनमें से किसीका भी इरादा अपने औपनिवेशिक साम्राज्य को छोड़ने का नहीं है, बल्कि उसके विपरीत जापान के सह-समृद्धि क्षेत्र को पूरी तरह कुचलने के लिए वे यह ज़रूरी समझते हैं कि मलाया ब्रिटेन को हिंद-चीन फ़्रांस को और पूर्वी हिंदेशिया डच को वापस करना ज़रूरी है। इसलिए इससे बहुत ख़तरनाक ग़लतफ़हमी फैलेगी और यह एक विश्वासघात होगा अगर ये तीनों राष्ट्र अपने अमरीकी साथी के दिमाग़ में इस तरह का भ्रम बना रहने दें।"

तो मौजूदा लड़ाई के बाद नई लड़ाइयां और नई बरबादी और भी ज्यादा बड़े पैमाने पर होगी। लेकिन जिनके पास ताकत या हुकूमत है उन पर इन खयालों का असर नहीं मालूम होता। या शायद वे खुद ऐसी ताकतों के चंगुल में फंसे हैं जो उनके काबू से बाहर हैं। इंग्लैंड, अमरीका और रूस में बल-राजनीति की पुरानी शतरंज फिर बड़े पैमाने पर नज़र आ रही है। उसको यथार्थवाद या असली राजनीति कहा जाता है। भू-राजनीति के एक अमरीकी विद्वान प्रोफेसर एन० जे० स्पाइकमैन ने अपनी एक हाल की किताब में लिखा है—'जो राजनीतिज्ञ विदेश-नीति का संचालन करता है, न्याय, औचित्य और सहिष्णुता से उसी हद तक सरोकार है जहां तक वे उसके शक्ति-प्राप्ति के उद्देश्य के लिए सहायक होते हैं या कम-से-कम उसके लिए विघ्न नहीं होते। ताकत हाथ में करने के लिए नैतिक समर्थन की नज़र से उनको औज़ारों की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है, लेकिन जिस क्षण यह महसूस हो कि उनके इस्तेमाल से कमज़ोरी आ रही है, उनको फ़ौरन एक तरफ़ हटा देना चाहिए। ताकत की तलाश नैतिक मूल्य को पाने के लिए नहीं की जाती। ताकत हाथ में करने की सहूलियत के लिए ही नैतिक मूल्य का इस्तेमाल किया जाता है।'[1]

अमरीका की विचारधारा की इससे नुमाइंदगी न होती हो, लेकिन निश्चित रूप से उसके एक ताकतवर हिस्से की नुमाइंदगी ज़रूर होती है। मि० वाल्टर लिपमैन की सारी दुनिया की तीन चार परिधियों की तस्वीर—एटलांटिक, रूसी, चीनी और दक्खिन एशिया में हिंदू-मुस्लिम परिधियों की तस्वीर—ज्यादा बड़े पैमाने पर बल-राजनीति जारी रखने की नीति दिखाई देती है, और यह समझना मुश्किल है कि इससे किस तरह सहयोग होगा और किस तरह दुनिया में शांति होगी। अमरीका अनुदार यथार्थवाद और प्रगतिशील आदर्शवाद और मानवतावाद का एक अजीब सम्मिश्रण है। इनमें से आगे चलकर कौनसी प्रवृत्ति जीतेगी, या इन दोनों के मेल का क्या नतीजा होगा? अधिकांश जनता चाहे जो सोचे, लेकिन विदेश नीति का निर्णय जिनके हाथ में रहेगी और वे आमतौर से पुरानी परंपराओं को कायम रखना चाहते हैं, और किसी ऐसे नये इंतज़ाम से जिससे उनका रुख फिर से जिम्मेदारी में पड़ जाये उन्हें डर लगता है। यथार्थवाद तो होना चाहिए, क्योंकि कोई भी देश अपनी विदेश या घरेलू नीति सद्भावनाओं पर या कोरे आदर्शवाद पर नहीं बना सकता, लेकिन यह तो एक अजीब यथार्थवाद है जो पुराने नक्शों से चिपटा हुआ है और जो मौजूदा वक्त

[1] अमेरिकाज स्ट्रैटेजी इन वर्ल्ड पॉलिटिक्स।

को उन कड़वी सचाइयों को समझने से इन्कार कर देता है, जो सिर्फ़ राजनैतिक या आर्थिक ही नहीं हैं, बल्कि जो जनता की एक बड़ी तादाद की भावनाओं और प्रवृत्तियों को ज़ाहिर करती हैं। इस तरह का यथार्थवाद ख़याली ज़्यादा है और आज की और आगे की समस्याओं से बहुत-से लोगों के कहे जानेवाले आदर्शवाद के मुक़ाबले बहुत ज़्यादा अलग है।

भू-राजनीति अब यथार्थवादी का लंगर बन गई है और ऐसा ख़याल किया जाता है कि उसके 'हृद-प्रदेश' और 'तटवर्ती-प्रदेश' के शब्द-जंजाल से राष्ट्रीय तरक़्क़ी और बरबादी के रहस्य पर रोशनी पड़ेगी। इंग्लैंड में (या स्काटलैंड में?) उसकी पैदाइश हुई और बाद में वह नात्सियों के लिए मार्ग-दर्शक बन गई। उसने नात्सियों के दुनिया जीतने के सपनों और इरादों को पाला और उन्हें बरबादी की तरफ़ ले गई। कभी-कभी झूठ के मुक़ाबले आंशिक सत्य ज़्यादा ख़तरनाक होता है। एक ऐसा सत्य जिसका ज़माना ख़त्म हो गया बने रहने पर मौजूदा असलियत के लिए आंखें बंद कर देता है। एच० जे० मैकिंडर के भू-राजनीति के उसूल की बाद में जर्मनी में तरक़्क़ी हुई। उसकी बुनियाद इस बात पर थी कि सभ्यता की तरक़्क़ी महाद्वीपों के (यूरोप और एशिया के) समुद्र-तटों पर हुई, जिसकी 'हृद प्रदेश' से (जो यूरेशियन जातियों का आदि-स्थान था) आये हमलावरों से हिफ़ाज़त की जाती थी। इस 'हृद प्रदेश' पर क़ाबू के मानी थे दुनिया की हुकूमत। लेकिन अब सभ्यता सिर्फ़ समुद्री-तटों पर ही सीमित नहीं है और वह अपने फैलाव और तत्त्व में दिन-ब-दिन ज़्यादा विश्व-व्यापी होती जा रही है। उत्तरी और दक्खिनी अमरीका की बस्ती से यह बात मन जाती है कि यूरेशियन 'हृद प्रदेश' की दुनिया पर हुकूमत होगी और हवाई ताक़त से अब जल-शक्ति और थल-शक्ति का समतोल बिल्कुल मिट गया है।

जर्मनी के सपने सारी दुनिया को जीतने के थे लेकिन चारों तरफ़ से घिर जाने का डर भी छाया हुआ था। सोवियत रूस को यह डर था कि उसके दुश्मन आपस में एक हो जायंगे। बहुत अरसे से इंग्लैंड की राष्ट्रीय नीति की बुनियाद यूरोप के शक्ति-संतुलन पर रही है। यह नीति यूरोप की सबसे ज़्यादा बढ़ती हुई ताक़त के ख़िलाफ़ रही है। यहां हमेशा ही दूसरों का डर रहा है और इस डर की वजह से आक्रामक ढंग रहा है और हमेशा जंग-बाज़ियां होती रही हैं। मौजूदा लड़ाई के बाद एक बिल्कुल नई स्थिति होगी—संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ दुनिया की दो अहम ताक़तें होंगी और बाक़ी सब ताक़तें उनसे बहुत पिछड़ी हुई होंगी। हां अगर वे मिलकर किसी तरह का संघ बना लें तो बात दूसरी होगी। अब संयुक्त

राज्य अमरीका से भी प्रोफ़ेसर स्पाइकमैन अपने सबसे नये वसीयतनामे में कहते हैं कि उन्हें भी घिर जाने का ख़तरा है और उनको किसी 'तटवर्ती प्रदेश' से मिल जाना चाहिए और हर सूरत में उन्हें 'दूर प्रदेश' को (जिसका मतलब अब सोवियत संघ से है) तटवर्ती प्रदेश से मिलने से नहीं रोकना चाहिए।

यह सब बड़ी चतुराई की और यथार्थवादी बात मालूम देती है, लेकिन यह हर दर्जे की बेवकूफ़ी से भरी है। वजह यह है कि इसकी बुनियाद फैलाव साम्राज्य और शक्ति-संतुलन की पुरानी नीति पर है और उससे लाज़िमी तौर पर संघर्ष और लड़ाई होती है। चूंकि दुनिया गोल है, हर एक देश दूसरे देशों से घिरा हुआ है। बल-राजनीति के ऐसे घेरों से बचने के लिए समझौते हों, जीत हो या फैलाव हो, लेकिन किसी भी देश का राज्य या असर का हलका कितना ही बड़ा क्यों न हो, घिरने का ख़तरा हमेशा बना रहता है। जो ताक़तें बाहर बच रही हैं, वे घेर सकती हैं। लेकिन ये सभी ताक़तें इस बेहद बड़ी प्रतिद्वंद्वी सरकार की तरफ़ से सशंकित रहती हैं। इस ख़तरे से बचने का रास्ता सिर्फ़ यही है कि या तो सारी दुनिया को जीत लिया जाये या सारी प्रतिद्वंद्वी ताक़तों को ही मिटा दिया जाये। दुनिया को जीतने की सबसे ताज़ी कोशिश हमारे सामने नाकामयाब हो रही है। क्या यह सबक़ सीखा जायेगा या अभी ऐसे और लोग भी होंगे, जो हविस, जाति या ताक़त के घमंड से इस ख़तरनाक हल्के में अपनी क़िस्मत आज़मायेंगे?

असल में दुनिया को जीतने और दुनिया के संघ के बीच कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। पुराने बटवारे या बल-राजनीति पर चलने की आज कोई क़ीमत नहीं है और ये हमारे वातावरण से बे-मेल हैं, फिर भी ये जारी हैं। राज्यों के स्वार्थ और उनकी कार्रवाइयां उनकी सीमाओं को पार कर गई हैं और वे सब सारी दुनिया में फैली हुई हैं। कोई भी राष्ट्र न तो अपने आपको दूसरे राष्ट्रों से अलहदा ही कर सकता है और न उनकी आर्थिक और राजनैतिक स्थिति की अवहेलना ही कर सकता है। अगर सहयोग नहीं होगा, तो संघर्ष होगा और उसके लाज़िमी नतीजे होंगे। सहयोग की बुनियाद बराबरी और पारस्परिक भलाई पर होगी। इस बुनियाद के लिहाज़ से पिछड़ी हुई जातियों को दूसरी जातियों की सांस्कृतिक तरक़्क़ी और ख़ुशहाली की सतह तक लाना होगा। इस बुनियाद के लिहाज़ से जातीय भेद-भाव या क़ब्ज़ा ख़त्म हो जायेगा। चाहे उसको कितना ही ख़ूबसूरत नाम क्यों न दे दिया जाये, कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र की हुकूमत या उसके हाथों अपने शोषण को बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिस वक़्त दुनिया के दूसरे हिस्से फल-फूल रहे हों, उस वक़्त भी राष्ट्र अपनी ग़रीबी और अपनी तक-

नीति की अवहेलना नहीं कर सकता। यह तो सिर्फ़ उसी वक्त मुमकिन था जब दूसरी जगह के परिवर्तनों के बारे में बेख़बरी थी।

यह सब बिलकुल साफ़ ज़ाहिर होता है, फिर भी पिछली घटनाओं के लंबे इतिहास से यह पता लगता है कि आदमी का दिमाग़ तबदीलियों से बहुत पीछे रहता है और वह बहुत धीरे-धीरे ही अपने-आपको उनसे मिला पाता है। भविष्य में तबाही से बचने के लिए और अपने लाभ की नज़र से भी राष्ट्रों को इस व्यापक सहयोग के लिए तैयार होना चाहिए। लेकिन पिछले तरीक़ों और पिछली धारणाओं की वजह से 'यथार्थवादी' का निजी स्वार्थ वहीं ज़्यादा सीमित हो जाता है और उसके लिहाज़ से एक युग के लिए उपयुक्त विचार और सामाजिक ढांचा मानव-स्वभाव और मानव-समाज के लिए स्थायी और अपरिवर्तनशील है। वह इस बात को भूल जाता है कि मानव प्रकृति और मानव-स्वभाव से ज़्यादा परिवर्तनशील और कोई चीज़ नहीं है। मज़हबी बातें और रिवाज जड़ पकड़ लेते हैं, सामाजिक संस्थाएं जड़ हो जाती हैं, लड़ाई को ज़िन्दगी के लिए ज़रूरी समझा जाता है, साम्राज्य और फैलाव को उन्नतिशील और सजीव राष्ट्र की विशेषता समझा जाता है, मुनाफ़े की नीयत को इन्सानी रिश्तों की एक ख़ास चीज़ समझा जाता है, राष्ट्रीय अहम्मन्यता को जातीय बड़प्पन का ख़याल समझा जाता है और उस पर धीरे-धीरे विश्वास जमता जाता है और कुछ समय में वह स्वयं-सिद्ध जान पड़ने लगता है। ऐसे कुछ विचार पूरब और पच्छिम दोनों की ही सभ्यता में थे। उनमें से कितने ही विचार उस आधुनिक पच्छिमी सभ्यता की पृष्ठभूमि में हैं, जिससे फ़ासिस्ट और नाज़ी मतों का जन्म हुआ है। नैतिक दृष्टि से उनमें और फ़ासिस्ट उसूलों में कोई फ़र्क़ नहीं है, हालांकि यह सच है कि मानव-जीवन और मानवता के लिए फ़ासिस्ट उसूलों में बहुत ज़्यादा नफ़रत थी। असल में मानववाद जिसका यूरोप में बहुत बरसों तक असर रहा अब धीरे-धीरे ग़ायब हो रहा है। पच्छिम के राजनैतिक और आर्थिक ढांचे में फ़ासिस्टवाद के बीज मौजूद थे। अगर पिछला आदर्श छोड़ा नहीं जाता तो लड़ाई की जीत से कोई ख़ास तबदीली नहीं आयेगी और अगर पुरानी बातें ज्यों-की-त्यों चलती रहीं तो हमको फिर उसी चक्कर में पड़ना होगा।

इस लड़ाई से दो ख़ास बातें सामने आई हैं। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ की ताक़त बहुत ज़्यादा बढ़ गई है। इसके अलावा दोनों देश प्रकट संपत्ति और निहित साधन-संपत्ति से भरपूर हैं। जैसे लड़ाई से पहले के मुक़ाबले में सोवियत संघ बाहर अब कुछ निर्धन हो गया है; वजह यह है कि उसकी भीषण बरबादी हुई है। लेकिन उसकी साधन-सामर्थ्य विराट है। इसी

कारण वह जल्दी ही कमी पूरी कर लेगा और आगे बढ़ जायेगा। यूरेशियाई महाद्वीप पर भौतिक और आर्थिक ताक़त में उसे कोई चुनौती नहीं देगा। फैलाव की तरफ़ उसका झुकाव ज़ाहिर हो रहा है और क़रीब-क़रीब ज़ार के साम्राज्य की ही बुनियाद पर वह अपना क्षेत्र बढ़ा रहा है। यह सिलसिला किस हद तक जायेगा यह कहना मुश्किल है। उसकी समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के लिए फैलाव ज़रूरी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं-पर्याप्त हो सकती है। लेकिन दूसरी ताक़तें और पुराने ख़्याल काम कर रहे हैं और फिर वही घिर जाने का डर उभर आ रहा है। हां फ़िलहाल कई साल तक सोवियत संघ लड़ाई की बरबादी को दूर करने और पुनर्निर्माण में लगा रहेगा। फिर भी फैलने का झुकाव (प्रादेशिक फैलाव न हो और ढंग का हो) ज़ाहिर हो रहा है। सोवियत संघ के अलावा और किसी देश में राजनैतिक दृष्टि से ठोस और आर्थिक दृष्टि से संतुलित तस्वीर नहीं दिखाई देती। अगरचे इधर हाल की उसकी कार्रवाइयों से उसके बहुत-से पुराने प्रशंसकों को भी धक्का पहुंचा है। उसके मौजूदा नेताओं की हैसियत पर यहां उंगली भी नहीं उठाई जा सकती और भविष्य की हर चीज़ उनके दृष्टिकोण पर निर्भर है।

संयुक्त राज्य अमरीका ने अपने विराट उत्पादन और अपनी संगठन शक्ति से दुनिया को हैरत में डाल दिया है। इस तरह उसने सिर्फ़ लड़ाई में ही खास हिस्सा नहीं लिया बल्कि उसने अमरीकी अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन प्रक्रिया को तीगुना कर दिया है और अपने लिए एक ऐसी समस्या खड़ी कर ली है जिसमें भविष्य में उसको अपनी पूरी ताक़त और अक्ल लगानी पड़ेगी। बिना ज़बरदस्त अंदरूनी और बाहरी कशमकश के अपने मौजूदा आर्थिक ढांचे को बनाये रखते हुए वह उसको किस तरह हल करेगा यह समझ में नहीं आता। यह कहा जाता है कि अब उसका अलग रहने का (यूरोप या दूसरी जगह के झगड़ों से अलग रहने का) ख़याल नहीं है। यह लाज़िमी है क्योंकि अब उसे कुछ हद तक विदेशों में निकास पर निर्भर रहना होगा। लड़ाई से पहले उसकी अर्थ-व्यवस्था में जो एक मामूली-सी बात थी, यहां तक कि उसकी अवहेलना की जा सकती थी, अब वह बहुत अहम बात हो गई है। जब शांति के लिए उत्पादन युद्ध-उत्पादन की जगह ले लेगा तो बिना झगड़ा या रुकावट पैदा किये ये निर्माण कहां खपाये जायेंगे? करोड़ों हथियारबंद आदमी जब घर लौटेंगे तो उन्हें किस तरह काम में लगाया जायेगा? हर उद्योगवाले देश के सामने यह समस्या होगी और जिस हद तक यह अमरीका के सामने होगी उस हद तक यह और किसी के सामने नहीं होगी। जो बड़े बड़े तकनीकी परिवर्तन हुए हैं, उनकी

वजह से उत्पादन बेहद बढ़ जायेगा और जनता में बेकारी फैलेगी या शायद दोना ही बातें होंगी। बड़े पैमाने पर बेकारी से जनता में सख्त नाराज़ी होगी और संयुक्त राज्य अमरीका की सरकार की एहतियाती नीति यह है कि ऐसा मौका नहीं आयेगा। लौटते हुए सिपाहियों को काम देने के बारे में काफ़ी सोच विचार किया जा रहा है। इस पर ग़ौर किया जा रहा है कि किस तरह काम फ़ायदेमंद हो और बेकारी दूर रहे। इसका अमरीका के लिए अंदरूनी पहलू कुछ भी हो (और अगर बुनियादी रद्दोबदल न हुई तो वह काफ़ी गंभीर हालत होगी) लेकिन इसका अंतर्राष्ट्रीय पहलू भी उतना ही अहम है।

इस विराट उत्पादन की मौजूदा अर्थ-व्यवस्था की ऐसी अजीब हालत है कि सबसे ज्यादा मालदार और सबसे ज्यादा ताक़तवर मुल्क—अमरीका—भी उन दूसरे देशों पर निर्भर है, जो उसके बढ़त से ज्यादा उत्पादन को खपाते हैं। लड़ाई के बाद कुछ सालों तक यूरोप में चीन में और हिंदुस्तान में मशीनों की और तैयार माल की बहुत माँग होगी। अपनी फ़ाज़िल पैदावार की व्यवस्था करने में इससे अमरीका को बहुत मदद मिलेगी। लेकिन हर एक देश तेजी से अपनी ज़रूरत की चीज़ों को ख़ुद ही तैयार करने की अपनी सामर्थ्य को बढ़ायेगा और धीरे-धीरे निर्यात में ऐसी ख़ास चीज़ें रह जायेंगी जो उन देशों में पैदा नहीं की जा सकतीं। जनता की क्रय-शक्ति को बढ़ाने के लिए बुनियादी आर्थिक तब्दीलियों की ज़रूरत होगी। यह बात समझ में आती है कि दुनिया-भर में रहन-सहन का माप काफ़ी उठ ऊँचा जाने पर अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और वस्तु-विनिमय बढ़ेगा और ख़ूब तरक्की करेगा। लेकिन ख़ुद इस माप को ऊँचा उठाने के लिए नौआबादियों और पिछड़े हुए देशों के उत्पादन से राजनैतिक और आर्थिक बेड़ियों को हटाना ज़रूरी है। लाज़िमी तौर पर इसके मानी हैं बहुत बड़ी रद्दोबदल जिसमें सारी चीज़ें उलट-पुलट जायेंगी और एक नये ढाँचे से मेल बिठाना होगा।

गुज़रे ज़माने में इंग्लैंड की अर्थ-व्यवस्था की बुनियाद बहुत बड़े निर्यात व्यापार पर विदेशों में लगी हुई पूँजी पर रही है। व्यवसाय बाहर का आर्थिक नेतृत्व था और साथ ही सारी जहाज़ी बारबरदारी का व्यापार भी था। लड़ाई से पहले इंग्लैंड की लगभग ५ फ़ी-सदी खाद्य-सामग्री बाहर से मँगानी पड़ती थी। शायद अब इतने बड़े खाद्य-आयात के लिए वह निर्भर नहीं होगा क्योंकि वहाँ पर खाद्य-उत्पादन बढ़ाने की बड़ी ज़बरदस्त कोशिश हुई है। खाने के सामान और कच्चे माल के आयात का तैयार माल के निर्यात से पूँजी से माल की जहाज़ी बारबरदारी से वित्तीय सेवाओं से और उन चीज़ों से जिन्हें 'अदृश्य'

निर्यात कहा जाता है भुगतान होता था इस तरह से विदेशी व्यापार और खास-तौर से बहुत बड़ा निर्यात ही ब्रिटेन की अर्थ-व्यवस्था की खासियत और अहम बात थी। नौआबादियों में एकाधिकार पर काबू से या साम्राज्य में किसी-न-किसी ढंग का संतुलन बनाये रखने के इंतजाम से यह अर्थ-व्यवस्था कायम रखी जाती थी। उस एकाधिकार नियंत्रण से और उन इंतजामों से नौआबादियों को या गुलाम देशों को बहुत नुकसान था और भविष्य में उन्हें इन पुरानी शर्तों में बनाये रखना मुमकिन नहीं है। ब्रिटेन की विदेशों में लगी हुई पूंजी अब गायब हो गई है और उसकी जगह उस पर बहुत बड़ा कर्ज है और ब्रिटेन की आर्थिक प्रधानता अब खत्म हो गई है। इसके मानी ये हैं कि लड़ाई के बाद ब्रिटेन को पहले से भी ज्यादा हद तक निर्यात-व्यापार और जहाजी भारवाही के व्यापार पर निर्भर रहना होगा। लेकिन निर्यात बढ़ाने की यहां तक कि उसको ज्यों-का-त्यों रखने की संभावना भी अब बहुत कम है।

लड़ाई से पहले १९३६-३८ में इंग्लैंड का आयात (पुनः निर्यात घटाकर) औसतन ८६ पौंड था। उसका इस तरह भुगतान किया गया।

| | | | |
|---|---|---|---|
| निर्यात | ४७८ | लाख | पौंड |
| विदेशी पूंजी से आमदनी | २ १ | लाख | पौंड |
| जहाजी भारवाही का काम | १ ५ | लाख | पौंड |
| वित्तीय सेवाएं | ४ | लाख | पौंड |
| घाटा | ४ | लाख | पौंड |

है और अगर उसे मौजूदा आर्थिक दर्जा बनाये रखना है तो वह यह महसूस करता है कि ऐसी छोटी-मोटी रद्दोबदल को छोड़कर, जिसे टाला ही नहीं जा सकता उसे अपने औपनिवेशिक साम्राज्य पर क़ब्ज़ा बनाये रखना चाहिए। सिर्फ़ कई देशों (औपनिवेशिक और ग़ैर-औपनिवेशिक) के गुट का नेता बन कर ही उसे अपनी हैसियत बनाये रखने की उम्मीद है और उसी सूरत में राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से वह दो बड़ी ताक़तों (संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ) के बेहद बड़े साधनों का संतुलन कर सकेगा। इसलिए साम्राज्य को—जो कुछ है उसको—बनाये रखने की इच्छा है और साथ ही नये इलाक़ों पर, ख़ासकर यूरोप पर, अपना असर बढ़ाने की कोशिश है। इसलिए ब्रिटिश नीति का इरादा डोमिनियनों से और पच्छिमी यूरोप के छोटे-छोटे देशों से क़रीबी रिश्ता बनाये रखने का है। आमतौर से फ़्रांसीसी और डच औपनिवेशिक नीति औपनिवेशिकों और ग़ुलाम देशों के प्रति ब्रिटिश नज़रिये का समर्थन करती है। डच साम्राज्य असल में एक पुछल्ला साम्राज्य है और वह ब्रिटिश साम्राज्य के बिना टिक नहीं सकता।

ब्रिटिश नीति के इस रुख़ को समझना आसान है क्योंकि उसकी बुनियाद गुज़रे हुए नज़रिये से और पैमाने पर है और यह नीति उन लोगों की बनाई हुई है, जो गुज़रे ज़माने से बंधे हुए हैं। फिर भी उन्नीसवीं सदी की अर्थ-व्यवस्था के संदर्भ में भी आज ब्रिटेन के सामने जो मुश्किलें हैं वे बहुत बड़ी हैं। भविष्य के लिहाज़ से उसकी स्थिति कमज़ोर है उसकी अर्थ-व्यवस्था मौजूदा हालतों के लिए अनुपयुक्त है उसके आर्थिक साधन बहुत सीमित हैं और उसकी फ़ौजी और औद्योगिक ताक़त पहले जैसी नहीं रह सकती। उस पुरानी अर्थ-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए जो ढंग बताये जाते हैं, उनमें एक बुनियादी स्थायित्वहीनता है क्योंकि उनकी वजह से तो बराबर झगड़े होते रहेंगे सुरक्षा की कमी होगी ग़ुलाम देशों में दुर्भावनाएं बढ़ती रहेंगी जिनकी वजह से ब्रिटेन का भविष्य और भी ज़्यादा ख़तरनाक हो सकता है। अंग्रेज़ों की क्या दिक़्क़त समझी जा सकती है। वे अपने रहन-सहन का माप पुरानी सतह पर बनाये रखना चाहते हैं अगर हो सके तो उसे उठाना चाहते हैं। लेकिन इसकी बुनियाद ब्रिटिश-निर्यात के संरक्षित बाज़ारों पर, सस्ता खाने का सामान और कच्चा माल देनेवाले औपनिवेशिक या दूसरे ग़ुलाम प्रदेशों पर है। इसके मानी ये हैं कि चाहे करोड़ों आदमियों के लिए एशिया और अफ़्रीका में ज़िन्दगी की ज़रूरतें भी पूरी न हों उनके लिए ज़िन्दा रहना भी मुश्किल हो लेकिन उन्हीं के साधनों के सहारे अंग्रेज़ों की रहन-सहन की हैसियत ऊंची बनी रहे। कोई भी यह नहीं चाहता कि ब्रिटिश मानदंड गिरा दिया जाये लेकिन यह बात साफ़

है कि एशिया और अफ्रीका की जनता इस बात के लिए राज़ी नहीं हो सकती कि उनको हमेशा से भी बदतर हालत में रखकर यह औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था कायम रखी जाय। (लड़ाई से पहले) इंग्लैंड में फ़ी आदमी की सालाना क्रय-शक्ति ९७ पौंड बताई जाती है (अमरीका की इससे भी अधिक है) हिंदुस्तान में ६ पौंड से भी कम है। इस बहुत बड़े अंतर को बरदाश्त नहीं किया जा सकता। असलियत यह है कि औपनिवेशिक अर्थ-तंत्र के लिहाज़ से ह्रास का अंत में अधिकारी शक्ति के लिए भी बुरा असर होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में यह बात साफ़ तौर पर महसूस की जाती है और इसी वजह से उन लोगों की ख्वाहिश यह है कि उद्योग-धंधे बढ़ाकर और साथ ही खुशहाली देकर औपनिवेशिक आबादी की क्रय-शक्ति को बढ़ा दिया जाये। यहाँतक कि ब्रिटेन में भी कुछ हद तक हिंदुस्तान के उद्योग-धंधों के बढ़ाने की ज़रूरत महसूस की जाती है और बंगाल के अकाल की वजह से बहुत-से लोगों ने इस विषय पर खासतौर से ध्यान दिया है। लेकिन ब्रिटिश नीति का इरादा यह है कि हिंदुस्तान में उद्योग-धंधों की तरक्की तो हो लेकिन उस पर ब्रिटिश नियंत्रण हो और साथ ही उसमें ब्रिटिश कारबार के विशेषाधिकार हों। एशिया के और दूसरे देशों की तरह हिंदुस्तान का भी औद्योगीकरण ज़रूर होगा। सवाल सिर्फ़ रफ़्तार का है। लेकिन इस बात में बेहद शक है कि औपनिवेशिक अर्थ-व्यवस्था से या विदेशी नियंत्रण से उसका मेल बैठ सकता है।

मौजूदा हालत में ब्रिटिश साम्राज्य औद्योगिक इकाई नहीं है और न वह बराबर आर्थिक या फ़ौजी इकाई है। वह तो एक ऐतिहासिक और भावनामय इकाई है। भावुकता और पुराने बंधनों की अब भी अहमियत है, लेकिन यह मुमकिन नहीं है कि आप चलकर और ज्यादा बड़ी बातों से भी उन की अहमियत ज्यादा हो जाये। और फिर यह भावुकता तो उन कुछ जगहों तक ही सीमित है जहाँ ब्रिटिश जनता जैसी जातीय आबादियाँ हैं। निश्चित रूप से वह हिंदुस्तान में या बाकी गुलाम औपनिवेशिक आबादियों में बिलकुल भी लागू नहीं होती—असल में यहाँ तो इससे उलटी बात है। जहाँतक लोगों का सवाल है वह दक्खिनी अफ्रीका में भी लागू नहीं होती। बड़े-बड़े डोमिनियनों में ऐसी आर्थिक तब्दीलियाँ हो रही हैं जिनका झुकाव ब्रिटेन से परंपरागत रिश्ता रखने के बजाय दूसरी तरफ़ है। हमारा लड़ाई के दौरान में औद्योगिक तौर से कनाडा बन गया है अब एक धनी मुल्क है और वह संयुक्त राज्य अमरीका से बहुत करीबी तौर पर बंधा हुआ है। उसकी अर्थ-व्यवस्था ऐसी हो गई है जो लगातार ज़्यादा बढ़ती जायगी और यह बात ब्रिटिश उद्योग-धंधों के रास्ते में अड़चन डालेगी। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड की भी अर्थ-व्यवस्था फैलती

जा रही है और वे महसूस कर रहे हैं कि वे उस जिस्म की यूरोपी परिधि में नहीं हैं बल्कि वे प्रशान्त महासागर की एशिया-अमरीकी परिधि में हैं जहां पर संयुक्त राज्य अमरीका का एक खास हिस्सा होगा। जहांतक संस्कृति का प्रभाव है, व्यापार और अर्थनीति दोनों ही दिन-ब-दिन अमरीका से ज्यादा सम्बन्धित होते जा रहे हैं।

आज का औपनिवेशिक दृष्टिकोण अमरीका की नीति और पैदावार की प्रवृत्तियों से मेल नहीं खाता। संयुक्त राज्य अमरीका अपना निर्यात के लिए खुला बाजार चाहता है और दूसरी ताकतों की उन बाजारों का सीमित करने या उन पर नियंत्रण रखने की कोशिशें उसे पसंद नहीं हैं। वह चाहता है कि एशिया की करोड़ों की जनता में उसका माल खूब बिके और सभी जगह रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठे। इसकी वजह भावुकता नहीं है—अपने फालतू माल को खपाने के लिए अमरीका को इसकी जरूरत है। अमरीकी और ब्रिटिश निर्यात-व्यापार में और जहाजों की आमदरफ्त में संघर्ष लाजिमी मालूम देता है। अमरीका दुनिया-भर में हवाई मामले में अपनी बड़ाई कायम रखना चाहता है और इसके लिए उसके पास अटूट साधन हैं। लेकिन यह बात इंग्लैंड में खटकती है। शायद अमरीका थाईलैंड को आजाद रखना पसंद करे, लेकिन अंग्रेजों की ख्वाहिश उसे अर्ध-उपनिवेश बनाने की है। ये बातें एक-दूसरे के खिलाफ हैं। इनकी बुनियाद अपनी-अपनी खालिस अर्थ-व्यवस्था पर है और ये बातें सारे नौआबादी हलकों में दिखाई देती हैं।

उन अजीब हालतों में जिनमें आज ब्रिटेन आ गया है, ब्रिटिश नीति का इरादा कामनवेल्थ और साम्राज्यवाद को ज्यादा सुगठित करने का है और यह बात समझ में आती है। लेकिन घटनाओं की दुनिया के झुकावों की दलील उसके खिलाफ है। साथ ही डोमिनियनों में राष्ट्रीयता की तरक्की और औपनिवेशिक साम्राज्य को तोड़नेवाली प्रवृत्तियां भी उसके खिलाफ हैं। पुरानी बुनियाद पर इमारत खड़ी करने की कोशिश एक गुजरे जमाने के ढांचे को ही थोपना अब भी दुनिया-भर में फैले हुए साम्राज्य और विशेषाधिकारों की बातें करना या इनके सपने देखना—ये सब बातें दूसरे देशों के मुकाबले ब्रिटेन के लिए और भी ज्यादा गलत और अदूरदर्शी नीति से भरी हुई हैं, क्योंकि वे कारण जिन्होंने उसे राजनैतिक औद्योगिक और आर्थिक प्रधानता दी अब गायब हो गये हैं। फिर भी गुजरे जमाने में और अब भी ब्रिटेन में कुछ खास खूबियां हैं—हिम्मत के साथ और मिलकर काम करने का गुण, वैज्ञानिक और रचनात्मक योग्यता और परिस्थिति के अनुकूल होने की सामर्थ्य। ये गुण और दूसरे गुण जो उसके पास हैं, किसी भी कौम को बहुत

हद तक बड़ा बनाते हैं और उसको इस योग्य बनाते हैं कि वह अपने खतरों और संकटों को जीतकर पार कर जाय। इसलिए ऐसा हो सकता है कि वह इन बड़ी और अहम समस्याओं का सामना कर सके और वह किसी दूसरे ज्यादा संतुलित आर्थिक ढांचे से अपना मेल बिठा ले। लेकिन अगर वह अपने पुराने ढंग से अपने साम्राज्य को अपने साथ बांधे रखकर चलने की कोशिश करता है तो उसकी कामयाबी की संभावना बहुत ही कम है।

लाजिमी तौर से ज्यादातर बातें अमरीकी और सोवियत नीति पर और उन दोनों के ब्रिटेन से संघर्ष या सहयोग पर निर्भर होंगी। हर आदमी जोर जोर से कहता है कि दुनिया की शांति और उसमें सहयोग के लिए यह जरूरी है कि तीनों बड़े (अमरीका, सोवियत संघ और ब्रिटेन) मिल-जुलकर काम करें। फिर भी हर मौके पर, यहांतक कि लड़ाई के दौरान में भी मतभेद दिखाई देते हैं। चाहे भविष्य में कुछ भी हो, यह बात साफ मालूम देती है कि लड़ाई के बाद अमरीकी अर्थ-व्यवस्था खासतौर से विस्तारवादी होगी और उसके नतीजे करीब-करीब विस्फोटक होंगे। क्या इससे किसी नये ढंग का साम्राज्यवाद पैदा होगा? अगर ऐसा हुआ तो यह एक और सर्वनाश की बात होगी, क्योंकि भविष्य का ढर्रा ठीक करने के लिए अमरीका के पास ताकत है और मौका है।

सोवियत संघ की भावी नीति अभी एक रहस्य बनी हुई है, लेकिन उसकी कुछ साफ झलक मिल गई है। उसका इरादा अपनी सरहद के किनारे ज्यादा-से-ज्यादा देशों को मित्रतापूर्ण और निर्भर या अर्ध-निर्भर रखने का है। हालांकि वह और ताकतों के साथ मिलकर सारी दुनिया के संगठन के लिए काम कर रहा है, फिर भी उसे अपनी ताकत को मजबूत बुनियाद पर खड़ी करने पर ज्यादा भरोसा है। जहांतक दूसरे राष्ट्रों का बस चल सकता है, वे भी इसी तरह ही काम करते हैं। सारी दुनिया के सहयोग की यह शुरुआत आशापूर्ण नहीं है। सोवियत संघ या दूसरे देशों के बीच निर्यात बाजार के लिए उस तरह लड़ाई नहीं है जैसी ब्रिटेन और अमरीका के बीच में है। लेकिन फर्क ज्यादा गहरे हैं, उनके नजरियों में ज्यादा फर्क है और लड़ाई में मिलकर काम करने के बाद भी उनके आपसी शक कम नहीं हुए। अगर ये फर्क ज्यादा बढ़ते गये तो अमरीका और ब्रिटेन एक-दूसरे के ज्यादा करीब आते जायेंगे और सोवियत संघ के दल के खिलाफ एक-दूसरे की मदद करेंगे।

इस सबमें एशिया और अफरीका के करोड़ों आदमियों की जगह कहां होगी? उनको अपने-आपका और अपनी किस्मत का ज्यादा होश हो गया है और साथ ही उन्हें दुनिया का भी होश है। उनमें से बहुत बड़ी तादाद में

लोगों की दुनिया की घटनाओं में दिलचस्पी है। लाजिमी तौर पर उनके लिए हर घटना एक कसौटी है—क्या इससे हमारी आजादी को मदद मिलेगी ? क्या इससे एक देश का दूसरे देश पर कब्जा खत्म होगा ? क्या इससे राष्ट्रों को और उनके अंतर्गत समुदायों को बराबरी के अवसर मिलेंगे ? क्या इससे गरीबी और निरक्षरता के जल्दी खत्म होने की उम्मीद है ? क्या इससे रहने की हालतें बेहतर होंगी ? वे राष्ट्रवादी हैं लेकिन उनकी राष्ट्रीयता न दूसरों पर काबू चाहती है और न किसी तरह की छेड़खानी। वे दुनिया के सहयोग और अंतर्राष्ट्रीय ढांचा कायम करने की हर कोशिश का स्वागत करते हैं लेकिन उन्हें ताज्जुब होता है और शक होता है कि कहीं पुराने काबू को बनाये रखने की यह कोई नई तरकीब न हो। एशिया और अफ्रीका के ज्यादातर हिस्से जग गये हैं, असंतुष्ट हैं, बेचैन हैं और मौजूदा हालतों को अब और ज्यादा बरदाश्त नहीं कर सकते। एशिया के विभिन्न देशों में हालतों और समस्याओं में बहुत फ़र्क है लेकिन इस सारे विस्तृत क्षेत्र में चीन और हिंदुस्तान में दक्खिनी-पूरबी एशिया में पच्छिमी एशिया में और अरब जगत में भावनाओं के एक-से धागे फैले हुए हैं और ऐसी मजबूत कड़ियां हैं, जो उन्हें एक साथ मिलाये हुए हैं।

एक हजार साल या इससे कुछ ज्यादा वक्त तक जिस वक्त यूरोप पिछड़ा हुआ था और अंध-युग में फंसा हुआ था एशिया मनुष्य की प्रगति शील आत्मा की नुमाइंदगी करता था। शानदार संस्कृति में एक के बाद दूसरे युग फलते-फूलते रहे और सभ्यता और शक्ति के बड़े-बड़े केंद्र पैदा हुए। क़रीब पांच सौ वर्ष पहले यूरोप संभला और धीरे-धीरे पूरब और पच्छिम की तरफ फैला और इन सदियों के दौरान में दुनिया की ताक़त संपत्ति और संस्कृति का प्रमुख महाद्वीप बन गया। क्या इस तबदीली का कोई चक्र था और क्या अब यह प्रक्रिया उलट रही है ? यह निश्चय ही अमरीका की तरफ ज्यादा हट गई है जो बहुत दूर पच्छिम में है और साथ ही यह यूरोप के उस पूरबी हिस्से में पहुंच गई है जो यूरोपीय विरासत का हिस्सा नहीं था। पूरब में भी साइबेरिया में बेहद तरक्की हो गई है। पूरब के दूसरे मुल्क भी रुख बदल के लिए और तेजी से आगे बढ़ने के लिए तैयार हो चुके हैं। भविष्य में संघर्ष होगा या पूरब और पच्छिम में एक नया समतोल कायम होगा ?

सुदूर भविष्य ही इसका फैसला कर सकेगा और इतनी ज्यादा दूर की बातों पर सोचने से कोई फ़ायदा नहीं। फिलहाल हमको बोझ को ढोना है और उन मसलों का सामना करना है जो हमारे सामने हैं। दूसरे देशों की तरह हिंदुस्तान में भी इन मसलों के पीछे असली सवाल है—है महज

उन्नीसवीं सदी के यूरोप के नमूने का लोकतंत्र क़ायम करने का ही नहीं है, बल्कि गहरी सामाजिक क्रांति का है। लोकतंत्र खुद इस जाहिरा लाज़िमी रद्दोबदल में शामिल हो गया है इसलिए जो लोग इस तबदीली को नापसंद करते हैं उन्हें लोकतंत्र की उपयोगिता के बारे में शक और इन्कारी पैदा होती है और इससे फ़ासिस्ट मनोवृत्ति पैदा होती है और साम्राज्यवादी नज़रिया बना रहता है। हिंदुस्तान में हमारे सारे मौजूदा मसले—सांप्रदायिक या अल्पसंख्यक समस्या रजवाड़े मज़हबी जमातों और बड़े ज़मींदारों के निहित स्वार्थ और हिंदुस्तान में ब्रिटिश हुकूमत और उद्योग-धंधों के जमे हुए स्वार्थ—मूल में सामाजिक तबदीली का विरोध करते हैं। चूंकि असली लोकतंत्र से ऐसी तबदीली की संभावना है इसलिए खुद लोकतंत्र का विरोध होता है और कहा जाता है कि हिंदुस्तान की अपनी परिस्थितियों में यह अनुपयुक्त है। इस तरह चाहे उनमें कैसे ही फ़र्क़ मालूम पड़ते हों लेकिन हिंदुस्तान के मसलों की भी बुनियाद वही है जो चीन स्पेन या दुनिया के और दूसरे देशों के मसलों की है और जिसको लड़ाई ने ऊपर सतह पर ला दिया है। यूरोप के बहुत-से नाज़ी-विरोधी आंदोलनों में इन झगड़ों की झलक दिखाई देती है। हर जगह सामाजिक शक्तियों का पुराना संतुलन बिगड़ गया है और जबतक एक नया संतुलन क़ायम नहीं हो जाता कश-मकश होगी और संघर्ष चलता रहेगा। इन मौजूदा समस्याओं से हम अपने ज़माने की केंद्रीय समस्याओं पर पहुंच जाते हैं यानी लोकतंत्र और समाजवाद को किस तरह मिलाया जाये? राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय सतह पर जनता के मोजनाबद्ध आर्थिक जीवन को क़ायम रखते हुए और साथ ही केंद्रित सामाजिक नियंत्रण रखते हुए किस तरह व्यक्तिगत आज़ादी और व्यक्तिगत अमल को बनाये रखा जाये?

## १२ आज़ादी और सल्तनत

ऐसा मालूम होता है कि भविष्य में अमरीका और सोवियत संघ का एक ख़ास हिस्सा होगा। जितना फ़र्क़ किन्हीं दो उन्नत देशों में हो सकता है, उतना फ़र्क़ इन दोनों में है यहांतक कि उनकी कमियां भी विरोधी दिशाओं में दिखाई देती हैं। राजनैतिक लोकतंत्र के अभाव की सारी बुराइयां सोवियत संघ में मौजूद हैं। फिर भी उनमें बहुत-सी एक-सी बातें हैं—एक गतिशील नज़रिया बड़े साधन सामाजिक कबीलापन मध्ययुगीन पृष्ठभूमि का अभाव विज्ञान और उसके आविष्कारों में विश्वास जनता के लिए व्यापक शिक्षा और आगे बढ़ने का मौक़ा। आमदनी में बहुत बड़ा असाम्य होते हुए भी अमरीका में बहुत-से और मुल्कों की तरह वर्ग भेद नहीं है और बराबरी की भावना है। रूस में पिछले बीस सालों की सबसे बड़ी घटना वहां की जनता

में शिक्षा और संस्कृति की बेहद तरक्की है। इस तरह दोनों ही देशों में प्रगतिशील लोकतंत्री समाज की जरूरी बुनियाद मौजूद है, क्योंकि ऐसे किसी समाज की बुनियाद अपढ़ और उदासीन जनता पर थोड़े-से बुद्धिजीवियों की हुकूमत पर नहीं हो सकती।

सौ साल पहले उस वक्त के अमरीकियों की चर्चा करते हुए दि तोकविले ने कहा था—"अगर एक तरफ लोकतंत्री सिद्धांत लोगों को विज्ञान को महज इल्म की खातिर अपनाने के लिए प्रेरित नहीं करता तो दूसरी तरफ वह उन लोगों की तादाद को, जो उसे अपनाते हैं, बेहद बढ़ा देता है। लोगों के रहन-सहन की हालतों की स्थायी असमानता से आदमी अमूर्त सत्यों की बेहूदा और निष्प्रयोजन खोज में घिर जाते हैं, जबकि लोकतंत्र की संस्थाएं और सामाजिक परिस्थितियां विज्ञान के फौरी और उपयोगी अमली नतीजों को तलाश करने के लिए तैयार करती हैं। यह रुझान कुदरती और लाजिमी है। तब से अमरीका बदल गया है और तरक्की कर गया है और उसमें कई जातियां घुल-मिल गई हैं, लेकिन उसकी बुनियादी विशेषताएं वही हैं।

अमरीकियों और रूसियों की एक और समान विशेषता है। उन पर गुजरे जमाने का वह भारी बोझ नहीं है, जिससे एशिया और यूरोप दबे हुए हैं और जिसने बहुत हद तक उनके काम-काजों और झगड़ों पर असर डाला है। लेकिन जिस तरह और लोग नहीं बच सकते उसी तरह मौजूदा पीढ़ी के बोझ से वे भी नहीं बच सकते। लेकिन दूसरों के मुकाबले में उनका गुजरा हुआ जमाना ज्यादा साफ और कम बोझल है और भविष्य की आशा भार से कम दबी हुई है।

इसकी वजह से वे दूसरे लोगों के पास इस तरह पहुंच सकते हैं कि उनके पीछे आपसी शक की वह पृष्ठभूमि नहीं होगी जो सुस्थापित साम्राज्यवादी राष्ट्रों में और दूसरों में हुआ करती है। यह बात नहीं कि उनका गुजरा हुआ जमाना जख्मों और खून-खराबे से पाक और साफ है। अमरीकियों की अपनी नीग्रो समस्या रही है, जो उनके लोकतंत्र और बराबरी के दावे के लिए शर्मनाक चीज है। रूसियों को पूरबी यूरोप में पुरानी नफरतों की याद को हटाना है, लेकिन मौजूदा लड़ाई उस याद को बढ़ा रही है। फिर भी अमरीकियों की दूसरे देशों से आसानी से दोस्ती हो जाती है। रूसियों में जातीय भेद भाव करीब-करीब बिल्कुल नहीं है।

यूरोप के ज्यादातर राष्ट्र आपसी नफरत और पुराने झगड़ों और बेइन्साफियों के खयाल से भरे हैं। लाजिमी तौर से साम्राज्यवादी ताकतों में

कहानी है और उस साम्राज्य के ऊंची से गिरने की तस्वीर है। साम्राज्य और आज़ादी का कोई भी समर्थक अपनी बात को ऐसे ज़ोरदार लफ़्ज़ों में नहीं कह सकता, जैसे थ्यूसिडाइडिस ने कहे हैं—"हम सभ्यता के नेता हैं और मानव-जाति के अगुआ हैं। मनुष्य जो ज़्यादा-से-ज़्यादा बड़ा आशीर्वाद दे सकता है वह हमारा साथ और संपर्क है। हमारे असर के हलके में आने के मानी गुलामी नहीं, खुशकिस्मती है। पूर्व की सारी संपत्ति मिलकर भी उस धन का जो हम देते हैं, भुगतान नहीं कर सकती। इसलिए हम खुशी के साथ काम कर सकते हैं। सारा धन और सारे साधन जो हमारे पास हैं, हम उनका इस्तेमाल उस काम में कर सकते हैं और हमको यह भरोसा रखना चाहिए कि हालांकि हमारी इसमें जान होगी, लेकिन हम जीतेंगे। वजह यह है कि ज़ालिम से कितनी ही जगहों पर तक़लीफ़ से हमने इन्सान की ताक़त का रहस्य जान लिया है और यही इन्सान की खुशी का रहस्य है। लोगों ने अलग-अलग नामों से उसका अनुमान किया है, लेकिन सिर्फ हमने ही उसको जाना है और उसका अपने शहर में आसानी से इस्तेमाल किया है। जिस नाम से हम उसे जानते हैं, वह है आज़ादी। उसने हमको सिखाया है कि सेवा करने के मानी आज़ाद होने के हैं। क्या तुम्हें इस बात पर ताज्जुब है कि मानव जाति में हम ही अकेले ऐसे आदमी क्यों हैं, जो अपने उपहारों को निजी लाभ की शर्त पर नहीं देते बल्कि उन्हें आज़ादी के पक्के भरोसे पर देते हैं?

आज जब लोकतंत्र और आज़ादी के बारे में इतना शोर है, हालांकि यह कुछ ही लोगों तक सीमित है, उक्त बातों की गूंज कुछ परिचित-सी मालूम देती है। उसमें सचाई है, लेकिन उससे इन्कार भी किया गया है। थ्यूसिडाइडिस को बाक़ी दुनिया के बारे में जानकारी नहीं थी और उसकी नज़र तो सिर्फ भूमध्य-सागर के देशों तक ही सीमित थी। उसको अपने मशहूर शहर की आज़ादी पर गर्व था। इस आज़ादी को उसने इन्सान की ताक़त और खुशी का रहस्य बताया। फिर भी उसने यह महसूस नहीं किया कि और लोगों को भी इस आज़ादी की ख्वाहिश थी। आज़ादी के प्रेमी एथेन्स ने मेलोस को हराया और बरबाद किया, वहां के सब बालिग आदमियों को कत्ल कर दिया और वहां की औरतों और बच्चों को गुलामों की तरह बेच दिया। उस वक्त भी जब थ्यूसिडाइडिस साम्राज्य और आज़ादी की बाबत लिख रहा था, वह साम्राज्य गिर चुका था और उस आज़ादी का जिसका वह ज़िक्र करता है, वजूद न था।

वजह यह है कि बहुत अरसे तक आज़ादी को हुकूमत और गुलामी से मिलाना मुमकिन नहीं है। एक चीज़ दूसरी पर हावी हो जाती है और साम्राज्य

कहानी है और उस साम्राज्य के तेज़ी से गिरने की तस्वीर है। साम्राज्य और आज़ादी का कोई भी समर्थक अपनी बात को ऐसे ज़ोरदार लफ़्ज़ों में नहीं कह सकता जैसे थ्यूसिडाइडिस ने कहे हैं—"हम सभ्यता के नेता हैं और मानव-जाति के अगुआ हैं। मनुष्य जो ज़्यादा-से-ज़्यादा बड़ा आशीर्वाद दे सकता है वह हमारा साथ और संपर्क है। हमारे असर के हल्क़े में आने के मानी गुलामी नहीं, खुशकिस्मती है। पूर्व की सारी संपत्ति मिलकर भी उस धन का जो हम देते हैं, भुगतान नहीं कर सकती। इसलिए हम खुशी के साथ काम कर सकते हैं। सारा धन और सारे साधन जो हमारे पास हैं हम उनका इस्तेमाल उस काम में कर सकते हैं और हमको यह भरोसा रखना चाहिए कि हालांकि हमारी इसमें जांच होगी, लेकिन हम जीतेंगे। वजह यह है कि कोशिश से कितनी ही जगहों पर तकलीफ़ से हमने इन्सान की ताक़त का रहस्य जान लिया है और यही इन्सान की खुशी का रहस्य है। लोगों ने अलग-अलग नामों से उसका अनुमान किया है लेकिन सिर्फ़ हमने ही उसको पाया है और उसका अपने शहर में आसानी से इस्तेमाल किया है। जिस नाम से हम उसे जानते हैं, वह है आज़ादी। उसने हमको सिखाया है कि सेवा करने के मानी आज़ाद होने के हैं। क्या तुम्हें इस बात पर ताज्जुब है कि मानव जाति में हम ही अकेले ऐसे आदमी क्यों हैं, जो अपने उपहारों को निजी लाभ की शर्त पर नहीं देते बल्कि उन्हें आज़ादी के पक्के भरोसे पर देते हैं ?

आज जब लोकतंत्र और आज़ादी के बारे में इतना शोर है हालांकि वह कुछ ही लोगों तक सीमित है उक्त बातों की गूंज कुछ परिचित-सी मालूम देती है। उसमें सचाई है, लेकिन उसमें इन्कार भी किया गया है। थ्यूसिडाइडिस को बाकी दुनिया के बारे में जानकारी नहीं थी और उसकी नज़र तो सिर्फ़ भूमध्य-सागर के देशों तक ही सीमित थी। उसको अपने मशहूर शहर की आज़ादी पर गर्व था। इस आज़ादी को उसने इन्सान की ताक़त और खुशी का रहस्य बताया। फिर भी उसने यह महसूस नहीं किया कि और लोगों को भी इस आज़ादी की ख़्वाहिश थी। आज़ादी के प्रेमी एथेन्स ने मेलोस को हराया और बरबाद किया वहां के सब बालिग़ आदमियों को क़त्ल कर दिया और वहां की औरतों और बच्चों को गुलामों की तरह बेच दिया। उस वक़्त भी जब थ्यूसिडाइडिस साम्राज्य और आज़ादी की बाबत लिख रहा था वह साम्राज्य गिर चुका था और उस आज़ादी का जिसका वह ज़िक्र करता है वजूद न था।

वजह यह है कि बहुत अरसे तक आज़ादी को हुकूमत और गुलामी से मिलाना मुमकिन नहीं है। एक चीज़ दूसरी पर हावी हो जाती है और साम्राज्य

कहानी है और उस साम्राज्य के तेज़ी से गिरने की तस्वीर है। साम्राज्य और आज़ादी का कोई भी समर्थक अपनी बात को ऐसे ज़ोरदार शब्दों में नहीं कह सकता, जैसे प्यूरिक्लीज़ ने कहे हैं— 'हम सभ्यता के नेता हैं और मानव-जाति के अगुआ हैं। मनुष्य जो ज़्यादा-से-ज़्यादा बड़ा आशीर्वाद दे सकता है, वह हमारा साथ और संपर्क है। हमारे असर के हल्के में आने के मानी ग़ुलामी नहीं, ख़ुशक़िस्मती है। पूर्व की सारी संपत्ति मिलकर भी उस धन का, जो हम देते हैं, भुगतान नहीं कर सकती। इसलिए हम ख़ुशी के साथ काम कर सकते हैं। सारा धन और सारे साधन जो हमारे पास हैं, हम उनका इस्तेमाल इस काम में कर सकते हैं और हमको यह भरोसा रखना चाहिए कि हालांकि हमारी इसमें हार होगी, लेकिन हम जीतेंगे। वजह यह है कि कोशिश से कितनी ही जगहों पर तकलीफ़ से हमने इन्सान की ताक़त का रहस्य जान लिया है और यही इन्सान की ख़ुशी का रहस्य है। लोगों ने अलग-अलग नामों से उसका अनुमान किया है, लेकिन सिर्फ़ हमने ही उसको जाना है और उसका अपने शहर में आसानी से इस्तेमाल किया है। जिस नाम से हम उसे जानते हैं, वह है आज़ादी। उसने हमको सिखाया है कि सेवा करने के मानी आज़ाद होने के हैं। क्या तुम्हें इस बात पर ताज्जुब है कि मानव-जाति में हम ही अकेले ऐसे आदमी क्यों हैं, जो अपने उपहारों को निजी लाभ की शर्त पर नहीं देते, बल्कि उन्हें आज़ादी के पक्के भरोसे पर देते हैं ?"

आज जब लोकतंत्र और आज़ादी के बारे में इतना शोर है, हालांकि वह कुछ ही लोगों तक सीमित है, उन बातों की गूंज कुछ परिचित-सी मालूम देती है। उसमें सचाई है लेकिन उसमें इन्कार भी किया गया है। प्यूरिक्लीज़ को बाक़ी दुनिया के बारे में जानकारी नहीं थी और उसकी नज़र तो सिर्फ़ भूमध्य-सागर के तटों तक ही सीमित थी। उसको अपने मशहूर शहर की आज़ादी पर गर्व था। इस आज़ादी को उसने इन्सान की ताक़त और ख़ुशी का रहस्य बताया। फिर भी उसने यह महसूस नहीं किया कि और लोगों को भी इस आज़ादी की ख़्वाहिश थी। आज़ादी के प्रेमी एथेन्स ने मेलास को हराया और बरबाद किया, वहां के सब बालिग़ आदमियों को क़त्ल कर दिया और वहां की औरतों और बच्चों को ग़ुलामों की तरह बेच दिया। उस वक़्त भी जब प्यूरिक्लीज़ साम्राज्य और आज़ादी की बाबत लिख रहा था, वह साम्राज्य गिर चुका था और उस आज़ादी का, जिसका वह ज़िक्र करता है, वजूद न था।

वजह यह है कि बहुत अरसे तक आज़ादी को हुकूमत और ग़ुलामी से मिलाना मुमकिन नहीं है। एक चीज़ दूसरी पर हावी हो जाती है और साम्राज्य

की शान और चमक में और उसकी बरबादी में थोड़े-से ही वक्त का फ़र्क होता है। पहले किसी भी वक्त के मुकाबले में अब आज़ादी ज़्यादा हद तक अविभाज्य है। पेरिक्लीज़ की अपने प्रिय शहर की शानदार तारीफ़ के कुछ वक्त बाद ही वह शहर बरबाद हो गया और स्पार्टा की फ़ौजों ने एक्रोपोलिस पर कब्ज़ा कर लिया। फिर भी उसके लफ़्ज़ों में खूबसूरती आज़ादी अक्ल और हिम्मत के लिए वह मुहब्बत ज़ाहिर होती है जो हमको अब भी हिला देती है। वे उस वक्त के एथेन्स के लिए ही लागू नहीं होते बल्कि दुनिया के ज़्यादा बड़े संदर्भ में भी लागू होते हैं। "हम खूबसूरती से मुहब्बत करते हैं लेकिन ज़्यादती के साथ नहीं हम अक्ल से काढ़ता है, लेकिन हम मे गैरमर्दानगी नहीं। संपत्ति हमारे लिए महज़ शान की चीज़ नहीं है बल्कि उससे उपलब्धि के लिए अवसर मिलता है गरीबी को मंज़ूर करने म हमारे मिज़ाज से शान नहीं घटती लेकिन उसको दूर करने की कोशिश न न करने को हम सचमुच गिरावट समझते हैं। हमारी प्रेरणा सिर्फ़ उन दोहराई हुई दलीलों से नहीं होनी चाहिए कि लड़ाई में हिम्मत दिखाना एक बहुत ऊंची और बढ़िया चीज़ है बल्कि वह प्रेरणा उस बड़े शहर के कार्य-व्यस्त जीवन से जो हमारे सामने रोज़ाना आता है होनी चाहिए। उसको देखते ही हम उस पर मुग्ध हो जाते हैं और हमको याद आती है कि उसकी महानता का श्रेय योद्धाओं की हिम्मत को कर्तव्यों की समझ और कर्तव्यनिष्ठा को और भले आदमियों के स्व-अनुशासन को है। वह श्रेय उन आदमियों को है जो चाहे नाकामयाब ही रहे हों लेकिन जिन्होंने इस शहर को अपनी सेवाएं अर्पण की और अपनी सबसे बड़ी भेंट—अपनी ज़िंदगी—बलि पर चढ़ाई। इस तरह उन्होंने कामनवेल्थ के लिए अपना शरीर निछावर कर दिया और उसके बदले में उन्हें ऐसी याद ऐसी तारीफ़ मिली है जो हमेशा बनी रहेगी। साथ ही उनको वह शानदार स्मारक मिला है—वह नहीं जिसमें उनकी पार्थिव अस्थियां रखी हुई हैं—बल्कि वह, जो लोगों के दिमाग़ में है और जहां उनका गौरव सजीव बना रहता है और अवसर के अनुसार वह काम के लिए बोली व ना के लिए प्रेरणा करता है। महापुरुषों के लिए सारी दुनिया ही एक स्मारक है और उनकी कहानी उनकी जन्मभूमि म ही पत्थरों पर खुदी हुई नहीं है बल्कि उससे भी आगे जाती है इस तरह कि उसका कोई दिखाई पड़नेवाला प्रतीक नहीं होता वह तो दूसरे लोगों की ज़िंदगी म समाई हुई है। अब तुम्हारा फ़र्ज़ यह आता है कि तुम उनकी बराबरी करो। यह जान लो कि खुशी की कुंजी आज़ादी है और आज़ादी का रहस्य एक बहादुर दिल है जो दुश्मन को आते देखकर एक तरफ़ खसका

नहीं रह सकता। [1]

## १४ आबादी का सवाल पैदाइश की गिरती हुई औसत और राष्ट्रीय ह्रास

लड़ाई के पांच सालों में आबादी के बड़े उलट-फेर हुए हैं और उसमें तबदीलियां आई हैं। शायद पहले किसी ज़माने में इतने बड़े पैमाने पर ऐसा नहीं हुआ था। लड़ाई की वजह से ख़ासतौर पर चीन रूस पोलैंड और जर्मनी में होने वाली करोड़ों आदमियों की मौतों के अलावा बहुत बड़ी तादाद में लोग अपने घरों से अपने मुल्कों से अलहदा हो गये हैं। फ़ौजी ज़रूरतें रही हैं, मज़दूरों की मांग रही है और साथ ही मजबूरी की हालत में अपना घर और मुल्क छोड़कर भागना पड़ा है। हमलावर फ़ौजों के आने के पहले शरणार्थी बहुत बड़ी तादाद में अपनी जगहों को ख़ाली कर गये हैं। लड़ाई से पहले भी नात्सी-नीति की वजह से यूरोप में इन भागे हुए लोगों की समस्या काफ़ी बड़े पैमाने पर पहुंची हुई थी। लेकिन लड़ाई के वक़्त की इस समस्या के सामने लड़ाई से पहले की समस्या पीछे पड़ जाती है। लड़ाई की ज़ाहिरा बजूहात के अलावा यूरोप की रद्दोबदल ख़ासतौर से नात्सियों की जातीय नीति के सबब से है। उन्होंने खुलेतौर पर लाखों यहूदियों को मार दिया और उससे उन कई देशों की आबादी का जहां यहूदी रहते थे नक़्शा ही पलट गया। सोवियत संघ में लाखों आदमी पूरब की तरफ़ हट गये हैं और उन्होंने यूराल पहाड़ के दूसरी तरफ़ बस्तियां बसा ली हैं और शायद ये बस्तियां स्थायी हो जायेंगी। चीन के बारे में यह अंदाज़ है कि क़रीब पांच करोड़ आदमी अपनी जगह से हट गये हैं।

बेशक इन आदमियों को या लड़ाई से बचे हुए आदमियों को वापस लाने और फिर से बसाने की कोशिश होगी हालांकि यह काम बहुत उलझा हुआ है। बहुत-से लोग अपने पुराने घरों को वापस आ जायेंगे और बहुत से लोग अपने नये पड़ोस में ही रहना पसंद करेंगे। साथ ही इसकी भी संभावना है कि यूरोप में राजनैतिक रद्दोबदल की वजह से आबादी की अदल-बदल और छंट-पलट और भी ज़्यादा होगी।

इससे भी ज़्यादा और गहरी अहमियत उन तबदीलियों की है जिनका प्राणीशास्त्र और शरीर-विज्ञान से ताल्लुक़ है और जिनकी वजह से दुनिया की आबादी तेज़ी से बदल रही है। औद्योगिक क्रांति और आधुनिक

---

[1] प्युसिडाइडिस के उद्धरण अल्फ्रेड ज़िमर्न की पुस्तक 'दि ग्रीक कॉमनवेल्थ' (१९२४) से लिये गये हैं।

तकनीक की तरक्की की वजह से यूरोप की आबादी तेजी से बढ़ गई। यह बात खासतौर से उत्तरी-पच्छिमी और मध्य यूरोप में हुई। ज्यों-ज्यों यह तकनीकी जानकारी पूरब की तरफ सोवियत संघ की तरफ बढ़ी है इन हिस्सों की आबादी और भी ज्यादा तेजी से बढ़ी है और इसमें नये आर्थिक ढांचे का और कुछ दूसरी बातों का भी असर रहा है—विज्ञान की जानकारी का शिक्षा का सफाई का सार्वजनिक स्वास्थ्य का। पूरब की तरफ फैलाव अभी चल रहा है और उसमें एशिया के कई देश आ जायेंगे। इनमें से कुछ देशों को खासकर हिंदुस्तान को आबादी की बढ़ती की जरूरत नहीं होगी क्योंकि दरअसल यह मौजूदा आबादी से कम में ही ज्यादा खुश हाल हो सकेगा।

इस दौरान में यूरोप में आबादी के सिलसिले में एक उलटी प्रक्रिया चल रही है। बच्चा पैदाइश की औसत गिरने की समस्या ज्यादा महसूस होती जा रही है। यह प्रवृत्ति चारों तरफ है और उसका असर दुनिया के बहुत-से देशों पर है। इसमें कुछ खास अपवाद हैं जैसे चीन हिंदुस्तान जापान और सोवियत संघ। उद्योग धंधों के सिलसिले से उन्नत देशों में यह खासतौर से जाहिर होती है। कई साल पहले फ्रान्स की आबादी की बढ़ती खत्म हो गई और अब आबादी धीरे-धीरे कम होती जा रही है। इंग्लैंड में पिछली सदी के उत्तरार्द्ध के बाद पैदाइश की रफ्तार बराबर कम होती रही है और फ्रान्स को छोड़कर वह अब यूरोप में सबसे कम है। जर्मनी और इटली में पैदाइश की रफ्तार बढ़ाने की हिटलर और मुसोलिनी की कोशिशों का नतीजा सिर्फ अस्थायी हुआ। उत्तरी पच्छिमी और मध्य यूरोप में दक्खिनी-पूरबी यूरोप के मुकाबले (सोवियत संघ को छोड़कर) पैदाइश की रफ्तार ज्यादा तेजी से गिर रही है लेकिन इन सभी हिस्सों में प्रवृत्ति एक-सी है। मौजूदा प्रवृत्तियों के हिसाब से (सोवियत संघ को छोड़कर) यूरोप की आबादी सन १९५५ में सबसे ज्यादा होगी और उसके बाद फिर उसमें कमी आ जायेगी। इसका ब्योरा [illegible] में कोई [illegible] नहीं है लेकिन उस हालत से गिरावट की तरफ [illegible] जायगा।

दूसरी तरफ सोवियत संघ की आबादी बराबर बढ़ती जा रही है और यह संभावना है कि सन [illegible] तक यह पच्चीस करोड़ से ज्यादा हो जायेगी। [illegible] के मुकाबले [illegible] प्रभावशाली होगी उसकी बढ़वार इसमें शामिल नहीं है। इस आबादी की बढ़वार [illegible] और साथ ही तकनीकी और [illegible] की तरक्की से [illegible] और [illegible] दुनिया में लाजिमी तौर पर एक [illegible] दुनिया में ज्यादा [illegible] चीन और हिंदुस्तान की

औद्योगिक तरक़्क़ी पर निर्भर हैं। उनकी बड़ी आबादियां एक बोझ और कमज़ोरी हैं। हां, अगर उचित और उपयोगी ढंग से उनका संगठन हो सके तो दूसरी बात है। ऐसा मालूम होता है कि यूरोप की साम्राज्यवादी ताक़तों के विस्तारवादी और आक्रामक ढंग का ज़माना निश्चित रूप से ख़त्म हो चुका। ऐसा हो सकता है कि राजनैतिक संगठन में और उनकी जनता की योग्यता और कुशलता की वजह से दुनिया के मामलों में उनकी अहम जगह रहे। लेकिन धीरे-धीरे उनकी गिनती बड़ी ताक़तों में नहीं रहेगी। अगर वे सामुदायिक रूप पर काम करें तो बात दूसरी होगी। *ऐसी संभावना नहीं मालूम देती कि उत्तरी-पश्चिमी या मध्य यूरोप का कोई राष्ट्र फिर दुनिया को चुनौती देगा। तेज़ी से तरक़्क़ी करती नयी देशों की जनता में जर्मनी की सम्भता समा जाने की वजह से अपने पश्चिमी पड़ोसियों की तरह जर्मनी भी अब उस दर्जे को पार कर गया है जिसमें वह दुनिया की प्रधान ताक़त हो सकता था।

कई पश्चिमी देशों और क़ौमों को वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति से बड़ी ताक़त हासिल हुई है। इसकी बहुत ही कम संभावना है कि ताक़त के इस स्रोत पर कुछ राष्ट्रों का ही एकमात्र अधिकार रहेगा। इसलिए दुनिया के एक बहुत बड़े हिस्से पर यूरोप की आर्थिक और राजनैतिक हुकूमत क़ायमी और संदेही से पहले की और यह यूरेशियाई महाद्वीप और अफ़्रीका का अधिशासन तक नहीं रहेगा। इस दुनियावी बदल की वजह से पुरानी यूरोपीय ताक़तें शांति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के बारे में अब ज़्यादा सोच-विचार करेंगी और जहां तक मुमकिन हो सकेगा लड़ाई को टालेंगी। अब ज़बरदस्ती के तरीक़ों से महज़ उनकी ख़राबी दिखाई पड़ती हो तो उसमें कशिश नहीं रह जाती। लेकिन दुनिया की उन ताक़तों में जिनकी आज अहमियत है, दूसरों से सहयोग करने की प्रवृत्ति नहीं है। यह प्रवृत्ति नैतिक होनी चाहिए, लेकिन ताक़त और नैतिकता का साथ बहुत कम होता है।

चारों तरफ़ पैदाइश के औसत के गिरने की वजह क्या है? संतति-निग्रह के उपायों के उपयोग और छोटे और सुनियोजित परिवार बनाये रखने की इच्छा का कुछ असर तो हो सकता है, लेकिन आमतौर पर यह बात मानी जाती है कि इसकी वजह से बहुत ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ा। आयरलैंड

*अमरीका के 'फ़ॉरेन अफ़ेयर्स' पत्र के अप्रैल १९४४ अंक में फ़्रैंक डब्ल्यू. नोटस्टीन का 'पोपुलेशन एंड पॉवर इन पोस्ट वार यूरोप' देख। इंटरनेशनल लेबर ऑफ़िस ने ई. एम. कुलिशर का लिखा हुआ एक अध्ययन 'दि डिस्प्लेसमेंट ऑफ़ पापुलेशन इन यूरोप' (१९४३) प्रकाशित किया है।

एक कृषिप्रधान देश है और शायद वहां संतति-निग्रह के साधनों का उपयोग नहीं है। लेकिन वहां पर पैदाइश की रफ़्तार दूसरे देशों से पहले ही कम होनी शुरू हुई थी। शायद पश्चिम में शादी को ज्यादा बड़ी उम्र में करने की आदत भी एक वजह है। आर्थिक बातों का कुछ असर हो सकता है, लेकिन यह कोई खास असर नहीं है। यह आम जानकारी है कि अमीरों के मुकाबले आमतौर पर गरीबों में संतानोत्पत्ति-सामर्थ्य ज्यादा है। इसी तरह शहरी हलकों के मुकाबले यह सामर्थ्य देहाती हलकों में ज्यादा है। छोटे-से समुदाय के लिए ऊंची हैसियत बनाये रखना आसान है और व्यक्तिवाद की तरक्की से समुदाय या जाति की अहमियत कम हो जाती है। प्रोफ़ेसर जे० बी० एस० हाल्डेन का कहना है कि आमतौर पर बहुत-से सभ्य समाजों में ऐसे लोगों में जिन्हें इज्जत हासिल है, आम जनता के मुकाबले उत्पादन-सामर्थ्य कम होती है। इस तरह ऐसा मालूम होता है कि जीव विज्ञान के लिहाज से ऐसे समाज पायदार नहीं हो सकते। बड़े परिवारों में अक्सर अपेक्षाकृत नीचे दर्जे की बुद्धि पाई गई है। ऐसा समझा जाता है कि आर्थिक कामयाबी प्राणिशास्त्रिक वृद्धि के विपरीत चलती है।

गिरती हुई पैदाइश की रफ़्तार की बुनियादी वजहों के बारे में कोई खास जानकारी नहीं है। हां कुछ वजहों का अंदाज़ किया जाता है। ऐसा मुमकिन है कि उसके पीछे कुछ शरीर-विज्ञान के और प्राणिशास्त्र संबंधित कारण हों। साथ ही औद्योगिक जातियां जिस ढंग की जिंदगी बिताती हैं और जिस वातावरण में उन्हें रहना होता है, इन दोनों बातों का भी असर मालूम देता है। अपूर्ण भोजन, घराबबारी बुरी शारीरिक और मानसिक तंदुरुस्ती अस्वास्थ्यकर परिस्थितियां—इन सबका जनन-शक्ति पर असर होता है। फिर भी बीमार और अधभूखी जातियों में मसलन हिंदुस्तान में पैदाइश की रफ़्तार बहुत ज्यादा है। शायद-आधुनिक जिंदगी की रफ़्तार कशमकश फिक्र और प्रतियोगिता से भी उत्पादन-सामर्थ्य कम होती है। जिंदगी देने-वाली भूमि के छूटने से शायद काफ़ी असर पड़ता है। अमरीका तक में खेती से ताल्लुक रखनेवाले मजदूरों की उत्पादन-सामर्थ्य नौकरीपेशा लोगों के मुकाबले दूने से भी ज्यादा है।

ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक सभ्यता से, जो पश्चिम में पैदा हुई और जो बाद में और जगहों में फैल गई और साथ ही उस शहरी जिंदगी की वजह से जो इस सभ्यता की विशेषता है, एक गैर-पायदार समाज बनता है और धीरे-धीरे अपनी शक्ति खोता जाता है। जिंदगी कई हलकों में तरक्की करती है, लेकिन उसकी बुनियाद गायब होती जाती है। यह ज्यादा अस्वा-

आदिक हो जाती है और उसमें उतार आने लगता है। दिन-ब-दिन उत्तेजक चीज़ों की ज़रूरत बढ़ती जाती है। सोने के लिए या और दूसरे मामूली कामों के लिए दवाइयों की ज़रूरत होती है। ऐसी खाने-पीने की चीज़ों का शौक़ होता है जो जीभ को अच्छी महसूस होती हैं और थोड़ी देर को तबीयत खुश हो जाती है लेकिन जिनसे शरीर का ढांचा कमज़ोर होता जाता है। क्षणिक उत्तेजना और खुशी की तरकीबों को काम में लाया जाता है, लेकिन बाद में उनकी प्रतिक्रिया होती है और खोखलापन महसूस होता है। चाहे उसकी कितनी ही शानदार शक्ल क्यों न हो और उसके कारनामे जो भी हों लेकिन जो सभ्यता हमने बनाई है वह बासी-सी मालूम देती है। हम उत्तेजक बातों से पैदा किये हुए उत्तेजक खाने को खाते हैं हम उत्तेजक भावनाओं में डूबे रहते हैं और हमारे इन्सानी रिश्ते ऊपरी सतह के नीचे शायद ही जाते हों। विज्ञापन हमारे युग के प्रतीकों में से एक है और उनकी लगातार और कर्कश कोशिशों से हम धोखे में पड़ जाते हैं। ये कोशिशें हमारी चेतना-शक्ति को धुंधला कर देती हैं और हमको बे-ज़रूरी और कभी-कभी नुक़सानदेह चीज़ों को ख़रीदने के लिए फुसलाती हैं। इस हालत के लिए मैं दूसरों को दोष नहीं दे रहा हूं। हम सब इसी युग की उपज हैं और हममें इस पीढ़ी की विशेषताएं हैं। हम सब पर इस दोष या श्रेय की ज़िम्मेदारी है। यक़ीनी तौर पर मैं खुद इस सभ्यता का एक हिस्सा हूं, जिसकी मैं आलोचना या तारीफ़ करता हूं और दूसरे लोगों की तरह मेरे ख़यालों और कामों पर इसका असर है।

इस आधुनिक सभ्यता में ऐसी क्या ख़राबी है जिसकी वजह से जड़ में व्याधियां के बवाल और बांझपने के चिह्न दिखाई देते हैं? लेकिन यह कोई नई चीज़ नहीं है। ऐसा पहले भी हुआ है और इतिहास ऐसी मिसालों से भरा हुआ है। अपने पतन के समय शाही रोम की हालत कुछ बदतर थी। क्या इस भीतरी बवाल का कोई चक्कर है? क्या हम उसका कारण खोजकर उसका उपाय कर सकते हैं? आधुनिक उद्योगवाद और समाज का पूंजीवादी ढांचा—यही उसके एकमात्र कारण नहीं हो सकते क्योंकि उनसे पहले अक्सर बवाल आया है। हां यह मुमकिन है कि उनकी मौजूदा शक्ल से एक उपयुक्त वातावरण बनता हो एक ऐसी बुनियादी और दिमाग़ी आबो-हवा बनती हो जिसमें इन कारणों को पनपने में आसानी होती हो। अगर बुनियादी कारण आध्यात्मिक हो या ऐसा हो जिसका ताल्लुक़ आदमी की आत्मा और उसके मन से होता हो तो हालांकि हम उसे समझने की कोशिश कर सकते हैं लेकिन उसका पकड़ पाना

मुमकिन है। हां, उसका एहसास जरूर हो सकता है। लेकिन एक बात जरूर जाहिर है — जमीन से रिश्ता तोड़ना व्यक्ति और जाति दोनों के ही लिए बुरा है। जमीन और सूरज दोनों जिंदगी के सोते हैं और अगर बहुत अरसे तक हम उनसे अलहदा रहें तो जिंदगी हमसे भागती है। आधुनिक उद्योग-धंधों में लगी जातियों का जमीन से कोई लगाव नहीं रहा है और वे उस आनंद को महसूस नहीं करतीं जो प्रकृति देती है और न उन्हें वह खूबसूरत तंदुरुस्ती ही हासिल होती है जो धरती-माता के संपर्क से मिलती है। लोग प्रकृति की खूबसूरती की बात करते हैं और हफ्ते के आखिर में कभी-कभी फुरसत निकालकर उसकी तलाश में जाते हैं और अपनी अस्वाभाविक जिंदगी की देन को रंगीनी में बिखेर आते हैं; लेकिन वे प्रकृति से घुल-मिल नहीं सकते और न वे अपने-आपको उसका हिस्सा ही महसूस कर सकते हैं। प्रकृति ऐसी चीज है जिसको देखना चाहिए और जिसकी तारीफ करनी चाहिए—क्योंकि उनसे ऐसा कहा जाता है—इसलिए उसे देखकर, वे एक चैन की सांस लेते हुए अपने रोजमर्रा के ढर्रे पर आ जाते हैं। यह सब ठीक उसी तरह होता है जैसे वे किसी सनातन-साहित्य के कवि या लेखक की तारीफ करने की कोशिश करें और फिर उस कोशिश से थककर अपनी तबीयत के उपन्यास या जासूसी कहानी पर वापस आ जायें, जहां दिमाग को मशक्कत नहीं करनी पड़ती। पुराने हिंदुस्तानियों या यूनानियों की तरह वे प्रकृति की संतान नहीं हैं, बल्कि वे तो ऐसे अजनबी-जैसे हैं जो जब-तब दूर के किसी रिश्तेदार के न्योते को भला टालते हों। उन्हें प्रकृति के सचेत जीवन और अनंत रूप का आनंद अनुभव नहीं होता और न उस सजीव जीवन की ही अनुभूति होती है, जो हमारे पुरखों के लिए सहज थी। तब इसमें क्या ताज्जुब है कि प्रकृति उनको सौतेली संतान की तरह बरते?

हम उस पुराने नजरिये पर जो इस सारे संसार को ब्रह्ममय मानता है, वापस नहीं जा सकते। फिर भी हम प्रकृति के रहस्य का अनुभव कर सकते हैं, उसकी जिंदगी और खूबसूरती के गाने को सुन सकते हैं और उससे शक्ति संचय कर सकते हैं। यह गाना सिर्फ किन्हीं खास जगहों पर ही नहीं गाया जाता है, और अगर हममें योग्यता हो, तो हम उस गाने को हर जगह सुन सकते हैं। लेकिन कुछ ऐसी जगहें हैं जहां प्रकृति उन लोगों को भी मजबूर कर देती है जिनमें उसकी योग्यता नहीं है और उसका स्वर किसी दूर के साज संगीत की गंभीर ध्वनि जैसा लगता है। ऐसी इनी-गिनी जगहों में से कश्मीर एक है, जहां खूबसूरती बसी हुई है और जहां चेतना-शक्ति पर जादू-सा छा जाता है। फ्रांसीसी विद्वान एम. फूशर ने कश्मीर

के बारे में अपने लेख में कहा है—"मेरी दृष्टि में काश्मीर की विशेष मोहिनी की जो अपनी जगह है, मैं उसे कहना चाहता हूं—उस मोहिनी की जिसकी हर एक को चाह है यहांतक कि उनका भी जो उसका विश्लेषण नहीं करता। यह मोहिनी सिर्फ इस वजह से नहीं हो सकती कि वहां के जंगल खूबसूरत हैं, वहां की झीलें निर्मल जल से भरी हुई हैं, उसकी बर्फीली पहाड़ी चोटियां धारदार हैं या वहां की ठंडी धीमी हवा में उसके अनगिनत झरनों की प्यारी आवाज समाई हुई है। न उसकी वजह पुरानी इमारतों की शान या उनका वैभव है, यद्यपि करेवा की अधभूमि पर मार्तंड के खंडहर उसी गर्व के साथ खड़े हुए हैं जिस तरह पहाड़ी के अग्रभाग पर खड़ा कोई यूनानी मंदिर हो, या जैसे धन पत्थरों के चबूतरे पर बना हुआ पयार का छोटा-सा मंडप है जिसमें साइमिन्ट्रीज की प्रमुख मूर्त्तियां में सर्वोच्च श्रेणी का अनुपात है। कोई यह भी नहीं कह सकता कि इस मोहिनी की वजह कला और वातावरण का मिलाप है, क्योंकि कई दूसरे देशों में भी सुरम्य स्थानों में खूबसूरत इमारतें बनी हुई हैं। लेकिन जो चीज सिर्फ काश्मीर में ही मिलती है वह यह है कि ये दोनों सुषमाएं एक साथ ऐसी जगह पाई जाती हैं जहां प्रकृति में अब भी रहस्यमयी जीवन की प्रेरणा है, जहां प्रकृति हमारे मनरूप से बात करना जानती है और हमारे नास्तिक तर्कों को भी हिला देती है और चेतन या अचेतन रूप में हमें उस बिगत काल में जिसका कवियों को अभाव है, ले जाती है, जब दुनिया का शैशव था और 'जब देवभूमि में स्वर्ग और धरती साथ-साथ विचरण करते थे और सांस लेते थे'।

लेकिन काश्मीर की तारीफ करना मेरा मकसद नहीं है, हालांकि कभी कभी इसके प्रति मेरा पक्षपात मुझे भटका देता है। न मेरा इरादा दुनिया के अधर्ममय होने के हक में दलील पेश करने का ही है—मैं तो इस हद तक नास्तिक जरूर हूं कि मैं यकीन करता हूं कि नास्तिकता का संघट शरीर और मन के फायदे में होता है। मैं ऐसा जरूर सोचता हूं कि वह जिंदगी जो जमीन से पूरी तरह अलहदा है, आखिरकार मुरझा जायगी। ठीक है, इस ढंग से पूरी तरह विच्छेद कभी नहीं होता और प्रकृति की प्रक्रियाओं में समय लगता है। लेकिन आधुनिक सभ्यता की यह कमजोरी है कि वह दिन-ब-दिन जिंदगी देनेवाले स्रोतों से अलहदा होती जा रही है। आधुनिक पूंजीवादी समाज की प्रतियोगिता और अतिप्रवृत्त की विशेषताओं से उत्पत्ति को सब चीजों में ज्यादा जगह देने की वजह से दिमागी तंदुरुस्ती खराब होती है और एक ऐसी हालत हो जाती है कि नाड़ियों में एक अस्वाभाविक उत्तेजना आ जाती है। एक ज्यादा अमनमय और समतौलवाले धार्मिक ढांचे से ही

इन हालतों में सुधार होगा। फिर भी यह जरूरी होगा कि जमीन और प्रकृति से ज्यादा जीता-जागता संपर्क हो। इसके मानी ये नहीं कि पुराने ढर्रे मानी में हम जमीन और खेती पर वापस आयेंगे या हमारी जिंदगी का ढर्रा वैसा ही हो जायेगा जैसा आदि-काल में था। इस तरह का इलाज तो बीमारी से भी बदतर होगा। आधुनिक उद्योग का संगठन इस ढंग का होना चाहिए कि मर्द और औरतें जमीन से ज्यादा-से-ज्यादा निकट संपर्क में हों और साथ ही देहाती हलकों का सांस्कृतिक दर्जा ऊंचा हो। शहरों और देहातों दोनों में ही जिंदगी की सहूलियतें होनी चाहिए, ताकि दोनों में ही शारीरिक और मानसिक तरक्की का पूरा मौका हो और दोनों ही जगह जिंदगी के हर पहलू की तरक्की हो सके।

मुझे इसमें शक नहीं है कि यह किया जा सकता है। बस जरूरत इस बात की है कि लोगों में करने की ख्वाहिश हो। मौजूदा वक्त में ज्यादा लोगों में इस ढंग की ख्वाहिश नहीं है। हमारी ताकत (एक-दूसरे की जान लेने के अलावा) उन्मादक पदार्थ और उत्तेजक मनोरंजन की चीजें बनाने में लगी हुई है। इनमें से ज्यादातर के खिलाफ मुझे कोई बुनियादी ऐतराज नहीं है और कुछ को तो मैं अच्छा भी समझता हूं, लेकिन उनमें जो वक्त लगता है उसका बेहतर इस्तेमाल हो सकता है। हां, एक बात और है कि इन चीजों से जिंदगी का नजरिया मशीन बन जाता है। कारखाने में बनी हुई चीजों की बहुत मांग

मसलों को, जो हमें परेशान कर रहे हैं, हल कर सकेगा। हमको यह भी बताया जाता है कि हम लोग मैगनेशियम-एलुमिनियम युग के प्रवेश द्वार पर हैं, और चूंकि ये दोनों धातुएं हर जगह बेहद तादाद में पाई जाती हैं, इसलिए इनकी किसीको भी कमी न होगी। नया रसायन-शास्त्र मनुष्य-जाति के लिए एक नया जीवन तैयार कर रहा है। हम एक ऐसे युग में हैं जब मानव जाति का शक्ति-स्रोत बेहद बढ़नेवाला है। हर ढंग के युगांतरकारी आविष्कार निकट भविष्य में प्रकट होने के लिए मंडरा रहे हैं।

इस सबसे बड़ी तसल्ली होती है लेकिन मेरे दिमाग में एक शक पैदा होता है। हमारी तकलीफ़ ताक़त की कमी की वजह से नहीं है, बल्कि वह उस ताक़त के जो हमारे पास है इस्तेमाल की वजह से है। विज्ञान ताक़त देता है, लेकिन उसका खुद कोई मक़सद नहीं है वह अव्यक्तिगत है और उसका इस बात से कोई ताल्लुक नहीं कि हम उसके दिये हुए ज्ञान का किस तरह इस्तेमाल करते हैं। उसकी जीत आगे भी जारी रह सकती है लेकिन अगर वह कुदरत की बहुत ज़्यादा अवहेलना करता है, तो कुदरत उससे बदला ले सकती है। जिस वक्त ज़िंदगी बाहरी रूप में बढ़ती मालूम देती है वह अंदर-ही अंदर किसी ऐसी चीज़ की कमी की वजह से मुरझा सकती है जिसकी खोज विज्ञान अभीतक नहीं कर पाया है।

## १५ एक पुरानी समस्या के लिए नया तरीक़ा

इस ज़माने का दिमाग़ यानी आज का ऊंचे वर्ग का दिमाग़ व्यावहारिक है और कौतूहल-युक्त है नैतिक है और सामाजिक है, परोपकारी है और मानवतावादी है। *उसका संचालन सामाजिक उन्नति के अमली आदर्शवाद से होता है।* उसके पीछे काम करनेवाले आदर्श ज़माने की रविश की—युग-धर्म की—नुमाइंदगी करते हैं। पुराने लोगों के दार्शनिक ढंग को उनकी अंतिम सत्य की खोज को बहुत हद तक छोड़ दिया गया है। साथ ही मध्य युग का भक्तिवाद और रहस्यवाद भी छोड़ दिया गया है। उसका ईश्वर है मानवता और उसका धर्म है समाज-सेवा। यह धारणा भी अपूर्ण हो सकती है क्योंकि हर युग का मस्तिष्क अपने वातावरण से सीमित रहता है और हर युग ने सामयिक सत्य को ही संपूर्ण सत्य की कुंजी समझा है। हर पीढ़ी में हर जनता में यह मूढ़ ख़याल रहा है कि सिर्फ़ उसीका नज़रिया बिलकुल सही है या ज़्यादा-से-ज़्यादा सही है। हर संस्कृति का एक अपना मूल्यांकन होता है जो उस संस्कृति से सीमित होता है और उससे बंधा हुआ होता है। उस संस्कृति को माननेवाले लोग इस क़ीमत को पत्थर की लकीर समझने लगते हैं और उसको एक स्थायी महत्ता दे देते हैं। इसी तरह शायद हमारी वर्तमान

शुरू कर दिया है और चाहे वे उससे इस न हो पायें फिर भी आज का जिज्ञासु वैज्ञानिक पुराने युग के दार्शनिक और धार्मिक व्यक्तियों की ही प्रतिमूर्ति है। प्रोफ़ेसर एल्बर्ट आइन्स्टीन कहते हैं—"हमारे इस जड़वाद के युग में सिर्फ़ जिज्ञासु वैज्ञानिक अन्वेषकों में ही गहरी धार्मिकता है।"

इस सबसे विज्ञान में एक पक्का विश्वास मालूम देता है, फिर भी यह जरूर है कि उद्देश्यहीन और प्रकट सचाइयों से ही संबंधित विज्ञान काफ़ी नहीं है। क्या जीवन के उपकरण देते समय विज्ञान जीवन के लक्ष्य की अव हेलना कर रहा था ? प्रकट सचाइयों की दुनिया में सामंजस्य पाने की कोशिश हो रही है क्योंकि धीरे-धीरे यह बात ज्यादा साफ़ होती जा रही थी कि पहली चीज पर जरूरत से ज्यादा ध्यान देने की वजह से आदमी की आत्मा कुचली जा रही है। जिस सवाल ने पुराने दार्शनिकों को परेशान किया था वह एक नई शक्ल में और एक नये संदर्भ में फिर सामने आ गया है। दुनिया के बाह्य जीवन का व्यक्ति के आंतरिक आध्यात्मिक जीवन से किस तरह मेल बिठाया जाये ? अब चिकित्सक इस नतीजे पर पहुंच गये हैं कि व्यक्ति के या समूचे समाज के शरीर का इलाज ही काफ़ी नहीं है। इधर कुछ बरसों से उन डाक्टरों ने जो मानसिक शरीर-विज्ञान से परिचित हैं कर्म की ओर कायिक बीमारियों की विषमता पर जोर देना छोड़ दिया है और अब वे मनोवैज्ञानिक पहलू पर ज्यादा जोर देते हैं। प्लेटो ने लिखा था—'बीमारी के इलाज में सबसे बड़ी खामी यह है कि शरीर की चिकित्सा करनेवाले भी हैं और मन की भी फिर भी दोनों ही एक हैं और अविभाज्य हैं।'

सबसे ज्यादा मशहूर और बड़े वैज्ञानिक आइन्स्टीन हमको बताते हैं कि "आज पहले युगों की अपेक्षा आदमी का भाग्य नैतिक शक्ति पर अधिक निर्भर है। हर जगह आनंद और आह्लाद का साधन है त्याग और आत्म-संयम।' विज्ञान के इस गर्वीले युग से यह अचानक हमको पुराने दार्शनिकों के युग में ले पहुंचते हैं। शक्ति की कामना और मुनाफ़े की लोलुपता से वह हमको उस परित्याग की भावना पर पहुंचा देते हैं जिससे हिंदुस्तान सुपरिचित है। शायद आज के बहुत-से वैज्ञानिक उनकी बात को नहीं मानेंगे और न वे उनके इस कथन से ही सहमत होंगे कि "मुझे पक्का यकीन है कि दुनिया की कोई भी दौलत मानवता को आगे नहीं बढ़ा सकती चाहे वह दौलत आदर्श

[1] पचास बरस पहले स्वामी विवेकानंद ने कहा था कि आधुनिक विज्ञान सच्ची धार्मिक भावना का प्रकटीकरण है, क्योंकि उसमें सत्य को सच्ची लगन से समझने की कोशिश है।

के लिए जी-जान से काम करनेवालों के ही हाथों में क्यों न हो। पवित्र और महान व्यक्तियों के उदाहरण से ही सुंदर विचारों या श्रेष्ठ कामों की प्रेरणा हो सकती है। धन तो सिर्फ़ स्वार्थ को जगाता है और वह माल्दार आदमियों में उसके दुरुपयोग का जबरदस्त लोभ जगाता है।

यह सवाल सभ्यता के सामने आदिकाल से रहा है। आज इसका सामना करने में विज्ञान को कई ऐसी सहूलियतें हैं, जो पहले दार्शनिकों को नहीं थीं। उसके पास संग्रहीत ज्ञान का भंडार है और एक ऐसा ढंग है, जो उचित रूप से कारगर है। उसने कई ऐसे प्रदेशों का नक्शा बनाया है और उनकी खोज की है, जिनसे पुराने लोग परिचित नहीं थे। चूंकि उसने आदमियों की समझ को और चीजों पर उसके नियंत्रण को बढ़ा दिया है, इस लिए वे अब उसके लिए रहस्य नहीं रह गईं, और उनकी वजह से धर्म के पुजारी उनका नाजायज फायदा नहीं उठा सकते। लेकिन उसकी कई कमियां भी हैं। संग्रहीत ज्ञान के ही बाहुल्य के कारण मनुष्य के लिए संपूर्ण का समन्वयकारी दृष्टिकोण बनाना कठिन हो गया है और वह खुद अपने-आप को उसके किसी हिस्से में खो बैठता है। वह उसका विश्लेषण करता है, उसका अध्ययन करता है, कुछ हद तक उसे समझता है, लेकिन संपूर्ण से उसका संबंध देख पाने में नाकामयाब रहता है। विज्ञान ने जो बेहद ताकत व्यक्त की है, उसकी वजह से मनुष्य घबरा जाता है, वह ताकत उसे आगे बढ़ाये ले जाती है और अक्सर वह अपनी अनिच्छा से अनजाने किनारे पर पहुंच जाता है। आधुनिक जिंदगी की रफ्तार से लगातार एक के बाद दूसरे संकट से सत्य के शांत अनुसंधान में रुकावट होती है। अक्सर खुद इधर-उधर भटक दी जाती है और वह आसानी से उस गंभीरता को और उस समाधान-दृष्टिकोण को नहीं खोज पाती, जो सच्ची समझ के लिए बहुत जरूरी है। क्योंकि ज्ञान का मार्ग गंभीर है और उसके स्वभाव में उद्वेग नहीं है।

शायद हम मानव जाति के एक महायुग में रह रहे हैं और इस सौभाग्य की हमको कीमत देनी होगी। हर महायुग में संघर्ष और अस्थिरता की भरमार होती है, पुरानी व्यवस्था को छोड़कर नई के लिए कोशिश होती है। पायदारी, हिफाजत, अपरिवर्तनशीलता-जैसी कोई चीज नहीं है, क्योंकि तब तो खुद जिंदगी ही खत्म हो जायगी। ज्यादा-से-ज्यादा हम एक सापेक्षिक स्थिरता और गतिशील संतुलन की तलाश कर सकते हैं। जिंदगी मनुष्य की मनुष्य के खिलाफ, मनुष्य की अपने वातावरण के खिलाफ लगातार लड़ाई है। यह लड़ाई भौतिक, बौद्धिक और नैतिक सतह पर है और इसमें नई बातों का नक्शा बनता है और नये विचार उपजते हैं। रचना और

बरक़रारी साथ-साथ चलते हैं और प्रकृति के दोनों पहलू हमेशा दिखाई देते हैं। ज़िंदगी तो तरक़्क़ी का ही सिद्धांत है निश्चलता का नहीं। उसमें गति चौकस्ता बराबर बनी रहती है और उसमें गतिहीन हालत का मौक़ा नहीं है।

आज राजनीति और अर्थ-शास्त्र की दुनिया में ताक़त की तलाश है लेकिन जब ताक़त आ जाती है तो दूसरी चीज़ें जिनकी बहुत क़ीमत है, छूट जाती हैं। आदर्शवाद की जगह राजनैतिक चालें और दाव-पेंच आ जाते हैं। निःस्वार्थ हिम्मत की जगह बुज़दिली और कमज़ोरी आ जाती है। तत्त्व की जगह ऊपरी चमक रह जाती है और ताक़त जिसके लिए इतनी उत्सुक तलाश थी अपने मक़सद पर पहुंचने में नाकामयाब होती है। वजह यह है कि ताक़त की अपनी ख़ामियां हैं और शक्ति अपने ऊपर ही आ टूटती है। दोनों में से कोई आत्मा का निर्माण नहीं कर सकती। हां वे उसे सख़्त या बदसूरत बना सकती हैं। कनफ़्यूशस ने कहा है—"तुम फ़ौज से सेनापति को अलग कर सकते हो लेकिन छोटे-से-छोटे आदमी को उसकी इच्छा शक्ति से अलग नहीं कर सकते।"

अपनी आत्म-कथा में जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा—"मुझे अब पक्का यक़ीन है कि मानव-जाति की हालत में अब कोई ख़ास सुधार मुमकिन नहीं है। अगर उसके ख़याल के ढंग के बुनियादी ढांचे में कोई बड़ी तबदीली हो जाये तो बात दूसरी है। फिर भी सोचने के ढंग में बुनियादी तबदीली ज़िंदगी की लगातार की कमाई के साथ जो दर्द और तकलीफ़ होती है उससे और बदलते हुए वातावरण से होती है। और इस तरह हालांकि हम इस सोचने के ढंग में सीधी तौर पर तबदीली कर सकते हैं लेकिन उससे भी ज़्यादा ज़रूरी उस वातावरण में परिवर्तन है जिसमें वे ढंग पैदा हुए और पनपे। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं और एक-दूसरे पर असर डालते हैं। हर आदमी का दिमाग अलग-अलग ढंग का है और हर एक दिमाग सत्य को अपने ढंग से देखता है और वह अक्सर दूसरे के नज़रिये को समझ नहीं पाता। इसी वजह से झगड़ा होता है। उस आपसी रगड़ का एक दूसरा नतीजा भी है और वह यह कि उससे ज़्यादा भरा-पूरा और ज़्यादा व्यवस्थित सत्य सामने आता है। वजह यह है कि हमको यह महसूस करना है कि सत्य के कई पहलू हैं और उस सत्य पर किसी एक आदमी या किसी एक राष्ट्र का ही एकमात्र अधिकार नहीं है। यही बात काम करने के ढंग के बारे में है। अलग-अलग हालतों में अलग-अलग आदमियों के लिए अलग-अलग ढंग हो सकते हैं। हिंदुस्तान ने चीन ने और साथ ही कई दूसरे राष्ट्रों ने अपने जीवन की अपनी शैली बनाई और उसको एक मज़बूत बुनियाद पर खड़ा किया। उनका ऐसा ख़याल था और अब भी बहुत-से लोगों का ऐसा निरर्थक ख़याल है

कि सिर्फ उनकी शैली ही सही थी। आज यूरोप और अमरीका ने अपने जीवन की एक मिली शैली बनाई है और यह शैली आज की दुनिया में प्रमुख है। वहां के लोगों का खयाल है कि सिर्फ यही सही ढंग है। शायद इनमें से कोई भी शैली अकेली ही सही या वांछनीय नहीं है और उनमें से हर एक शैली हर दूसरी से कुछ-न-कुछ सीख सकती है। यकीनन हिंदुस्तान को और चीन को बहुत-कुछ सीखना है क्योंकि वे गतिहीन हो गये थे और पश्चिम सिर्फ युग भावना का ही प्रतिनिधि नहीं है बल्कि वह गतिशील है परिवर्तनशील है और उसमें उन्नति की सामर्थ्य है। हां यह बात जरूर है कि इस उन्नति का रास्ता आत्म-विध्वंस और मानव-अस्तित्व के बीच में से होकर है।

हिंदुस्तान में और शायद दूसरे देशों में भी आत्म-वैभव और आत्म दैन्य की प्रवृत्तियां क्रम से दिखाई देती हैं। दोनों ही अवांछनीय हैं और हेय हैं। भावुकता से ज़िंदगी को नहीं समझा जा सकता। इसके लिए जरूरी यह है कि बिना हिचकिचाहट के हिम्मत के साथ असलियत का मुकाबला किया जावे। हम अपने-आपको ऐसे मसलों की तलाश में जिनका ज़िंदगी से कोई ताल्लुक नहीं है छोड़ नहीं सकते। वजह यह है कि घटनाएं होती जाती हैं और वे हमारी फुरसत का इंतजार नहीं करतीं। न यही मुमकिन है कि हमारा नाता सिर्फ बाहरी चीजों से रहे और हम आदमी की अंदरूनी ज़िंदगी की अहमियत को भुला दें। एक समतौल की जरूरत है—एक ऐसी कोशिश की जो दोनों में सामंजस्य स्थापित कर दे। सत्रहवीं सदी में स्पिनोज़ा ने लिखा था—'मन का सारी प्रकृति में जो सम्मिलन है उसका ज्ञान ही सर्वोत्तम हित है। उसका मन जितना ज्यादा जानता जाता है, उतनी ही ज्यादा आसानी उसको अपनी ताकतों और प्रकृति के ढर्रे को समझने में होती है। प्रकृति के ढर्रे को वह जितना ज्यादा समझता जाता है, उतनी ही आसानी उसे अपने आपको बेकार की चीजों से आजाद करने में होती। यही सारी प्रक्रिया है।

अपनी व्यक्तिगत ज़िंदगी में भी हमको शरीर और आत्मा में और उस मनुष्य में जो प्रकृति का अंग है और उस मनुष्य में जो समाज का अंग है अनुकूलता लाना पड़ता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—"अपनी पूर्णता के लिए हमको पूरी तरह जंगली होना पड़ता है और मन से परिष्कृत होना पड़ता है हममें यह कौशल होना चाहिए कि हम प्रकृति के साथ प्राकृतिक हो सकें और मानव-समाज में मानव हों। पूर्णता हमसे परे की चीज़ है क्योंकि उसके मानी होते हैं अंत। हम तो बराबर सफर कर रहे हैं और हम बराबर ऐसी चीज तक पहुंचने की कोशिश कर रहे हैं जो बराबर पीछे हटती जा रही है। हममें से हर एक में कई मानव हैं—अलग-अलग और परस्पर विरोधी।

सब अलग-अलग दिशाओं में खींचते हैं। ज़िंदगी से मुहब्बत भी है झुंझलाहट भी है। ज़िंदगी की सारी चीज़ों की मंज़ूरी भी है और उसकी तमामतर चीज़ों से इन्कार भी है। इन विरोधी प्रवृत्तियों में सामंजस्य स्थापित करना मुश्किल है, और कभी से एक हावी होती है, तो कभी दूसरी। लाओत्से ने कहा है—"अक्सर मनुष्य जीवन का रहस्य देखने के लिए अपने-आपको कामना से पृथक कर लेता है और अक्सर कामना के बहु-रंगी परिणामों को देखने के लिए वह जीवन और कामना को मिला लेता है।

संग्रहीत ज्ञान अनुभव समझ और तर्क की सारी ताक़तों के होते हुए भी हम ज़िंदगी के रहस्य के बारे में क़रीब-क़रीब कुछ नहीं जानते और उस की रहस्यभरी प्रक्रियाओं की सिर्फ़ कल्पना ही किया करते हैं। लेकिन उसकी ख़ूबसूरती को हम समझ सकते हैं और कला के ज़रिये हम ईश्वर के ही ढंग से सृजनात्मक काम कर सकते हैं। हम कमज़ोर और ग़लती करनेवाले इन्सान हो सकते हैं जिनकी ज़िंदगी का फैलाव छोटा और अनिश्चित है फिर भी हममें देवताओं का भी कुछ अंश है। इसलिए अरस्तू ने कहा है—"जो हमको इसलिए विवश करते हैं कि हम इन्सान हैं मर्त्यलोक के प्राणी हैं और हमारी विचारधारा इन्सानों की-सी है तो हमको उनकी आज्ञा का पालन नहीं करना चाहिए। जहांतक मुमकिन हो सके हमको अमरत्व बरतना चाहिए और अंतर्निहित सर्वोत्तम के अनुसार जीवन बिताने की कोशिश में कोई कसर बाक़ी नहीं रखनी चाहिए।

## १६ उपसंहार

इस लेख-माला को शुरू किये हुए क़रीब पांच महीने हो गये और मैंने अपने दिमाग़ में भरे हुए ख़यालों से लिखावट के हज़ार सफ़े भर दिये हैं। पांच महीनों मैंने गुज़रे ज़माने की सैर की है और भविष्य में झांका है और कभी-कभी "उस बिंदु पर, जहां समय का अनंत से मेल होता है" मैंने अपने को टिकाने की कोशिश की है। इन महीनों में दुनिया में बड़ी-बड़ी घटनाएं हुई हैं और जहांतक फ़ौजी जीत का सवाल है, लड़ाई जीत की मंज़िल की तरफ़ तेज़ी से बढ़ गई है। मेरे अपने देश में भी काफ़ी घटनाएं हुई हैं और मैं उनके लिए सिर्फ़ एक तमाशबीन था और कभी-कभी दुख की लहरें थोड़ी देर के लिए मेरे ऊपर आ गईं और फिर आगे बढ़ गईं। विचार करने और अपने विचारों को किसी रूप में प्रकट करने के व्यापार की मदद से मैंने अपने-आपको मौजूदा वक़्त की घूमती हुई धारा से अलहदा रखा है और मैं भूत और भविष्य के विस्तृत क्षेत्र में घूमता रहा हूं।

भारत—जनसंख्या का घनत्व
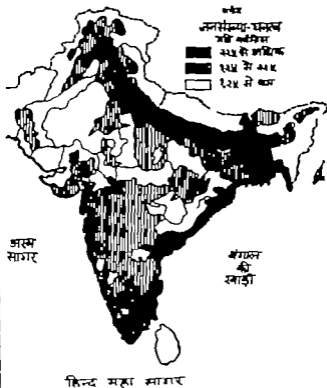
लेकिन इस सैर का कहीं ख़ात्मा होना चाहिए। चाहे इसके लिए कोई दूसरी वजह काफ़ी न होती लेकिन अब तो एक अमली दिक़्क़त सामने है और उसको भुलाया नहीं जा सकता। बड़ी मुश्किल से जितने काग़ज़ का मैं इंतज़ाम कर पाया था अब वह क़रीब-क़रीब ख़त्म हो चुका है और अब काग़ज़ मिलना आसान नहीं है।

हिंदुस्तान की खोज—मैं क्या खोज कर पाया हूँ? यह कल्पना करना कि मैं उसे पर्दे से बाहर ला सकूँगा और उसके वर्तमान और अति प्राचीन युग के स्वरूप को देख पाऊँगा एक अनधिकार चेष्टा थी। आज उसमें चालीस करोड़ अलग-अलग स्त्री और पुरुष हैं। सब एक-दूसरे से भिन्न हैं और हर एक व्यक्ति विचार और भावना की अपनी दुनिया में रहता है। जब मौजूदा ज़माने में ही यह बात है तब उस गुज़रे ज़माने को गिरफ़्त कर पाना तो कहीं ज़्यादा मुश्किल होगा जिसमें अनगिनत इन्सानों और अनगिनत पीढ़ियों की कहानी है। फिर भी किसी चीज़ ने उन सबको एक साथ बाँध रखा है और वह उन्हें अब भी बाँधे हुए है। हिंदुस्तान की भौगोलिक और आर्थिक सत्ता है उसमें विभिन्नता में एक सांस्कृतिक ऐक्य है और बहुत-सी परस्पर विरोधी बातें सुदृढ़, किंतु अदृश्य धागों से एक साथ गुथी हुई हैं। बार-बार आक्रमण होने पर भी उसकी आत्मा कभी जीती जा नहीं सकी और आज भी—जब वह एक अहंकारी विजेता का क्रीड़ा-स्थल मालूम होता है—उसकी आत्मा अपराजित है अविजित है। एक पुरानी किंवदंती की तरह उसमें एक पकड़ में न आने का गुण है। ऐसा मालूम होता है कि कोई जादू उसके दिमाग़ पर छाया हुआ है। वह तो असल में एक विचार है और एक माया है, एक कल्पनाचित्र है और स्वप्न है किंतु है सच्चा सजीव और व्यापक। कुछ अंधियारे पहलुओं की डरावनी झलक भी दिखाई देती है और हमको आरंभिक युग की याद आती है लेकिन साथ ही संपन्न और उजले पहलू भी हैं। उसका एक गुज़रा ज़माना है और कहीं-कहीं उससे शर्म महसूस होती है या नफ़रत होती है उसमें ज़िद है और सख़्ती भी है और कभी-कभी उसमें भावुक उद्विग्नता भी दिखाई देती है। फिर भी वह बहुत प्रिय है और उसके बच्चे चाहे वे कहीं भी हों और चाहे वे कैसी भी परिस्थितियों में क्यों न हों उसको भुला नहीं सकते। वजह यह है कि वह उन सबसे संबंधित है और उसकी महानता और ख़ामियों का उनसे ताल्लुक़ है। वे सब जिन्होंने बेहद बड़े परिमाण में ज़िंदगी की कामना ख़ुशी और उल्लास को देखा है और जिन्होंने जान-बूझ की चाह की है उसकी उन आँखों से प्रतिबिंबित होते हैं। उनमें से हर एक उसकी ओर आकर्षित है, लेकिन हर एक के आकर्षण का सबब शायद जुदा-जुदा
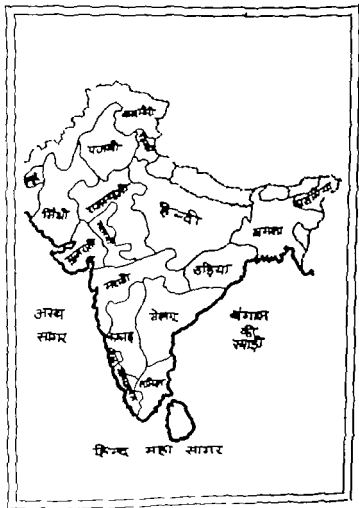
भारत—प्रमुख भाषाएं

हैं और कभी-कभी तो उनके पास इसका कोई ख़ास सबब भी नहीं है। हर एक को उसके बहुधंधी व्यक्तित्व का एक अलग पहलू दिखाई देता है। हर युग में उसमें बड़े आदमी और बड़ी स्त्रियां पैदा हुई हैं। सभी पुरानी परंपरा को आगे ले चले हैं लेकिन साथ ही उन्होंने उसे समय के अनुरूप बना लिया है। इस महान क्रम में रवींद्रनाथ ठाकुर भी थे। हालांकि वह मौजूदा ज़माने के स्वभाव और प्रवृत्तियों से भरे हुए थे लेकिन उनकी बुनियाद हिंदुस्तान के पुराने ज़माने में थी। उन्होंने ख़ुद अपने अंदर पुराने और नये का समन्वय किया। उन्होंने कहा— 'मैं हिंदुस्तान से प्रेम करता हूं। इसलिए नहीं कि मैं भौगोलिक आकार की उपासना करता हूं न इसलिए कि संयोग से मेरी उसकी ज़मीन में पैदाइश हुई, बल्कि इसलिए कि उसने अपनी श्रेष्ठ संतान की ज्योतिर्मयी चेतना में से निकले हुए सजीव शब्दों को समय की उथल-पुथल से सुरक्षित रखा है। बहुत-से लोग यही बात कहेंगे लेकिन दूसरे लोग उसके लिए अपने प्रेम का कोई दूसरा सबब बतायेंगे।

ऐसा मालूम होता है कि पुराना जादू अब हट रहा है और हिंदुस्तान चारों तरफ़ देख रहा है और मौजूदा वक़्त के लिए सजग हो रहा है। उसमें तबदीली होगी। लेकिन चाहे जो तबदीली हो पुराना जादू बना रहेगा और उसके लोगों के दिलों पर अपना क़ाबू जमाये रहेगा। उसकी पोशाक बदल सकती है लेकिन वह ज्यों-का-त्यों रहेगा। इस कड़ी प्रतिकारवादी और फंसानेवाली दुनिया में जो कुछ अच्छा ख़ूबसूरत और सच्चा है उसे अपनाने में उसको अपने ज्ञान भंडार से मदद मिलेगी।

आज की दुनिया ने बहुत कुछ हासिल किया है लेकिन मानवता के प्रति प्रेम की घोषणा के होते हुए भी उसकी बुनियाद उन ख़ूबियों की जगह, जो आदमी को इन्सान बनाती हैं, नफ़रत और हिंसा पर ज़्यादा रही है। लड़ाई सचाई और इन्सानियत से इन्कार है। कभी-कभी ऐसा हो सकता है कि लड़ाई का टालना मुमकिन न हो लेकिन उसके नतीजे बहुत ख़तरनाक होते हैं। उसमें सिर्फ़ आदमियों की जान ही नहीं ली जाती बल्कि जान-बूझकर लगातार नफ़रत और झूठ का प्रचार किया जाता है और धीरे-धीरे ये बातें लोगों की आम आदत हो जाती हैं। अपनी ज़िंदगी के बहाव में नफ़रत और झूठ के इशारों पर चलना बहुत ख़तरनाक होता है। उससे ताक़त की बरबादी होती है दिमाग़ संकरा और विकृत हो जाता है और सचाई को देखने में रुकावट होती है। दुख की बात है कि आज हिंदुस्तान में बहुत सख़्त नफ़रत है। गुज़रा ज़माना हमारा पीछा करता है और मौजूदा ज़माना उससे भिन्न नहीं है। एक स्वाभिमानी जाति की शान पर जो बार-बार चोट की गई है उसको

नहीं बताते बल्कि उनका जन्म स्वयं ही मस्तिष्क की भली और सुंदर भावना से होता है।" फिर 'आत्म-निर्भरता' शीर्षक अपने निबंध में वह कहता है—"स्व-परिष्कृति के अभाव की ही वजह से सारे पढ़े-लिखे अमरीकियों पर घूमने का वह फ़ितूर सवार है जिसके आदर्श इटली इंग्लैंड और मिस्र हैं। जिन लोगों ने इंग्लैंड इटली या यूनान को सम्माननीय बनाया वे अपनी जगह पर दुनिया की धुरी की तरह मजबूती से जमे रहे। अपनी कर्मशीलता की घड़ियों में हम यह अनुभव करते हैं कि सिर्फ कर्तव्य ही हमारी जगह है। आत्मा कोई यात्री नहीं है बुद्धिमान आदमी घर पर ही रहता है और जब जरूरत और फ़र्ज़ किसी मौक़े पर उसे घर से बाहर, विदेशी मैदान में बुलाते हैं, तब भी वह जैसे घर पर ही बना रहता है। अपनी मुख-मुद्रा से वह लोगों को यह बता देता है कि वह ज्ञान और गुण के पुजारियों के मार्ग पर चलता है और जब वह शहरों और आदमियों को देखने जाता है, तो वह नौकर या खिदमतगार की तरह नहीं बल्कि बादशाह की तरह जाता है।

आगे चलकर इमर्सन ने कहा है—'कला अध्ययन और परोपकार के उद्देश्य से दुनिया की सैर करने के मैं खिलाफ़ नहीं हूं। शर्त यह है कि मानव को पहले व्यवस्थित कर दिया जाये और उसे यह बता दिया जाये कि उसे किसी नई चीज़ को पाने के लिए विदेश-यात्रा नहीं करनी है। जो मनोरंजन के लिए या किसी ऐसी चीज़ को पाने के लिए घूमता है जो उसके पास नहीं है वह अपने से ही दूर चला जाता है और पुराने वातावरण में जवानी में ही बूढ़ा हो जाता है। थेबीज़ या पाल्मायरा के शहरों में जाने पर उसके दिमाग़ और उसकी इच्छा शक्ति में वही बुढ़ापा भर जाता है, जो उन शहरों में है। वह खंडहरों में खंडहर ले जाता है।

"लेकिन घूमने की धुन एक गहरे खोखलेपन का लक्षण है, जिसका असर सारी दिमाग़ी कार्रवाइयों पर होता है। हम नक़ल करते हैं हमारे घर विदेशी रुचि पर बने हुए हैं। हमारी प्रतिमा दूर की चीज़ों को दुबारे जमाने का अनुसरण करती है और उसका झुकाव उन्हीं की तरफ़ है। जहां कहीं कला की उन्नति हुई है, स्वयं आत्मा ने ही उस कला का सृजन किया है। कलाकार ने अपने सांचे को अपने ही दिमाग़ में तलाश किया है। जो चीज़ की जानी थी और जिन नियमों का पालन करना था उन पर उसने अपने विचारों को ही इस्तेमाल किया। अपने-आप पर ही ज़ोर दो कभी अनुकरण न करो। जीवन के सारे संस्कारों की एकत्रित शक्ति से तुम हर मिनट अपना उपहार भेंट कर सकते हो। लेकिन दूसरों की प्रतिमा के अनुकरण से तुम्हारे पास अधूरी चीज़ ही आती है और वह निखरी हुई नहीं होती।

हम हिंदुस्तानियों को 'सुदूर' और 'प्राचीन' की तलाश में देश से बाहर नहीं जाना है। उसकी हमारे पास बहुतायत है। अगर हमें विदेशों में जाना है, तो वह सिर्फ़ वर्तमान की तलाश में। यह तलाश जरूरी है, क्योंकि उससे अलहदा रहने के मानी हैं पिछड़ापन और क्षय। इमर्सन के वक्त की दुनिया बदल गई है और पुरानी दीवारें टूट रही हैं। जिंदगी अब ज्यादा अंतर्राष्ट्रीय होती जा रही है। इस आनेवाली अंतर्राष्ट्रीयता में हमको भी अपना हाथ बटाना है और इस गरज से सफ़र करना है, दूसरों से मिलना है, उनसे सीखना और समझना है। लेकिन सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता कोई हवाई चीज नहीं है जिसकी न बुनियाद हो और न जिसका कोई लंगर हो। उसे राष्ट्रीय सभ्यताओं को पार करना होगा और आज वह सच्ची अंतर्राष्ट्रीयता आजादी और बराबरी की बुनियाद पर ही हो सकती है। फिर भी इमर्सन की चेतावनी गुज़रे ज़माने की तरह आज भी लागू है, और हमारी कोशिश उसके बनाये हुए नियमों के अनुसार चलने पर ही सफल हो सकती है। किसी भी जगह हम विचौलियों की हैसियत से नहीं जायेंगे। हम तो सिर्फ़ वहीं जायेंगे जहां हम एक मिली-जुली कोशिश में साथी हों, बराबर के हों और जहां हमारा स्वागत हो। ऐसे देश हैं और खासतौर से ऐसे ब्रिटिश डोमिनियन हैं जो हमारे देशवासियों की बेइज्जती करने की कोशिश करते हैं। उनका-हमारा साथ नहीं हो सकता। फ़िलहाल विदेशी जुए के नीचे हमें जबरदस्ती सिर झुकाकर तकलीफ़ सहनी पड़ती है और गुलामी के भारी बोझ को ढोना पड़ता है, लेकिन हमारी आजादी का दिन दूर नहीं हो सकता। हम किसी मामूली देश के नागरिक नहीं हैं और हमको अपनी जन्मभूमि पर, अपनी जनता पर, अपनी संस्कृति पर और अपनी परंपरा पर गर्व है। यह गर्व किसी ऐसे रोमांचकारी भूतकाल के लिए नहीं होना चाहिए, जिससे हम चिपटे रहना चाहते हैं। न इससे अलहदगी को ही बढ़ावा मिलना चाहिए, और न इसकी वजह से और दूसरे लोगों के ढंग को समझने में रुकावट होनी चाहिए। उसकी वजह से हमें अपनी कमियां और खामियां भूल नहीं जानी चाहिए और न उनसे छुटकारा पाने की हमारी तीव्र इच्छा में ही कुछ शिथिलता आनी चाहिए। हमें तो एक बहुत बड़ी मंज़िल तय करनी है और पहली कमी को पूरा करना है। हम मानव सभ्यता और प्रगति के उस काफ़िले में, जो हमसे आगे निकल गया है, तेजी से बढ़कर ही अपनी सही जगह पर पहुंच सकते हैं। हमको बहुत फुर्ती करनी होगी, क्योंकि हमारे पास वक्त बहुत थोड़ा है और दुनिया की रफ़्तार दिन-ब-दिन ज्यादा तेज होती जा रही है। गुज़रे ज़माने में हिंदुस्तान दूसरी सभ्यताओं का स्वागत करता था और उन्हें

अपने में छपा लेता था। आज इस बात की और भी ज़्यादा ज़रूरत है। वजह यह है कि हम उस 'एक दुनिया' की तरफ़ बढ़ रहे हैं, जहां मानव जाति की अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति में सारी राष्ट्रीय संस्कृतियां घुल-मिल जायेंगी। इसलिए हमको जहां कहीं भी ज्ञान विज्ञान मिलता और सहयोग या इनमें से एक भी चीज़ मिलेगी हम उसको अपनायेंगे और साथ ही हम दूसरों के साथ मिलकर ऐसे कामों को करेंगे जिनसे सबका हित हो। लेकिन हम दूसरों की कृपा या इनायत के भिखारी नहीं हैं। इस तरह हम सच्चे हिंदुस्तानी और एशियाई होंगे और साथ ही हम भले अंतर्राष्ट्रीयतावादी होंगे और दुनिया के नागरिक होंगे।

हिंदुस्तान में और दुनिया में मेरी पीढ़ी के लोगों को काफ़ी मुसीबतें उठानी पड़ी हैं। हम थोड़ी देर तक इसी तरह और चल सकते हैं लेकिन हमारा वक्त ख़त्म होगा और हम अपनी जगह दूसरी पीढ़ी के लोगों को दे देंगे और वे अपनी ज़िंदगी बितायेंगे और सफ़र की दूसरी मंज़िल तक अपने बोझ को ढोयेंगे। अपने जीवन-युग में जो समाप्ति की ओर बढ़ रहा है हमने विश्व-रंगमंच पर कैसा अभिनय किया है? मैं नहीं जानता—अगले युग के लोग इसका फ़ैसला करेंगे। लेकिन सफलता और असफलता को नापते किस मापदंड से हैं? यह भी मैं नहीं जानता। हम इस बात की शिकायत नहीं कर सकते कि ज़िंदगी बहुत ज़्यादा परेशानी से भरी रही है, क्योंकि जहांतक हमारा सवाल है, ऐसी ज़िंदगी हमने ख़ुद ही पसंद की। इसके अलावा ज़िंदगी कोई ऐसी बुरी भी तो नहीं रही। सिर्फ़ वे ही लोग ज़िंदगी का स्वाद ले सकते हैं जो अक्सर उसके बिल्कुल छोर पर ही रहते हैं, जो मौत से ख़ौफ़ नहीं खाते। चाहे जो भी ग़लतियां हमने की हों लेकिन हम ओछेपन बुज़दिली और अंदरूनी शर्म से बचकर दूर रहे हैं। इसमें हमारे निजी व्यक्तित्व के लिए कुछ उपलब्धि ज़रूर हुई है। "आदमी की सबसे ज़्यादा प्यारी दौलत ज़िंदगी है, और चूंकि आदमी को ज़िंदगी सिर्फ़ एक बार ही मिलती है इसलिए उसे यह ज़िंदगी इस ढंग से बितानी चाहिए कि उसको ओछेपन और बुज़दिली से भरे हुए गुज़रे ज़माने की शर्म की तपन न हो। उसे इस तरह रहना चाहिए कि बरसों तक उसे ज़िंदगी में उद्देश्य के अभाव की तकलीफ़ न हो इस तरह रहना चाहिए कि मरते वक्त यह कह सके—'मैंने अपनी सारी ताक़त अपनी सारी ज़िंदगी दुनिया के सबसे बड़े आदर्श—मानव जाति की आज़ादी—के लिए निछावर कर दी।

---

लेनिन।

# ताज़ा क़लम

## इलाहाबाद   उनतीस दिसंबर   उन्नीस सौ पैंतालीस

अहमदनगर क़िले की जेल में नज़रबंद कांग्रेस-कार्यसमिति के सदस्य सन् १९४५ की मार्च और अप्रैल में तितर-बितर कर दिये गये और अपने अपने सूबे भेज दिये गये। क़िला-जेल बंद कर दी गई और शायद फ़ौजी अधिकारियों को लौटा दी गई। हम तीनों आदमियों ने—गोविंदवल्लभ पंत और नरेन्द्रदेव और मैंने—२८ मार्च को अहमदनगर का क़िला छोड़ा और हम लोग नैनी सेंट्रल जेल लाये गये। यहां हमें कई पुराने साथी मिले उनमें रफ़ी अहमद क़िदवई भी थे। अगस्त १९४२ में अपनी गिरफ़्तारी के बाद यहां हमको पहली बार १९४२ की घटनाओं के कुछ आंखों-देखे बयान सुनने को मिले। वजह यह थी कि नैनी जेल के बहुत-से आदमी हमारी गिरफ़्तारी के कुछ बाद गिरफ़्तार किये गये थे। नैनी से हम तीनों बरेली के नज़दीक इज़्ज़तनगर सेंट्रल जेल ले जाये गये। तंदुरुस्ती ख़राब होने की वजह से गोविंदवल्लभ पंत को छोड़ दिया गया। इस जेल की एक बारक में हम दोनों (नरेन्द्रदेव और मैं) दो महीने से कुछ ज़्यादा अरसे तक साथ-साथ रहे। जून के शुरू में हम दोनों अल्मोड़ा के उस पहाड़ी जेल में भेज दिये गये जिससे दस बरस पहले मेरी बहुत क़रीबी जानकारी हो गई थी। अगस्त १९४२ में अपनी गिरफ़्तारी के ठीक १०४१ दिन बाद हम दोनों १५ जून को छोड़ दिये गये। इस तरह मेरी नवीं बार की और सबसे लंबी क़ैद की मुद्दत ख़त्म हो गई।

तब से साढ़े छः महीने बीत चुके हैं। जेल के लंबे एकांत से मैं चहल-पहल में आया और मैं बहुत काम-काज और लगातार सफ़र में लगा रहा। घर पर मैंने सिर्फ़ एक रात बिताई और मैं जल्दी से कांग्रेस-कार्यसमिति की बैठक के लिए बंबई चला गया। फिर वहां से शिमला कान्फ्रेंस में जिसे वाइसराय ने बुलाया था, गया। नये बदलते हुए वातावरण से अपना मेल बिठाने में मुझे दिक़्क़त मालूम दी और मैं उसके अनुकूल नहीं हो सका। हालांकि हर एक चीज़ जानी-पहचानी थी और पुराने दोस्तों और साथियों से मिलना अच्छा था फिर भी मुझे ऐसा महसूस हुआ कि मैं अजनबी हूं, बाहरी आदमी हूं और मेरा दिमाग़ पहाड़ों और हिमाच्छादित चोटियों की

तरफ़ दौड़ने लगा। ज्योंही शिमला का धंधा खत्म हुआ मैं फ़ौरन ही काश्मीर चला गया। मैं घाटी में नहीं ठहरा बल्कि फ़ौरन ही सवारी के ज़रिये ज़्यादा ऊंची जगहों और ज़्यादा ऊंचे दर्रों के लिए रवाना हो गया। काश्मीर में मैं एक महीने रहा और तब फिर मैं भीड़-भम्भड़ में और रोज़मर्रा की उत्तेजना और भद्दापन से भरी हुई ज़िन्दगी में वापस आ गया।

धीरे-धीरे पिछले तीन सालों की थोड़ी-सी तस्वीर मेरे दिमाग़ में अपने आप बनी। औरों की तरह मैंने भी देखा कि जो कुछ हुआ था वह हमारी कल्पना से कहीं ज़्यादा था। इन तीन सालों में हमारी जनता को बेहद तकलीफ़ उठानी पड़ी और हर शख़्स के चेहरे पर, जिससे हम मिले उस तकलीफ़ की छाप दिखाई दी। हिंदुस्तान बदल गया था और सतह पर दिखनेवाली ख़ामोशी के नीचे शक था सवाल था मायूसी थी नाराज़ी थी और दबा हुआ जोश और उफ़ान था। हमारे छुटकारे से और घटनाओं के घटने से दृश्य-परिवर्तन हुआ जिससे ऊपरी सतह फटने लगी और दरारें नज़र आने लगीं। देश में उत्तेजना की लहर दौड़ गई और जनता अपने खोल को तोड़कर बाहर आई। पहले मैंने ऐसी भीड़ नहीं देखी थी ऐसी उमड़ती उत्तेजना नहीं देखी थी और न जनता में अपने-आपको आज़ाद करने की ऐसी तेज़ ख़्वाहिश ही देखी थी। नौजवान मर्द और औरतें लड़के और लड़कियां—सभी—कुछ-न-कुछ करने के इरादे से भरे हुए थे। लेकिन उन्हें क्या करना चाहिए, यह उनकी समझ में नहीं आता था।

लड़ाई ख़त्म हुई और परमाणु-बम नये युग का प्रतीक बन गया। इस बम के इस्तेमाल से और राजनीति की चालों से आंखें और ज़्यादा खुल गईं। पुराने साम्राज्यवाद अब भी काम कर रहे थे और हिंदेशिया और हिंद चीन की घटनाओं से दृश्य की भयंकरता और बढ़ गई। इन दोनों देशों में अपनी आज़ादी के लिए लड़ती हुई जनता के ख़िलाफ़ हिंदुस्तानी फ़ौज के इस्तेमाल से हमको शर्मिंदा होना पड़ा लेकिन कड़ा एतराज़ और नाराज़गी के होते हुए भी हमारी बेबसी थी। देश का पारा बराबर चढ़ता रहा।

लड़ाई के बरसों के दौरान में बरमा और मलाया में बनी हुई आज़ाद हिंद फ़ौज की कहानी सारे देश में एकदम फैल गई और उससे आश्चर्यजनक जोश पैदा हुआ। उसके कुछ अफ़सरों पर फ़ौजी अदालत में मुक़दमा चलाये जाने की वजह से देश इतना नाराज़ हो गया जितना पहले वह किसी बात पर नहीं हुआ था। ये अफ़सर हिंदुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के प्रतीक बन गये। साथ ही वे हिंदुस्तान के अलग-अलग धार्मिक समुदायों के एके के प्रतीक बन गये क्योंकि उस फ़ौज में हिंदू, मुसलमान सिख ईसाई

सभी थे। उन्होंने आपस में साम्प्रदायिक समस्या को हल कर लिया था। तब हम भी वैसा ही क्यों न करें?

अब इस वक्त से हिंदुस्तान में आम चुनाव होनेवाले हैं और सारा ध्यान इन चुनावों में लग गया है। लेकिन चुनाव तो कुछ वक्त में खत्म हो जायंगे—तब? संभावना यह है कि आनेवाला साल तूफान, उत्पात, संघर्ष और उथल-पुथल से भरा होगा। हिंदुस्तान में या और जगहों में आजादी के बिना शांति नहीं हो सकती।

# निर्देशिका